भारतीय अर्थशास्त्र

[हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के समस्त विश्वविद्यालयों के बी. ए.
अर्थशास्त्र के नवीनतम पाठ्यक्रमानुसार]

लेखक

प्रो० एस० के० गर्ग
अर्थशास्त्र विभाग,
आर० जी० कॉलिज, मेरठ।

प्रो० आनन्द स्वरूप गर्ग
अर्थशास्त्र विभाग,
मेरठ कॉलिज, मेरठ।

भारत की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था का नवीनतम आंकड़ों सहित
एक विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन

प्रकाशक

राजहंस प्रकाशन मन्दिर

सुभाष बाजार, मेरठ (उ० प्र०)

१९६२]

[मूल्य रु० १८.५०

प्रो० आनन्द स्वरूप गर्ग की बी० ए० व बी० कॉम अर्थशास्त्र पर अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियां—

१. मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राष्ट्रीय आय – पचम् सस्करण १९६२—आगरा तथा गोरखपुर विश्वविद्यालयो के बी० ए० के अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो के लिये।

२. मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राजस्व–पचम् संस्करण १९६२—विहार, पटना, राची, भागलपुर, जबलपुर, सागर, नागपुर तथा राजस्थान विश्वविद्यालयो के बी० ए० अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो के लिये।

३. मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राष्ट्रीय आय तथा राजस्व—पचम् सस्करण १९६२—विक्रम विश्वविद्यालय के त्री-वर्षीय बी० ए० अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो के लिये।

४. मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—पचम् सस्करण १९६२—समस्त विश्वविद्यालयो के बी० कॉम के विद्यार्थियो के लिये।

५. अर्थशास्त्र के सिद्धान्त—भाग १ व भाग २–ग्यारहवां सस्करण १९६२–आगरा विश्वविद्यालय के क्रमश. बी० ए० पार्ट १ व पार्ट २ के अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो के लिये।

६. अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (सम्पूर्ण)—ग्यारहवां सस्करण १९६२ – आगरा के अतिरिक्त अन्य समस्त विश्वविद्यालयो के बी० ए० अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो के लिये।

प्रकाशक
राजहंस प्रकाशन मन्दिर
सुभाष बाजार, मेरठ।

मुद्रक
आर्यन प्रेस
साधना प्रेस
मेरठ (उत्तर प्रदेश)

पाठकों से !

"भारतीय अर्थशास्त्र" का प्रथम सस्करण पाठको के समक्ष प्रस्तुत है। देश मे नियोजित अर्थ-व्यवस्था अपना ली गई है जिसके कारण न केवल विद्यार्थी वर्ग वरन् सामान्य नागरिक को भी देश की वर्तमान आयोजित अर्थ-व्यवस्था का किसी प्रामाणिक ग्रन्थ द्वारा समुचित ज्ञान प्राप्त करना वाछनीय हो गया है। यद्यपि इस समय "भारतीय अर्थ-व्यवस्था" के विवेचन एवं विश्लेषण से सम्बन्धित ग्रन्थों का अभाव नही है तथापि उपलब्ध लगभग सभी पुस्तकों का या तो आकार अत्यधिक बडा एव पाठको की दृष्टि से डरावना है अथवा इनमे नवीनतम सामग्री और इसके आलोचनात्मक विश्लेषण का नितान्त अभाव है। इसी कारण अधिकाश परीक्षार्थी अपनी परीक्षा के लिये विषय की तैयारी करते समय प्रमुख पाठ्य पुस्तको को तिलाञ्जलि देकर सस्ती प्रश्नोत्तरियो (Made-easies) का सहारा लेते हैं। प्रस्तुत पुस्तक न केवल इन दोनो ही दोषो से पूर्णतया मुक्त है वरन् इसमे विभिन्न आर्थिक समस्याओ का विश्लेषण एव इनका उपचार सरल और प्रवाहमय भाषा मे, आवश्यकतानुसार स्थान-स्थान पर शीर्षक व उप-शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। प्रत्येक विषय पर पिछली दशाब्दी मे क्रियान्वित किय गये कार्यक्रमों तथा तृतीय योजना मे प्रस्तावित परियोजनाओ का यथास्थान उल्लेख तथा सरकारी प्रयत्नो का आलोचनात्मक विवरण भी दिया गया है।

"भारतीय अर्थशास्त्र" विषयक अधिकाश पुस्तको मे विद्वान लेखको ने विषय को व्यक्त करते समय आकडों की छोटी-बडी सारिणियो का स्थान-स्थान पर इतना अधिक प्रयोग किया है कि साधारण पाठक उनका अध्ययन करते समय, अपने मूल विषय से विचलित हो जाता है और कभी-कभी उसके मस्तिष्क मे सम्बन्धित समस्या भ्रमात्मक रूप ले लेती है। यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक मे भी विषय का विश्लेषण करते समय आकडो व कभी-कभी सारिणियो का प्रयोग किया गया है, परन्तु इनका उपयोग अनावश्यक रूप मे न करके, केवल सीमित मात्रा मे ही किया गया है क्योकि अब तो विभिन्न विश्वविद्यालयो के पाठ्य-क्रम तक मे यह लिखा रहता है कि स्नातक विद्यार्थियो से "भारतीय अर्थ-व्यवस्था" की केवल सामान्य प्रवृत्ति की जानकारी ही अपेक्षित है।

प्रस्तुत पुस्तक मे प्रत्येक अर्थ-समस्या से सम्बन्धित उपलब्ध नवीनतम आकड़ों का उपयोग किया गया है। इस हेतु जिन पत्र-पत्रिकाओ एव सरकारी रिपोर्टों का सहारा लिया गया है उनमे से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं, जैसे तृतीय पचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan), इडिया १६६२ (India 1962), टाईम्स ऑफ इ डिया ईयर बुक (Times of India Year Book), अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण की रिपोर्ट (All India Rural Credit Survey Reports), कॉमर्स साप्ताहिक (Commerce Weekly), रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फाईनैन्स (Report on Currency and Finance) आदि।

हमे पूर्ण आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियो तथा सामान्य नागरिको को अपने देश की अर्थ व्यवस्था का समुचित ज्ञान दिलाने मे सहायक होगी। यदि यह तुच्छ कृति अपने इस उद्देश्य को पूरा कर सकी, तब हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे।

पुस्तक की पाडुलिपी तैयार करते समय हम अनेक विद्वान लेखको की कृतियो से अत्यधिक सहायता मिली है। हम इन पुस्तको के लेखको एव प्रकाशको के कृतज्ञ हैं क्योंकि सम्भवत इन कृतियो के अभाव मे प्रस्तुत पुस्तक का वर्तमान स्वरूप सम्भव नही होता। पुस्तक की तैयारी मे हमे श्री रमेश चन्द्र जी शर्मा से जो सहायता मिली है, उसके लिये हम उनके हृदय से आभारी हैं।

हमे पूर्ण आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियो व विद्वान प्राध्यापको को रुचिकर होगी। पाठको से नम्र निवेदन है कि वे पुस्तक के सुधार के हेतु अपने मूल्यवान सुझाव भेजने का कष्ट करें जिसके लिये हम उनके अत्यधिक कृतज्ञ होगे।

जुलाई २८, १९६२
आनन्द निवास, छीपी तालाब
मेरठ, (उ० प्र०) फोन–१३२६

—ए० एस० गर्ग
—एस० के० गर्ग

पाठ्य-क्रम (SYLABUSES)

AGRA UNIVERSITY B A Pt I. 1963.

Paper II–Indian Economic Canditions and Planning

1 Natural Resources of India Population–Number and quality, Social and religious institutions National Income

2. Ruralisation Famines, Development of Agriculture in India, Principal Crops, Indian Food Production, Agricultural Holdings, Land Tenures in India including tenancy legislation in U P, Agricultural Marketing, Agricultural Improvements including research State and agriculture in India

3 Co-operation — Rural and Urban, Primary Co operative Societies, Multi-purpose Co-operative Societies, Central Bank and Provincial Co-operative Banks, Co operative Marketing Sale and Purchase Societies.

4 Industries in India—Major Industries like Iron and Steel, Cotton, Coal, Sugar, Jute—their growth, finance, management and present position Cottage Industries, methods to improve them Sources of Power. Hydro-electric works State and industries Trade Unions in India Factory Legislation, Labour Welfare and Efficiency in India

5 Transport—Roads, Railways, Water and Air Transport Transport Co-ordination

6 Economic Planning—brief description of Indian Five Year Plans

Note — It is necessary to emphacise that the study of Indian Economic Conditions should deal more with the main trends of Indian Economics, rather than with particular facts

GORAKHPUR UNIVERSITY B A, Pt I 1963

Paper II—Indian Economic Conditions

1 *Basic Features of the Indian Economy*—Natural Resources, Social Background, Population Growth and Distribution, National Income, Economic Planning—A comparative study of the Five Year Plans

2 *Agriculture* — Causes of its backwardness, Agricultural Holding, Land Reforms, Co operative and Collective Farming, Agricultural Marketing, Irrigation and Power, Community Projects

and N E S, Agricultural Finance, Food Policy, Agricultural Labour, The problem of Under-employment.

3. *Co-operative Movement*—Growth, Progress and Structure

4 *Industrial Structure*—Problems of Industrialization, Major Large Scale Industries, Industrial Policy, Cottage and Small Scale Industries and their problems.

5 *Foreign Trade*—Problems relating to India's external trade

6 *Industrial Labour* — Trade Unionism in India, conflict between labour and capital-Problems arising from it-State and Labour, Social Security and Welfare Measures

RAJPUTANA UNIVERSITY, B A (3yr) Pt III, 1963

Paper II—Indian Economic Conditions

1. *Basic Features of Indian Economy*—Natural and human resources. Population problems of India–National Income of India–its components and variations

2 *Rural Economics* — (i) Indian agriculture, Importance, characteristics and causes of low yield, Irrigation facilities–Factors affecting agricultural improvements of India (ii) Problem of Land Holdings—Evils Sub division, Fragmentation, Consolidation and Ceilings, (iii) Land Ownership and Management—Main features of recent land reforms in India and Rajasthan Types of Farming—Peasant Proprietorship, Collective and Co operative (iv) Rural Finance Sources of Supply, Rural Indebtedness Volume, Causes and Remedial Measures, (v) Agricultural Development-Recommendations of Rural Credit Survey Committee Report

3 *Industries*—(i) Village and Cottage Industries–their difficulties and Methods of Aid, (ii) Large Scale Organised Industries–their place in Indian Economy, Causes of Slow and unsatisfactory industrial development, (iii) Industrial Finance–Sources of Finance for a Small Scale and Large Scale Industries–Deficiencies of Industrial Finance in India and suggestions for improvement (vi) Industrial Labour–working conditions in Factories, Industrial Wages and Standard of Living Causes and remedies of Unemployment Brief Survey of Trade Unions in India, (v) India's Industrial Policy

4 *Transport System*—Importance, main Divisions–[i] Railways [ii] Roads, [iii] Waterways [i] Air Transport Their development, present position and possibilities for future development

* 5 *Indian Banking*—development since 1939

* 6 *Indian Currency*—development since 1939

7 *India's Foreign Trade* — Principal features, important items of foreign trade and important countries for exports and imports, Survey of trade agreements

8 *Indian Tariff Policy since 1939*—The Second Fiscal Commission–present position

9 *Indian Public Finance*—Distribution of Sources of Revenue between Union and States–Main Sources of Union, State and Local Revenues–Pattern of Public Expenditure and Public Debt

10 *Economic Planning in India* — The National Planning Commission–Five Year Plans–a critical study

Note—**Topics Marked with asterik * above should be read from Prof A S Garg's Book — Mudra, Banking, Vidashi Vyapar, Antrarashtrya Vayapar tatha Rajasya, meant for Paper I in the B A. Final Examination.**

SAGAR UNIVERSITY B A. (3yr) FINAL 1963

Paper III–Indian Economic Problems

1 *Agriculture*—Causes of Rural Indebtedness, Brief Survey of Important Legislative Measures against this evil, Sub-division and Fragmentation of Holdings, Consolidation of holdings with special reference to M P, Land reforms with special reference to M P, Rural Finance, Co-operative Societies, Short-term and long-term credit, The problem of Rural Finance, Problem of Landless Labour, Community Projects, Irrigation, Major Irrigation Projects

2 *Indu tries*—A brief survey of the following Indian Industries–Cotton Iron and Steel, Sugar, Jute and Coal, Problems of Industrial Finance

* 3 *Currency and Banking* — Important Developments in the History of Indian Currency since 1950, Devaluation, International Monetary Fund and International Bank for Reconstruction and Development, Reserve Bank of India, its functions and monetary Control

4 *Trade*—Its importance, Foreign Trade of India Trends in India's Foreign Trade w th reference to Planning in India

5 *Labour*—A brief history of Trade Union Movement in India, Main Social Security Acts

6. A brief outline of India's Five Year Plans

Note—**Topics marked with asterik * above should be read from Prof A S Garg's book — Mudra, Banking, Videshi Vinemaya, Antarrashtriya Vayapar Tatha Rajasva, meant for Paper II in B A Final Examination.**

VIKRAM UNIVERSITY, B A Pt II 1963

Paper I–Indian Economic Conditions and Planning

1 Basic features of Indian Economy Natural Resources of India, Forests and Minerals, Sources of Power, Population, Number and Quality, Density, Relig ous and Social Institutions.

2 *Agriculture*—Agriculture in India, Principal Crops Irrigation, Cattle and Manure Indian Food Production, Agr cultural Holdings Land Tenures and Tenancy Leg slation in M P., Agricul l tural Marketing including Warehousing facilities, Agricultura

Improvements including Research, State and Agriculture in India, Co-operative Farming

3 *Co-operation*—Rural Indebtedness in India, Principles of Co operation, Rural and Urban, Multi-purpose Co-operative Societies, Central Bank, State Co-operative Banks, Agricultural Credit of the *Reserve Bank of India, Land Mortgage Banks*, Co operative Marketing, Sale and Purchase Societies.

4 *Industries in India* — Iron and Cotton, Coal, Sugar and Jute, Outline of their growth and Management and Present position

5 *Tran port* — Importance of Roads, Railways, Water and Air Transport in the economy of India

6 *Planning*—Principles, Objectives, Public outlay and Financial Resources of the Five Year Plans. (Factual Study is expected)

BHAGALPUR UNIVERSITY, B A. (3 yr) Pt. II, 1963

Paper II–Elementary Agricultural Economics and Rural Problems of India

A Nature and Scope of Agricultural Economics Natural Resources, Population–Land Problems (Land Use and Land Reforms) Size of Holdings-Types of Farming including Co-oeprative *Farming – Irrigation, Food Problem – Agricultural Marketing*–Agricultural Prices–State in Relation to Agriculture–Problems connected with raising Farm Productivity, Farm Management–Study of Agricultural inputs–Agricultural Income.

B. Problems of Rural Development in India–The Village–Community Developmnet–Village and Small Scale Industries–Rural Transport Problem and Unemployment, Under–employment in Rural Areas–Village Panchayats–The Bhudan Movement–Planning in Ind a with particular reference to Agriculture and Rural Development

Paper III

The Co-operative Movement in India and Great Britain–Principles of Co operation – A short history of Co operative Movement in India and Great Britain–Types of Co-operation–such as consumer's Co-operation Credit Co-operation, Co operative Marketing and Industrial Co-operatives–Co-operative Farming–Service Co-operatives–Present Problems and Policies relating to Co operation in India and Great Britain.

Reserve Bank of India and the Co-operative Movement–State and Co-operation in India, The Registrar of Co operative Societies, and Laws relating to Co-operative Societies in Bihar–Co-operative Movement in Bihar

RANCHI UNIVERSITY–B. A. (3 yr) Pt. II. 1963

Paper III–Indian Economic Problems

The paper shall include the following topics—

1. Natural Resources, Minerals, Sources of Power, Recent Hydro-electric and Multi-purpose River Valley Projects, Population Growth of Population since 1921, Distribution of Population according to Density, Sex Ratio and Occupations, Over-population and its remedies–Industrial Policy since 1948–Organised Large Scale Industries–Iron and Steel, Cotton, Jute and Sugar–Small Scale and Cottage Industries–Important Effects and Remedies–Important Public Sector Industries–Industrial Finance and Management–Managing Agency System–Industrial Finance Corporation, Foreign Capital.

2. *Industrial Labour*—Causes of Inefficiency–Labour legislation since 1498–Trade Union Movement–growth since 1926–causes of weakness, Present Problems and their solutions

3 *Tran port*—Development of Roads and Railways since 1921–Rail–Road Co-ordination, Role of Transport in Planning.

* 4. Devaluation of India's rupee in 1949.

5 Foreign Trade since 1947, Fiscal Policy since 1950.

* 6. *Indian Money Market*—Its constituents and Peculiarities, Functions of the Reserve Bank of India, The value of Indian rupee since 1941.

7. Objectives, Physical Targets and financing of Second and Third Five Year Plans.

Note—**Topics marked with asterik * above should be read from Prof. A. S. Garg's book-Mudra, Banking, Videshi Vinemaya, Antarrashtriya Vyapar tatha Rajasya, meant for Paper II in B. A. Pt. II Examination.**

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ संख्या

भाग १

भाग २

"भारतीय अर्थशास्त्र" वह विषय है जिसमें ऐसे नूतन व मौलिक भारतीय आर्थिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जाता है जो पुराने आर्थिक सिद्धान्तो से भिन्न हैं।

"भारतीय अर्थशास्त्र" का सही अर्थ

तृतीय व्याख्या—"भारतीय अर्थशास्त्र" की एक उचित व्याख्या इस प्रकार दी जाती है — (अ) "भारतीय अर्थशास्त्र भारत की आर्थिक समस्याओं, उन पर प्रभाव डालने वाले कारणो तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उनको हल करने के उपायों का अध्ययन है।" अथवा (आ) "भारत की प्रमुख आर्थिक समस्याओं और उनके सम्भावित कारणों की विवेचना तथा उन्हें सुलझाने के लिये किये गये या किये जाने वाले प्रयत्नों के अध्ययन को भारतीय अर्थशास्त्र कहा जा सकता है।" अथवा (इ) 'राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भारत के आर्थिक जीवन के विकास भारत की आर्थिक समस्याओं तथा उनको हल करने के लिए किए गए उपायों और योजनाओं का अध्ययन भारतीय अर्थशास्त्र कहलाता है।' इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि "भारतीय अर्थशास्त्र" वह विषय है जिसके अन्तर्गत हमारे देश की आर्थिक स्थिति का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, भारत की मुख्य आर्थिक समस्याओं, उनके कारण तथा उनके निराकरण आदि का विवेचन होता है। देश मे कृषि, वाणिज्य एव व्यापार तथा उद्योगो की स्थिति पहले कैसी थी और आजकल किस प्रकार की है तथा भविष्य मे कैसी होनी चाहिये ? जनसख्या, यातायात, बैंकिंग राजस्व आदि की क्या-क्या समस्याए थीं और आज भी है तथा इनके हल मे लिये क्या-क्या उपाय जनता के भौतिक कल्याण के उद्देश्य से अपनाये जाए आदि भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के प्रमुख विषय हैं। अत भारतीय अर्थशास्त्र का मूल उद्देश्य देश मे नवीन परिस्थितियो के कारण उत्पादित नवीन समस्याओं को सुलझाना है ताकि राष्ट्र की अधिकतम उन्नति तथा नागरिको का अधिकतम भौतिक कल्याण हो सके। सक्षेप मे, "भारत के भूत, वर्तमान तथा भविष्य की आर्थिक स्थितियों के अध्ययन को ही भारतीय अर्थशास्त्र कहते हैं।"

भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Indian Economics)

भारतीय अर्थशास्त्र का क्या क्षेत्र है ?:— भारतीय अर्थशास्त्र की उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि इस शास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक है—इसमे देश की भूतकालीन, वर्तमान तथा सम्भावित आर्थिक स्थिति का वर्णनात्मक, आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। इस तरह इस शास्त्र मे हम अपने देश की अनेक आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं, जैसे—देश के वर्तमान आर्थिक साधन तथा इनका प्रयोग जनसख्या व इससे सम्बन्धित समस्यायें देश की भौगोलिक व सामाजिक व सास्कृतिक स्थिति तथा इनका देश के आर्थिक विकास पर प्रभाव, कृषि, वृहत् व गृह उद्योग तथा व्यापार आदि का विकास व वर्तमान स्थिति तथा उनकी विभिन्न समस्याए और इनका हल, मुद्रा, साख विदेशी विनिमय-बैंकिंग आदि की समस्याए तथा उनका हल, श्रम व सहकारी आन्दोलन, यातायात व वित्त व राजस्व व्यवस्थाए, भूमि की अर्थ-व्यवस्था आदि। स्पष्ट है कि

भारतीय अर्थशास्त्र म हम अपने देश के आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार करते है। इसमे हम न केवल वर्तमान आर्थिक समस्याओ का वरन भूतकालीन आर्थिक स्थिति तथा उसकी समस्याओ का भी अध्ययन करते हैं क्योकि तभी हमे वर्तमान समस्याओ के वास्तविक कारणो का पता चल सकता है और भविष्य मे इनके समाधान के उपाय खोज निकालने मे सहायता मिल सकती है। यदि हमे अपने देश के किसी आर्थिक क्षेत्र मे कुछ कमी अनुभव होती है, तब इस दोष को दूर करने के लिये हमे क्या-क्या उपाय अपनाने होगे, इस बात का अध्ययन भी भारतीय अर्थशास्त्र मे ही किया जाता है। अत भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक एव गहन है। इसका क्षेत्र काल व समय की सीमाओं से सीमित नहीं होता है। इस शास्त्र मे देश की आर्थिक व्यवस्था का सर्वांगीण परीक्षण किया जाता है। इस तरह इस शास्त्र मे भारत व भारतीयों के आर्थिक जीवन की प्रत्येक समस्या का आर्थिक अध्ययन होता है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व
(Importance of the Study of Indian Economics)

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता —भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिये महत्व रखता है, फिर चाहे वह अर्थशास्त्री हो या राजनैतिक कार्यकर्ता हो अथवा व्यापारी हो —(i) **भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का व्यावहारिक महत्व**—स्वतन्त्र भारत के सामने अनेक आर्थिक समस्याए है, जैसे—कृषि उत्पादन को बढाने की समस्या, उद्योग धधो के विकास की समस्या, यातायात के साधनो मे वृद्धि, श्रमहितकारी कार्य, खाद्य व बेरोजगारी की समस्या, जनसख्या व ग्रामोत्थान की समस्या आदि। देश का भविष्य इन्ही समस्याओ के समाधान पर निर्भर है क्योकि राजनैतिक स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना परम आवश्यक है। हमे देश मे इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था स्थापित करनी है जिसमे कोई गरीब नही हो, कोई बेरोजगार नही हो, धन का समान वितरण हो तथा नागरिकों का जीवन स्तर ऊचा हो। इन विभिन्न आर्थिक समस्याओ का हल केवल भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से ही सम्भव है। (ii) **उत्पादकों व व्यापारिको को लाभ** —जो व्यक्ति उद्योग-धन्धा मे अथवा व्यापार मे लगे हुये है उनके लिये भी भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का विशेष महत्व है। इस के अध्ययन से उन्हे उद्योग धन्धो के कच्चे पदार्थों के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त होगा, सस्त श्रम व सस्ती शक्ति के साधनो का पता चलेगा तथा वे अपनी वस्तु के देशी विदेशी बाजार की अनेक समस्याओ को आसानी से समझ सकेंगे और इनका हल प्राप्त कर सकेंगे। (iii) **समाज सुधारकों तथा राजनीतिज्ञो को लाभ** :—मजदूरो की गन्दी बस्तियो की सफाई, नई मजदूर बस्तियों का निर्माण, श्रम-हितकारी कार्य, श्रम-आन्दोलन व श्रम सम्बन्धी कानून तथा इस प्रकार की अन्य बातो मे सुधार के सुझाव प्रस्तुत करने के हतु समाज-सुधारको व राजनीतिज्ञो के लिये यह आवश्यक है कि वे समस्याओ को पहले भली भांति समझें। भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन

उन्हें इस दिशा मे विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकता है। अत भारतीय अर्थ-शास्त्र का अध्ययन एक प्रकार से पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है यह देश के आर्थिक साधनों के समुचित उपयोग से नागरिकों की निर्धनता को दूर करने मे सहायक होता है, इसके अध्ययन से देश का नवनिर्माण सम्भव होता है तथा इसकी सहायता से देश मे आर्थिक विषमता तथा शोषण का अन्त किया जा सकता है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के मूल लक्षण (Basic Features of Indian Economy) —इस समय भारतीय अर्थ-व्यवस्था परिवर्तन काल (Transitionary Period) मे से होकर गुजर रही है। हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था अर्ध-विकसित (Under-developed) पिछड़ी हुई (Backward) तथा कृषि प्रधान है तथा निर्धनता, बेकारी (Unemployment) और अर्ध रोजगार (Semi employment) इसके मूलतत्व हैं। संक्षेप मे, भारतीय अर्थ व्यवस्था के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं —(i) प्राकृतिक एव मानवीय साधनों का बाहुल्य —भारत एक विशाल देश है। इसका कुल भू क्षेत्रफल लगभग १२.६ लाख वर्गमील है। प्रकृति ने अनेक प्रकार की जलवायु और मिट्टिया भारत को उपहारस्वरूप प्रदान की हैं। फलत यहा विभिन्न प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। खनिज-सम्पत्ति एव जल-विद्युत की दृष्टि से भी प्रकृति ने भारत पर अपनी उदारता का परिचय दिया है। पशु शक्ति के दृष्टिकोण से हमारा देश ससार के सब देशों मे अग्रगण्य है। सन् १९६१ की जन गणना के अनुसार भारत की जनसख्या लगभग ४३.८ करोड है। अत स्पष्ट है कि हमारा देश प्राकृतिक एव मानवीय-साधनो की दृष्टि से एक सम्पन्न देश है। (ii) अति जन-सख्या —हमारे देश मे जनसख्या अत्यन्त द्रुत गति से बढ रही है। एक अनुमान के अनुसार हमारी जनसख्या प्रतिवर्ष २.२% की दर से बढती जा रही है अर्थात लगभग १ करोड व्यक्ति भारत मे प्रतिवर्ष बढ रहे हैं। भारत के जनगणना कमिश्नर (Census Commissioner) का अनुमान है कि भारतीय जनसख्या सन् १९७६ तक बढकर लगभग ६२.४ करोड हो जायगी। इस प्रकार सन् १९६१ से १९७६ तक जनसख्या में १८.७ करोड की वृद्धि होगी। इसी अवधि मे श्रम-शक्ति मे ७ करोड की वृद्धि होगी जिसमे से १.७ करोड की वृद्धि तीसरी योजना की अवधि मे होगी।

जबकि एक ओर भारत मे जनसख्या मे निरन्तर वृद्धि हो रही है, तब दूसरी ओर उसके आर्थिक-प्रासाधन बहुत पिछडी हुई दशा मे हैं। अत भारत मे जनाधिक्य (Over Population) की समस्या बनी हुई है और इसके परिणाम हैं —निम्न रोजगारी, बेरोजगारी, निम्न जीवन-स्तर, प्रति व्यक्ति कम आय तथा कम औसत आयु आदि। (iii) भारतीय अर्थ-व्यवस्था असतुलित एव अव्य-वस्थित है—हमारे देश मे कृषि की प्रधानता है। कुल जनसख्या का लगभग ७२% भाग कृषि पर आश्रित है। भारतीय कृषि की पिछडी दशा के कारण भूमि पर जनसख्या का दबाव निरन्तर बढता जा रहा है। फलत कृषि की अनार्थिक-जोतों में वृद्धि हुई है और भूमि-विहीन कृषकों की सख्या दिन-प्रतिदिन बढती चला जा रही है। औद्योगिक क्षेत्र मे भी भारत मे असतुलन है। यहा पर वस्त्र, चीनी,

विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुल राष्ट्रीय-आय का ११% भाग विनियोग हुआ था जिसमें से देश की बचत ८% तथा विदेशी बचत ३% थी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में कुल राष्ट्रीय-आय के १४% भाग का विनियोग करना निश्चित किया गया है। योजना आयोग (Planning Commission) के अनुमानानुसार भारत की देशी-बचत की दर तृतीय, चतुर्थ और पचम योजनाओं के अन्त में राष्ट्रीय आय (National Income) का क्रमश ११ ५%, १६% और १६% भाग हो जायगी। (x) **भारतीय कृषि और उद्योग की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर निर्भर है**—हमारे देश की कृषि और उद्योग, दोनों ही एक सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर निर्भर रहते है। चू कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति सदा अपने अनुकूल नहीं होती, इसलिये इसका भारतीय कृषि एवं उद्योग पर प्राय बुरा प्रभाव पड़ता है। सन् १६३१ की विश्वव्यापी मंदी तथा कोरिया का युद्ध इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था अर्ध-विकसित है (Indian Economy is Underdeveloped)—भारत एक अर्ध-विकसित देश है। इसकी अर्ध विकसित अर्थ-व्यवस्था के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं— (i) **औद्योगिक क्षेत्र में पर्याप्त विकास नहीं हुआ है**—आज का युग औद्योगीकरण का युग है। हमारा देश औद्योगिक-प्रगति के दृष्टिकोण से अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। इसलिए विशाल स्तरीय उद्योग-धन्धों में भारत की कुल कार्यशील जनसंख्या का केवल ३% भाग ही लगा हुआ है। यद्यपि उपभोग्य-वस्तु-उद्योगों (Consumer s Goods Industries) का देश में पर्याप्त विकास हो सका है, परन्तु पूंजीगत एवं उत्पादकों की वस्तुओं के उद्योगों (Capital and Producer's Goods Industries) की स्थिति अभी तक अच्छी नहीं है। (ii) **पूंजी का अभाव (Lack of Capital)**—चूंकि उद्योग, यातायात, सिंचाई एवं विकास के अन्य साधनों की स्थापना में पूंजी का विशेष महत्व होता है, इसलिये किसी देश के आर्थिक पिछड़ेपन (Economic Backwardness) का मुख्य कारण तथा लक्षण वहां पर पूंजी का अभाव हुआ करता है। हमारे देश में नागरिकों की पूंजी बचाने की क्षमता (Ability to Save) बहुत कम है। अभी तक भारत में बचत और विनियोग की दर राष्ट्रीय आय का केवल ८ ५% भाग ही है। चू कि हमारे देश में पूंजी की बहुत कमी है, इसलिये अधिकांश कार्य मशीनों व यन्त्रों की अपेक्षा मानव-श्रम (Human Labour) द्वारा ही किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय उद्योगों का अभिनवीकरण (Rationalization) न हो सकने का मूल कारण भी पूंजी का अभाव ही है। (iii) **कुशल श्रम तथा तकनीकी ज्ञान की कमी (Lack of Skilled Labour and Technical Knowledge)**— भारत में जनसंख्या का आकार बहुत बड़ा होने के कारण श्रम की पूर्ति तो प्रत्याधिक है, परन्तु कुशल श्रम का एकदम अभाव है। अन कुशल इन्जीनियरों तथा औद्योगिक-विशेषज्ञों के लिये भारत को विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिये आजकल देश के आर्थिक-विकास में बहुत बाधा पड़ रही है। (iv) **योग्य एवं निपुण साहसियों का**

अभाव (Paucity of Able and Efficient Entrepreneurs)—किसी देश मे औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक दशा मे प्रयुत्क्रम और कल्पना शक्ति (Initiative and Imagination) रखने वाले, जोखिम उठाने की पूरी योग्यता रखने वाले तथा अपने कार्य मे दक्ष एव निपुण साहसियो की परम् आवश्यकता होती है। दुर्भाग्यवश भारत मे ऐसे साहसियो का नितान्त अभाव है। परिणामत देश मे उन्ही उद्योगो का विकास हो सका है जिनमे बहुत कम जोखिम होती है तथा अधिक जोखिम चाहने वाले उद्योगो का देश मे एकदम अभाव सा है। (v) पर्याप्त बैंकिंग व साख-सुविधाओ का अभाव (Lack of Adequate and Proper Banking and Credit Facilities in the Country) —देश मे पर्याप्त एव समुचित बैंकिंग व साख सुविधाओ का नितान्त अभाव है। नगरो मे तो बैंक और साख सस्थायें हैं, परन्तु गावो मे इनका बहुत अभाव है। गावो की सहकारी-साख समितिया (Co operative Credit Societies) कृषको की बचत को एकत्रित करने तथा उन्हे अल्पकालीन ऋण देने का कार्य करती हैं, परन्तु इन समितियो की सख्या अत्यल्प है तथा इनके लेन-देन का परिमाण भी बहुत कम है। फलत देश मे कृषि और उद्योगो का पर्याप्त विकास नही हो सका है। (vi) परिवहन व सचार के समुन्नत साधनो का अभाव (Lack of Well developed Means of Transport and Communication) — देश मे परिवहन एव सचार के साधनो का समुचित विकास नही हो पाया है। विशेषकर सडक-यातायात (Road Transport) बहुत ही अविकसित अवस्था मे है। (vii) नागरिकों के रहन-सहन का निम्न स्तर (Low standard of living of the People) — इस समय हमारे देश मे प्रति व्यक्ति खाद्यान्न, वस्त्र तथा खाद्य तेलो की खपत क्रमश १६ औंस, १५·५ गज तथा ०.४ औंस है जो एक स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की दृष्टि से बहुत कम है। हमारे देश मे मकानो का भी अभाव है जिसके कारण एक व्यक्ति को रहने के लिये १०० वर्ग फिट स्थान से भी कम उपलब्ध है। देश की लगभग ५०% जनसख्या औसतन उपभोग की वस्तुओ पर १३ रु० व्यय करती है। इसके अतिरिक्त हमारे देश मे प्रति व्यक्ति विद्युत तथा इस्पात का उपयोग अमेरिका का क्रमश $\frac{1}{96}$ वा भाग तथा $\frac{1}{832}$ वा भाग है। (viii) देश का व्यवसायिक ढाचा (Occupational Structure of the Country) —प्रो० कोलिन क्लार्क (Colin Clark) का मत है कि किसी देश के विकास की स्थिति का अनुमान वहा के व्यवसायिक ढाचे से लगाया जा सकता है। उनके मतानुसार अविकसित एव अर्ध विकसित देशो मे जनसख्या का अधिकाश प्रतिशत कृषि जैसे प्रारम्भिक व्यवसायो (Primary Occupations) मे लगा होता है। देश के विकास के साथ ही साथ इन व्यवसायो मे जनसख्या का प्रतिशत कम हो जाता है तथा शनै शनै जनसख्या का अधिकाश भाग उद्योग एव खनिज जैसे द्वैतीयक-व्यवसायो (Secondary Occupations) मे कार्यरत हो जाता है। समृद्धिशाली एव विकसित दशा म बैंक, व्यापार, सेवा, परिवहन आदि तृतीय श्रेणी के व्यवसाय (Tertiary Occupations) मे बहुत से व्यक्ति लग जाते हैं तथा

कृषि पर आश्रित जनसंख्या का प्रतिशत बहुत कम हो जाता है। स्पष्ट है कि इस दृष्टि से भी भारत एक अर्ध विकसित देश है। जबकि अमेरिका में केवल १२% व्यक्ति कृषि पर कार्य करते हैं, तब भारत में कृषि पर आश्रित जनसंख्या लगभग ७०% है। इसके अतिरिक्त उद्योग और खानों में २.६%, लघु-उद्योग तथा निर्माण-कार्यों में ८%, परिवहन-संचार-व्यापार व शासन में ७% तथा घरेलू सेवा आदि कार्यों में १०% जनसंख्या लगी हुई है।

उपसंहार—उपरोक्त से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था अभी तक अर्ध-विकसित है तथा विकास के मार्ग पर प्रशस्त है। हमें यह पूर्ण आशा है कि देश में कार्यान्वित की जा रही पंच-वर्षीय योजनाएं देश की अर्थ-व्यवस्था को विकास की चरम् सीमा तक पहुंचाने में सफल हो सकेंगी। यह अवश्य है कि इसके लिये समय, शक्ति, धन और सहयोग की परमावश्यकता है।

२

भौगोलिक-रचना, जलवायु एवं जलवर्षा

(Geographical Environments, Climate and Rainfall)

प्राक्कथन—किसी देश की आर्थिक व भौतिक समृद्धि प्रधानतः वहा के प्राकृतिक पर्यावरण एव प्राकृतिक-साधनो के समुचित उपयोग पर आश्रित है। किसी देश की जलवायु, धरातल की बनावट, भौगोलिक-स्थिति, वर्षा, भूमि, खनिज-पदार्थ, वन-सम्पत्ति, नदिया, समुद्र तट तथा शक्ति के अन्य स्रोत देशवासियो की आर्थिक-क्रियाओ का स्वरूप तथा धनोत्पादन का परिणाम निश्चित करते हैं। वस्तुत मानव स्वय ही अपनी भौगोलिक परिस्थितियो की उपज है। भौगोलिक पर्यावरण आर्थिक-जीवन का रगमच प्रस्तुत करता है। यह रगमच भव्य और विशाल हो सकता है—छोटा और वीरान भी। परन्तु रगमच की प्रकृति अपने ऊपर होने वाले अभिनयो के विस्तार को सीमित अवश्य करती है।

भौगोलिक-स्थिति (Geographical Location)

भारत की भौगोलिक-स्थिति (Geographical Location of India)—भारत एक विशाल देश है। यह भूमध्य-रेखा के उत्तर मे, दक्षिण से उत्तर तक ८° से ३७° अक्षाश तथा ६७° पूर्व देशान्तर से ९७° पूर्व देशान्तर तक फैला हुआ है। कर्क रेखा इस भूखण्ड को दो भागो मे विभाजित करती हुई इसके मध्य से जाती है। हमारे देश के उत्तर मे हिमालय की ऊची पर्वत श्रेणिया हैं जो इसे तिब्बत तथा अन्य एशियाई देशो से पृथक करती हैं। देश के उत्तर-पश्चिम मे पश्चिमी पाकिस्तान तथा उत्तर-पूर्व में बर्मा है। इसी प्रकार पूर्व मे बगाल की खाडी, पश्चिम मे अरब सागर और दक्षिण मे हिन्द महासागर इसकी तीन सीमाओ का निर्धारण करते हैं। वस्तुत प्रकृति ने भारत को महान् बनाया है। इसकी भौगोलिक-स्थिति पर्याप्त अनुकूल है। पूर्वी-गोलार्द्ध (Eastern Hemisphere) के ठीक मध्य मे स्थित होने के फलस्वरूप भारत को एक ओर बर्मा, मलाया, चीन, जापान, आस्ट्रेलिया तथा पूर्वी महाद्वीप एव दूसरी ओर, मध्य पूर्व के देश, अफ्रीका, रूस व यूरोप आदि देशो के साथ व्यापार करने मे बहुत सुविधा प्राप्त है। हमारे देश की भू-सीमा (Land Frontier) लगभग ६,४२५ मील तथा तटीय रेखा (Coast-line) लगभग ३,५३५ मील लम्बी है। यद्यपि भारत का समुद्र-तट बहुत विस्तृत है, परन्तु पर्याप्त कटा-फटा न होने के कारण देश मे अच्छे बन्दरगाहो का अभाव है। यही कारण है कि देश का सामुद्रिक यातायात विशेष प्रगति नहीं कर पाया है। हमारे देश मे इस समय केवल बम्बई ही प्राकृतिक-बन्दरगाह है। देश के विभाजन के पश्चात् कराची का प्रमुख बन्दरगाह पाकिस्तान के पास चला गया। अत इस अभाव को पूरा करने के

उद्देश्य से हमारी सरकार काडला (Kandla) तथा ओखा (Okha) के बन्दरगाह बनाने मे प्रयत्नशील है।

भारत का क्षेत्रफल (Area of the Country)—भारत एक विशाल भूखण्ड है। देश का कुल क्षेत्रफल (जम्मू और काश्मीर सहित) लगभग १२ ६६ ७१६ वर्गमील है। इसका कुल विस्तार उत्तर से दक्षिण तक लगभग २,००० मील तथा पूर्व से पश्चिम तक १,८५० मील है। भारत के विस्तृत-क्षेत्र को देखते हुए कभी-कभी इसे एक उप महाद्वीप (Sub continent) भी कहा जाता है। हमारे देश का क्षेत्रफल इगलैंड के क्षत्रफल से १४ गुना तथा जापान के क्षेत्रफल से ६ गुना अधिक है। यूरोप के अनेक छोटे छोटे देश, जैसे—ग्रेट ब्रिटेन फ्रास, आयरलैंड, बेल्जियम, हालैंड, जर्मनी, डेनमार्क, आस्ट्रिया, हगरी, स्पेन आदि भारत के क्षेत्रफल मे समा सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे देश का क्षेत्रफल कनाडा के एक तिहाई तथा सोवियत सघ के सातवें भाग के बराबर है।

भारत का भौगोलिक विभाजन (Geographical Division of India)—भौगोलिक-दृष्टि से भारतवर्ष को निम्न चार प्राकृतिक-विभागो मे बाटा जा सकता है —

(१) उत्तरी हिमालय पहाडी प्रदेश (Himalayas)—यह विशाल पर्वत-माला उत्तर मे पामीर से प्रारम्भ होकर असम की पूर्वी-सीमा से लेकर काश्मीर की पश्चिमी-सीमा तक फैली हुई है। इस विशाल पर्वत की श्रेणियो की लम्बाई और चौडाई दार्जिलिग से काश्मीर की पश्चिमी सीमा तक क्रमश. १,५०० मील तथा १५० मील से २०० मील तक है। हिमालय के पहाडी प्रदेश को तीन मुख्य भागो मे बाटा जा सकता है --**(क) मुख्य हिमालय क्षेत्र**—इसमे समानान्तर पर्वत श्रेणिया है। इन्ही पर्वत श्रेणियो मे ससार की सबसे ऊची पर्वत चोटिया स्थित हैं, जैसे—एवरेस्ट, आस्टिन, कचन-गगा, धौलागिरी व नागा पर्वत जिनकी ऊचाई क्रमश २६,०२८ फीट २८,२५० फीट, १८,१४६ फीट, २६ ८२० फीट तथा २६,६३० फीट है। **(ख) हिमालय की उत्तरी पश्चिमी शाखा**—इस श्रेणी मे खैबर और बोलिन के प्रसिद्ध दर्रे स्थित हैं। **(ग) हिमालय की दक्षिणी-पूर्वी शाखा**—यह शाखा भारत और बर्मा की सीमा का निर्धारण करती है।

हिमालय का आर्थिक-महत्व (Economic Importance of the Himalayas)—हिमालय पर्वत से हमारे देश को उपलब्ध होने वाले लाभ मुख्यत इस प्रकार हैं—**(i) देश की सुरक्षा**—हिमालय पर्वत की ऊची श्रेणियो को पार करके भारत पर आक्रमण करने का कोई साहस नही करता। अत हिमालय पवत की ये ऊची श्रेणिया विदेशी आक्रमणो से देश की रक्षा करती हैं। **(ii) वर्षा**—हिमालय पर्वत बगाल की खाडी तथा अरब सागर से उठने वाली मानसून को रोकता है जिससे उत्तरी भारत के मैदानो मे पर्याप्त वर्षा होती है। यदि हिमालय पर्वत की ये ऊची श्रेणिया न होती तब, सम्भवतया हमारा देश शुष्क-मरुस्थल होता। **(iii) जलवायु**—यह पर्वत उत्तर से प्रवाहित होने वाली आर्द्र एव शीत हवाओ को

रोकता है । इन पर्वत-श्रणियो के न होने पर भारत एक बर्फीला मैदान बन जाता । (iv) सिंचाई—इस पर्वत की विस्तृत श्रेणियो पर वर्ष भर बर्फ जमी रहती है जो पिघलकर गगा, यमुना, सिन्ध, सतलज, ब्रह्मपुत्र आदि बडी-बडी नदियो मे आती है । यह नदिया देश क मैदानो को सीचकर धन-धान्य मे वृद्धि करती हैं । (v) जल विद्युत—इन नदियो पर यत्र तत्र अनेक स्थानो पर विद्युत शक्ति उत्पादन के केन्द्र बनाए गए है जो देश की आर्थिक-प्रगति के दृष्टिकोण से अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । (vi) बहुमूल्य औषधि तथा लकडिया—हिमालय पर्वत की श्रेणियो मे घने वन है जिनम बहुमूल्य लकडी, जडी-बूटी तथा अन्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं । (vii) चाय की खेती—असम, दार्जिलिंग तथा देहरादून की पहाडियो पर चाय का उत्पादन किया जाता है । (viii) जलवायु की विभिन्नता—भारत मे पाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की जलवायु का श्रेय भी इसी क्षेत्र को है, जिसके परिणामस्वरूप देश म लगभग सभी प्रकार क अन्न, पेय-पदार्थ तथा रेशदार-पदार्थ उत्पन्न होते है । (ix) खनिज सम्पत्ति—इन पर्वत श्रणियो मे स्थान-स्थान पर अनेक प्रकार के खनिज-पदार्थ भी उपलब्ध होते हैं, जैसे—पहाडी नमक, जिप्सम, कोयला, मैंग्नेसाइट, डोलोमाइट और पैट्रोल आदि । (x) भूमि सरक्षण—हरे-भरे पर्वत होने के फलस्वरूप वर्षा का जल तीव्र प्रवाह से नीचे नही आ पाता । फलत हिमालय पर्वत की श्रेणिया उस क्षेत्र म भूमि सरक्षण का कार्य भी करती हैं । (xi) स्वास्थ्यप्रद तथा आकर्षक स्थान—काश्मीर की फलो की घाटी तथा शिमला, दार्जिलिंग, नैनीताल, मसूरी एव श्रीनगर आदि रमणीक स्थान हिमालय पर्वत की तराई मे स्थित हैं । (xii) अन्य लाभ—हिमालय पर्वत का पत्थर मकानो तथा अन्य वस्तुओ के निर्माण मे प्रयुक्त होता है । अनेक प्रकार के फल-मेवे तथा जंगली-पशु इन पर्वत श्रेणियो मे उपलब्ध होते हैं । इनके अमूल्य सघन वन तथा चरागाह भी विशेष आर्थिक महत्व रखते हैं।

(२) गगा का मैदान (Gangetic Plain)—गगा का मैदान विश्व के उपजाऊ समतल मैदानो म सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । यह मैदान गगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र सतलज, सिन्धु तथा इनकी सहायक नदियो की लाई हुई मिट्टी से बना है । यह उत्तरी भारत के अधिकाश क्षेत्र म असम से पजाब तक और हिमालय से विन्ध्याचल तक विस्तृत है । इसका क्षेत्रफल लगभग ३ लाख वर्गमील है । इसकी लम्बाई लगभग १,५०० मील तथा चौडाई १५० से २०० मील तक है । भारत के विभाजन के पश्चात् सिन्ध और उसकी सहायक नदियो का देश के आर्थिक जीवन मे विशेष महत्व नही रह गया है क्योकि अब इन नदियो का अधिकाश भाग पाकिस्तान मे चला गया है । गगा के मैदान म उत्तरी राजस्थान, पूर्वी पजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बगाल तथा असम का कुछ भाग सम्मिलित है । इस मैदान के अधिकाश क्षत्रो म पर्याप्त वर्षा होती है । शेष अन्य क्षेत्रो मे सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं ।

गगा के मैदान का आर्थिक महत्व—(i) इस क्षेत्र मे बहने वाली नदियो ने अपने साथ लाई हुई मिट्टी से इस क्षेत्र को उपजाऊ बना दिया है, अतः इस क्षेत्र म ईख, चावल, गेहूं, जूट, कपास आदि प्रमुख कृषि उपज होती हैं तथा गहरी खेती

की दृष्टि से भी इस क्षेत्र का विशेष महत्व है। (ii) भूमि की समतलता के कारण इस क्षेत्र में रेलों और सड़कों का जाल सा बिछा हुआ है। (iii) इस मैदान में लोहा, कोयला आदि प्रमुख खनिज पदार्थ भी उपलब्ध हैं। फलतः इस क्षेत्र में बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का विकास सम्भव हो सका है तथा बहुत से शहर और व्यापारिक केन्द्र इस क्षेत्र में स्थित हैं। (iv) गंगा का यह मैदान सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्र का एक तिहाई भाग है तथा इसमें देश की लगभग ४०% जनसंख्या निवास करती है। वस्तुतः प्राचीन काल से ही भारतीय सभ्यता, संस्कृति कला और साहित्य का प्रमुख केन्द्र यही क्षेत्र रहा है और आज भी इस क्षेत्र का भारत के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है।

(३) दक्षिणी-प्रायद्वीप (*Deccan Peninsula*) —पृथ्वी का वह भाग जो आस-पास की समतल भूमि से ऊंचा होता है—पठार कहलाता है। भारत का दक्षिणी-पठारी भाग एक त्रिकोण के आकार जैसा (Triangular) है जो तीनों ओर से पहाड़ियों से आच्छादित है। उत्तर में सिंधु गंगा के मैदान तथा दक्षिणी पठार के मध्य में १,५०० फीट से ४,००० फीट तक की ऊंची अनेक पर्वत श्रेणियां हैं। दक्षिण के पठार की ऊंचाई का औसत अनुमान १,५०० फीट है, यद्यपि इसके पूर्वी घाट की औसत ऊंचाई २,००० फीट है तथा पश्चिमी घाट की औसत ऊंचाई ३,००० से ४,००० फीट तथा कहीं कहीं पर ६,००० फीट तक है। अरावली विन्ध्य तथा सतपुड़ा दक्षिणी पठार की मुख्य पहाड़ियां हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारत के मध्य में स्थित ये चट्टानें सबसे पुरातन हैं। इस प्रदेश की मुख्य नदियां नर्मदा, ताप्ती, महानदी, कृष्णा और कावेरी हैं। चूंकि इस प्रदेश का धरातल ऊबड़-खाबड़ है, इसलिये ग्रीष्म-काल में ये नदियां सूखकर केवल तालाब के सदृश्य हो जाती हैं, तथा सिंचाई के लिये उपयुक्त नहीं रहती।

दक्षिणी प्रायद्वीप का आर्थिक महत्व—इस प्रदेश में उपलब्ध "काली-मिट्टी" कपास, ज्वार, कहवा तथा नारियल आदि के उत्पादन के लिये अत्यधिक उपजाऊ है। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश में तेल के बीज, तम्बाकू व चावल का भी उत्पादन होता है। चूंकि इस प्रदेश में वन पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र में हैं, इसलिए आर्थिक दृष्टि से इसका अपना विशेष महत्व है। इन वनों में चन्दन तथा आबनूस की बहु-मूल्य लकड़ी उपलब्ध होती है। इस प्रदेश की चट्टानों से अनेक खनिज-पदार्थ निकलते हैं, जैसे—कोलार में सोना, गोदावरी की घाटी में मैंगनीज, कोयला व लोहा आदि। अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में इस क्षेत्र का आर्थिक विकास उत्तरी मैदान के समान नहीं हो सका है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में जनसंख्या का घनत्व भी अपेक्षाकृत बहुत कम है।

(४) समुद्र-तटीय मैदान (*Coastal Plains*)—भारत में दक्षिणी पठार तथा समुद्र के बीच पूर्व और पश्चिम दोनों ओर जो क्षेत्र है, उन्हें क्रमशः पूर्वी-घाट (Eastern Ghats) तथा पश्चिमी घाट (Western Ghats) कहा जाता है। इन्हें क्रमशः 'करोमण्डल-तट' तथा 'मालाबार-तट' भी कहा जाता है। पूर्वी-तटीय मैदान पश्चिमी-तटीय मैदान की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। यह उत्तर में महानदी की

घाटी से दक्षिण में नीलगिरी तक ५०० मील लम्बा है। पश्चिमी-घाट की अपेक्षा पूर्वी-घाट की ऊंचाई कम है तथा इसकी चौड़ाई ४० से ८० मील तक है। पश्चिमी तटीय मैदान की चौड़ाई कहीं भी ४० मील से अधिक नहीं है।

समुद्र-तटीय मैदानों का आर्थिक महत्व—पूर्वी-तटीय मैदान में महानदी, कृष्णा, कावेरी और गोदावरी नदियों के पानी से सिंचाई की जाती है। इन नदियों ने अपने साथ लाई हुई मिट्टी से इस क्षेत्र को अत्यधिक उपजाऊ बना दिया है। इस क्षेत्र में वर्षा २० से ५० इंच तक होती है। अतः यहां पर चावल, नारियल, तिलहन तथा मसालों की खेती की जाती है। पर्याप्त वर्षा होने के कारण यहां जल-विद्युत योजनायें भी कार्यान्वित की गई हैं। पश्चिमी-तटीय मैदान में पूर्वी-तटीय मैदान की अपेक्षा वर्षा अधिक होती है जिसका वार्षिक औसत लगभग १०० इंच है। इस क्षेत्र की मुख्य उपज कपास, चावल, चाय और नारियल आदि हैं। हमारे देश के प्रसिद्ध बन्दरगाह, जैसे-बम्बई, मद्रास, कोचीन और विशाखापतनम् आदि भी इन्हीं तटों पर स्थित हैं। इनमें सबसे अधिक उपजाऊ मैदान नदियों का डेल्टा-प्रदेश है जिसे 'कछार' कहा जाता है। चूंकि इन मैदानों में उत्पत्ति अधिक होती है, इसलिये जनसंख्या का घनत्व भी इन क्षेत्रों में बहुत अधिक पाया जाता है। देश के इन दोनों समुद्र तटों की लम्बाई लगभग ३,५०० मील है। व्यापारिक दृष्टिकोण से समुद्र-तट का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में आज इङ्गलैंड और हालैंड आदि देशों की इतनी प्रगति का श्रेय उन देशों के समुद्र-तट को ही है। हमारे देश का समुद्र तट अधिक कटा-फटा नहीं है जिसके कारण हमारा देश व्यापारिक दृष्टिकोण से अधिक प्रगति नहीं कर पाया है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बन्दरगाहों का विकास करने के अपूर्व प्रयत्न किए जा रहे हैं।

भौगोलिक-स्थिति और आर्थिक-जीवन का सम्बन्ध (Co-relation between Geographical Location and Economic Life)—किसी देश के आर्थिक-जीवन को भौगोलिक परिस्थितियां मुख्यतः इस प्रकार सञ्चालित एवं परिसीमित करती हैं :—(i) स्थिति—भौगोलिक स्थिति के परिणामस्वरूप ही ग्रामों तथा नगरों का विकास होता है। पहाड़ी ढलवानों पर बड़े-बड़े नगर अथवा गांव नहीं बसाए जा सकते। बड़े-बड़े नगर केवल मैदानों में ही बसाये जा सकते हैं। (ii) खान-पान—प्राकृतिक साधन किसी देश के निवासियों का खान-पान निश्चित करते हैं। गंगा के मैदान में रहने वालों का मुख्य भोजन गेहूं व चना है, जबकि हिमालय पर्वत पर रहने वाले निवासियों का मुख्य भोजन मांस तथा दूध है (iii) व्यवसाय—किसी विशेष क्षेत्र में कौन-सा व्यवसाय अपनाया जायगा यह भी बहुत कुछ भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। उत्तरी भारत में हिमालय पर्वत के निवासियों का मुख्य व्यवसाय भेड़-बकरी पालना है, गंगा के मैदान में रहने वालों का मुख्य धन्धा कृषि है तथा बंगाल, बिहार और मध्य-प्रदेश में जहां पर खनिज-पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, वहां के निवासियों का मुख्य व्यवसाय उद्योग है। (iv) उद्योग-धन्धे—किसी क्षेत्र का प्राकृतिक परिवेश ही इस बात का निर्णय करता है कि उस क्षेत्र में

कौन-कौन से उद्योग-धन्धों का उद्भव सम्भव हो सकेगा। उत्तर-प्रदेश और बिहार मे चीनी के कारखाने तथा बंगाल मे पटसन के कारखाने इस तथ्य का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। (v) व्यापार -प्रत्येक देश का अन्तर्देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत कुछ वहा के प्राकृतिक पर्यावरण द्वारा परिसीमित होता है। यद्यपि हमारे देश का समुद्र-तट ३,५०० मील लम्बा है, परन्तु अधिक कटा-फटा न होने के कारण देश मे बड़े-बड़े बन्दरगाहो का अधिक विकास नही हो सका है और हमारा देश व्यापारिक दृष्टिकोण से अधिक प्रगति नही कर सका है। (vi) जीवन-स्तर—किसी देश मे वहा के निवासियो की आवश्यकतायें उपलब्ध प्राकृतिक साधनों से परिसीमित होती हैं। इसके साथ-साथ यह भी उल्लेखनीय है कि किसी देश की आर्थिक समृद्धि वहां पर उपलब्ध प्राकृतिक साधनो तथा नागरिको द्वारा उनके समुचित उपयोग पर आश्रित है। हमारे देश मे प्राकृतिक साधनो की पर्याप्त प्रचुरता है, परन्तु इनका समुचित शोषण न होने के कारण देशवासियो का जीवन-स्तर निम्न कोटि का बना हुआ है। इसीलिये यह कहा जाता है कि 'भारत निर्धनो द्वारा वासितएक धनीदेश है।" (India is a rich country inhabited by the poor.)

जलवायु (Climate)

भारत की जलवायु (Climate of India)—यद्यपि भारत की समग्र जलवायु को अर्ध-अयन वृत्तीय (Semi-tropical) मानसून शैली की जलवायु कहा जा सकता है, तथापि देश का आकार विशाल होने के कारण यहां पर जलवायु की विभिन्नतायें पाई जाती है। मुख्यत उत्तरी भारत मे जलवायु शीतोष्ण तथा दक्षिणी भारत की जलवायु उष्ण है। उत्तरी भारत मे जाड़ो मे तापक्रम ५५°F से ६०°F तक तथा ग्रीष्म काल मे १००°F से १२०°F तक हो जाता है। दक्षिणी भारत मे यह तापक्रम ७५°F से १००°F तक रहता है।

जलवायु का भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव—देश की अर्थ-व्यवस्था पर जलवायु द्वारा पड़ने वाले मुख्य प्रभाव इस प्रकार हैं -(i) **वनस्पति मे विभिन्नता**--हिमालय की तराई मे वन तथा राजस्थान मे रेगिस्तान और उत्तर-प्रदेश मे कृषि की विभिन्न उपजें जलवायु की विभिन्नता के ही कारण है। (ii) **कृषि एवं फसलों मे भिन्नता**—देश की विभिन्न जलवायु के फलस्वरूप ही पंजाब मे गेहूं बंगाल मे चावल तथा तटीय-प्रदेशो मे नारियल उत्पन्न होते हैं। स्पष्ट है कि जलवायु की विभिन्नता के कारण ही देश मे भिन्न-भिन्न फसलें उत्पन्न होती है। जलवायु की इस अनुकूलता ने ही भारत को कृषि-प्रधान देश बना दिया है। (iii) **उद्योग-धन्धे**--पश्चिमी बंगाल मे जूट के कारखाने तथा उत्तर-प्रदेश और बिहार मे चीनी के कारखाने जलवायु का ही परोक्ष परिणाम है। (iv) **स्वास्थ्य व कार्य-क्षमता**—उष्ण जलवायु होने के कारण हमारे देश के नागरिक शीघ्र ही परिपक्वता की स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। भारतीय श्रमिक की हीन कार्य-क्षमता (Low Efficiency) का सबसे प्रमुख कारण भी जलवायु की उष्णता ही है। (v) **खनिज सम्पत्ति व जीव-जन्तुओं मे विभिन्नता**—बंगाल, बिहार और उड़ीसा मे कोयले, लोहे की खानें तथा मैसूर म सोने की खानें

मिलने का कारण बहुत कुछ जलवायु की विभिन्नता पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त जलवायु की विभिन्नता के कारण ही काश्मीर मे पहाडी भेड, राजस्थान मे ऊट और बगाल मे चीते अधिक मिलते हैं। (vi) रहन-सहन—जलवायु की उष्णता के फलस्वरूप हमारे देशवासियो की आवश्यकतायें अत्यन्त न्यून हैं और उनमे रूढिवादिता घर कर गई है। (vii) आविष्कार—"आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।" यही कारण है कि भारतवासी अपनी न्यून आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप वैज्ञानिक आविष्कार के क्षेत्र मे अधिक प्रगति नही कर सके हैं। (viii) चरित्र और रीति रिवाज—गर्म जलवायु ने भारतवासियो के साहस, परिश्रम तथा आत्म विश्वास को कम करके उन्हें अकर्मण्य, आलस्य-प्रिय एव भाग्यवादी बना दिया है। (ix) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—भारत विदेशो को चाय, जूट तथा तिलहन आदि भेजता है। चू कि इनकी उपज के लिये देश मे अनुकूल जलवायु है, इसी लिये इन वस्तुओ का उत्पादन भी अधिक होता है। इस प्रकार जलवायु देश के व्यापार की दिशा और गति का निर्धारण करती है।

भारत में जल-वर्षा (Rainfall in India)—हमारे देश मे वर्षा मानसूनी हवाओ से होती है। गर्मी मे वर्षा करने वाली हवायें ग्रीष्म मानसून (Summer Monsoon) तथा शरद-ऋतु मे वर्षा करने वाली हवायें शीतकालीन मानसून (Winter Monsoon) कहलाती हैं। (अ) ग्रीष्म कालीन वर्षा—हमारे देश मे लगभग ९०%वर्षा ग्रीष्म-कालीन दक्षिणी-पश्चिमी मौसमी हवाओ से होती है। ग्रीष्म कालीन मानसून की दो शाखायें हैं—(i) अरब सागरीय शाखा—इसे अरब सागरीय मानसून भी कहते है। इसकी तीन उप-शाखायें हैं-(क) एक उपशाखा पश्चिमी घाट से टकराकर कुमारी अन्तरीप से बम्बई तक वर्षा करती है। (ख) दूसरी उप-शाखा अरावली, विन्ध्याचल तथा सतपुडा पर्वतो की ओर चलकर मध्य प्रदेश के दक्षिण पश्चिम उत्तर मे वर्षा करती है। (ग) तीसरा उप-शाखा पश्चिमी घाट से टकराकर उसके ढालो पर वर्षा करती है। (ii) बगाल की खाडी की शाखा—यह मानसून बगाल की खाडी से उठकर पूर्वी पर्वत श्रेणिया से टकरा जाता है तथा तीन उप विभागो मे विभक्त हो जाता है—(क) एक भाग बर्मा की ओर जाकर अराकान-योमा से टकराकर बर्मा के पश्चिमी भाग मे वर्षा करता है। (ख) दूसरा भाग असम की ओर जाकर खासी पहाडियो वाले तग भूखण्ड से टकराता है। इसी मानसून से चेरापू जी मे प्रति वर्ष ५००" वर्षा होती है। (ग) मानसून का तीसरा भाग बगाल मे सुन्दरवन मे वर्षा करता हुआ हिमालय से टकराकर पश्चिम की ओर मुड जाता है तथा बगाल, बिहार और उत्तर-प्रदेश के उत्तरी-पूर्वी भाग मे पर्याप्त वर्षा करता है।

(आ) शीतकालीन वर्षा:—अक्टूबर से दिसम्बर तक उत्तर-पूर्वी मानसूनी हवाओ से शीतकालीन वर्षा होती है। ये हवायें बगाल की खाडी से उठ कर मद्रास, उत्तरी-भारत तथा पूर्वी तट पर वर्षा करती हैं। यद्यपि इस काल मे वर्षा की मात्रा बहुत कम होती है, परन्तु गेहू उत्पन्न करने वाले क्षेत्रो मे इसका विशेष महत्व है।

भारत में वर्षा की विशेषताएं — भारतीय जलवर्षा की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं —(i) देश में वर्षा का वितरण समान नहीं है —यद्यपि देश में वर्षा का वार्षिक औसत ४२" है परन्तु यदि एक ओर चीरापूंजी में ५००" तक वर्षा होती है तब दूसरी ओर राजस्थान में ५" से भी कम वर्षा हो पाती है। (ii) वर्षा की मात्रा अनिश्चित है —विगत वर्षों के आंकड़ों से स्पष्ट है कि भारत में ५ वर्षों में से १ वर्ष वर्षा बहुत श्रेष्ठ होती है, दो वर्षों में सामान्य तथा दो वर्षों में बहुत कम अथवा बहुत अधिक वर्षा होती है। (iii) वर्षा की दो ऋतुयें —हमारे देश में कुल वर्षा का ६०% भाग ग्रीष्मकाल में जून से सितम्बर तक होता है तथा शेष शरद-ऋतु में। (iv) वर्षा का समय अनिश्चित रहता है —वर्षा के आरम्भ और अन्त की अनिश्चितता के फलस्वरूप भारतीय कृषि भी अनिश्चित ही रहती है।

भारत के आर्थिक जीवन पर मानसून का प्रभाव —भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर जलवृष्टि के मुख्य प्रभाव इस प्रकार है —(i) **कृषि पर प्रभाव** —भारत में वर्षा की अनिश्चितता के कारण कृषि-उत्पादन में भी अनिश्चितता रहती है। गोल्स के मतानुसार "मानसून के फेल हो जाने पर भारतीय-कृषि में पूर्णत तालाबन्दी हो जाती है।" (If Monsoons fail, there is complete lock out in Agriculture)। (ii) **उद्योग धन्धों पर प्रभाव** —कृषि उद्योग पर आधारित उद्योग-धन्धे जैसे— चीनी वस्त्र, तथा जूट-उद्योग वर्षा के परिमाण से अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं। (iii) **व्यापार** —अपर्याप्त एवं अनिश्चित वर्षा के कारण भारतीय व्यापार में भी अनिश्चितता रहती है। (iv) **सरकारी बजट** —मानसून का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से सरकार की आय व्यय पर पड़ता है। पर्याप्त वर्षा होने की स्थिति में अच्छी उपज होती है जिससे सरकारी आय में वृद्धि होती है। इसके विपरीत अपर्याप्त वर्षा होने की स्थिति में सरकार को विदेशों से अन्न मंगाना पड़ता है। इसीलिये तो भारत के वित्त-मंत्री ब्लकेट ने कहा था कि "भारतीय बजट वर्षा का जुआ है।" ("The Indian budget is a gamble in rains")। (v) **जनसंख्या का घनत्व** —पर्याप्त जलवर्षा वाले प्रदेशों में जनसंख्या का घनत्व उन क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक रहता है जहां अपर्याप्त वर्षा होती है। यही कारण है कि उत्तर-प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व राजस्थान की अपेक्षा अधिक है। (vi) **मूल्य स्तर** —हमारे देश में वर्षा की अनिश्चितता एवं अनियमितता के कारण कृषि की उपज से सम्बन्धित समस्त वस्तुओं का मूल्य अस्थिर रहता है।

—०—

३

मिट्टियां और भूमि-कटाव की समस्या

(Soils and the Problem of Soil Erosion)

प्राक्कथन—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। भारतीय कृषि उत्पादन की सीमा और दिशा के निर्धारण मे भारत मे उपलब्ध विभिन्न प्रकार की मिट्टियो के गुण और अवगुणो का विशेष महत्व है। जलवायु और मिट्टी की विभिन्नता के ही फलस्वरूप भारत मे विभिन्न प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं।

भारत की मिट्टियां (Soils in India)—भारत मे पाच प्रकार की मिट्टिया पाई जाती है —

(अ) दोमट मिट्टी (Alluvial Soil)—दोमट मिट्टी को 'कगवार' भी कहते हैं। यह मिट्टी भारत मे सबसे अधिक उपजाऊ है। हमारे देश मे इस मिट्टी का क्षेत्र लगभग ३ लाख वर्गमील है जो कि पजाब, उत्तर-प्रदेश, राजस्थान असम बगाल, गुजरात, तटीय मैदान, बिहार तथा गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के मुहानो पर विस्तृत है। नदियो ने इस मिट्टी को बार-बार धोकर अत्यधिक उपजाऊ बना दिया है। इस मिट्टी की मुख्य विशेषता इसका मुलायमपन और गहरापन है। बोरिंग करने पर यह पता चला है कि यह मिट्टी १,६०० फीट नीचे तक पाई जाती है। इस मिट्टी मे पोटाश (Potash) और फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) की पर्याप्त मात्रा पाई जाती है परन्तु नाइट्रोजन (Nitrogen) कम मात्रा मे मिलता है। इस मिट्टी म चावल, गेहू, चना, गन्ना, जूट, तिलहन और तम्बाकू आदि मुख्य-मुख्य फसलें उगाई जाती हैं। चू कि यह मिट्टी कृषि उत्पादन की दृष्टि से बहुत उत्तम है, इसलिए इसी मिट्टी के क्षेत्र मे जनसख्या का घनत्व भी अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है।

(आ) लाल मिट्टी (Red Soil)—इस मिट्टी म लौह खनिज मिले रहने के कारण, मिट्टी का रग लाल सा दिखाई देता है। अत इसे लाल मिट्टी कहते है। यह मिट्टी मद्रास, मैसूर, दक्षिणी-पूर्वी महाराष्ट्र, आध्र प्रदेश, मध्य-प्रदेश के पूर्वी भाग, उड़ीसा तथा राजस्थान और उत्तर-प्रदेश के कुछ भागो मे पाई जाती है। इस मिट्टी का क्षेत्रफल आठ लाख वर्गमील स भी अधिक बतलाया जाता है। इसमे फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) तथा नाइट्रोजन की मात्रा कम पाई जाती है। कृषि-उत्पादन की दृष्टि से लाल मिट्टी अधिक उपजाऊ नहीं होती। इस मिट्टी म उगाई जाने वाली मुख्य फसलें बाजरा, ज्वार, तिलहन, कपास तथा मूगफली आदि हैं।

(इ) काली मिट्टी (Black Soil —धातुओं के अधिक सम्मिश्रण होने के कारण इस मिट्टी का रग काला' हो गया है। यह मिट्टी महाराष्ट्र,

मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश आदि राज्यों में दो लाख वर्गमील के क्षेत्र में फैली हुई है। दक्षिणी पठार की यह मिट्टी उपज की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस मिट्टी की मुख्य उपज कपास है। इसीलिये इस मिट्टी को "कपास की मिट्टी" (Cotton Soil) भी कहा जाता है। इसमे पोटाश (Potash) तथा चूने (Lime) की मात्रा अधिक होती है तथा नाइट्रोजन (Nitrogen) और फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid) की मात्रा कम होती है। इस मिट्टी म ग्रीष्म-काल मे दरारें पड जाती हैं तथा वर्षा काल मे इन दरारो के द्वारा वर्षा का जल अन्दर गहराई तक चला जाता है। वर्षा काल मे यह मिट्टी लिबलिबी (Loamy) हो जाती है तथा शुष्क हो जाने पर इतनी कठोर हो जाती है कि ग्रीष्म-काल मे भी इस मिट्टी की नमी कम नही होने पाती। कपास के अतिरिक्त इस मिट्टी मे ज्वार, बाजरा, गेहू व दालें आदि उगाई जाती हैं।

(ई) लैटराइट मिट्टी (Laterite Soil) भारत मे लैटराइट मिट्टी मध्य-प्रदेश, असम, उडीसा तथा पूर्वी व पश्चिमी घाटो के पास पाई जाती है। इस मिट्टी मे फास्फोरिक एसिड (Phosphoric Acid), पोटाश (Potash) तथा चना (Lime) की मात्रा तो कम होती है परन्तु वनस्पति का अंश पर्याप्त मात्रा मे होता है। यह मिट्टी पहाडो पर कम उपजाऊ होती है, परन्तु पूर्वी और पश्चिमी घाटो पर इसकी उर्वरा-शक्ति पर्याप्त पाई जाती है। इस मिट्टी की मुख्य फसलें चाय, कहवा तथा रबर आदि हैं।

(उ) ट्रैप मिट्टी (Trap Soil)—यह मिट्टी मध्य-प्रदेश, काठियावाड तथा हैदराबाद आदि राज्यो के कुछ भागो मे मिलती है। पहाडों के ढलवानो पर यह मिट्टी अधिक उपजाऊ नही है, परन्तु मैदानो और नीचे के स्थानो मे इस मिट्टी मे कपास, चावल तथा दाल आदि की फसलें बोई जाती हैं।

भूमि-क्षरण (Soil Erosion)

भूमि-क्षरण का अर्थ और प्रकार (Meaning and Kinds of Soil Erosion)—**हवा एव पानी की क्रियाओं द्वारा मिट्टी की ऊपरी सतह के बह जाने अथवा उड जाने अथवा गड्ढे आदि बन जाने से भूमि की उर्वरा-शक्ति को जो क्षति पहुँचती है उसे ही भूमि-क्षरण** (Soil Erosion) कहते हैं। वर्षा का पानी अथवा आधी के झोके जब कभी अबाध-रूप से तीव्रगति से बहते है तो वे अपने साथ भूमि की ऊपरी-सतह को (जो कि उपजाऊ होती है) उडा अथवा बहा ले जाते हैं। *इस प्रकार पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति नष्ट होकर उसके बजर अथवा कृषि के* अयोग्य होने की स्थिति को ही भूमि का कटाव कहते हैं। मुख्यत भूमि का कटाव तीन प्रकार से होता है —**(अ) तलक्षरण** (Sheet Erosion)—पानी द्वारा समतल भूमि (Flat Lands) की ऊपरी सतह के बह जाने तथा नीचे की मिट्टी समान (Flat) किन्तु बेकार हो जाने को तलक्षरण (Sheet Erosion) कहा जाता है। तल-क्षरण उस भूमि म अधिक होता है जिस पर कृषि-कार्य नही होता तथा जिस पर वृक्ष भी नही होते। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश मे

तल-क्षरण द्वारा प्रतिवर्ष सबसे अधिक हानि होती है। **(आ) अन्त क्षरण अथवा कछारदार-कटाव** (Gully Erosion) —जब कभी वर्षा अथवा बाढ के पानी के तीव्र प्रवाह से भूमि मे दूर-दूर तक गहरे गड्ढे, नाले तथा रास्ते आदि बन जाते हैं तथा भूमि स्थान-स्थान पर ऊबड-खाबड हो जाती है, तब ऐसे गहरे गड्ढो को कछार (Ravines) तथा इस प्रकार के कटाव को कछारदार-कटाव (Gully Erosion) कहा जाता है। कछारदार-कटाव मुख्यत नदियों के किनारो की भूमि मे होता है, क्योकि यहा पर बाढ आदि की अधिक सम्भावना रहती है। **(इ) वायु-क्षरण** (Wind Erosion)—वायु के तीव्र झोको द्वारा भूमि की ऊपरी सतह के उपजाऊ-कणो को उडाकर ले जाने की क्रिया को वायु-क्षरण (Wind Erosion) कहते हैं। हमारे देश मे वायु-क्षरण राजस्थान और पूर्वी-पजाब के सूखे क्षेत्रो मे होता है।

भारत में भूमि-क्षरण की समस्या—भारतीय कृषि की सबसे प्रमुख समस्या "भूमि-क्षरण" की है। डा० राधा कमल मुकर्जी ने भू-क्षरण को 'भारतीय कृषि के लिये अकेला सबसे भयकर खतरा" (Greatest Single Menace to Indian Agriculture) कहा है। हमारे देश मे भूमि के कटाव का सबसे अधिक विस्तृत रूप 'तल क्षरण" (Sheet Erosion) है। इसके अतिरिक्त हमारे देश मे अन्त क्षरण (Gully Erosion) का क्षेत्र भी दिन प्रतिदिन बढता ही जा रहा है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश के पहाडी क्षेत्रो, चरागाहो, बेकार भूमि और गड्ढो (Ravines) आदि के रूप मे लगभग २०० मिलियन एकड भूमि जो कुल क्षेत्र का लगभग ½ भाग है, बुरी तरह से भूमि-क्षरण के विपदा-कारक चगुल मे फसी हुई है। पजाब के होशियारपुर जिले मे लगभग ऐसे १०४ खेत हैं जिन्हे "चो" (Cho) कहते हैं और जिनमे ४०,००० एकड उपजाऊ भूमि का विनाश हो चुका है। यमुना नदी ने बुन्देलखण्ड मे तथा चम्बल नदी ने धौलपुर और ग्वालियर मे हजारो एकड भूमि को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। दक्षिणी भारत मे भी बहुत सी भूमि इसी प्रकार बेकार हो गई है। भारत के पश्चिमी भाग का ५ करोड एकड का रेगिस्तानी क्षेत्र तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र भूमि-क्षरण के अन्तर्गत हैं। एक अनुमान के अनुसार उत्तर प्रदेश और पजाब के उप-वर्तीय जिलो म लगभग ८० लाख एकड भूमि भू-क्षरण के कारण कृषि-कार्य के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हो गई है। यद्यपि भूमि के कटाव के कारण होने वाली हानि की मात्रा का अनुमान लगाना सर्वथा असम्भव सा है, तथापि जैसा कि 'योजना आयोग' (Planning Commission) ने बताया है कि ८० मे से प्रत्येक १ साधारण ढलाव पर प्रतिवर्ष १ इच जलवृष्टि से एक एकड भूमि पर १ ६ से लेकर ४ ३ टन मिट्टी की क्षति होती है। इस समय हमारे देश मे राजस्थान के मरुस्थल की समस्या भयकर रूप धारण किये हुए है। विगत ५० वर्षों से राजस्थान का मरुस्थल लगभग ½ मील प्रतिवर्ष की गति से विस्तृत होता चला जा रहा है तथा हर वर्ष दिल्ली और आगरे की दिशा मे लगभग ५० वर्ग मील उपजाऊ भूमि में फैलता जा रहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे देश मे भूमि-क्षरण की समस्या अत्यन्त भयानक अवस्था मे है।

भूक्षरण के कारण (Causes of Soil Erosion)—भूमि-क्षरण के मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(i) भूमि का ढलान—भूमि के ढलान का भू-क्षरण पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। प्राय समतल भूमि पर भू-क्षरण कम होता है। यही कारण है कि गगा के मैदान मे भूमि का क्षरण कम और दक्षिण की पहाडी भूमि मे कटाव अधिक हुआ है। (ii) मिट्टी की बनावट—भू-क्षरण पर मिट्टी की बनावट का विशेष प्रभाव पडता है। प्राय मुलायम मिट्टी को पानी शीघ्रता से अपने साथ बहा ले जाता है। इस मिट्टी मे "तल-क्षरण" (Sheet Erosion) होता है, अन्त क्षरण (Gully Erosion) नही। इसके विपरीत सख्त अथवा रेतीली मिट्टी को पानी शीघ्रता से अपने साथ बहा कर नही ले जा सकता। अत पानी का तीव्र प्रवाह ही इसमे "अन्त: क्षरण" कर सकता है। (iii) वनों का कटना (Deforestation)—वन आधी व पानी की शक्तियो द्वारा मिट्टी को बहाने अथवा उडा ले जाने से भूमि की रक्षा करते हैं तथा प्राकृतिक सतुलन को बनाये रखते हैं। ब्रिटिश सरकार की उदासीन नीति तथा रेलो के विकास के फलस्वरूप हमारे देश मे वनो को अनियोजित ढग से काटा गया है जिसके परिणामस्वरूप हमारे देश मे भू-क्षरण का क्षेत्र प्रतिवर्ष बढ़ता ही जा रहा है तथा वर्षा भी अनिश्चित और अनियमित ढग से होती है। (iv) वनस्पति को नष्ट करना (Destruction of Vegetation)—हमारे देश के कुछ भागो मे, जैसे—असम, बिहार, उडीसा और मध्य प्रदेश में, आदिवासी जातिया (Tribal people) एव निश्चित स्थान पर खेती न करके स्थान परिवर्ती खेती (Shifting Cultivation) करती हैं। ये आदिवासी जातिया नये-नये स्थानो पर खेती करने के लिये वनो और वनस्पति को नष्ट कर देती हैं जिससे स्पष्टत भूमि-क्षरण को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त कृषि पर जनसख्या के बढते हुये दबाव के कारण अनेक राज्यो मे वनो को नष्ट करके खेती प्रारम्भ की गई है। उदाहरण के लिये महाराष्ट्र, मद्रास, मध्य प्रदेश तथा पजाब राज्यो मे क्रमश ८८·५%, ८७ ५%, ८७ ६%, ६५ ६%, तथा ६० ४% वनो को नष्ट करके खेती आरम्भ की गई है। वनो के क्षेत्र को इस प्रकार कृषि भूमि मे परिवर्तित करना भू-क्षरण को प्रत्यक्ष आमन्त्रण देना है। (v) पशुओ द्वारा अनियन्त्रित चराई (Free Grazing)—पशुओ द्वारा अनियन्त्रित चराई तथा चरी हुई भूमि पर पशुओं के चलने से मिट्टी ढीली हो जाती है तथा उसका क्षरण होने लगता है। हमारे देश मे हिमालय के उत्तरी-पश्चिमी भाग मे भेड-बकरियों द्वारा अनियन्त्रित चराई होती है तथा दक्षिणी भारत मे अति चराई (Over Grazing) होती है जिसके कारण ये भूमि के कटाव के मुख्य कारण बन गये हैं। श्री के० एम० मुन्शी (Shri K. M. Munshi) ने ठीक ही कहा है कि 'भेड-बकरियो को प्रश्रय देने का अर्थ ही भूमि-क्षरण और महाविनाश है।' (vi) कृषि के दोषपूर्ण ढंग—ढालू भूमि पर समोच्च रेखाओ (Contour Lines) के समानान्तर जुताई न करना तथा फसलो की हेर-फेर की रीति को न अपनाकर छादन फसलो (Cover Crops) का बोना आदि अनेक ऐसे दोषपूर्ण ढग हैं जिनसे भूमि-क्षरण को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त भूमि मे लगातार खेती करना और खाद न डालने से भी भूमि-क्षरण

की स्थिति शीघ्रता से उत्पन्न हो जाती है। परती भूमि (Fallows), चारण-भूमि तथा न जोती जाने वाली बेकार भूमि पर मिट्टी का कटाव पर्याप्त मात्रा में होता है। उत्तर-प्रदेश में प्रतिवर्ष १ करोड एकड भूमि मानसून ऋतु में परती छोडी जाती है जिस पर भू-क्षरण सरलता से हो पाता है। (vii) सीमित काल में तेज वर्षा—हमारे देश में वर्ष के कुछ ही दिनों में तीव्रगति से वर्षा होती है। अतः भूमि पर मूसलाधार वर्षा की चोट से भूमि कट कर बह जाती है।

भू-क्षरण के कारण (Effects of Soil Erosion)—भूमि के क्षरण से उत्पन्न दुष्परिणाम मुख्यत इस प्रकार हैं —(i) **भूमि की उत्पादन-क्षमता में ह्रास** —भू-क्षरण के अन्तर्गत भूमि की ऊपरी सतह के पोषक रासायनिक तत्व निरन्तर क्षीण होते रहते हैं। परिणामत भूमि कृषि के बिल्कुल योग्य नही रहती। (ii) **भूमि की निचली सतह में शक्तिहीनता** —भूमि की ऊपरी सतह के हट जाने अथवा शक्तिहीन हो जाने के फलस्वरूप भूमि की निचली सतह भी शक्ति-विहीन हो जाती है तथा उसकी पानी सोखने की शक्ति अपेक्षाकृत कम हो जाती है। (iii) **उप-भूमि जल का स्तर निम्न होना** —भूमि में पानी सोखने की शक्ति कम होने के परिणामस्वरूप उप भूमि (Sub-soil) जल का स्तर भी नीचा हो जाता है। अत कुओं में पानी का स्तर नीचा हो जाता है। (iv) **अन्त क्षरण के दुष्परिणाम**—अन्त क्षरण (Gully Erosion) से भूमि में नालियां व गड्ढे आदि बन जाते हैं जिसके फलस्वरूप भूमि स्थान-स्थान पर ऊबड-खाबड हो जाती है और कृषि के योग्य नही रहती। (v) **बाढ़ों का प्रकोप** -- देश के ऊपरी भाग में भू-क्षरण होने के कारण निचले भागों में बाढों के प्रकोप की अधिक सम्भावना बन जाती है। (vi) **सिंचाई में असुविधा** —भू क्षरण के परिणामस्वरूप नदियों, नहरों तथा जलाशयों में बालू एकत्रित हो जाती है जिससे सिंचाई के कार्यों में बहुत असुविधा रहती है तथा नहरों और जलाशयों को समय-समय पर साफ करवाने में पर्याप्त व्यय करना पडता है।

भूमि-क्षरण का उपचार (Remedies of Soil Erosion)—सैद्धान्तिक रूप से भूमि-क्षरण को रोकने के लिए पांच मुख्य उपाय हैं जो इस प्रकार है —(i) **वृक्षारोपण** (Afforestation)—पानी के बहाव की तीव्र गति को रोकने में वृक्षों की जड़ें स्वाभाविक अवरोध प्रस्तुत करती है। अत भू-संरक्षण के लिए बडी संख्या में वृक्ष लगाये जाने चाहिये। (i) **उचित प्रकार की खेती**—ढालू भूमि पर भूक्षरण को रोकने के लिए खेती करने का उचित ढंग "समोच्च खेती" (Contour Farming) अपनाया जाना चाहिये। इस प्रणाली के अन्तर्गत कम ढाल वाली भूमि पर यथासम्भव समस्त खेती एक ही ऊंचाई पर, ढाल के आर-पार की जाती है। इसमें फसलो की पक्तियां बढ़ते हुए पानी की गति को मन्द करने और कटाव को रोकने में छोटी-छोटी मेडों का काम करती हैं। लम्बे ढलान वाली भूमि पर कटाव को रोकने के लिये "समोच्च रेखाओं पर पट्टीदार खेती" (Strip Cultivation) करने की आवश्यकता होती है। समोच्च रेखाओं पर पट्टीदार खेती करने

का अर्थ यह है कि क्षेत्र को विभिन्न चौडाई की पट्टियों मे उनकी ढलान के अनुसार विभाजित कर दिया जाता है और जब एक पट्टी मे कोई भी एक कतार वाली फसल बोई जाती है तो दूसरी पट्टियो मे पास पास उगने वाली फसल बोई जाती है। इस प्रकार एक लम्बे ढलान मे कितने ही छोटे-छोटे टुकडे बन जाते हैं, जिससे पानी रुकता है और मिट्टी को हटाने अथवा बहाकर ले जाने की उसकी शक्ति कम हो जाती है और इस प्रकार भूक्षरण रुक जाता है। (iii) वनों की चराई पर नियन्त्रण—भू-क्षरण को रोकने के लिये "अनियन्त्रित चराई" तथा "अत्यधिक चराई" पर रोक लगाई जानी चाहिये। (iv) प्रवाहित जल की गति को रोकना—पहाडी-भूमि पर भूमि के ढाल के समानान्तर जुताई करके तथा मैदानो मे आडी जुताई करके तथा यत्र-तत्र बाध लगाकर प्रवाहित जल की तीव्र गति को अवरुद्ध करना चाहिये। परिणामत भूमि-क्षरण पर स्वत हो नियन्त्रण लग सकेगा। (v) जलाशयों का निर्माण—यदि ढालू स्थानो पर पानी एकत्रित करने के लिय छोटे-छोटे जलाशयो तथा मैदानो मे नदी की बाढ के पानी को सचित करने के लिये बडे-बडे जलाशयों का निर्माण कर दिया जाये तब इससे भूमि-क्षरण पर अत्यधिक रोक लगेगी।

प्रथम पचवर्षीय योजना मे भू-क्षरण के लिए प्रयोग मे आने वाले उपायों को चार वर्गों मे विभाजित किया गया था—(अ) वनारोपण तथा वैज्ञानिक वन-प्रबन्ध द्वारा वनों का सरक्षण करना। (आ) खेतों मे भूमि-उपयोग की रीतियों मे सुधार इस उपाय के अन्तर्गत जो कार्यक्रम सम्मिलित किये गये थे इस प्रकार हैं—ढालू भूमि (Sloping Lands) पर समोच्च रेखाओ (Contour Lines) के समानान्तर जुताई करना, पट्टी-कृषि (Strip Cropping) करना, फसलो का हेर-फेर करना, पर्याप्त खादो व उर्वरको का प्रयोग करना तथा परती-भूमि (Fallows) और अन्य न जोते जाने वाली भूमि की देखभाल करना आदि। (इ) भूमि-प्रयोग का नियमन—इस उपाय के अन्तर्गत जो कार्यक्रम सम्मिलित किए गए वे इस प्रकार हैं—अत्यधिक भू-क्षरण वाले क्षेत्रो मे कृषि-कार्य बन्द करके उन्ह वनो अथवा चारण भूमि के अन्तर्गत लाना, अत्यधिक मिट्टी कटाव वाले वनो और चरागाहो में चराई पर प्रतिबन्ध लगाना तथा घूमते-फिरते (Shifting) कृषको को कृषि मे स्थाई रूप से लगाना आदि। इस प्रकार इस कार्यक्रम मे वे उपाय सम्मिलित किये गये जिनके द्वारा भूमि प्रयोग की वर्तमान पद्धतियो म ऐसे परिवर्तन लाये जा सकें कि जिनसे विभिन्न प्रकार की भूमि अपने प्राकृतिक गुणो के अनुसार सर्वोत्तम बन सके। (ई) इजो-निर्यरिंग सम्बन्धी उपाय—इस उपाय मे अन्तर्गत जिन कार्य-क्रमो को सम्मिलित किया गया वे इस प्रकार हैं—बांधों, चबूतरो (*Terraces*) व अवरोधक मेडो (Check Dams) को बनवाना तथा बेकार पानी के निकालने के लिए नालियो का निर्माण कराना तथा खड्डे बन्द करना आदि।

सन् १९५३ मे तत्कालीन भारतीय वित्त-मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने भूमि-सरक्षण-सम्मिति के वार्षिक-अधिवेशन मे भू-सरक्षण के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये थे जो इस प्रकार हैं—(i) देश के कृषको को यह चेतावनी दी

जानी चाहिये कि उन्हें भूमि-संरक्षण की आवश्यकता है तथा उन्हें इस कार्य के लिये तैयार होना चाहिये। (ii) देश के विभिन्न भागों में भूमि-क्षरण की समस्या, प्रभाव, हानि तथा प्रसार आदि की जाच वायुयानो द्वारा की जानी चाहिये। (iii) भू-संरक्षण कार्यों के लिये जनता व सरकार तथा सरकार के विभिन्न विभागों में पारस्परिक सहयोग होना चाहिये।

हमारे देश की ही भाति अमेरिका मे भी टैनिसी नदी (Tennesse River) ने बहुत सी भूमि को बेकार बना दिया था। टैनिसी नदी घाटी ऑथारिटी (Tennesse Valley Authority) ने इस भूक्षरण-ग्रस्त क्षेत्र को पुन कृषि के योग्य बना दिया है। भू संरक्षण के सम्बन्ध मे हम अमेरिकन प्रयोगो से बहुत कुछ सीख सकते है। इस कार्य के लिए हमारे देश मे तीन बातो की नितान्त आवश्यकता है—(i) अमेरिका की ही भाति भारत में भी भू संरक्षण का कार्य कृषकों की प्रेरणा से सम्पन्न किया जाना चाहिये। हमारे देश मे भू संरक्षण कार्यों मे कृषकों को विशेष रुचि प्रदर्शित करनी चाहिये। (ii) भू संरक्षण कार्य के लिये कानूनी बाध्यता प्रयोग मे लाई जानी चाहिये, तथा (iii) भू-संरक्षण कार्यों के लिये हमें न केवल भूमि क्षरण पर ही विचार करना पर्याप्त होगा वरन् इसके लिये भूमि संरक्षण तथा उसकी उत्पादन शक्ति के विभिन्न पहलुओं पर भी विचार करना नितान्त आवश्यक है।

पञ्चवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भू-संरक्षण

(अ) प्रथम पञ्चवर्षीय योजना—प्रथम योजना के प्रारम्भ मे हमारी सरकार ने पजाब, उत्तर प्रदेश, सौराष्ट्र कच्छ एव पटियाला सघ के क्षेत्रो में रेगिस्तान बढने की समस्या के अध्ययन के लिये एक तदर्थ-समिति' (Adhoc Committee) नियुक्त की थी। इस समिति ने अपने कार्यक्रम मे चार मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये थे—(i) राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर वनस्पति का ५ मील चौडा कटिबन्ध लगाया जाना चाहिये। (ii) राजस्थान में वनो का क्षेत्र बढाया जाना चाहिये। (iii) भूमि के प्रयोग मे सुधार किये जाने चाहिये तथा (iv) रेगिस्तान की समस्या का अध्ययन करने के उद्देश्य से एक अनुसधान केन्द्र (Research Station) की स्थापना की जानी चाहिये। भारत सरकार ने समिति के सुझावो को मान्यता देने के लिये सन १९५२ में जोधपुर के रेगिस्तान में वृक्षारोपण सम्बन्धी अनुसधान केन्द्र (Desert Afforestation Research Station) की स्थापना की तथा ५ अनुसधान और प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये। योजनाकाल में महाराष्ट्र आंध्र प्रदेश उडीसा पश्चिमी बगाल, मद्रास पजाब, सौराष्ट्र त्रिवाकुर-कोचीन अजमेर, कच्छ और मनीपुर में ११ आदर्श योजना केन्द्र (Pilot Projects) स्थापित किये गये। इसके अतिरिक्त योजना के अन्तर्गत वन अनुसधान सस्था (Forest Research Institute) तथा भू क्षरण व भू-संरक्षण से सम्बन्धित समस्याओं पर खोज करने के लिये देहरादून में एक भूमि संरक्षण शाखा (Soil Conservation Branch) की स्थापना की गई। प्रथम योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय

सरकार ने, राज्य सरकारो के व्यय के अतिरिक्त भू सरक्षण कार्यों पर १ ६ करोड रु० व्यय किये थे । योजनाकाल मे ७ लाख एकड भूमि पर 'समोच्च व पट्टीदार खेती' (Contour Bunding and Terracing) द्वारा भूमि-सरक्षण किया गया । इस सात लाख एकड भूमि में से लगभग ¾ भाग भूमि अकेले महाराष्ट्र प्रदेश मे थी । इसके अतिरिक्त योजनाकाल मे २५० कृषि व वन अधिकारियों को भू-सरक्षण वीविधियो मे प्रशिक्षण दिया गया । राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर १५० मील से अधिक दूरी मे वृक्षारोपण किया गया ।

योजना आयोग (Planning Commission) की सिफारिशों के आधार पर सन् १९५३ मे एक "केन्द्रीय भूमि-सरक्षण बोर्ड" (Central Soil Conservation Board) की स्थापना की गई तथा लगभग सभी प्रदेशो मे प्रादेशिक भूमि-सरक्षण बोर्ड स्थापित किये गये। केन्द्रीय भूमि-सरक्षण बोर्ड के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—(i) भूमि-क्षरण की समस्या की निश्चित रूप-रेखा निर्धारित करने, भूमि-क्षरण के प्रकार तथा इसके द्वारा होने वाली क्षति का विमानो की सहायता से अनुमान लगाना । (ii) भूमि-क्षरण को रोकने तथा भूमि-सरक्षण से सम्बन्धित ऐसी नीति का निर्धारण करना जो समस्त प्रदेशो मे लागू की जा सके । (iii) भूमि-सरक्षण से सम्बन्धित नीति निर्धारण मे प्रदेशीय सरकारो की सलाह लेना । (iv) जोधपुर के "मरु-अनुसधान-केन्द्र" (Desert Afforestation and Research Station) तथा देहरादून की वन-अनुसधानशाला (Forest Research Institute) के "भूमि-सरक्षण अनुसधान-विभाग" का सचालन करना । (v) भूमि-सरक्षण कार्य को सगठित करके प्रचारकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना तथा (vi) राजस्थानी मरुस्थल के प्रसार को रोकने के लिये, नदी घाटी योजना क्षेत्रो मे भूमि-क्षरण की समस्या को हल करने के लिये तथा अनुसधान एव प्रदर्शन आयोजन के लिये राज्य सरकारो की सहायता से ऐसी योजना का निर्माण करना जो सभी राज्यो के लिये लाभप्रद हो । प्रादेशिक भूमि-संरक्षण बोर्डों के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—(i) भू-क्षरण ग्रस्त क्षेत्रो की जाच पडताल करके भूमि-सरक्षण सम्बन्धी योजनाए बनाना । (ii) भू-सरक्षण कार्यों के लिये उपयुक्त नियम (Laws) बनाना तथा भूमि के उपयोग के ढगों म आवश्यक सुधार करना । (iii) कर्मचारियों के प्रशिक्षण, प्रदर्शन, अनुसधान एव भू-सरक्षण सम्बन्धी कार्यों के प्रचार के लिय आवश्यक योजनाये बनाना । (iv) खेतों मे बाध और मेड बनाना तथा (v) "भू-सरक्षण-सघों के कार्यों का निरीक्षण करना तथा उन पर आवश्यक नियन्त्रण रखना आदि ।

(आ) द्वितीय योजना में भूमि-संरक्षण—द्वितीय योजनाकाल मे भूमि-सरक्षण कार्यों के अन्तर्गत लगभग १८ करोड रु० व्यय किए गये । योजनाकाल मे मेड बन्दी तथा भूमि-उत्तलन के कार्य मे आशाजनक प्रगति हुई तथा लगभग २० लाख एकड भूमि "सरक्षण कार्यक्रम" के अन्तर्गत लाई जा सकी । इस अवधि में भू-सरक्षण तथा भूमि के उपयोग के सम्बन्ध मे एक "अखिल भारतीय एकीकृत सर्वेक्षण" प्रारम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत लगभग १ करोड २० लाख एकड भूमि का

सर्वेक्षण किया गया। जोधपुर मे यूनेस्को की सहायता से एक "Central Arid Zone Research Institute" की स्थापना की गई। शुष्क-जोत पद्धति (Dry Farming) के प्रदर्शन के लिये योजनाकाल मे ४० योजनायें प्रारम्भ की गई। विभिन्न अनुसधान केन्द्रो मे जो अनुसधान कार्य हुआ है उनके बहुत मूल्यवान व्यवहारिक परिणाम निकले है। इन अनुसधान केन्द्रो मे चलायमान रेतीले टीलो को अचल बनाने के लिये व्यवहारिक ढग खोजे गये जिनके फलस्वरूप योजनाकाल मे लगभग १८०० एकड भूमि मे रेतीले टीलो को स्थिर किया गया। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसघीय आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक सगठन के सहयोग से जोधपुर के मरु-भूमि वनरोपण एव अनुसधान केन्द्र का केन्द्रीय-शुष्क क्षेत्र अनुसधान-सस्था के रूप मे पुनर्संगठित किया गया। योजनावधि मे राजस्थान मे चरागाहो के विकास की एक योजना के अन्तर्गत १८ विकास खण्डो मे लगभग ५० छोटे चरागाह बनाये गये। योजनावधि मे भू-सरक्षण कार्यक्रम के सफल सचालन के लिये देहरादून मे १७० अधिकारियो तथा काटा, वेलारी, ऊटकमण्ड और हजारीबाग के ४ प्रशिक्षण केन्द्रों मे लगभग ६०० सहायक अधिकारियो को प्रशिक्षित किया गया।

(इ) तृतीय योजना में भूमि-संरक्षण—तृतीय पचवर्षीय योजना मे भू सरक्षण कार्यों के लिये ७२ ७२ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। योजनाकाल मे १ करोड १० लाख एकड भूमि की मेड-बन्दी करने तथा २ करोड २० लाख एकड भूमि को शुष्क जोत पद्धति के अन्तर्गत लाने का निश्चय किया गया है। नदी घाटी परियोजनाओ के जल-ग्राहक क्षेत्रो मे भूमि-सरक्षण कार्यक्रम के लिये ११ करोड रु० रखे गये हैं जिनसे अनुमानत १० लाख एकड भूमि लाभान्वित हो सकेगी। तीसरी योजना मे २ लाख एकड जल-प्लावित, लोनी एव क्षारीय भूमि को कृषि योग्य बनाने का लक्ष्य रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त योजनाकाल मे लगभग १ लाख एकड मरुभूमि मे भूमि-सरक्षण की व्यवस्था करने, १ करोड ५० लाख एकड क्षेत्र का सर्वेक्षण करने तथा प्रभावित राज्यो मे ४० हजार एकड भूमि को कृषि-योग्य बनाने का निश्चय किया गया है। भू-सरक्षण कार्यों के लिये योजना-अवधि म ३५० अधिकारियो, १,७०० सहायको तथा ६,००० उप-सहायको की प्रशिक्षा की व्यवस्था की जायेगी तथा भू क्षरण को रोकने और उत्पादकता पुन सस्थापित करने के लिये वनारोपण एव चरागाहो के विकास का कार्यक्रम लगभग ७ लाख एकड भूमि मे फैलाया जायेगा।

—: ० :—

४

वन-सम्पत्ति

(Forest Wealth)

प्राक्कथन :—किसी देश की अर्थ व्यवस्था पर वनों का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। वन राष्ट्र की वे अमूल्य निधि हैं जो न केवल कृषि एवं उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण योग देते हैं वरन् देश की जलवायु पर अत्यन्त स्वस्थ प्रभाव डालते हैं तथा निकटवर्ती खेतों के लिये प्रहरी का कार्य करते हैं। वस्तुतः देश की भौगोलिक स्थिति भूमि की बनावट तथा जनसंख्या का घनत्व आदि अनेक तत्वों पर वनों के क्षेत्रफल का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

भारत में वनों का क्षेत्रफल (Area of Forests in India) —इस समय हमारे देश में वनों का कुल क्षेत्रफल लगभग २.७४ लाख वर्गमील है जो समस्त देश के क्षेत्रफल का लगभग २१.८% भाग है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि उत्तम जलवायु तथा पर्याप्त वर्षा के लिये देश की ३३% भूमि पर वन होने चाहियें तथा पहाड़ी स्थलों पर कम से कम ६०% और मैदानों में २०% भूमि वनों से ढकी रहनी चाहिये। अतः स्पष्ट है कि भारत में वनों का क्षेत्रफल आवश्यकता से बहुत कम है। इसके साथ-साथ दूसरी विशेषता यह है कि भारत में वनों का वितरण विभिन्न क्षेत्रों में समान नहीं है। यदि देश के उत्तर-पश्चिमी भागों में वनों का क्षेत्रफल कुल भू-क्षेत्र का केवल ११% है, तब केन्द्रीय भाग में ४४% तथा त्रिपुरा आदि स्थानों में ८५.५% है। गंगा-यमुना के घनी आबादी वाले क्षेत्रों में वनों का क्षेत्रफल आवश्यकता से बहुत ही कम है। भारत के विभिन्न राज्यों में वनों का प्रतिशत क्षेत्र इस प्रकार है —दक्षिणी क्षेत्र में ४४%, पंजाब में ११%, उत्तर प्रदेश में १७ तथा बिहार में १४% आदि। समस्त भारत में केवल असम और मध्य प्रदेश में वनों का यथेष्ठ क्षेत्रफल है। प्रगतिशील देशों की तुलना में भारत में वनों का क्षेत्रफल तथा प्रति व्यक्ति वन का क्षेत्र बहुत कम है। जबकि अमेरिका और रूस में प्रति व्यक्ति वन का क्षेत्रफल क्रमशः १.८ और ३.५ हैक्टर्स (Hectares) है, तब भारत में यह केवल ०.२ Hectares ही है। भारत की अपेक्षा औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में लकड़ी की खपत भी बहुत अधिक है। जबकि अमेरिका में प्रति व्यक्ति वन की लकड़ी की खपत ५८ Cu. ft. है, तब भारत में यह केवल १.४ Cu. ft. ही है। इसके अतिरिक्त पल्प के सामान की खपत इंगलैंड में ७८ पौंड व भारत में केवल १.६ पौंड ही है। अतः स्पष्ट है कि वनों के क्षेत्र, वितरण एवं उपयोग प्रत्येक दृष्टि से भारतीय वनों की स्थिति सोचनीय है।

वनो के लाभ (Advantages of Forests) —वनो की आर्थिक उपयोगिता को मुख्यत दो भागो मे विभाजित किया जाता है —(१) प्रत्यक्ष लाभ और (२) अप्रत्यक्ष लाभ।

वनो के प्रत्यक्ष लाभ (Direct Advantages of Forests)—वनो के प्रत्यक्ष लाभ इस प्रकार है —(i) लकडी—वनो से हमे बहुमूल्य लकडी उपलब्ध होती है। भारत के वनो मे लगभग ४,००० प्रकार की लकडिया उपलब्ध होती हैं। इनमे से लगभग ४५० प्रकार की लकडिया व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। वनो से उपलब्ध मुलायम लकडी फर्नीचर बनाने के काम मे तथा सख्त लकडी जहाज आदि बनाने के काम मे प्रयुक्त होती है। (ii) **विभिन्न उद्योगों को आश्रय**-वनों पर आश्रित मुख्य उद्योग इस प्रकार है —(अ) कागज उद्योग मे वनो का पर्याप्त महत्व है। वनोसे उपलब्ध सवाई और भाभर घास, बास और सनोवर के गट्ठे (Fir Logs) कागज बनाने के काम मे आते है। (आ) दियासलाई-उद्योग के लिए वनो से चीड, स्प्रूस तथा श्वेत सनोवार की लकडी मिलती है। (इ) वारनिश, रग तथा ग्रामोफोन के तवे (Records) बनाने के लिये वनो से ही तारपीन और बीरोजा आदि कच्चे-पदार्थ उपलब्ध होते हैं। (ई) हमारे देश का रबर-उद्योग भी वनो पर ही आश्रित है। रबर के वृक्ष असम और केरल के वनो मे पाये जाते हैं। (उ) वनो मे उपलब्ध क्षार के वृक्षो की छाल से कत्था बनाया जाता है। क्षार के वृक्ष हिमालय की तलहटी मे पूर्व से पश्चिम तक पाये जाते हैं। कत्था बनाने का उद्योग हमारे देश मे काफी उन्नत दशा मे है। देश से प्रतिवर्ष हजारो टन कत्था विदेशो को भेजा जाता है। (ऊ) हमारे देश के रेशम और लाख उद्योग भी वनो पर ही निर्भर हैं। (ए) चमडा साफ करने के लिये हमे वनो से महुआ और बबूल आदि वृक्षो की छाल उपलब्ध होती है। (ऐ) वनो मे बहुत से वृक्ष ऐसे पाये जाते हैं जिनकी पत्तियो से मूल्यवान तेल (Essential Oils) निकाले जाते हैं। हमारे देश के मैसूर, महाराष्ट्र, केरल, मद्रास तथा उडीसा आदि राज्यो मे चन्दन व केवडे का तेल निकालने का कार्य बहुत बडे स्तर पर चलता है। हमारे देश के वनाश्रित उद्योगो मे लगभग १० लाख व्यक्तियो को रोजगार मिलता है। (iii) ईंधन—इमारती लकडी के अतिरिक्त वनो से हमे जलाने के लिये भी लकडी मिलती है। अनुमानत प्रतिवर्ष ५० लाख टन जलाने की विविध प्रकार की लकडिया हम वनो से उपलब्ध होती हैं। सन् १९५७-५८ मे लगभग २९ करोड रु० की इमारती व जलाने की लकडी का उत्पादन किया गया था। (iv) पशुओं के लिये चारा—वनो से पशुओ को घास-फूस आदि चारे के रूप मे उपलब्ध होते हैं (v) नैसर्गिक-सौन्दर्य—वन देश के प्राकृतिक सौन्दर्य मे वृद्धि करते है। (vi) सरकार को आय—वनो से सरकार को प्रतिवर्ष एक बडी धन-राशि प्राप्त होती है। अनुमानत कुल राज्यो को मिलाकर वनो से लगभग ६ करोड रुपये से अधिक आय होती है*।

वनो के अप्रत्यक्ष लाभ (Indirect Utilities of Forests)—वनो से होने

---

* India 1961 Page 253

वाले अप्रत्यक्ष लाभ इस प्रकार हैं—(i) व्यापार—वनों मे हमे बहुत सी वस्तुए विदेशी व्यापार के लिये मिलती हैं। लाख, शीलक और कत्था आदि वन-सम्पत्ति के निर्यात से भारत को प्रतिवर्ष करोडो रुपये की विदेशी-मुद्रा उपलब्ध होती है। (ii) वर्षा—वनो के कारण वर्षा समय पर तथा पर्याप्त मात्रा मे होती है। चूकि वृक्षो की पत्तिया जडो द्वारा भूमि के नीचे से पानी लेती रहती हैं तथा इस प्रकार हवा म नमी रखती हैं, इसलिये नमी से तापक्रम कम होकर वर्षा अधिक होती है। इसलिये यह स्पष्ट है कि वर्षा की निश्चितता, पर्याप्तता एव समयानुकूलता के लिये वनो का क्षेत्रफल पर्याप्त विस्तृत होना चाहिए। (iii) जलवायु—घने वनो मे तीव्र हवाए अवरुद्ध हो जाती हैं जिससे निकटवर्ती स्थानो मे अधिक गर्म अथवा अधिक सर्द हवा नही आ पाती। इस प्रकार वन जलवायु को समशीतोष्ण बनाये रखने मे सहायता करते हैं। (iv) भूमि-सरक्षण—वन भूमि-क्षरण को रोकने मे सहायक होते हैं। वनो मे स्थित घास-फूस और वृक्ष पानी के वेग को कम करते हैं जिसके फलस्वरूप वर्षा का पानी तीव्रगति से बहकर भूमि की ऊपरी-सतह की उपजाऊ मिट्टी को बहाकर नहीं ले जा सकता (v) खाद—वनों के निकटवर्ती क्षेत्र उपजाऊ होते हैं क्योंकि इन क्षेत्रो मे वृक्षों की पत्तिया तथा घास-फूस गल-सडकर खाद का कार्य करते हैं। (vi) उप-भूमि-जल का स्तर ऊचा करना—वृक्षो की जडें वर्षा काल मे पर्याप्त मात्रा मे पानी सोख लेती हैं जिससे पृथ्वी के नीचे बहने वाले स्रोतों मे वर्ष भर जल मिल जाता है तथा 'उप-भूमि-जल स्तर' (Sub-soil Water Level) ऊचा रहता है। (vii) विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा—वन विदेशी आक्रमणो से देश की सुरक्षा मे सहायक होते हैं। घने जगलों से गुजर कर कोई भी शत्रु आक्रमण करने का साहस नही कर सकता। (viii) बाढ नियन्त्रण—वन बाढो के विरुद्ध प्राकृतिक बीमा (Natural Insurance) का कार्य करते हैं। (ix) पशु-पक्षी—वन बहुत से पशु-पक्षियो को निवास देते हैं। वन मानव-मनोरजन के भी साधन उपलब्ध करते है क्योकि इनमे अनेक शिकारी-जन्तु उपलब्ध होते हैं।

भारतीय वनों के प्रकार (Kinds of Indian Forests)—भारतीय वनो के मुख्य प्रकार इस प्रकार हैं—(i) पर्वतीय वन (Mountain Forests)—पर्वतीय वन अधिक वर्षा वाले स्थानों, जैसे—पूर्वी-हिमालय प्रदेश तथा असम मे पाये जाते हैं। ये वन त्रिभुजाकार होते हैं, इसलिय इन्हें "कोणधारी वन" (Coniferous Forests) भी कहा जाता है। वर्षा के परिमाण तथा स्थान की ऊचाई के साथ-साथ पर्वतीय वनों की वनस्पति मे भी भिन्नता पाई जाती है। हिमालय प्रदेश मे ६,००० फीट से ८,००० फीट की ऊचाई तक देवदार, पाइन, स्प्रूस तथा श्वेत सनोवर के वृक्ष पाये जाते हैं तथा असम प्रदेश मे बालूत व मगोनियाग के वृक्ष अधिक मिलते हैं। (ii) सदाबहार वन (Evergreen Forests)—सदाबहार वन पूर्वी हिमालय प्रदेश, पश्चिमी घाट तथा अडमान मे पाये जाते है। इन क्षेत्रो मे वार्षिक वर्षा ८० इच से अधिक होती है। चूकि इन वनो के वृक्ष सदा हरे-भरे रहते हैं, इसीलिए इन्हें 'सदाबहार वन' कहा जाता है। ये वन बहुत सघन होते हैं और इनमे

कहीं-कहीं २०० फीट से भी अधिक ऊंचे वृक्ष पाये जाते हैं। इन वनों मे मुख्यत: ताड, फर्न बास, बैंत, रबर, महागनी, सिनकोना, चप्लास तेलसूर आदि के वृक्ष तथा अन्य प्रकार की वनस्पति पाई जाती हैं। चूकि ये वन अत्यधिक सघन होते हैं, इसलिये इनको काटना बहुत कठिन होता है। यही कारण है कि ये वन व्यावसायिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नही बन पाये हैं। (iii) पतझडी वन (Deciduous Forests)—इन वनों को 'मानसूनी वन' भी कहते हैं। चूकि इन वनों मे ग्रीष्म काल के प्रारम्भ मे पतझड हो जाती है, इसीलिये इन्हें पतझड वाले वन कहा जाता है। ये वन उप-हिमालय प्रदेश, बगाल, बिहार, उडीसा, उत्तर-पूर्वी दक्षिण का पठार व पश्चिमी घाट के पूर्वी भाग आदि क्षेत्रों मे फैले हुए हैं। इन क्षत्रो मे ४०" से ८०" तक वार्षिक वर्षा होती है। इन वनों मे सागौन, साल, शीशम, रोजवुड, आम तथा एबोनी आदि महत्वपूर्ण इमारती लकडी के वृक्ष पाये जाते हैं। अत स्पष्ट है कि इन वनो का व्यावसायिक दृष्टि से महत्व अधिक है। (iv) सूखे वन (Arid Forests)—ये वन राजस्थान तथा दक्षिणी पजाब के शुष्क क्षेत्रों मे पाये जाते हैं जहा पर वर्षा का वार्षिक औसत २० इच से कम रहता है। इन वनों मे मुख्यत बबूल, करील तथा काटेदार झाडिया ही अधिक मिलती हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से इन वनों का भी महत्व कम नही है। बबूल के वृक्ष की छाल चमडा पकाने के काम मे आती है तथा इसकी लकडी हल, बैलगाडी आदि बनाने के काम मे आती है। (v) समुद्र तट के वन (Littoral Forests)—समुद्र-तटीय वन समुद्र-तट व नदी के डेल्टो मे पाये जाते हैं। इनमें मैनग्रोव, सुन्दरी, ताड, नारियल, खैर तथा सीसू आदि के वृक्ष पाये जाते हैं। प्रधानतः इनमें वनस्पति अधिक उगती है। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध वन 'सुन्दर वन" हैं।

तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारत में वनों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—(i) शीतोष्ण वन (Temperate Forests)—ये दो प्रकार के हैं—(अ) कोणधारी वन—ये देश के कुल वन क्षेत्र के ३% भाग मे पाये जाते हैं तथा (आ) चौडी पत्तियों वाले वन—ये वन कुल वन-क्षेत्र के ४ प्रतिशत क्षेत्र मे पाये जाते हैं। (ii) उष्ण-वन (Tropical Forests) —ये तीन प्रकार के हैं —(क) पतझड़ वन —ये वन देश के समस्त वन-क्षत्र के ८० प्रतिशत भाग मे मिलते हैं। (ख) सदाबहार वन —हमारे देश मे सदाबहार वनों का क्षेत्र समस्त वन-क्षेत्र का केवल १२ प्रतिशत भाग है तथा (ग) अन्य प्रकार के वन —देश मे कुल वन-क्षेत्र के केवल १ प्रतिशत भाग मे अन्य प्रकार के वन पाये जाते हैं।

सरकार की वन-नीति (Forest Policy of the Government) :—ब्रिटिश शासनकाल में जनसख्या व पशु-सख्या मे वृद्धि, कृषि का विस्तार तथा रेलो के विकास के कारण लकडी की अधिक माग हुई जिससे वनो की अनियन्त्रित कटाई हुई। सन् १८५५ मे लार्ड डलहौजी ने वनों की सुरक्षा से सम्बन्धित एक नीति बनाई जो कार्यान्वित न हो सकी। सन् १८६४ मे भारत सरकार ने सर्वप्रथम वन-विभाग की स्थापना की तथा वनो की सुरक्षा के लिये इन्सपेक्टर जनरल ऑफ

फोरेस्ट्स की नियुक्ति की। सन् १८६४ मे सरकार ने अपनी वन-नीति की घोषणा की जिसके अन्तर्गत वनो को चार वर्गों मे विभाजित किया गया —(अ) रक्षित वन (Protected Forests) —इन वनो को जलवायु व कृषि की दृष्टि से सुरक्षित रखना आवश्यक समझा गया। अत इन वनो को सरकारी नियन्त्रण के अन्तर्गत रक्खा गया। (आ) टिम्बर वन (Timber Forests) —वे वन जो कि वाणिज्य-कार्यों के लिये मूल्यवान इमारती लकडी प्रदान करते थे—इस श्रेणी मे रक्खे गये। (इ) गौण वन (Minor Forests) —इस श्रेणी मे वे वन रक्खे गये जिनमे बास, बेंत पत्ती, फल, लाख, तेल, राल, गोद आदि वस्तुये उपलब्ध होती थी। (ई) चरागाह वन (Pasture Forests) —इस श्रेणी के अन्तर्गत वे वन रक्खे गए है जहा चरागाह थे तथा अन्य कोई उपज नही होती थी। सन् १६२७ के वन अधिनियम के अन्तर्गत, वनो पर सरकार के नियन्त्रण की मात्रा के अनुसार इन्हें चार वर्गो मे बाटा गया—(i) अरक्षित वन (Reserved Forests), (ii) रक्षित वन (Protected Forests), (iii) श्रेणीरहित वन (Unclassified Forests) तथा (iv) असुरक्षित वन (Unreserved Forests)।

नई वन-नीति—१३ मई सन् १६५२ को भारत सरकार ने अपनी नई वन-नीति की घोषणा की। इस नीति के अन्तर्गत भारत सरकार ने यह निश्चय किया है कि भारत के कुल क्षेत्रफल का एक-तिहाई भाग वनो से आच्छादित किया जाना चाहिये। इस नई वन-नीति की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) अधिकतम उत्पादन को ध्यान मे रखकर भूमि का संतुलित व पूरक (Balanced and Complementary) उपयोग किया जाना। (ii) राजस्थानी मरुस्थल के स्थान-परिवर्तन, पर्वतीय प्रदेशो मे वनो के विनाश तथा बडी नदियो के किनारे वृक्षहीन भूमि के क्षरण पर रोक लगाना। (iii) लकडी प्राप्त करने तथा पशुओ के लिये चरागाह की व्यवस्था करने के उद्देश्य से वनो का विस्तार करना। (iv) जलवायु तथा भौतिक दशाओ मे आवश्यक सुधार करने के उद्देश्य से सम्भव स्थानो पर वृक्ष-भूमि (Tree Lands) तथा वृक्ष-पंक्ति बनाना। (v) परिवहन व सचार, सुरक्षा तथा उद्योग मे प्रयुक्त होने वाली इमारती लकडी तथा दूसरी वन-उपजो की पूर्ति करना। (vi) निजी वनो को सरकारी-नियत्रण के अन्तर्गत लाकर उनकी कार्य प्रणाली मे सुधार करना। (vii) वनो से अधिकतम आय प्राप्त करने के प्रयत्न करना। (viii) राष्ट्रीय वन-नीति के आधार पर राज्य सरकारो द्वारा अपनी वन नीति का निर्धारण करना।

वन प्रबन्ध (Forest Management).—भारत के नवीन सविधान के अन्तर्गत वन राज्य विषय (State Subject) हैं। इनका प्रशासन एव नियन्त्रण राज्य सरकारो द्वारा होता है। प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत वन-विभाग हैं जो साधारणतया मुख्य वन निरीक्षक (Chief Conservator of Forests) के आधीन होते है। प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से एक राज्य अनेक वन-क्षेत्रो (Forest Circles) मे विभाजित होता है तथा प्रत्येक क्षेत्र एक वन-रक्षक के आधीन होता है। वन शिक्षा तथा वन-अनुसधान कार्यो का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर रक्खा गया है। केन्द्रीय

सरकार या कृषि-मंत्रालय वनो के महानिरीक्षक (Inspector General of Forests) की सहायता से वन-सम्बन्धी कार्यो की देखभाल करता है। विभिन्न राज्यो की वन-नीति म एकरूपता लाने के लिए एक केन्द्रीय वन-मण्डल (Central Board of Forestry) की स्थापना की गई है।

भारत में वनो की पिछडी दशा के कारण – हमारे देश मे वनो की अविकसित दशा के मुख्य कारण इस प्रकार हैं – (i) असम और मध्यप्रदेश को छोड कर अन्य राज्यो मे वनो का क्षेत्रफल अति न्यून है और वनो का क्षेत्रीय वितरण बहुत असमान है। (ii) वन-क्षेत्र के लगभग ४० प्रतिशत भाग मे परिवहन की सुविधा उपलब्ध न होने के कारण इनका उपयोग नही होने पाता है। (iii) लगभग ३७ प्रतिशत वन व्यक्तिगत सम्पत्ति है जिन्हे अनिश्चित एव अनियमित ढग से काटा जाता है। (iv) 'वन-सरक्षण विद्या' एव 'वन-विज्ञान' के अभाव के कारण हम वन-सम्पत्ति का पूर्ण सदुपयोग नही कर सके हैं। (v) हमारे देश मे वनो की कटाई के ढग अवैज्ञानिक व दोषपूर्ण हैं। फलत बहुत सी लकडी व्यर्थ मे नष्ट हो जाती है तथा (vi) अनेक राज्यो के वन विभाग वनो की सुरक्षा और इनके समुचित उपयोग के लिये आवश्यक कदम उठाने के प्रति उदासीन हैं। अत सख्या और योग्यता दोनो दृष्टिकोणो से हमारी वन-सेवा अविकसित है।

वन विकास में सरकार और जनता के कर्त्तव्य (Duties of Public and Government in the Development of Forests) – देश मे वनों के क्षेत्र, विकास तथा सरक्षण आदि कार्यो मे सरकार अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है। **(अ) सरकार के मुख्य कर्तव्य इस प्रकार हैं** – (i) जो व्यक्ति वृक्ष लगाने मे प्रयत्नशील हो उनकी सरकार द्वारा हर सम्भव सहायता की जानी चाहिये (ii) जनता मे चेतना व जागरूकता उत्पन्न करने के लिये सरकार को वृक्षारोपण-सम्बन्धी लाभो का प्रचार करना चाहिये। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है – "If forestry is to be a success it is necessary to have a forest-minded nation" (iii) अमेरिका की तरह हमारे देश मे भी कृषि-विभाग और वन-विभाग को एक सगठन मे सूत्रबद्ध कर देना चाहिये। (iv) वन-विभागो मे आवश्यकता और महत्व को ध्यान मे रखते हुये पर्याप्त मात्रा मे कर्मचारी नियुक्त किये जाने चाहिये। (v) वन विभाग के कर्मचारियो की प्रशिक्षण का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये। उन्हे पर्याप्त मात्रा मे वेतन दिया जाना चाहिये जिससे कि वे अपना रहन-सहन का स्तर ऊचा रख सकें तथा अपने कार्य को कुशलता से कर सकें। (vi) प्रचार की अपेक्षा सरकार द्वारा व्यवहारिक कार्य अधिक किये जाने चाहियें। सरकार को जनता के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये तथा वृक्षारोपण के कार्य मे जनता की सहायता लेनी चाहिये। (vii) सरकार द्वारा 'अरक्षित' वनो के सुप्रबन्ध की व्यवस्था की जानी चाहिये तथा निजी-वनो पर समुचित नियन्त्रण रक्खा जाना चाहिये। (viii) 'वन-विद्या' और 'वन अनुसधान' की उन्नति की जानी चाहिये। (ix) सरकार को वन-रोपण, वन-रक्षण और वन-कटाव मे वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग करना चाहिये।

(x) देश मे रोजगार की वृद्धि करने के उद्देश्य मे वन-उद्योग के व्यापारिक पहलू को अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। (xi) वन-क्षेत्रो मे परिवहन के साधनो का विकास किया जाना चाहिये तथा (xii) 'केन्द्रीय-वन मण्डल' (Central Board of Forestry) को प्रादेशिक जाच द्वारा प्रत्येक प्रदेश के लिये वनो का न्यूनतम प्रतिशत क्षेत्र निर्धारित कर देना चाहिये और प्रदेशो के 'वन-विभागो' द्वारा इन न्यूनतम प्रतिशतो तक पहुचने की योजनाए बनाकर सक्रिय प्रयत्न किये जाने चाहियें।

(आ) जनता के मुख्य कर्त्तव्य इस प्रकार हैं:—(i) वनो की आवश्यकता और महत्व को समझकर जनता को उनकी रक्षा के लिये अपने कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिये। (ii) हमारे देश के नागरिको को वृक्षो का आदर और उनकी पूजा करना सीखना चाहिये। कनाडा की जनता "Men of Trees" की पूजा करके वृक्षो के प्रति अपना सम्मान तथा महत्व का प्रदर्शन करती है। (iii) जनता द्वारा वनो का शोषण कम से कम किया जाना चाहिये तथा अधिकाधिक मात्रा मे वृक्षारोपण और उनकी देखभाल को जनता द्वारा अपना कर्त्तव्य समझा जाना चाहिये।

वन महोत्सव (Vana Mahotsava)—वनो की आवश्यकता तथा महत्व को दृष्टिगत रखते हुए जून सन् १६५० मे भारत सरकार के तत्कालीन खाद्य एव कृषि मन्त्री श्री के० एम० मुशी (Shri K M. Munshi) ने वन महोत्सव आन्दोलन का प्रणेता बनकर जनता मे वनो के प्रति एक नवीन चेतना जागृत कर दी। अनुमानत प्रथम और द्वितीय वन महोत्सवो मे देश भर मे लगभग ४–४ करोड वृक्ष लगाये गये। तब से प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु मे १ जुलाई से ८ जुलाई तक वन-महोत्सव मनाया जाता है। वन-महोत्सव आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य देश भर मे ३० करोड वृक्षो को लगाना तथा वनो की रक्षा और विकास करना है। यद्यपि "वन-महोत्सव सप्ताह" के अवसर पर वृक्षारोपण का कार्य बडे उत्साह से किया जाता है, तथापि बाद मे वृक्षो को देखभाल की समुचित व्यवस्था न होने के कारण, इस आन्दोलन का विशेष महत्व नही रहने पाता है। अत आवश्यकता इस बात की है कि वृक्षारोपण के साथ-साथ वृक्षो की देखभाल की भी समुचित व्यवस्था की जाये। इस कार्य के लिये यह अधिक उत्तम होगा कि देश के प्रत्येक नागरिक को वृक्षो के प्रति जागरुक (Tree Conscious) बनाया जाये तथा जनता मे यह विश्वास उत्पन्न किया जाये कि वनारोपण अथवा वन-रक्षा का कार्य उनका अपना ही कार्य है। **महात्मा गाधी जी ने वृक्षारोपण की आवश्यकता और महत्व को दर्शाते हुए कहा था कि "भारतवासियों को वृक्षों की महत्ता समझकर और वृक्षारोपण करके शीघ्र ही आर्थिक-स्वराज्य प्राप्त कर लेना चाहिये।"**

योजना-आयोग और वन:—(Planning Commission and Forests) —प्रथम पचवर्षीय योजना मे योजना-आयोग ने वनो के योजनाबद्ध विकास के लिये कुछ सुझाव इस प्रकार प्रस्तुत किये थे:—(i) बेकार भूमि (Waste Land) का निरीक्षण करके उस पर वन लगाकर वनों का क्षेत्र विस्तार

किया जाना चाहिये । (ii) "केन्द्रीय वन मण्डल" (Central Board of Forestry) द्वारा इस तथ्य की जाच की जानी चाहिये कि प्रत्येक प्रदेश के लिए वनो का क्षेत्रफल कम से कम कितना होना चाहिये । (iii) भूमि क्षरण-ग्रस्त क्षेत्रो मे भूमि-क्षरण को नियन्त्रित करने के लिये वृक्ष लगाये जाने चाहिए । (iv) जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् राज्य सरकारो के आधीन ४ करोड एकड वनो की भूमि आ गई थी। इसमे से भूस्वामी वर्ग ने अधिकाश भूमि पर से वृक्ष काट लिये थे । योजना आयोग ने यह सुझाव दिया कि इस भूमि पर पुन वृक्षारोपण कर देना चाहिये । (v) द्वितीय महायुद्ध के अन्तर्गत शोषित वनो का पुन सस्थापन तथा पुनर्विकास किया जाना चाहिये । (vi) नहरो, सडको और रेलवे लाइनो के दोनो ओर वृक्षारोपण करके वृक्ष-भूमि (Tree Land) का विस्तार किया जाना चाहिये । (vii) देश मे ईंधन के अभाव को पूरा करने के लिये ग्रामोद्यानो (Village Plantation) का विकास किया जाना चाहिये । (viii) वन-क्षेत्रो मे परिवहन के साधनो का विकास किया जाना चाहिये । (ix) इमारती लकडी की पूर्ति बढाने के लिये लकडियो को ठीक प्रकार से पकाने तथा रासायनिक ढग से शोधन करने की व्यवस्था की जानी चाहिये। इसके लिये लकडिया पकाने के भट्टो (Seasoning Kilns) तथा उपचार-इकाइयो (Treatment Units) की सख्या बढाई जानी चाहिये। (x) वन शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओ को प्रसारित करना चाहिये । (xi) वन-उत्पादो के आधारभूत उद्योगो को विकसित एव प्रोत्साहित करने के लिये "वन शोध सस्था" (Forest Research Institute) एव आधारित-उद्योगो मे घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिये । (xii) वनो के आयोजित विकास के लिये वनो के निरीक्षक (Inspector General of Forests) द्वारा विभिन्न प्रादेशिक-सरकारो की वन-नीतियो तथा वन योजनाओ का समन्वय (Co ordination) किया जाना चाहिये।

पचवर्षीय योजनाओ के अतर्गत वन-विकास कार्यक्रम —(i) **प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजनायें**—प्रथम और द्वितीय योजनाओ के अतगत वन-विकास कार्यक्रम पर क्रमश ६.५ करोड रु० तथा ६.३ करोड रु० व्यय किये गये। योजनाओ की १० वर्षीय अवधि म ५५ हजार एकड क्षेत्र मे दियासलाई बनाने के उपयुक्त लकडी के वृक्ष तथा ३ लाख ३० हजार एकड क्षेत्र मे इमारती लकडी के वृक्ष लगाये गये। लगभग १८ हजार वर्गमील क्षेत्र का सर्वेक्षण और सीमाकन किया गया। इसके अतिरिक्त वन-क्षेत्रो म ६ हजार मील लम्बी सडको का निर्माण किया गया तथा हीन दशा म पड हुए ४ लाख एकड वन-क्षेत्र का पुनरुद्धार किया गया। (ii) **तृतीय पचवर्षीय योजना** —तीसरी योजना के अन्तगत वन-विकास कार्यक्रम पर ५१ करोड रु० व्यय करने का निश्चय किया गया है। योजना-काल मे नए वन लगाने के कार्यक्रम के अन्तर्गत ७ लाख एकड क्षेत्र मे दियासलाई के उपयोग की लकडी, बास, वाटल, टीक तथा यूकेलिप्टस आदि के वृक्ष लगाने तथा ३ लाख एकड क्षेत्र मे जल्दी बढने वाले इमारती लकडी के वृक्ष लगाने का निश्चय किया गया है। तीसरी योजना म कुल १२ लाख एकड क्षेत्र म वन लगाने

का लक्ष्य है। वृक्ष काटने के उन्नत उपकरणो को तैयार करने का काम देहरादून की 'वन-अनुसधान सस्था' (Forest Research Institute) मे प्रारम्भ किया जा चुका है। तीसरी योजना मे इनका और अधिक विकास किया जायगा तथा वन-क्षेत्रो मे १५ हजार मील लम्बी सडकें बनाई जायेंगी। इमारती लकडी की पूर्ति बढाने के लिये योजना काल मे लकडी को परिपक्व करने के २७ तथा परिपक्वता एव सरक्षण के ३ सयत्र लगाने का निश्चय किया गया है। लगभग ४३ हजार *वर्गमील क्षेत्र के सर्वेक्षण एव सीमाकन का कार्य योजना मे* प्रस्तावित है। देहरादून की वन-अनुसधान सस्था के काय-क्षेत्र को विस्तृत करने के लिये योजनावधि मे ३ प्रादेशिक अनुसधान सस्थायें खोलने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसके अतिरिक्त योजनाकाल मे राज्य वन-विभागो मे ४८० अधिकारियो, १,५२० फोरेस्ट-रेंजरो, १० हजार फोरेस्टरो और फोरेस्ट-गार्डों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जायेगी। प्राकृतिक-सरक्षण वन विकास के दृष्टिकोण से तीसरी योजना मे ५ चिडियाघरो, ५ राष्ट्रीय उप-वनो तथा १० वन्य जन्तु शरण्यो की स्थापना और विकास का कार्यक्रम भी सम्मिलित किया गया है।

खनिज-सम्पत्ति

(Mineral Wealth)

प्राक्कथन—आज का युग औद्योगिक युग है। देश के औद्योगीकरण, राष्ट्रीय समृद्धि तथा आर्थिक-शक्ति को बढाने वाले साधनो मे देश की खनिज सम्पत्ति का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। परिवहन एव सचार, कृषि एव उद्योग, व्यापार एव वाणिज्य तथा जनसाधारण के रहन-सहन के स्तर को प्रभावित करने मे देश की खनिज सम्पत्ति का विशेष भाग होता है। वर्तमान युग मे प्रगतिशील देशो की औद्योगिक एव आर्थिक प्रगति का मुख्य कारण यही है कि उन देशो मे खनिज पदार्थ उचित एव पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं।

भारत में खनिज-सम्पत्ति—योजना आयोग (Planning Commission) के शब्दो मे— **इस समय भारत की ज्ञात खनिज-सम्पत्ति, यद्यपि किसी भी प्रकार से अक्षय (Inexhaustible) तो नहीं है, तथापि यहा देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक खनिज पदार्थों की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध है।"** हमारे देश मे लगभग १०० प्रकार के खनिज-पदार्थ उपलब्ध हैं जिनमे से ३० खनिज पदार्थ अधिक महत्वपूर्ण है। देश मे आधारभूत उद्योगो (Basic Industries) के लिये आवश्यक खनिज पदार्थ, जैसे—लोहा, कोयला, बाक्साइट (Bauxite), इल्मेनाइट (Ilemenite) क्यानाइट (Kyanite) मैगनेसाइट (Magnesite) तथा मैंगनीज के भण्डार यथेष्ट मात्रा मे उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त कुछ खनिज पदार्थों, जैसे—टिटैनियम (Titanium), थोरियम (Thorium) तथा अभ्रक आदि पर भारत को विश्व मे एकाधिकार सा प्राप्त है। कुछ खनिज पदार्थ, जैसे—ताबा, टीन, सीसा, जस्त, निकिल, कोबाल्ट (Cobalt), गधक तथा पैट्रोल आदि भारत मे आवश्यकता से बहुत कम है। सन् १९५० मे देशभर मे कुल ८३ करोड रु० के खनिज खोदे गये थे। सन् १९६० मे कुल खनिज उत्पादन का मूल्य १५६ करोड रु० था। इस अवधि मे सर्वाधिक-वृद्धि लौह-खनिज म हुई है। जबकि सन् १९५० मे लोहे का उत्पादन २९.७ लाख टन था, सन् १९६० मे यह बढकर १०५ लाख टन हो गया। इसके अतिरिक्त सन् १९६० मे चूने के पत्थर, क्रोमाइट, जिप्सम और कोयले का उत्पादन क्रमश १२५ लाख टन, ९९ हजार टन, ९.७७ लाख टन, ६.८२ लाख टन तथा ५१८ लाख टन था। इस प्रकार स्पष्ट है कि खनिज सम्पत्ति की दृष्टि से भारत एक समृद्धिशाली देश है।

भारत के मुख्य खनिज-पदार्थ—हमारे देश मे उपलब्ध प्रमुख खनिज पदार्थ निम्नलिखित है —

(१) **कोयला** (Coal) .—(अ) भण्डार —कोयला उत्पादन मे भारत का विश्व मे आठवा स्थान है। एक अनुमान के अनुसार भारत मे कोयले की खानो मे और उनके आस-पास ३,२०,००० से अधिक श्रमिको को रोजगार मिलता है। सन् १६३७ की 'कोयला समिति' (Coal Committee) के मतानुसार भारत की खानो म कोयले का भण्डार लगभग ६,००० करोड टन है। इसका ⅚ भाग पृथ्वी मे इतनी गहराई पर है कि उसे सरलता से नही निकाला जा सकता। कुछ विशेषज्ञो के मतानुसार भारत मे कोयले की कुल राशि-कोष ६,५०० करोड टन है। सन् १९४९ की "धातु-शोधन कोयला-सरक्षण समिति" (The Metallurgical Coal Conservation Committee) के अनुमानानुसार भारतमे कोकिंग कोयले (Coking Coal) का भण्डार २०० करोड टन तथा गैर-कोकिंग कोयले का भण्डार ४,००० करोड टन है। *तृतीय योजना के अनुसार हमारे देश मे कोकिंग कोयले का भण्डार लगभग २८० करोड टन है।* एशिया महाद्वीप मे चीन को छोडकर भारत ही ऐसा देश है जिसमे कोकिंग-कोयले के भण्डार उपलब्ध है। (आ) क्षेत्र —भारत की मुख्य कोयले की खानें बिहार के रानीगज तथा पश्चिमी बगाल के गोडवाना क्षेत्र मे स्थित हैं। बिहार मे रानीगज के अतिरिक्त झरिया, बोकारो, गिरिडीह और कर्णपुरा मे कोयले की खानें पाई जाती हैं। कोयले की ८३२ खानो मे से रानीगज मे २६३ तथा झरिया मे ३६८ खानें हैं। अनुमानत कुल कोयले के उत्पादन का ८२% से अधिक भाग इन्ही खानो से निकाला जाता है। इसके अतिरिक्त कोयले की कुछ खानें मध्य-प्रदेश, उडीसा, आन्ध्र-प्रदेश, असम, राजस्थान, मद्रास और गुजरात राज्यो मे भी हैं। कोयले का सर्वाधिक उपभोग रेलवे-उद्योग मे होता है। रेलवे-उद्योग के पश्चात् कोयले के उपभोग मे दूसरा स्थान वस्त्र-उद्योग का है। (इ) उत्पादन —सन् १९५५ मे देश मे कोयले का कुल उत्पादन ३८२ लाख टन था। सन् १९६०—६१ मे कोयले का उत्पादन बढकर ५४६ लाख टन हो गया। सन् १९६० मे उत्तम कोटि का कोकिंग कोयला १३० लाख टन निकाला गया। (ई) उत्पादन का लक्ष्य —तीसरी योजना मे ९७० लाख टन कोयला-उत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया है। मद्रास के दक्षिण अरकाट जिले मे नैवेली (Neyveli) मे लिग्नाइट (भूरा कोयला) का कारखाना स्थापित किया गया है। भूरे कोयले द्वारा विद्युत-शक्ति तथा अन्य शक्तियो का सृजन किया जाता है। तीसरी योजना मे ३५ लाख टन लिग्नाइट (Lignite) निकालने का लक्ष्य रक्खा गया है। (उ) मुख्य समस्यायें—भारत मे कोयला खनिज से सम्बन्धित मुख्य समस्यायें इस प्रकार हैं :—(i) भारत मे कोयले का भण्डार बहुत कम है :—दूसरे देशो की अपेक्षा भारत मे कोयले का अनुमानित भण्डार बहुत कम है। सन् १९४९ की "धातु-शोधन कोयला-सरक्षण समिति" (The Metallurgical Coal Conservation Committee) के अनुसार भारत मे कोयले का भण्डार केवल ४,२०० करोड टन है। इसके विपरीत सयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा रूस मे कोयले का अनुमानित भण्डार क्रमश २,०४,००० करोड टन तथा १,४४,००० करोड टन है। (ii) उत्पादन की न्यूनता —भारत

मे कोयले का उत्पादन भी अपेक्षाकृत बहुत कम है। एक अनुमान के अनुसार भारत मे ब्रिटेन का १/१५ वा और अमेरिका का १/६ वा भाग ही उत्पन्न होता है। (iii) **खानों मे मशीनो का न्यूनतम प्रयोग** —भारत मे कोयले की खानो मे मशीनो का प्रयोग बहुत कम होता है। सन् १९५१ मे भारत की कोयला खानो मे कोयला काटने की केवल ३७४ मशीन तथा लादने वाली केवल १९ मशीनें थी। (iv) **कोयला निकालने की दोषपूर्ण पद्धति** —हमारे देश मे कोयला निकालने के ढग भी दोषपूर्ण और अपव्ययपूर्ण है। (v) **कोकिंग कोयले के भण्डार की अल्पन्यूनता** —भारत मे उत्तम कोटि के कोकिंग कोयले का भण्डार बहुत कम है तथा इसके शीघ्र समाप्त होने की सम्भावना है। (vi) **क्षेत्रीय-असमान वितरण** —हमारे देश मे कोयले का क्षेत्रीय वितरण भी समान नही है। भारत की कुल कोयला उत्पत्ति का ८०% से अधिक भाग केवल बिहार और पश्चिमी बगाल से उपलब्ध होता है। (vii) **कोयला क्षेत्र मे परिवहन सम्बन्धी सुविधाओ का अभाव** —कोयला उद्योग म 'परिवहन की रुकावट" (Transport Bottleneck) एक मुख्य समस्या है। यही कारण है कि कोयले का परिवहन-व्यय अधिक होता है। परिणामत बम्बई जैसे दूरस्थ औद्योगिक क्षेत्रो मे दक्षिणी अफ्रीका से कोयला मगाना सस्ता पडता है। (8) **सरकारी नीति** — सन् १९५२ मे 'कोयला खान सुरक्षा अधिनियम" (Coal Mines Conservation and Safety Act) पास किया गया जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को कोयला भण्डारो की बरबादी को रोकने का अधिकार मिला। ऐक्ट के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को मिलने वाले मुख्य अधिकार इस प्रकार है —(i) कोयले की खानो की सुरक्षा एव सरक्षण के उद्देश्य से आवश्यक कदम उठाना। (ii) कोयला उद्योग को नियन्त्रित करने के लिये आवश्यक नियम बनाना। (iii) कोयला बोर्ड (Coal Board) को कोयला-उद्योग सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाने के लिये आवश्यक अधिकार प्रदान करना तथा (iv) कोयला और कोकिंग कोयले पर उत्पादन-कर (Excise Duty) लगाना। हमारी सरकार ने कोकिंग कोयले के उत्पादन को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से एक "कोयला परिषद' (Coal Board) का आयोजन किया है। भारत सरकार की सन् १९५६ की नई औद्योगिक-नीति (Industrial Policy) के अन्तर्गत कोयले की खानें सार्वजनिक-क्षेत्र (Public Sector) म रक्खी गई हैं। प्रत्येक राज्य की कोयला खानो को यन्त्र सम्बन्धी सुविधा देने के लिय एक 'राष्ट्रीय कोयला विकास निगम' (National Coal Development Corporation) स्थापित किया गया है। इस्पात-उत्पादन के लिये घटिया कोयले को धोकर अच्छा बनाने का कार्यक्रम आरम्भ किया गया है। दूसरी योजना के अन्तर्गत घटिया कोयले को धोकर अच्छा बनाने के लिये ४ केन्द्रीय धुलाई-केन्द्र खोले गये। तीसरी योजना म १२७ लाख टन कोयले की धुलाई की व्यवस्था करने का निश्चय किया गया है। तीसरी योजना मे कोयला उत्पादन की अतिरिक्त क्षमता उत्पन्न करने के लिए सार्वजनिक-क्षेत्र मे १०३ करोड रु० तथा व्यक्तिगत-क्षेत्र मे ६० करोड रु० व्यय किय जायेंगे। राष्ट्रीय कोयला विकास निगम कोयले

की नई-नई खानों के विकास के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, पोलैण्ड और रूस ने तकनीकी सहायता लेगा। कोयला धोने की सुविधायें बढ़ाने के लिये धुलाई के दो कारखाने कथारा में, २ कारखाने करनपुरा में और १ कारखाना सैन्ट्रल झरिया में स्थापित किये जायेंगे तथा भोजुडिह (Bhojudih) व दुगदा (Dugada) के धुलाई केन्द्रों की क्षमता दुगुनी कर दी जायगी।

(२) लोहा (Iron)—(अ) भण्डार—हमारे देश में लौह खनिज के अक्षय भण्डार हैं। अनुमानतः समस्त विश्व के कुल लौह-भण्डार का एक-चौथाई भाग हमारे देश में उपलब्ध है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में लोहे का अनुमानित भण्डार २,१०० करोड़ टन है तथा उत्तम कोटि के लोहे का भण्डार लगभग १,००० करोड़ टन है। *एक दूसरे अनुमान के अनुसार भारत में कच्चे लोहे का भण्डार ५०,०७० २६ लाख टन तथा उत्तम-कोटि (High Grade) और निम्न कोटि (Low Grade) के लोहे का भण्डार ६७६ करोड़ टन है। हमारे देश का कच्चा लोहा (Iron Ore) बहुत उत्तम प्रकार का है। इसमें ७०% तक लौहांश पाया जाता है तथा गन्धक और फॉस्फोरस की मात्रा कम होती है। (आ) क्षेत्र—हमारे देश में उत्तम-कोटि का लोहा बिहार के सिंहभूमि जिले में, उड़ीसा में बोनाई, मयूरभंज तथा क्योंनझार गढ़ जिलों में, मध्य प्रदेश के चांदा, दुर्ग और बस्तर जिलों में, मैसूर के शिमोगा और कादूर जिलों में, मद्रास के सलेम और तिरुचिरापल्ली जिलों में, बम्बई के रत्नागिरी जिले में तथा गोआ में उपलब्ध होता है। मैसूर राज्य में ४०,००० से ६०,००० टन तक प्रतिवर्ष लोहा निकालने का अनुमान है। उपरोक्त खानों के अतिरिक्त थोड़ी-बहुत मात्रा में लोहा उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा जिले में, आन्ध्र प्रदेश के कडप्पा और करनूल जिलों में पश्चिमी बंगाल के कोयला क्षेत्रों (Coal Fields) में तथा अन्य प्रान्तों में पाया जाता है। हमारे देश में लोहे की खानों की यह विशेषता है कि इनमें से अधिकांश खानें कोयले की खानों के सन्निकट हैं जिससे कम लागत-व्यय पर ही इस्पात तथा लोहा (Steel and Pig Iron) उत्पादित किया जा सकता है। (इ) उत्पादन की मात्रा—एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में कच्चे लोहे का वार्षिक-उत्पादन फ्रांस का लगभग $\frac{1}{8}$वां भाग तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का $\frac{1}{25}$वां भाग ही है। सन् १९५० में देश की समस्त खानों से २९.७ लाख टन लोहा निकाला गया। सन् १९६० में उत्पादन की यह मात्रा बढ़कर १०५ लाख टन हो गई। (ई) तीसरी योजना का लक्ष्य—तीसरी योजना में ३२० लाख टन लोहा निकालने का लक्ष्य रक्खा गया है। इसमें से लगभग १२० लाख टन लौह खनिज को विदेशों के लिये निर्यात करने का निश्चय किया गया है। तीसरी योजना में यह आशा की गई है कि सन् १९६३ तक मध्यप्रदेश की बेलडीला खानें चालू हो जायेंगी जिनसे प्रतिवर्ष ६० लाख टन लौह-खनिज निकल सकेगा। देश में लौह-खनिज भंडारों की खोज के लिये तीसरी योजना में "भूगर्भ-सर्वेक्षण तथा खान-कार्यालय" के विस्तार की व्यवस्था की गई है।

* India 1961, Page 13.

(३) अभ्रक (Mica) — **(अ) भंडार** —हमारे देश मे ससार के कुल अभ्रक-उत्पादन का लगभग ८०% भाग उत्पादित किया जाता है। अभ्रक के उत्पादन मे भारत को एकाधिकार-सा प्राप्त है। हमारे देश मे अभ्रक के भण्डारो का निश्चित अनुमान नही लगाया गया है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भारत मे अभ्रक का भण्डार अक्षय है तथा यह अनेक दशाब्दियो (Decades) तक चल सकता है। **(आ) क्षेत्र** —हमारे देश मे अभ्रक की खानें मुख्यत बिहार, राजस्थान और आध्र राज्यो मे स्थित हैं। देश के कुल अभ्रक-उत्पादन का ६०% भाग बिहार, २५% भाग राजस्थान तथा १५% भाग आध्र प्रदेश की खानो से निकाला जाता है। सर्वश्रेष्ठ प्रकार का "रूबी" अभ्रक ("Ruby" Mica) बिहार की खानो मे ही मिलता है। थोडी बहुत मात्रा मे कुछ अभ्रक केरल, मैसूर, अजमेर और तिरुवाकुर मे भी मिलता है। **(इ) उत्पादन**—भारत मे अभ्रक के उत्पादन एव निर्यात के आकडे ठीक-ठीक उपलब्ध नही है। सन् १९५५—५६ मे लगभग २६ हजार टन अभ्रक निकाला गया था। सन् १९५६ मे अभ्रक का कुल उत्पादन २८,६६४ मीट्रिक टन था, जो कि सन् १९५८ के उत्पादन से ३२४ मीट्रिक टन कम था। **(ई) निर्यात**—हमारे देश मे कुल उत्पादित अभ्रक का एक बडा भाग निर्यात किया जाता है। सन् १९६० मे ६८२ लाख रु० के मूल्य का अभ्रक निर्यात किया गया था। अभ्रक का निर्यात मुख्यत अमेरिका को होता है। परन्तु अब ब्राजील (Brazil) मे अभ्रक का उत्पादन बढने से भारतीय अभ्रक की माग कम हो गई है। दूसरे देशो मे कृत्रिम अभ्रक (Synthetic Mica) के उत्पादन से भारतीय अभ्रक की माग कम हो गई है। **(उ) योजना आयोग के सुझाव**—अभ्रक के उत्पादन एव व्यापार को विकसित करने के लिये योजना आयोग ने कुछ सुझाव इस प्रकार दिये है —(i) "भू-सर्वेक्षण सस्था" को चाहिये कि वह (अ) बिहार और मद्रास की अभ्रक-खानो का पुन मानचित्रण करे तथा (आ) राजस्थान मे भूगर्भात्मक कार्य को विस्तृत स्तर पर अपनाये। (ii) "राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला" (National Physical Laboratories) तथा "खान कार्यालय" (Bureau of Mines) को अभ्रक को गुणो के आधार पर वर्गीकृत करने तथा अभ्रक को पीसने के लिए सस्ते एव सुधरे हुए ढगो की खोज करनी चाहिये। (iii) एक केन्द्रीय विपणन परिषद (Central Mica Marketing Council) की स्थापना करनी चाहिये। (iv) अभ्रक के छोटे छोटे उत्पादको को सहकारी समितियों मे सगठित करना चाहिये।

(४) मैंगनीज (Manganese) —**(अ) महत्व**—मैंगनीज का प्रयोग बडा इस्पात, रासायनिक पदार्थों, प्लास्टिक, वार्निश, शुष्क बैट्री आदि बनाने मे किया जाता है। चू कि इस खनिज का उपयोग अनेक प्रकार के उद्योगो मे किया जाता है, इसीलिये इसका नाम "Jack of All Trades" पड गया है। **(आ) भण्डार** —विश्व के मैंगनीज-उत्पादक देशो मे हमारे देश का स्थान दूसरा है, परन्तु भण्डार की दृष्टि से इसका स्थान तीसरा है। एक अनुमान के अनुसार भारत मे ११ करोड २० लाख टन मैंगनीज का भण्डार है। इसमे से ६०० लाख टन उत्तम कोटि की मैंगनीज होने

०·६७ लाख टन। (ई) उत्पादन— सन् १९६० में क्रोमाइट का कुल उत्पादन ६६ हजार टन था जिसका वास्तविक मूल्य ५७ लाख रु० है। (उ) निर्यात— हमारे देश से प्रतिवर्ष उत्पादित क्रोमाइट का एक बड़ा भाग निर्यात कर दिया जाता है।

(७) नमक (Salt)—**(अ) स्रोत**—हमारे देश में नमक का उत्पादन समुद्र जल, नमक की खान तथा नमक की झील से होता है। समुद्र जल से नमक का उत्पादन *मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, केरल में,* नमक की झील से राजस्थान, महाराष्ट्र और गुजरात में तथा नमक की खान से हिमाचल प्रदेश में होता है। **(आ) नमक के कारखाने**—इस समय देश में १२२ नमक के कारखाने हैं जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता का अनुमान ७६०.३ लाख मन है। हाल ही में वादाला (Wadala) नामक स्थान पर एक नमक उत्पादन के आदर्श फार्म (Model Salt Farm) की स्थापना की गई है जिसमें नमक का उत्पादन वैज्ञानिक रूप से और आर्थिक ढंग से किया जा रहा है। ऐसा ही एक अन्य फार्म राजस्थान में साम्भर नामक स्थान पर चालू करने की व्यवस्था की गई है। **(इ) नमक-उत्पादन में आत्म-निर्भरता**—द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने तक भारत को एक बड़ी मात्रा में नमक का आयात करना पड़ता था। देश के विभाजन होने के कारण खेवड़ा का सेंधा नमक (Rock Salt) हमको अप्राप्य हो गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश ने नमक के उत्पादन में इतनी उन्नति की है कि अब भारत नमक के विषय में न केवल आत्म-निर्भर हो गया है वरन् थोड़ी-बहुत मात्रा में नमक का निर्यातकर्त्ता भी बन गया है। **(ई) पंचवर्षीय योजनाएं**—प्रथम पंचवर्षीय योजना में राजस्थान और खरगोड़ा में स्थित नमक के कारखानों के विकास पर ५० लाख रु० तथा हिमाचल प्रदेश की मंडी की नमक खानों के विकास पर १ करोड़ रु० व्यय किया गया। द्वितीय योजना में नमक के साधनों के विकास पर २ करोड़ रु० व्यय किये गये। *सन् १९६० में देश में नमक का उत्पादन ३४.४ लाख मीट्रिक टन हुआ* था।

(८) पैट्रोल (Petroleum)— **(अ) क्षेत्र**—हमारे देश में पैट्रोल असम के तीन क्षेत्रों—डिगबोई, बप्पापुङ्ग तथा हसापुङ्ग में निकाला जाता है। **(आ) उत्पादन**—पैट्रोलियम की दृष्टि से हमारे देश की स्थिति अत्यन्त पिछड़ी हुई है। हमारे देश में पट्रोल का औसतन वार्षिक उत्पादन ५ लाख टन है जो देश की आवश्यकता के केवल ८% भाग की ही पूर्ति करता है। भारत को औसतन ३० करोड़ गैलन पैट्रोल प्रतिवर्ष विदेशों से मंगाना पड़ता है। **(इ) पंचवर्षीय योजनायें**—देश में खनिज तेल की खोज के लिये प्रथम योजना के अन्त में एक विशेष संगठन स्थापित किया गया। द्वितीय योजना में इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया गया। भारत सरकार ने इस संगठन को 'आइल एण्ड नैचुरल गैस कमीशन" (Oil and Natural Gas Commission) का रूप दे दिया। इस आयोग का कार्य तेल की खोज के लिये भूगर्भ-सर्वेक्षण आदि कराना है। द्वितीय योजनाविधि में इस आयोग ने पंजाब, खम्भात, उत्तरप्रदेश और ऊपरी असम में तेल के कुएं खुदवाये हैं। यह आशा की जाती है कि

शीघ्र ही असम के नहरकटिया (Naharkatia) क्षेत्र से २७ ५ लाख टन तेल निकलने लगेगा। द्वितीय योजना में तेल की खोज में केवल २६ करोड रु० व्यय किये गये। तीसरी योजना में इस कार्यक्रम पर ११५ करोड रु० व्यय करने का लक्ष्य रक्खा गया है और यह आशा की गई है कि योजना के अन्त तक देश में ६५ लाख टन तेल निकलने लगेगा। तेल साफ करने के लिये बरौनी (Barauni) और गुहावटी (Guhauti) के कारखानों को पूरा किया जा चुका है। गुजरात में भी तेल की सफाई का एक तीसरा कारखाना स्थापित किया जायेगा।

भारत सरकार की खनिज-नीति (Mineral Policy of Indian Government) :—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व हमारे देश की खनिज-सम्पत्ति का अनियमित एवं अनियोजित ढंग से शोषण किया गया। प्राय खानें देश के लाभ के लिये नहीं वरन् पूर्णत: व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से खोदी जाती थी। देश से खनिज पदार्थों को अधिकतर कच्चे ही रूप में निर्यात किया जाता रहा। इनके प्रसाधन (Pressing), विधायन (Processing) तथा रचना (Fabrication) की कोई व्यवस्था न थी। सन् १९४८ में भारत सरकार ने "खान और खनिज व्यवस्था तथा विकास अधिनियम" (Mines and Mineral Regulation and Development Act of 1948) पास किया। इस अधिनियम द्वारा अणु-शक्ति (Atomic Energy) के उत्पादन से सम्बन्धित अथवा दुर्लभ खनिज, जैसे—थोरियम, यूरेनियम, इल्मेनियम, जिप्सम, जस्ता, तांबा आदि के लाइसेंस (Licence) तथा ठेके (Lease) देने में केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेनी आवश्यक कर दी गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने मूलभूत खनिज पदार्थों (Basic Minerals) के सम्बन्ध में संरक्षण एवं मितव्ययितापूर्ण कार्यकरण (Conservation and Economic Working) की नीति अपनाने का सुझाव दिया। योजना आयोग ने खनिज-नीति के सम्बन्ध में जो आवश्यक सुझाव दिये उनमें से कुछ इस प्रकार हैं —(i) खनिज भण्डारों का ठीक ठीक अनुमान लगाना (Appraisal of Reserves) :—हमारे देश में खनिज-भण्डारों के विश्वसनीय आंकडे उपलब्ध नहीं हैं। अत योजना आयोग ने विस्तृत खनिज-सर्वेक्षण पर बहुत बल दिया है। (ii) खान खोदने की उत्तम कला (Proper Conduct of Mining Operations) —हमारे देश में खान खोदने का कार्य अवैज्ञानिक एवं अपव्ययपूर्ण है। अत यह आवश्यक है कि खानों में मशीनों का प्रयोग किया जाए, तकनीकी कर्मचारियों को लगाया जाए तथा खान खोदने की विधियों में सुधार किया जाए। (iii) खानों को ठेके पर देना तथा उनके विकास को नियन्त्रित करना (Leasing of Mines and Regulation of Mineral Development) —सन् १९४८ के "खान और खनिज व्यवस्था तथा विकास अधिनियम" के अन्तर्गत अणु शक्ति वाले तथा दुर्लभ खनिजों, जैसे—थोरियम, यूरेनियम, इल्मेनियम, जिप्सम, जस्ता, तांबा आदि को केन्द्रीय सरकार की अनुमति द्वारा ठेके पर देने तथा लाइसेंस देने की व्यवस्था की गई थी। योजना आयोग ने यह सुझाव दिया कि अन्य महत्वपूर्ण खनिज पदार्थों को भी इसी व्यवस्था के अन्तर्गत

लिया जाना चाहिये । (iv) **खनिज-उद्योग सम्बन्धित आंकड़े एकत्रित करना** (Collection of Statistical Data of Mineral Industry) —योजना आयोग ने यह सुझाव दिया कि 'भारतीय खनिज कार्यालय" (Indian Bureau of Mines) द्वारा खनिज उद्योग की वर्तमान स्थिति और आवश्यकताओ से सम्बन्धित आकडे एकत्रित किये जाने चाहिये। (v) **खनिज व्यापार** (Mineral Trade) — योजना आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि कच्चे रूप मे निर्यात किये जाने वाले खनिजो को तैयार (Finished) अथवा अर्ध-तैयार (Semi-finished) रूप मे विदेशो को भेजा जाना चाहिये। (vi) **अनुसन्धान** (Research) —अनुसन्धान की दृष्टि से भारत बहुत पीछे है । अत आयोग ने खनिज-पदार्थों के निकालने, खोज एव कार्यकरण सम्बन्धी कार्यो म अनुसन्धान को महत्व प्रदान किया। (vii) **युद्ध सम्बधी बातो का ध्यान** (Strategic Considerations) —योजना आयोग ने गधक, टीन वनेडियम, टंग्स्टन आदि युद्ध की दृष्टि से महत्वपूर्ण खनिजो की खोज एव विकास की ओर विशेष ध्यान देने का सुझाव दिया है । (viii) **निम्न कोटि की कच्ची धातु** (Low Grade Ores) —योजना आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि निम्न कोटि की कच्ची धातुओ के सम्बन्ध मे अधिक छान-बीन होनी चाहिये।

भारत सरकार ने अपनी सन् १९५२ की 'राष्ट्रीय खनिज-नीति" (National Mineral Policy) मे उपरोक्त सुझावो को मान्यता प्रदान की। अप्रैल सन् १९५६ की नई औद्योगिक नीति (Industrial Policy) के अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ, जैसे—लोहा, मैंगनीज, जिप्सम, गधक, सोना, ताबा, सीसा, जस्ता, टीन तथा अणु-शक्ति वाले खनिज पदार्थ सार्वजनिक-क्षेत्र (Public Sector) के अतर्गत कर लिये हैं। देश मे आज भी अनेक खनिजो की मात्रा के सम्बन्ध मे अनिश्चितता है । हमारी सरकार ने खनिज सम्बन्धी अनेक कार्यों के लिये बहुत सी सस्थाओ को स्थापित किया है, जैसे— 'भारतीय भूगर्भ "सर्वेक्षण विभाग' (Geological Survey of India), 'भारतीय खान विभाग" (Indian Bureau of Mines) 'राष्ट्रीय-ईंधन अन्वेषण सस्था" (National Fuel Research Institute) "राष्ट्रीय धातु प्रयोगशाला" (National Metallurgical Laboratory) तथा 'केन्द्रीय ग्लास एव सिरेमिक अन्वेषण सस्था" (Central Glass and Ceramic Research Institute) आदि।

पंचवर्षीय योजनाओ में खनिज विकास —प्रथम और द्वितीय योजनाओ के अन्तर्गत 'भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग' (Geological Survey of India) तथा 'भारतीय खान कार्यालय (Indian Bureau of Mines) का विस्तार किया गया तथा नये क्षेत्रो के बडे भूगर्भ नक्शे तैयार किये गये जिनमे से कुछ नक्शो मे महत्वपूर्ण खनिज भण्डार हैं । इसके अतिरिक्त राजस्थान (खेतडी और जावर) तथा सिक्किम के क्षेत्रो मे लोहा, कोयला, ताबा, सीसा और जस्ते की खोज के लिये खुदाई की गई। इन खोजो से देश के खनिज भण्डारो के विषय मे अच्छी जानकारी प्राप्त हुई है। प्रथम योजना मे दोनो विभागों द्वारा सर्वेक्षण कार्यों पर केवल ४० ५७ लाख

रुपये व्यय किया गया। महत्वपूर्ण खनिजो का विकास करने के लिये १५ नवम्बर सन् १९५८ को "राष्ट्रीय खनिज विकास निगम" (National Minerals Development Corporation) की स्थापना की गई। तीसरी योजना मे खनिजों के विकास पर सार्वजनिक-क्षेत्र मे ५७८ करोड रुपये और निजी-क्षेत्र मे ६० करोड रुपये व्यय किये जायेंगे। इस योजना (Third Plan) मे खनिज सम्पत्ति के विकास के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं – (i) उन खनिज पदार्थों की खोज करना जो अब तक पूर्णत अथवा अन्शत विदेशो से आयात किये जाते हैं। (ii) देश के उद्योगो मे काम आने के लिये लोहा, बाक्साइट, जिप्सम, कोयला, चूने के पत्थर आदि की खानो का पता लगाना। (iii) निर्यात के लिये लोहा व अन्य धातुओ की नई खानो का पता लगाना। तीसरी योजना मे भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के लिये ५ करोड रुपये तथा खान ब्यूरो के लिये १ करोड रु० की व्यवस्था की गई। खनिज तेल की खोज मे तीसरी योजना मे ११५ करोड रु० व्यय करने का आयोजन है।

—: o :—

6

शक्ति के साधन तथा जल-विद्युत् योजनायें

[Sources of Power and Hydro-electric Projects]

प्राक्कथन —किसी देश का औद्योगिक विकास बहुत कुछ वहां पर उपलब्ध शक्ति के साधनों पर निर्भर होता है। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के पश्चात् लघु एवं कुटीर उद्योगों (Small and Cottage Industries) का शनैः शनैः पतन होता गया तथा उनके स्थान पर वृहत्काय उद्योगों (Large Scale Industries) ने जन्म लिया। बड़े स्तर के उत्पादन में मशीनों का प्रमुख स्थान है और मशीनों को सचालित करने में शक्ति के साधन मूल आधार का कार्य करते हैं। इस तरह कृषि, उद्योग, परिवहन एवं संचार अर्थात् आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, शक्ति के साधनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारत में शक्ति के साधन —हमारे देश में प्रमुख शक्ति के साधन निम्नलिखित हैं —

(१) मानव-शक्ति —यद्यपि विज्ञान के विकास के साथ साथ मानव-शक्ति (Human Power) का महत्व क्रमशः कम होता जा रहा है, फिर भी औद्योगिक-उत्पादन में और विशेषकर अविकसित देशों के औद्योगिक-उत्पादन में मानव-शक्ति का महत्व कम नहीं है। अन्य शक्तियों की अपेक्षा भारत में श्रम-शक्ति (Labour Power) सस्ता साधन है। सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर हमारे देश की जनसंख्या ४८ ८ करोड़ है जो समस्त विश्व की जनसंख्या का 1/6वां भाग है। विश्व में जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद भारत का ही द्वितीय स्थान है। यद्यपि हमारे देश में जनसंख्या संख्यात्मक (Quantitatively) दृष्टि से पर्याप्त है, तथापि गुणात्मक (Qualitatively) दृष्टि से यह उत्तम नहीं है क्योंकि हमारे देश का श्रमिक पाश्चात्य विकसित देश के श्रमिकों से बहुत कम कार्य-कुशल है।

(२) पशु-शक्ति .—हमारे देश में पशु-शक्ति (Animal Power) का भी बाहुल्य है। अनुमानतः हमारे देश में समस्त संसार की पशु-संख्या का एक-चौथाई भाग रहता है। सन् १९५६ की पशु-गणना के अनुसार हमारे देश में कुल पशुओं की संख्या ३० ६ करोड़ है। श्रम शक्ति के ही तुल्य हमारे देश की पशु शक्ति की भी यह विशेषता है कि इसकी कार्यक्षमता अपेक्षाकृत बहुत कम है।

(३) वायु, सूर्य और अणु-शक्ति —यद्यपि योरोप में नीदरलैण्ड आदि देशों में वायु-शक्ति (Wind Power) का उपयोग हवाई चक्कियों को चलाने में व्यापक रूप में किया जाता है, परन्तु हमारे देश में वायु-शक्ति का उपयोग नहीं के बराबर

है। यह अवश्य है कि कृपको को अन्न से भूसा पृथक् करने मे इसी शक्ति पर निर्भर रहना पडता है। इसी तरह सूर्यशक्ति (Solar Energy) और अणु-शक्ति (Atomic Energy) का वर्तमान उपयोग भी नही के समान ही है, यद्यपि भविष्य मे इन दोनो ही शक्ति के महत्वपूर्ण साधन बन जाने की आशा है। सन् १९५६ मे बम्बई के निकट ट्रामबे (Trombay) नामक स्थान पर, अणु-शक्ति उत्पन्न करने के लिये एक अणु यत्र (Atomic Reactor) लगाया गया था। अणुशक्ति उत्पन्न करने वाले यूरेनियम और थोरियम खनिजो का देश मे पर्याप्त भण्डार है। भारत सरकार ने आणविक शक्ति के विकास के लिये आणविक शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की नियुक्ति की है। तीसरी योजना म ३ लाख किलोवाट अणु-शक्ति (Nuclear Power) उत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया है। योजना काल मे १५०-१५० किलोवाट की क्षमता के दो आणविक विद्युतगृह (Atomic Electric House) तथा दो अन्तर्विश्वविजय आणविक-केन्द्र स्थापित किये जायेंगे।

(४) कोयला-शक्ति —हमारे देश मे कुल शक्ति का लगभग आधा भाग कोयले द्वारा ही प्राप्त होता है। सन १९३७ की कोयला समिति (Coal Committee) के अनुसार भारत की खानो मे लगभग ६,००० करोड टन कोयले के अक्षय भण्डार है। समिति ने यह भी बताया है कि कुल कोयला-भण्डार का ⅚ भाग इतनी गहराई मे है कि इसे सरलता से निकाला नही जा सकता। सन् १९४६ की धातु-शोधन कोयला सरक्षण समिति (Metallurgical Coal Conservation Committee) के अनुसार भारत मे कोयले का भण्डार लगभग ४,२०० करोड टन है। इसमे से अच्छी श्रेणी का कोयला केवल ८०० करोड टन तथा उत्तम श्रेणी का कोकिंग कोयला (Coking Coal) केवल २०० करोड टन ही है। तीसरी योजना के अन्तर्गत देश मे कोकिंग कोयले के भण्डार का अनुमान २८० करोड टन लगाया गया है। कोयले की मुख्य खानें बिहार और पश्चिमी बगाल के रानीगज, भरिया तथा गिरडीह क्षेत्रो मे स्थित हैं। इन खानो से देश के कुल कोयले के उत्पादन का लगभग ८२% भाग उत्पादित किया जाता है। इन क्षेत्रो के अतिरिक्त मध्य प्रदेश, उडीसा, असम, हैदराबाद, विन्ध्य प्रदेश और राजस्थान आदि प्रदेशो मे भी थोडी बहुत मात्रा मे कोयला मिलता है। इस समय कुल कोयला-उत्पादन का लगभग १०% भाग विद्युत बनाने के काम मे आता है। सन् १९६०-६१ मे ५ ४६ करोड टन कोयले का उत्पादन किया गया। तीसरी योजना में ९ ७० करोड टन कोयले के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया है। कोयले की खानो के सरक्षण एव उचित शोषण के सम्बन्ध मे सन् १९५२ मे भारत सरकार ने एक कोयला-खान सुरक्षा और सरक्षण अधिनियम (Coal Mines Conservation and Safety Act) पास किया। दूसरी योजनाकाल मे घटिया कोयले को धोकर अच्छा बनाने के लिए ४ धुनाई केन्द्र स्थापित किए गए। तीसरी योजना म रेलवे तथा अन्य उद्योगो के लिए १०० लाख टन कोकिंग कोयले की आवश्यकता का अनुमान है। खानो की

पोली जगह को भरने के लिए इस योजना मे अधिक महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त तीसरी योजना म ४८० लाख टन लिगनाइट (भूरा कोयला) का उत्पादन किया जाएगा जिससे विद्युतगृहो की क्षमता बढकर ४०० मे० वा० हो जाएगी। द्वितीय योजना मे केवल ३५० लाख टन लिगनाइट का उत्पादन किया गया जिससे विद्युतगृहो की क्षमता २५० मे० वा० हो गई। तीसरी योजना मे १२७ लाख टन कोयले की धुलाई का लक्ष्य भी रखखा गया है।

(५) ईंधन शक्ति और एल्कोहल-शक्ति —यद्यपि ईंधन शक्ति का एक प्रमुख साधन है परन्तु हमारे देश मे वन आवश्यकता से इतने कम है कि ईंधन-शक्ति पर भरोसा नही किया जा सकता। विगत वर्षो मे हमारे वनो का अनियमित एव अनियोजित ढग से शोषण हुआ है। इस समय हमारे देश की राज्य सरकारे वनो के विकास की ओर श्लाघनीय कदम उठा रही है। अत भविष्य मे वनो से शक्ति के साधन के रूप मे कुछ मात्रा मे लकडी उपलब्ध हो सकने की पूर्ण आशा है। यद्यपि भारत मे ईधन-शक्ति (Fuel Power) का अभाव है, परन्तु एल्कोहल-शक्ति समुचित मात्रा मे उपलब्ध होने की पूरी आशा है क्योकि हमारे देश मे औसतन १८० लाख गैलन एल्कोहल प्रतिवर्ष उत्पन्न किया जाता है। एल्कोहल चीनी-उद्योग मे शीरे की उपोत्पत्ति (By Product) का रूप है। तीसरी पचवर्षीय योजना मे ५०० लाख गैलन एल्कोहल के उत्पादन का लक्ष्य रखखा गया है। यह आशा की जाती है कि भविष्य मे चीनी-उद्योग के विकास के साथ-साथ एल्कोहल के उत्पादन की मात्रा मे भी वृद्धि होती जाएगी।

(६) पैट्रोलियम :—हमारे देश मे निजी आवश्यकता का केवल ८% पैट्रोल (Petroleum) ही उपलब्ध होता है। शेष पैट्रोल के लिये हमे विदेशो पर निभर रहना पडता है। सन् १९६०–६१ मे २० १५ करोड रु० के मूल्य का पैट्रोलियम आयात किया गया। तीसरी योजना मे पैट्रोल मगाने के लिए ४०० करोड रु० की विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया है। इस समय हमारे देश म पैट्रोल असम के तीन क्षेत्रो डिगबोई, बप्पापुग और हसापुञ्ज से ही प्राप्त होता है। दूसरी योजना मे खनिज तेल का खोज के लिए "आइल एण्ड नेचुरल गैस कमीशन" (Oil and Natural Gas Commission) की नियुक्ति की गई थी। इस आयोग ने पजाब, खम्भात, उत्तरप्रदेश और ऊपरी असम मे तेल के कुए खुदवाये हैं। आशा है शीघ्र ही नहर कटिया (आसाम) के कुओ से २७ ५ लाख टन तेल निकलने लगेगा। दूसरी योजना मे तेल की खोज पर २६ करोड रु० व्यय हुए। तीसरी योजना मे इस कार्यक्रम पर ११५ करोड रु० व्यय करने का अनुमान है। तीसरी योजना के अन्त तक देश मे ६५ लाख टन तेल निकलने की आशा है। तेल साफ करने के लिए बर्मा शैल, (Burmah Shell) काल टैक्स, (Caltax) असम तेल कम्पनी (Assam Oil Company) तथा स्टान वैक (Stan-Vac) द्वारा तेल शोधक कारखाने (Oil Refineries) स्थापित किए गए हैं। सार्वजनिक क्षेत्र मे तेल शोधक कारखाने गुहावटी (Gauhati), बरौनी (Barauni) तथा

खम्भात (Khambat) में स्थापित किए गए हैं। तीसरी योजना में २० लाख टन क्षमता का एक नया तेल शोधक कारखाना स्थापित किया जाएगा।

(७) विद्युत-शक्ति —आधुनिक युग में शक्ति के साधन के रूप में विद्युत शक्ति का विशेष महत्व है। विद्युत-उत्पादन के तीन मुख्य स्रोत जल, कोयला और तेल हैं। खनिज-तेल से उत्पादित विद्युत "Oil Electricity" तथा कोयले या भाप से उत्पादित विद्युत "Steam Electricity" कहलाती है। तेल एवं भाप द्वारा उत्पादित विद्युत को ताप विद्युत (Thermal Electricity) तथा पानी द्वारा उत्पादित विद्युत को पन विद्युत अथवा जल-विद्युत (Hydro electricity) कहते हैं। भाप विद्युत, ताप विद्युत और आणविक-शक्ति से उत्पन्न विद्युत की तुलना में जल विद्युत की प्रति किलोवाट-घंटा औसतन उत्पादन-लागत बहुत कम लगती है। एक अनुमान के अनुसार डीज़ल-शक्ति केन्द्रों, कोयला-शक्ति केन्द्रों और आणविक-शक्ति केन्द्रों पर विद्युत शक्ति की औसतन उत्पादन-लागत क्रमशः ३ नए पैसे, २५ नए पैसे और ४ नए पैसे प्रति किलोवाट घंटे आती है, जबकि जल-विद्युत-शक्ति केन्द्रों पर विद्युत-शक्ति की औसतन उत्पादन लागत केवल १.२ नये पैसे प्रति किलोवाट घंटे ही आती है। यही नहीं, जलविद्युत शक्ति केन्द्रों की स्थापना में विदेशी विनिमय की आवश्यकता बहुत कम पड़ती है, परन्तु कोयला-शक्ति केन्द्रों एवं आणविक-शक्ति केन्द्रों की स्थापना में विदेशी विनिमय की आवश्यकता अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पड़ती है। अतः जलविद्युत-शक्ति का उत्पादन भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल और सर्वाधिक लाभदायक है। फिर भी योजना आयोग (Planning Commission) ने यह सुझाव दिया है कि विभिन्न विशेषताओं के कारण भारतीय परिस्थितियों में विद्युत उत्पन्न करने की इन विभिन्न विधियों के उपयोग में आवश्यक समन्वय (Co ordination) और सन्तुलन (Balance) स्थापित करना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।

हमारे देश में खनिज तेल द्वारा विद्युत-उत्पादन की सम्भावना बहुत कम है। देश में उत्पन्न कोयले का १०% भाग विद्युत बनाने के काम में आता है। परन्तु अन्य साधनों के क्षति-पूरक साधन के रूप में विद्युत-उत्पादन के लिये प्रकृति ने हमें जल के अक्षय स्रोत प्रदान किए हैं। हमारे देश में जल-शक्ति के विकास की अपूर्व सम्भावना है। खानों से दूर स्थित क्षेत्रों के लिए जल-विद्युत का विशेष महत्व है। भारत की जलविद्युत-शक्ति की उत्पादन-क्षमता का अनुमान ४ करोड़ किलोवाट है। द्वितीय योजना के अन्त तक विद्युत उत्पादन की वास्तविक उत्पादन-क्षमता ५७ लाख किलोवाट थी। हमारे देश में प्रति व्यक्ति विद्युत का उपभोग १ हार्स पावर है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विटजरलैंड, कनाडा और नार्वे में प्रति-व्यक्ति विद्युत का उपभोग क्रमशः १००, ४००, ६०० और ७०० हार्स पावर है। अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में हमारे देश में प्रति व्यक्ति विद्युत-सृजन (Production of Electricity) भी बहुत कम है। जबकि अमेरिका, कनाडा, नार्वे और स्वीडन में प्रति व्यक्ति विद्युत-सृजन क्रमशः २,२०४; ३,४४४, ३,६६६ और २,२०४ किलोवाट

प्रतिवर्ष है, तब हमारे देश मे यह केवल १४·४ किलोवाट ही है।

भारत में विद्युत-उत्पादन का विकास :—हमारे देश मे जल-विद्युत का प्रथम कारखाना सन् १८९७—९८ मे दार्जिलिंग मे खोला गया। भाप से चलने वाला विद्युत का पहला कारखाना सन् १८९९ मे कलकत्ते मे स्थापित किया गया। सन् १९०२ मे कोलार की सोने की खानो के लिए मैसूर राज्य मे 'शिव—समुद्रम" नामक स्थान पर जल विद्युत का कारखाना स्थापित किया गया। सन् १९३५ मे समस्त विद्युत-गृहो की कुल प्रतिस्थापित क्षमता (Installed Capacity) केवल ९ लाख किलोवाट थी। परन्तु प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने तक यह बढाकर २३ लाख किलोवाट कर दी गई।

(i) प्रथम योजना—प्रथम पचवर्षीय योजना मे विद्युत-उत्पादन की प्रतिस्थापित-क्षमता २३ लाख किलोवाट से बढकर ३४ लाख किलोवाट हो गई अर्थात् इसमे ६७% वृद्धि हुई। देश मे प्रति व्यक्ति विद्युत का वार्षिक उपभोग १४ यूनिट से बढकर २५ यूनिट हो गया। योजनाकाल मे ११ बडी शक्ति परियोजनाए, जैसे—बिहार मे बोकारो, मैसूर मे जोग, बम्बई मे चोला, पजाब मे नागल, उत्तर प्रदेश मे शारदा व पथरी शक्ति योजनाए आदि पूरी हो गई तथा उनसे विद्युत का उत्पादन होने लगा। योजना के चतुर्थ वर्ष मे कोसी, कोयना, कृष्णा, चम्बल और रिहन्द नामक पाच बहु-उद्देशीय योजनाओ (Multi-purpose Projects) पर कार्यारम्भ किया गया। सन् १९५१ के आधार पर, प्रथम योजना मे ट्रान्समिशन लाइन (Transmission Lines) बनाने मे लगभग 100% वृद्धि हुई। योजनावधि मे लगभग १९,००० मील लम्बी ट्रान्समिशन लाइन बनाई गई। इसके अतिरिक्त इस अवधि मे ५ हजार से कम जनसख्या वाले लगभग २,५०८ गावो मे विद्युत पहुचाई गई।
(ii) द्वितीय योजना—द्वितीय योजना के अन्त तक विद्युत उत्पादन की प्रतिस्थापित क्षमता ५७ लाख किलोवाट हो गई। योजनाकाल मे प्रतिवर्ष औसतन ४ ५ लाख किलोवाट की अतिरिक्त विद्युत उत्पादन क्षमता स्थापित की गई। प्रथम पचवर्षीय योजना मे विद्युत का प्रति व्यक्ति उत्पादन १८ किलोवाट से बढकर २८ किलोवाट हो गया था। सन् १९६०-६१ मे यह ४५ किलोवाट हो गया। द्वितीय योजनावधि मे सार्वजनिक-क्षेत्र मे विद्युत-शक्ति के उत्पादन कार्यक्रम पर लगभग ४६० करोड रु० व्यय किए गए। इस योजना के अन्त तक कुल उत्पादित विद्युत के ६३% भाग की खपत उद्योगो मे होने लगी। मार्च सन् १९६१ तक २३,००० गावो और शहरो मे विद्युत पहुचाई गई। **(iii) तृतीय योजना**—तीसरी योजना के अन्त तक विद्युत-उत्पादन की प्रतिस्थापित क्षमता, प्रतिवर्ष औसतन १४ लाख किलोवाट की उत्पादन-क्षमता स्थापित करके, १२७ लाख किलोवाट करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। ऐसा अनुमान है कि योजना के अन्त तक कार्यशील विद्युत गृहो निर्मित हो रहे विद्युत गृहो तथा परीक्षाधीन विद्युत-गृहों की कुल उत्पादन क्षमता १३४ लाख किलोवाट हो जाएगी जिसमे से १२७ लाख किलोवाट विद्युत व्यापारिक उपयोग म लगाई जाएगी। इस कार्यक्रम के पूरा होने पर प्रति व्यक्ति विद्युत का उत्पादन

४५ किलोवाट से बढकर ६५ किलोवाट हो जाएगा। योजनाकाल मे ६६ हजार मील लम्बी ट्रान्समिशन लाइनें बनाई जायेंगी। इस अवधि मे बम्बई के निकट तारापुर मे ३०० मेगावाट की प्रतिस्थापित क्षमता का एक अणु-विद्युत केन्द्र निर्मित किया जाएगा। तीसरी योजना मे विद्युत उत्पादन के कार्यक्रम पर १,०८६ करोड रु० व्यय करने का अनुमान है। इसमे से १०३६ करोड रु० सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) मे तथा ५० करोड रु० व्यक्तिगत क्षेत्र (Private Sector) मे व्यय किए जायेंगे। विद्युत का कुल उत्पादन द्वितीय योजना के अन्त मे २० अरब किलोवाट घटे से बढकर तीसरी योजना के अन्त तक ४५ अरब किलोवाट घटे हो जाने की आशा है। इस योजना के अन्त तक ४३,००० गावो और शहरो मे विद्युत पहुचाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। तीसरी योजना के अन्तगत १२० लाख किलोवाट विद्युत उत्पन्न कर सकने वाले ६४ पन विद्युत स्थलो की जाच पडताल का कार्यक्रम तैयार किया गया है तथा बगलोर मे स्थापित विद्युत अनुसधान सस्थान (Electric Research Institution) मे विद्युत के उत्पादन, सचरण तथा वितरण सम्बन्धी समस्याओ के अनुसधान की योजना बनाई गई है। स्विच-गियर के डिजाइनो की जाच तथा विकास के लिए भोपाल मे एक स्विच-गियर टैस्टिंग स्टेशन की स्थापना की जा रही है।

जल-विद्युत शक्ति के लाभ (Advantages of Hydro-electricity)—जल-विद्युत के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं —(i) **अक्षयशीलता** —शक्ति के अन्य सभी स्रोत क्षयशील (Exhaustible) हैं। कोयला, खनिज तेल, अणु-शक्ति, लकडी आदि सभी एक दिन शनै शनै इतिश्री को पहुच जायेंगे। चू कि जल-प्रवाह अनवरत जारी रहता है, इसलिये इससे उत्पन्न विद्युत-शक्ति भी अक्षयशील (Inexhaustible) है। (ii) **सस्ता उत्पादन व्यय** —जल-विद्युत शक्ति का दूसरा महत्वपूर्ण गुण इसका सस्तापन है। एक अनुमान के अनुसार जल-विद्युत का लागत-व्यय भाप की शक्ति के लागत-व्यय के बीसवें भाग से भी कम बैठता है। (iii) **द्रुतगामी** —जल-विद्युत शक्ति २५० मील तक मितव्ययितापूर्वक भेजी जा सकती है। मितव्ययिता के साथ साथ इसमे द्रुतगामिता का भी महत्वपूर्ण गुण है। (iv) **उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण मे सहायक** —चू कि विद्युत-शक्ति कम लागत-व्यय पर सरलतापूर्वक दूरस्थ क्षेत्रो मे उपलब्ध हो सकती है, इसलिये इसके बल पर उद्योगो का वैज्ञानिक तथा क्षेत्रीय-स्थापन (Regional Location) किया जा सकता है तथा उनको विकेन्द्रित (Decentralised) किया जा सकता है। (v) **घरेलू उद्योगों के लिये महत्वपूर्ण** —जापान मे लघु एव कुटीर उद्योगों के विकास मे जल-विद्युत शक्ति ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। हमारे देश मे भी लघु एव कुटीर उद्योगो मे सचालक शक्ति से चलने वाली आधुनिक मशीनों पर काम करके उत्पादन की मात्रा और गुण म वृद्धि कर सकते हैं। (vi) **कृषि का विकास** —विद्युत-शक्ति का प्रयोग नलकूपो (Tube Wells) के सचालन मे करके कृषि-क्षेत्र मे सिंचाई की सुविधाओं मे वृद्धि की जा सकती है। इसके अतिरिक्त विद्युत-शक्ति का उपयोग कृषि उत्पादन

कार्य से सम्बन्धित अन्य दूसरे कार्यों मे भी किया जा सकता है । (vii) **भौतिक सुख-सुविधा मे वृद्धि**—विद्युत-शक्ति द्वारा चालित रेडियो, पखा तथा अन्य दूसरी आराम की वस्तुए मानव की भौतिक सुख सुविधा मे वृद्धि करके जीवन के कार्यक्रम मे एक नया मोड प्रदान करती हैं । (viii) **अन्य उद्योग**—विद्युत-शक्ति द्वारा रेलों का सचालन-व्यय अपेक्षाकृत कम हो जाता है तथा उनकी गति मे तीव्रता आती है । बाक्साइट मे अलमूनियम बनाने मे भी विद्युत-शक्ति का उपयोग महत्वपूर्ण है । (ix) **अस्वस्थकर प्रभावों से मुक्त**—विद्युत शक्ति के उपयोग मे लकडी अथवा कोयले द्वारा उत्पन्न धुए तथा अन्य अस्वस्थकर प्रभावो से मुक्त रहा जा सकता है । इसीलिए विद्युत को श्वेत कोयला (White Coal) भी कहा जाता है ।

बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनायें
(Multi-purpose River Valley Projects)

अर्थ एवं महत्व (Meaning and Importance)—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व तक हमारे देश मे जल-साधनो का विकास और उपयोग सिचाई अथवा जल-विद्युत किसी एक प्रयोजन से ही किया जाता रहा । अमेरिका की बहु-उद्देशीय टैनिसी घाटी योजना (Multi-purpose Tennese Valley Project) से शिक्षा पाकर भारत सरकार का ध्यान भी नदियो के बहु-उद्देशीय उपयोगो की सम्भावनाओ पर गया । सरकार ने नदियों के बहु-उद्देशीय उपयोगो की सम्भावनाओ की खोज के लिये एक केन्द्रीय जल एव शक्ति-आयोग (Central Water and Power Commission) की स्थापना की । बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओ का अर्थ बहुमुखी-विकास की योजनाओ से है । "अत **नदी घाटी की वे योजनाएं जिनका उद्देश्य बहुमुखी-विकास के कार्यक्रम को अपनाना हो, बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनायें कहलाती हैं ।" इन योजनाओं के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं**—(i) नदियो के जल को ऊचाई से गिराकर जल विद्युत शक्ति का सृजन करना, (ii) नदियों पर बाध बना कर सिंचाई के लिये नहरें निकालना, (iii) बाधो की सहायता से जल को एकत्रित करके बाढ-नियत्रण करना, (iv) नहरो द्वारा आन्तरिक नौका-सचालन का विकास करना, (v) नहरों के दानो किनारो पर वृक्ष लगाना, (vi) मिट्टी के कटाव को नियंत्रित करके भूमि-सरक्षण करना, (vii) नहरो और झीलों के पार्श्वों का मनोरंजन सम्बन्धी उद्देश्यों से विकास करना तथा (viii) झीलों आदि मे मछली पालन सम्बन्धी कार्यक्रम का विकास करना और नगरो को जल की पूर्ति (Water Supply) करना आदि ।

बहु-उद्देश्य नदी घाटी योजनाओं के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं—(i) **सिचाई के क्षेत्र मे वृद्धि**—बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओ द्वारा निर्मित नहरों से देश के सिंचित-क्षेत्र मे वृद्धि होगी । फलत अधिक मात्रा मे खाद्यान्न उत्पन्न हो सकेगा तथा देश की खाद्य-समस्या स्वत हल हो जायेगी । (ii) **दोहरी फसलों का उत्पादन**—सिंचाई के साधनो के विस्तार एव विकास के फलस्वरूप भूमि से वर्ष भर मे २ या ३ फसलें सरलता से उगाई जा सकेंगी । फलत देश मे अकालो का भय सदैव के लिये

समाप्त हो जाएगा। (iii) बाढ़-निरोध व भूमि-सरक्षण —बाढ़ों का नियन्त्रण एव भूमि सरक्षण बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य एव लाभ है। इन योजनाओं के अन्तर्गत बाध लगाकर बाढ-नियन्त्रण किया जाता है तथा भूक्षरण-ग्रस्त भूमि का वन प्रतिस्थापना द्वारा पुन कृषि-योग्य बनाया जाता है। (iv) विदेशी-व्यापार — एक अनुमान के अनुसार भारत की वर्तमान बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओं के पूर्ण होने पर लगभग ३१ लाख टन अधिक खाद्यान्न का उत्पादन हो सकेगा जिससे लगभग १०० करोड़ रु० की विदेशी-विनिमय की बचत होगी। इस प्रकार भारत के विदेशी-व्यापार में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। (v) उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण —चूकि विद्युत शक्ति को बहुत सस्ते व्यय में दूरस्थ स्थानों को भेजा जा सकता है, इसलिये बहु उद्देशीय नदी घाटी योजनाओं द्वारा निर्मित जल-विद्युत शक्ति को भारत के छोटे-छोटे गावो में पहुचाकर उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण (Decentralisation) सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार उद्योगों का वैज्ञानिक और क्षेत्रीय-स्थापन (Scientific and Regional Location) सम्भव हो सकेगा। (vi) आतरिक जल परिवहन का विकास —नदियों के नियत्रण एव नहरों के निर्माण के फलस्वरूप अन्तर्देशीय जल परिवहन (Inland Water Transport) का विकास होगा जिसमें अन्तर्देशीय व्यापार को भी प्रोत्साहन मिल सकेगा। (vii) मछली पालन —बाधो के कारण बनी हुई झीलों में मछली पालकर खाद्य साधनों में मूल्यवान तथा पौष्टिक पदार्थ की वृद्धि होगी तथा जो किसी सीमा तक खाद्य-समस्या के पूरक (Supplement) के रूप में कार्य करेगी। (viii) पर्यटक यातायात (Tourist Traffic) को प्रोत्साहन —बहु उद्देशीय नदी योजनाओं के अन्तर्गत बनाये गये बाध स्वास्थ्य गृह, सौंदर्य तथा प्राकृतिक-दृश्यो के केन्द्र बन जाएगे जो अधिकाधिक सख्या मे परिभ्रमणकों को अपनी ओर आकर्षित करेंगे। इस प्रकार देश मेम नोरजन के नये साधनो का अभ्युदय होगा। (ix) रोजगार मे वृद्धि —इन योजनाओं के अन्तर्गत कार्यक्रम में लाखों व्यक्ति रोजगार पा सकेंगे जिसके फलस्वरूप देश में कृषि भूमि पर जनसख्या का दबाव किसी अश तक कम हो सकेगा। (x) अन्य लाभ —देश में कार्यान्वित की गई विभिन्न बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओं के पूर्ण होने पर लगभग १४ ६५ लाख किलोवाट विद्युत-शक्ति की अधिक प्रतिस्थापना की सम्भावना है। जल विद्युत के विकास से देश के उद्योगों को शक्ति का एक सस्ता साधन उपलब्ध होगा, उद्योग धन्धों तथा परिवहन एव सचार के साधनो के विकास को प्रोत्साहन मिलेगा तथा आतरिक नौकाचालन के विकास से रेलों और सड़कों पर यातायात का दबाव (Burden of Traffic) कम हो जाएगा।

भारत की प्रमुख बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनायें (Important Multi-purpose Valley River Projects of India) —चेस्टर बाउल्स का मत है कि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात भारत में नदियों पर जो निर्माण कार्य चल रहा है, यदि इसके विकास की गति ऐसी ही रही, तब वह दिन दूर नहीं होगा जबकि भारतकी गणना विश्व के सर्वाधिक प्रगतिशील राष्ट्रों में होगी। उन्हीं के शब्दों में—

"भारत का मेटूर बाध विश्व मे अपने प्रकार का सबसे बडा बाध है, भाखडा सबसे अधिक ऊचा व सीधा ग्रेविटी (Straight Gravity) बाध है, हीराकुन्ड अपने ढग का सबसे अधिक लम्बा बाध है, चम्बल का जलाशय सबसे बडा है नागार्जुन सागर विश्व का सबसे बडा पत्थर के काम का बाध (Masonry Dam) है, निचला भवानी बाध सबसे बडा अकेला मिट्टी का कार्य है तथा राजस्थानी नहर के सदृश्य विश्व मे कोई अन्य नहर नहीं है।" हमारे देश की कुछ प्रमुख नदी घाटी योजनाए निम्नलिखित हैं —

(१) भाखरा नागल योजना (Bhakra Nagal Project) — भाखरा नागल योजना सन् १९४६ मे प्रारम्भ हुई थी। इस योजना की अनुमानित लागत १७० करोड रु० है। इसके अन्तर्गत सम्मिलित कार्यक्रम इस प्रकार हैं —

(i) भाखरा बाध —भाखरा बाध सतलज नदी पर रोपड (जिला अम्बाला) से ५० मील ऊपर भाखरा गाव के सन्निकट बनाया जा रहा है। यह ७४० फीट ऊचा सीमेंट और ककरीट का विश्व मे सबसे ऊचा बाध है। इसके द्वारा ५६ मील लम्बा एक जलाशय बनेगा जिसमे लगभग ७४ लाख एकड फीट पानी आ सकेगा तथा जिसमे से लगभग ५७ लाख एकड फुट पानी प्रतिवर्ष सिंचाई के लिये मिल सकेगा। इस योजना के पूर्ण हो जाने पर लगभग ३० ६ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी जिससे अनुमानत ८·५ लाख टन खाद्यान ५ ६ लाख गाठ कपास, १ ५ लाख टन अन्न तथा ० ३ लाख टन दालो का अतिरिक्त उत्पादन हो सकेगा। भाखरा बाध के दोनो ओर दो विद्युत गृहो का निर्माण किया जा रहा है जिनसे लगभग ५ ६ लाख किलोवाट की विद्युत शक्ति का सृजन होगा। इस बाध के पूरा हो जाने पर पूर्वी पजाब और राजस्थान मे ३५ लाख एकड क्षेत्र की सिंचाई होगी। इस परियोजना मे राजस्थान का भाग १५% है। सन् १९५९-६० मे भाखरा नहरो से २५ लाख एकड भूमि पूर्वी पजाब व राजस्थान म सीची गई। राजस्थान मे इस पानी के वितरण के लिए १,००० मील लम्बी छोटी बडी नहरो का निर्माण किया गया है।

(ii) नांगल बांध —सतलज नदी पर भाखरा बाध से ८ मील नीचे की ओर नागल बाध बनाया गया है। इस बाध की ऊचाई ९५ फीट, लम्बाई ९५५ फीट तथा चौडाई ४०० फीट है। इस बाध पर लगभग समस्त कार्य पूरा हो चुका है। नागल बाध के नीचे १८ मील दूरी पर गगूवाल (Ganguwal) और कोटला (Kotla) नामक दो स्थानो पर विद्युत-गृह बनाए गये है। इन विद्युत-गृहो की वर्तमान प्रस्थापित क्षमता ९६,००० किलोवाट है। इस योजना के अन्तर्गत ४ लाख किलोवाट विद्युत उत्पन्न होने की सम्भावना है जो राजस्थान, पजाब, देहली और हिमाचल प्रदेश को मिल सकेगी। इस योजना पर कुल मिला कर १७० करोड रु० के व्यय का अनुमान है।

(२) दामोदर घाटी योजना (Damodar Valley Project) — दामादर घाटी योजना पश्चिमी बगाल और बिहार दोनो राज्यो को लाभान्वित करने के लिये दामोदर नदी की समस्त घाटी का बहुमुखी विकास करने की योजना

है। यह योजना अमेरिका की प्रसिद्ध टेनिसी घाटी योजना (Tennesse Valley Project) को आदर्श (Model) मानकर बनाई गई है। सन १९४२ मे दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation) की स्थापना की गई थी। दामोदर घाटी योजना का कार्य-क्षेत्र इसी निगम के आधीन है। इस पूरी योजना के अन्तर्गत ७ बहुमुखी बाधो को दो चरणो (Phases) मे बनाने की व्यवस्था की गई थी। योजना के प्रथम चरण मे तिलैया, कोनार, मैथोन और पचट चार बाध क्रमश सन १९५२, सन् १९५३, सन् १९५४ और सन् १९५५ मे बनाए गए तथा १५,०० मील लम्बी नहरो का निर्माण किया गया। सन् १९५१ के मूल्य-स्तर के अनुसार योजना के प्रथम चरण की लागत ५७ करोड रु० आकी गई है। तिलैया मैथोन तथा पचट बाधो पर तीन विद्युत-गृहो का निर्माण किया गया है जिनकी कुल प्रतिस्थापित क्षमता (Installed Capacity) १०४ लाख किलोवाट होगी। बोकारो (Bokaro) के थर्मल पावर स्टेशन (Thermal Power Station) ने भी इस योजना के प्रथम चरण मे कार्यारम्भ कर दिया है। एक अनुमान के अनुसार योजना के प्रथम चरण के कार्यक्रम से १० लाख एकड भूमि की अतिरिक्त सिचाई हो सकेगी तथा १२६ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन हो सकेगा। इस योजना के अन्तर्गत दुर्गापुर और चन्द्रपुर मे दो ताप विद्युत-गृह (Thermal Power Station) बन चुके हैं तथा दुर्गापुर मे १५ लाख किलोवाट की क्षमता का दूसरा ताप विद्युत-गृह तथा चन्द्रपुर मे १२५ लाख किलोवाट की क्षमता का अन्य ताप विद्युत गृह निर्मित किया जा रहा है। दुर्गापुर मे पानी रोककर नदी पर एक बैरेज बनाया गया है जहा से सिंचाई के लिये नहरें निकाली गई हैं। अनुमानत इन नहरो द्वारा १३·४४ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दामोदर घाटी योजना मे नये कार्यक्रम को छोडकर इस योजना की अनुमानित लागत १०५ करोड रु० आकी गई है। इस योजना के लिये विश्व बैंक से १८५ लाख डालर (९२५ करोड रु०) का ऋण प्राप्त किया गया है।

(३) हीराकुड बाध योजना (Hirakud Dam Project) — इस योजना को प्रारम्भ करने का उद्देश्य महानदी के जल को नियन्त्रित करके सिंचाई के लिये पानी तथा कारखानो के लिये सस्ती विद्युत उत्पन्न करना और महानदी के बाढों के प्रकोप से उडीसा राज्य की जनता की सुरक्षा करना था। यह योजना अप्रैल सन् १९४८ से प्रारम्भ की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत महानदी पर तीन बडे-बडे बाधो के निर्माण को सम्मिलित किया गया है—(i) हीराकुड बाध, (ii) तिक्करपारा बाध तथा (iii) नाराज बाध। हीराकुड बाध महानदी पर सम्बलपुर नामक स्थान से ९ मील ऊपर लगभग ३ मील लम्बा बाधा गया है। यह विश्व मे सबसे लम्बा बाध है। बाध द्वारा निर्मित जलाशय का क्षेत्रफल २८८ वर्ग मील है जो एशिया मे सबसे बडी कृत्रिम झील है। अनुमानत इस झील मे ६६ लाख एकड फीट पानी एकत्रित हो सकेगा जिससे लगभग १६ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी। इसके फलस्वरूप उडीसा मे ५६ लाख टन खाद्यान्न तथा २४ लाख टन अन्य उपज प्राप्त हो सकेगी।

योजना के पूरा होने पर इस बाध मे २·७ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न होगी। इस बाध से नहरें निकाली गई है और सन् १९५९ के अन्त तक इनसे लगभग ३ ३ लाख एकड भूमि सीची जा सकी है। इसके विद्युत-गृह ने भी कार्यारम्भ कर दिया है। इससे विभिन्न उद्योगो, रूरकेला के इस्पात उद्योग तथा राज्य के प्रमुख शहरो को विद्युत मिलने लगी है। हीराकुण्ड योजना के द्वितीय चरण (Phase) मे हीराकुण्ड बाध पर एक अन्य विद्युत-गृह बनाया जायेगा जिसकी प्रतिस्थापित क्षमता १ ०६ लाख किलोवाट होगी। इस योजना पर कुल व्यय का अनुमान ७० ७८ करोड रु० है।

(४) रिहन्द-बांध योजना (Rehand Dam Project) —उत्तर प्रदेश मे मिर्जापुर जिले के पीपरी नामक स्थान पर (जो मिर्जापुर से १०० मील दक्षिण की ओर है) सोन नदी की सहायक रिहन्द नदी के आर-पार ३०० फीट ऊचा तथा ३,०६५ फीट लम्बा एक बाध बनाया जा रहा है। यद्यपि इस योजना की रूप-रेखा सन् १९३६ मे तैयार की जा चुकी थी तथा सन् १९४७ से इसपर कार्यारम्भ भी कर दिया गया था, परन्तु वित्त सम्बन्धी कठिनाई के कारण इस योजना पर सन १९५४ से ही नियमित रूप से कार्य चल सका है। इस योजना पर ४६ करोड रु० व्यय का अनुमान है। बाध के निर्माण मे १५ करोड रु० की विदेशी सहायता प्राप्त होगी। योजना के अन्तर्गत १८० वर्ग मील का एक जलाशय बनेगा तथा एक विद्युत गृह का निर्माण होगा जिससे लगभग ९० करोड यूनिट विद्युत प्रतिवर्ष प्राप्त हो सकेगी। इससे पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रदेश के कुछ भाग मे विद्युत शक्ति उपलब्ध होगी। एक अनुमान के अनुसार इस योजना के पूरा हो जाने पर उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलो मे ५ हजार नल कूपो (Tube Wells) का सचालन रिहन्द की विद्युत शक्ति से हो सकेगा। जिनसे उत्तर प्रदेश और बिहार की लगभग १९ लाख एकड भूमि की सिंचाई हो सकेगी और जिसके फलस्वरूप १ ५ लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न का उत्पादन हो सकेगा। यही नही इस विद्युत का उपयोग उत्तर प्रदेश के लघु एव विशाल उद्योगो के विकास मे भी, हो सकेगा।

(५) चम्बल योजना :—इस योजना के अन्तर्गत यमुना की मुख्य-सहायक नदी चम्बल पर चौरासीगढ से कोटा तक की लगभग ५० मील की दूरी मे ३ बाध बनाने का प्रावधान है। इस योजना के पूरा हो जाने पर २ २७ लाख किलोवाट विद्युत-उत्पादन तथा १४ लाख एकड भूमि की अतिरिक्त सिंचाई होने की सम्भावना है। इस योजना से मध्यप्रदेश और राजस्थान दोनो ही राज्य लाभान्वित होगे। चम्बल योजना के कार्यक्रम को तीन चरणो (Phases) मे विभक्त किया गया है —(1) योजना के प्रथम चरण (First Phase) मे चम्बल नदी पर कोटा शहर से लगभग ६५ मील ऊपर मानपुरा के निकट गाधी सागर बाध बनाने, एक विद्युत-केन्द्र बनाने तथा बिजली की लाइनें बिछाने, कोटा शहर के पास चम्बल नदी के आरपार बैरेज (Barrage) बनाने तथा बैरेज के दोनो ओर नहरें निकालने का कार्यक्रम सम्मिलित किया गया। योजना का प्रथम चरण सन् १९६० मे पूरा हो गया

है। इस पर लगभग ६३ ५६ करोड रु० व्यय होने का अनुमान है। अनुमानत इस कार्यक्रम से ११ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी तथा ६६,००० किलोवाट विद्युत का उत्पादन हो सकेगा। (ii) योजना के द्वितीय चरण (Second Phase) मे चम्बल नदी पर कोटा शहर से ३५ मील ऊपर चित्तौड जिले मे चूलिया जल-प्रताप के निकट प्रताप सागर बाध एव इससे सम्बन्धित जल विद्युत केन्द्र के निर्माण का कार्यक्रम सम्मिलित है। इस कार्यक्रम के पूरा हो जाने पर लगभग ३ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी तथा ९०,००० किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न हो सकेगी। योजना के इस चरण पर लगभग १३ ५ करोड रु० व्यय होने का अनुमान है। (iii) योजना के तृतीय चरण (Third Phase) के अन्तर्गत कोटा शहर से ११ मील ऊपर कोटा-बाध और उससे सम्बन्धित शक्ति-गृह के निर्माण का कार्यक्रम सम्मिलित है। योजना का यह कार्यक्रम पूरा हो चुका है। इससे लगभग ४५,००० किलोवाट विद्युत उत्पन्न होने की सम्भावना है। इसकी लागत-व्यय का अनुमान १० करोड रु० है।

(६) अन्य :—हमारे देश की अन्य प्रमुख नदी घाटी योजनाए इस प्रकार हैं —(अ) तुङ्गभद्रा योजना (Tungbhadra Project) —इस योजना के अन्तर्गत कृष्णा की सहायक नदी तुङ्गभद्रा पर १६२ फीट ऊचा तथा ७,९४२ फीट लम्बा बाध बनाया जा रहा है। इससे आध्र और मैसूर प्रदेशो मे लगभग ७ १६ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी तथा १'३ लाख किलोवाट विद्युत उपलब्ध हो सकेगी। (आ) मचकुड योजना (Machkund Project) —आन्ध्र प्रदेश और उडीसा राज्यों की इस सम्मिलित योजना के अन्तर्गत विशाखापत्तनम् जिले मे (आध्र प्रदेश) जलापुट (Jalaput) नामक स्थान पर एक बाध और उससे सम्बन्धित विद्युत-गृह बनाया गया है। विद्युत-गृह की कुल प्रतिस्थापित क्षमता १ १ लाख किलोवाट है। योजना का कुल अनुमानित-व्यय २७ करोड रु० है। (इ) (काकर पाडा योजना (Kakarpara Project) —इस योजना के अन्तर्गत महाराष्ट्र राज्य मे सूरत से लगभग ५० मील की दूरी पर ताप्ती नदी पर एक बाध तथा उससे सम्बन्धित विद्युत-गृह के निर्माण का कार्यक्रम सम्मिलित था जो जून सन् १९५३ मे पूरा हो चुका है। नहरो की खुदाई का काम पूरा होने मे अभी लगभग दो वर्ष और लगेंगे। योजना के पूर्ण हो जाने पर लगभग ५ ६२ लाख एकड भूमि की सिचाई हो सकेगी तथा ४८ हजार किलोवाट विद्युत उपलब्ध हो सकेगी। (ई) कोसी योजना (Kosi Project) —इस योजना के अन्तर्गत कोसी नदी पर हनुमान नगर से तीन मील ऊपर एक बाध बनाने तथा एक शक्तिगृह का निर्माण करने के कार्यक्रम सम्मिलित हैं। विद्युत-गृह की प्रतिस्थापित क्षमता २१ हजार किलोवाट होगी। योजना के अन्तर्गत नहर प्रणाली का कार्यक्रम भी सम्मिलित है जिससे बिहार मे लगभग १४ लाख एकड भूमि की सिचाई होने का अनुमान है। समस्त योजना पर ४५ करोड रु० की लागत-व्यय का अनुमान है (उ) नागार्जुन सागर योजना — आंध्र प्रदेश की इस योजना मे कृष्णा नदी के आरपार नान्दी कोडा गाव के सन्निकट

बांध तथा नहरों का निर्माण किया जाएगा। योजना के पूरी हो जाने पर २० ६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी जिसके फलस्वरूप लगभग ८ लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न का उत्पादन हो सकेगा।

परिशिष्ट अ

सम्पन्नता के बीच निर्धनता

(Poverty Amongst Plenty)

प्राक्कथन —प्रो० जथार और बेरी के शब्दों में, "प्रकृति ने उदारतापूर्वक भारत को अपने उपहार दिए हैं परन्तु भारतवासी उनसे समुचित लाभ नहीं उठा सके हैं। प्राकृतिक-विपुलता और मानव-निर्धनता की यह विषमता कैसी विडम्बना है।" प्राचीन काल से ही प्रकृति और मनुष्य धनोत्पादन के प्रमुख साधन माने गये हैं। अतः जिन देशों में प्राकृतिक साधनों की विपुलता है और वहां के निवासियों ने उनका समुचित उपयोग किया है, वे आज आर्थिक दृष्टि से उन्नति के उच्च-शिखर पर हैं। परन्तु दूसरी ओर जिन देशों में प्राकृतिक साधनों का अभाव है अथवा यथेष्ट मात्रा में प्राकृतिक साधन उपलब्ध नहीं हैं, वहां के निवासी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए और दरिद्र हैं। हमारे देश की स्थिति एकदम आश्चर्यजनक है। यद्यपि प्रकृति ने हमारे देश को असीम प्राकृतिक साधन उपहारस्वरूप प्रदान किये हैं, परन्तु अभी तक हमारे देशवासी उनका समुचित उपयोग नहीं कर पाये हैं। फलतः हमारे देश में दरिद्रता, जनाधिक्य एवं खाद्य-समस्या आदि अनेक समस्यायें उठ खड़ी हुई हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी (Mahatma Gandhi) ने एक बार कहा भी था कि यदि भारतवासी अपने देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग कर लेंगे तब भारत आज की जनसंख्या से दुगुनी जनसंख्या का पालन-पोषण कर सकेगा तथा देश से निर्धनता का अभिशाप मिट सकेगा।" निम्न विवरण से भारत में प्राकृतिक विपुलता एवं मानव निर्धनता की स्पष्ट अभिव्यञ्जना होती है —

(१) आकार और स्थिति —आकार और स्थिति की दृष्टि से हमारे देश का स्थान विश्व के सब देशों से ऊंचा है। प्रकृति ने भारत को भौगोलिक एकता प्रदान की है तथा इसे अन्य देशों से पर्वतों और समुद्रों द्वारा पृथक् किया है। हमारा देश पूर्वी-गोलार्द्ध के मध्य में स्थित है। इसीलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से हमारे देश की स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा सर्वाधिक अनुकूल है। वर्तमान भारतीय संघ का क्षेत्रफल लगभग १२'६९ लाख वर्गमील है जो ब्रिटेन के क्षेत्रफल का १४ गुना तथा जापान के क्षेत्रफल का ६ गुना है। आकार की दृष्टि से भारत दुनिया का सातवां बड़ा देश है। यूरोप के अनेकों देश, जैसे—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस,

क्षेत्रो, पठारो तथा नदी घाटियो मे विभिन्न प्रकार की उपजाऊ मिट्टिया पाई जाती हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रो म विभिन्न प्रकार की जलवायु, जलवर्षा एव मिट्टी की बनावट के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की फसलें उत्पन्न होती हैं। उर्वरता की दृष्टि से गगा-ब्रह्मपुत्र के मैदान की दोमट मिट्टी तथा समुद्र तटवर्ती मिट्टी अधिक उल्लेखनीय है। यद्यपि समग्ररूप से भारत की मिट्टी पर्याप्त उपजाऊ है, परन्तु शताब्दियो से चले आ रहे निरन्तर उपयोग तथा विश्राम व खाद के अभाव मे, भारतीय भूमि की उर्वरा-शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई है। यही कारण है कि हमारे देश मे प्रति एकड उपज अपेक्षाकृत बहुत कम है। देश म गोबर की खाद, कम्पोस्ट खाद, रासायनिक खाद, हड्डी व विष्ठा की खाद, खली की खाद तथा हरी खाद तैयार करने के लिये यथेष्ट साधन उपलब्ध हैं। परन्तु हमारे देश के कृषक अन्ध-विश्वास और अज्ञानतावश खाद बनाने और उपयोग करने के प्रति उदासीन रहते हैं। यही नही, कृषि की दोषपूर्ण अवैज्ञानिक पद्धति एव पुरातन प्रकार के कृषि-यन्त्रो के उपयोग से प्रति एकड कृषि-उपज बहुत कम है। इसके अतिरिक्त, अनियमित एव अनियोजित ढग से वनो को काटने से, तथा भूमि के कटाव के कारण देश की विशाल मात्रा मे भूमि कृषि के योग्य नही रह गई है।

(४) समुद्र से प्राप्त साधन —हमारे देश का समुद्र तट ३,५०० मील लम्बा है। परन्तु अधिक कटा फटा न होने के कारण प्राकृतिक बन्दरगाहो का अति न्यून विकास हो सका है। समुद्र से मछलिया प्राप्त होती हैं जो हमारी खाद्य-पूर्ति मे सहयोग प्रदान करती है। समुद्र से अनेक खनिज भी प्राप्त होते हैं। समुद्री-पौधे (Sea Weeds) पशुओ को खिलाये जाने की दृष्टि से अत्यन्त लाभदायक होते है। यही नही, समुद्र के पानी से नमक भी बनाया जाता है। भावी वर्षों म समुद्र सोडियम, पोटाशियम, मेंगनेशियम, ब्रोमाइन व क्लोराइन आदि की उपलब्धि का महत्वपूर्ण साधन हो सकने की पूर्ण सम्भावना है।

(५) खनिज सम्पत्ति —खनिज सम्पत्ति की दृष्टि से हमारे देश की स्थिति पर्याप्त समुन्नत है। योजना आयोग (Planning Commission) के मतानुसार **"भारत को इस समय ज्ञात खनिज-सम्पत्ति यद्यपि किसी भी प्रकार से अक्षय** (Inexhaustible) तो नहीं है, तथापि यहा देश के औद्योगिक विकास के लिये **आवश्यक खनिज पदार्थो की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध है।"** भारत के टाइटेनियम (Titanium), थोरियम (Thorium) और अभ्रक के भण्डार बहुत बडे हैं। इनके निर्यात आधिक्य (Export Surpluses) विश्व महत्व के हैं। आधारभूत उद्योगो के लिये आवश्यक खनिज-पदार्थों, जैसे—लोहा व कोयला तथा बॉक्साइट (Bauxite), इल्मनाइट (Ilmenite), क्यानाइट (Kyanite), मेंगनेसाइट (Magnesite) और मैंगनीज के भण्डार देश मे यथेष्ट (Ample) हैं। उत्तम किस्म के लोह-भण्डार की दृष्टि स भारत वास्तव मे बहुत धनी है। यद्यपि देश मे ताबा, टीन (Tin), सीसा (Lead), जस्ता (Zinc), निकिल, कोबाल्ट (Cobalt), गधक और पेट्रोलियम का बहुत अभाव है, परन्तु इनकी पूर्ति आयात द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार औद्योगिक

विकास की दृष्टि से प्रकृति ने भारत को साधन-सम्पन्न बनाया है। परन्तु अभी तक इस खनिज सम्पत्ति का समुचित उपयोग नहीं हो सकने से हमारा देश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। ब्रिटिश शासन काल में हमारे देश से अधिकांश खनिज-पदार्थों का अनियंत्रित ढंग से, कच्चे माल के रूप में, निर्यात किया जाता था। उस समय देश की अधिकांश खानों पर विदेशियों का अधिकार था जो देश के भावी विकास की उपेक्षा करके, अपने निजी लाभ की दृष्टि से खानों से अनियमित एवं अनियोजित ढंग से अधिक से अधिक माल निकालने का प्रयत्न करते थे। आज जबकि हमारा देश पूर्ण स्वाधीन है, देश की खनिज सम्पत्ति के उपयोग में पूर्ण नियोजन का अभाव है, खानों से खनिज निकालने के ढंग अवैज्ञानिक एवं दोष-पूर्ण हैं और हमें अपने देश की खनिज सम्पत्ति के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं है।

(६) **वन-सम्पत्ति** —भारत के प्राकृतिक साधनों में उसकी वन-सम्पत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वनों से हमें अनेक प्रकार की बहुमूल्य लकड़ियां, जड़ी-बूटियां तथा गोंद, बेरोजा, फल, पत्ते, चमड़ा रंगने का सामान, कत्था, सुपारी, कुनैन, हींग, रबड़ आदि तथा अनेक प्रकार की पशु उपजें (Animal Products), जैसे—शहद, मोम लाख, हड्डियां, खालें, सींग, हाथी-दांत आदि उपलब्ध होते हैं। देश की जलवायु को अनुकूल बनाने, यथेष्ट मात्रा में समयानुकूल वर्षा तथा भूक्षरण को रोकने में भी वनों का विशेष महत्व है। हमारे देश में भूमि के कुल क्षेत्रफल के २१.८% क्षेत्र अर्थात् २.७४ लाख वर्ग मील में वन पाये जाते हैं। आर्थिक दृष्टि से भारत में वनों का क्षेत्रफल एकदम अपर्याप्त है। यही नहीं, देश के विभिन्न भागों में वनों का वितरण भी समान नहीं है। हमारे देश में वनों से लकड़ी काटने का ढंग अवैज्ञानिक एवं दोषपूर्ण है तथा वन-रक्षण विद्या के ज्ञान का अभाव है। ब्रिटिश शासन काल में वनों की अनियमित और अनियोजित कटाई के फलस्वरूप भारतीय वन-सम्पत्ति का अत्यधिक ह्रास हुआ है। आज भी व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत वनों का अनियोजित ढंग से शोषण जारी है। यही कारण है कि भारत में वनों की वार्षिक प्रति एकड़ उत्पादिता अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है।

(७) **मानव-श्रम** —सख्यात्मक दृष्टि से भारत में मानव श्रम की अपर्याप्तता है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार हमारे देश की जनसंख्या ४३.८० करोड़ है जो विश्व में चीन को छोड़कर सब देशों की जनसंख्या से अधिक है। परन्तु गुणात्मक दृष्टि से हमारे देशवासी सर्वथा पीछे हैं। रहन सहन का निम्न-स्तर, निर्धनता, उष्ण-जलवायु, सामाजिक पर्यावरण एवं धार्मिक अन्धविश्वास आदि अनेक कारणों से भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता अपेक्षाकृत बहुत कम है। चूंकि धनोत्पादन में निष्क्रिय प्राकृतिक साधनों का उपयोग सक्रिय मानव-श्रम द्वारा ही निश्चित है, इसलिये किसी देश की समृद्धि में मानव-श्रम का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। लिप्सन (Lipson) के शब्दों में 'किसी देश का धन मुख्यतः उसके निवासियों की योग्यता में निहित है। जिस देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है किन्तु जहां के निवासी आलसी और पिछड़े हुए हैं, वह उस देश की तुलना में जहां प्राकृतिक

साधन कम हैं परन्तु जहाँ के निवासी स्फूर्तिवान हैं, दरिद्र होगा। जिस कारण से श्रम की दक्षता बढ़ती है उसी से राष्ट्रीय आय बढ़ती है और जिस कारण से दक्षता घटती है उसी से राष्ट्रीय आय कम होती है।" वास्तव मे, हमारे देश की निर्धनता का मुख्य कारण देशवासियो की अकार्यकुशलता, आलस्यता एव अदक्षता आदि हैं। हमारे देश मे प्रशिक्षित एव कार्यक्षम्य कर्मचारियो का नितान्त अभाव है। यही कारण है कि देश मे उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग नहीं किया जा सका है।

(८) **पशु-सम्पत्ति** —मानव-श्रम की ही भाति, सख्यात्मक दृष्टि से, हमारे देश म पशु-सम्पत्ति भी सर्वाधिक है। भारत मे विश्व की कुल पशु-सख्या के लगभग एक-चौथाई पशु हैं। परन्तु चारे के अभाव, अवैज्ञानिक सयोग तथा रोगो व महामारियो के कारण, गुणात्मक दृष्टि से, भारतीय पशुओ की दशा अत्यन्त हीन है। देश मे अनुत्पादक पशुओ की विशाल सख्या है। यद्यपि पशुओ से हमे लगभग ८० करोड टन गोबर प्रतिवर्ष प्राप्त होती है, परन्तु अज्ञानतावश केवल इसका ४०% भाग ही खाद के रूप मे उपयोग किया जाता है और शेष ४०% भाग जलाने के रूप मे काम आता है तथा २०% भाग व्यर्थ मे ही नष्ट हो जाता है। गोबर के अतिरिक्त पशुओ से हमे घी, दूध, दही, मक्खन, ऊन, माम, हड्डी, सींग, चमडा आदि अनेक उपयोगी एव आर्थिक महत्व की वस्तुएं प्राप्त होती हैं। कृषि व्यवसाय के क्षेत्र मे पशु शक्ति का विशेष महत्व है। अत देश मे कृषिव्यवसाय की अनिश्चितता को समाप्त करके, कृषको को अतिरिक्त आय देने के साधन के रूप मे, डेरी व्यवसाय को विशेष महत्व देने तथा पशुओ के लिए उचित एव पौष्टिक चारे, वैज्ञानिक सयोग एव औषधि की व्यवस्था करने की नितान्त आवश्यकता है। केवल तभी हम पशु सम्पत्ति का समुचित लाभ उठा सकेंगे।

(९) **शक्ति के साधन** —कृषि कार्य के सचालन तथा औद्योगिक विकास की दृष्टि से शक्ति के साधनो का विशेष महत्व होता है। भारत मे पशु-शक्ति और मानव-शक्ति की विपुलता है। भविष्य मे देश मे अणु-शक्ति, वायु-शक्ति एव सूर्य-शक्ति के उपयोग की भी पूर्ण सम्भावना है। यद्यपि भारत मे कोयला-शक्ति के विस्तृत स्रोत हैं परन्तु उत्तम किस्म के कोकिंग कोयले की देश मे बहुत अपर्याप्तता है। तेल-शक्ति के सम्बन्ध मे हमारे देश की स्थिति अत्यन्त हीन है। देश मे आवश्यकता का केवल ८% पैट्रोलियम ही उत्पन्न हो सकता है। परतु प्रकृति ने भारत को जल विद्युत-शक्ति के अक्षय स्रोत प्रदान करके, शक्ति के साधन के रूप मे अन्य स्रोतो के अभाव की पूर्ति की है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश म लगभग ४१० लाख किलोवाट विद्युत उत्पन्न करने की अपूर्व क्षमता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय योजनाओं के आरम्भ मे देश मे विद्युत उत्पादन की स्थापित-क्षमता क्रमश २३ लाख किलोवाट, ३४ लाख किलोवाट और ५७ लाख किलोवाट थी। दूसरी योजना मे प्रतिवर्ष औसतन ४ ५० लाख किलोवाट की अतिरिक्त विद्युत उत्पादन-क्षमता स्थापित की गई। तीसरी योजना मे प्रतिवर्ष औसतन १४ लाख किलोवाट

की विद्युत उत्पादन क्षमता स्थापित करके इस कार्यक्रम को तीव्रता से आगे बढाने का प्रस्ताव है। सन् १९७५-७६ तक देश म विद्युत उत्पादन की प्रति स्थापित-क्षमता ३ करोड ५ लाख किलोवाट तक हो जाने की सम्भावना है। तीसरी योजना के अन्त तक चालू और बन रहे तथा परीक्षाधीन बिजली-घरो की कुल उत्पादन-क्षमता १३४ लाख किलोवाट हो जायगी जिसमे से १२६ लाख ६० हजार किलोवाट विद्युत व्यापारिक उपयोग मे लगाई जायेगी। इस कार्यक्रम के पूरा हो जाने पर बिजली का प्रति व्यक्ति उत्पादन सन् १९५१ के १८ किलोवाट से बढकर जो सन् १९५६ मे २८ किलावाट, १९६१ मे ४५ किलोवाट हो गया था, सन् १९६६ मे लगभग ९५ किलोवाट हो जायेगा।

उपसंहार—उपरोक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि प्रकृति ने हमारे देश को उदारतापूर्वक अनेक उपहार प्रदान किये हैं, परन्तु इनका समुचित उपयोग न हो सकने के कारण देश अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। वस्तुत भारत के प्राकृतिक साधन ही कृषि एव औद्योगिक-उत्पादन की महान क्षमता प्रदान करते हैं और इनका तीव्र विकास ही आगामी दो या तीन योजनाओ की अवधि मे देश की अर्थ व्यवस्था को आत्मनिर्भर एव आत्मपर्याप्त बनाने के लिये आवश्यक दशा है। प्राकृतिक साधनो की प्रकृति व विस्तार एव उनके विकास से सम्बन्धित अनिवार्य आवश्यकताओ की जाच करने के पश्चात् ही राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय के दीर्घकालीन लक्ष्य प्राप्त हो सकेंगे तथा देश म कृषि, सिचाई, उद्योग, विद्युत एव रोजगार के साधनो का विकास सम्भव हो सकेगा। देशवासियो की निधनता के प्रायक कारणो मे जनसख्या का आधिक्य, औद्योगिक पिछड़ापन तथा कृषि-भूमि मे प्रति एकड न्यूनोत्पादन ही प्रमुख कारण हैं। अत देशवासियों को निर्धनता के कुचक्र से मुक्ति दिलाने के लिये कृषि और उद्योग के विकास के साथ ही साथ जनसख्या की वृद्धि पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण की नितान्त आवश्यकता है। हमारी पचवर्षीय योजनायें देश मे उपलब्ध प्राकृतिक साधनो का समुचित उपयोग करके, देश से निर्धनता के अभिशाप को दूर करने का एक महत्वपूर्ण कदम है।

७

जनसंख्या

(Population)

प्राक्कथन —किसी देश की आर्थिक समृद्धि उस देश में उपलब्ध प्रचुर प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त वहा की श्रम-पूर्ति (Labour-supply) पर निर्भर होती है। उत्पत्ति के निष्क्रिय प्राकृतिक साधनों को अपने श्रम-कौशल द्वारा धनोत्पादन मे परिणित करने का एकमात्र श्रेय मानव श्रम को ही है। वह उत्पादन का साधन (Means) और साध्य (Ends) अथवा कर्त्ता और भोक्ता दोनो ही हैं। अत किसी देश का आर्थिक, औद्योगिक एव आयोजित विकास जनसख्या की रचना, आकार और कार्यक्षमता एव उसकी विभिन्न समस्याओ से पूर्णत सम्बद्ध है। लिपमन के शब्दों मे, "**किसी देश का धन मुख्य रूप से उसके निवासियों की योग्यता मे निहित है। जिस देश मे आर्थिक साधनों की प्रचुरता है, लेकिन जहा के निवासी आलसी और पिछड़े हुये हैं, वह उस देश की तुलना मे दरिद्र होगा जहा कि प्राकृतिक साधन अप्रचुर हैं, परन्तु जहा के निवासी स्फूर्तिवान हैं। जिस कारण से श्रम की दक्षता बढ़ती है, राष्ट्रीय आय बढ़ती है, और जिस कारण से श्रम की दक्षता घटती है, राष्ट्रीय-आय कम होती है।**

भारत की जनसख्या (Population in India) —विश्व मे चीन को छोडकर जनसख्या की दृष्टि से भारत का द्वितीय स्थान है। विश्व की कुल जनसख्या का लगभग ⅙ वा भाग भारत म निवासित है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार हमारे देश की जनसख्या ४३ करोड ८० लाख २४ हजार है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसख्या (जम्मू, काश्मीर तथा असम के कबाइली क्षेत्रो को छोडकर) ३५ करोड ६९ लाख थी। इस प्रकार विगत दशाब्दी (Decade) मे हमारे देश की जनसख्या प्रतिवर्ष २ २ प्रतिशत की दर से बढी है। एक अनुमान के अनुसार, यदि देश म जनसख्या की वृद्धि का यही क्रम रहा, तब सन् १९७१ तक देश की जनसख्या ५० करोड से भी अधिक हो जायेगी। इस समय भारतीय सघ मे सबसे अधिक जनसख्या उत्तरप्रदेश (७ २७ करोड) की है। उत्तरप्रदेश की वर्तमान जनसख्या इगलैंड की जनसख्या से अधिक तथा पाकिस्तान की जनसख्या का ⅞ वा भाग है। विगत वर्षो मे सर्वाधिक वृद्धि सन् १९३१ से सन् १९५१ तक हुई। सन् १९०१ से १९३१ तक जितनी वृद्धि हुई, उसकी दुगनी तथा सन् १९२१ से सन् १९३१ तक जितनी वृद्धि हुई, उसकी तिगुनी वृद्धि सन् १९३१ से सन् १९५१ तक हुई। परन्तु सन् १९५१ से सन् १९६१ तक की वृद्धि ने विगत अनुमानो एव वृद्धि की विगत दरों (Reproduction Rates) को परास्त कर दिया। इस अवधि मे देश की जनसख्या

मे ८'१२ करोड व्यक्तियों की वृद्धि हुई। अन्य राज्यो को छोडकर सर्वाधिक वृद्धि देहली प्रदेश मे हुई।

सन् १९६१ मे पुनर्गठित राज्यों की जनसंख्या (करोडो मे)

राज्य	जनसख्या	राज्य	जनसख्या
(१) आन्ध्र प्रदेश	३ ५६	(९) मद्रास	३'३९
(२) असम	१'१८	(१०) मैसूर	२'३५
(३) बिहार	४ ४६	(११) उडीसा	१ ७५
(४) महाराष्ट्र	——	(१२) पजाब	२ ०८
(५) गुजरात	२ ०६	(१३) राजस्थान	२'०१
(६) केरल	१'६८	(१४) उत्तर प्रदेश	७'२७
(७) मध्य प्रदेश	३'२२	(१५) पश्चिमी बगाल	३'४९
(८) महाराष्ट्र	३'९५	(१६) जम्मू व काश्मीर	०'३५
केन्द्रीय-प्रशासन के क्षेत्र :—			
(१) दिल्ली	०'२६	(४) हिमाचल प्रदेश	०'१३
(२) त्रिपुरा	० ११	(५) लका दीप,	०'००२४
(३) अण्डमान व निकोबार द्वीप ०'००६३		मिनीकोय व अमीनी द्वीप	——

जनसंख्या में वृद्धि के कारण (Causes of Increasing Population) :—भारत मे जनसख्या की वृद्धि के कारणों को मुख्यत दो भागो मे बाटा जा सकता है —*(अ) सामान्य कारण (Normal Causes)* और *(आ) असामान्य* कारण (Abnormal Causes)।

(अ) जनसंख्या-वृद्धि के सामान्य कारण :—किसी देश की जनसंख्या मे वृद्धि मुख्यत. दो बातो पर निर्भर करती है .—*(i) आवास और प्रवास* (Immigration and Emigration) तथा (ii) जन्म दर और मृत्यु-दर (Birth Rate and Death Rate)।

(१) आवास और प्रवास (Immigration and Emigration) —किसी देश मे आवासियो की सख्या प्रवासियो से अधिक होने से जनसख्या मे वृद्धि होती है तथा इसके विपरीत आवास की अपेक्षा प्रवास अधिक होने से जनसख्या मे ह्रास होता है। विगत शताब्दियो (Centuries) मे भारतवासियों का विदेशो मे जाकर बसना (प्रवास) और विदेशियो का भारत मे आकर बसना (आवास) लगभग नही के बराबर रहा है। सन् १९४७ मे देश के विभाजन के समय आवास और प्रवास का स्पष्ट चित्र दिग्दर्शित हुआ। उस समय भारत से पाकिस्तान प्रवासित व्यक्तियों की सख्या, पाकिस्तान से भारत आवासित व्यक्तियों की अपेक्षा कम रही। अत. उस अवधि मे भारत सघ की जन-वृद्धि मे आवास ने महत्वपूर्ण योग दिया।

(२) जन्म-दर और मृत्यु-दर :—सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक रूप से किसी देश की जनसख्या जन्म-दर (Birth Rate) एव मृत्यु-दर (Death Rate)

विशेषकर ग्रामीण समाज मे बाल-विवाह की दूषित प्रथा अब भी पाई जाती है। एक अनुमान के अनुसार भारत मे ८०% लडकियो का विवाह १५ और २० वर्ष की आयु के बीच मे होता है। जनगणना कमिश्नर ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा है कि भारत मे अधिकाश लडकियो का विवाह ५ से १४ वर्ष की आयु मे ही कर दिया जाता है। भारत मे प्रचलित संयुक्त परिवार प्रथा बाल-विवाह की तीव्रता के लिये विशेष उत्तरदाई है। अत कम आयु मे विवाह होने से सतानोत्पादन मे शीघ्रता एव सख्या दोनो दृष्टि से वृद्धि होती है। (ई) सन्तान की तीव्र लालसा —अपने धार्मिक एव सामाजिक अधविश्वास और रूढ़िवादिता के कारण भारतीय नागरिक सतान पाने की तीव्र लालसा से जीवन मार्ग मे विचरण करता है। हिन्दुओ के धार्मिक ग्रन्थो मे लिखा है कि 'बिना पुत्र-प्राप्ति के मनुष्य को न इस लोक मे सुख मिलता और न परलोक मे ही मुक्ति मिलती है।" अत अपने एहिलौकिक एव पारलौकिक-जीवन को सुखी बनाने की आशा से भारतीय-दपति सतान-प्राप्ति मे सलग्न होता है एव असफलता की अवस्था मे तीव्र मानसिक पीडा से व्यथित होकर भाग्य को कोसने लगता है। (उ) रहन-सहन का निम्न-स्तर :—भारतीय जनसख्या का एक वृहत भाग अपना जीवन अत्यन्त निम्नतर अवस्था व्यतीत करता है। लगभग ५% जनसख्या को भर-पेट भोजन भी नही मिल पाता है। चूंकि निम्न स्तर वाले व्यक्ति अपने स्तर को ऊपर उठाने से निराशित होते हैं। इसलिये वे अपने जीवन-स्तर को कोई चिन्ता न करते हुए अधिक सन्तानोत्पादन को बुरा नही समझते। अशिक्षा, मनोरजन के साधनो का अभाव तथा निर्धनता सभी सामूहिक रूप से उच्च जन्म दर (High Birth Rate) के कारक (Factors) बनते हैं।(ऊ) धार्मिक एव सामाजिक अन्धविश्वास :—अपनी सामाजिक रूढ़िवादिता एव धार्मिक अधविश्वास के कारण प्रत्येक भारतवासी इस सिद्धान्त मे विश्वास करता है कि "जो ईश्वर बच्चे को जन्म देता है, वही उसके खाने की व्यवस्था करेगा।" अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण भारतीय नागरिक भाग्यवादी एव अकर्मण्य बन गए हैं। वे सतान को 'दैवीय भेंट" अथवा "दैवीय कृत्य" समझते हैं। डा० ज्ञानचन्द का मत है कि ऊंची जन्म-दर हमारी सस्कृति का एक अभिन्न अग बन गई है जिसके फलस्वरूप भारत में बच्चो की बाढ़ (Torrent of Babies) सी उत्पन्न हो गई है। (ए) संतति-निरोध उपायों का अभाव :—हमारे देश मे आवश्यकता एवं महत्व को देखते हुए सतति निरोधक साधनो का सर्वथा अभाव है। अधिकाश भारतीय दम्पत्ति इन साधनों के उपयोग मे अनभिज्ञ हैं। चूंकि ये साधन बहुत महगे हैं, इसलिये देश की निर्धन जनता चाहते हुए भी इन साधनो से पूर्ण लाभ नही उठा पाई है। इसके अतिरिक्त जलवायु की उष्णता एव प्रेम की लोलुपता मे अपने आप को बचाकर सयम की कडवी गोली निगलना भारतीय जनता के लिये यदि असम्भव नहीं, तब कष्टकर अवश्य है। सक्षेप मे ये ही परिस्थितिया प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से जन्म-दर को प्रभावित करती हैं।

मृत्यु-दर :—जन्म-दर के अतिरिक्त मृत्यु-दर एवं प्राकृतिक वृद्धि-दर

जनसख्या को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। यद्यपि अन्य प्रगतिशील देशों की अपेक्षा भारत मे जनसख्या की मृत्यु-दर सर्वाधिक है, फिर भी विगत वर्षों मे चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं के बढ जाने से मृत्यु-दर मे बहुत कमी आ गई है। फलत देश मे प्राकृतिक वृद्धि की दर बहुत अधिक (२ २%) हो गई है। यदि यह दर इसी क्रमानुसार चलती रही, तब सन १९७१ तक भारत की जनसख्या ५० करोड से भी अधिक हो जायेगी। कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि चूंकि भारत मे मृत्यु-दर अधिक है तथा किसी दम्पत्ति को यह आशा भी नही होती कि उसके कितने बच्चे जीवित रह सकेंगे, इसलिये इसी भ्रम एव अनिश्चितता से प्रेरित होकर भारतीय दम्पति "मृत्यु की जोखिम" (Risk of Death) के विरुद्ध "बीमा" (Insurance) के रूप मे अधिक सतानोत्पादन करते हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि विगत दशाब्दी (Decade) मे भारतीय जनसख्या मे वृद्धि का मुख्य कारण जन्म-दर की वृद्धि न होकर मृत्यु-दर मे ह्रास होना रहा है।

(आ) जनसख्या-वृद्धि के असामान्य कारण —हमारे देश की जनसख्या मे वृद्धि के प्रमुख असामान्य कारण इस प्रकार हैं — (i) जलवायु की उष्णता —जलवायु की उष्णता के कारण भारतवासी शीघ्र ही परिपक्वता (Maturity) की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं तथा स्त्रिया बहुत ही कम आयु मे (९ से १२ तक) रजस्वला हो जाती हैं। फलत हमारे देश मे स्त्रियों की प्रजनन-अवधि अपेक्षाकृत अधिक है और वे अधिक बच्चो को जन्म देती हैं। (ii) भारत मे शुद्ध प्रजनन-दर —श्री किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक 'भारत और पाकिस्तान की जनसख्या" मे इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि भारत मे शुद्ध प्रजनन-दर (Net Reproduction Rate) १ ३ है। इसका अर्थ यह है कि भारत की एक हजार स्त्रिया अपने पीछे १,३०० स्त्रिया छोड जाती हैं। परिणामत देश की जनसख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। (iii) अन्य कारण .—उपरोक्त कारणो के अतिरिक्त भारतीय समाज मे प्रचलित बहुविवाह प्रथा तथा स्त्रियो के साथ हीन-व्यवहार की प्रवृत्ति भी किसी सीमा तक जन-वृद्धि के लिए उत्तरदाई हैं। हमारे देश मे नारी वर्ग को केवल प्रम-लालुपता एव काम-प्रवृत्ति (Sex Instinct) की पूर्ति का साधन (Means) माना जाता है। मनुष्य उसे अपना सहयोगी (Co-partner) एव जीवनसाथी नही समझता। कुछ आधुनिक विचारको का मत है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत म नारी-वर्ग को दिये गये स्वतन्त्रता एव समानता के मौलिक अधिकार तथा विधवा विवाह आदि प्रथाओ का कार्यशील होना भी जनसख्या की वृद्धि के प्रमुख कारण है।

जनसख्या का घनत्व (Density of Population) —

अर्थ —'किसी क्षेत्रफल मे प्रति वर्गमील निवासित व्यक्तियो की औसत सख्या को ही जनसख्या का घनत्व (Density of Population) कहते हैं।" दूसरे शब्दो मे जनसख्या के घनत्व का तात्पर्य व्यक्तियो की उस सख्या स है जो एक वर्गमील म निवास करती है। जनसख्या के घनत्व ज्ञात करने के लिये

देश की समस्त जनसख्या को वहा के क्षेत्रफल से विभाजित कर देते हैं। इस प्रकार भजनफल के रूप मे जो कुछ ज्ञात हो, वही उस देश मे जनसख्या का घनत्व अथवा प्रतिवर्गमील निवासित व्यक्तियों की सख्या है।

भारत में जनसंख्या का घनत्व (Density of Population in India)—सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर भारत मे जनसख्या का घनत्व ३८४ है। विगत १० वर्ष पूर्व, सन् १९५१ मे देश मे जनसख्या का घनत्व ३१६ था। अन्य औद्योगिक देशो की तुलना मे भारत मे जनसख्या का घनत्व बहुत कम है। जबकि इगलैंड, बेल्जियम, जापान और हालैण्ड मे जनसख्या का घनत्व क्रमश ७५०, ७११, ४८७, तथा ५४४ है, तब भारत मे यह केवल ३८४ ही है। इसके विपरीत अन्य कृषि-प्रधान देशो की तुलना मे हमारे देश मे जनसख्या का घनत्व सर्वाधिक है। जबकि अमेरिका, रूस, आस्ट्रेलिया और कनाडा मे जनसख्या का घनत्व क्रमश ५०, २३, ३ और ३ है, तब भारत मे यह ३८४ है।

जनसंख्या के घनत्व एवं समृद्धि में पारस्परिक सम्बन्ध (Co-relation between Density of Population and Prosperity) —कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि जनसख्या का घनत्व तथा आर्थिक सम्पन्नता परस्पर पूर्णत सम्बद्ध है। जिस देश मे जनसख्या का घनत्व जितना अधिक होगा, वह देश उतना ही अधिक समृद्ध होगा। ये विचारक अपने मत की पुष्टि मे इगलैंड, बेल्जियम, डेनमार्क, जापान आदि देशो के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस मत के विपरीत आधुनिक युग के अर्थशास्त्री, जो जनसख्या आदर्श सिद्धान्त (Optimum Theory of Population) से सहमत हैं, यह मत प्रस्तुत करते हैं कि जनसख्या के घनत्व एव आर्थिक सम्पन्नता के स्तर मे परस्पर कोई सम्बन्ध नही है। इन विचारको के अनुसार जनसख्या के घनत्व को आर्थिक विकास का ठोस मापदण्ड नही स्वीकार किया जा सकता। ये अर्थशास्त्री अपने मत की पुष्टि मे अमेरिका, रूस, आस्ट्रेलिया और कनाडा के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन विद्वानों का कहना है कि यद्यपि इन देशो मे जनसख्या का घनत्व बहुत कम है, तथापि ये पर्याप्त सम्पन्न एव समृद्ध देश है। वस्तुत किसी देश की आर्थिक सम्पन्नता जनसख्या के घनत्व के साथ-साथ जनसख्या की कार्यक्षमता (Efficiency) एव योग्यता (Ability) तथा देश मे उपलब्ध प्राकृतिक साधन (Natural Resources) व पूंजी (Capital) और इन सबके समुचित उपयोग पर आश्रित है। विश्व के कृषि-प्रधान देशो की तुलना मे भारत मे जनसख्या का घनत्व सर्वाधिक है। हमारे देश मे प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्र केवल २ २५ एकड है, जबकि अमेरिका, चीन और रूस मे यह क्रमश १३ एकड, ६ एकड तथा २८ एकड है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व (Density of Population in Different Areas of India) —भारत के सभी क्षेत्रो मे जनसख्या का घनत्व समान नही है। यदि एक ओर कुछ प्रदेशों मे जनसख्या का घनत्व बहुत अधिक है, तब दूसरी ओर कुछ प्रदेशो मे बहुत कम। निम्न तालिका देश के

विभिन्न प्रदेशों में जनसख्या की विभिन्नता की स्पष्ट सूचक है —

सन् १९६१ में भारत के विभिन्न राज्यो में जनसंख्या का घनत्व —

प्रदेश	जनसख्या का घनत्व	प्रदेश	जनसख्या का घनत्व
१. बगाल	१,०३१	९ महाराष्ट्र	३३२
२ बिहार	६९१	१० मध्यप्रदेश	३३८
३. उत्तर प्रदेश	६५०	११ उडीसा	२९२
४. मद्रास	६७१	१२. असम	२५२
५. पजाब	४३१	१३. राजस्थान	१५२
६. बम्बई	—	१४. आन्ध्र प्रदेश	३३३
७. गुजरात	२८६	१५. हैदराबाद	—
८. मैसूर	३१८	१६ देहली	४,६३४
		१७. अण्डमान, निकोबार	२०

जनसख्या के घनत्व को निर्धारित करने वाले तत्व (*Factors* Determining the Density of Population) —जनसख्या के घनत्व को प्रभावित करने वाले मुख्य कारण इस प्रकार है —(i) **जलवायु** —व्यावहारिक रूप मे जिस क्षेत्र की जलवायु शान्तिप्रद, सुखद एव स्वास्थ्यवर्द्धक अर्थात् समशीतोष्ण (Temperate) होती है, उस क्षेत्र मे अधिक व्यक्ति निवास करते हैं। यही कारण है कि हमारे देश मे बगाल, बिहार तथा केरल राज्यो मे जलवायु की अनुकूलता के फलस्वरूप जनसख्या का घनत्व अधिक है और असम की अधिक नम जलवायु मे प्रति वर्ग मील जनसख्या का औसत कम है। (ii) **भूमि का स्वरूप** —पहाडी और पठारी क्षेत्रो मे मैदानो की अपेक्षा जनसख्या का घनत्व कम पाया जाता है। हमारे देश के हिमाचल प्रदेश तथा दक्षिण के पठारी भाग मे, गगा-सिन्ध के मैदान की अपेक्षा जनसख्या के घनत्व मे कमी का मुख्य कारण भूमि का स्वरूप (Configuration of the Soil) ही है। (iii) **भूमि का उर्वरापन** —जिस क्षेत्र की भूमि अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती है वहा जनसख्या का घनत्व भी अधिक ही पाया जाता है। कृषि-प्रधान देशो मे भूमि की उर्वरता एव जनसख्या के घनत्व मे एक दूसरे से अटूट-सम्बन्ध है। चू कि हमारे देश मे उत्तर प्रदेश, बगाल, बिहार, पजाब तथा पश्चिमी और पूर्वी तटो की भूमि, राजस्थान की मरुस्थली भूमि तथा दक्षिण की पथरीली भूमि की अपेक्षा अधिक उपजाऊ है, इसलिये इन क्षेत्रो मे जनसख्या का घनत्व भी अपेक्षाकृत ऊचा है। (iv) **जलवृष्टि** —अच्छी उपज के लिये उर्वर-भूमि अनुकूल जलवायु तथा पर्याप्त जलवृष्टि अत्यन्त आवश्यक है। हमारे देश मे बगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट ऐसे क्षेत्र है जहा वर्षा पर्याप्त एव *अवसरानुकूल होती है। अत इन क्षेत्रो मे अच्छी उपज सम्भव है जिसका प्रत्यक्ष* प्रमाण इन क्षेत्रो मे जनसख्या के घनत्व की अधिकता है। इसके विपरीत राजस्थान

की अबन्ध-व्यापार नीति (Laissez Faire Policy) के कारण भारत की शिल्पकला और कुटीर उद्योग धन्धे नष्ट हो गए और भारतीय जनता के जीवकोपार्जन का एक मात्र सहारा कृषि ही रह गई । सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार उस समय देश की १७ ३% जनसख्या (अर्थात् ६ ९ करोड) नगरो मे निवास करती थी तथा ८२ ७% जनसख्या (अर्थात् २९ ५ करोड) ग्रामो मे निवास करती थी । सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार भारतीय जनसख्या के ग्रामीण एव नागरिक-विभाजन के प्रतिशत मे कोई महान अन्तर नही आया । इस समय भी कुल जनसख्या का १७·८% (अर्थात् ७ ७८ करोड) भाग नगरो मे निवास करता है तथा शेष ८२ २% (अर्थात् ३५ ८९ करोड) भाग ग्रामीण क्षेत्रो मे निवास करता है । पाश्चात्य देशो की तुलना म हमारे देश मे नगरो की सख्या एव नागरिक जनसख्या का अनुपात बहुत कम है। जबकि इगलैड और फ्रास मे वहा की जनसख्या का क्रमश ८०% और ५०% भाग नगरो म निवास करता है तब हमारे देश मे यह प्रतिशत केवल १७ ८ ही है । इससे दो तथ्य स्पष्टत निकलते हैं (i) हमारा देश आर्थिक विकास तथा औद्योगीकरण की दृष्टि से बहुत अविकसित है तथा (ii) भारतीय जनता की निर्भरता कृषि पर अधिक है । विगत ३० वर्षों मे हमारे देश की नागरिक जनसख्या मे कुछ वृद्धि अवश्य हुई है । सन् १९२१ मे देश की जनसख्या का केवल ११ ३% भाग ही नगरो म निवास करता था । द्वितीय महायुद्धकाल मे तथा उसके उत्तरकाल मे नगरो की जनसख्या मे पर्याप्त वृद्धि हुई । इस अवधि मे नगरो मे विभिन्न उद्योगो, सुरक्षा सम्बन्धी विभागो तथा राशनिंग, मार्केटिंग और कट्रोल आदि कुछ अस्थाई सरकारी विभागो की स्थापना के कारण नगरो की जनसख्या मे पर्याप्त वृद्धि हुई । सन् १९४१ से १९५१ तक नगरो की जनसख्या म ३·६% वृद्धि हुई । सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार हमारे देश म १ लाख से अधिक जनसख्या वाले नगरो की सख्या १०३ तथा ५० हजार से १ लाख तक की जनसख्या वाले नगरो की सख्या ९७ है।

नागरीकरण के कारण (Causes of Urbanisation) .—नागरीकरण की इस प्रवृत्ति के मुख्य कारण इस प्रकार हैं :—(i) **आजीविका के साधन** —हमारे देश म नगरो की जनसख्या मे उत्तरोत्तर-वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि यहा पर आजीविका का कोई न कोई साधन उपलब्ध हो ही जाता है । विदेशी शासन की विरोधी नीति के फलस्वरूप देश के कुटीर-उद्योगो का अन्त हो गया तथा एक नया श्रमिक वर्ग उत्पन्न हो गया । दूसरी ओर भूमि पर जनसख्या के अत्यधिक दबाव के कारण भूमि का उप विभाजन (Sub-division) और उप खडन (Fragmentation) होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र मे बेरोजगारी (Unemployment) और अर्ध-रोजगारी (Semi employment) की समस्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती जा रही है । इसके अतिरिक्त, देश की पचवर्षीय योजनाओ के विकास कार्य-क्रम के अन्तर्गत देश के विभिन्न नगरो म नए-नए उद्योग-धन्धे स्थापित किये जा रहे हैं । फलत बेरोजगार ग्रामीण व्यक्ति नगरो मे आजीविका के साधन पाकर नगरो मे

ग्रस्थाई ग्रथवा स्थाई रूप से बसकर नागरिक जनसख्या म वृद्धि लाते है (ii) नागरिक जीवन का ग्राकर्षण —नगरो मे शिक्षा की सुविधाए मनोरजन के साधन, विद्युत एव उसमे चलने वाले रेडियो और पखे तथा सुखी जीवन के ग्रन्य साधन ग्रामीण व्यक्तियो को ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित करते हैं (iii) जमींदारी उन्मूलन का प्रभाव —जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् बहुत से व्यक्ति नगरो मे बस गए हैं। इसी प्रकार महाजनो के घटते हुए लाभ के कारण बहुत से व्यक्तियो ने ग्रपना लेन-देन का व्यवसाय छोडकर शहरो म ग्राकर कोई नया व्यवसाय ग्रपना लिया है । (iv) ग्रन्य सुविधाए —परिवहन एव सचार के साधन, राजकीय नौकरी तथा ग्रन्य प्रकार की व्यक्तिगत नौकरियो एव व्यापार की ग्राशा (Pro pects) केवल नगरो म ही सम्भव है। ये सभी कारक (Factors) सामूहिक रूप से नागरीकरण के लिय उत्तरदाई हैं।

नगरों के प्रभाव —नगरों की बढती हुई जनसख्या के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं :—(i) सामाजिक एव धार्मिक दृष्टि से ग्रन्धविश्वास ग्रौर रूढिवादिता को त्याग कर व्यक्ति प्रगतिशील एव तर्कयुक्त विचारो को ग्रहण कर लेते हैं जिससे सामाजिक, राजनैतिक ग्रौर ग्रार्थिक क्षेत्र म सुधार बडी सरलता से सम्भव हो जाते हैं। (ii) चूकि बहुत से ग्रामीण व्यक्ति नगरो म ग्रकेले ही रहते है तथा मकान ग्रादि ग्रसुविधाग्रो के कारण ग्रपने परिवार को साथ नही रखते, इसलिये इससे पुनर्जनन की दर (Rates of Reproduction) म ह्रास होता है। (iii) नगरो की बढती हुई जनसख्या देश के व्यापार एव उद्योग-धन्धों के विकास की द्योतक है।

नगरों की बढ़ती हुई जनसख्या के मुख्य दोष इस प्रकार हैं —(i) नगरो म ग्रत्यधिक भीड भाड हो जाती है तथा मकानो के ग्रभाव की समस्या उग्र-रूप धारण कर लेती है। (ii) भीड-भाड तथा मकानो की दुर्लभता का प्रत्यक्ष प्रभाव नगर निवासियो के स्वास्थ्य ग्रौर कार्यक्षमता पर पडता है। फलत सक्रामक रोग फैलते हैं ग्रौर जन-स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। (iii) मनोरजन के साधनो का ग्रभाव नगर-निवासियों को दुराचारी ग्रौर दुर्व्यसनी बनाता है। जुग्रा खेलना, शराब पीना, सिगरेट पीना ग्रादि नागरिक जीवन की सामान्य विशेषतायें बन गई हैं। (iv) नागरिक जनसख्या म वृद्धि के साथ-साथ नगरपालिकाग्रो की ग्राय (Income) उनके व्यय (Expendi ure) की ग्रावश्यकता के ग्रनुपात मे नही बढ पाती। फलत. जल-पूर्ति, सफाई तथा नगर-सम्बन्धी सुविधाग्रो मे ग्रव्यवस्था ग्रौर ग्रत्यधिक कमी उत्पन्न हो जाती है जिससे नगर का कोलाहलमय एव धूंग्राधार जीवन ग्रौर ग्रधिक दूषित हो जाता है। (v) ग्रधिकाश श्रमिक जो गावा का छोडकर नगरो मे केवल जीविको-पार्जन के उद्देश्य से ही ग्राते हैं, ग्रनेक ग्रसुविधाग्रो के कारण ग्रपने परिवारों को ग्रपने साथ नगरों मे नही लाते। इसका उनके चरित्र, स्वास्थ्य, कार्यक्षमता ग्रौर मानसिक सतुलन पर ग्रस्वस्थकर प्रभाव पडता है।

भारत में स्त्री-पुरुष ग्रनुपात (Sex Ratio in India) —ग्रार्थिक दृष्टि से भारतीय जनसख्या मे स्त्री-पुरुष का ग्रनुपात एक महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि "उत्पादन के क्षेत्र मे भारत की उच्च एव मध्य वर्गीय स्त्रिया कोई सक्रिय भाग नहीं लेती हैं।"

नेती तथा राष्ट्रीय-उत्पादन में केवल निम्न वर्गीय-स्त्रिया ही योगदान करती हैं। सामान्य रूप से हमारे देश में पुरुषों की सख्या स्त्रियों की सख्या से अधिक है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में प्रति १,००० व्यक्तियों के पीछे ९४७ स्त्रिया थी। अर्थात् कुल जनसख्या में से १८'३३ करोड पुरुष और १७ ३५ करोड स्त्रिया थी। सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर यह विदित है कि विगत दशाब्दी में मनुष्यों के साथ स्त्रियों के अनुपात में और कमी हो गई है। सन् १९६१ में प्रति १,००० पुरुषों के पीछे केवल ९४० स्त्रिया थी। विगत कुछ वर्षों में भारत के नगरों में स्त्रियों के अनुपात में वृद्धि हुई है। जबकि सन् १९२१ में भारत के नगरों में प्रति १,००० पुरुषों के पीछे केवल ८४७ स्त्रिया थी, सन् १९३१, १९४१, १९५१ और १९६१ में यह सख्या बढकर क्रमश ८३९, ८३०, ९४० और ९४० हो गई। देश के विभिन्न प्रदेशों में स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात समान नहीं है। यदि कुछ राज्यों में स्त्रियों की सख्या पुरुषों से अधिक है, तब दूसरे राज्यों में पुरुषों की सख्या स्त्रियों से अधिक है। कच्छ, मनीपुर, उडीसा और केरल राज्यों में प्रति १,००० व्यक्तियों के पीछे स्त्रियों की सख्या क्रमश १,०७९, १,०३६, १,०४० तथा १,००८ है। इसके विपरीत अन्य राज्यों में स्त्रियों की सख्या पुरुषों की सख्या से बहुत कम है। आसम, पजाब और पश्चिमी बगाल में प्रति १००० पुरुषों के पीछे केवल ९०० से भी कम स्त्रिया हैं। निकोबार और देहली में प्रति १,००० पुरुषों के पीछे केवल ७८९ स्त्रिया ही हैं।

स्त्रियों और पुरुषों के अनुपात की दृष्टि से अन्य देशों की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अन्य देशों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की सख्या अधिक है। हमारे देश में स्त्री-पुरुष के अनुपात में महान अन्तर का मुख्य कारण यह है कि यहा स्त्री-पुरुष न तो समान सख्या में जन्म ही लेते है और न समान सख्या में मरते ही है। विगत-वर्षीय आकडों से स्पष्ट है कि हमारे देश में १० वर्ष की आयु तक बालिकाओं की अपेक्षा बालकों की अधिक मृत्यु होती है। स्त्रियों की सबसे अधिक मृत्यु उनकी प्रसवकालीन अवधि (१५ वर्ष से ४५ वर्ष तक) में होती है। अनुमानत भारत में प्रसूतकालीन अवधि में प्रति १०० स्त्रियों में से २० स्त्रिया मृत्यु को प्राप्त होती है, जबकि इगलैंड में इस अवस्था में प्रति १,००० स्त्रियों में २ ६ स्त्रिया ही मृत्यु का ग्रास बनती है। चू कि पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतीय समाज में नारी वर्ग की स्थिति (Status) पुरुषों के समान नहीं है तथा बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा आदि ऐसी दोषपूर्ण सामाजिक प्रथाए प्रचलित है, जिनके फलस्वरूप स्त्रियों की मृत्यु अधिक होती है। निर्धनता तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव आदि अन्यान्य कारण स्त्रियों की मृत्यु-दर को बढाने में और अधिक योगदान करते हैं। वस्तुत हमारे समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की ऊची मृत्यु-दर का कारण आर्थिक (Economic) के साथ-साथ सामाजिक (Social) अधिक है। हमारे समाज में नारी-वर्ग के साथ पक्षपातपूर्ण प्रवृत्ति (Prejudice Feeling) ही स्त्रियों की ऊची मृत्यु-दर के लिये अधिक उत्तरदाई है।

भारतीय जनसंख्या का गुण (Quality of Indian Population) — किसी देश की श्रम-शक्ति केवल जनसंख्या (Population) की संख्या (Quantity) से ही प्रभावित नहीं होती वरन् उस पर जनसंख्या के गुण (Quality) का अधिक प्रभाव पड़ता है। चीन को छोड़कर अन्य देशों की तुलना में संख्यात्मक दृष्टि से, भारतीय जनसंख्या सबसे अधिक है, परन्तु गुणात्मक दृष्टि से भारत की जनसंख्या सर्वथा पिछड़ी हुई है। हमारे देश की जनसंख्या की गुणहीनता के कुछ कारण (Causes) और प्रमाण (Examples) इस प्रकार हैं —(i) अन्य देशों की तुलना में भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता (Efficiency) बहुत कम है। औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) के समक्ष सर एलेक्जेन्डर मैक रोबर्ट (Sir Alexander Mac Robert) ने यह स्वीकार किया था कि भारतीय श्रमिक की तुलना में यूरोपीय श्रमिक ३½ गुना अधिक कार्यकुशल है। सर क्लीमेंट सिम्पसन (Sir Clement Simpson) का मत था कि भारतीय श्रमिक की अपेक्षा लंकाशायर के श्रमिक की कार्यकुशलता लगभग २ ६७ गुनी अधिक है। (ii) देश में उपभोग का स्तर (Standard of Consumption) अत्यन्त निम्न है। हमारे देश में खाद्यान्नों (Food grains) की प्रति व्यक्ति औसत दैनिक उपलब्धि १६ औंस तथा कपड़े की प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक खपत १५ ५ गज है। स्पष्टतः भारत में उपभोग का स्तर बहुत नीचा है। डाक्टर राधा कमल मुकर्जी (Dr Radha Kamal Mukerjee) तथा प्रो० वाल्टन (Prof Valton) आदि विद्वानों के यह अनुमानानुसार भारत में १२% जनसंख्या के लिये खाद्यान्न का अभाव है। (iii) देश में शिक्षा और मनोरंजन की सुविधायें अपर्याप्त हैं। कुल जनसंख्या का केवल २३ ७% भाग ही शिक्षित है। (iv) स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं की दृष्टि से भारतीय जनता की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। देश में ६,३०० नागरिकों के पीछे एक डाक्टर, ४३,००० व्यक्तियों के पीछे एक नर्स तथा ६०,००० स्त्रियों के पीछे एक दाई है। (v) देश के विभाजन के पश्चात् शरणार्थियों के आने के अतिरिक्त भारतीय नगरों की जनसंख्या में ६६% और वृद्धि हुई है, परन्तु मकानों में २०% से भी कम वृद्धि हो सकी है। फलतः शहरों में मकानों का सर्वथा अभाव है। औद्योगिक केन्द्रों में अधिकांश श्रमिक गन्दी बस्तियों (Slums) में निवास करते हैं। ये बस्तियाँ मानवीय निवास के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं। (vi) हमारे देश की ८२·१६% जनसंख्या गाँवों में रहती है। नगरों में से केवल ६% में ही जल-पूर्ति की सुविधायें प्राप्त हैं। नगरों की अस्वच्छता एवं मकानों के अभाव के कारण संक्रामक रोग तीव्र गति से फैलते हैं। एक अनुमान के अनुसार केवल मलेरिया से ही भारत में प्रतिवर्ष १० लाख व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अतः स्पष्ट है कि गुणात्मक दृष्टि से भारतीय जनसंख्या की स्थिति अच्छी नहीं है।

जनसंख्या का व्यवसायिक वितरण (Occupational Distribution of Indian Population) किसी देश में जनसंख्या का व्यवसायिक वितरण आर्थिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होता है तथा यह देश की अर्थ-व्यवस्था के वास्तविक

क्रमश ४५ ६% तथा ५५.५% भाग लगा हुआ है, तब हमारे देश मे इन व्यवसायो पर आश्रित जनसख्या का प्रतिशत केवल १६ है। अत उद्योग और व्यापार के क्षेत्र मे हमारा देश अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। (iii) भारतीय अर्थ व्यवस्था असतुलित है —हमारे देश मे व्यवसायिक प्रगति एकपक्षीय एव एकागी (One Sided) रही है अभी तक उद्योग-धन्धो के विकास को पर्याप्त क्षेत्र नही दिया गया है। कृषि पर अत्यधिक दबाव होने के कारण खेतो के उप विभाजन (Sub division) और उप खण्डन (Fragmentation) की समस्याओ को प्रोत्साहन मिला है। फलत कृषि का आधुनिकीकरण (Rationalization) नही किया जा सका है और न ही इसमे किसी प्रकार का सुधार अथवा विकास सम्भव है। (iv) च कि भारत मे अर्थ-व्यवस्था का सतुलित विकास नही हुआ है, इसीलिये देश मे प्रति व्यक्ति औसत आय बहुत कम है। सन १९६०–६१ के मूल्यो के आधार पर हमारे देश मे प्रति व्यक्ति आय सन १९६०–६१ मे ३३० रु० थी, जबकि सन् १९५७ मे अमेरिका, कनाडा आस्ट्रेलिया और इगलैंड में प्रति व्यक्ति आय का अनुमान क्रमश ६ ६८० रु०, ७०३५ रु०, ५ १७७ रु० तथा ४५२० रु० था। (v) हमारे देश के कृषि-व्यवसाय मे जनसख्या के एक वृहत भाग का लगा होना इस तथ्य का सूचक है कि देश की अधिकाश जनता ग्रामो मे रहती है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार भारतीय जनसख्या का लगभग ८२ २% भाग छोटे छोटे गावो मे रहता है। अत स्पष्ट है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था असतुलित एव अविकसित है।

भारत मे जनसख्या के दोषपूर्ण व्यवसायिक वितरण को ठीक करने के लिए भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न सुझाव दिए हैं। प्रो० वाडिया और मर्चेन्ट ने अपनी पुस्तक 'Our Economic Problem" मे यह सुझाव रक्खा है कि जनसख्या के दोषपूर्ण व्यवसायिक वितरण को ठीक करने के लिए लघुस्तरीय, मध्यमस्तरीय एव कुटीर उद्योगो का विकास किया जाना चाहिए। चूकि विशालस्तरीय उद्योग पूजी-गहन (Capital Intensive) होते हैं—श्रम गहन (Labour Intensive) नही इसलिये भारत मे विशाल श्रम शक्ति को काम देने के लिए विशालस्तरीय उद्योगो का विकास करना उपयुक्त नही है। अत देश को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिये हमे विकेन्द्रित पद्धति (Decentralized System) पर आधारित आधुनिक ढग पर चलाए जाने वाले छोटे पैमाने के उद्योगो का ही विकास करना चाहिये। इस मत के विपरीत डा० वी० के० आर० वी० राव० (Dr V K R V Rao) का कथन है कि भारत की कृषि-जनसख्या को गैर-कृषि व्यवसायो मे भेजना न केवल अव्यावहारिक है वरन् अनुपयुक्त भी है। अत भविष्य मे व्यवसायिक वितरण को ठीक करने के लिये कृषि ही मे रोजगार के साधन अधिक जुटाए जाने चाहियें। इस प्रकार डा० राव के मतानुसार भूमीतों पर प्रति एकड़ अधिक श्रम, खाद, पानी आदि देकर गहन खेती (Intensive Cultivation) द्वारा तथा पशु पालन, मछली-पालन, बागबानी, रेशम के कीड़े पालना, मधुमक्खी-पालन और मुर्गी पालन आदि मे वृद्धि करके कृषि मे अधिक

रोजगार की सम्भावना की जा सकती है जो देश के भावी आर्थिक विकास की योजना के लिए एक चुनौतीस्वरूप होगा।

भारत में स्त्री व बाल मृत्यु-दर (Female and Infantile Mortality Rates in India)—अन्य प्रगतिशील देशों की अपेक्षा हमारे देश में स्त्री-मृत्यु दर तथा बाल मृत्यु दर सबसे अधिक है। यद्यपि हमारे देश मे औसतन मृत्यु-दर १५ १ है, तथापि इसमे सर्वाधिक भाग स्त्री व बच्चों का है। सरकारी आकड़ों के आधार पर भारत मे प्रति १,००० बच्चो मे से ११५ बच्चे जन्म के तुरन्त पश्चात् ही मर जाते हैं तथा जितने बच्चे जन्म लेते हैं, उनमे से २०% बच्चे एक वर्ष की आयु के अन्तर्गत ही मर जाते हैं। सन् १९११ से सन् १९१५ तक की अवधि मे हमारे देश मे बाल-मृत्यु दर का औसत २०४ प्रति हजार था। उस समय से लेकर आज तक इस दर में शनैः शनैः ह्रास होता जा रहा है। सन् १९५० मे भारत मे बाल-मृत्यु दर १२७ थी, जबकि उसी समय इगलैंड मे यह दर ३० के लगभग थी। सन १९५७ मे हमारे देश मे बाल-मृत्यु दर का अनुमान ९८ था। बाल-मृत्यु दर के अतिरिक्त हमारे देश मे स्त्री-मृत्यु दर भी अपेक्षाकृत अधिक है। जबकि इगलैंड मे स्त्री-मृत्यु दर २९ है, तब हमारे देश मे यह दर २० के लगभग है। हमारे देश मे यद्यपि १० वर्ष की आयु तक बालको की मृत्यु-दर बालिकाओं की मृत्यु-दर की तुलना मे अधिक ऊची है, परन्तु १५ वर्ष से ४५ वर्ष तक की आयु समूह मे सबसे अधिक स्त्रियों की मृत्यु होती है क्योंकि इसी अवस्था मे स्त्रिया बच्चो को जन्म देती हैं। सरकारी आकड़ो के अनुसार भारत मे प्रति १,००० मे से २० स्त्रिया प्रसूति अवस्था मे मृत्यु को प्राप्त होती हैं।

भारत में स्त्रियों की मृत्यु दर ऊंची होने के कारण—हमारे देश मे स्त्रियो की ऊची मृत्यु-दर के मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(i) बाल विवाह—हमारे समाज मे प्रचलित बाल-विवाह की भयकर प्रथा के फलस्वरूप लडकियो का विवाह थोडी आयु मे अर्थात अपरिपक्व अवस्था मे कर दिया जाता है। इस अपरिपक्व अवस्था मे प्रजनन का भार वहन करने की शक्ति न होने के कारण अधिकाश स्त्रिया प्रसूतिकाल मे ही मर जाती हैं। इस सम्बन्ध मे एक उक्ति भी है कि 'शिशु पत्नी अपने पति की सेज से सीधी श्मशान पहुच जाती है।' (Child-wives march from the nuptial bed to funeral pyre) (ii) शीघ्र व अधिक सन्तान—भारतीय समाज मे अशिक्षित एवं अन्धविश्वासी दम्पति, भाग्यवाद मे भरोसा रखने के कारण, अधिक सन्तानोत्पादन के भार से पथ-विचलित होने का साहस ही नहीं करते वरन् प्रेम-लोलुपता और अधिक सन्तान की लालसा मे फसकर अधिकाधिक सख्या मे बच्चों को जन्म देने का प्रयास करते हैं। अत शीघ्र एव अधिक सन्तान होने के फलस्वरूप स्त्रियों का स्वास्थ्य शीघ्र ही पतनावस्था को प्राप्त होकर मृत्यु का आह्वान करता है। (iii) पर्दा-प्रथा—हमारे समाज मे प्रचलित पर्दा प्रथा का स्त्रियो के स्वास्थ्य पर अत्यन्त बुरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रथा के कारण स्त्रिया केवल घरो की चहार-दीवारी से बाहर नहीं जा सकती। अत स्त्रियो को तर्पदिक आदि

की बीमारी बहुत हो जाती है। (iv) **विश्राम एवं पौष्टिक आहार का न मिल सकना** —हमारे देश मे स तानोत्पत्ति से पूर्व एव उपरान्त की अवस्था मे अधिकाश स्त्रियो को उचित विश्राम और पर्याप्त पौष्टिक आहार नही मिल पाता जिसके फलस्वरूप स्त्रिया अशक्त एव अस्वस्थ होकर मृत्यु को प्राप्त होती हैं। (v) **प्रसवकालीन सहायता का अभाव** —भारत मे प्रसूति-गृहो, कुशल लेडी डाक्टरो, कुशल व अनुभवी दाइयो तथा चिकित्सालयो का सर्वथा अभाव है। अत प्रसवकाल मे स्त्रियो को उचित सहायता नही मिल पाती। फलत प्रसवकालीन असावधानी के कारण स्त्रिया शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होती हैं। (vi) **निर्धनता** —वस्तुत हमारे देश मे स्त्रियो की ऊची मृत्यु दर (High Female Mortality Rate) का मूल कारण देशवासियो की निर्धनता है। (अ) निर्धनता के ही कारण भारतवासी अशिक्षित एव अन्धविश्वासी है। अत वे परिवार नियोजन आदि को कोई महत्व न देकर अधिक सन्तानोत्पादन मे सलग्न है। (आ) च कि निर्धन व्यक्तियो के पास मनोरजन एव सुख सुविधा का कोई साधन नही होता, इसलिये वे कामतृप्ति द्वारा ही इस अभाव की पूर्ति करते है जिसका परिणाम सन्तानोत्पादन होता है। (इ) निर्धन व्यक्ति प्रसवकाल से पूर्व एव बाद मे स्त्रियो को उचित विश्राम तथा पौष्टिक आहार देने मे असमर्थ रहते हैं तथा (ई) निर्धन व्यक्ति अपनी स्त्रियों के लिये चिकित्सा का प्रबन्ध नही कर पाते। इस प्रकार भारत मे स्त्रियो की ऊची मृत्यु दर का प्रमुख कारण निर्धनता ही है। (vii) **सामाजिक पक्षपात** —हमारे समाज म जन्म से ही बालक और बालिकाओ के लालन पालन, शिक्षा-दीक्षा आदि मे पक्षपात देखने को मिलता है। विवाहोपरान्त भी सयुक्त परिवार के अन्तर्गत स्त्रियो को कठोर अनुशासन तथा उपेक्षित अवस्था मे जीवन व्यतीत करना पडता है। सामाजिक पक्षपात का प्रत्यक्ष प्रभाव स्त्रियों के स्वास्थ्य एव चरित्र पर पडता है जिसके फलस्वरूप स्त्रियो की मृत्यु पुरुषो की अपेक्षा अधिक होती है।

भारत मे बाल मृत्यु दर ऊची होने के कारण —हमारे देश मे ऊची बालमृत्यु दर (High Infantile Mortality) के मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(i) **बाल विवाह एव पर्दा-प्रथा** —हमारे देश मे लडके और लडकियो का विवाह थोडी आयु म ही कर दिया जाता है। सन् १६६१ की जनगणना के अनुसार भारत मे ६ ४६ करोड अविवाहित स्त्रियो मे १४ वर्ष तक की आयु की लडकियो की सख्या ५ ६३ करोड है, १५ वर्ष से २४ वर्ष तक की अविवाहिताओ की सख्या केवल ५२ लाख है तथा २४ वर्ष से अधिक आयु की अविवाहित स्त्रियो की सख्या बहुत न्यून है। अत स्पष्ट है कि हमारे देश म अधिकाश लडकियों का विवाह बालअवस्था में ही कर दिया जाता है। अपरिपक्व अवस्था म उत्पन्न होने वाला शिशु भी दुर्बल होता है। इसी प्रकार पर्दा प्रथा के कारण स्त्रियो का स्वास्थ्य ठीक नही रहता और उन्ह अनेक बीमारिया घेरे रहती हैं। फलत उनकी सतान भी निर्बल होती हैं जो शीघ्र ही काल का ग्रास बनती है। (ii) **माताओं की अज्ञानता एव अशिक्षा** —अशिक्षा एव अज्ञानता के कारण भारतीय स्त्रिया बच्चो का लालन-पालन उचित ढग

(अ) सरकार को बाल-विवाह निषेध अधिनियम को कठोरता से लागू करना चाहिये। (आ) सरकार को शिक्षा और चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं की नि शुल्क व्यवस्था करनी चाहिये। (इ) भारत के औद्योगिक नगरो मे मकानो की अव्यवस्था, नगरो का नीरस, धूम्राधार एव कोलाहलपूर्ण जीवन, स्त्रियो का फैक्ट्रियो मे काम करना तथा चिकित्सा और मनोरजन की असुविधाओं के कारण बाल मृत्यु-दर और स्त्री मृत्यु दर सबसे अधिक है। अत सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह आवश्यक अनिधियम पास करके उद्योगपतियो को श्रमिकों की उचित-चिकित्सा, दुर्घटना होने पर आवश्यक क्षतिपूर्ति तथा उचित मजदूरी देने को बाध्य करे। इसके अतिरिक्त सरकार को स्वय भी औद्योगिक-केन्द्रो मे शिक्षा, चिकित्सा, निवास तथा मनोरजन आदि की नि शुल्क सुविधायें उपलब्ध करनी चाहियें। (v) **जन्म दर पर नियन्त्रण** — बाल मृत्यु दर एव स्त्री मृत्यु-दर को घटाने के साथ-साथ जनाधिक्य की समस्या जन्म लेती है। यदि जन्म-दर को न घटाया जाये, तब मृत्यु-दर को घटाने का अर्थ स्पष्टत जनसख्या को और अधिक बढाना होता है। इस प्रकार यदि हम ५०% बच्चो को भी प्रतिवर्ष मरने से बचा लें, तब इसका स्पष्ट प्रभाव यह होगा कि प्रतिवर्ष ५० लाख व्यक्तियो की जगह जनसख्या मे १ करोड की वृद्धि होगी। अत मृत्यु-दर को कम करने की किसी योजना के साथ साथ जन्म दर को कम करने की योजना का भी अत्यधिक महत्व है। (vi) **जनता के रहन सहन को ऊपर उठाना** —बाल व स्त्री मृत्यु दर को कम करने के लिये यह नितात आवश्यक है कि भारतीय जनता के जीवन-स्तर को ऊचा उठाया जाय, क्योंकि उस स्थिति मे भारतीय-दम्पति अधिक सतान पाने की लालसा मे अपने स्तर को नीचे गिराने पर स्वप्न मे भी ध्यान नही देंगे।

भारत में जनाधिक्य की समस्या

(Problem of Over-population in India)

प्राक्कथन —वस्तुत किसी देश मे जनसख्या की उत्तरोत्तर-वृद्धि का प्रभाव न केवल मनुष्य और उसके परिवार के सीमित-क्षेत्र पर ही पडता है वरन् यह समस्त विश्व की भौतिक एव सामाजिक प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करके अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के लिये भी हानिकारक सिद्ध होता है। अत अर्थशास्त्रियों के सामने यह प्रश्न सदा उपस्थित रहता है कि क्या भारत मे जनाधिक्य है? इस सम्बन्ध मे दो विचारधारायें प्रचलित हैं — (अ) निराशावादी विचारधारा (Alarmistic View) तथा (आ) यथार्थवादी विचारधारा (Realistic View)।

(अ) **निराशावादी विचारधारा** (Alarmistic View Point):—निराशावादी विचारकों का मत है कि भारत मे जनाधिक्य है तथा देश मे माल्थस का जनसख्या सिद्धान्त (Malthus, Theory of Population) पूर्णत लागू होता है। अत इन विचारको के अनुसार, यदि भारत की बढती हुई जनसख्या को नियंत्रित न किया गया, तो देश मे माल्थस के सिद्धान्तानुसार महामारी, अकाल और युद्ध होगे तथा जनसख्या कम हो जाएगी। इन विचारकों के अनुसार भारत म

माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त पूर्ण रूप से इस प्रकार लागू होता है —

(१) माल्थस का मत है कि, 'यदि कोई रुकावट नहीं हो, तब किसी देश की जनसंख्या, वहाँ पर उत्पन्न खाद्य-पदार्थों की तुलना मे, बहुत शीघ्र व तीव्र गति से बढ़ती है।' निराशावादी विचारकों का मत है कि भारत में भी खाद्य-सामग्री की अपेक्षा जनसंख्या की वृद्धि की दर अत्यन्त तीव्र है —(क) सन् १६३८ मे डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr Radha Kamal Mukerjee) और प्रो० वाल्टन (Prof Valton) ने *यह अनुमान लगाया कि भारत मे लगभग १२% जनसंख्या के लिये खाद्यान्न का अभाव है*। (ख) जनगणना कमिश्नर श्री गोपालास्वामी का यह मत है कि हमारी जनसंख्या जिस द्रुत गति से बढ़ रही है, यदि इसी गति से बढ़ती रही तब सन् *१६७१ तक यह ५० करोड से भी अधिक हो जाएगी। अब उस समय जनसंख्या* की खाद्यान्न की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन बढ़ाने के लिये हमारे समस्त प्रयत्न विफल रह जायेंगे। (ग) विलियम वोग (William Vogt) ने अपनी पुस्तक "Road To Survival' में यह उल्लेख किया है कि, "अंग्रेजी सरकार ने भारत में शान्ति और सुरक्षा स्थापित की, अकालों को नियन्त्रित किया तथा साफ-सुथरा रहना सिखाया, परन्तु भारतवासी बड़ी लापरवाही से सन्तानोत्पत्ति करते रहे।" (घ) ब्रिटिश सरकार की विचारधारा भी यही थी कि भारत में निर्धनता का मूल कारण जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि ही है। (ङ) डा० चन्द्रशेखर (Dr Chandra Shekhar) ने *निराशावादी विचार की पुष्टि इन शब्दों में की है, "स्त्री सम्भोग ही भारत का एक राष्ट्रीय खेल है।"* (Sexplay is the only National Sport in India)। (च) एक अनुमान के अनुसार विगत पचास वर्षों में भारत की जनसंख्या ४०% से भी अधिक बढ़ी है परन्तु जीवन-निर्वाह के साधनों मे इस दर से वृद्धि नहीं हुई। भारतीय जनसंख्या का एक वृहत् भाग कृषि पर आश्रित है तथा *बड़े स्तर के उद्योगों म जनसंख्या का कुल १% भाग लगा हुआ है*। (छ) हमारे देश में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न एवं वस्त्र की उपलब्धि बहुत कम है। योजना आयोग (Planning Commission) के मतानुसार सन् १६६०-६१ में भारत में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की औसत दैनिक उपलब्धि १६ औंस तथा प्रति व्यक्ति वस्त्र की औसत वार्षिक खपत १५ ५ गज थी। अत स्पष्ट है कि भारतवासी अपने जीवन मे पर्याप्त मात्रा में भोजन और वस्त्र भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। इसका मूल कारण जनाधिक्य ही है। (ज) अन्य देशों की तुलना में भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय बहुत कम है। सन् १६६०-६१ के मूल्यों के आधार पर हमारे देश में सन् १६६०-६१ मे प्रति *व्यक्ति औसत आय ३३० रु० थी, जबकि सन् १६५७ में अमेरिका, कनाडा, और* इगलैंड में प्रति व्यक्ति औसत आय क्रमश ६,६८० रु० ७,०३५ रु० तथा ४,५२० थी। (झ) डा० ज्ञानचन्द (Dr. Gyan Chand) ने यह सिद्ध किया है कि वर्तमान शताब्दी में भारतीय जनसंख्या जिस तीव्र गति से बढ़ी है, कृषि-भूमि का क्षेत्रफल उसकी तुलना में बहुत कम बढ़ा है जिसके फलस्वरूप देश में खाद्य-समस्या उत्पन्न हो गई है। (ञ) *'श्री अशोक मेहता खाद्यान्न जाँच समिति'* (Sri Asksoh

Mehta's Foodgrains Enquiry Committee) ने अपनी रिपोर्ट मे कहा था कि अभी पर्याप्त लम्बे समय तक भारत मे खाद्यान्न की पूर्ति सीमान्त (Marginal) ही रहेगी और भारत को खाद्यान के विदेशी आयात पर निर्भर रहना पड़ेगा। (ट) मई सन् १६६० मे पी० एल० ४८० के अन्तर्गत भारत ने अमेरिका से जो समझौता किया है, उसके अनुसार भारत अमेरिका से लगभग ६०८ करोड रु० के मूल्य का १७ मिलियन टन खाद्यान्न तीसरी पचवर्षीय योजना की अवधि मे आयात करेगा। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत मे जनसख्या की आवश्यकता की अपेक्षा खाद्यान्न की पूर्ति कम है और यह स्थिति भावी वर्षों मे भी चलती रहेगी।

(२) **प्रतिबंधक अवरोधो का अभाव** (Absence of Preventive Checks) :—माल्थस ने जनसख्या की वृद्धि को रोकने के दो साधन बताए हैं—नैसर्गिक रोक (Natural Checks) और प्रतिबधक रोक (Preventive Checks)। माल्थस का कहना कि यदि मनुष्य प्रतिबन्धक अवरोधों का सहारा नहीं लेता, तब प्रकृति की ओर से अकाल, महामारी, बाढ और युद्ध अर्थात् नैसर्गिक रोक द्वारा जनसख्या की वृद्धि को अवरूद्ध किया जाता है। अत माल्थस ने यह सुझाव दिया है कि प्रकृति के प्रकोप से बचने के लिए मानव-जाति को आत्म-संयम (Self-Restraint) द्वारा जन्म-दर पर नियन्त्रण करके जनसख्या की वृद्धि को रोकना चाहिये। भारतीय जनसख्या के सम्बन्ध में निराशावादी विचारको का मत है कि इस देश मे प्रतिबन्धक अवरोधो को कोई महत्व नही दिया जाता। भारत मे "विवाह" एक अनिवार्य सामाजिक और धार्मिक कृत्य है तथा विवाह के उपरान्त पुत्र-प्राप्ति पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए नितान्त आवश्यक प्रेरणा (Incentive) बन गई है। इस देश मे लडके और लडकियो का विवाह अपरिपक्व अवस्था मे ही कर दिया जाता है जिसके पश्चात् उनके सतान भी शीघ्रतम उत्पन्न होने लगती है। "आत्म-सयम" का विचार यद्यपि समस्या के समाधान का एक मार्ग प्रस्तुत करता है, तथापि साधारण एव सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से यह विचार अधिक ऊंचा और अव्यावहारिक ही है। यही नही, हमारे समाज मे वन्ध्या (Sterile) स्त्रियों को कुत्सित-दृष्टि से देखा जाता है। विधवा स्त्रियो के पुनर्विवाह के पश्चात् जन्म दर और शीघ्रता से बढ जाती है। नव-माल्थस वादियो (Neo Malthusians) द्वारा प्रचारित गर्भरोधको (Birth Controls), गर्भस्रावो (Abortions) अथवा स्वेच्छिक वन्ध्याकरण (Voluntary Sterilisation) आदि प्रतिबधक अवरोधो को भी भारत मे नही अपनाया जाता।

(३) **भारत में नैसर्गिक अवरोधों की उपस्थिति** —माल्थस का मत था कि यदि जनसख्या की वृद्धि को रोकने के लिये मनुष्य ने प्रतिबन्धक अवरोधों का सहारा नहीं लिया, तब इसे रोकने के लिये नैसर्गिक अवरोध (Natural Checks) उपस्थित होने हैं। निराशावादी विचारको का मत है कि भारत मे समय-समय पर नैसर्गिक अवरोध क्रियान्वित होते रहे हैं। बाढ, अकाल और महामारी भारत की जनसख्या को समय-समय पर बढने से रोकते है। एक अनुमान

के अनुसार हमारे देश मे प्रतिवर्ष लगभग १० लाख व्यक्ति अकेले मलेरिया से मर जाते हैं। यद्यपि सन् १९४३ के बगाल के अकाल के पश्चात् भारत मे कोई भीषण अकाल नही पडा, तथापि खाद्यान्न के अभाव ने हमारे सम्मुख हर समय अकाल की दूसरी स्थिति उत्पन्न कर दी है। देश की कुल कृषि-योग्य भूमि मे से ७६% क्षेत्र पर खाद्यान्न की फसल बोई जाती हैं। तथापि प्रतिवर्ष लाखो टन खाद्यान्न विदेशो से आयात करना पडता है जबकि २० वी शताब्दी के प्रारम्भिक २० वर्षों तक भारत खाद्यान्न का शुद्ध निर्यातकर्ता देश था।

(४) ऊची मृत्यु-दर.—निराशावादियो का मत है कि भारत मे मनुष्यो को रोगो का सामना करने की शक्ति बहुत कम है। अत वे शीघ्र ही बीमारी का शिकार बनकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यद्यपि आर्थिक नियोजन की सफलताओ के फलस्वरूप हमारे देशवासियो की मृत्यु दर मे कमी आई है तथा उनकी औसत आयु मे वृद्धि हुई है, तथापि अन्य देशो की अपेक्षा मृत्यु-दर अधिक (High Death Rate) है। इस समय भारत मे जन्म-दर २६ ६ और मृत्यु-दर १५ १ है। अत. ऊची मृत्यु-दर होने के फलस्वरूप भी भारत मे प्राकृतिक-वृद्धि की दर १० ५ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत एक अतिवासित देश है।

(आ) यथार्थवादी विचार धारा (Realistic View Point) —यथार्थवादी दृष्टिकोण जनसख्या के आदर्श अथवा अनुकूलतम सिद्धान्त (Theory of Optimum Population) से सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त के अनुसार आदर्श जनसख्या वह है जो किसी समय पर देश मे औद्योगिक-ज्ञान (Industrial Technique) व पूजी की राशि होते हुये, वहा के प्राकृतिक (Natural) साधनों (Resources) का सर्वोतम ढग से शोषण कर सके जिससे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिकतम (Maximum) हो। प्रो० कैनन (Prof Cannon) के शब्दों मे, "किसी निर्दिष्ट समय मे, किसी देश मे एक अधिकतम उत्पादन (Maximum Production) का बिन्दु होता है, जहा पहुचने पर जनसख्या का परिस्थिति से ऐसा मेल बैठता है कि जनसख्या के अधिक या कम होने से उत्पादन अनुपात मे घटता है। यदि समस्त उद्योग को इस बिन्दु तक लाने के लिये जनसख्या अपर्याप्त है जिससे उत्पादन जितना होना चाहिये उससे कम होगा, तब इसका उपाय जनसख्या मे वृद्धि करना है। इसके विपरीत यदि जनसख्या इतनी अधिक है कि उक्त बिन्दु पार हो गया है, जिससे फिर उत्पादन जितना होना चाहिये उससे कम है, तब इसका उपाय जनसख्या मे कमी करना है।" यथार्थवादी विचारधारा के अनुयाइयो के मतानुसार भारत मे जनाधिक्य की समस्या नही है। भारत मे प्राकृतिक साधनो की इतनी प्रचुरता है तथा उत्पादन मे वृद्धि की इतनी अधिक सम्भावना है कि यदि देश के प्राकृतिक साधनों का उचित रूप से शोषण किया जाए, तब जनाधिक्य की कोई समस्या नही रह जाएगी। आशावादी विचारक प्रो० जोस्यू-डी-कैस्ट्रा (Josue-de Castra) के शब्दों मे, 'ससार के जीवन के प्रशस्तीकरण का मार्ग नव-माल्थसवादियों (Neo-Malthusians) के नुसखों (Prescriptions) मे नहीं

हैं, जिनमे अतिरिक्त व्यक्तियों को मिटा दिया जाता है और न ही सतति-निग्रह (Brith Control) मे ही है वरन् भूमि पर प्रत्येक को उत्पादक बनाने के प्रयत्न मे है। विश्व मे अत्यधिक मनुष्यो की उपस्थिति से भूख व कष्ट उत्पन्न नहीं होते वरन् कम उत्पादन और अधिक खाने वालो के होने से ये समस्याएं सामने आती हैं।'' प्रो० कॉलिन क्लार्क (Colin Clark) ने एक प्रतिवादी दृष्टिकोण इन शब्दों मे प्रस्तुत किया है —''किसी भी राजनैतिक नेता को चाहे वह कितना ही निरकुश क्यों न हो, किसी भी अर्थशास्त्री को चाहे वह कितना ही विद्वान क्यों न हो, बच्चों के जन्म मे हस्तक्षेप करने का अल्प अधिकार भी नहीं है। इतना ही नहीं वरन् यह अधिकार इसके विपरीत है, माता-पिताओं को यह अधिकार है कि वे प्रधान-मन्त्रियों और अर्थशास्त्रज्ञों से यह माग करें, कि वे दुनिया का इस प्रकार से सगठन करें कि बच्चों को खाने को पर्याप्त मात्रा मे मिल सके।''

राष्ट्रपिता महात्मा गाधी का मत था कि यदि देश मे कृषि और लघुस्तरीय एव कुटीर उद्योगो का विकास कर दिया जाय, तब भारत आज की जनसख्या से दुगुनी जनसख्या का पालन-पोषण कर सकता है। अत आशावादी विचारको के मतानुसार भारत मे मूल समस्या "उपलब्ध प्राकृतिक साधनो के समुचित उपयोग" की है। इस सम्बन्ध मे यह उक्ति भी कि 'भारत निर्धनों द्वारा वासित एक धनी देश है" (India is a rich country inhabited by the poor), इसी तथ्य का समर्थन करती है कि भारत मे प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है, परन्तु उनका समुचित रूप से उपयोग नहीं हो सका है। अपने मत के समर्थन मे यथार्थवादी विचारक इस प्रकार तर्क प्रस्तुत करते हैं :—(i) निराशावादी मत निराधार है — प्रो० कॉलिन क्लार्क (Colin Clark) का मत है कि माल्थस का निराशावादी दृष्टिकोण एकदम निराधार है। ग्रीस, डच, इगलैंड और जापान आदि कुछ ऐसे देश हैं, जहा जनसख्या मे वृद्धि होने से उल्लेखनीय प्रगति हुई है। अत प्रो० कॉलिन क्लार्क का मत है कि यदि देश का औद्योगिक विकास किया जाए, तब जनसख्या की वृद्धि से कोई असतोषजनक समस्या उत्पन्न नहीं होगी क्योकि वह देश अपनी वस्तुओ के बदले मे विदेशो से खाद्यान्न मगाने मे समर्थ होता है। इस प्रकार भारत मे जनसख्या की समस्या मूलत औद्योगिक विकास की समस्या है। यदि देश का औद्योगिक विकास किया जाए तब, देश मे जनसख्या की समस्या स्वत ही सुलझ जाएगी। (ii) भारत मे जनसख्या का घनत्व कम है परन्तु प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है :—कुछ अर्थ-शास्त्रियों का मत है कि भारत मे प्राकृतिक साधनो की इतनी अधिक प्रचुरता है कि वह वर्तमान जनसख्या से भी दुगुनी जनसख्या का भरण-पोषण कर सकता है। अन्य देशों की तुलना मे हमारे देश मे जनसख्या का घनत्व कम है। भारत मे जनसख्या का घनत्व ८४ है, जबकि इगलैंड, बेल्जियम और जापान मे जनसख्या का घनत्व क्रमश ७५०, ७६६ और ४८२ है। वस्तुत यथार्थवादियों का यह मत भ्रमात्मक है, क्योकि एक तो ये विद्वान 'वास्तव मे विकसित' और 'सम्भाव्य (Potential) साधनों' के अन्तर को कोई महत्त्व नहीं देते, जबकि किसी समय पर किसी देश के

लिए सर्वोत्तम जनसंख्या क्या है, यह उस देश के विकसित साधनों पर निर्भर करती है, न कि सम्भाव्य साधनों पर। अतः इस समय भारत की जनसंख्या आदर्श बिन्दु से अधिक है, यह सर्वथा सत्य है। इसके साथ-साथ यह आशा रखना कि निकट भविष्य में आर्थिक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर हम बहुत बड़ी जनसंख्या का रहन-सहन के बहुत उच्च स्तर पर भरण-पोषण कर सकेंगे, सन्देहात्मक है। इस सम्बन्ध में यथार्थवादियों की दूसरी भ्रांति यह है कि उन्होंने अन्य देशों की तुलना में भारत में जनसंख्या का घनत्व कम आंका है। वस्तुतः औद्योगिक देशों की तुलना में भारत में जनसंख्या का घनत्व कम अवश्य है, परन्तु कृषि प्रधान देशों की तुलना में यह सर्वाधिक है। जबकि अमेरिका, आस्ट्रेलिया और कनाडा में जनसंख्या का घनत्व क्रमशः ५०,३ और ३ है तब भारत में यह ३८४ है। न कि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, इसीलिये इस दृष्टि से देश में जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक है। (iii) भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय क्रमशः बढ़ रही है —सन् १९६०-६१ के मूल्यों के आधार पर भारत की राष्ट्रीय आय (*National Income*) में और प्रति व्यक्ति औसत आय (Per Capita Average Income) में सन् १९५०-५१ से लेकर सन् १९६०-६१ तक क्रमशः ४१.६% तथा १६.२% वृद्धि हुई है। भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय सन् १९५०-५१ में २८४ रु० थी जो सन् १९५५-५६ में बढ़कर ३०६ रु० तथा सन् १९६०-६१ में ३३० रु० हो गई है। अतः यथार्थवादी विचारकों के *मतानुसार देश में प्रति व्यक्ति औसत आय की वृद्धि'* इस तथ्य की सूचक है कि भारत में जनाधिक्य नहीं है। वस्तुतः यथार्थवादियों की यह विचारधारा भी अधिक तर्कसंगत नहीं है। भारतीय जनसंख्या का एक वृहत् भाग अनुमान से निम्न जीवन-स्तर में रहता है। यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप देशवासियों के रहन-सहन के स्तर में कुछ वृद्धि अवश्य आई है, परन्तु यह केवल *'समुद्र में बूंद के समान'* तथा नाम मात्र की है। वस्तुतः विगत दशाब्दी में देशवासियों की मौद्रिक आय (Money Income) में अवश्य वृद्धि हुई है परन्तु उनकी वास्तविक आय (Real Income) में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। (iv) **भारत में कृषि और उद्योगों में श्रम का अभाव है** —कुछ विद्वानों का कहना है कि भारत में कृषि एवं उद्योगों में श्रमिकों की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम है। कृषि-व्यवसाय में फसल की बुवाई और कटाई के समय श्रमिकों का अभाव-सा रहता है। अतः इस अवस्था में यह मत रखना कि भारत में जनाधिक्य है, सर्वथा असत्य है। वस्तुतः यदि व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तब यथार्थ वादियों का यह विचार भी एकदम दोषपूर्ण है। हमारे देश में श्रमिकों का अभाव नहीं है वरन् कुशल एवं प्रशिक्षित श्रमिकों का अभाव है। अतः यदि देश में तकनीकी-श्रम (Technical labour) का अभाव हो, तब इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि देश में श्रमिकों का सर्वथा अभाव है।

निष्कर्ष —कुछ विद्वानों का मत है कि किसी भी देश की जन संख्या तीन अवस्थाओं में से परिवर्तित होती है। ये तीन अवस्थायें क्रमशः इस प्रकार हैं —(i)

जब किसी देश मे जन्म दर और मृत्यु-दर मनुष्यो द्वारा नियंत्रित नही की जाती, तब जनसख्या की वृद्धि होती है। (ii) जब किसी देश मे शिक्षा और ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ असामयिक एव अपरिपक्व मृत्यु की सख्या मे भारी कमी होती है, तब इसके परिणामस्वरूप जनसख्या म तीव्र गति से वृद्धि होती है। (iii) जब किसी देश मे सतति-निरोधक उपायो (Contraceptive Methods) के ज्ञान का प्रसार होता है, तब इससे जन्म-दर नियन्त्रित होती है तथा जन्म दर के नियन्त्रण से मृत्यु-दर पर आधिक्य कम होकर जनसख्या स्थिर रहती है अथवा घटने लगती है। अत भारतीय जनसख्या के सम्बन्ध मे आधुनिक अर्थशास्त्रियो का मत है कि भारतीय जनसख्या द्वितीय अवस्था मे से परिवर्तित हो रही है अर्थात् देश मे शिक्षा और ज्ञान के प्रसार से असामयिक एव अपरिपक्व मृत्यु-दर मे कमी होकर जनसख्या तीव्र गति से बढ रही है।

साराशत निराशावादी दृष्टिकोण भारत मे जनाधिक्य की समस्या की कुछ झलक प्रस्तुत करता है, परन्तु जनसख्या की समस्या को हल करने के लिये यथार्थवादी-दृष्टिकोण का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। भारत मे जनाधिक्य की समस्या की पुष्टि अकाल आयोग (Famine Commission) के इन शब्दों मे होती है — "औद्योगिक एव कृषि-साधनो के विकास की वर्तमान स्थिति की तुलना मे भारत मे अतिवास है। खाद्य आयात, भूमि के आकार मे कमी तथा खेतो का विखण्डन, भूमिहीन श्रमिको की सख्या मे वृद्धि, अधिकाश जनता की दीर्घ स्थाई निर्धनता, देश के समस्त औद्योगिक एव कृषि-साधनों तथा कुल सम्पत्ति मे वृद्धि होने पर भी जनता को अपर्याप्त एव अपौष्टिक भोजन मिलना आदि, ये सब बातें जनाधिक्य की सूचक हैं।" अत देशवासियो के लिये पर्याप्त भोजन-वस्त्र और निवास की व्यवस्था करने के लिये, उनके उपभोग-स्तर और जीवन-स्तर को ऊचा उठाने के लिये तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को बढाने और पचवर्षीय योजनाओ को सफल बनाकर देश को सुखी समृद्धि एव सम्पन्न बनाने के लिये भारत की बढती हुई जनसख्या को तुरन्त रोकने की आवश्यकता है। योजना आयोग (Planning Commission) ने भी प्रथम पचवर्षीय योजना की रूप-रेखा प्रस्तुत करते समय यह स्वीकार किया था — "यदि जन्म-दर को घटाकर जनसख्या की वृद्धि की गति कम करने के लिये कदम नहीं उठाए गए, तब हमे उपभोग के वर्तमान स्तर को बनाए रखने के लिए उत्तरोत्तर अधिक प्रयत्न करने पड़ेंगे। प्रथम योजना के प्रयत्नों के फलस्वरूप भोजन और वस्त्र जैसी आवश्यकता का उपभोग स्तर सन् १९५५-५६ मे जाकर युद्धपूर्व-स्तर (Pre-war Standard) पर पहुंच सकेगा। अतएव आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए जनसख्या को नियत्रित करना अति आवश्यक है।"

भारत के आर्थिक विकास में जनसख्या मुख्य अवरोधक के रूप में —हमारे देश मे जनसख्या प्रतिवर्ष इतनी तीव्र गति स बढ रही है कि उसकी तुलना मे देश का आर्थिक विकास दौड म पीछे रह जाता है। हमारी पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत देश के बहुमुखी आर्थिक विकास के लिए जिन कार्यक्रमो को

कार्यान्वित किया जाता है, उनमे मिलने वाली सफलता देश मे तीव्रगति से बढती हुई जनसख्या के सदृश्य असफलता के रूप मे परिणित-सी दिखाई देती है। इस समय भारत म प्रमुख आर्थिक समस्या देश का आर्थिक विकास करने की है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्यायें जैसे निर्धनता अथवा रहन-सहन के निम्न स्तर की समस्या, बेकारी एव अर्ध-बेकारी की समस्या, खाद्य समस्या, कृषि एव उद्योग क पिछड़ेपन की समस्या तथा मकान, चिकित्सा और शिक्षा विकास आदि की समस्याएं अपने समष्टिरूप मे इसी एक समस्या से सम्बन्धित हैं। सक्षेप मे देश के आर्थिक विकास के प्रत्येक क्षेत्र को जनसख्या की वृद्धि निम्न प्रकार से प्रभावित करती है —

(१) जनसख्या और आर्थिक प्रगति —(i) अन्यान्य बातो के अतिरिक्त किसी देश का आर्थिक विकास पूजी निर्माण की दर से सम्बन्धित होता है। चूंकि पूजी निर्माण नागरिको की बचतो पर निर्भर है इसलिये इस दृष्टिकोण से देश का आर्थिक विकास अन्तत नागरिको की बचत करने की इच्छा व शक्ति पर निर्भर करता है। भारत मे पूजी निर्माण की दर अत्यन्त निम्न है — क्योकि निर्धनतावश भारतीय नागरिको की बचत करने की इच्छा और शक्ति दोनो ही कम हैं। योजना-आयोग (Planning Commission) के अनुमानानुसार हमारे देश म राष्ट्रीय-आय का लगभग ६३·५% भाग प्रत्यक्षण रूप से उपभोग कर लिया जाता है तथा केवल ८ ५% भाग ही पूजी निर्माण के लिये उपलब्ध होता है। अत देश मे पूजी निर्माण की गति अत्यत मन्द होने के कारण देश का तीव्र आर्थिक विकास सर्वथा असम्भव है। (ii) वर्तमान समय मे द्रुत आर्थिक विकास तथा विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण यह माग करते हैं कि देश मे 'पूजी परक' (Capital Intensive) उत्पादन-विधियो को अपनाया जाए, जबकि हमारे देश की बडी जनसख्या का हित देश मे श्रम-परक (Labour Intensive) उत्पादन-विधियो को अपनाने मे है। इस स्थिति मे यदि श्रम-परक उत्पादन विधियो को अपनाया जाता है, तब इससे आर्थिक विकास की गति धीमी पडती है और यदि पूजी-परक उत्पादन विधि को अपनाया जाता है, तब समस्या देश मे पूजी की उपलब्धता तथा श्रमिको की बेकारी की समस्यायें सामने आती है। इस प्रकार भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या पूजी निर्माण अथवा देश के आर्थिक विकास के मार्ग मे एक बहुत बडी बाधा उपस्थित करती है।

(२) जनसख्या और बेरोजगारी की समस्या —हमारे देश मे बेकारी की समस्या अपने विकराल रूप मे उपस्थित है। विगत शताब्दी (Decade) मे भारत की जनसख्या पहले सब अनुमानो से भी आगे बढ गई जिसके फलस्वरूप द्वितीय योजना के अन्त तक ६० लाख व्यक्तियो को रोजगार नही दिलाया जा सका। द्वितीय योजना के अन्त तक पूर्ण बेरोजगार व्यक्तियो के अतिरिक्त अर्ध-बेरोजगार व्यक्तियो की सख्या १ ५ करोड से १ ८ करोड तक आकी गई। तीसरी योजना के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग मे १ ७ करोड व्यक्तियो की वृद्धि का अनुमान है। इस योजना के अन्तर्गत १·४ करोड व्यक्तियों को ही रोजगार दिलाया जा सकेगा।

अत स्पष्ट है कि तीसरी योजना के अन्त तक भी देश मे बेरोजगारी की समस्या का समाधान नही हो सकेगा। ग्रामो मे साधारणत बेकारी का स्वरूप अर्द्ध-बेकारी (Semi Un-employment) है। यह अर्द्ध-बेरोजगारी मन्दी के मौसम मे अधिक भयकर रूप धारण कर लेती है। शहरी क्षेत्र मे व्यापार, यातायात और उद्योग की स्थिति मे जो उतार-चढाव होता है, उसी के अनुसार रोजगार मे भी उतार चढाव आता है। वस्तुत बेरोजगारी की समस्या को तब तक नही सुलझाया जा सकता जब तक कि देश मे उत्पादन कार्यों के विकास के साथ-साथ जनसख्या को वृद्धि पर प्रभावशाली नियन्त्रण न रक्खा जाय।

(३) जनसंख्या और खाद्य-समस्या—सन् १६३८ मे डा० राधाकमल मुकर्जी ने अनुमान लगाया था कि भारत मे १२% जनसख्या के लिये खाद्यान्न का अभाव है। यद्यपि हमारे देश मे उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि के ७६% भाग पर खाद्यान्न की फसलें बोई जाती है, तथापि प्रतिवर्ष लाखो टन खाद्यान्न विदेशो से निर्यात करना पडता है। सन् १६५७–५८, १६५८–५६, १६५६-६० और सन् १६६०–६१ म हमारे खाद्यान्न के आयात का मूल्य क्रमश १६२ करोड रु०, १५२ करोड रु०, १५५ करोड रु० तथा १४४'८६ करोड रु० था। स्पष्ट है कि हमारे देश में खाद्यान्न का उत्पादन आवश्यकता से कम है और उसकी पूर्ति के लिये हमे विदेशो से आयात करना पडता है। यद्यपि खाद्यान्न के अभाव का प्रमुख कारण भारतीय कृषि की अविकसित दशायें है, परन्तु देश मे तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या ने इस समस्या को और अधिक विकराल बना दिया है।

(४) जनसख्या और निर्धनता की समस्या—वस्तुत: निर्धनता जनसख्या की वृद्धि का कारण (Cause) और परिणाम (Effect) दोनो ही हैं। किसी देश की आर्थिक समृद्धि उसके आर्थिक विकास की गति पर निर्भर होती है। परन्तु तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या आर्थिक विकास की इस गति को रोकती है जिसके फलस्वरूप निर्धनता की समस्या व्यापक रूप से प्रसरित होती है। यद्यपि भारत मे निर्धनता की समस्या को हल करने के उद्देश्य से, पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत आर्थिक विकास के कार्यक्रम को आगे बढाया जाता है, परन्तु देश मे अनुमान से अधिक तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या आर्थिक नियोजन को असफलता का मुह देखने को विवश कर देती है।

(५) जनसख्या एवं कृषि और उद्योग के पिछड़ेपन की समस्या—हमारे देश मे कृषि की अविकसित स्थिति के लिए मूलरूप से तीव्रगति मे बढता हुआ जनसख्या का भार है। जनसख्या की तीव्र गति से वृद्धि के फलस्वरूप हमारे खेत उप-विभाजित और विखडित होकर अनार्थिक जात की इकाईयां (Uneconomic Units of Holdings) बन गए हैं, जिन्हे न तो यन्त्रीकरण की योजना के अन्तर्गत लाया जा सकता है और न ही कृषि के विकास की किसी अन्य योजना के अन्तर्गत। अत इस स्थिति मे भारतीय कृषि की प्रति एकड उपज शनै शनै कम होती चली जा रही है। यद्यपि आर्थिक नियोजन के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत देश मे कृषि-उपज

तथा कृषि को बढाने में कुछ सफलता अवश्य मिली है, परन्तु तीव्र गति से बढती हुई जनसंख्या पर उसके भार को देखते हुए यह वृद्धि नाम मात्र की है। कृषि-व्यवसाय के अतिरिक्त औद्योगिक-क्षेत्र में देश के पिछडे रहने के लिए भी भारतीय जनसंख्या की तीव्र गति से होने वाली वृद्धि किसी सीमा तक उत्तरदाई है। बडे पैमाने के उद्योगों की स्थापना के लिए पूंजी की बडी मात्रा में उपलब्धता अनिवार्य है। चूंकि भारत में राष्ट्रीय आय का केवल ८.५% भाग ही पूंजी-निर्माण के लिये उपलब्ध होता है और ९१.५% *भाग प्रत्यक्ष रूप से उपभोग कर लिया जाता है*, इसलिए इस स्थिति में देश में बडे पैमाने के उद्योगों की स्थापना करना असम्भव कार्य है। यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत हमारी सरकार ने औद्योगिक विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कदम उठाया है, परन्तु इस कार्यक्रम के लिये उसे विदेशी सहायता (Foreign Assistence) अथवा विदेशी ऋण (Foreign Debt) पर ही अधिक निर्भर रहना पडा है जिससे देश में आर्थिक प्रगति के साथ-साथ आर्थिक असुरक्षा की सम्भावना भी बढती जा रही है।

जनाधिक्य की समस्या का समाधान (Solution of Over-population Problems) —भारत में जनसंख्या के आयोजन की रूपरेखा कुछ विद्वानों ने इन सुझावों में प्रस्तुत की है —(i) भारत में जनसंख्या का क्षेत्रीय वितरण समान रूप से होना चाहिये। (ii) नैतिक संयम अथवा संतति निरोधक साधनों के अधिकतम उपयोग द्वारा जनसंख्या की संख्यात्मक वृद्धि (Quantitive Increasing) पर रोक लगानी चाहिये। (iii) भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों ही प्रकार के यौन-कार्यक्रमों को अपनाकर जनसंख्या के गुणात्मक-स्तर (Qualitative Standard) को ऊपर उठाना चाहिये। (iv) जनसंख्या के उपयुक्त व्यवसायिक वितरण द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन (Balance) स्थापित करना चाहिये तथा (v) साधनों तथा श्रम शक्ति के श्रेष्ठतम उपयोग के लिये पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करके आर्थिक विस्तार करना चाहिये। प्रो० अलक घोष (Prof. Alak Ghose) ने राष्ट्रीय-जनसंख्या नीति में इन बातों को सम्मिलित करने का सुझाव दिया है :—(i) आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिये वर्तमान और भावी जनसंख्या के लिये योजनाओं में ध्यान देना चाहिये (ii) जनसंख्या की संख्यात्मक-वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए सभी सम्भावित उपाय प्रयोग में लाने चाहिए। (iii) जन-संख्या *नियंत्रण की नीति को निर्धारित करने के लिये एक जनसंख्या आयोग* (Population Commission) की नियुक्ति करनी चाहिये। (iv) परिवार नियोजन कार्यक्रम को सामुदायिक विकास खण्डों (Community Development Blocks) में विशेष रूप से लागू करना चाहिये। (v) प्रत्येक १०-१५ गावों के पीछे एक परिवार नियोजन क्लिनिक (Family Planning Clinic) खोलना चाहिये तथा (vi) ग्रामों में प्रौढ-शिक्षा के प्रचार द्वारा अशिक्षित नागरिकों के मानसिक क्षितिज को व्यापक बनाकर उन्हें परिवार नियोजन की आवश्यकता एवं महत्व की ओर उन्मुख करना चाहिये। डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr. V. K. R. V. Rao)

ने यह सुझाव रखा है कि देश की 'जनसख्या आयोजन-नीति' म विभिन्न राज्यो की विभिन्न परिस्थितियो को अवश्य ध्यान म रखा जाना चाहिए। अत विभिन्न राज्यो मे जनसख्या वृद्धि की दर अपेक्षाकृत अधिक तीव्र है, उन राज्यो मे परिवार नियोजन कायक्रम के विस्तार को अधिक व्यवहरित करना चाहिये।

भारत मे अति-जनसख्या और तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या की समस्या को हल करने के लिये कुछ मुख्य उपाय इस प्रकार हैं —

(१) जन्म-दर पर नियत्रण :—सरकार को जनमत और नियम द्वारा विवाह की आयु बढानी चाहिये। विवाह की आयु मे वृद्धि होने से न केवल जन्म-दर प्रभावित होगी वरन स्त्री-मृत्यु दर और बाल-मृत्यु दर मे भी कमी आ जायगी। कुछ विद्वानो का मत है कि जन्म दर को सीमित करने के लिये आत्म-सयम (Self-Restraint) सर्वोत्तम उपाय है। परन्तु जाथर और बेरी के शब्दो मे **"विवाहित व्यक्तियों को अधिक समय तक सयम से रहने का उपदेश देना, भूख दूर करने के लिये पेट काटने के उपाय के समान है।"** मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षणो (Psychological Surveys) मे भी पता चला है कि दीर्घकाल तक सयम रखने से विवाहित दम्पत्ति के शरीर और मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। अत जन्म दर को नियन्त्रित करने का सबसे श्रेष्ठ साधन जनता को शिक्षित बनाकर तथा लाभप्रद रोजगार की स्थिति उत्पन्न करके जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊचा उठाना है। यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि उच्च-स्तर के व्यक्ति अधिक सतान की लालसा मे अपने जीवन-स्तर की उच्चता को बलिदान करने के लिये तत्पर नही होते।

(२) अतिशय संतति अथवा अविवेकी मातृत्व पर रोक (Check to Improvident Maternity) —जनगणना कमिश्नर ने बताया है कि भारत की जनसख्या की वृद्धि को रोकने के लिय अविवेकी मातृत्व को समाप्त करना नितात आवश्यक है। **'यदि कोई स्त्री तीन सतानों को जन्म दे चुकी हो जिसमे कम से कम एक जीवित हो, तब इससे अधिक सतान होना अतिशय सतति अथवा अविवेकी मातृत्व कहलाता है।'** जनगणना आयोग का मत है कि भारत मे जन्म लेने वाले १०० बच्चो मे से ४० बच्चो की उत्पत्ति भी विवेकपूर्ण नही होती। **अविवेकी मातृत्व को समाप्त करने के सम्बन्ध मे जनगणना आयोग ने इन शब्दो मे सुझाव दिया है— "यदि हम अपने आपको इस मत का बना सकते हैं कि अविवेकी मातृत्व समाज विरोधी आत्म-भोग का एक स्वरूप है जिससे हम सबको बचना चाहिए और यदि हम इससे बचने का ज्ञान और भौतिक साधन जुटा सकते हैं, तब हम मानवीय दुख को कम करने और सुख को बढाने के लिए, आर्थिक और सामाजिक नियोजन के अन्य** *सब उपायों से कहीं अधिक काम लेंगे।"*

(३) प्रवासन (Emigration) —डा० चन्द्र शेखर (Dr. Chandra Shekher) ने अपनी पुस्तक 'Hungry People and Empty Lands" मे एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास अधिकारी के अन्तर्गत समस्त विश्व की जनसख्या की नीति का उद्घाटन करने की एक नई योजना प्रस्तुत की है। इस योजना द्वारा ससार मे जनसख्या की क्षेत्रीय-असमानता

की समस्या स्वत हल हो जायेगी। परन्तु आज की विषम सामाजिक, राजनैतिक सास्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियो मे प्रवासन का यह सुझाव एकदम कठिनाई-पूर्ण और अव्यावहारिक है। प्रो० दन्तवाला ने अपने शब्दो मे यही विचार प्रस्तुत किया है Moral Case for a planned emmigration of hungry people to empty lands is irrefutable' कुछ विद्वानो का मत है कि समस्त विश्व मे २४० लाख वर्गमील कृषि-योग्य क्षेत्र हैं। इस क्षेत्र पर १,००० करोड २० लाख व्यक्तियो का भरण-पोषण एक उच्च-स्तर पर हो सकता है, जबकि इस समय ससार भर मे केवल २०० करोड मनुष्य ही रहते है। अत इन विद्वानो के मतानुसार जन-सख्या की समस्या के समाधान के लिय समस्त विश्व मे जनसख्या के सम विभाजन की व्यवस्था होनी चाहिये। चूकि प्रवासन की योजना एकदम अव्यावहारिक है, इसलिये भारत मे जनाधिक्य की समस्या को हल करने के लिये कुछ विद्वानो ने जनसख्या के क्षेत्रीय सम विभाजन (Provincial Equal Distribution) का सुझाव दिया है।

(४) उत्पादन वृद्धि —प्रो० कॉलीन क्लॉर्क (Colin Clark) ने डेनमार्क का उदाहरण देते हुए भारतीय जनसख्या की समस्या के समाधान के लिए, देश मे तीव्र गति से औद्योगीकरण करने का सुझाव दिया है। प्रो० कॉलिन क्लॉर्क का मत है कि डेनमार्क एक ऐसा देश है जहा जनसख्या का घनत्व बहुत अधिक है, परन्तु जनघनता के साथ-साथ उसकी उत्पादन-शक्ति भी विश्व के समस्त देशो मे सबसे अधिक है जिससे वहा पर जनसख्या का उपभोग का स्तर बहुत ऊचा है। अत जनसख्या की समस्या के समाधान का सबसे सरल मार्ग यही है कि देश मे उत्पादन की मात्रा बढाई जाए।

(५) स्त्री-शिक्षा :—डा० घोष (Dr. A Ghose) ने यह सुझाव दिया है कि माध्यमिक कक्षा की लडकियो को यौन शिक्षा, विवाह सम्बन्धी बातो, बाल निर्देशक तथा परिवार आयोजन आदि की शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिये। वस्तुत जनसख्या की समस्या शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्धित है। देश के नागरिको को शिक्षित बनाकर, उनमे भाग्यवादिता एव अकर्मण्यता की भावनाओ को दूर करके, जन्म दर पर नियत्रण लगाया जा सकता है। चूकि शिक्षित व्यक्ति अपने जीवन-स्तर को नीचे गिराना नही चाहते, इसलिए उन्हे कम सख्या मे सन्तानोत्पादन को विवश होना पडता है। एक विद्वान के शब्दों मे "भारत मे जनसख्या की समस्या गणित की साधारण समस्या नहीं है वरन् एक उलझी हुई सामाजिक समस्या है जो नागरिकों के रीति रिवाज, परम्परा और सामाजिक मनोवृत्ति एव विचारधारा से प्रभावित होती है।" अत सामाजिक रीति रिवाज (Social Customs) धर्मान्धता सामाजिक परम्परा (Social Traditions) और सामाजिक मनोवृत्ति (Social Attitude) को बदलने के लिए शिक्षा एक अमोघ अस्त्र है। परन्तु खेद का विषय है कि भारत म स्त्री-शिक्षा की बहुत कमी है और विशेषकर यौन शिक्षा को देश की शिक्षा-प्रणाली मे कोई स्थान नहीं है। सन् १९५१ से १९६० तक की अवधि मे

देश मे साक्षरता ०·७% बढी है। पुरुषो मे साक्षरता की प्रति वर्ष वृद्धि की दर ० ६% तथा स्त्रियो मे ०·५% रही है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि देश मे शिक्षा की व्यापक योजना अपनाई जाए।

(६) परिवार नियोजन (Family Planning)—परिवार नियोजन *का सामान्य अर्थ और उद्देश्य है—"परिवार को जानबूझकर अपनी इच्छानुसार* **सीमित करना तथा उचित कालान्तर के पश्चात सन्तानोत्पादन करना** (Proper Spacing of Children)।" आर्थिक एव सामाजिक आयोजन के अन्तगत परिवार नियोजन एक महत्वपूर्ण कायक्रम है। व्यक्ति और समाज दोनो के दृष्टिकोण से परिवार नियोजन अत्यन्त लाभदायक है। इससे न केवल जनाधिक्य की समस्या का अन्त हो जाता है वरन उचित कालान्तर के पश्चात सन्तानोत्पादन के फलस्वरूप माता पिता का स्वास्थ्य भी नही बिगडता। सन् १९५१ की जनगणना रिपोर्ट मे भी *यही बात कही गई थी कि "यदि हम अकाल मृत्यु नहीं चाहते हैं, तब हमे अपकाल* **जन्म से भी अभीष्ट नहीं होना चाहिये।"** "If we are not allowing ourselves to die naturally, we should *not allow birth naturally) अतः देश से निर्धनता के अभिशाप को मिटाकर तथा नागरिको के जीवन-स्तर को ऊचा उठाकर देश का द्रुत गति से आर्थिक विकास करने के लिये परिवार नियोजन का कायक्रम अपनाना नितान्त आवश्यक है। परिवार नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत गर्भ-निरोध (Contra ceptives) द्वारा सतति-निरोध (Birth Control) किया जाता है। भारतीय जनगणना कमिश्नर ने भी गर्भ-निरोध के साधनो को अपनाने पर बल डाला है। विश्व स्वास्थ्य सगठन (World Health Organisation) के विशेषज्ञ डा० स्टान (Dr Stone) ने पारिवारिक नियोजन के लिये 'Safe Period Method" के उपयोग करने की सलाह दी है। इस रीति के अनुसार यदि दम्पत्ति मासिक धर्म के प्रथम १० दिन तक (जबकि गभ धारण की सम्भावना सर्वाधिक रहती है) सयम से रहे, तब जन्म-दर को निश्चितता से घटाया जा सकता है। कुछ विशेषज्ञो ने डा० स्टोन की इस तालबद्ध-क्रिया (Rhythmic Method) अथवा "Safe Period Method' की कटु आलोचना करते हुये कहा है कि यह एक प्रपच स अधिक और कुछ नही है, क्योकि अपौष्टिक और अपर्याप्त भोजन पाने वाली स्त्रियो को मासिक-धर्म निमत रूप से नही होता है। अत इन विद्वानो ने गर्भ निरोध औषधियो के उपयोग द्वारा ही सतति निग्रह का सुझाव दिया है। सतति-निग्रह के उपायो के सम्बन्ध मे दो आलोचनाए प्रस्तुत की जाती हैं—(i) सतति-निग्रह के उपायो को अपनाने से समाज मे यौन अनैतिकता (Sexual Immorality) बढ जायगी तथा (ii) सतति-निग्रह के उपाय केवल समाज के अधिक समृद्ध और बुद्धिमान वर्गो मे ही अधिक लोकप्रिय होगे।

भारत में परिवार नियोजन आन्दोलन के मार्ग में कठिनाइयां— हमारे देश मे परिवार नियोजन आन्दोलन के मार्ग मे तीन कठिनाइया आती हैं, जो इस प्रकार हैं—(1) अशिक्षा, अज्ञानता एव अन्धविश्वास के कारण भारतीय जनता

संतति-निग्रह को उपेक्षित दृष्टि से देखती है। (ii) अभी तक संतति-निग्रह की कोई पूर्णतया प्रभावी, विश्वसनीय, सस्ती, नैतिक एव धार्मिक दृष्टि से ग्राह्य, सुरुचि-सम्पन्न और सरल अर्थात 'आदर्श विधि' जनता के सामने नही आई है जिसे अपनाने मे जनता किसी प्रकार की कोई कठिनाई अनुभव न करे। (iii) चूकि गर्भ-निरोध औषधिया अत्यन्त महगी होती हैं, इसलिये भारत की निर्धन जनता इनसे कोई लाभ नही उठा सकती। यही नही, परिवार नियोजन कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिये बडे पैमाने पर परिवार नियोजन की विधियो मे खोज व प्रयोग करने, इन विधियो का देश मे प्रचार करने तथा समस्त देश मे स्थान-स्थान पर परिवार नियोजन केन्द्रो (Family Planning Centres) अथवा उपचार-गृहो (Clinics) की स्थापना करना नितान्त आवश्यक है जिसके लिय बडी मात्रा मे पूजी चाहिये। चूकि हमारे देश मे पूजी की कमी है, इसलिये परिवार नियोजन कार्यक्रम के मार्ग मे यह एक बहुत बडी बाधा है।

पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत परिवार नियोजन कार्यक्रम—योजना आयोग (Planning Commission) ने परिवार नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं—(i) भारत की जनसख्या मे तीव्र गति से वृद्धि लाने वाले कारको (Factors) के सम्बन्ध मे पूरा ज्ञान सकलित करना चाहिये। (ii) परिवार नियोजन की प्रविधियो (Techniques of Family Planning) के सम्बन्ध मे आवश्यक खोज करके, जनता मे इस ज्ञान का प्रसार करना चाहिये। (iii) परिवार नियोजन सम्बन्धी परामर्श और सेवाओ को अस्पतालों और स्वास्थ्य केन्द्रो की सेवाओ का एक आवश्यक अग बनाया जाना चाहिये। (iv) सरकार को निर्वीर्य अथवा बन्ध्या (sterile) बनाने की सभी सुविधायें प्रदान करनी चाहियें अथवा मेडीकल आधारो पर संतति-निरोधक साधनो के उपयोग के सम्बन्ध मे उचित सलाह देने की व्यवस्था करनी चाहिये तथा (v) जो व्यक्ति संतति-निरोधक सहायता अथवा सलाह लेना चाहते हैं या जिन्हे इनकी आवश्यकता है, उन्हे सामाजिक अथवा आर्थिक आधार पर इन सुविधाओ को प्रदान करने मे कोई रुकावट नही पडनी चाहिये।

(१) प्रथम व द्वितीय योजना—प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो मे २१ परिवार नियोजन केन्द्र तथा शहरी-क्षेत्रो मे १२६ परिवार नियोजन केन्द्र स्थापित किये गये थे। द्वितीय योजनावधि मे शहरी-क्षेत्रो मे परिवार नियोजन केन्द्रो की सख्या बढाकर ५४६ तथा ग्रामीण-क्षेत्रो मे १,१०० कर दी गई। इनके अतिरिक्त योजनाकाल मे १८६४ ग्रामीण और ३३० शहरी चिकित्सा और स्वास्थ्य केन्द्रो मे परिवार नियोजन सेवाओ की व्यवस्था की गई तथा अनेक बन्ध्याकरण केन्द्र भी स्थापित किये गये। योजनाकाल मे बम्बई तथा अन्य स्थानो पर गर्भ निरोधक उपकरण परीक्षण एककों मे अनुसधान कार्य किया गया तथा जनसख्या सम्बन्धी ४ अनुसधान केन्द्र (Research Centres) भी स्थापित किए गए।

(२) तीसरी योजना—तीसरी योजना मे स्वास्थ्य एव परिवार नियोजन

कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार करना तथा जनता के स्वास्थ्य मे धीरे धीरे सुधार लाना रक्खा गया है। इस योजना मे परिवार नियोजन को उच्च प्राथमिकता दी गई है। प्रथम और द्वितीय योजना मे परिवार नियोजन कार्यक्रम पर क्रमश ७० लाख और ३ करोड रु० व्यय किये गये। तीसरी योजना मे इस कार्यक्रम पर ५० करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। तीसरी योजना मे परिवार नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत इन बातो की व्यवस्था की गई है— अ) परिवार नियोजन के लिये शिक्षा और प्रयोजन, (आ) सेवाओं की व्यवस्था, (इ) प्रशिक्षण, (ई) अपूर्तिया, (उ) सचार तथा प्रयोजन, (ऊ) जनसख्या सम्बन्धी अनुसधान और (ए) चिकित्सा और जीवविज्ञान सम्बन्धी अनुसधान। इस योजना मे परिवार नियोजन केन्द्रो की सख्या बढाकर ग्रामीण क्षेत्रो मे ६,१०० तथा शहरी-क्षेत्रो मे २,१०० करने का लक्ष्य रक्खा गया है। योजनाकाल मे अनुसधान के विस्तृत कार्यक्रम के अन्तर्गत इन पहलुओं की जाच की जायगी—(i) मानवीय जनन सम्बन्धी अध्ययनो का विकास, (ii) प्रजनन सम्बन्धी शरीर विज्ञान का विकास, (iii) अधिक प्रभावशाली स्थानीय गर्भ निरोधक उपकरणो का विकास, (iv) एव उपयुक्त मौखिक गर्भ निरोधक दवाई (Oral contraceptives) का विकास तथा (v) बन्ध्याकरण (sterilization) के परिणामो का अध्ययन। मौखिक गर्भ निरोधक दवाइयो के विषय मे एक विशेषज्ञ समिति (Expert committee) की नियुक्ति की गई है जो इस क्षेत्र मे समय समय पर होने वाले विकास कार्य की समीक्षा करेगी तथा सिफारिश करेगी। योजनाकाल मे जिला अस्पतालो और उप विभागीय अस्पतालो मे बन्ध्याकरण की सुविधाओं का विस्तार करने की व्यवस्था की जाएगी।

८

सामाजिक और धार्मिक संस्थाएँ

(Social and Religious Institutions)

प्राक्कथन —मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में प्रचलित रीति-रिवाज (Customs), चलन (Folkways), परम्परायें (Traditions), रूढ़ियाँ (Mores) और सामाजिक संस्थाए (Social Institutions), अर्थात् सामाजिक पर्यावरण (Social Environment) मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करता है। हमारे देश के उद्योग-धन्धों व्यवसाय, सम्पत्ति का वितरण तथा अन्य क्रिया-कलापों पर सामाजिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल (*Marshall*) के अनुसार संसार में धार्मिक और आर्थिक संस्थाए सबसे बड़ी निर्माणकारी संस्थाए रही हैं। भारत में मुख्य सामाजिक व धार्मिक संस्थाए इस प्रकार हैं —(अ) जाति प्रथा, (आ) संयुक्त परिवार प्रथा (इ) उत्तराधिकार के नियम तथा (ई) धार्मिक विश्वास।

(१) जाति प्रथा (Caste system)

अर्थ —श्री रिज़्ले के अनुसार, "जाति कुटुम्बों के उस समुदाय को कहते हैं जिसका सम्बन्ध या तो किसी विशेष व्यवसाय से होता है या जिसके सदस्य स्वयं को किसी पौराणिक पूर्वज का वंशधर मानते हैं। ऐसे समुदाय के सदस्य अपनी जाति के बाहर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, क्योंकि जाति के अन्तर्गत ही अन्य उपजातियां होती हैं जो वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा परस्पर सम्बद्ध होती हैं।" इम्पीरियल गजट आफ इण्डिया के अनुसार, "उन कुटुम्बों का समुदाय, जिनका एक नाम है, जो साधारणतः एक विशेष प्रकार का धन्धा करते हैं तथा जिनका एक ही पूर्वज पूज्य देवता होता है, एक जाति कहलाती है।" दूसरे शब्दों में जाति अनेक परिवारों का एक ऐसा समूह है जिसका एक सामान्य नाम (Common (Name) है, जो सदैव एक परम्परागत विशिष्ट व्यवसाय (Common Occupation) के साथ सम्बन्ध होता है, जिसके सदस्य स्वयं को एक पौराणिक पूर्वज की सन्तान मानते हैं और जो इन समस्त सामान्य सूत्रों के कारण अपने आप को एक पृथक् समुदाय (Single Homogenous Community) मानते हैं अर्थात् जिनमें जातिगत-चेतना (Caste Sentiment) होती है। भारत की समस्त जातियों को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है :—(1) व्यवसायिक जातियां :—(Occupational Castes) ये विभिन्न व्यवसायों के कारण जानी जाती हैं। भारत की मुख्य

व्यवसायिक जातियां चार हैं– ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र। इनके अतिरिक्त नाई, तेली, धोबी, चमार, कुम्हार, जुलाहा, बढ़ई, सुनार आदि अन्य व्यवसायिक जातियों के उदाहरण है। (ii) अनुवंशिक जातियां (Inherited Castes) अनुवंशित जातियां स्थानीय एवं प्रादेशिक प्रभावों एवं अन्तर्विवाहों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। अनुवंशिक जातियों में पंजाब, राजस्थान और उत्तरप्रदेश की गूजर, जाट और मेव, बंगाल की राजवंशी और चाण्डाल, महाराष्ट्र की कोली और महार, मद्रास की नायर एवं परायन आदि जातियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। (iii) धार्मिक जातियां (Religious Castes) –विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के फलस्वरूप ही धार्मिक जातियों की उत्पत्ति हुई है। धार्मिक जातियों में सिक्ख, जैन, कबीर-पंथी, राधास्वामी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

जाति-प्रथा के आर्थिक प्रभाव (Economic Effects of Caste System) —**लाभ** (Advantages) —जाति प्रथा के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं— (i) **श्रम-विभाजन** —जाति प्रथा व्यवसायिक श्रमविभाजन (Occupational Division of Labour) का ही एक साधारणस्वरूप है। प्रत्येक जाति का अपना एक निश्चित व्यवसाय होता है और प्रत्येक जाति अपने व्यवसाय में दक्ष और कार्यकुशल होती है। हमारे देश में आज भी कुटीर उद्योगों के अस्तित्व का श्रेय जाति-प्रथा को ही है। (ii) **पैतृक व्यवसाय** —चूंकि इस प्रथा के अन्तर्गत पुत्र अपने पिता के व्यवसाय को ही अपनाता है, इसलिए उसके भविष्य का निश्चय उसके जन्म से ही हो जाता है तथा व्यवसायिक खोज में उसे अपना समय और शक्ति व्यर्थ में ही नष्ट नहीं करना पड़ता। इसके साथ साथ पैतृक व्यवसाय (Hereditary Occupation) होने के फलस्वरूप जाति के सदस्यों को अपना व्यवसाय अथवा कला सीखने में बड़ी सरलता रहती है और वे अपने व्यवसाय की सूक्ष्म एवं रहस्यमयी बातों की स्पष्टता से जानकारी रखते हैं। (iii) **सामाजिक सुदृढ़ता** — चूंकि जन्म-कर्म के सिद्धान्त के आवरण में प्रत्येक जाति अपने व्यवसाय एवं सामाजिक स्थिति (Social Status) की ओर से पूर्णत सतुष्ट रहती है, इसलिये समाज के अन्दर वर्ग-संघर्ष (Class Conflict) अथवा ईर्ष्या और सामाजिक विद्वेष (Social-Ill-will) अथवा असफल आकांक्षाओं से उत्पन्न असन्तुष्टि (Frustration) देखने को नहीं मिलती। इस प्रकार जाति प्रथा के कारण सामाजिक संगठन एवं सुदृढ़ता (Social Organisation and Solidarity) को बल मिला है। यही कारण है कि विदेशियों के आक्रमणों से भी हिन्दू समाज के संगठन को विशेष क्षति नहीं पहुंच सकी जिससे समाज में कभी भी भय, निराशा अथवा अशांति नहीं फैल सकी। (iv) **जाति-चेतना** —प्रत्येक जाति के व्यक्ति जाति-चेतना (Caste Sentiment) से परस्पर सूत्रबद्ध रहते हैं। इसी चेतना से प्रेरित होकर एक जाति के सभी सदस्य प्रत्येक घटक (Organ) की सुख-दुख में सहायता करते हैं तथा जाति के डर से अपने प्रत्येक कार्य में उचित-अनुचित का ध्यान रखते

हैं। (v) कल्याणकारी कार्य —जातिया मध्यकालीन यूरोप के शिल्प-सघों (Guilds) अथवा वर्तमान श्रमिक-सघों के समतुल्य सुरक्षात्मक एव कल्याणकारी कार्य करती रही हैं। वे बाह्य व्यक्तियो को अपने व्यवसाय मे आने से रोक कर अपने सदस्यो के आर्थिक-हितो की रक्षा करती हैं तथा बाह्य प्रतिस्पर्धा एव शोषण से जाति के निर्बल सदस्यो की रक्षा करती हैं। भारत मे सामाजिक बीमा (Social Insurance) जैसी सुविधाओ के अभाव मे जाति-प्रथा का महत्व और अधिक बढ जाता है, क्योकि इस व्यवस्था के अन्तगत किसी घटक की आपत्ति अथवा सुख दुःख के समय जाति के समस्त घटक सम्मिलित रूप से उसकी सहायता के लिये प्रस्तुत रहते हैं। एक विद्वान के शब्दों मे "एक हिन्दू के लिए उसका जाति-सगठन ही उसकी क्लब (Club), उसका श्रमिक-सघ (Trade Union), उसकी हितकारिणी समिति (Welfare Committee) तथा उसकी जन-हितैषी सभा (Public Welfare Assembly) सभी कुछ है।" (vi) विभिन्न जातियों मे सहकारिता —चूकि प्रत्येक जाति एक दूसरे पर किसी न किसी कार्य के लिए निर्भर होती है, इसलिये इस प्रथा से विभिन्न जातियों मे सहकारिता को बल मिलता है। (vii) सामाजिक एकता एव सास्कृतिक अक्षुण्णता —अनेकानेक बाह्य आक्रमण होने के पश्चात् भी जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज की एकता तथा सास्कृतिक वैयक्तिकता को अक्षुण्ण बनाने मे सहायता की है। जयार और बेरी के शब्दों मे "सम्भवत जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज को स्वय अक्षुण्ण बने रहकर राजनैतिक आक्रमणों के आघातों को सहने की शक्ति भी दी।"

हानि (Disadvantages) —भारत के राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णनन (Dr. Radha Krishnan) के शब्दों मे, "जाति प्रथा, जो सामाजिक पतन को रोकने के लिये प्रारम्भ की गई थी, दुर्भाग्यवश आज सामाजिक उन्नति मे बाधक हो गई है।" वस्तुत मानव की कुत्सित धूर्तता द्वारा जनित एव पोषित यह जाति व्यवस्था आज के युग म अत्याचार एव असहिष्णुता का व्यापक यत्र बन गई है। प० नेहरू के शब्दों मे—'जब तक भारत मे जाति व्यवस्था है, तब तक देश मे समाजवाद की न तो स्थापना की जा सकती है और न साम्यवाद की ही।" जाति प्रथा के कुछ मुख्य दोष इस प्रकार हैं :—(i) राष्ट्रीय एकता के लिये घातक —जाति व्यवस्था के अन्तर्गत हिन्दू समाज अनेक छोटे-छोटे वर्गो मे विभाजित हो गया। प्रत्येक वर्ग के हृदय म एक दूसरे को हीन (Inferior) समझने के कारण हिन्दू समाज में कभी भी एकता नहीं आई। इसीलिय समय समय पर विदेशियों ने आकर हमारे देश पर अधिकार कर लिया। (ii) दोषपूर्ण श्रम विभाजन —चूकि प्रत्येक जाति के सदस्य साथ-साथ रहकर कार्य नहीं करते, इसलिये इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज मे श्रम-विभाजन (Division of labour) भी दोषपूर्ण होता है। (iii) वैयक्तिकता को आघात —इस प्रथा का मुख्य दोष यह रहा है कि इसमें किसी व्यक्ति का व्यवसाय उसकी सहज प्रवृत्ति (Drives) वैयक्तिक रूझान (Individualistic Attitude) वैयक्तिक योग्यता (Individualistic Ability)

के आधार पर निश्चित न होकर जन्म के आधार पर निश्चित होता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति को अपने वैयक्तिक गुणो को प्रदर्शित करने का अवसर नही मिल पाता। यही नही, व्यक्ति अपनी उस सामाजिक स्थिति (Social Status) से ऊपर भी नही उठने पाता है जो उसे अपनी जाति विशेष के कारण प्राप्त होती है। (iv) **श्रम व पूंजी की गतिशीलता मे बाधा** —चूंकि जाति प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यवसाय निश्चित होता है और वह उसी व्यवसाय को अपनाने के लिये बाध्य होता है, इसलिये इससे श्रम व पूंजी की गतिशीलता (Mobility of Labour and Capital) मे अवरुद्धता आती है (v) **वृहत्काय उत्पादन मे कठिनाई** —एक जाति का श्रम और पूंजी उसी जाति विशेष के व्यवसाय मे ही प्रयुक्त होते हैं। फलत यदि किन्ही व्यवसायो मे श्रम और पूंजी का बाहुल्य रहता है, तब दूसरे व्यवसायो मे अभाव भी पाया जाता है। यही नही, श्रम और पूंजी की गतिशीलता के अभाव में बडे पैमाने पर उत्पादन (Large Scale Production) करना एकदम असुविधाजनक एव दुष्कर होता है। (vi) **श्रम की महानता को ठेस पहुचाना** —जाति-प्रथा मे ऊंच-नीच की भावना के कारण भारत के नागरिक श्रम की गरिमा (Dignity of Labour) को भली प्रकार नही समझते। प्राय उच्च जाति के व्यक्ति भूखो मरने पर भी शारीरिक श्रम अथवा निम्न जातियो द्वारा अपनाए गए व्यवसायो का अनुकरण करना अपमानजनक समझते हैं। (vii) **असहकारिता एव असमानता** —जाति-प्रथा प्रजातन्त्रवाद के समानता (Equality) के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस प्रथा ने विभिन्न जातियो मे ऊंच-नीच का भेदभाव उत्पन्न करके ऊची जातियो द्वारा नीची जातियो के सामाजिक एव आर्थिक शोषण को सरल बना दिया है। जातिगत असमानता के कारण ही विभिन्न जातियो में सहकारी दृष्टिकोण नही पाया जाता है। (viii) **नैतिक पतन :—** सतति सुधारशास्त्र (Eugenics) के सिद्धान्तो के अनुसार जनसख्या के गुणात्मक सुधार की दृष्टि से अन्तर्जातीय विवाह सजातीय विवाह की अपेक्षा अधिक अच्छे होते है। एक ही जाति मे परस्पर विवाह होने से जाति का पतन होता है, क्योकि इससे स्त्री-पुरुषो एव शिशुओं का स्वास्थ्य और शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। चूंकि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह वर्ज्य होते हैं, इसलिए यह व्यवस्था जीवशास्त्र के सिद्धान्त के विपरीत है। विवाह का क्षेत्र सीमित होने के फलस्वरूप हिन्दू समाज मे दहेज प्रथा, आत्महत्या (Suicide) तथा शिशु हत्या (Infanticide) जैसी जघन्य सामाजिक कुरीतियो की बाढ सी आ गई है।

जाति व्यवस्था का भविष्य —पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क तथा देश मे शिक्षा, परिवहन एव सचार के साधनो के प्रसार के फलस्वरूप जाति प्रथा का महत्व शनै शनै कम होता जा रहा है। महात्मा गाधी (Mahatma Gandhi) और अन्य समाज सुधारकों के छुआछूत (Untouchability) के विरुद्ध प्रयत्नो ने तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन एव राष्ट्रीयता की भावना ने भी जातीयता के बन्धन को ढीला करने म अपूर्व चेष्टा की है। फिर भी भारत की ग्रामीण जनता (जो कुल

जनसख्या का ८२ १६% है), छुआछूत और ऊच-नीच की कुत्सित भावना से स्वय को पृथक नही कर सकी है। वास्तव म जाति व्यवस्था के दोषो को दूर करने के लिय व्यापक स्तर पर शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता है।

(२) सयुक्त परिवार प्रथा (Joint Family System)—

अर्थ — वैयक्तिक, परिवार प्रणाली के विपरीत, सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के अन्तगत एक परिवार मे अनेक परिवार सम्मिलित रूप से रहते हैं। परिवार का वयोवृद्ध ही परिवार का सचालनकर्ता तया नियत्रणकर्त्ता होता है।" इस प्रकार एक सयुक्त परिवार के अन्तगत भाई-भाभी चाचा चाची, दादा-दादी, ताऊ, बाबा व अन्य सगे सम्बन्धी रहते हैं। समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त 'From everyone according to his capacity and to everyone according to his need" का इस प्रणाली के अन्तर्गत भली प्रकार से पालन होता है।

सयुक्त परिवार प्रथा के आर्थिक प्रभाव (Economic Effects of Joint Family System) —लाभ (Advantages) —सयुक्त परिवार प्रणाली के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं —(i) पारिवारिक एकता मे वृद्धि —सयुक्त परिवार के अन्तर्गत सभी सदस्यो मे पारस्परिक सहयोग एव एकता (Unity) की भावना परिलक्षित होती है। फलत परिवार की बडी से बडी समस्यायें सरलता से हल हो जाती हैं। (ii) उपभोग के व्यय मे कमी —सयुक्त परिवार प्रथा मितव्ययिता-पूर्ण है। अनेक सदस्यो के एक साथ रहने के कारण पारिवारिक उपभोग का व्यय बहुत कम हो जाता है। (iii) आर्थिक सुरक्षा —सयुक्त परिवार प्रथा के अन्तर्गत परिवार के समस्त सदस्यों को कम से कम जीवन निर्वाह के साधनो के रूप मे आर्थिक सुरक्षा (Economic Security) का आश्वासन अवश्य रहता है। अनाथ शिशुओ, विधवाओ, वृद्धो, असक्ताओ (Infirm) और सभी प्रकार के अपाहिजो एव बेरोजगारो के लिये सयुक्त परिवार सामाजिक बीमा' (Social Insurance) का कार्य करते हैं। च कि हमारे देश मे सामाजिक बीमा की योजनायें व्यापक रूप से विस्तृत नही हैं, इसलिये सयुक्त परिवार प्रथा का इस दृष्टि से विशेष महत्व है। (iv) सामाजिक सहकारिता की भावना को जागृत करना —इस प्रथा के अन्तर्गत परिवार का प्रत्येक सदस्य सुख दुख के समय एक दूसरे की सेवा करने को तत्पर रहता है जिससे समस्त परिवार का जीवन अधिक सरल और सुखी हो जाता है। च कि इस व्यवस्था म प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करता है, इसलिये इससे श्रम-विभाजन को उपयुक्त अवसर प्राप्त होता है। वस्तुत साम्यवादी व्यवस्था के अनुसार सयुक्त परिवार प्रणाली मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य करता है तथा आवश्यकता के अनुसार उपभोग करता है। (v) सम्मिलित सम्पत्ति — चू कि इस व्यवस्था म परिवार के सदस्यो की भूमि तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति सम्मिलित रूप से रहती है, इसलिय इससे बडी मात्रा मे उत्पादन व व्यापार को बल मिलता है। खेतो के उप-विभाजन (Sub-division) और उप-खण्डन (Fragmentation) जैसी बुराइया इस प्रणाली के अन्तर्गत जन्म नही लेती। यही नहीं, इस

पद्धति मे नवयुवको को अपनी जीवनवृत्ति (Career) के विषय मे भी विशेष चिंतित होने की आवश्यकता नही रहती क्योकि परिवार के सम्मिलित व्यवसाय को ही वे भी अपना लेते है। (vi) पारिवारिक प्रतिष्ठा – संयुक्त परिवार से घर की प्रतिष्ठा बढती है। डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr Radha Kamal Mukerjee) के शब्दों मे, 'संयुक्त परिवार प्रणाली ने, जोकि प्रेम और सहयोग पर आधारित है, देश मे सामाजिक सहकारिता को दृष्टि से उस आर्थिक व्यवस्था का निर्माण किया है, जो पश्चिम की स्वार्थी तथा एकाकी प्रधान व्यवस्था से भिन्न और उत्तम है।'

हानि (Disadvantages) —(i) आलस्य एव अकर्मण्यता मे वृद्धि — चूकि इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य को अपनी आवश्यकतानुसार उपभोग के लिए मिल जाता है, इसलिए कुछ विलासी एव अकर्मण्य व्यक्ति इससे अनुचित लाभ उठाते हैं जिससे उनकी आर्थिक क्रिया की प्रेरणा (Incentive of Economic Action) विनष्ट हो जाती है। (ii) व्यक्तित्व के विकास मे बाधा —एक संयुक्त परिवार मे, परिवार के सभी सदस्य सामूहिक रूप से आर्थिक कार्य करते हैं। परिवार का वयोवृद्ध सचालक एव नियन्त्रणकर्त्ता होता है। इस प्रकार परिवार के प्रत्येक सदस्य को स्वतन्त्र रूप से अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का पूर्ण अवसर नही मिल पाता तथा व्यक्तित्व (Personality) के चरम् विकसित रूप के लिए जिस 'अहम् की चेतना' (Conscious of Ego) की आवश्यकता होती है उससे वह सर्वथा अछूता रहता है। (iii) श्रम की गतिशीलता मे बाधा — चूकि परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने जीवन निर्वाह की दृष्टि से सुरक्षित होता है इसलिए बेकारी के समय वह घर छोडकर बाहर जाना नही चाहता जिसके फलस्वरूप श्रम की गतिशीलता मे बाधा पहुचती है। (iv) बाल-विवाह एव अधिक सतानोत्पादन —संयुक्त परिवार प्रणाली ही बाल-विवाह (Child Marriage) की कुत्सित प्रथा के लिए पूर्णत उत्तरदाई है जिसके फलस्वरूप जनसख्या मे अधिक वृद्धि होती है। (v) पूजी के एकत्रीकरण मे बाधा —संयुक्त परिवार मे धन का एकत्रीकरण नही हो पाता। चूकि परिवार का प्रत्येक सदस्य यह समझता है कि उसके द्वारा कमाया हुआ धन समस्त परिवार पर व्यय हो रहा है, इसलिए इससे सदस्यो मे अपव्यय को प्रोत्साहन मिलता है। धन के एकत्रीकरण न हो सकने के फलस्वरूप बडे पैमाने पर उत्पादन करना एकदम अव्यावहारिक होता है। (vi) पारिवारिक अशांति —यद्यपि संयुक्त-परिवार मे मनुष्य त्याग की आदर्श भावना को सीखता है, तथापि कभी-कभी अपनी स्वार्थमयी भावना से प्रेरित होकर त्याग की भावना को तिलाजलि दे देता है। फलत आपसी ईर्ष्या, द्वेष, कलह और वैमनस्य को बढावा मिलता है और समस्त पारिवारिक जीवन अशांतिपूर्ण और कष्टकर हो जाता है। (vii) व्यक्तिगत साहस की भावना का अन्त —संयुक्त परिवार प्रणाली मे व्यक्तियो मे साहस और जोखिम उठाने की भावना (Spirit of Enterprise) का अभ्युदय नही हो पाता जिससे देश के आर्थिक विकास मे अवरुद्धता आती है।

संयुक्त परिवार प्रणाली का भविष्य :—वर्तमान परिस्थितियो मे कुछ प्रमुख कारक (Factors) सामूहिक रूप से संयुक्त परिवार प्रणाली विघटन (Disorganisation) के लिए उत्तरदाई हैं। इनमे से कुछ मुख्य कारक इस प्रकार हैं —(i) परिवहन एव सचार के सुविकसित साधनों ने बहुत से नवीन क्षेत्रो को प्रकाश म लाकर आर्थिक प्रगति को नवीन अवसर प्रदान किए हैं तथा साहसी प्रवृति के व्यक्तियो को इन अवसरो से आकर्षित करके, अपने परिवार को छोडकर नए सिरे से अपना जीवन क्रम निश्चित करने की प्रेरणा दी है। यही नही, इससे श्रम की गतिशीलता म भी सहायता मिली है जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार शनै शनै वैयक्तिक परिवार (Individualistic Family) का रूप लेते जा रहे हैं। (ii) औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप नए-नए उद्योग-धन्धों और व्यापार आदि के प्रारम्भ होने तथा नवीन औद्योगिक केन्द्रो की स्थापना ने भी इस दिशा को प्रभावित किया है। कृषि-भूमि पर जनसख्या के बढते हुए दबाव के कारण बहुत से व्यक्तियो को विवश होकर अपने परिवार छोडकर शहरो की शरण लेनी पडी है। (iii) पाश्चात्य शिक्षा एव व्यक्तिवाद की भावना के प्रसार के फलस्वरूप संयुक्त परिवार प्रणाली को कठोर आघात पहुचा है। (iv) वर्तमान युग मे "अस्तित्व के लिए सघर्ष" (Strugglo for Existanco) की बढती हुई उग्रभावना ने भी व्यक्तिवाद की भावना से सश्लिष्ट होकर संयुक्त परिवार प्रणाली को तीव्र आघात पहुचाया है।

(३) उत्तराधिकार के नियम (Laws of Inheritance)

भारत म हिन्दुओ और मुसलमानो मे अपने पृथक्-पृथक् उत्तराधिकार के नियम प्रचलित हैं, जो मुख्यत इस प्रकार हैं–**(अ) हिन्दुओ में उत्तराधिकार के नियम .** हमारे देश मे हिन्दुओ मे उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम दो प्रकार के हैं:— (i) मिताक्षर (Mitakshra) —मिताक्षर प्रणाली बगाल को छोडकर देश के समस्त भागो मे प्रचलित है। इस प्रथा के अन्तर्गत परिवार की सम्पत्ति पर सभी सदस्यो का दायित्व होता है। पुत्र अपने पिता के जीवनकाल मे ही पारिवारिक सम्पत्ति के स्वामी और बराबर के अधिकारी माने जाते हैं। (ii) दायभाग (Dayabhag) —यह प्रणाली केवल बगाल मे प्रचलित है। इस प्रथा के अन्तर्गत अपने जीवनकाल म पिता ही पारिवारिक सम्पत्ति का एकमात्र (Absolute) अधिकारी होता है। पुत्र अपने पिता के जीवनकाल मे सम्पत्ति का कोई हिस्सा नही माग सकते। पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्र उस सम्पति के स्वामी माने जाते हैं। सन् १९५६ के हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (The Hindu Succession Act, 1956) के अन्तर्गत अब हिन्दू परिवार की सम्पत्ति पर लडको, लडकियो, विधवा और विधुरों को बराबर हिस्सा दिया जाएगा। हिन्दू-स्त्री को उसके पति के समान ही सम्पत्ति की समान अधिकारिणी घोषित कर दिया गया है। **(आ) मुसलमानों में उत्तराधिकार के नियम .**—इस्लामी कानून के अनुसार सम्पत्ति म पुरुष और स्त्री का समान अधिकार समझा जाता है। सम्पत्ति के स्वामी की मृत्यु के पश्चात्

सम्पत्ति का विभाजन विविध प्रकार के उत्तराधिकारियो मे समान रूप से होता है। इस प्रकार मुसलमानो के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम बहुत कुछ सीमा तक हिन्दुओ के पुराने नियमो से मिलते जुलते हैं।

उत्तराधिकार के नियमों के आर्थिक प्रभाव (Economic Effects of Laws of Inheritance) —**लाभ** (Merits)—उत्तराधिकार के नियमो के मुख्य लाभ इस प्रकार है —(i) **समानता और न्याय** —चू कि इन नियमो के अनुसार पारिवारिक सम्पत्ति मे से परिवार के प्रत्येक सदस्य को समान भाग मिलता है, इसलिये यह कहा जा सकता है कि ये नियम समानता और न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है। (ii) **मध्यम वर्ग का अभ्युदय** —इन नियमो से समाज मे आर्थिक विषमता का बोलबाला नही दिखाई देता। ऐसा नही हो पाता कि यदि एक ओर कुछ गिने चुने व्यक्ति वैभवशाली, धनाढ्य और विलासी हो जाय, तब दूसरी ओर भूखे और नगे रहने वाले निर्धन व्यक्ति दिखाई दें। सम्पत्ति के समान वितरण के फलस्वरूप एक स्वाभिमानी मध्यम वर्ग का जन्म होता है जो अपने जीवन स्तर को स्थिर रखने के उद्देश्य से कठोर परिश्रम मे सलग्न रहता है। इसके साथ ही साथ यह वर्ग आर्थिक दृष्टि से समाज और राष्ट्र दोनो के लिये कल्याणप्रद सिद्ध होता है। (iii) **स्वतन्त्र कृषक-भूस्वामी वर्ग का विकास** —इन नियमो के द्वारा कृषि मे स्वतन्त्र कृषक-स्वामियो (Peasant Proprietors) का विकास होता है जो स्थिर ग्राम्य समाज को जन्म देते है। (iv) **सामाजिक सुदृढता** —सम्पत्ति के विभाजन मे समानता के व्यवहार से भाई भाई के हृदय मे विषमता की भावना का अभ्युदय नही हो पाता। यही नही, समाज मे प्रत्येक सदस्य को स्वतन्त्र जीवन यात्रा प्रारम्भ करने मे पैत्रिक-सम्पत्ति के रूप मे पर्याप्त सहायता मिल जाती है। इस प्रकार उत्तराधिकार के नियम सामाजिक जीवन को सचालित एव नियत्रित करके आर्थिक जीवन को प्रेरणा प्रदान करते हैं।

हानि (Demerits) —उत्तराधिकार के नियमो से उत्पन्न मुख्य हानिया इस प्रकार है —(i) **पूंजी के सचय मे बाधा** —चू कि इन नियमो के आधार पर सम्पत्ति का विभाजन और उप विभाजन होता रहता है इसलिये ये नियम बडी मात्रा मे पूजी के सचय मे बाधा उपस्थित करते हैं। फलत देश म बड पैमाने पर उत्पत्ति करने अथवा आर्थिक प्रगति करने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। (ii) **अनार्थिक जोतों मे वृद्धि** :—उत्तराधिकार के नियमो के कारण कृषि भूमि का निरन्तर उप-विभाजन और विखण्डन होता चला जा रहा है जिससे न तो इन खेतो में वैज्ञानिक यन्त्रो का प्रयोग किया जा सकता है और न ही आवश्यक मात्रा मे सुधार उपस्थित किये जा सकते है। परिणामत भारत म कृषि भूमि की प्रति एकड उपज दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। (iii) **पारस्परिक वैमनस्य** —सम्पत्ति के विभाजन के समय और बाद मे छोटी छोटी बातो को लेकर परस्पर झगडे होते हैं और मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है जिसमे समय शक्ति और धन की व्यर्थ मे बरबादी होती है।

(४) आर्थिक प्रगति और धार्मिक विश्वास

(Economic Progress and Religious Believes)

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतवासियों के आर्थिक क्रिया-कलापों पर धार्मिक भावना के प्रभाव को बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया है। भारत के नागरिकों की आर्थिक अवनति का मूलभूत कारण यहां की धार्मिक भावनाओं में खोजा गया है। श्रीमती वीरा एन्सटे के शब्दों में "धार्मिक प्रवृत्ति चाहे किसी भी विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है। यह दुरूह रूढ़िवादिता व अन्धविश्वास को जन्म देती है तथा प्रत्येक नवीनता का, चाहे वह कितनी ही जागृत और उदार क्यों न हो, तर्कहीन विरोध करती है। पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत में सामाजिक व आर्थिक उन्नति के लिए धार्मिक-विरोध को नष्ट करना अधिक कठिन है, क्योंकि यहां वर्तमान धार्मिक विश्वास तथा उससे उत्पन्न हुआ विशेष सामाजिक संगठन इस उद्देश्य में बाधक है।"

वस्तुतः हमारी धार्मिक भावनाओं ने हमारे आर्थिक एवं सामाजिक जीवन को पग-पग पर प्रभावित किया है। इस संसार और इसकी भौतिक वस्तुओं के प्रति नश्वरता की भावना हमें न केवल सुख के भौतिक साधनों से वंचित रखती है वरन् अकर्मण्य, निराशावादी और भाग्यवादी भी बना देती है। अहिंसा में विश्वास करने वाले भारतीय कृषक अपनी फसल को क्षति पहुंचाने वाले कीट और पशुओं को मारना अधर्म और महापाप समझते हैं। एक अनुमान के अनुसार कुल कृषि उपज का २०% भाग जंगली पशु और पक्षी खा जाते हैं और इस प्रकार प्रतिवर्ष ६० करोड़ रु० से भी अधिक की हानि होती है। इसी प्रकार बूढ़े और अनुत्पादक पशुओं को व्यर्थ में पालने से लगभग १७६ करोड़ रु० प्रतिवर्ष की क्षति का अनुमान लगाया जाता है। हमारे धर्म के ठेकेदारों ने विवाह, मृत्यु-भोज, मुण्डन आदि अवसरों पर अनावश्यक अपव्यय करने के धार्मिक नियम प्रचलित किए हुए हैं और इन अवसरों पर अज्ञान और अशिक्षित जनता ऋण लेकर पैसे को पानी की तरह बहाती है।

परन्तु धर्म का एक दूसरा पहलू भी है। वस्तुतः हमारा धर्म निष्क्रियता और इस संसार के प्रति पूर्णरूपेण उदासीनता की शिक्षा न देकर अपने अनुयायियों को निष्काम कर्मयोग की शिक्षा देता है। हमारा धर्म स्वार्थपरता को त्याग कर भौतिक वस्तुओं के उपार्जन की शिक्षा देता है और इस प्रकार धन को मानव-कल्याण के लिये (Wealth for Human Welfare) बताता है, मानव-कल्याण को धन के लिए (Human Welfare for Wealth) नहीं। प्राचीन युग में भी, जबकि हमारे देश में दर्शन और धर्म का प्रभाव था, भारतवासियों ने आर्थिक-क्षेत्र में असीम प्रगति की थी और उस समय हमारा देश संसार के सब देशों से श्रेष्ठ माना जाता था। श्रीकृष्ण ने गीता में निष्काम-कर्मयोग की शिक्षा दी है। वर्तमान युग में लोकमान्य तिलक और स्वामी दयानन्द ने भी कर्म को प्रधानता दी है। वास्तव में हमारी भाग्यवादिता, निराशावादिता और परलोकवादिता आदि बातें हमारी

निर्धनता और आर्थिक दुर्दशा के परिणाम है, उनके आवश्यक कारण नही हैं। हमारे धर्म ने हमे निरन्तर कर्ममार्ग पर प्रशस्त होने को आह्वान किया है परन्तु। कुछ विपम परिस्थितियो ने हमे भाग्यवादी और निराशावादी बनने को विवश किया है।

९

कृषि का महत्व और इसके पिछड़ेपन के कारण

(Importance of Agriculture and Causes of its Backwardness)

प्राक्कथन —भारत एक कृषि प्रधान देश है। देश की ७२% जनसख्या प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कृषि-साधनो पर आश्रित है। अन्य उद्योगो और व्यवसायो की अपेक्षा हमारी राष्ट्रीय आय म कृषि का भाग सर्वाधिक रहता है। *यद्यपि भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कृषि का विशेष महत्व है,* परन्तु भूमि पर जनसख्या के अत्यधिक भार प्रति एकड, न्यून उत्पादन, दोषपूर्ण कृषि प्रणाली तथा सगठन के कारण कृषि एक अलाभकारी उद्यम अथवा जीवनयापन का एक ढग (A Way of Life) मात्र रह गया है।

भारत में कृषि का महत्व (Importance of Agriculture in India) —भारतीय अर्थ-व्यवस्था म कृषि का महत्व इस प्रकार है —(i) **जन-सख्या की आश्रितता** —भारत की ७२% जनसख्या प्रत्यक्ष रूप से अपनी आजीविका के लिये कृषि पर निभर है। चूकि कृषि एक अनिश्चित व्यवसाय है, इसलिये जन-सख्या के वृहत् भाग का कृषि पर आश्रित होना हमारी अविकसित अवस्था का सूचक है। जबकि हमारे देश मे जनसख्या का ७२% भाग कृषि पर आश्रित है तब इगलैंड और अमेरिका म यह प्रतिशत क्रमश ५ और १२ है। कृषि-साधनो पर जनसख्या के भार का यह प्रतिशत दिन प्रतिदिन बढता ही जा रहा है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश की जनसख्या म प्रतिवष एक करोड की वृद्धि होती है। इसम से लगभग ४६ लाख व्यक्तियों की वृद्धि कृषि व्यवसाय पर होती है। (ii) **खाद्य सामग्री की उपलब्धि** —कृषि से देश की जनसख्या का खाद्य सामग्री प्राप्त होती है। यद्यपि कृषि भारत का एक मुख्य व्यवसाय है, तथापि इससे देश की सम्पूर्ण जनसख्या के भरण पोषण के लिये पर्याप्त खाद्यान का उत्पादन नही हो पाता। फलत हम प्रतिवष लाखो टन खाद्यान्न का आयात करना पडता है। सन् १९५७-५८, १९५८ ५९ १९५९ ६० और १९६०-६१ मे क्रमश १९२ करोड रु०, १५२ करोड रु०, १५५ करोड रु० और १४५ करोड रु० के मूल्य का खाद्यान्न विदेशो से आयात किया गया। वस्तुत द्वितीय योजना की आशिक असफलता का प्रमुख कारण भी देश म खाद्यान्न के उत्पादन म आवश्यकतानुसार वृद्धि का न होना ही था। फिर भी विगत दशाब्दी म भारत म खाद्यान्न के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १९५०-५१ मे खाद्यान्न का उत्पादन ५२२ लाख टन था जो सन् १९५५-५६ मे

बढकर ६५८ लाख टन तथा सन् १९६०-६१ मे ७६० लाख टन हो गया। तीसरी योजना म खाद्यान्नोत्पादन का लक्ष्य १,००० लाख टन रक्खा गया है। (iii) **राष्ट्रीय आय का मुख्य स्रोत** —वस्तुत कृषि देश की राष्ट्रीय आय का एक प्रमुख स्रोत है। कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ५० % भाग कृषि और पशु-पालन से प्राप्त होता है। (iv) **कृषि-आश्रित उद्योग** —हमारे देश के बहुत से महत्वपूर्ण उद्योग धन्धे, जैसे—कपडा, पटसन, चीनी, वनस्पति, घी तथा तेल आदि अपने कच्चे माल के लिये कृषि पर ही आश्रित हैं। इसके अतिरिक्त कृषि से सम्बन्धित बहुत से उद्योग-धधे, जैसे—कृषि यत्र बनाने तथा खाद बनाने के उद्योग भी अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर ही निर्भर हैं। (v) **अन्तर्देशीय व विदेशी व्यापार :**—भारत के आन्तरिक व्यापार मे कृषि-उपज के महत्व का अनुमान गावो मे और शहरी मडियो मे होने वाले व्यापार को देखकर लगाया जा सकता है। हमारे निर्यात व्यापार मे चाय, कपास, पटसन, तम्बाकू, मसाले और तिलहन आदि कृषि-उपजो का विशेष महत्व है। (vi) **परिवहन के साधन** —हमारे देश मे परिवहन के विभिन्न साधनो को अपनी आय का एक बडा भाग कृषि-उत्पादन तथा कृषक जनसख्या को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने मे प्राप्त होता है। (vii) **सरकार का वित्तीय ढाचा** —हमारे देश की राज्य सरकारो और केन्द्रीय सरकार का वित्तीय ढाचा (Financial Structure) भी एक निश्चित सीमा तक कृषि पर आश्रित है। मालगुजारी, सिचाई कर, कृषि आय पर कर, कृषि सम्पत्ति पर कर व सुधार कर, स्टाम्प फीस, रजिस्ट्रेशन फीस आदि राज्य सरकारो के आय के मुख्य साधन है जो पूर्णतया कृषि पर आश्रित व्यक्तियो से वसूल होते हैं। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार को भी निर्यात करो तथा उत्पादन-करो (Excise Duties) से प्राप्त आय का एक वृहत् भाग चाय, तम्बाकू आदि कृषि फसलो से प्राप्त आय प्राप्त होती है। (viii) **आर्थिक नियोजन:**—भारत के आयोजित विकास मे कृषि का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। वस्तुत आर्थिक नियोजन की सफलता कृषि-उत्पादन मे आशातीत वृद्धि से ही सम्भव है। प्रथम पचवर्षीय योजना मे कृषि को प्रधानता दी गई तथा किसी सीमा तक इस योजना की सफलता का मुख्य कारण भी कृषि उत्पादन म आशातीत वृद्धि ही था। द्वितीय योजना की आशिक असफलता का प्रमुख कारण कृषि-उत्पादन मे आवश्यकतानुसार वृद्धि का न होना था। तृतीय योजना के अन्तगत खाद्यान्न के विषय म देश को आत्मनिर्भर एव आगे पर्याप्त बनाने का लक्ष्य रक्खा गया है। (ix) **पशुओं के लिये चारा** –कृषि से देश के लगभग ३० करोड पशुओ को चारा मिलता है। (x) **अन्तर्राष्ट्रीय महत्व** —भारतीय कृषि का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी विशेष महत्व है। हमारा देश चाय, गन्ना और मूगफली का सबसे बडा उत्पादक है। कच्चे जूट और लाख के उत्पादन म भारत को एकाधिकार सा प्राप्त है तथा कपास, तिलहन और तम्बाकू के उत्पादन मे भी देश का ऊचा स्थान है। चूकि हमारे देश से चाय, तिलहन, लाख, तम्बाकू आदि कृषि-उपजो का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है, इसीलिये भारतीय कृषि का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी विशेष महत्व हो जाता है।

भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएं (Main Characteristics of Indian Agriculture) —भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार है — (1) **कृषि-भूमि का क्षेत्रफल** —एक अनुमान के अनुसार हमारे देश का समस्त क्षेत्र ८० ६३ करोड एकड है। इसमे से केवल ७२'१० करोड एकड अथवा कुल क्षेत्रफल के ८६ ४% भाग के उपयोग के ही आकडे उपलब्ध हैं। कुल क्षेत्रफल मे से केवल ३७ ८५ करोड एकड अर्थात ३६ ४% भूमि पर ही वास्तविक रूप से कृषि की जाती है। कुल क्षेत्रफल का लगभग १२% भाग कृषि-योग्य बजर भूमि के रूप मे है। द्वितीय योजना के अन्त तक देश मे कुल सिंचित क्षेत्र ७०० लाख एकड हो गया था। तीसरी योजना के अन्त तक देश मे कुल कृषित-क्षेत्र बढाकर ४० २० करोड एकड तथा कुल सिंचित-क्षेत्र ६०० लाख एकड करने का निश्चय किया गया है। इस योजना मे ७० लाख एकड कृषि-योग्य बजर भूमि को तोडकर कृषि योग्य बनाया जायेगा। (ii) **प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्रफल** —हमारे देश मे प्रति व्यक्ति जाती गई भूमि का क्षेत्र अपेक्षाकृत बहुत कम है। जबकि अमेरिका, आस्ट्रेलिया और कनाडा मे प्रति व्यक्ति जोती गई भूमि का क्षेत्रफल क्रमश ३'१७ एकड, ४'७१ एकड और ५'२६ एकड है तब भारत मे यह केवल १ १ एकड ही है। (iii) **कृषि श्रमिकों की अधिक सख्या** —भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे पूजी की अपेक्षा श्रम अधिक लगा हुआ है। ज्वकि इगलैंड, अमेरिका और पूर्वी यूरोपियन देशो मे प्रति १०० एकड भूमि पर लगे हुए व्यक्तियो की सख्या क्रमश ६, ६ से कम और १५ है, तव हमारे देश मे यह सख्या लगभग ८० या इससे भी अधिक है। फलत. भारत मे प्रति व्यक्ति औसतन आय अपेक्षाकृत बहुत कम है। (iv) **कृषि मे खाद्यान्न की प्रमुखता** —हमारे देश मे बोई जाने वाली कुल कृषि-भूमि के ७६% भाग पर खाद्यान्न की फसलें उगाई जाती हैं। चू कि भारत के छोटे छोटे खेतो मे कृषि प्रधानत जीवन निर्वाह के लिये ही की जाती है, इसलिए कृषि भूमि के वृहत् भाग पर खाद्यान्नोत्पादन करना स्वाभाविक ही है। खाद्यान्न की फसलो के अतिरिक्त हमारे देश मे चाय, कहवा, कपास, जूट, तिलहन, मसाले आदि व्यापारिक फसलें (Commercial Crops) भी उगाई जाती हैं। डा० बर्न्स (Dr. Berns) के मतानुसार यद्यपि भारत शाक और फल के उत्पादन मे बहुत पिछडा हुआ है, फिर भी देश मे शाक और फल के क्षेत्रो मे क्रमश कमी होती जा रही है। (v) **अनिश्चित निर्वाह** —भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषता इसकी अनिश्चितता है। यद्यपि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत कृषि के सिंचित-क्षेत्र मे पर्याप्त वृद्धि हुई है, तथापि कृषि-भूमि के विशाल क्षेत्रफल को देखते हुये यह सफलता "समुद्र मे बू द" के सदृश है। फलत आज भी भारतीय कृषि "मानसून का जूआ" (Gamble in Monsoons) बनी हुई है*।

---

* "*Indian Agriculture has been called a gamble in rains In any given year,* not only may the rains not arrive, but they may arrive too early or too late Even a year of normal average rainfall may, thus, witness famine conditions because of the untimely commencement or end of the monsoon and the uneven distribution of the rainfall over the season" —Nanawati and Anjaria, The Indian Rural Problems

डा० बलजीत सिंह (Dr Baljit Singh) ने अपनी पुस्तक "Wither Agriculture in India" मे लिखा है कि उत्तर प्रदेश मे ३५ वर्षों मे १६ वर्ष वर्षा कम होती है तथा ६ वर्षों मे सूखा रहता है। इसी प्रकार बगाल मे १० वर्षों मे केवल एक वर्ष ही ऐसा होता है जब सतोषजनक वर्षा होती है, नही तो प्रतिवर्ष प्रान्त के किसी न किसी भाग मे अनावृष्टि अथवा बाढ का प्रकोप रहता है। अत स्पष्ट है कि वर्षा की अनिश्चितता के कारण भारतीय कृषि एक अनिश्चित व्यवसाय ही है। (vi) **प्राचीन व दोषपूर्ण कृषि पद्धति** —हमारे देश की कृषि पद्धति भी विचित्र-सी है। च् कि इसमे प्रति एकड औसत उपज बहुत कम है, इसलिये इसे गहरी खेती (Intensive Cultivation) भी नही कहा जा सकता और चू कि इसमे प्रति एकड पू जी की अपेक्षा श्रम अधिक प्रयुक्त होता है, इसलिये इसे विस्तृत खेती (Extensive Cultivation) भी नही कहा जा सकता। इस प्रकार श्रम और पू जी का असतुलन (Unequilibrium) भारतीय कृषि की एक विशेषता है। (vii) **दोषपूर्ण सगठन** — भारतीय कृषक वैयक्तिक रूप से निर्धन है तथा उसके साधन इतने परिसीमित हैं कि वह सगठित रूप मे कृषि नही कर सकता। फलतः जमीदार, साहूकार, पट्टेदार आदि मध्यस्थो ने कृषको की अज्ञानता, अशिक्षितता एव निर्धनता से अनुचित लाभ उठाया तथा कृषक के जीवन को प्रतियोगी और शोषण के झझावात से त्रस्त बनाये रक्खा। (viii) **अलाभकारी अर्थ-व्यवस्था** —हमारे देश मे कृषि का प्रति एकड उत्पादन अपेक्षाकृत बहुत कम है। इसके साथ ही साथ देश मे कृषि-भूमि पर आश्रित जनसख्या का भार बहुत अधिक है। फलत कृषक परिवारो की औसत आय बहुत कम है। इस प्रकार भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था पूर्णतया अलाभकारी है। चू कि हमारे देश मे बेकारी की समस्या अपने प्रचण्ड रूप मे फैली हुई है, इसलिये अलाभकर व्यवसाय होते हुये भी बहुत से व्यक्ति कृषि को छोडने को तैयार नही हो पाते। अत यह कहा जाता है कि **"भारतीय कृषि कोई लाभकारी व्यवसाय न होकर जीवन-यापन का एक ढग-मात्र रह गई है।"**

भारतीय कृषि की पिछडी हुई दशा (Backwardness of Indian Agriculture) —भारत सरकार के भूतपूर्व कृषि-सलाहकार, डा० क्लाउस्टन (Dr Clouston) ने कहा था, **"भारत मे हमारी पिछडी हुई जातिया तो हैं ही, हमारे पिछडे हुए व्यवसाय भी हैं और दुर्भाग्यवश कृषि उनमे से एक है।"** यद्यपि कृषि भारत का एक मुख्य व्यवसाय है और देश की लगभग ७२% जनसख्या कृषि पर आश्रित है, तथापि खेद का विषय यह है कि भारतीय कृषि अविकसित अवस्था मे है। अन्य देशो से तुलना मे भारत मे प्रति एकड कृषि-उपज बहुत कम है। हमारे देश की अपेक्षा अमेरिका मे दुगुना गेहू, चौगुनी कपास तथा सवागुनी कच्ची खाड प्रति एकड उत्पन्न होती है। भारत मे प्रति एकड गेहू की औसत उत्पत्ति का अनुमान ५६३ पौण्ड है, जबकि आस्ट्रेलिया, कनाडा और अमेरिका मे यह क्रमश ८०६ पौंड, ६७६ पौंड और १,०७६ पौड है। इसी प्रकार हमारे देश म प्रति एकड चावल की उत्पत्ति केवल १,०४८ पौंड है, जबकि बर्मा, चीन और जापान मे यह क्रमशः

१२१६ पौंड, २२४८ पौंड तथा ३३२१ पौंड है। हमारे देश मे रूई और कच्ची खाड का प्रति एकड उत्पादन भी बहुत कम है। जबकि अमेरिका और मिस्र मे प्रति एकड रूई का उत्पादन क्रमश ३१२ पौंड तथा ५६० पौंड है, तब भारत मे यह केवल ८८ पौंड है। इसी प्रकार जबकि अमेरिका, क्यूबा और मारीशस मे प्रति एकड कच्ची खाड का उत्पादन क्रमश ३,७०१ पौंड, ४,५६७ पौंड तथा ६,१६२ पौंड है, तब भारत मे यह केवल ३,०६३ पौंड है

भारतीय कृषि की अविकसित अवस्था अथवा कम उत्पादन के कारण (Causes of Backwardness or Low Production of Indian Agriculture) — भारतीय कृषि की अविकसित अवस्था के मुख्य कारण इस प्रकार हैं —

(१) कृषि-भूमि का विभाजन और विखण्डन :—भारतीय कृषि मे प्रति एकड कम उत्पादन का एक प्रमुख कारण अनार्थिक आकार की जोतो (Uneconomic Holdings) का होना है। उत्तराधिकार के नियमो के फलस्वरूप देश मे कृषि-जोतो का उप-विभाजन (Sub-division) और विखण्डन (Fragmentation) होता जा रहा है। एक अनुमान के अनुसार मद्रास, असम, पश्चिमी बगाल व उडीसा मे खेतो का औसत क्षेत्रफल ४ ५ एकड तथा उत्तर प्रदेश मे २ ५ एकड है। जाल्धर जिले की एक जाच से पता चला कि वहा पर ५८४ कृषक भूमि के १६,००० टुकडो पर खेती करते थे और प्रत्येक खेत का औसत क्षेत्रफल ½ एकड था। *चू कि हमारे देश मे कृषि-जोतो का आकार अनार्थिक है,* इसलिये कृषि मे यन्त्रो का प्रयोग तथा अन्य किसी प्रकार का वैज्ञानिक सुधार असम्भव है।

(२) भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार—(Excessive Pressure of Population on Land) —हमारे देश की लगभग ७२% जनसख्या अपनी आजीविका के लिए कृषि-साधनों पर निर्भर है। यही नही, कृषि पर आश्रित जनसख्या का यह भार दिन-प्रतिदिन बढता ही चला जा रहा है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश की जनसख्या मे प्रतिवर्ष १ करोड की वृद्धि होती है। इसमे से लगभग आधी जनसख्या की वृद्धि कृषि व्यवसाय पर होती है। जनसख्या के बढते हुए भार के साथ ही साथ कृषि-जोतो के उप-विभाजन और विखण्डन की समस्याए गहन रूप धारण करती जा रही हैं। वस्तुत कृषि-व्यवसाय पर जनसख्या के वृहत् भाग का आश्रित होना न केवल कृषि की अविकसितता का सूचक है वरन् देश की अर्थ-व्यवस्था के असतुलित विकास (Unbalanced Development) का भी परिचायक है।

(३) भूधारण की दोषपूर्ण प्रणाली (Defective System of Land Tenure) —कुछ दिनों पूर्व तक भारत के विभिन्न भागों मे जमीदार, जागीरदार और इनाम आदि मध्यस्थो के पास देश की लगभग ४० प्रतिशत भूमि थी। ये मध्यस्थ अपनी भूमि को लगान पर कृषकों को देते थे। मध्यस्थ कृषको

से मनमाना लगान वसूल करते तथा अनेक प्रकार की भेंट व बेगार आदि लेकर उनका बुरी तरह शोषण करते थे। उस स्थिति में कृषि अथवा कृषकों की स्थिति में सुधार आना नितान्त असम्भव था। इस समय तक कुछ गौण मध्यस्थो को छोडकर शेष सबके उन्मूलन का कार्य पूरा किया जा चुका है। मध्यस्थों की समाप्ति होने से २ करोड से अधिक कृषकों का सीधा सम्बन्ध राज्य से जुड गया है और कृषि योग्य परती (Fallow) पडी पर्याप्त भूमि तथा निजी वन सरकार के प्रबन्ध मे आ गए है।

(४) **फसलों के रोग व कीटाणु** —हमारे देश मे भूमि को उचित मात्रा मे, खाद व पानी न मिलने के कारण फसलें शीघ्र ही रोगग्रस्त हो जाती हैं। यही नहीं, प्रतिवर्ष टिड्डी दल और जगली पशु पक्षी भी कृषक की फसलो का विनाश करते रहते हैं। एक अनुमान के अनुसार जगली पशु पक्षी और कृमिकीट आदि कृषको की फसल का २०% भाग खा जाते हैं जिससे प्रतिवर्ष लगभग ६० करोड रु० की क्षति होती है।

(५) **पशुओं की हीन दशा** —हमारे देश मे विश्व की कुल पशु-संख्या का ¼ भाग है। परन्तु हमारे पशु अपेक्षाकृत बहुत दुर्बल और अक्षम हैं। भारतीय कृषक निर्धनता एव अज्ञानतावश पशुओ का यथोचित पालन-पोषण नही करता। फलतः उसके पशु दुर्बल रहते हैं तथा शीघ्र ही रोगो के शिकार होकर मृत्यु का ग्रास बनते है। पशुओ की हीनावस्था के परिणामस्वरूप कृषक अधिक कुशलता से कृषि कार्य नही कर पाते। यही नहीं, हमारे देश के कृषक अपनी अज्ञानता और धार्मिक अन्ध विश्वास के कारण अनुत्पादक पशुओ को मारना पाप समझते हैं तथा उनके भरण पोषण के रूप अनावश्यक हानि उठाने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत मे बूढ़े एव अशक्त पशुओ के भरण-पोषण पर अनावश्यक व्यय से प्रतिवर्ष लगभग १७६ करोड रु० की क्षति होती है।

(६) **उत्तम बीज, खाद व सिंचाई का अभाव** — यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि अच्छी फसल के लिए उत्तम जलवायु, उत्तम कोटि का बीज, पर्याप्त वर्षा अथवा सिंचाई तथा भूमि को उर्वर बनाए रखने वाले तत्व-खाद की परमावश्यकता होती है। हमारे देश मे कृषि के पिछड़ेपन का मूल कारण इन सब साधनो की अपर्याप्यता एव अनुपयुक्तता है। एक अनुमान के अनुसार भारत मे उत्तम कोटि का बीज गन्ना-क्षेत्र के ६५% भाग मे, पटसन-क्षेत्र के ५०% भाग मे तथा गेहू व कपास-क्षेत्र के २०% भाग मे ही बोया जाता है। सन् १९६०–६१ मे केवल ५५० लाख एकड भूमि मे खाद्यान्न के उन्नत बीज बोये गए। उत्तम कोटि के बीजो के अभाव के साथ-साथ हमारे देश मे पर्याप्त मात्रा मे खाद का भी प्रयोग नहीं किया जाता है। एक अनुमान के अनुसार भारत मे प्रतिवर्ष उपलब्ध गोबर (लगभग ८० लाख टन) का ४०% भाग उपले बनाकर जला लिया जाता है, २०% भाग व्यर्थ मे ही नष्ट हो जाता है और केवल ४०% भाग ही खाद के रूप मे खेतो तक पहुच पाता है। यही नही, हमारे देश मे खाद बनाने तथा खेतो मे खाद डालने की विधियां भी अवैज्ञानिक

और दोषपूर्ण हैं जिसके फलस्वरूप खाद के बहुत से उर्वरक तत्व नष्ट हो जाते हैं। प्राय भारतीय कृषक गोबर और कूड़े कर्कट आदि को गड्ढे मे न भरकर खुला ढेर लगाते हैं तथा खेतो मे खाद देते समय भी खेतो मे खाद की छोटी-छोटी ढेरी लगा देते हैं। कृषि वैज्ञानिको (Agricultural Scientists) का अनुमान है कि खाद बनाने और खेतो म खाद देने की इन क्रियाओ से लगभग ३३% खाद के उर्वरक-अश वायु, धूप और वर्षा से नष्ट हो जाते हैं। गोबर की खाद के अतिरिक्त भारत मे रसायनिक खाद का उत्पादन आवश्यकता से बहुत कम है, कम्पोस्ट खाद बनाने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, खली की खाद को तिलहन के रूप मे ही विदेशो को निर्यात कर दिया जाता है तथा अपनी धर्मान्धता एव अज्ञानतावश भारतीय कृषक हड्डी और मछली की खाद का प्रयोग नही करता और हरी खाद का प्रयोग भी बहुत कम करता है। उत्तम कोटि के बीज और पर्याप्त मात्रा मे खाद के के अभाव के साथ ही साथ उपयोग हमारे देश मे सिचाई के साधन भी अपर्याप्त हैं अनुमानत भारत मे जोती हुई भूमि के केवल २१ ४% भाग मे ही सिंचाई की व्यवस्था है। इस प्रकार शेष ७८ ६% कृषि भूमि पर फसलो का अच्छा या खराब होना वर्षा की उपयुक्तता और पर्याप्तता पर निर्भर करता है। विगत वर्षों के आकडों से स्पष्ट है कि भारत मे प्रत्येक ५ वर्षों में से केवल १ वर्ष ही पर्याप्त एव निश्चित् वर्षा होती है, २ वर्ष अनिश्चित और अपर्याप्त वर्षा होती है तथा शेष २ वर्ष सूखा अथवा भयकर बाढ की स्थिति रहती है। वर्षा की इस अनिश्चितता, अपर्याप्तता और असामयिकता के कारण भारतीय कृषि मानसून का जूआ (Gamble in Monsoons) बनी हुई है।

(७) प्राचीन एव अवैज्ञानिक कृषि पद्धति —भारतीय कृषि मे प्रयोग होने वाले यन्त्र और पद्धतिया अत्यन्त पुरातन (Primitive) एव अवैज्ञानिक (Unscientific) हैं। भारतीय कृपक अनन्तकाल से भूमि को बिना समुचित विश्राम दिये जोतता आ रहा है जिससे उसकी उर्वरा शक्ति क्षीण हो गई है। जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ अनार्थिक आकार के खेत (Uneconomic Holdings) बनते जा रहे हैं जिनमे वैज्ञानिक कृषि-यन्त्रों एव कृषि-पद्धतियों का प्रयोग एकदम अव्यवहारिक है। यही नही, हमारे देश मे बीज बोने, खाद डालने तथा सिचाई करने के ढग भी नितान्त दोषपूर्ण हैं। फसलो के हेर-फेर और मिश्रित-फसल (Rotation of Crops and Mixed Cropping) के सिद्धान्त को ठीक प्रकार से नहीं अपनाया जाता और न ही भूमि की खोई हुई उर्वरता को पुन प्राप्त करने के लिये एक या दो फसल बोने के पश्चात् भूमि को परती (Fallow) छोड़ा जाता है। इन सब कारणो के फलस्वरूप हमारे देश मे कृषि का प्रति एकड उत्पादन अपेक्षाकृत बहुत कम है। डा० वायलकर (Voelcker) ने अपना भिन्न मत प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि भारतीय कृषि पद्धति पुरातन नहीं है। उन्हीं के शब्दों मे, "भारतीय कृपक ब्रिटेन के कृपक के सदृश्य ही अच्छा और अनेक विषयों मे उससे भी अच्छा है। साधनों की अनुपस्थिति में भी वह शातिपूर्वक और बिना किसी प्रकार का विरोध किए कठिनाइयों से संघर्ष

करता रहता है। भारत के किसान को मिट्टी का अच्छा ज्ञान है, उसे बोने और काटने के उचित समय का पता है तथा फसलो के हेर-फेर (Rotation of Crops), मिश्रित-फसलें (Mixed Crops) एव परती छोडने (Fallow of Land) के सम्बन्ध मे उसे आवश्यक जानकारी है। वस्तुत सावधानीपूर्वक की गई खेती का इससे अधिक पूर्ण चित्र अन्यत्र सम्भवत ही देखने को मिलेगा।"

(८) निर्धनता एवं अशिक्षा—भारतीय कृषि के पिछडे रहने का प्रधान कारण कृषक का निर्धन, अशिक्षित एव अन्धविश्वासी होना है। हाल का ही अनुभव है कि सरकार द्वारा अनेक बातो के प्रदर्शन करने पर तथा उनके लाभ जानकर भी भारतीय कृषक निरक्षरता एव अन्धविश्वास के कारण उन्हे नही अपना सके। कृषको की निरक्षरता का अनुचित लाभ उठाकर गाव के साहूकार और महाजन उनका अधिकाधिक शोषण करते हैं। धर्मान्धता एव भाग्यवादिता के कारण भारतीय कृषक टिड्डी, जगली पशु-पक्षियो तथा कीडो से अपनी फसल की रक्षा नही करता। इसके साथ ही साथ निर्धनता के कारण कृपक अच्छे यत्र, खाद और बीज का प्रयोग करने मे असमर्थ रहता है जिससे उनमे अपना उत्पादन बढाने की क्षमता और साहस और भी कम हो जाते है। अशिक्षा एव असहकारी भावना के कारण हमारे देश के कृषक छोटी-छोटी बातो पर आपस मे झगड बैठते हैं और मुकदमेबाजी म अपना बहुत सा अमूल्य समय व गाढे पसीने की कमाई को नष्ट कर देते हैं।

(९) कृषको की ऋणग्रस्तता—भारतीय कृषि की कम उपज अथवा अविकसित अवस्था का सर्वप्रमुख कारण कृषको की ऋणग्रस्तता है। अनुमानत हमारे देश के ७०% कृषक ऋण के भार से बुरी तरह से ग्रस्त है और प्रति कृषक परिवार ऋण की औसत मात्रा २८३ रु० है। एक विद्वान के शब्दों मे "भारतीय **कृषक ऋण मे ही जन्म लेता है ऋण मे ही अपने जीवन को बिता देता है और मृत्यु-उपरान्त अपने ऋण का भार अपनी सतान पर धरोहरस्वरूप छोड जाता है।**" ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप भारतीय कृषक अपना समय, शक्ति और धन कृषि की समुन्नति मे नही जुटा पाता। एक अनुमान के अनुसार कृषक अपनी आवश्यकता का ६० से ७० प्रतिशत तक ऋण ग्रामीण महाजनो एव साहूकारो से लेते हैं। ये साहूकार और महाजन कृषको से मनचाहा ब्याज वसूल करते हैं तथा दूसरी प्रकार की बेगार व भेंट आदि लेकर कृषको का अधिकाधिक शोषण करते हैं। कृषको की साख-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भारत मे सहकारी साख समितियो की व्यवस्था एक महत्वपूर्ण तत्व है। परन्तु खेद का विषय है कि ये समितिया कृषको की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ के केवल १२% भाग की पूर्ति कर पाती है। फलतः विवश होकर कृषक को महाजनो से ऊची ब्याज की दर पर ऋण लेना पडता है। इन महाजनो की ब्याज की दर तथा ऋण वसूल करने के ढग ऐसे विचित्र होते है कि एक बार ऋण लेने के पश्चात् कृषक और उसकी भावी पीढिया महाजन के क्रूर चगुल से नही छूट पाते। अत कृषक का अपने जीवन-स्तर को ऊचा करने अथवा कृषि की समुन्नति करने का विचार एक स्वप्न-मात्र रह जाता है।

(१०) दोषपूर्ण कृषि-विपणन :—अन्यान्य कारणो के साथ-साथ कृषि-विपणन की दोषपूर्ण व्यवस्था भारतीय कृषि के पिछड़ेपन का महत्वपूर्ण कारण है। कृषि-उपज की विपणन व्यवस्था के कुछ दोषपूर्ण तत्व इस प्रकार हैं —सर्वप्रथम, ग्रामीण साहूकार और महाजन, जिनका कि कृपक ऋणी होता है, कृषक को इस बात के लिये विवश करते हैं कि वह सस्ते भाव पर अपनी फसल उन्ही के हाथो बेच दे। दूसरे, लगान अथवा सिंचाई कर चुकाने के लिये अथवा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भारतीय कृषक को अपनी फसल उस समय बेचनी पड़ती है जबकि उसकी वस्तुओं के दाम बहुत कम होते हैं। तीसरे, हमारे देश मे गावो से मडियो तक कृषि उपज को लाने के लिये परिवहन के समुन्नत साधन नही हैं जिससे या तो कृषको को अपनी फसल नीचे भाव पर गाव मे ही महाजनो अथवा व्यापारियो को बेच देनी पडती है अथवा ऊचा परिवहन-व्यय वहन करना पडता है। चौथे, भारत मे कृषक एव उसकी उपज के उपभोक्ता के बीच अनेक मध्यवर्ती होते हैं जो उसकी उपज के मूल्य का एक वृहत् भाग हड़प कर जाते हैं। अन्त मे, मडियों मे *"शागिर्दी", "धर्मखाता", "गौशाला"* और *"रामलीला"* आदि वसूलियो के रूप मे कृषको से बहुत सा रुपया बटोर लिया जाता है। एक अनुमान के अनुसार कृषक को अपनी उपज के वास्तविक मूल्य मे से चावल के मूल्य मे रुपये मे सवा आठ आने तथा गेहू के मूल्य मे रुपये मे सवा नौ आने ही मिल पाते हैं। इस स्थिति मे कृषक का अपना उत्पादन बढ़ाने का उत्साह और शक्ति क्षीण हो जाते हैं।

(११) कुटीर उद्योगों का पतन —ब्रिटिश सरकार की विरोधी एव अहस्तक्षेपपूर्ण प्रबन्ध-नीति (Laissez Faire Policy) के फलस्वरूप हमारे देश के गृह उद्योगो का पतन होता गया। फलत कृषि-भूमि पर जनसख्या का भार बढता गया तथा सहायक आय पाने के साधन के रूप मे कृषक के पास कोई धन्धा शेष नही रह गया। अनुमानत भारतीय कृषक वर्ष भर मे ४–५ महीने बेकार रहता है। इस स्थिति मे यदि उसे सहायक कार्य के रूप मे कोई काम मिल जाए, तब वह अपने *जीवन-स्तर को ऊचा उठा सकता है तथा साधन और शक्ति बटोर कर* कृषि में आवश्यक सुधार कर सकता है। यद्यपि हमारी पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत गृह-उद्योगो (Cottage Industries) के विकासार्थ पूर्ण प्रयत्न *किये जा रहे हैं*, परन्तु अभी तक ये समस्त प्रयत्न और इनसे प्राप्त सफलता नगण्य हैं।

(१२) फसलो की कृषि पर अत्यधिक निर्भरता :—हमारे देश मे अधिकांशत फसलो की कृषि (Crop Farming) होती है और मिश्रित खेती (Mixed Farming) *अर्थात् फसलो की खेती के साथ-साथ सब्जियों व फलों की* खेती तथा पशुपालन पर बहुत कम महत्व दिया जाता है। भारतीय कृषक का गाय-*भैस पालने का उद्देश्य परिवार के सदस्यों के लिये घी, दूध प्राप्त करना ही है*, डेरी-कृषि (Dairy Farming) को एक व्यवसाय के रूप मे अपनाना नहीं जबकि आयरलैण्ड और डेनमार्क आदि देशों मे डेरी-व्यवसाय कृषि का एक आवश्यक अग बन गया है। यही कारण है कि हमारे देश के कृषक का जीवन-स्तर इतना

निम्न है तथा कृषि अविकसित अवस्था मे है।

(१३) कृषक का दुर्बल स्वास्थ्य :—भारतीय कृषक का रहन-सहन का स्तर अत्यन्त निम्न है। उसे न तो भरपेट भोजन मिल पाता है और न ही तन ढापने के लिये पर्याप्त वस्त्र। वर्षा और आधी, शीत और घाम मे अपने जीवन की बाजी लगा देने वाला भारतीय कृषक रूखा-सूखा खाकर सन्तोष की ठण्डी सास भरते हैं तथा प्राकृतिक प्रकोपो एव आपदाओ के समय अपने भाग्य को कोसकर अन्त मे मृत्यु-शय्या का आलिगन करने को उद्दीप्त रहते हैं। चूकि भारत के अधिकाश कृषक निर्धन हैं, इसलिये बीमारी के समय चिकित्सा की सुविधाओ को प्राप्त कर सकना उनके लिये नितान्त दुष्कर होता है जिससे उनका स्वास्थ्य और उनकी कार्यक्षमता बहुत गिरी हुई होती है, जो कृषि की उन्नति के लिये एक सबसे बडा अभिशाप है और कदाचित उसके विकास मार्ग मे सबसे बडा अवरोधक है।

भारतीय कृषि के विकास के लिए आवश्यक सुझाव (Suggestions for Improvement in Indian Agriculture) :—सयुक्त राष्ट्रसघ (U N.O) के कृषि एव खाद्य विभाग (F.A O.) के डायरेक्टर श्री० एन० सी० डॉड (Sri N C Daud) ने भारतीय कृषि की समुन्नति के लिये कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार दिये है —(i) वनो के अनावश्यक एव अनियमित शोषण को रोककर भूमि-सरक्षण के साधन जुटाने चाहिए। (ii) नलकूपो द्वारा सिंचाई के क्षेत्र को विस्तृत करना चाहिये। (iii) रासायनिक खाद के प्रयोग मे वृद्धि लाने की अपेक्षा दाल वाली फसलो को अधिक उगाना चाहिये जिससे कि भूमि मे नाइट्रोजन का सग्रह हो सके तथा अधिक समय तक पानी मे नमी बनी रहे। (iv) केवल बडे-बडे खेतो मे ही मशीनो का उपयोग करना चाहिये तथा (v) फसलो का सगठन व सुधार वैज्ञानिक विधि से करना चाहिये।

देश मे प्रति एकड कृषि उत्पादन बढाने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं :—

(१) **लघुस्तरीय व कुटीर उद्योगो का विकास** :—कृषि पर जनसख्या के दबाव को कम करने के लिये देश मे उद्योग-धन्धो तथा अन्य रोजगारो का तीव्रता से विकास किया जाना चाहिये। कृषको की अर्ध बेरोजगारी को समाप्त करने के लिए लघुस्तरीय एव गृह उद्योगो (Small Scale and Cottage Industries) का विकास नितान्त आवश्यक है। इससे न केवल कृषको का जीवन-स्तर ऊंचा होगा वरन् देश का बहुमुखी विकास होकर देश की अर्थ-व्यवस्था मे सतुलन आ सकेगा। वस्तुत कृषि पर निर्भर जनसख्या के प्रतिशत को कम करने के लिये ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को विविधीकृत करना अनिवार्य है। ग्रामीण क्षेत्रो म उपलब्ध जनशक्ति के पूर्ण उपयोग के लिये ग्रामीण निर्माण-कायक्रमो तथा कुटीर व लघु उद्योगो का विकास करना नितान्त आवश्यक है।

(२) **जनसंख्या की वृद्धि पर रोक** — जनसख्या की वृद्धि को एक अवधि तक स्थिर रखना आयोजित विकास का केन्द्र-बिन्दु है। अत. भूमि पर

जनसंख्या का भार कम करने, विखण्डीकरण एवं उप खंडन की समस्या को रोकने, कृषकों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने तथा भारत में आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के उद्देश्य से जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण लगाना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये परिवार नियोजन का कार्यक्रम अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसके लिये ग्रामीण व्यक्तियों को शिक्षित करना, उनके लिये व्यापक पैमाने पर सुविधाओं और परामर्श की व्यवस्था करना तथा ग्रामीण समुदायों में अन्य लोकप्रिय प्रयत्न करना आवश्यक है।

(३) चकबन्दी और सहकारी खेती—भारतीय कृषि में जोतों की अनार्थिक इकाइयों को समाप्त करने के लिये अथवा उप-विभाजन और विखण्डन की समस्याओं को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि—(अ) वर्तमान आर्थिक जोतों को बनाए रक्खा जाय तथा इनका और अधिक उप विभाजन वैधानिक वर्ज्य हो, (आ) व्यक्तिगत खेतों की अधिकतम व न्यूनतम सीमाएं निश्चित की जाए, (इ) एच्छिक, सहकारी अथवा अनिवार्य (वैधानिक) चकबन्दी के आयोजन द्वारा विखंडीकरण की समस्या को दूर किया जाय तथा नये विखंडीकरण को रोकने के लिये राज्य सरकारों द्वारा अधिनियम पास किये जाएं जिनके अन्तर्गत एक प्रमाणिक क्षेत्रफल अथवा उससे कम क्षेत्रफल के खेतों के पुनः विभाजन को वर्जित कर दिया जाये तथा (ई) सहकारी कृषि को प्रोत्साहित किया जाये।

(४) सिंचाई के साधनों का विकास—कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिये सिंचाई के साधनों का विकास करना नितान्त आवश्यक है। सिंचाई की व्यवस्था के अन्तर्गत नहरों, कुओं, नलकूपों और तालाबों का निर्माण किया जाना चाहिये। यद्यपि इस समय हमारे देश में विभिन्न बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनाओं (Multi purpose Valley Projects) के अन्तर्गत सिंचाई की सुविधाओं में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो रही है, तथापि कृषि के महत्व तथा कृषि के क्षेत्रफल की विशालता को देखते हुए सरकार के ये प्रयत्न नगण्य हैं। अतः देश में उपलब्ध पानी-साधन के अधिकाधिक उपयोग की आवश्यकता है। चूंकि बाढ़-नियन्त्रण, जल-निकासी और जल-प्लावन को रोकने के कार्य सिंचाई से गहन सम्बन्धित हैं, इसलिये व्यापक विकास योजनायें बनाते समय इन सब पर एक साथ विचार करने की आवश्यकता है। यही नहीं, सिंचाई परियोजनाओं से शीघ्र लाभ पाने के लिये *हैडवर्क्स, नहरें, सहायक नदियां, जलमार्ग और खेतों की नालियां बनाने का काम एक* साथ सम्पन्न करना चाहिये। ये योजनाएं स्थानीय निर्वाचित निकायों के सहयोग से पूरी की जानी चाहियें अर्थात् जहां तक सम्भव हो सके, श्रमिक सहकारी संस्थाओं और स्वयं सेवक संगठनों से काम लेना चाहिये, ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक व्यक्तियों को रोजगार मिल सके।

(५) कृषि में नवीन यन्त्रों का प्रयोग—कृषि-उत्पादन में वृद्धि लाने के लिये नवीन वैज्ञानिक कृषि यन्त्रों का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। उन्नत किस्म के कृषि उपकरणों के प्रयोग करने के लिये कई दिशाओं में कदम उठाने चाहियें—

(अ) प्रत्येक राज्य मे उन्नत प्रकार के कृषि उपकरणो के लिये अनुसन्धान परीक्षण तथा प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना करनी चाहिये। (आ) भारतीय कृषि की स्थिति के अनुसार ऐसे यन्त्रो का निर्माण किया जाना चाहिये जो अपेक्षाकृत सस्ते हो और छोटे-छोटे खेतो पर प्रयोग मे लाये जा सकें। (इ) उन्नत प्रकार के कृषि उपकरणो का प्रदर्शन करने और उन्हें लोकप्रिय बनाने के लिये जिला और खण्ड स्तर पर राज्य सरकारो द्वारा उपयुक्त विस्तार व्यवस्था होनी चाहिये तथा (ई) इन उपकरणो की पूर्ति के लिये ऋण सम्बन्धी निश्चित प्रबन्ध होना चाहिये और समस्त विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रो मे कृषि कारखानो की स्थापना करनी चाहिए।

(६) कृषि की नवीनतम पद्धतियो का प्रयोग—कृषि यन्त्रो का प्रयोग केवल बडे-बडे खेतो पर करना ही लाभप्रद है, परन्तु छोटे छोटे खेतो की उत्पादकता मे वृद्धि लाने के लिये कृषि की आधुनिकतम और वैज्ञानिक पद्धतियो को प्रयोग मे लाया जाना चाहिये। फसलो का हेर-फेर, मिश्रित फसलो का उत्पादन तथा फसलो के बोने और काटने की वैज्ञानिक पद्धतियो द्वारा प्रति एकड कृषि-उत्पादन मे बहुत कुछ वृद्धि की जा सकती है।

(७) उत्तम तथा उत्कृष्ट बीजो का प्रयोग—कृषि विशेषज्ञो (Agricultural Experts) का मत है कि उन्नत कोटि के बीजो के प्रयोग मे कृषि-उत्पादन मे १५% से २०% तक वृद्धि लाई जा सकती है। अत उन्नत एव उत्कृष्ट कोटि के बीजो के प्रयोग के लिये कृषि-अनुसधान सस्था मे खोज की जानी चाहिये तथा बीजो के एकत्रीकरण के लिये बीजगोदामो की स्थापना की जानी चाहिये।

(८) पर्याप्त मात्रा में खाद का प्रयोग—हमारे देश मे गोबर की खाद बहुत बडी मात्रा मे प्रयुक्त की जा सकती है। अत गोबर की खाद को अधिकाधिक मात्रा मे प्रयोग मे लाने के लिये यह अच्छा होगा कि देशवासियो की ईंधन की आवश्यकता की पूर्ति अन्य साधनो से की जाये। यही नही, गोबर की खाद बनाने तथा उसके प्रयोग के उपयुक्त ढग के विषय म कृषको को शिक्षित किया जाना चाहिये। प्रदर्शनो एव प्रचार द्वारा कृषको को कम्पोस्ट खाद, हरी खाद, हड्डी-विष्ठा और मछली की खाद तथा खली की खाद के प्रयोग करने के लिये उद्यत करना चाहिए। कृषि-विशेषज्ञो का अनुमान है कि पर्याप्त मात्रा मे खाद, उन्नत कोटि के बीज तथा सिंचाई की समुचित व्यवस्था द्वारा कृषि-उत्पादन मे १००% से २००% तक वृद्धि की जा सकती है। इस समय हमारी सरकार कम्पोस्ट खाद तथा रासायनिक खाद की पूर्ति के लिये महत्वपूर्ण कदम उठा रही है।

(९) फसलों के रोगो तथा कीटाणुओ पर नियन्त्रण—फसलो को उनके रोगो तथा कीटाणुओ से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार की ओर से फसलो मे कीट-नाशक दवाइया छिडकी जाए तथा कृषको मे फसलो के रोगो पर नियन्त्रण करने का ज्ञान प्रसारित किया जाये। जगली पशुओ से फसलो की रक्षा करने के लिये खेतो के चारो ओर तार लगाने चाहियें तथा उनकी रखवाली की समुचित व्यवस्था करनी चाहिये।

(१०) पशुओं की दशा में सुधार—अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय कृषि मे पशु-श्रम का अत्यधिक प्रयोग होता है। वस्तुत भारत की कृषि अर्थ-व्यवस्था मे पशुओ का विशेष महत्व है। पशुओ की हीनावस्था को समुन्नत बनाने के लिये यह आवश्यक है कि (अ) पशुओ के चारे-पानी, उनके बाधने के स्थान की सफाई तथा पशुओ की चिकित्सा की समुचित व्यवस्था की जाए। (आ) पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए उत्तम नस्ल के साड पाले जायें तथा घटिया नस्ल के साडों को बधिया (Sterlize) कर दिया जाए तथा (इ) बूढ़े और अनुत्पादक पशुओ को विनष्ट कर दिया जाए।

(११) साख सुविधाओ की व्यवस्था—कृषको की अल्पकालीन, मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन साख सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि (अ) हरएक ग्राम मे सहकारी साख समिति की स्थापना की जाए जिसमे प्रत्येक कृषक को सदस्य बनाया जाए तथा जिसके द्वारा कृषको की अल्पकालीन व मध्यमकालीन साख सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति की जाए। यही नही, इन समितियों द्वारा कृषकों मे अल्प बचत की प्रेरणा को प्रोत्साहित करके इसके आधार पर अधिकाधिक मात्रा मे साख का सृजन किया जाए। (आ) कृषकों की दीर्घकालीन साख सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना की जाए। (इ) व्यापारिक बैंको को गावो मे शाखाए खोलने के लिये प्रोत्साहित किया जाए। (ई) सरकार द्वारा सरल किश्तो पर तकावी ऋण देने की व्यवस्था की जाए तथा (उ) गाव के महाजनो की क्रियाओ एव उनकी ब्याज की दरों को कानून द्वारा निश्चित एव नियन्त्रित किया जाए।

(१२) शिक्षा का प्रचार—वस्तुतः अन्यान्य उपायो के साथ-साथ कृषक वर्ग को शिक्षित बनाना, कृषि एव कृषक की समुन्नति के लिये प्रथम अनिवार्य दशा है। शिक्षा के प्रचार द्वारा न केवल कृषकों की रूढिवादिता, अन्धविश्वास एव भाग्यवादिता को विनष्ट किया जा सकेगा वरन् उनके जीवन को वास्तविकता के निकट लाकर, उन्हे प्रगति पथ पर आरूढ किया जा सकेगा। शिक्षा की योजना के अन्तर्गत कृषि-शिक्षा की व्यवस्था करना कृषि-विकास के क्षेत्र मे "चार चाद लगाने" के सदृश होगा। जहा एक ओर सामान्य-शिक्षा कृषको को व्यावहारिक ज्ञान से लाभान्वित करेगी, वहा दूसरी ओर कृषि-शिक्षा (Agricultural Education) उन्हे कृषि की सूक्ष्मताओ एव उसकी प्रगति की यथासम्भव सम्भावनाओ एव विधियों के ज्ञान से परिपूर्ण कर सकेगी।

(१३) कृषि-उपज के विपणन की सुव्यवस्था— कृषि-उपज की दोषयुक्त विपणन प्रणाली को हटाने के लिये यह परमावश्यक है कि (अ) सहकारी विपणन (Co-operative Marketing) द्वारा उत्पादक और उपभोक्ता के बीच के मध्यवर्तियों को हटाया जाए। (आ) गावो को मडियो से मिलाने के लिये परिवाहन के सस्ते और सरल साधनो का विकास किया जाए, मडियो की वसूलिया नियमित की जाए तथा विभिन्न प्रकार की धोखे बाजियो को कानून द्वारा हटाया जाए। (इ)

नियमित बाजारो (Regulated Markets) की व्यवस्था की जाए तथा कृषि-उपज को एकत्रित करने के लिये गोदामो की व्यवस्था की जाए।

(१४) भूमि-सरक्षण —भारतीय कृषि की अविकसितावस्था को दूर करने के लिये भूमि क्षरण को रोकना एक महत्वपूर्ण एव आवश्यक आयोजन है। वस्तुत. कृषि साधनो के विकास के लिये यह आवश्यक है कि भूमि-सरक्षण और शुष्क खेती का कार्यक्रम व्यापक रूप से प्रारम्भ किया जाए तथा गाव के व्यक्ति बडे पैमाने पर उसमे भाग लें। भूमि सरक्षण के लिये वृक्षारोपण, बाध तथा मेड बाधना तथा अन्य इसी प्रकार के उपायो को प्रयोग मे लाना चाहिये। मेडबन्दी और सूखी खेती जैसे भूमि-सरक्षण कार्यक्रमो को क्रियान्वित करते समय यह लक्ष्य रहना चाहिये कि भूमि के स्वामियो की स्वेच्छा से भूमि सरक्षण के उपाय अधिकाधिक मात्रा मे अपनाने के लिये प्रोत्साहित करके जनता का सहयोग प्राप्त किया जाए।

(१५) कृषि योग्य बेकार भूमि को पुन कृषि के योग्य बनाना (Land Reclamation) —हमारे देश मे लगभग ५३० लाख एकड बेकार भूमि है जो कृषि योग्य बनाई जा सकती है। इसमे से १८० लाख एकड राजस्थान मे, १०० लाख एकड मध्य प्रदेश मे, ४०-४० लाख एकड आन्ध्र प्रदेश और उत्तर प्रदेश मे तथा ३५-३५ लाख एकड उडीसा और महाराष्ट्र प्रदेश मे है। इस प्रकार की बेकार भूमि को साफ करके कृषि योग्य बनाने के उद्देश्य से एक केन्द्रीय ट्रैक्टर सस्था (Central Tractor Organisation) बनाई गई है। प्रथम पचवर्षीय योजना की अवधि मे केन्द्रीय ट्रैक्टर सस्था तथा राज्यो के ट्रैक्टर सगठनो द्वारा २७ लाख एकड बेकार भूमि कृषि योग्य बनाई गई तथा लगभग ५० लाख एकड भूमि कृषको ने अपने श्रम और यन्त्रो की सहायता से कृषि योग्य बनाई। द्वितीय योजनावधि म १२ लाख एकड बेकार भूमि कृषि योग्य बनाई गई। अत स्पष्ट है कि कृषि योग्य बेकार भूमि का पुनरुद्धार करने के हमारे प्रयत्नो की गति अत्यन्त धीमी है। यद्यपि भूमि को साफ करने मे एक बडी मात्रा मे पूजी व्यय करनी पडती है, तथापि यदि केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें इस कार्य को तीव्र गति से आगे बढायें, तो आशा है कि भारतीय कृषि के कुल उत्पादन म अवश्य वृद्धि होगी।

(१६) कृषि आश्रित उद्योग —कृषकों के जीवन-स्तर को ऊचा उठाने के लिये तथा उन्हे सहायक-आय प्राप्त करने के लिये डेरी-व्यवसाय पर महत्व दना चाहिये। इससे एक ओर कृषक के पशुओ की स्थिति मे सुधार होगा जिससे वे अधिक मात्रा मे दूध दे सकेंगे तथा अधिक कार्यक्षम बन सकेंगे तथा दूसरी ओर, कृषकों को भी सतुलित आहार मिल सकेगा और वे अधिक मेहनत स कृषि-कार्य कर सकेंगे। यही नही, इससे कृषकों की आय में भी वृद्धि होगी तथा वे कृषि की उन्नति के अधिक साधनो का विनियोग कर सकेंगे।

(१७) सहकारी आन्दोलन का विकास —कृषि व्यवसाय के योजना-बद्ध आर्थिक विकास के लिए सहकारिता एक अनिवार्य दशा बन गई है। वस्तुत सहकारिता ग्रामीण-आर्थिक जीवन की अनेक शाखाओ के, विशेषकर कृषि और छोटे

युक्त उर्वरको, २०० हजार टन पोटाश युक्त उवरको तथा १,५५० लाख टन कम्पोस्ट खाद की खपत का आयोजन है। योजनाकाल मे सिंचित क्षेत्र को ७०० लाख एकड से बढाकर ९०० लाख एकड कर देने का लक्ष्य रक्खा गया है। प्रथम और द्वितीय योजना मे जो कृषि कार्यक्रम कार्यान्वित किये गये उनमे एक बडी भारी कमी रह गई थी और वह थी, उन्नत प्रकृति के कृषि उपकरणो का प्रयोग न किया जाना। तृतीय योजना मे इस अभाव की पूर्ति के लिये कुछ कार्यक्रम इस प्रकार रक्खे गये हैं —(अ) कृषि उपकरणो के लिये जिस प्रकार के लोहे और इस्पात की आवश्यकता हो, उसकी आपूर्ति, (आ) प्रत्येक राज्य मे उन्नत कोटि के कृषि उपकरणो के लिये अनुसधान, परीक्षण तथा प्रशिक्षण-केन्द्रो की स्थापना, (इ) उन्नत प्रकार के कृषि उपकरणो का प्रदर्शन करने एव उन्हे लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से जनपद और खण्ड-स्तर पर राज्य सरकारो द्वारा उपयुक्त विस्तार व्यवस्था, (ई) राजकीय कृषि विभागो के कृषि-इजीनियरिंग अधिभागो को सुदृढ करना, तथा (उ) उन्नत कोटि के उपकरणो की आपूर्ति के लिये ऋण सम्बन्धी निश्चित प्रबन्ध करना तथा समस्त विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रो मे कृषि-कारखानो की स्थापना करना। इस योजना के अन्त तक कृषि उपज का सूचक अक बढ कर १७६ होजाने की आशा है। सन् १९६५-६६ तक १,००० टन खाद्यान्न, ९८ लाख टन तिलहन और १०० लाख टन गन्ना-गुड की उत्पत्ति का लक्ष्य रक्खा गया है। तीसरी योजना मे खाद्य फसलों के साथ ही साथ व्यापारिक फसलो के उत्पादन मे भी अपूर्व वृद्धि लाने का निश्चय किया गया है। योजना के अन्त तक ७० लाख गाठ कपास, ६२ लाख गाठ पटसन और ९,००० पौड चाय की उत्पत्ति का लक्ष्य रक्खा गया है। इस प्रकार तीसरी योजना के अन्तर्गत यह प्रत्याशा की गई है कि खाद्योत्पादन के सम्बन्ध मे सन् १९६५-६६ तक भारत आत्म पर्याप्त एव आत्मवाहक बन जाएगा।

उपसहार—कृषि और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का क्षेत्र व्यापक है। तीसरी पचवर्षीय योजना मे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए जिस व्यापक दृष्टिकोण की परिकल्पना की गई है, वह कृषि उत्पादन को बढाने के प्रयत्नो पर ही आधारित है। बडी और छोटी परियोजनाओ से सिंचाई का विकास, भूमि-सरक्षण कार्यक्रम और उर्वरको की आपूर्ति, उन्नत बीज और ऋण तथा ग्राम्य स्तर तक विस्तार सेवाओ की व्यवस्था आदि, कुछ ऐसे उपाय हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन को बढाने के लिए हैं। सामुदायिक विकास आन्दोलन द्वारा प्रत्येक गाव की जनता की शक्ति का सचय करना तथा इस जनशक्ति तथा अन्य साधनो का प्रभावशाली प्रयोग करना अत्यावश्यक है। पशुपालन और दुग्ध-उद्योग की सफलता तथा मछली-उद्योग और ग्रामीण-उद्योग के विकास के साथ कृषि-उत्पादन की योजनाओ का गहरा सम्बन्ध है। दीर्घकालीन विकास की दृष्टि से वन-सम्पत्ति की देख रेख, भूमि और नमी का सरक्षण और गावो मे ईधन के लिए वृक्षो का लगाना, इन सब बातो का विशेष महत्व है। सहकारी विकास के विभिन्न कार्यक्रमो का उद्देश्य और महत्व ग्रामीण क्षेत्रों मे शीघ्र आर्थिक विकास के लिए सस्थागत

ढाचे के निर्माण द्वारा ग्रामीण जनता के निर्धन वर्गों को विशेष रूप से लाभ पहुचाने मे है। भूमि सुधार नीतियो का यह उद्देश्य है कि भूतकाल से चले आये कृषि सम्बन्धी ढाचे के कारण अधिक उत्पादन के मार्ग मे जो बाधायें हैं, उन्हे दूर किया जाए तथा सहकारी आधार पर सगठित प्रगतिशील कृषि के विकास का मार्ग तैयार किया जाए। वस्तुत गावों मे जनशक्ति और स्थानीय साधनो के अधिकाधिक उपयोग के आधार पर कृषि का विकास देश की शीघ्र उन्नति की कुजी है। अत कृषि के विकास के सम्बन्ध मे अधिक व्यापक, अधिक व्यवस्थित एव अधिक सुनिश्चित कार्यक्रम अपनाने की अपूर्व आवश्यकता है।

—०—

कृषि का मुख्य फसलें

(Main Agricultural Crops)

प्राक्कथन — हमारे देश मे विभिन्न प्रकार की जलवायु एव विविध प्रकार की मिट्टियो की उपलब्धता के फलस्वरूप अनेक प्रकार की फसलें उगाई जाती है। तीसरी पचवर्षीय योजना के अनुसार हमारे देश का कुल क्षेत्रफल ८० ६३ करोड एकड है जिसमे ७२ १० करोड एकड अथवा ८६ ४% भूमि के उपयोग के आकडे उपलब्ध हैं। समस्त क्षेत्रफल मे से केवल ३७ ८५ करोड एकड अर्थात ३६ ४% भूमि पर ही वास्तविक रूप से कृषि की जाती है और इसमे से केवल ५·१५ करोड एकड क्षेत्र पर वर्ष मे एक से अधिक फसलें बोई जाती है। देश मे एक बार से अधिक बोये जाने वाले क्षेत्र का प्रतिशत कम होने का एक मुख्य कारण सिचाई सुविधाओ की अपर्याप्तता है। सन् १९६०–६१ मे देश मे सिंचित-भूमि का क्षेत्रफल केवल ७ करोड एकड अर्थात् बोये जाने वाले शुद्ध क्षेत्रफल का २०% से भी कम था। तीसरी योजना के अन्त तक कुल कृषि क्षेत्र ३७ ८५ करोड एकड से बढकर ४० २० करोड एकड हो जायगा तथा वर्ष मे एक बार से अधिक बोये जाने वाला क्षेत्र ५·१५ करोड एकड से बढकर ६ ७ करोड एकड हो जायगा। योजनाकाल मे कृषि-योग्य बजर भूमि का क्षेत्र ४·७ करोड एकड से घटकर ४ करोड एकड हो जायगा।

फसलो के अनुसार क्षेत्रफल का विभाजन —भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे खाद्यान्न की फसलो को प्रमुखता प्रदान की जाती है। सन् १९५०–५१ तक बोये जाने वाले समस्त क्षेत्रफल के औसतन ८०% भाग मे खाद्य फसलें उगाई जाती थी और शेष २०% भाग मे व्यापारिक फसलें उगाई जाती थी। परन्तु अब खाद्य फसलो के क्षेत्रफल के प्रतिशत मे ह्रास होने तथा व्यापारिक फसलो के क्षेत्रफल के प्रतिशत मे वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस समय बोई जाने वाली भूमि के लगभग ७६% भाग मे खाद्य फसलें (Food Crops) तथा केवल २४% भाग पर खाद्य इतर (Non food Crops) अथवा व्यापारिक फसलें (Commercial Crops) उगाई जाती है। कुल कृषि-क्षेत्र के २२ ६% भाग पर चावल, ७ ५% भाग पर गेहू, ३० ४% भाग पर अन्य खाद्यान्न, १५ २% भाग पर दालें, ३ ४% भाग पर मूगफली, ५ २% भाग पर अन्य तिलहन, १ ५% भाग पर गन्ना, ४ ६% भाग पर कपास, ० ५% भाग पर जूट और शेष ८ ८% भाग पर अन्यान्य फसलें उगाई जाती हैं। विगत वर्षों के आकडो से स्पष्ट है कि देश मे खाद्यान्न तथा अन्य प्रकार की फसलो के उत्पादन

मे प्रतिवर्ष शनैः शनैः वृद्धि होती जा रही है। सन् १९५०–५१ से लेकर सन् १९६०–६१ तक खाद्यान्न, कपास, गुड़, तिलहन, पटसन, चाय और तम्बाकू के उत्पादन मे क्रमशः ४६%; ७६%, ४३%; ३६%, २१%, १८% तथा १७% वृद्धि हुई है। तृतीय पचवर्षीय योजना मे चावल, गेहू, तिलहन, कपास, पटसन और गन्ने के उत्पादन मे क्रमशः २७ ५%, २०%, ११%, १४%, १६% तथा १८% अतिरिक्त वृद्धि करने का लक्ष्य रक्खा गया है।

भारत की मुख्य फसलें—भारतीय कृषि की मुख्य फसलो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(अ) खाद्य-फसलें तथा (आ) खाद्येतर फसलें।

(अ) खाद्य-फसल (Food Crops) —हमारे देश की प्रमुख खाद्य-फसलें इस प्रकार हैं —

(१) चावल (Rice)—चावल हमारे देश मे सबसे महत्वपूर्ण खाद्यान्न है। चावल की महत्ता तीन बातो से स्पष्ट झलकती है। ये बातें इस प्रकार हैं —(अ) यह देश की अधिकाश जनता का प्रमुख भोजन है। (आ) अन्य फसलो की अपेक्षा चावल की फसल का क्षेत्रफल सर्वाधिक है। एक अनुमान के अनुसार चावल की फसल कुल कृषि-क्षेत्र के लगभग २२% भाग मे अथवा कुल खाद्यान्न के क्षेत्र के ३५% भाग में उगाई जाती है। (इ) अन्य खाद्यान्नों की अपेक्षा चावल का उत्पादन भी देश मे सबसे अधिक है। सन् १९६०–६१ मे चावल *का कुल उत्पादन ३२ मिलियन टन था। हमारे देश मे चावल की फसल मुख्यत* बगाल, बिहार, उडीसा, मद्रास, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, असम और महाराष्ट्र मे उगाई जाती है। सन् १९३५ मे बर्मा के भारत से पृथक हो जाने के पश्चात् देश में चावल का उत्पादन आन्तरिक माग से कम हो गया। हमें आज भी इसकी माग के अनुसार पूर्ति के लिए आयात पर आश्रित रहना पड़ता है। यद्यपि हमारे देश मे चावल की खेती एक वृहत क्षेत्रफल मे की जाती है, परन्तु इसकी प्रति एकड़ कम उपज होने के कारण स्थिति अधिक सन्तोषप्रद नही है। जबकि बर्मा, चीन और जापान मे चावल का प्रति एकड उत्पादन क्रमश १,२१६ पौंड, २,२४८ पौंड *तथा ३,३११ पौंड है, तब हमारे देश में यह केवल ७९१ पौंड, प्रति एकड ही है।* देश मे प्रति एकड चावल का उत्पादन बढाने के लिए यह आवश्यक है कि चावल की खेती जापानी ढग से की जाये। इस दृष्टिकोण से देश में जो भी प्रयोग किये गये हैं उनके परिणाम बहुत श्रेष्ठ रहे हैं तथा चावल की प्रति एकड उपज ३ हजार पौंड से ८ हजार पौंड तक बढ गई है।

(२) गेहू (Wheat)—चावल के पश्चात् गेहू भारत का द्वितीय प्रमुख खाद्यान्न है। मुख्यत यह पजाब और उत्तर प्रदेश के निवासियों का प्रमुख भोजन है। कुल कृषि-क्षेत्रफल के लगभग ७·५% भाग मे तथा खाद्यान्न के बोये गए क्षेत्रफल मे ११% भाग मे गेहू की फसल उगाई जाती है। समस्त भारत के गेहू उत्पादन के कुल क्षेत्रफल का ४५% भाग अकेले उत्तर प्रदेश में है। उत्तर-प्रदेश के अतिरिक्त गेहू का उत्पादन पूर्वी पजाब, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान और

महाराष्ट्र मे किया जाता है। सन् १६४७ मे देश के विभाजन के समय गेहू उत्पादन के दो प्रमुख क्षेत्र सिंध और पश्चिमी पजाब पाकिस्तान मे चले गए। देश मे गेहू का उत्पादन आन्तरिक माग के अनुपात मे बहुत कम होता है। अत हमे इसकी पूर्ति के लिए आस्ट्रेलिया, कनाडा और अमेरिका आदि देशो पर निर्भर रहना पड़ता है। सन् १६५६–६० और १६६०–६१ मे देश मे गेहू का कुल उत्पादन क्रमशः ६·७ मिलियन टन तथा १० मिलियन टन हुआ।

(३) जौ (Barley)—गेहू की ही भाति जौ भी उत्तरी भारत का एक मुख्य खाद्यान्न है तथा सबसे अधिक इसका उत्पादन उत्तरी भारत (उत्तर प्रदेश, पजाब, राजस्थान और बिहार) मे ही किया जाता है। चावल और गेहू की तुलना मे जौ अधिक सस्ता होता है और इसमे पौष्टिक तत्व भी कम ही होते हैं। जौ पशुओ को भी खिलाया जाता है तथा इसका उपयोग शराब (Beer) बनाने मे भी होता है। सन् १६५६–६० मे देश मे कुल ८२·२० लाख एकड क्षेत्रफल मे जौ की फसल उगाई गई जिसमे लगभग २६ ०५ लाख टन जौ का उत्पादन हुआ।

(४) ज्वार, बाजरा और मक्का (Millets and Maize):—अन्य खाद्यो की अपेक्षा ये खाद्यान्न घटिया किस्म के व सस्ते और अपौष्टिक हैं और निर्धन व्यक्तियो का मुख्य भोजन हैं। वैसे तो इनका उत्पादन देश-भर मे किया जाता है, परन्तु महाराष्ट्र, मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, पजाब, राजस्थान, बिहार और उत्तर-प्रदेश उनके मुख्य उत्पादक-क्षेत्र हैं। मनुष्यो के खाद्य के अतिरिक्त मक्का, ज्वार और बाजरे को पशुओ को भी खिलाया जाता है। श्वेतसार (Starch) का उद्योग मक्का की फसल पर ही आश्रित है। एक अनुमान के अनुसार कुल कृषि-क्षेत्रफल के १५% भाग मे ज्वार तथा १०% भाग मे बाजरे की फसल उगाई जाती हैं। सन् १६५६–६० मे ज्वार, बाजरा और मक्का की फसलें क्रमश ४१६ लाख एकड, २६७ लाख एकड तथा १०४ लाख एकड भूमि पर बोई गई और उनसे क्रमश ७८·६६ लाख टन, ३४ ८४ लाख टन तथा ३६ १५ लाख टन का उत्पादन हुआ।

(५) दालें—दालें हमारे दैनिक जीवन के भोजन का आवश्यक अग हैं। इनमे प्रोटीन की प्रधानता रहती है। हरी खाद एव फसलो के हेर-फेर के रूप मे भी दालो का प्रमुख स्थान है। हमारे देश मे चना, मटर, उडद, मूंग, मसूर, मोठ, अरहर आदि अनेक प्रकार की दालें उगाई जाती हैं। वैसे तो थोडी-बहुत मात्रा मे दालो का उत्पादन समस्त भारत मे होता है, परन्तु इनके मुख्य उत्पादक-क्षेत्र महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, बगाल, पजाब, बिहार और उत्तर-प्रदेश हैं। भारत के समस्त कृषि-क्षेत्र के लगभग १५ २% भाग मे दालो की फसल उगाई जाती है। शाकाहारी व्यक्तियो के भोजन मे दालो का और विशेषकर चने और उडद की दाल का बहुत महत्व है। अत दालो के समस्त क्षेत्र के २/५ भाग म चना और उडद की दाल उगाई जाती हैं। चने का उत्पादन सबसे अधिक उत्तर प्रदेश मे

है, परन्तु हमारे देश की कपास अधिकांशत छोटे रेशे की होती है। अत' लम्बे रेशे की कपास हम मिस्र, संयुक्तराज्य अमेरिका और पूर्वी अफ्रीका से आयात करनी पड़ती है। सन् १६४७ मे देश के विभाजन के पश्चात् लम्बे रेशे की कपास उत्पादन करने वाले क्षेत्र— सिंध और पंजाब का पश्चिमी भाग, पाकिस्तान मे चले गये और हमारे देश मे लम्बे रेशे की कपास की अत्यधिक कमी अनुभव की गई। फलत कपास का उत्पादन बढाने तथा विशेषकर लम्बे रेशे वाली कपास का उत्पादन बढाने के लिये ठोस कदम उठाये गये जिनके फलस्वरूप विगत १० वर्षों मे कपास के उत्पादन म ७६% वृद्धि हुई है। सन् १६६०-६१ मे कपास का कुल उत्पादन ५१ लाख गाठ था। तीसरी योजना के अन्तर्गत कपास के उत्पादन मे ३७.२% की वृद्धि लाकर कपास की उपज ७० लाख गाठ करने का निश्चय किया गया है। कपास के सम्बन्ध मे हमारे देश मे मुख्य समस्या इसका प्रति एकड कम उत्पादन है। जबकि अमेरिका, पाकिस्तान और मिस्र मे प्रति एकड रुई का उत्पादन क्रमश ३१२ पौंड, १५६ पौंड तथा ५१० पौंड है, तब भारत में यह केवल ८८ पौंड ही है। अत कपास के उत्पादन मे देश को आत्मनिर्भर बनाने तथा सूती वस्त्र उद्योग को उन्नत करने के लिये, कपास के प्रति एकड उत्पादन मे वृद्धि लाना नितान्त आवश्यक है।

(२) पटसन (Jute)— देश के विभाजन से पूर्व पटसन के उत्पादन मे समस्त विश्व मे भारत को एकाधिकार-सा प्राप्त था। विश्व के समस्त पटसन का ६६.८% भाग भारत मे ही उत्पन्न होता था। विभाजन के उपरान्त पटसन उत्पादन का १६% क्षेत्र भारत को तथा शेष ८१% क्षेत्र पाकिस्तान को मिला। अत देश मे पटसन की पूर्ति के सम्बन्ध मे स्थिति अत्यन्त दुरूह हो गई। चूकि पटसन के समस्त कारखाने भारतीय क्षेत्र मे स्थित थे, इसलिय स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो गई। फलत पटसन के उत्पादन-क्षेत्र को विस्तृत करने के सक्रिय प्रयत्न किये गये। इसीलिये विगत १० वर्षों मे पटसन के उत्पादन म ५५% वृद्धि हुई। इस समय देश मे पटसन की खेती समस्त कृषि-क्षेत्र के ०.५% भाग मे की जाती है। सन् १६६०-६१ में पटसन का कुल उत्पादन ४० लाख गाठ था। तीसरी योजना के अन्तर्गत पटसन के उत्पादन मे ५५% वृद्धि लाकर इसका उत्पादन-लक्ष्य ६२ लाख गाठ निश्चित किया गया है। हमारे देश म पटसन के मुख्य उत्पादक-क्षेत्र बगाल, बिहार और असम है। थोडी बहुत मात्रा म पटसन का उत्पादन उडीसा और त्रिपुरा म भी किया जाता है।

(३) तिलहन (Oil Seeds)—हमारे देश मे अनेक प्रकार के तिलहन उगाये जाते हैं जिनम मूगफली, तिल, सरसो, अलसी, रेंडी, बिनौला तथा नारियल आदि मुख्य हैं। देश की कुल कृषि-भूमि के ३.४% क्षेत्र म मूगफली तथा ५.२% क्षेत्र मे अन्य प्रकार के तिलहनों की खेती की जाती है। समस्त विश्व की मूगफली उत्पत्ति का ४०% भाग भारत उत्पन्न करता है तथा भारत के मुख्य तिलहनों के कुल क्षेत्रफल के ४४% भाग म मूगफली बोई जाती है। इसके मुख्य उत्पादक-क्षेत्र

आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश हैं। तरा, तिल व रेंडी के उत्पादन मे भारत का विश्व मे प्रथम स्थान है तथा नारियल के उत्पादन मे द्वितीय स्थान है। देश के तिलहन के उत्पादन मे ४३% भाग अकेले नारियल का है। तरा व सरसो तथा रेंडी के मुख्य उत्पादक क्षेत्र उत्तर प्रदेश, पजाब, राजस्थान, बिहार, असम, मध्य प्रदेश, आध्र प्रदेश व महाराष्ट्र है। नारियल मुख्यत समुद्र तटीय क्षेत्रो मे उगाया जाता है। तिलहन का उपयोग मुख्यत तेल व खली प्राप्त करने, वनस्पति घी तथा साबुन आदि बनाने के काम म किया जाता है। हमारे देश से प्रति वर्ष एक बडी मात्रा मे तिलहन का निर्यात कर दिया जाता है। सन् १९६०-६१ मे देश मे समस्त प्रकार की तिलहन का कुल उत्पादन ७१ लाख टन था। तीसरी पचवर्षीय योजना मे तिलहन के उत्पादन का लक्ष्य ९८ लाख टन रक्खा गया है। तीसरी योजना के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति प्रतिदिन खाद्य तेलो की खपत ०·४ औंस से बढाकर ०·५ औंस करने का निश्चय किया गया है।

(४) **चाय** (Tea) —विश्व भर मे चाय के उत्पादन मे हमारे देश का द्वितीय स्थान है। भारत मे चाय की खेती लगभग ७.९ लाख एकड भूमि पर की जाती है। देश मे इस समय लगभग ७,१४४ रजिस्टर्ड चाय के उद्यान है जिनमे लगभग १० लाख व्यक्ति काम करते हैं। हमारे देश मे चाय के उद्यान मुख्यतः असम और बगाल मे हैं। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश (देहरादून), पजाब (कागडा घाटी), मद्रास और केरल राज्य मे भी थोडी बहुत मात्रा मे चाय का उत्पादन होता है। हमारे देश मे चाय का उपभोग बहुत कम होता है और इसका लगभग ७५% भाग विदेशो को निर्यात कर दिया जाता है। समस्त विश्व मे चाय का निर्यात करने मे भारत का प्रथम स्थान है। इगलैंड, अमेरिका, कनाडा, मिस्र और आस्ट्रेलिया भारतीय चाय के मुख्य आयातकर्त्ता देश हैं। भारत की निर्यात-वस्तुओ मे चाय का स्थान द्वितीय है। समस्त निर्यात व्यापार का लगभग २०% भाग चाय का होता है। सन् १९६० मे भारत को चाय के निर्यात से १२० करोड रु० की विदेशी विनिमय प्राप्त हुई। सन् १९६०-६१ मे चाय का समस्त उत्पादन ७,२५० लाख पौंड था। तृतीय पचवर्षीय योजना मे चाय के उत्पादन का लक्ष्य ९,००० पौंड रक्खा गया है।

(५) **तम्बाकू** :—सयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन के पश्चात् हमारा देश विश्व भर मे तम्बाकू का तीसरा सबसे बडा उत्पादक देश है। तम्बाकू के उत्पादक-क्षेत्र मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मद्रास और बिहार हैं। सन् १९६०-६१ मे देश भर मे तम्बाकू का कुल उत्पादन ३०० हजार टन हुआ। तीसरी योजना के अन्तर्गत तम्बाकू के उत्पादन का लक्ष्य ३२५ हजार टन निश्चित किया गया है।

(६) **काफी और रबड़** :—कॉफी का उपयोग चाय के प्रतिस्थापक (Substitute) के रूप मे होता है। इसके मुख्य उत्पादक क्षेत्र मैसूर, मद्रास और कुर्ग हैं। सन् १९६०-६१ मे कॉफी का कुल उत्पादन ४८ हजार टन था। तीसरी पचवर्षीय योजना मे कॉफी के उत्पादन का लक्ष्य ८० हजार टन रक्खा गया है।

कॉफी के अतिरिक्त रबड का उत्पादन मुख्यत दक्षिणी भारत मे केरल, मद्रास और मैसूर राज्यो मे किया जाता है। सन् १९६०-६१ मे २६ हजार टन रबड का उत्पादन हुआ था। तीसरी योजना के अन्तर्गत रबड के उत्पादन का लक्ष्य ४५ हजार टन रखा गया है।

(७) **अन्य फसलें** —चाय, पटसन, तम्बाकू के अतिरिक्त भारत की व्यापारिक फसलो मे कालीमिर्च, इलायची, लाख, काजू, सुपारी और नारियल का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। नारियल का उत्पादन समुद्रतटीय क्षेत्रो मे होता है। सन् १९६०-६१ मे ४५००० लाख नारियल के फल उत्पन्न हुये थे। सन् १९६५–६६ तक नारियल के फलो का उत्पादन बढा कर ५२,७५० लाख कर देना निश्चित किया गया है। सन् १९६०–६१ मे सुपारी, काजू, काली मिर्च, इलायची और लाख का उत्पादन क्रमश ६३ हजार टन, ७३ हजार टन, २६ हजार टन, २ २६ हजार टन तथा ५० हजार टन था। तीसरी योजना के अन्तर्गत इनके उत्पादन का लक्ष्य क्रमश १०० हजार टन, १५० हजार टन, २७ हजार टन, २ ६२ हजार टन और ६२ हजार टन निर्धारित किया गया है। निर्यात व्यापार की दृष्टि से इन सभी वस्तुओ का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

व्यापारिक फसलो की प्रगति
(Development of Commercial Crops)

प्राक्कथन —सन १९५४ तक खाद्यान्न के तीक्ष्ण अभाव के कारण, विगत वर्षों मे प्रत्येक राज्य सरकार ने नकद फसलो (Cash Crops) की उत्पादन-वृद्धि को तिलाजलि देकर खाद्यान्नो के उत्पादन को बढाने के लिय हरसम्भव प्रयत्नो को व्यावहारिक रूप दिया है। फिर भी व्यापारिक फसलो के उत्पादन मे वृद्धि की आवश्यकता को एकदम भुलाया नही गया है। वस्तुत देश के विभाजन के फलस्वरूप भारत मे खाद्य फसलो की अपेक्षा व्यापारिक फसलो की उपज की स्थिति अधिक दयनीय हो गई। विभाजन मे लम्बे और मध्यम रेशे (Long and Medium Staple) वाली कपास का अधिकाश उत्पादक क्षेत्र पाकिस्तान म चला गया। इसी प्रकार अविभाजित भारत का लगभग ८० प्रतिशत कच्ची जूट का उत्पादक-क्षेत्र भी पाकिस्तान मे चला गया। परन्तु सूती वस्त्र की अधिकाश मिलें तथा जूट के समस्त कारखाने भारत सघ मे ही रहे। इस प्रकार इन दोना कच्ची-सामग्रियो के सम्बन्ध म भारत की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। विभाजन के उपरान्त भारत को न केवल कच्चे जूट और कपास के निर्यात से होने वाली आय समाप्त हो गई वरन देश की जूट और सूती वस्त्र मिलों को अपने उत्पत्ति कार्य को चलाते रहने के लिये, इन दोनो कच्चे पदार्थों की आयात पर निर्भर होना पडा। फलत जूट के उत्पादन म आत्मपर्याप्तता पाने तथा कपास के उत्पादन को बढाने की राष्ट्रीय आवश्यकता अनुभव हुई। इस तथ्य की स्वीकृति के लिय सन् १९५० म सरकार ने उत्साहपूर्वक कार्य किया और जूट, कपास व गन्ने के उत्पादन म स्वनिर्भरता (Self-sufficiency) पाने का निश्चय किया।

लक्ष्य और साधन (Targets and Means) —प्रथम पचवर्षीय योजना मे लगभग सभी प्रमुख व्यापारिक फसलो जैसे—कपास, जूट, गन्ना और तिलहन के उत्पादन को बढाने के लक्ष्य निर्धारित किये गये। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के हेतु विभिन्न कार्यक्रमों, जैसे—सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि, उच्चतर श्रणी के खाद और उर्वरकों की पूर्ति तथा सुधरे हुए किस्म के बीजो का प्रयोग आदि, पर विशेष बल डाला गया। परन्तु योजनाकाल मे केवल तिलहन के उत्पादन का ही लक्ष्य पूरा हो सका। यद्यपि अन्य फसलो के सम्बन्ध म उत्पादन का लक्ष्य तो प्राप्त नहीं किया जा सका, परन्तु उनके उत्पादन म पर्याप्त वृद्धि हुई। द्वितीय योजना की प्रस्तावना के समय, विदेशी व्यापार और विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की दृष्टि से, कुछ दूसरी प्रकार की व्यापारिक फसलो की उत्पादन-वृद्धि की भी आवश्यकता अनुभव की गई। फलस्वरुप द्वितीय योजना मे कपास, जूट, तिलहन और गन्ने की चार प्रमुख व्यापारिक फसलो के अतिरिक्त नारियल, सुपारी, तम्बाकू, लाख, काजू और पीपर आदि के उत्पादन मे वृद्धि करने के कार्यक्रम भी निर्धारित किये गये। इनमें से नारियल और सुपारी के उत्पादन को बढाने का उद्देश्य, इन वस्तुओ की आयात को कम करना था। शेष फसलों के उत्पादन को बढाने का उद्देश्य विदेशी मुद्रा प्राप्त करना था। द्वितीय योजनावधि मे भी व्यापारिक फसलो के उत्पादन के लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। इसके मुख्य कारण ये— राज्यो के पुनर्गठन के अनिश्चित प्रभाव, प्रशिक्षित कर्मचारियो का अभाव तथा साधनों की अपर्याप्तता अथवा उनकी उपलब्धि म विलम्ब आदि। तीसरी योजना म इन फसलो के उत्पादन के व्यापक लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं ताकि घरेलू उपभोग की माग पूरी हो सके तथा इनके निर्यात व्यापार में वृद्धि की जा सके। फलत योजना म लघु-सिंचाई योजनाओ तथा उन्नत किस्म के बीजों और सयत्र (Plant) की पूर्ति के कार्यक्रम पर, जिनसे कि व्यापारिक फसलों के उत्पादन मे प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होगा, २६ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। विगत नियोजनकाल मे विभिन्न व्यापारिक फसलों के उत्पादन की प्रगति का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है —

(१) **कपास** (Cotton) —देश के विभाजन के पश्चात् भारत सघ मे अपनी आवश्यकता से ६·६ लाख गाठ की कमी हो गई। फलत: सरकार ने लम्बे रेशे वाली कपास के आयात को समाप्त करने तथा कपास के उत्पादन म आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए विभिन्न विकास कार्यक्रमो को कार्यान्वित किया। ये कार्यक्रम इस प्रकार थे —(i) कपास के उत्पादन-क्षेत्र को बढाया गया तथा परती भूमि व कृषि योग्य बेकार भूमि को कपास के उत्पादन-क्षेत्र के अन्तर्गत लाया गया। (ii) सिंचाई की सुविधाओ को बढाकर, कपास के साथ दूसरी अन्य दोहरी फसल बोकर, सुधरे हुए बीज, यन्त्र एव उर्वरकों की पूर्ति करके तथा कृषि के वैज्ञानिक उपायों को अपनाकर, कपास की गहरी खेती की गई। (iii) कपास के उत्पादकों को प्राविधिक (Technical) सलाह दी गई तथा उन्हें बीज, यन्त्र, उर्वरक आदि क्रय करने के लिये अल्पकालीन ऋण देने की व्यवस्था की गई। कपास विकास कार्यक्रम के लिये

राज्यो मे एक विशेष विस्तार स्टॉफ (Special Extension Staff) नियुक्त किया गया। कपास के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये सरकार ने एक उचित मूल्य नीति भी अपनाई जिसके अनुसार कपास की विभिन्न किस्मों के लिये पृथक् पृथक् मूल्य निश्चित कर दिये गये। इन सब कार्यक्रमो के फलस्वरूप कपास के उत्पादन मे तथा बोये जाने वाले क्षेत्र मे पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १९४७–४८ मे हमारे देश मे कपास का कुल उत्पादन २१ ९ लाख गाठ था, जो सन् १९५०–५१ मे बढकर २९ १ लाख गाठ हो गया। प्रथम योजना मे कपास के उत्पादन का लक्ष्य ४२ ३ लाख गाठ रक्खा गया था। सन् १९५४-५५ और १९५५-५६ मे कपास का वास्तविक उत्पादन क्रमश ४२'५ लाख गाठ और ४० लाख गाठ हुआ। इस अवधि मे कपास का क्षेत्र सन् १९५०–५१ मे १४ ५ मिलियन एकड से बढाकर, सन् १९५५–५६ मे २० मिलियन एकड कर दिया गया। द्वितीय योजना मे ६५ लाख गाठ कपास के उत्पादन का लक्ष्य (अर्थात ६२% वृद्धि) रक्खा गया। इस योजना मे प्रथम योजना से चलते आ रहे उत्पादन बढाने से सम्बन्धित कार्यक्रमो को जारी रखने तथा उन्हे बढाने पर बल डाला गया। दूसरी योजना मे कपास की किस्म मे सुधार करने तथा लम्बे रेशे वाली कपास के उत्पादन को बढाने पर विशेष रूप से बल डाला गया। योजनाकाल मे "Andrews or Sea Island" नाम की एक लम्बे रेशेवाली कपास के उत्पादन को भी प्रोत्साहन दिया गया। इस किस्म की कपास के उत्पादन के लिये वे क्षेत्र भी उचित पाये गये जिन्हे अब तक कपास के उत्पादन के योग्य नही समझा जाता था। वस्तुत नियोजन की विगत दशाब्दी मे लम्बे, मध्यम एव छोटे रेशेवाली कपास के उत्पादन मे आशातीत वृद्धि हुई। देश मे लम्बे रेशेवाली कपास का उत्पादन सन् १९५०-५१ मे ६ ८४ लाख गाठ से बढकर सन् १९५५-५६ मे १६'१० लाख गाठ और सन् १९६०-६१ मे बढकर २४'४१ लाख गाठ हो गया। मध्यम रेशेवाली कपास का उत्पादन सन् १९५०-५१ मे १४ ५३ लाख गाठ से बढकर १९५५-५६ मे १९'६२ और सन् १९६०-६१ मे २२ १२ लाख गाठ हो गया। सन् १९५०-५१ मे छोटे रेशेवाली कपास का उत्पादन ७ ७३ लाख गाठ था, जो सन् १९५५-५६ मे घटकर केवल ६'९९ लाख गाठ हो गया। सन् १९६०-६१ मे यह पुन बढकर ७ ४१ लाख गाठ हो गया। तीसरी योजना मे कपास के उत्पादन का लक्ष्य ७० लाख गाठ रक्खा गया है। योजनाअवधि मे विभिन्न किस्म की कपास को बोने, ओटने (Ginning) और विधायनीकरण (Processing) की फैक्ट्रियो के निरीक्षण करने तथा गोदाम व सहकारी विपणन की सुविधा उपलब्ध करने पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। तीसरी योजना म मैसूर और केरल मे "Sea Island" किस्म की लम्बे रेशेवाली कपास तथा गुजरात व महाराष्ट्र मे दो अन्य किस्म की लम्बे रेशेवाली कपास के उत्पादन-क्षेत्र को बढाने का निश्चय किया गया है। चू कि विदेशो मे छोटे रेशेवाली कपास का उपयोग उन मे मिश्रित करने के लिए होता है और इसकी उन देशो मे काफी माग रहती है, इसलिये तीसरी योजना मे छोटे रेशेवाली कपास के निर्यात को बढाने के लिये असम, मनीपुर और त्रिपुरा मे इस किस्म की कपास के उत्पादन-

क्षेत्र मे यथासम्भव वृद्धि की जाएगी।

(२) तिलहन (Oil Seeds) —सन् १९५०-५१ मे भारत मे तिलहन का कुल उत्पादन ५१ लाख टन हुआ था। प्रथम योजना मे तिलहन के उत्पादन मे ४ लाख टन अतिरिक्त वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। योजनाकाल मे भारतीय केन्द्रीय तिलहन समिति (Indian Central Oilseeds Committee) द्वारा आयोजित कार्यक्रमो के आधार पर तिलहन के उत्पादन को बढाने के प्रयत्न किये गये। सन् १९५५-५६ मे तिलहन का वास्तविक उत्पादन ५६ लाख टन अर्थात निर्धारित लक्ष्य से भी १ लाख टन अधिक हुआ। द्वितीय योजना मे तिलहन के उत्पादन का लक्ष्य ७५ ५ लाख टन रक्खा गया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये योजनाकाल मे दो प्रकार के कायक्रम 'Oilseeds Development Schemes" और 'Oilseeds Extension Schemes" आरम्भ किए गये। योजना विधि मे अतिरिक्त उत्पादन को प्राप्त करने के लिये तिलहन की गहरी और विस्तृत दोनो प्रकार की खेती की गई। विस्तृत खेती के कायक्रम के अन्तर्गत कृषि योग्य बेकार भूमि तथा परती भूमि मे तिलहनो का उत्पादन किया गया तथा दोहरी फसल बोने की योजना अपनाई गई। इसके अतिरिक्त गहरी खेती के कार्यक्रम के अन्तर्गत सुधरे हुये बीजो का वितरण किया गया, उर्वरक और खाद की पूर्ति की गई, सिचाई की सुविधाओ का विस्तार किया गया तथा कृषि की नवीन पद्धति अपनाई गई। यद्यपि योजनाकाल मे तिलहनो की न्यूनतम कीमतें निश्चित नही की गई, तथापि तिलहनो के निर्यात, कोटा और निर्यात करो के नियमन द्वारा मूल्यो का नियमन किया गया। सन् १९६०-६१ मे तिलहन का वास्तविक उत्पादन ७१ लाख टन हुआ। तीसरी योजना मे तिलहन के उत्पादन का लक्ष्य ९८ लाख टन निश्चित किया गया है। योजना काल मे मूगफली और रेंडी, जिनका कि विदेशी निर्यात की दृष्टि से विशष महत्व है, के उत्पादन को बढाने पर अत्यधिक बल दिया जायगा। तीसरी योजना मे वनस्पति तेलो के निर्यात को बढाने के लिये कपास के बिनौलो का कम से कम ५०% भाग वनस्पति तेल के उत्पादन मे प्रयुक्त किया जायेगा। योजनाकाल मे अखाद्य तेलो, जैसे--महुआ और नीम, के उत्पादन मे भी वृद्धि की जायेगी।

(३) गन्ना (Sugar Cane) —हमारे देश मे बहुत समय से गन्ने के क्रमबद्ध विकास का कार्यक्रम जारी है। विगत वर्षो मे गन्ने की किस्म को सुधारने के लिये विशेष प्रयत्न किये गये है। आजकल देश मे गन्ना-उत्पादन के लगभग ६५% क्षेत्र मे सुधरी हुई किस्म का गन्ना बोया जाता है। सन् १९४८-४९ मे भारतीय केन्द्रीय गन्ना समिति (Indian Central Sugar Cane Committee) ने उत्तर प्रदेश, बिहार, पजाब, महाराष्ट्र, मद्रास, पश्चिमी बगाल और उडीसा राज्यो के लिये एक पचवर्षीय गन्ना विकास कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य चीनी फैक्ट्रियो के क्षेत्रो मे गहरी पद्धति द्वारा गन्ने के उत्पादन को बढाना था। इस विकास कायक्रम मे, सिंचाई की सुविधाओ का विस्तार करने, उत्तम किस्म के बीज उपलब्ध करने, उचित उर्वरको एव खादों की पूर्ति करने तथा भूमि विस्तार

सेवाओ (Soil Extension Services) आदि पर विशेष बल डाला गया। आगे चलकर केन्द्रीय गन्ना समिति का यह कार्यक्रम पचवर्षीय योजना मे सम्मिलित कर लिया गया। सन् १९५०–५१ मे गन्ना-गुड का कुल उत्पादन ५·६ मिलियन टन हुआ था। प्रथम योजना मे गन्ना-गुड के उत्पादन का लक्ष्य ६.३ मिलियन टन रक्खा गया। योजनाकाल मे गन्ने की गहरी और विस्तृत दोनो प्रकार की खेती करने पर बल डाला गया। विभिन्न राज्यो के गन्ना विकास कार्यक्रमो के फलस्वरूप प्रथम योजना विधि मे प्रति एकड गन्ना-उत्पादन मे आशाजनक वृद्धि हुई। सन् १९५५-५६ मे गन्ना गुड का वास्तविक उत्पादन ६ मिलियन टन हुआ। इस प्रकार प्रथम योजनाकाल मे गन्ना-गुड का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य से ३ लाख टन कम हुआ, जबकि इसी अवधि मे चीनी का वास्तविक उत्पादन निर्धारित लक्ष्य (२० लाख टन) से ०·५ लाख टन अधिक हुआ। दूसरी योजना मे गन्ना-गुड के उत्पादन का लक्ष्य ७.८ मिलियन टन रखा गया। योजना विधि मे चीनी मिलो के क्षेत्र मे पक्की सडको का निर्माण करके, गन्ना-उत्पादन के विकास कार्यक्रम मे एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। दूसरी योजना के अन्तिम वर्ष मे गन्ना-गुड का कुल उत्पादन ८ मिलियन टन हुआ। तीसरी योजना मे देश की बढती हुई जनसख्या की माग को ध्यान मे रखते हुये १० मिलियन टन गन्ना गुड के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया है।

(४) जूट (Jute) :— प्रथम योजना मे जूट के उत्पादन को बढाने का मुख्य लक्ष्य देश के विभाजन के फलस्वरूप हुई कमी को पूरा करना था। इस योजना मे जूट के उत्पादन का लक्ष्य ५४ लाख गाठ रक्खा गया, जबकि सन् १९५०-५१ मे जूट का कुल उत्पादन ३३ लाख गाठ था। सन् १९५५-५६ मे जूट का वास्तविक उत्पादन ४२ लाख गाठ हुआ। दूसरी योजना मे जूट के उत्पादन का लक्ष्य ५५ लाख गाठ रक्खा गया। सन् १९५८-५९ म जूट के उत्पादन का यह लक्ष्य निरन्तर प्राप्त कर लिया गया। इस वर्ष जूट का कुल उत्पादन ५२ लाख गाठ था। परन्तु जूट के मूल्यो मे तीव्र ह्रास तथा प्रतिकूल मौसम होने के कारण सन् १९५९-६० और १९६०-६१ मे जूट के उत्पादन मे कमी हो गई। द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष म जूट का कुल उत्पादन केवल ४० लाख गाठ ही था। नियोजन की विगत दशाब्दी मे जूट के उत्पादन के विकास कार्यक्रम म विस्तृत खेती को अपनाया गया। परन्तु तीसरी योजना म जूट की गहरी खेती करने पर बल डाला गया है। देश मे जूट के सामान की बढती हुई आन्तरिक माग तथा विदेशी निर्यात मे वृद्धि करने के उद्देश्य से तीसरी योजना म जूट के उत्पादन का लक्ष्य ६२ लाख गाठ रक्खा गया है। योजनावधि मे जूट के सुधरे हुए बीजो के उपयोग द्वारा जूट की किस्म मे सुधार लाया जाएगा तथा मेस्ता (Mesta), सिसल (Sisal) और रैमी (Ramie) आदि पूरक रेशो (Fibres) के उत्पादन मे भी वृद्धि की जाएगी।

(५) तम्बाकू (Tobacco) —तम्बाकू-उत्पादन के विकास कार्यक्रम मुख्यतया देशी तम्बाकू की किस्म सुधारने से सम्बन्धित है। विगत वर्षो म तम्बाकू के उत्पादन मे अनुसन्धान और सगठन (Research and Organisation) की

विस्तार सेवाओं को बढ़ाया गया। तीसरी योजना मे शुद्ध तम्बाकू के बीजो के वितरण और उत्पादन करने, सुरक्षित रखने के लिये गोदामो का निर्माण करने, उन्नत बीज व खाद की पूर्ति करने, कृमिनाशक दवाइयो (Insecticides) की व्यवस्था करके पौधो के सरक्षण का आयोजन करने, देशी तम्बाकू को वरजीनिया (Virginia) तम्बाकू से प्रतिस्थापित करने तथा विपणन सुविधाओ को उपलब्ध करने के कार्यक्रमो पर बल डाला गया है। सन् १६५०-५१ मे तम्बाकू का कुल उत्पादन २·५७ लाख टन था, जो सन् १६५५-५६ मे बढकर २·६८ लाख टन और सन् १६६०-६१ मे ३ लाख टन हो गया। तीसरी योजना मे तम्बाकू के उत्पादन का लक्ष्य ३ २५ लाख टन रक्खा गया है।

(६) **काजू** (Cashewnut) :—भारत के आर्थिक जीवन मे काजू ने हाल ही मे महत्ता प्राप्त की है। आजकल यह विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की अच्छी व्यापारिक फसल बन गई है। इस समय हमारे देश मे कच्चे-काजू का कुल उत्पादन, काजू की परिनिर्माण फैक्ट्रियो (Processing Factories) की आवश्यकता से बहुत कम होता है। फलत: पूर्वी अफ्रीका आदि देशो से ऊचे मूल्यो पर इसका आयात करना पडता है। द्वितीय योजनाकाल मे विभिन्न राज्यो मे काजू की फसल के उत्पादन-क्षेत्र को यथासम्भव बढाया गया। इस अवधि मे काजू-उत्पादन के मुख्य क्षेत्रो, जैसे—केरल, मद्रास, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश, उडीसा और असम मे काजू-विकास कार्यक्रम की विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत उल्लेखनीय प्रगति हुई। दूसरी योजनावधि मे काजू के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये, इसके उत्पादको को १५० रु० प्रति एकड की दर से ऋण दिया गया। तीसरी योजना मे काजू की फसल के उत्पादन-क्षेत्र मे यथासम्भव वृद्धि करने का निश्चय किया गया है। सन् १६६०-६१ मे काजू का कुल उत्पादन ७३ हजार टन था। तीसरी योजना मे इसके उत्पादन मे १०५·५ प्रतिशत की वृद्धि करके कुल उत्पादन १५० हजार टन कर देने का निश्चय किया गया है। इस योजना मे काजू-उत्पादन के विकास कार्यक्रम मे अच्छे प्रकार के वृक्षो से क्लम लगाने (Planting of Air Layers), उर्वरको की पूर्ति करने तथा कृषको को फसल-ऋण (Crop Loans) देने की व्यवस्थायें सम्मिलित हैं।

(७) **लाख** (Lac) :—लाख विदेशी मुद्रा को प्राप्त करने तथा इसके उत्पादकीय क्षेत्रो मे व्यक्तियो को आवश्यक आय देने का एक उत्तम साधन है। हमारे देश को लाख के निर्यात से प्रतिवर्ष लगभग ६ करोड रु० की विदेशी मुद्रा प्राप्त होती हैं। विगत कुछ वर्षों मे लाख के उत्पादन मे विशेष अस्थिरता रही हैं और इसका उत्पादन १० लाख मन से १२ लाख मन के बीच मे रहा है। लाख के व्यापार और उद्योग मे अस्थिरता और अविकास के मुख्य कारण ये हैं—(अ) लाख के मूल्यो मे व्यापक अस्थिरता, (आ) देश मे सगठित बाजारो का अभाव, (इ) लाख के उत्पादको में सगठन का अभाव, (ई) लाख के अनार्थिक उपोत्पाद (By-Product) का एकत्रित होना, (उ) उत्पादित माल की अनिश्चित किस्म तथा

(ऊ) अपर्याप्त प्राविधिक सेवाएं आदि। वस्तुत इन समस्याओं के कारण लाख के विदेशी व्यापार मे भारत को थाइलैण्ड (Thailand) से तीव्र प्रतियोगिता करनी पड़ती है। अत विदेशी निर्यात की दृष्टि से लाख-उत्पादन के क्षेत्र की इन समस्याओं का निवारण अत्यावश्यक है। सन् १९६०-६१ मे लाख का वास्तविक उत्पादन १२ लाख मन था, जबकि योजना मे लाख-उत्पादन का निर्धारित लक्ष १६ लाख मन था। तीसरी योजना मे लाख की सम्भावित विदेशी माग तथा विदेशी प्रतियोगिता को दृष्टिगत रखते हुए लाख के उत्पादन का लक्ष्य १७ लाख मन रक्खा गया है। योजनाकाल मे लाख की किस्म मे सुधार करने के लिए लाख फार्म (Nucleus Brood Lac Farms) स्थापित किये जायेंगे। योजनावधि मे लाख-उत्पादकों की सुविधा के लिए सहकारी गोदामों तथा सहकारी विपणन समितियों को सगठित किया जाएगा तथा लाख और चपड़ा की किस्मों मे सुधार करने के लिए उत्पादकों को प्राविधिक सहायता दी जाएगी।

(८) नारियल और सुपारी (Coconut and Arecanut) —भारत विश्व मे नारियल के उत्पादन का दूसरा बड़ा उत्पादक देश है। प्रतिवर्ष लगभग १२ करोड़ रु० के मूल्य के नारियल और नारियल-उत्पाद विदेशों को निर्यात किए जाते हैं। द्वितीय योजना मे नारियल के अभाव की पूर्ति करने के उद्देश्य से विकास कार्यक्रम अपनाए गए। भावी वर्षों मे नारियल के उत्पादन को बढ़ाने के लिए उत्तम खाद की व्यवस्था, सिचाई की सुविधाओं का विस्तार तथा फसल के रोगों के निवारण से सम्बन्धित कार्यक्रम अपनाए जायेंगे। नारियल की तरह ही भारत मे सुपारी का उत्पादन भी अपर्याप्त है। तीसरी योजना मे सुपारी का उत्पादन बढ़ाने के लिए गहन (Intensive) और विस्तृत (Extensive) दोनों प्रकार के कार्यक्रम अपनाए जायेंगे। योजनाकाल मे सुपारी के उत्पादन-क्षेत्रों मे हरी खाद के प्रयोग को बढ़ाने तथा सहकारी विपणन समितियों को सगठित करने पर विशेष बल डाला जाएगा। सन् १९६०-६१ मे नारियल के ४५,००० लाख फलों का उत्पादन हुआ। तीसरी योजना मे इनका उत्पादन बढ़ाकर ५२,७५० लाख फल करने का लक्ष्य रक्खा गया है। सन् १९६०-६१ मे सुपारी का कुल उत्पादन ६३ हजार टन था। तीसरी योजना के अन्त तक इसका उत्पादन बढ़ाकर १०० हजार टन करने का निश्चय किया गया है।

(९) मसाले (Spices) —द्वितीय योजना के आरम्भ से इलायची और पीपर इन दो प्रमुख मसालों के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए विशिष्ट विकास कार्यक्रम अपनाये गये हैं। विकास साधनों मे पौधों का सरक्षण करना, उत्पादकों को फसल ऋण (Crop Loans) देना तथा पौधे-केन्द्रा (Nurseries) की व्यवस्था करना आदि सम्मिलित हैं। मसाले और काजू की फसलों के सम्बन्ध मे अन्वेषण करने तथा इन फसलों का समन्वित विकास करने की योजना बनाने के उद्देश्य से "A Spices and Cashewnut Committee" स्थापित की गई है। यह आशा है कि इस समिति के सरक्षण मे विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के विकास

कार्यक्रमो से शीघ्रतम लाभ प्राप्त होगा।

उपसहार—विगत वर्षों मे व्यापारिक फसलो के उत्पादन म प्रशसनीय वृद्धि हुई है। इसका *प्रत्यक्ष प्रमाण* यह है कि सन् १६४७–४८ से लेकर सन् १६५६–५७ की नो वर्षीय अवधि मे कपास का उत्पादन दुगुना हो गया अर्थात् २२ लाख गाठ से बढकर ४३ लाख गाठ हो गया। इसी प्रकार सन् १६४७–४८ से लेकर सन १६५८-५६ की ११ वर्षीय अवधि मे जूट का उत्पादन तिगुना हो गया अर्थात १७ लाख गाठ से बढकर ५२ लाख गाठ हो गया। परन्तु देश की आवश्यकताओ को देखते हुए यह वृद्धि अब भी अपर्याप्त ही है। देश के आन्तरिक उपयोग की बढती हुई माग तथा उद्योगो मे कच्चे-माल की बढती हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिए और निर्यात व्यापार मे अधिकाधिक वृद्धि से विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के उद्देश्य से, व्यापारिक फसलो मे और भी अधिक प्रगति की नितान्त आवश्यकता है। अत व्यापारिक फसलो के प्रति एकड उत्पादन मे वृद्धि की जानी चाहिये। हमारे देश मे जूट का प्रति एकड उत्पादन २'७ गाठ है, जबकि पाकिस्तान मे यह ३'३ गाठ है। इसी प्रकार भारत मे कपास का प्रति एकड उत्पादन ११८ पौड है, जबकि ईजिप्ट और मैक्सिको मे प्रति एकड उत्पादन क्रमश ५४२ पौंड और ४४६ पौंड है। हमारे देश मे मूगफली का ६३१ पौंड का प्रति एकड उत्पादन, सूडान और चीन के क्रमश ७०० पौंड और १,०१३ पौंड के प्रति एकड उत्पादन से बहुत कम है। यही नही, भारत मे गन्ने की प्रति एकड उत्पत्ति केवल १४ टन है, जबकि हवाई (Hawaii) मे गन्ने का प्रति एकड उत्पादन ८० टन है। वस्तुत व्यापारिक फसलो की प्रति एकड अपेक्षाकृत कम उत्पत्ति हमारे देश को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है —(i) इससे देश की अर्थ-व्यवस्था प्रतिकूल (Unfavourable) बनती है। (ii) इन फसलो के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिये हमे अतिरिक्त क्षेत्र की आवश्यकता होती है जबकि खाद्य फसलो के उत्पादन-क्षेत्र को घटाकर व्यापारिक फसलो का उत्पादन-क्षेत्र बढाना किसी भी प्रकार से व्यावहारिक नही है। (iii) चूकि हमारे देश मे उत्पादित व्यापारिक फसल किस्म म अच्छी नही है, इसलिए विदेशी बाजार मे इनकी माग अपेक्षाकृत कम है और ये सस्ते मूल्यो पर बिकती है तथा (iv) व्यापारिक फसलो की प्रति एकड न्यून उत्पत्ति, निजि विनियोगकर्त्ताओ के इन फसलो के उत्पादन मे वृद्धि करने के प्रयत्नो को सीमित करती है। वस्तुत हम कम मूल्य स्तर वाले विदेशी बाजारो मे प्रतियोगिता तब ही कर सकते हैं, जबकि हमारी उत्पत्ति-लागत बहुत कम हो और यह लागत तब ही कम हो सकती है, जबकि हमारी व्यापारिक फसलो का प्रति एकड उत्पादन अधिकतम हो। अत हमारे देश मे इन फसलो का प्रति एकड उत्पादन अधिकतम करने के लिए, गहरी खेती (Intensive Cultivation) की पद्धति को अपनाना अपेक्षित है।

व्यापारिक फसलो और विशेषकर जूट और तिलहन के उत्पादको को, अधिकाधिक उत्पादन करने को प्रोत्साहित करने के लिये इन फसलो का उचित

मूल्य-निर्धारण अत्यावश्यक है क्योंकि मूल्यों की अस्थिरता का परिणाम अन्ततः उत्पादन की अस्थिरता होती है। तीसरी योजना की रिपोर्ट में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि "योजनाकाल में मुख्य खाद्य एवं नकद फसलों, जैसे—कपास, तिलहन और पटसन के लिए न्यूनतम लाभप्रद मूल्यों का विश्वास उत्पादन में वृद्धि की आवश्यक प्रेरणा सुलभ करेगा और इस प्रकार तीसरी योजना के लिये उपलब्ध आवश्यक विभिन्न साधनों के विकास में प्रभावशाली सहयोग प्रदान करेगा।" वस्तुतः उत्पादन के एक उच्चस्तर को प्राप्त करने के लिए तथा मूल्यों में स्थिरता लाने के लिए, योजना में प्रस्तावित उक्त नीति का सफल पालन आवश्यक है। इसी तरह विदेशी बाजारों की प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए व्यापारिक फसलों की गुणात्मक वृद्धि तथा प्रति एकड़ अधिकतम उत्पादन की नितान्त वाञ्छनीयता है। उत्पादकों द्वारा इन फसलों के उचित मात्रा में उत्पादन के लिये सहकारी समितियों तथा नियन्त्रित बाजारों की व्यवस्था अपेक्षित है।

११
कृषि-जातें
(Agricultural Holdings)

प्राक्कथन —किसी देश मे कृषि की यथोचित प्रगति ३ तत्वो पर निर्भर करती है —(अ) आवश्यक साधनो की उपलब्धि, (आ) उत्पादन-वृद्धि के लिए पर्याप्त परिश्रम की प्रेरणा तथा (इ) जोत का आर्थिक आकार। जनसंख्या के स्वर्ण बिन्दु (Optimum Point) के समतुल्य ही, उत्पादन के क्षेत्र मे भी उत्पत्ति के साधनो का स्वर्ण संयोग (Optimum Combination) होता है। कृषि-क्षेत्र मे, जिस स्थिति पर भूमि तथा अन्य उत्पादन के साधनो का स्वर्ण संयोग हो जाये, उसे ही आर्थिक जोत अथवा स्वर्ण इकाई (Economic Holding or Optimum Unit) कहते हैं। कृषि उत्पादन का स्तर, उत्पादन-प्रविधि (Production Technique), यन्त्रो का प्रयोग एव कृषि की सामान्य कार्यक्षमता आदि सभी तत्व जोत के आकार से अन्योन्याश्रित हैं। सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दृष्टि से जोत मुख्यत दो प्रकार की होती हैं —(अ) भूस्वत्व वाली जोत (Right Holder's Holdings) तथा (आ) कृषक-जोत (Cultivator's Holding)। भूस्वत्व वाली जोत का अर्थ भूमि पर कृषि करने के 'स्थाई पैतृक अधिकार' से है अर्थात् एक व्यक्ति को भूमिधर अथवा भूस्वामी, मौरूसी-काश्तकार अथवा पट्टेदार के रूप मे जितनी भूमि पर स्थाई पैत्रिक स्वामित्व प्राप्त है, वही भूस्वत्व वाली जोत अथवा स्वामित्व की इकाई (Unit of Ownership) है। इसके विपरीत कृषक की जोत अथवा कृषि की इकाई (Unit of Cultivation) का अर्थ किसी कृषक द्वारा वास्तविक रूप मे जोती जाने वाली भूमि से है। भूस्वत्व वाली जोत और कृषक-जोत, आकार मे एक दूसरे के समान भी हो सकती हैं और असमान भी। यदि कोई भूस्वामी अपनी समस्त भूमि स्वय न जोतकर, भूमि का एक बडा भाग कृषको का लगान पर उठा देता है और स्वय केवल एक छोटे से भाग पर कृषि करता है, तब इस स्थिति मे भूस्वामी की कृषि की इकाई (Unit of Cultivation) स्वामित्व की इकाई (Unit of Ownership) स बहुत छोटी होगी। परन्तु यदि कोई कृषक, जिसके पास स्वय की भूमि तो थोडी सी है, अन्य भूस्वामियो से लगान पर भूमि लेकर कृषि करता है, तब उसकी कृषि की इकाई स्वामित्व की इकाई से अधिक विस्तृत होगी।

आर्थिक जोत का अर्थ (Meaning of Economic Holding) :—

विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक जोत की परिभाषा अपने दृष्टिकोण से भिन्न प्रकार की दी है। डा० कीटिंग्स (Dr. Keatings) के शब्दो मे, "आर्थिक

जोत वह इकाई है जो कृषि की लागत-सम्बन्धी आवश्यक व्यय को निकालकर एक कृषक एवं उसके परिवार को सुख-पूर्वक जीवन-निर्वाह करने के लिये पर्याप्त अवसर प्रदान करे।" डा० मान (Dr. Mann) के अनुसार "जोत की वह इकाई जो एक औसत आकार के परिवार के लिये सतोषप्रद न्यूनतम-स्तर प्रदान कर सके, आर्थिक-जोत कहलाती है।" स्टैनले जेवन्स (Stanley Jevons) के मतानुसार, "जोत की आर्थिक इकाई वह है, जो एक कृषक को न केवल "न्यूनतम-स्तर" अथवा केवल "उचित-स्तर" प्रदान करती है वरन "रहन-सहन का उच्च-स्तर" उपलब्ध करती है।" "सन् १९४९ की कांग्रेस कृषि-सुधार समिति" (Congress Agrarian Reforms Committee) *के मतानुसार जोत की आर्थिक इकाई वह है जो कि (अ) कृषक को* रहन-सहन का उचित स्तर प्रदान करे, (आ) एक औसत आकार के परिवार को पूर्ण रोजगार प्रदान करे तथा (इ) उस प्रदेश की कृषि अर्थ-व्यवस्था (Agrarian Economy) के तत्वो के अनुकूल हो। वस्तुत. आर्थिक जोत खेत का वह आकार है जो उत्पत्ति के अन्य साधनो के साथ मिलकर उत्पादन की दृष्टि से सर्वोत्तम परिणाम दे। योजना आयोग (Planning Commission) ने प्रथम पचवर्षीय योजना की रिपोर्ट मे 'आर्थिक जोत' के स्थान पर 'पारिवारिक जोत' का प्रयोग किया है। योजना आयोग ने पारिवारिक जोत की परिभाषा इन शब्दो मे दी है— "पारिवारिक जोत वह क्षेत्रफल है जो स्थानीय दशाओं के अनुसार और कृषि की वर्तमान प्रविधि के अन्तर्गत, कृषि-कार्य मे उपलब्ध सहयोग के सहित कार्य करते हुए, औसत आकार के परिवार के लिये, एक हल इकाई अथवा एक कार्य-इकाई के सदृश्य हो*।"

आर्थिक जोत का आकार (Size of Economic Holdings).—आर्थिक जोत के आकार के सम्बन्ध म विभिन्न विद्वानो के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। डा० कीटिंग्स (Dr Keatings) के मतानुसार आर्थिक जोत का आकार ४० से ५० एकड तक होना चाहियें। स्टैनले जेवन्स (Stanley Jevons) के कथनानुसार आर्थिक जोत का आकार ३० एकड भूमि होना चाहिये। उत्तर प्रदेश कांग्रेस समिति (U P. Congress Committee) के शब्दो मे, 'न्यून कीमतों के समय जोत की इकाई १५ से २० एकड के मध्य मे होनी चाहिये। परन्तु यदि कृषि-वस्तुओ का मूल्य पर्याप्त ऊंचा हो, लगान कम हो तथा सिचाई और कृषि के उन्नत साधन उपलब्ध हो, तब इस स्थिति मे जोत का क्षेत्रफल कुछ कम भी किया जा सकता है।" हाल ही मे कांग्रेस कृषि सुधार समिति (Agriculture Improvement Committee of Congress) ने अपनी रिपोर्ट म कृषि-जोत को ३ इकाइयो मे विभक्त किया है :—(१) आर्थिक इकाई (Economic Holding) —समिति के

* 'A family holding may be defined briefly as being equivalent, according to local conditions and under, the existing conditions of technique either to a plough unit or to a work unit for a family of average size working with such assistance as is customary, in agricultural operations"

—First Five Year Plan P. 189

अनुसार कृषि की वह इकाई, जो एक कृषक परिवार को साधारण जीवन-स्तर प्रदान कर सके तथा उसे पूर्ण रोजगार प्रदान कर सके, आर्थिक इकाई कहलाएगी। (ii) बुनियादी जोत (Basic Holding) —व्यावहारिक दृष्टिकोण से आर्थिक इकाई से भी छोटी इकाई को समिति ने बुनियादी जोत माना है। बुनियादी जोत से अभिप्राय लाभदायक खेती के लिये आवश्यक निम्नतम क्षेत्र से है। योजना आयोग (Planning Commission) के मतानुसार व्यावहारिक दृष्टि से यह मान लेना सुविधाजनक होगा कि एक पारिवारिक जोत तीन बुनियादी जोतो के समान है। (iii) आदर्श जोत (Optimum Holding) समिति के अनुसार आदर्श जोत का अभिप्राय उस इकाई से है जिस पर कृषक का अपना स्वत्व (Ownership) है और जिस पर वह कृषि करता है। आदर्श जोत का आकार समिति की राय मे आर्थिक जोत से तीन गुना अधिक होना चाहिये।

आर्थिक जोत के मुख्य निर्धारक तत्व.— आर्थिक जोत के आकार के मुख्य निर्धारक तत्व इस प्रकार है — (i) **भूमि की उर्वरा शक्ति** — उर्वरा भूमि मे अपेक्षाकृत थोडी भूमि भी आर्थिक जोत की इकाई मानी जा सकती है क्योंकि इससे थोडी भूमि म भी औसतन परिवार की आजीविका चल सकती है। (ii) **वर्षा अथवा सिचाई की सुविधाएं** —जिन क्षेत्रो मे पर्याप्त वर्षा होती है अथवा सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं, वहा थोडी भूमि से भी कुटुम्ब का भरण-पोषण हो सकता है। अत इन क्षेत्रो मे आर्थिक जोत का आकार अपेक्षाकृत कम होगा। (iii) **कृषि-पद्धति** —नवीन वैज्ञानिक कृषि पद्धति एव कृषि यन्त्रों द्वारा खेती करने के लिये आर्थिक जोत का आकार पुरातन (Primitive) कृषि-पद्धति एव पुरातन कृषि-यन्त्रो द्वारा खेती करने की अपेक्षा बडा होगा। (iv) **कृषि का स्वरूप** —गहरी खेती (Intensive Cultivation) अथवा मिश्रित खेती (Mixed Cropping) के लिये आर्थिक जोत का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो सकता है। परन्तु विस्तृत खेती (Extensive Cultivation), विशिष्ट खेती (Specialized Cultivation) अथवा सहकारी खेती (Co operative Farming) के लिये आर्थिक जोत का आकार बडा होना चाहिये। (v) **फसलों की प्रकृति** —फलो व सब्जियो के उत्पादन के लिये आर्थिक जोत का आकार पर्याप्त छोटा हो सकता है। परन्तु गेहू, गन्ना आदि के उत्पादन के लिये आर्थिक जोत का आकार अपेक्षाकृत बडा होना चाहिए तथा चाय, काफी और रबड आदि के उद्यान के लिये आर्थिक जोत का आकार पर्याप्त बडा होना चाहिये। (vi) **कृषकों की कार्यक्षमता** —कार्यक्षम्य अथवा कार्यकुशल कृषकों के आर्थिक खेत का आकार अकुशल कृषको के खेत के आकार की अपेक्षा कम माना जा सकता है क्योंकि कार्य-कुशल कृषक अपने श्रम एव कौशल से अपेक्षाकृत कम भूमि म अधिक उत्पादन करके, अपने परिवार का भरण पोषण कर सकता है। (vii) **बाजार से समीपता** —शहर, मण्डी, सडक अथवा रेलवे स्टेशन के समीप का अपेक्षाकृत छोटा खेत भी आर्थिक-आकार का माना जा सकता है जबकि शहर, मण्डी, सडक अथवा रेलवे स्टेशन से दूरस्थ आर्थिक जोत का आकार बडा होगा।

भारत में कृषि जोतें (Agriculture Holdings in India) —राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण (National Sample Survey) की आठवी गणना (जुलाई सन् १९५४–मार्च सन् १९५५) के अनुसार समस्त देश मे कृषि-जोत का औसतन आकार ५ ३४ एकड था। देश मे एक ओर लगभग ७०·७% ग्रामीण परिवारो के पास कुल कृषि-भूमि का केवल १६ ८% भाग ही था और उनमे से प्रत्येक के पास ५ एकड से भी कम भूमि थी। दूसरी ओर ४% ग्रामीण परिवार ऐसे थे जिनके पास कुल कृषि भूमि का ३३·३% था तथा उनमे से प्रत्येक के पास २५ या इससे अधिक एकड कृषि-भूमि थी। सन् १९५४–५५ मे अनेक राज्यो के अन्तर्गत की गई 'भूमि जोतो व खेती की गणना' (Census of Land Holdings and Cultivation) के आकडो से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि भारत मे अधिकाश कृषि-जोतें अनार्थिक आकार की है। हाल ही मे किये गये कृषि-श्रम परीक्षण (Agricultural Labour Enquiry) के मतानुसार मद्रास, बिहार और पश्चिमी बगाल मे २ एकड से भी कम वाली जोत का प्रतिशत बहुत अधिक है। एक अन्य जाच से पता चला है कि उडीसा के ६०% खेत तथा उत्तर प्रदेश के ६६% खेत ३ एकड से भी कम आकार के, मद्रास के ८४% खेत ५ एकड से कम आकार के और समस्त भारत के ८८% खेत १५ एकड से कम आकार के हैं। अन्य देशो की तुलना मे हमारे देश की कृषि जोतो का आकार बहुत छोटा है। हमारे देश मे औसतन खेत का आकार ५ एकड है, जबकि डनमार्क, हालैण्ड, जर्मनी, फ्रास, बेल्जियम, इगलैण्ड और अमेरिका मे औसतन खेत का आकार क्रमश ४० एकड, २६ एकड, २१ ५ एकड २६ ५ एकड, १४ ५ एकड, १४ ५ एकड तथा १४५ एकड है।

भारत में कृषि जोतो का उपविभाजन व विखंडन —(sub-division and Fragmentation of Agricultural Holdings in India) —

अर्थ —कृषि जोतो का अन्तर्विभाजन एव विखण्डन भारतीय कृषि की सबसे बडी समस्या है। सरैया सहकारी आयोजन समिति (Saraiya Co-operative Planning Committee) के शब्दों मे "अनुत्पादक एव अलाभकारी खेत भारतीय कृषि के उत्पादन मे सबसे बडी बाधा है।" समिति के अनुसार अलाभकारी कृषि-जोतो की दो समस्याएं हैं—(अ) खेतो का आकार छोटे होते जाना तथा (आ) कृषक के खेत एक चक मे न होकर दूर दूर फैलते जाना। 'कृषि जोतों के उपविभाजन का अर्थ है—भूस्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी भूमि का उत्तराधिकारियों मे छोटे-छोटे भागों मे विभाजित होना अथवा भूस्वामी द्वारा अपनी भूमि का कुछ भाग बेच देना अथवा दान या उपहार मे दे देना।" उत्तराधिकार के नियमो के कारण भूमि के विभाजन और उप-विभाजन का यह क्रम प्रत्यक पीढी के साथ-साथ चलता रहता है और खेतो का आकार अत्यन्त छोटा हो जाता है। "कृषि-जोतोके विखण्डन का अर्थ है–किसी भूस्वामी की समस्त भूमि एक स्थान पर अथवा एक चक मे न होकर, अनेक छोटे-छोटे टुकडों मे पृथक्‌पृथक् अर्थात् गाव के समस्त क्षेत्र मे बिखरी होना।" कृषि जोतों का विखण्डन और उप विभाजन परस्पर सम्बन्धित

हैं तथा भूमि के विभाजन की पद्धति के परिणामस्वरूप इसका जन्म और विस्तार होता है।

सीमा (Extent) —हमारे देश मे कृषि-जोतो का औसतन आकार ५ एकड है। डा० मान (Dr. Mann) ने महाराष्ट्र राज्य के पिम्पला सौदागर नामक ग्राम मे यह खोज की थी कि वहा सन् १७७१ मे भूस्वामी की जोत का औसत आकार लगभग ४० एकड था, जो सन् १८१८ मे १७·५ एकड तथा १९१५ म केवल ७ एकड ही रह गया था। इसी गाव मे १५६ भूस्वामियो के पास ७२९ खेत थे जिनमे से ४६३ खेत एक एकड से कम आकार के तथा २११ खेत $\frac{1}{8}$ एकड से भी कम आकार के थे। पजाब मे श्री रामलाल भल्ला ने वैरामपुर नामक गाव मे पता लगाया कि वहा ३४ ५% कृषको मे से प्रत्येक के पास भूमि के २५ टुकडो मे अधिक थे तथा गाव मे १,५९८ खेतो का आकार $\frac{1}{8}$ एकड से भी कम था। जालन्धर जिले मे एक जाच से पता चला है कि वहा ५८४ कृषको के पास १६,००० भूमि के टुकडे थे और प्रत्येक टुकडे का औसत आकार $\frac{5}{16}$ एकड था। एक अन्य जाच से पता चला है कि रत्नगिरि मे कहीं-कहीं व्यक्तिगत खेतो का आकार ०·००६२५ एकड अथवा ३० २५ वर्ग गज ही है। एक दूसरे अनुमान के अनुसार पजाब के एक गाव मे १,८९८ खेतो का आकार $\frac{1}{6}$ एकड था तथा २,८९० कृषकों की भूमि ३ भागो मे विभक्त थी। पजाब के एक दूसरे गाव मे १२,८०० एकड भूमि ६३,००० भागो मे विभक्त थी और प्रत्येक खेत का क्षेत्रफल $\frac{1}{6}$ एकड से भी कम था। अत स्पष्ट है कि भारत मे कृषि-जोतो का उपविभाजन एव विखण्डन एक विस्तृत सीमा तक फैला हुआ है।

भारत में कृषि जोतो के उपविभाजन व विखण्डन के कारण (Causes of Sub-division and Fragmentation of Agricultural Holdings in India) —हमारे देश मे कृषि-जोतो के अन्तर्विभाजन एव विखडन के मुख्य कारण इस प्रकार हैं —

(१) भूमि पर जनसंख्या के भार में वृद्धि —विगत कुछ वर्षों से हमारी जनसख्या २·२% प्रतिवर्ष की दर से बढती जा रही है। अनुमानत देश की जनसख्या मे प्रतिवर्ष १ करोड की वृद्धि होती है। इसमे से लगभग ४६ लाख की वृद्धि कृषि-भूमि पर होती है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति औसत एकड भूमि प्रतिवर्ष कम होती जा रही है। अन्यान्य रोजगार के साधनों के अभाव मे कृषि भूमि की माग निरन्तर बढती चली जा रही है जिसका परिणाम खेतो का उपविभाजन और विखण्डन होता है।

(२) कुटीर उद्योगों का अन्त —ब्रिटिश सरकार की अबन्ध व्यापार नीति (Laissez Faire Policy) तथा असहयोगी नीति के फलस्वरूप भारतीय लघुस्तरीय एव कुटीर उद्योगों का क्रमश पतन होता चला गया और देश मे सर्वत्र बेरोजगारी फैलती गई। फलत विवश होकर बकार दस्तकारो का भूमि की शरण लेनी पडी। इस प्रकार कृषि भूमि की माग बढती गई जिसके परिणामस्वरूप कृषि-

जोतो के उपविभाजन और विखण्डन की समस्या विस्तृत होती गई।

(३) उत्तराधिकार के नियम —भारतीय समाज मे प्रचलित उत्तराधिकार के नियमो ने अन्य कारको (Factors) के साथ मिलकर भूमि के उपविभाजन व विखण्डन की समस्या को व्यावहारिकस्वरूप प्रदान किया। इनके नियमो के अनुसार पिता के मरने पर उसकी सम्पत्ति का विभाजन विभिन्न उत्तराधिकारियो मे होता है। सन १९५६ के हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (The Hindu Succession Act 1956) के अन्तर्गत पिता की मृत्यु के उपरान्त उसकी परिसम्पत्ति मे पुत्रो के साथ पुत्रियो को भी समान अधिकारिणी घोषित कर दिया गया है। व्यवहार मे यह देखने मे आता है कि भूमि के विभाजन के समय प्रत्येक उत्तराधिकारी अपने भाग की समस्त भूमि एक खेत अथवा एक स्थान पर न लेकर विभिन्न खेतो से लेना चाहता है। अत उपविभाजन के साथ साथ विखण्डन की प्रक्रिया (Process) भी चलती रहती है। श्री वाडिया (Wadia) और जोशी (Joshi) का मत है कि उत्तराधिकार के नियम उपविभाजन एव विखण्डन के मूल कारक नही है। उनका कहना है कि ये नियम देश मे सैकडो वर्षो से प्रचलित है, जबकि जोतो के उपविभाजन और विखण्डन की यह प्रक्रिया (Process) कुछ थोडे समय से ही प्रचलित हुई है। अत इस स्थिति मे उपविभाजन व विखण्डन को उत्तराधिकार के नियमो का परिणाम स्वीकार कर लेना एकदम असगत है। इस आक्षेप के उत्तर मे यह कहा जाता है कि कृषि जोतो के उपविभाजन और विखण्डन की समस्या को उत्पन्न करने मे उत्तराधिकार के नियम यदि मूल कारक नही, तब सहायक अवश्य रहे हैं।

(४) सयुक्त परिवार प्रथा का अन्त —उत्तराधिकार के नियमो के प्रभाव एव पाश्चात्य शिक्षा और सस्कृति के प्रभाववश हमारे देश म भी व्यक्तिवादी की भावना जोर पकडती गई जिसके फलस्वरूप भारत की सयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System) वैयक्तिक परिवार प्रणाली (Individualistic Family System) मे परिणित हो गई। एक सयुक्त परिवार के अन्तर्गत भूमि और अन्य प्रकार की सम्पत्ति एक इकाई के रूप मे रहती है। सहकारिता के सिद्धात के अनुरूप सम्पत्ति मे सभी का स्वामित्व माना जाता है और परिवार के सभी सदस्य सामूहिक रूप से उत्पादन एव उपभोग करते है। परन्तु व्यक्तिवादी भावना के विकास के फलस्वरूप आज परिवार का प्रत्येक सदस्य अपना पृथक् भाग चाहता है और प्रत्येक खेत मे से एक टुकडा लेने का आग्रह करता है। श्री जथार और बेरी ने अपनी पुस्तक "भारतीय अर्थशास्त्र" मे लिखा है—'इस प्रकार के बटवारे का प्रमुख कारण लगभग प्रत्येक कृषक परिवार में भाइयों की पारस्परिक घोर ईर्ष्या है। एक दूसरे को लाभ उठाने का कोई अवसर नहीं देता। वे वृक्ष की शाखा पर स्थित मधु के छत्ते तक के हिस्से के लिये झगडा करते हैं। वे वृक्षो के फल और शाखाओ के लिये ही नहीं वरन् उसकी छाया तक के लिए भी सिर-फुटवौल करते हुये पाए जाते हैं।'

(५) कृषकों की ऋणग्रस्तता —कृषि जोतो के उपविभाजन एव

विखडन के लिये किसी सीमा तक कृषको की ऋणग्रस्तता को भी उत्तरदाई ठहराया जा सकता है। प्राय कृषक ऋण के भार से दब जाने के कारण अपनी भूमि रहन (Mortgage) रख देते हैं तथा ऋण न चुका सकने की स्थिति मे उस भूमि को ऋणदाता को बेच देते हैं। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व कृषि ऋण म वृद्धि होने से इस प्रकार के विक्रय बहुत बढ गये थे। इस प्रकार भूमि को रहन रखने अथवा बेचने से भूमि के उपविभाजन और विखण्डन को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

(६) अचल सम्पत्ति से प्रेम —अचल सम्पत्ति से स्नेह करना भारतीय सस्कृति की प्रमुखता है। अत प्रत्येक व्यक्ति थोडी-बहुत अचल सम्पत्ति रखने को लालायित रहता है एव प्रयत्न करता है। फलत यदि किसी व्यक्ति के पास थोडी सी भी भूमि है, तब वह उसे बेचना पसद नहीं करता जिससे उसके विभाजन को और अधिक सहयोग प्राप्त होता है।

(७) कृषको की अज्ञानता एव अशिक्षा —कृषि जोतो के उपविभाजन और विखण्डन की समस्या के लिये भारतीय कृषको की अज्ञानता एव अशिक्षितता भी किसी सीमा तक उत्तरदाई है। भारतीय कृषक अपनी अज्ञानतावश भूमि के उपविभाजन एव विखण्डन के दोषो को नही पहिचानते। इसीलिए चकबन्दी अथवा सहकारी खेती के लिये प्रस्तुत नही होते और भूमि के विभाजन के समय तनिक भी आपत्ति नही करते।

(८) साझे की प्रथा —बहुत से भूस्वामी अपनी भूमि पर स्वय खेती न करके, भूमि को अन्य कृषको को लगान पर उठा देते हैं अथवा उनसे साझे के रूप मे खेती कराते हैं। प्राय एक भूस्वामी अपनी समस्त भूमि किसी एक कृषक को न देकर अनेक कृषको को देता है जिसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप कृषि-जोत अनेक भागो मे उपविभाजित हो जाती है।

कृषि जोतो के उपविभाजन एवं विखण्डन के आर्थिक प्रभाव —(Economic Effects of Sub division and Fragmentation of Agricultural Holdings) **लाभ** —(Benefits) —कृषि जोतो के उपविभाजन एव विखण्डन के पक्ष मे कुछ तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किये जाते हैं —(i) **समानता के सिद्धान्त के अनुरूप** —भूमि के उपविभाजन होने से परिवार के सभी सदस्यो को थोडी थोडी भूमि मिल जाती है तथा विखण्डन के द्वारा विभिन्न उर्वरता की भूमि म समान भाग मिल जाता है। ये दोनों बातें समानता के सिद्धान्त (Principle of Equity) के अनुकूल एव न्यायपूर्ण हैं। यदि उपविभाजन और विखण्डन की प्रक्रिया (Process) न हो, तब समाज मे धनी और निर्धन अथवा शोषक और शोषित के बीच मे विशाल खाई और अधिक विस्तृत होती चली जायेगी। (ii) **अधिकतम व्यक्तियों को रोजगार मिल सकना** —हमारे देश मे कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायो का विकास अभी अपूर्ण है। अकेला कृषि ही

एक ऐसा व्यवसाय है जिसमे अधिकाधिक व्यक्तियों को रोजगार दिलाया जा सकता है। कृषि-भूमि मे उपविभाजन की प्रक्रिया अधिकाधिक जनसख्या को रोजगार दिलाने मे सफल होती है (iii) विभिन्न प्रकार की भूमि से लाभ —कृषि-जोतो के उपविभाजन एव विखण्डन के परिणामस्वरूप एक कृषक को अनेक प्रकार की भूमि प्राप्त होती है। भूमि के ये टुकडे मिट्टी, उर्वरापन तथा सिंचाई की सुविधा एव स्थिति के दृष्टिकोण से भिन्न भिन्न होते है। डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr Radha Kamal Mukerjee) के मतानुसार इस प्रकार की व्यवस्था से, अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं —(अ) विभिन्न प्रकार की उर्वरता के फल-स्वरूप इन विभिन्न खेतो मे कृषक विभिन्न फसले बो सकता है। (आ) कृषक विभिन्न प्रकार की जलवायु, स्थिति तथा वर्षा की विचित्रता का पूरा पूरा लाभ उठा सकता है। यदि किसी वर्ष गाव के एक भाग मे वर्षा कम होती है अथवा टिड्डी-दल या फसल-कीट फसलो को चौपट कर देते हैं, तब कृषक दूसरे भाग के खेतों पर निर्भर रह सकता है। (इ) विभिन्न प्रकार की फसल उगा सकने के कारण कृषक अपने उपयोग की विभिन्न वस्तुओ के लिये आत्मपर्याप्त बन सकता है। (ई) यदि परिस्थितिवश किसी समय बाजार मे एक फसल का भाव गिर जाए, तब कृषक को बहुत क्षति नही उठानी पडती है क्योंकि एक फसल की हानि वह अन्य फसलो से पूरी कर लेता है। (उ) इस व्यवस्था से कृषक को पूरे वर्ष काम मिल जाता है, क्योकि विभिन्न प्रकार की भूमि मे विभिन्न प्रकार की फसलें विभिन्न समय पर बोई और काटी जाती हैं। (ऊ) चूकि ऐसी स्थिति मे भूमि की उर्वरता एव सिचाई की सुविधाओ के अनुसार प्रत्येक टुकड़े मे उपयुक्त फसलें बोई जा सकती है, इसलिये इससे फसलो के हेर-फेर (Rotation of Crops) की पद्धति को अपनाने का अच्छा अवसर मिल जाता है। (iv) गहरी खेती की सम्भावना :—भूमि के उपविभाजन और विखण्डन के परिणामस्वरूप खेत छोटे-छोटे हो जाते हैं। इन छोटे छोटे खेतो से गहरी खेती (Intensive Cultivation) द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त करना सम्भव होता है। इस प्रकार बडे खेतो की अपेक्षा छोटे छोटे खेतो द्वारा अधिक परिवारो का भरण-पोषण किया जा सकता है। (v) श्रम का समुचित प्रयोग — छोटे-छोटे खेतो पर कृषि करने मे कृषकों को अपनी इच्छा व सुविधा के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। वह अपने परिवार के अन्य सदस्यो के श्रम तथा पशुओ के श्रम का उचित व पूर्ण उपयोग कर सकता है और इस प्रकार अपना उत्पादन बढा सकता है। (vi) भारतीय कृषि पद्धति के अनुकूल —अधिकाश भारतीय कृषक निर्धन हैं। उनके पास कृषि के यन्त्र तथा उनकी कृषि पद्धतिया पुरातन ढग की है जो छोटे-छोटे खेतो के लिये ही अधिक उपयुक्त है। बडे-बड़े खेतो पर पुरातन कृषि-पद्धति एव कृषि-यन्त्रो द्वारा गहरी खेती नही की जा सकती अत स्पष्ट है कि कृषि-जोतो का उपविभाजन व विखण्डन भारतीय कृषि-पद्धति के अनुकूल है और इसी के द्वारा अधिकतम उत्पादन किया जा सकता है। (vii) अन्य लाभ —छोटे-छोटे खेतो पर कृषि करने से उन

की देख-रेख पर अपेक्षाकृत कम व्यय करना पड़ता है और इन पर कृषक भी अधिक कौशल से कार्य कर सकता है। इसके अतिरिक्त भूमि के उपविभाजन से किसी व्यक्ति के पास भूमि-सम्पत्ति अधिक मात्रा मे एकत्रित नही हो पाती जिससे पूंजीवादी कृषि-पद्धति (Capitalist c Farming System) के अभ्युदय और विकास के लिये अधिक अवसर नही रहता। अनेक व्यक्तियो मे भूमि के विभाजन के फलस्वरूप भूस्वामी-कृषको (Peasent Proprietors) का जन्म होता है जो अपनी भूमि पर प्रेरणा और उत्साहपूर्वक कार्य करके अधिकाधिक मात्रा मे कृषि उपज प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

हानियां (Defects) :— यदि यह कहा जाए कि भूमि के उपविभाजन और विखण्डन से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हैं, तब अनुचित न होगा। कृषि-जोतो के उपविभाजन व विखण्डन के विपक्ष मे मुख्य तर्क इस प्रकार हैं —

(१) उत्पादन-व्यय में वृद्धि —एक सीमा के पश्चात् उपविभाजन व विखण्डन के कारण जैसे-जैसे कृषि-जोत का आकार छोटा होता जाता है, वैसे ही वैसे कृषि के उत्पादन-व्यय मे वृद्धि हो जाती है। कृषक का बहुत सा श्रम, समय और धन व्यर्थ मे ही नष्ट हो जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार खेतो के ५०० मीटर दूर होने पर उनके जोतने तथा श्रमिको से काम लेने पर ५.३%, खाद को ढोने मे २०% से २५% तक तथा फसल को ढोने मे १५% से ३२% तक अधिक व्यय होता है। इस प्रकार भूमि के उपविभाजन व विखण्डन के परिणामस्वरूप उपज की प्रति इकाई (Per Unit) खेती की स्थिर (Fixed) तथा अस्थिर लागतें (Working Expenses) बढती चली जाती हैं।

(२) कृषि में सुधार न हो सकना :—रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया (Reserve Bank of India) की एक रिपोर्ट मे यह बतलाया गया है कि कृषि-जोतो का उपविभाजन और विखण्डन भारतीय कृषि का एक आधार भूत रोग (Basic Malady) है। भूमि के इन छोटे-छोटे टुकडो पर कोई स्थाई सुधार नही किया जा सकता। इन खेतो पर न तो कुआ ही बनाया जा सकता है, न ही इनके चारो ओर बाड लगवाई जा सकती है और न ही इन पर मकान (Farm House) बनवाया जा सकता है।

(३) कृषि की वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग असम्भव :—इन छोटे-छोटे टुकडो पर वैज्ञानिक पद्धति से कृषि नही की जा सकती। इन खेतो पर मशीनो, ट्रैक्टरो, उत्तम कोटि के बीज व खाद का प्रयोग न तो सम्भव ही हो सकता है और न उपयोगी ही। ऐसी स्थिति मे फसलो के हेर-फेर की पद्धति (System of Rotation of Crops) अथवा कृषि की किसी नई पद्धति का भी लाभ नही उठाया जा सकता।

(४) भूमि का दुरुपयोग —खेतो के छोटे-छोटे टुकडे बनाने से बहुत सी भूमि मेडो और रास्तो मे बेकार हो जाती है। एक अनुमान के अनुसार छोटे छोटे खेतों के चारो ओर रास्ते व मेड आदि बनाने मे ३२% से ४०% तक भूमि व्यर्थ

में ही नष्ट हो जाती है।

(५) खेतो की सुरक्षा में बाधा :—चू कि खेत यत्र-तत्र बिखरे हुए होते हैं, इसलिए इनके चारो ओर तार लगवाने और पृथक् पृथक खेतो पर रखवाली करने की हो व्यवस्था करना असम्भव होता है। फलत जगली पशु-पक्षी कृषको की फसल के एक वृहत् भाग को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। एक अनुमान के अनुसार जगली पशु पक्षी भारतीय कृषि उपज का २०% भाग खा जाते हैं।

(६) कृषि के अयोग्य खेत बन जाना :—कभी कभी उपविभाजन और विखण्डन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप बहुत से खेत इतने छोटे आकार के हो जाते है कि उन पर खेती नही की जा सकती। इन छोटे-छोटे खेतो मे कृषक अपना हल चलाने तक मे असमर्थ रहता है। इस प्रकार के ३० २८ वर्ग गज तक के खेत हमारे देश में बहुत मिल जाते है।

(७) गहरी खेती सम्भव नहीं —उपविभाजन और विखण्डन के फलस्वरूप गहरी खेती (Intensive Cultivation) को भी व्यवहारिक रूप नही दिया जा सकता। कारण स्पष्ट है कि यदि किसी कृषक के पास ५-६ अथवा इससे अधिक खेत दूर-दूर बिखरे हुए हो, तब वह किसी खेत पर भी अपने समस्त साधन अथवा शक्ति नही जुटा सकता। हमारा देश इस तथ्य की पुष्टि करता है कि यहा छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेतो से कभी भी गहरी खेती का लाभ नही उठाया गया।

(८) पारस्परिक कलह —कृषि जोतो के उपविभाजन और विखण्डन के कारण कभी-कभी कृषको मे मडो और रास्तो के प्रश्न को लेकर लडाई झगडा और मारपीट तक हो जाती है जिसका अन्तिम परिणाम मुकद्मेबाजी और धन का अपव्यय होता है।

(९) कृषि का एक अलाभकारी व्यवसाय बन जाना —सर जान रसेल (Sir John Russel) के मतानुसार, "खेतो का विखण्डीकरण सबसे अधिक हानिकारक समस्या है, जिसके फलस्वरूप कृषि एक अलाभकारी व्यवसाय (Unprofitable Occupation) अथवा जीवन यापन का ढग मात्र (Way of Life) बन गया है। अत जब तक इस समस्या का समाधान नहीं किया जायगा, कृषि विकास की प्रगति अत्यन्त मद रहेगी।" उत्तरप्रदेश मे की हुई एक जाच से यह ज्ञात हुआ है कि जैसे-जैसे खेतो का आकार छोटा होता जाता है, वैसे ही वैसे कृषक की प्रति एकड भूमि से आय भी कम होती जाती है। यह तथ्य निम्न आकडो से स्पष्ट है —

खेत का आकार	कृषि का व्यय (प्रति एकड)	सम्पूर्ण आय (प्रति एकड)	शुद्ध आय (प्रति एकड)
	रु०-आ०-पा०	रु०-आ०-पा०	रु०-आ०-पा०
२० एकड से अधिक	३२- ५-०	४०- ५-०	+ ८- ०-०
१० से २० एकड तक	३३- ५-०	३५-१२-०	+ २- ७-०
५ से १० एकड तक	३५-१५-०	३६-१२-०	+ ०-१३-०
३ से ५ एकड तक	४१- १-०	४०- ०-०	- १- १-०

(१०) कृषकों की ऋणग्रस्तता में सहायक :—छोटे-छोटे खेतो की प्रतिभूति पर कृषक सरलतापूर्वक और नीची ब्याज की दर पर ऋण प्राप्त नही कर पाते। अत उन्हें ऊंची ब्याज पर ऋण लेना पडता है। डा० राधा कमल मुकर्जी (Dr. R. K Mukerji) ने अपनी पुस्तक (Rural Economy of India) मे कृषि-जोतों के उपविभाजन और विखण्डन के दोषों को इन शब्दो मे व्यक्त किया है,—"किन्हीं सीमाओं तक कृषि की अक्षमता (अनुत्पादकता) का मूल कारण कृषको की अज्ञानता, लापरवाही अथवा काम करने की अनिच्छा की तुलना में खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों मे विभक्तीकरण एव उनका विखण्डीकरण अधिक है। इस प्रकार की जोतें कृषकों के लिये पर्याप्त काम नहीं देती और कृषक वर्ष के एक बड़े भाग मे बेकार रहते हैं। *कृषि-ऋणग्रस्तता जोतों के उपविभाजन का कारण और परिणाम है और कभी-कभी उदासीनता और ऋणग्रस्तता दोनों को एक साथ जन्म देता है*।"

कृषि जोतों के उपविभाजन व विखण्डन से उत्पन्न दोषो को दूर करने के लिए उपचार :—(Remedies for Removing the Defects Created by Sub-division and Fragmentation of Agricultural Holdings) —लघुस्तरीय एव विशालस्तरीय उद्योगो का विकास, सचार एव परिवहन के साधनो का विस्तार तथा बीमा कम्पनी, व्यापार, बैंक आदि की प्रगति एव अन्य प्रकार के रोजगारो के विस्तार के फलस्वरूप ही कृषि-भूमि पर जनसख्या के भार मे कुछ कमी की जा सकती है जिससे कृषि-जोतो के उपविभाजन और विखण्डन की समस्या यथासम्भव हल हो सकती है। कृषि-भूमि के उपविभाजन और विखण्डन की समस्या के समाधान के लिए कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये जा सक्ते हैं —*(i) चकबन्दी, (ii) उत्तराधिकार के नियमो मे परिवर्तन, (iii) आर्थिक* जोतो का निर्माण, (iv) भूमि का राष्ट्रीयकरण, (v) एक निश्चित सीमा के पश्चात् भूमि के उपविभाजन पर रोक तथा (vi) सहकारी-कृषि।

(१) चकबन्दी (Consolidation) —कृषि-जोतो के विखण्डीकरण को दूर करने के लिए चकबन्दी एक सर्वोत्तम साधन है। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) **के शब्दों मे, "भारतीय कृषकों की भूमि के उपविभाजन व विखण्डन की समस्या से छुटकारा दिलाने का एकमात्र साधन चकबन्दी ही है। इस पद्धति मे बिखरे हुए खेतों के स्थान पर एक चक का एक खेत बना दिया जाता है अथवा विभिन्न प्रकार की मिट्टी के कुछ चक बना दिए जाते हैं।"** वस्तुत. चकबन्दी का ध्येय है– एक ही परिवार के बिखरे हुए खेतो को एक चक

* "In many tracts the inefficiency of agriculture is worse due to the small size and scattered nature of the holdings than to ignorance or want of alterness *on the part of the peasents Such holdings do not afford sufficient work for the* cultivator and leave him almost unemployed during most part of the year *Agricultural indebtedness is at once the cause and effect of the excessive division of the* holdings and very often enforced idleness and indebtedness go together." Dr R K, Mukerji, Rural Economy of India, Page 65.

मे परिवर्तित करके आर्थिक जोत (Economic Holding) का निर्माण करना। चकबन्दी की व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वप्रथम एक गाव के समस्त कृषकों की छोटे-छोटे टुकडो मे बिखरी हुई समस्त भूमि को एकत्रित कर लिया जाता है, तदुपरात प्रत्येक भूस्वामी को उसकी भूमि के आकार, मूल्य एव उर्वरता को दृष्टि मे रखते हुए एक अथवा दो चक दे दिए जाते है। चकबन्दी के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं — (अ) चकबन्दी से कृषि-जोतो मे विखण्डन के समस्त दोष दूर हो जाते हैं। (आ) भूमि के टुकडो की सख्या कम हो जाती है तथा खेतो का आकार बढ जाता है। (इ) बडे आकार के खेत बन जाने से कृषि मे स्थाई सुधार करने, वैज्ञानिक पद्धति अपनाने तथा मशीनो के प्रयोग करने की सम्भावना और सरलता मे वृद्धि होती है। (ई) इससे समय श्रम व पूजी की बचत होती है, व्यक्तिगत भूमि का पुनर्गठन हो सकता है तथा सडको आदि की अन्य सुविधाए सरलता से उपलब्ध हो जाती है। (उ) मेडो अथवा रास्तो के छोटे मोटे प्रश्नो को लेकर कृषको के बीच होने वाले झगडो की इतिश्री हो जाती है तथा (ऊ) चकबन्दी गाव की सार्वजनिक-भूमि, सडको, नालियो, स्कूल, पार्क, खेलने के मैदान खाद के गड्ढो आदि की नियोजित ढग से व्यवस्था करने का अवसर प्रदान करती है।

चकबन्दी की रीतिया :—चकबन्दी को कार्यान्वित करने की मुख्य तीन रीतिया है —

(१) व्यक्तिगत प्रयत्नो द्वारा चकबन्दी (Consolidation Through Voluntary Efforts) —व्यक्तिगत प्रयत्नो द्वारा अथवा ऐच्छिक चकबन्दी के अन्तर्गत एक गाव के कुछ अथवा समस्त कृषक स्वेच्छापूर्वक अपने छोटे-छोटे विखण्डित खेतो का आदान प्रदान कर लेते है। ऐच्छिक चकबन्दी का विचार व्यावहारिक दृष्टिकोण से कठिनाईमय है। इसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं— (i) अज्ञान एव अशिक्षित कृषकों के मन मे ऐच्छिक चकबन्दी की भावना उत्पन्न होना कल्पना प्रसूत है। (ii) चूकि कृषको को अपने खेतो से विशेष मोह होता है, इसलिए उनसे यह आशा करना, कि वे स्वेच्छापूर्वक खेतो के आदान-प्रदान के लिए तत्पर हो जाएग सर्वथा असम्भव है। (iii) अन्त म कृषि-भूमि के अधिकारो की विभिन्नता एव भूमि के आदान प्रदान मे अत्यधिक व्यय भी ऐच्छिक चकबन्दी के मार्ग मे बाधा उपस्थिति करते हैं। श्री कीटिंग्स (Keatings) ने भारत मे ऐच्छिक चकबन्दी की सम्भावना पर विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है। 'जबकि व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा चकबन्दी की रीति फ्रास, जर्मनी, डेनमार्क तथा स्विटजरलैंड आदि देशो मे विफल सिद्ध हो चुकी है, तब भारत जैसे देश मे, जहां कि कृषक अत्यन्त अज्ञानी एव सकीर्ण विचार के हैं, ऐच्छिक चकबन्दी की रीति का सफल होना एकदम असम्भव है।"

(२) सहकारी समितियो द्वारा चकबन्दी (Consolidation Through Co-operative Societies) —हमारे देश म सर्वप्रथम सन् १६२०–२१ म पजाब प्रदेश मे सहकारिता के आधार पर चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ किया गया। यहा

पर सहकारी समितियो ने प्रचार एव प्रेरणा द्वारा ऐच्छिक आधार पर चकबन्दी का कार्यारम्भ किया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे पहले सहकारी विभाग के कर्मचारी गावो मे जाकर चकबन्दी के लाभो का प्रचार करते थे, तत्पश्चात् चकबन्दी के इच्छुक कृषको की एक सहकारी चकबन्दी समिति (Co-operative Consolidation Committee) बनाकर उनके खेतो की चकबन्दी की जाती थी। प्राय चकबन्दी की किसी भी योजना को समिति के ⅔ सदस्यो द्वारा मान लेने पर शेष ⅓ सदस्यो को इसे अवश्य स्वीकार करना पडता था। परन्तु व्यवहार मे चकबन्दी की ऐसी कोई भी योजना उस समय तक कार्यान्वित नही की गई, जब तक कि उसको सभी सदस्यों ने अगीकार न कर लिया हो। सहकारी समितियो द्वारा चकबदी की यह रीति भी व्यक्तिगत रीति की ही तरह दोषयुक्त है। यही कारण है कि पजाब तथा अन्य प्रदेशो मे सहकारिता के आधार पर चकबन्दी-काय मे कोई उल्लेखनीय सफलता नही प्राप्त हो सकी। सन् १९४३ तक पजाब मे १,८०७ सहकारी चकबन्दी समितिया थी, जिन्होने पजाब की तीन करोड एकड कृषि-भूमि मे से केवल १०,४५,००० एकड भूमि की चकबन्दी की थी। विभाजन के पश्चात, पूर्वी पजाब मे इस कार्य-क्षेत्र मे और भी प्रगति हुई। सन् १९५०-५१ मे वहा ४३८ सहकारी चकबन्दी समितियो के प्रयत्नो द्वारा लगभग २ लाख एकड भूमि की चकबन्दी की गई। उत्तर प्रदेश मे भी सन् १९३९-४० मे १८२ सहकारी चकबन्दी समितिया थी, जिन्होने ७७,६७२ बीघा भूमि पर चकबन्दी की थी। यद्यपि मद्रास मे सहकारी समितियो द्वारा चकबन्दी का कार्य सन् १९३६ से ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु इस क्षेत्र मे कोई विशेष प्रगति न की जा सकी। १९४७-४८ मे मद्रास मे इन समितियो की सख्या केवल २२ थी। बाद म राज्य सरकार ने इनके काय को यह कह कर स्थगित कर दिया कि जब तक वैधानिक आश्रय द्वारा भूमि के उप-विभाजन को नही रोका जाएगा, तब तक चकबन्दी से विशेष लाभ नही हो सकेगा।

(३) कानून द्वारा चकबन्दी (*Consolidation Through Legislation*) —कानून द्वारा भूमि की चकबन्दी का अभिप्राय उत्तराधिकार को वैधानिक रीति से सीमित करके आर्थिक जोतो को स्थिर बनाए रखना है अथवा सहकारी चकबन्दी समितियो और व्यक्तिगत चकबदी सस्थाओ के कार्य मे वैधानिक सहायता देना है अथवा सहकारी विभाग द्वारा जोतो की अनिवार्य चकबन्दी करना है। सर्वप्रथम मध्य प्रदेश मे सन् १९२८ मे चकबन्दी अधिनियम (Consolidation Act) पास किया गया जिसके अन्तर्गत आशिक अनिवार्यता (*Partial Compulsion*) को अपनाया गया। इस अधिनियम के अनुसार यदि किसी गाव के ऐसे आधे स्थाई भूस्वामी, जिनके अधिकार मे कुल गाव की कम से कम ⅔ भूमि है, अपने खेतों की चकबन्दी से सम्बन्धित किसी योजना को मानने को प्रस्तुत होते हैं, तब शेष भूस्वामियो को भी यह योजना माननी पड़ेगी। मध्यप्रदेश का अनुकरण अन्य राज्यो मे भी किया गया तथा सन् १९३६ मे पजाब, सन् १९३९ मे उत्तर

प्रदेश और सन् १६४० में जम्मू व काश्मीर राज्यों ने भी अपने यहां चकबन्दी के ऐसे ही अधिनियम पास किए। वस्तुतः आंशिक अनिवार्यता की यह नीति अधिक ठोस नहीं थी। फलतः सन् १६४७ में सर्वप्रथम महाराष्ट्र सरकार ने पूर्ण अनिवार्यता का चकबन्दी अधिनियम पास किया। इसी अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक भूस्वामी के लिए चकबन्दी की योजना को स्वीकार करना अनिवार्य कर दिया गया। महाराष्ट्र का अनुसरण करके पंजाब, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश व दिल्ली आदि राज्यों में भी इसी प्रकार के अधिनियम पास किए गए।

(१) भारत में चकबन्दी की प्रगति तथा इसके विकास में कठिनाइयाँ—सन् १६५६-६० के अन्त तक देश के विभिन्न प्रदेशों में लगभग २.३० करोड़ एकड़ भूमि की चकबन्दी की जा चुकी थी और लगभग १.३० करोड़ एकड़ भूमि पर चकबन्दी की योजना कार्यान्वित थी। तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों में लगभग ३ करोड़ एकड़ भूमि की चकबन्दी का कार्य हाथ में लिया जायगा। चकबन्दी के कार्य में आशाजनक प्रगति मुख्यतः पंजाब, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात और मध्यप्रदेश में हुई है। अन्य राज्यों में दूसरी योजना की अवधि में प्रगति अपेक्षाकृत कम हो पाई है। भारत में चकबन्दी की धीमी प्रगति के मुख्य कारण इस प्रकार हैं :—(i) चकबन्दी कार्य के लिये कुशल, ईमानदार एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता है। भारत में ऐसे कर्मचारियों का नितान्त अभाव है। (ii) अनेक राज्यों में भूमि-अधिकार सम्बन्धी अभिलेख ठीक-ठीक उपलब्ध नहीं हैं। (iii) भारत के अज्ञान, अशिक्षित एवं रूढ़िवादी कृषक अपने पूर्वजों से प्राप्त भूमि से एक विशेष भावनात्मक प्रेम रखते हैं जिससे चकबन्दी की प्रगति में मुख्य बाधा उपस्थित होती है। (iv) चकबन्दी-कार्य में कर्मचारियों की घूंसखोरी तथा भूस्वामियों में भेदभाव करने की प्रवृत्ति भी चकबन्दी कार्य के विकास में बाधक है। (v) चकबन्दी कार्य के लिय पर्याप्त मात्रा में धन चाहिये। यद्यपि उत्तर प्रदेश, पंजाब, दिल्ली व मध्यप्रदेश आदि राज्यों की सरकारों ने अपने यहां भूस्वामियों से चकबन्दी की फीस लेने की व्यवस्था की है, तथापि यह ऊपरी को भारस्वरूप ही प्रतीत होता है।

(२) उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन—कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन लाकर भूमि के उपविभाजन एवं विखण्डन को रोका जा सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान यह सुझाव प्रस्तुत करते हैं कि वैधानिक रीति द्वारा एक निश्चित सीमा के पश्चात् भूमि के उप-विभाजन पर रोक लगानी चाहिये तथा परिवार के समस्त उत्तराधिकारियों को संयुक्त कृषि (Joint Farming) करने के लिये बाध्य करना चाहिये। इसके विपरीत कुछ विचारक इंग्लैंड की भांति भारत में भी उत्तराधिकार के ज्येष्ठत्व नियम (Law of Primogeniture Inheritance) अपनाने का सुझाव दिया है जिसके अनुसार भूस्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी समस्त भूमि ज्येष्ठ पुत्र को ही

मिलनी चाहिये और अन्य पुत्रो व पुत्रियो को इनमे कोई अधिकार नही मिलना चाहिये। वस्तुत उपरोक्त दोनो सुझाव समस्या के समाधान का सही चित्र प्रस्तुत नही करते। इनम से कोई भी उपचार समस्या के मूल कारण को दूर नहीं कर सकता। अकाल जाच कमीशन (Famine Enquiry Commission) का भी यही मत था कि उत्तराधिकार के नियमो मे परिवर्तन करने से ही भूमि के उपविभाजन व विखण्डन की समस्या का समाधान नही किया जा सकता वरन् इसके लिये आवश्यकता इस बात की है कि कृषि के अलावा अन्य ग्रामीण उद्योगों का विकास किया जाय जिससे फलस्वरूप कृषिभूमि पर जनसख्या के भार में कमी होकर उपविभाजन की समस्या स्वत ही कम हो जायेगी। अत कृषि पर निर्भर रहने वाले ६ करोड परिवारो म से कम स कम २ करोड परिवारो के लिये ग्रामीण उद्योगो (Village Industries) का विकास करना परमावश्यक है।

(३) आर्थिक जोतो का निर्माण —देश के विभिन्न क्षेत्रो की स्थानीय स्थितियो का अध्ययन करके सामान्य परिस्थितियो के अनुसार (अ) वर्तमान व्यक्तिगत जोतो, (आ) भविष्य मे भूमि के खरीदने अथवा किसी अन्य प्रकार से प्राप्त करने तथा (इ) भूस्वामियो द्वारा काश्तकारो से व्यक्तिगत खेती के लिये भूमि को वापिस लने की उच्चतम सीमा निर्धारित कर देनी चाहिय। इस प्रकार बडे बडे भूस्वामियों के पास उच्चतम सीमा से अधिक जितनी भूमि हो, वह अनार्थिक जोतो वाले भूस्वामियो को दी जाये जिससे उनकी अनार्थिक आकार की जोतें भी आर्थिक आकार की हो सकें। वास्तव मे जोता की उच्चतम-सीमा निर्धारित करन का यह सुझाव कुछ अटपटा सा प्रतीत होता है। परन्तु प्रगतिशील ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिय, भूमि के स्वामित्व की असमानता को कम करने के लिये एव ग्राम्य सहकारी व्यवस्था के सफल सचालन के लिए भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित करने का यह विचार (Concept) अत्यन्त आवश्यक एव प्रभावोत्पादक है। कृषि-श्रम जाच समिति (Agricultural Labour Enquiry Committee) के आकडो से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि हमारे देश मे भूमि का वितरण बहुत असमान है। समिति क अनुसार ४ ५% व्यक्ति कुल कृषि-क्षेत्र के २४ ४% पर खेती करते हैं, जबकि ६६·६% व्यक्ति कुल कृषि-क्षत्र के केवल १५·५% भाग पर ही खेती करते हैं। लगभग १६% व्यक्ति जिनका कृषि मुख्य व्यवसाय है, भूमिहीन है और लगभग ४८% व्यक्तियो के पास प्रति ५ एकड से भी कम भूमि है और वे विभिन्न प्रकार से कृषि-श्रमिक बनकर अपना जीवनयापन करते हैं। अत यह बहुत महत्व-पूर्ण है कि भूमि की उच्चतम सीमा का निर्धारण किया जाय।

उच्चतम-सीमा सम्बन्धी प्रश्न के दो पहलू हैं —(अ) भूमि की भावी प्राप्ति की उच्चतम सीमा (Ceiling on Future Acquisition of Land) तथा (आ) वर्तमान जोतो की उच्चतम-सीमा (Ceiling on Existing Holdings)। 'भूमि की भावी प्राप्ति की उच्चतम-सीमा' के अन्तर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि कोई व्यक्ति अथवा परिवार भविष्य मे अधिक से अधिक कितनी भूमि खरीद

सकेगा। 'वर्तमान जोतो की उच्चतम सीमा' के अन्तर्गत सीमा से अधिक बडी जोतो के स्वामियो से इस सीमा से अधिक भूमि सरकार द्वारा हस्तगत कर ली जाती है।

भारत में भूमि-जोतो की उच्चतम सीमा:—प्रथम पचवर्षीय योजना मे कृषि-जोतो की उच्चतम सीमा निर्धारण का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। द्वितीय योजना मे कृषि-जोतो पर उच्चतम-सीमा के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने को पुन स्वीकार किया गया तथा प्रत्येक राज्य में उच्चतम-सीमा का निर्धारण करने के लिये सिफारिश की गई। द्वितीय योजनावधि मे जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिये आन्ध्र प्रदेश, असम, गुजरात, केरल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र उडीसा, पजाब के पेप्सू भाग, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल तथा सघ-शासित प्रदेशो मे अधिनियम बन गए है। जम्मू और काश्मीर एव हिमाचल प्रदेश मे इससे पहले ही इस प्रकार के कानून बन गये थे। पजाब के पेप्सू वाले भाग को छोडकर शष भाग मे वतमान कानून के अनुसार राज्य सरकारो को यह अधिकार प्राप्त है कि व बेदखल व्यक्तियो अथवा बेदखल होने वाले कृषको को पुन बसाने के लिये उन व्यक्तियो से भूमि हस्तगत कर ल, जिनके पास स्वीकृत सीमा से अधिक भूमि है। भारत के विभिन्न राज्यो मे भूमि की भावी प्राप्ति की उच्चतम-सीमा पृथक्-पृथक् निश्चित की गई है। उत्तर प्रदेश म वह सीमा १२½ एकड, पजाब और दिल्ली मे ३० प्रमाणिक एकड, राजस्थान मे सिंचित भूमि के २० एकड अथवा मरभूमि के ६० एकड, जम्मू व काश्मीर म २२¾ एकड, पश्चिमी बगाल मे २५ एकड तथा मध्य प्रदेश मे ५० एकड निश्चित की गई है। भूमि की भावी प्राप्ति की उच्चतम सीमा के अतिरिक्त, देश के विभिन्न राज्यो मे वर्तमान जोतो की उच्चतम सीमा भी पृथक् पृथक् है। उत्तर प्रदेश मे यह सीमा ३० एकड, पजाब के पेप्सू क्षत्र मे विस्थापितो के लिये ४० प्रमाणिक एकड तथा अन्य के लिये ३० प्रमाणिक एकड, हिमाचल प्रदेश के चम्बा जिले म ३० एकड तथा अन्य क्षेत्रो मे १२५ रु० की लगान वाली भूमि है। यद्यपि वतमान जोतो की उच्चतम-सीमा सम्बन्धी अधिनियम अनक राज्यो म पास किया जा चुका है, परन्तु इस अधिनियम का पूण परिपालन केवल जम्मू व काश्मीर राज्य मे ही किया जा सका है। इस राज्य म वतमान जोतो की उच्चतम-सीमा से अधिक भूमि के रूप मे २ ३ लाख एकड भूमि प्राप्त करके पुनर्वितरित की जा चुकी है।

व्यवहार मे कृषि-जोतो की उच्चतम-सीमा से सम्बन्धित तीन प्रश्न उठत हैं, जो इस प्रकार हैं —(i) *उच्चतम-सीमा का स्तर क्या होना चाहिए?* कुमारप्पा समिति (Kumarappa Committee) ने कृषि-जोत की उच्चतम-सीमा आर्थिक-भूमि की तीन गुनी भूमि स्वीकार की है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने ३० एकड अधिकतम भूमि स्वीकार की है, यद्यपि ६¼ एकड भूमि को आर्थिक जोत माना है। प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ मे सामान्य रूप से तीन पारिवारिक जोतो (Family Holdings) को उच्चतम-सीमा का स्तर स्वीकार किया गया।

पारिवारिक जोत के आकार के सम्बन्ध में योजना आयोग (Planning Commission) ने यह विचार प्रस्तुत किया "पारिवारिक जोत वह क्षेत्रफल है, जो स्थानीय दशाओं के अनुसार एवं कृषि की वर्तमान प्रविधि के अन्तर्गत, कृषि कार्यों में बहुधा उपलब्ध होने वाली सहायता के सहित कार्य करते हुए, औसत आकार के परिवार के लिए एक "हल-इकाई" अथवा एक "कार्य-इकाई" के समान हो। (ii) किन क्षेत्रों को उच्चतम-सीमा से मुक्त रखा जाए? द्वितीय योजना में योजना आयोग ने जोत की अधिकतम सीमा से इन श्रेणियों को मुक्त रखने का विचार रखा था —(क) चाय, कहवा और रबड के उद्यान, (ख) फलों के बाग जहा वे उचित रूप से एक चक हों, (ग) पशु पालन, डेरी व्यवसाय तथा ऊन उत्पादन सम्बन्धी विशिष्ट फार्म, (घ) चीनी के कारखानों के गन्ने के फार्म तथा कुशलतापूर्ण प्रबन्धित फार्म तथा (ङ) ऐसे सुव्यवस्थित खेत जो बड़े बड़े चकों के रूप में हों, जिनमें पर्याप्त रुपया लगाया गया हो या जिनमें स्थाई इमारतें आदि बनाई गई हों और जिनके फार्मों को समाप्त कर देने से उत्पादन कम होने की सम्भावना हो। राज्यों में जोत की सीमा निर्धारित करने वाले जो कानून बनाए गये हैं, उनमें बागानों को इस सीमा से अनिवार्यतः मुक्त कर दिया गया है तथा विशेष प्रकार के फार्मों को रखने के लिये भी व्यवस्था की गई है। चीनी कारखानों द्वारा चलाए जाने वाले गन्ने के फार्मों तथा कुशलतापूर्वक सचालित फार्मों के प्रति रुख के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों के कानूनों में एकरूपता नहीं है। यदि योजना आयोग द्वारा स्वीकृत श्रेणियों के कार्यों को जोत की अधिकतम सीमा से मुक्त कर दिया जाए, तब इससे बड़े बड़े भू-स्वामियों को उच्चतम-सीमा की रोक से बचने का एक अच्छा मार्ग मिल जाएगा। अतः उच्चतम सीमा से छूट देने के सम्बन्ध में अधिक कठोरता की आवश्यकता है। (iii) उच्चतम-सीमा लागू होने से प्राप्त अतिरिक्त-भूमि का प्रयोग किस प्रकार किया जाए? कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में यह निर्णय किया गया था कि अतिरिक्त भूमि ग्राम पचायतों को दी जाए और इसका प्रबन्ध भूमिहीन कृषि-श्रमिकों की सहकारी समितियों द्वारा किया जाए। वास्तव में यह एक महत्वपूर्ण बात है कि जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देने के कानूनों के फलस्वरूप जो अतिरिक्त-भूमि सुलभ हो, वह परती भूमि (Fallow Land) तथा भूदान में मिली भूमि, भूमिहीन कृषकों को पुन बसाने की व्यवस्थित योजना के अनुसार अविलम्ब दी जानी चाहिये। भूमि देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उन व्यक्तियों को आवश्यक वित्तीय एवं तकनीकी सहायता सुलभ की जाए जिससे उस भूमि को लेने वाले व्यक्ति उच्च स्तर पर खेती कर सकें।

कृषि-जोतों की उच्चतम-सीमा के पक्ष और विपक्ष में तर्क —इसके पक्ष में मुख्य तर्क इस प्रकार हैं —(i) चूंकि गावों में आय का मुख्य स्रोत व सामाजिक-स्तर का मापदण्ड भूमि है, इसलिये उच्चतम सीमा के निर्धारण से ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक व सामाजिक असमानता कम हो सकती है। (ii) समानता के स्तर के फलस्वरूप ग्रामीण जनता में सहकारिता को प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि

व्यवहार मे सहकारिता समानस्तरीय व्यक्तियो मे ही अधिक पनपती है। (iii) गावो मे रोजगार की मात्रा मे वृद्धि होगी। (iv) बडे भूस्वामियो के पास अधिक भूमि होने से बहुत सी भूमि बेकार पडी रहती है। परन्तु उच्चतम-सीमा निर्धारण के पश्चात् जब यह अतिरिक्त भूमि छोटे कृषकों अथवा भूमिहीन श्रमिकों के पास पहुच जायेगी, तब इसमे भी उत्पादन होने लगेगा। इस प्रकार उच्चतम-सीमा निर्धारण से देश मे बोये जाने वाले क्षेत्र मे वृद्धि होगी। **कृषि-जोतों की उच्चतम-सीमा निर्धारित करने के विपक्ष मे मुख्य तर्क इस प्रकार हैं —** (i) वस्तुत कृषि-जोत के आकार तथा इसके वितरण के वर्तमान ढग के अन्तर्गत उच्चतम-सीमा से अतिरिक्त भूमि को पुन वितरित करने से कोई विशेष लाभ नही हो सकेगा। (ii) उच्चतम-सीमा से अतिरिक्त भूमि प्राप्त करने के लिए भूस्वामियो को क्षतिपूर्ति (Compensation) के रूप मे पर्याप्त धन देना होगा। परन्तु राज्य सरकारें अथवा भूमिहीन कृषक, जिन्हे यह भूमि दी जाये, इस व्यय को सहन करने की स्थिति मे नहीं हैं। (iii) हमारे देश मे ग्रामीण-क्षेत्रो की अपेक्षा शहरी-क्षेत्रो मे धन के वितरण की असमानता अधिक है। अत आलोचकों का मत है कि जब सरकार शहरी-क्षेत्रो म आय व सम्पत्ति की कोई उच्चतम-सीमा निर्धारित करने के लिये प्रस्तुत नही है, तब कृषि-जोतो पर ही उच्चतम सीमा का निर्धारण करना सरासर अन्याय होगा। (iv) उच्चतम-सीमा लागू करके प्राप्त की गई अतिरिक्त भूमि के पुनर्वितरण से ग्रामीण जनता के विभिन्न वर्गों मे अशाति और वैमनस्य की भावना का प्रादुर्भाव होगा। (v) उच्चतम-सीमा निर्धारण से पुनर्वितरण के लिये इतनी कम भूमि प्राप्त होगी कि उससे भूमिहीन कृषकों की समस्या हल नही हो सकेगी। यही नहीं, इस प्रकार कृषि-जोतों के अनार्थिक होने तथा उपविभाजित और विखडित होने की सम्भावना और अधिक होगी। (vi) *कांग्रेस की वर्तमान नीति के अनुसार उच्चतम-सीमा निर्धारण* से प्राप्त अतिरिक्त भूमि ग्राम पचायतो को दी जाएगी। इस प्रकार इससे भूमिहीन कृषकों की समस्या का निवारण सर्वथा असम्भव है। (vii) अन्त मे हमारी *सरकार की निकट भविष्य मे सहकारी समितियो द्वारा सयुक्त खेती करने की* नीति इस बात के लिये आगाह नही करती कि कृषि जोतो पर उच्चतम-सीमा निर्धारित करके अतिरिक्त भूमि का पुनर्वितरण किया जाए।

(४) भूमि का राष्ट्रीयकरण — अनेक विचारकों ने यह सुझाव दिया है कि देश मे भूमि का राष्ट्रीयकरण करके राजकीय कृषि-व्यवस्था (State Farming System) प्रारम्भ की जाए। इसमे न केवल कृषि-जोतो के उपविभाजन व विखण्डन की समस्या हल हो जाएगी वरन् प्रति एकड कृषि-उत्पादन मे भी वृद्धि होगी। यद्यपि भूमि का राष्ट्रीयकरण भारत मे न तो सम्भव ही है और न उपयोगी ही है, तथापि उत्तर प्रदेश तथा अन्य कुछ राज्यो मे राजकीय फार्मों पर नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं। राजस्थान के मरुस्थली क्षेत्र मे गगानगर जिले मे ३०,००० एकड़ का राजकीय फार्म बनाया गया है जो सूरतगढ फार्म (Suratgarh Farm) के

नाम से प्रसिद्ध है। यह फार्म रूसी सरकार द्वारा प्रदान की गई मशीनो द्वारा बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाकर स्थापित किया गया है। सूरतगढ फार्म की ही तरह निकट भविष्य म देश के अन्य भागो मे १६ फार्म स्थापित करने का आयोजन है। इन फार्मों के अन्तगत १०,००० एकड से ३०,००० एकड तक भूमि सम्मिलित की जाएगी।

(५) एक निश्चित सीमा के पश्चात भूमि के उपविभाजन पर रोक — अनेक अर्थशास्त्रियो का मत है कि भूमि के अन्तर्विभाजन व उपखण्डन को रोकने के लिये देश के विभिन्न क्षत्रो की स्थानीय परिस्थितियो का अध्ययन करके एक ऐसा नियम बना लेना चाहिए जिसके अन्तर्गत एक निश्चित सीमा के पश्चात भूमि का विभाजन अवैधानिक घोषित कर दिया जाए। उत्तर प्रदेश सरकार ने ६¼ एकड से कम भूमि के उपविभाजन को अस्वीकार कर दिया है। इसी प्रकार दिल्ली और मध्यप्रदेश राज्यो मे क्रमश ८ प्रमाणिक एकड तथा १५ एकड से कम भूमि के उपविभाजन पर रोक लगा दी गई है। इसी प्रकार महाराष्ट्र और पूर्वी पजाब मे यह सीमा ५० प्रमाणिक एकड निश्चित की गई है।

(६) सहकारी कृषि — कृषि जोतो के उपविभाजन एव विखण्डन की समस्या को दूर करने तथा प्रति एकड कृषि-उत्पादन मे वृद्धि करने के लिये सहकारी कृषि एक अपूर्व नीति है। सहकारी कृषि मुख्यत चार प्रकार की होती है—(अ) सहकारी सयुक्त कृषि (Co operative Joint Farming), (आ) सहकारी उन्नत कृषि (Co operative Better Farming), (इ) सहकारी काश्तकार कृषि (Co operative Tenent Farming) तथा (ई) सहकारी सामूहिक कृषि (Co-operative Collective Farming)। पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत देश मे सहकारी कृषि के विकास के लिए अपूर्व प्रयत्न किये जा रहे हैं। यद्यपि इस क्षेत्र मे अभी सफलता अत्यन्त न्यून है, तथापि यह आशा की जाती है कि निकट भविष्य मे भारतीय कृषक सहकारी कृषि के लाभो को समझेगा तथा इस क्षेत्र म आशातीत प्रगति होगी *।

---

*सहकारी कृषि के विस्तृत अध्ययन के लिये अगले अध्याय को देखिये।

१२
सहकारी कृषि

(Co operative Farming)

प्राक्कथन :—भारतीय कृषि के सामान्य निरीक्षण से यह स्पष्ट रूप से विदित है कि कृषि की पिछड़ी हुई स्थिति एव कृषको की निर्धनता के अनेक कारणो मे से कृषि जोतो का उपविभाजन एव विखण्डन (Sub division and Fragmentation of Holdings) एक प्रमुख कारण है। वस्तुत भारतीय कृषि की उपज के वृद्धि लाने तथा मानवीय एव प्राकृतिक साधनो के समुचित उपयोग को ध्यान मे रखते हुए एक आदर्श कृषि व्यवस्था का अपनाना अत्यत आवश्यक है। काग्रेस भूमि सुधार समिति (Congress Land Reforms Committee) ने अपनी रिपोर्ट म आदर्श कृषि व्यवस्था (Ideal Agricultural System) मे चार तत्वो का होना आवश्यक माना है –(अ) जिसके अन्तगत व्यक्तित्व के विकास को पूर्ण अवसर प्राप्त हो सके, (आ) अधिकतम उत्पादन हो सके, (इ) शोषण न हो तथा (ई) भूमि सुधार का कार्यक्रम व्यवहारिक हो। यह एक व्यावहारिक सत्य है कि भारतीय कृषि व्यवस्था 'आदर्श कृषि व्यवस्था' से बहुत पीछे है और देश मे आदर्श कृषि व्यवस्था की स्थापना का कोई भी प्रयत्न तब तक सफलीभूत नही हो सकता, जब तक कि जोतो के यत्र तत्र बिखरे हुए टुकडो को एक साथ एकत्रित करके उन्हे आर्थिक जोत (Economic Holding) मे परिणित न कर दिया जाए। अत आदर्श कृषि व्यवस्था के अध्ययन से पूर्व कृषि व्यवस्था के विभिन्न स्वरूपो का अध्ययन करना आवश्यक होगा।

कृषि व्यवस्था के विभिन्न रूप :—*आजकल समस्त विश्व मे प्रचलित* कृषि व्यवस्था के मुख्य स्वरूप निम्नलिखित है —

(१) व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक कृषि व्यवस्था :—(Individual *Peasant Farming or Family Farming or Peasent Proprietorship*) —व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक कृषि व्यवस्था मे कृषक अपनी भूमि का स्वय स्वामी होता है। वह अपने परिवार के सदस्यो की सहायता से अथवा आवश्यकता *पडने पर श्रमिको की सहायता से स्वतन्त्रतापूर्वक खेती करता है।* इस व्यवस्था म कृषक और सरकार के बीच कोई मध्यस्थ नही होता। भारत म इस प्रकार की कृषि व्यवस्था बहुत अधिक प्रचलित है। व्यक्तिगत खेती के लिए परिवार के पास *उपयुक्त आकार का खेत होना परमावश्यक है। जिस प्रकार* व्यक्तिगत खेती के लिए बहुत छोटे खेत अलाभकर हैं, ठीक उसी प्रकार बहुत बडे

खेत भी अनुपयोगी हैं, क्योंकि एक परिवार उनका सुप्रबंध नहीं कर सकता तथा इससे भूमि के वितरण में भी असमानता आती है। अतः व्यक्तिगत खेती के लिए 'पारिवारिक जोत का आकार' ही अधिक लाभ प्रद है। व्यक्तिगत कृषि पद्धति के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं -(अ) कृषकों को व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर उपलब्ध होता है। चौ० चरण सिंह के शब्दों में "यह विचार कि भूमि उसकी तथा उसके बच्चों की सदा के लिए हो गई है, उसके परिश्रम को हल्का व मधुर बना देने वाला होता है और उसका मानसिक क्षितिज व्यापक हो जाता है। यह भावना कि वह स्वयं अपना स्वामी है, उस पर कोई बाह्य नियन्त्रण नहीं है और वह अपनी भूमि का स्वतन्त्र सर्वाधिकार व निर्बाध प्रयोग कर सकता है, उसे उत्तरोत्तर अधिक प्रयत्न करने को प्रेरित करती है। उसे एक मनोवैज्ञानिक प्रेरणा प्राप्त होती है जो भूमि के प्रति उसकी निष्ठा व प्रेम को पोषण प्रदान करती है।" (आ) इस पद्धति में छोटे पैमाने पर गहरी खेती (Intensive Cultivation) के समस्त लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं। एस० एन० अग्रवाल (S N Agrawal) के शब्दों में 'जापान के छोटे खेतों में अमेरिका और आस्ट्रेलिया के बड़े खेतों की तुलना में दुगना उत्पादन होता है तथा डेनमार्क और स्विटजरलैंड के छोटे खेतों में चौगुना उत्पादन होता है।" (इ) चूंकि इस पद्धति में सरकार और कृषकों के बीच प्रत्यक्ष का सम्बन्ध होता है, इसलिए मध्यस्थों द्वारा कृषक-वर्ग के शोषण करने का अवसर ही नहीं मिलता। (ई) व्यक्तिगत कृषि पद्धति भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल है। भारतीय कृषक को अपनी भूमि से विशेष स्नेह है और इस स्थिति में उसके लिए स्वतन्त्र व्यक्तिगत कृषि प्रणाली ही अधिक उपयोगी है। व्यक्तिगत कृषि पद्धति के मुख्य दोष इस प्रकार हैं —(अ) व्यक्तिगत कृषि पद्धति से कृषि जोतों के उपविभाजन एवं विखण्डन की समस्या का प्रादुर्भाव होता है। (आ) चूंकि इस पद्धति में खेत छोटे-छोटे होते हैं, इसलिए न तो कृषि का पूर्ण विकास ही हो पाता है और न फसल-आयोजन (Crop Planning) ही कार्यान्वित किया जा सकता है। (इ) कभी-कभी इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि को बेचने, गिरवी रखने अथवा किराये पर देने की स्वतन्त्रता के कारण भूमि कृषक-वर्ग के हाथ से निकलकर अकृषक वर्ग के हाथ में चली जाती है।

निष्कर्ष :—यद्यपि व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था के अपने गुण-दोष हैं, तथापि यदि (अ) जोत का आकार आर्थिक हो, (आ) भूमि के उपविभाजन और विखण्डन पर रोक लगाई जाये, (इ) सहकारी सेवा समितियों (Service Co operatives) का विकास किया जाये तथा (ई) कृषक को आवश्यक सरकारी सहायता उपलब्ध होती रहे, तब यह पद्धति सर्वोत्तम मानी जा सकती है।

(२) पूंजीवादी कृषि-व्यवस्था (Capitalistic or Estate Farming)—पूंजीवादी कृषि पद्धति के अन्तर्गत भूमि पर व्यक्तियों सेण्डीकेन्टो (Syndicates) अथवा सम्मिलित पूंजी की कम्पनियों (Joint Stock Companies,) का अधिकार तथा प्रबन्ध रहता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजीपति श्रमिकों को

सहायता से भूमि पर वैज्ञानिक ढग से बडे पैमाने पर खेती करते हैं। यह पद्धति अमेरिका और इगलैंड मे बहुत प्रचलित है। भारत के चाय, रबर और कॉफी के उद्यानो म भी इसी प्रकार की कृषि प्रणाली प्रचलित है। दक्षिणी भारत मे भी गन्ने की खेती के बडे बडे पूजीवादी फार्म पाये जाते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन के आधुनिकतम ढगो, उत्तम बीज, खाद तथा कृषि यन्त्रो का प्रयोग किया जाता है। अत इस प्रकार की खेती मे अधिक उत्पादन तथा भूमि का अधिकाधिक सदुपयोग सम्भव होता है। देश की परिस्थितियों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि पूजीवादी कृषि पद्धति का प्रयोग भारत मे सर्वथा अनुचित होगा। इसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(अ) इस व्यवस्था मे समस्त भूमि पर थोडे से पूजीपतियो का अधिकार हो जायेगा तथा देश मे भूमिहीन वर्ग की सख्या मे वृद्धि होगी। (आ) खाद्यान्नों की पूर्ति जैसे महत्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध मे समाज को पूजीवादी नियन्त्रण मे रखना एकदम अनुपयुक्त होगा तथा (इ) कृषि-भूमि पर यन्त्रों के अधिकाधिक उपयोग से बेकार व्यक्तियो की सख्या मे और भी अधिक वृद्धि होगी।

(३) सामूहिक कृषि व्यवस्था (Collective Farming) —सामूहिक कृषि पद्धति के अन्तर्गत भूमि, पूजी व यत्र आदि समस्त साधनो को एकत्रित करके विस्तृत क्षेत्र मे खेती की जाती है। इस प्रणाली मे भूमि पर स्वामित्व कृषको का न मानकर समाज या राज्य (Society of State) का माना जाता है। इस पद्धति म राज्य द्वारा भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है। खेती का कार्य निर्वाचित समिति (Selected Committee) अथवा निगम (Corporation) की देख-रेख मे होता है। श्रमिको को उनकी मेहनत के आधार पर पारिश्रमिक दिया जाता है तथा कुल लाभाश (Dividend) मे से बोनस (Bonus) के रूप मे कुछ हिस्सा दे दिया जाता है। सामूहिक कृषि पद्धति के मुख्यत तीन स्वरूप प्रचलित हैं —(अ) कृषि साधनो पर सामूहिक स्वामित्व हो परन्तु खेती व्यक्तिगत रूप मे की जाती हो, (आ) सामूहिक कृषि के साथ-साथ मनुष्यो के सामूहिक रहन-सहन तथा खान-पान आदि की भी व्यवस्था हो तथा (इ) भूमि पर पूर्णतया समाज का अधिकार हो तथा सयुक्त प्रबन्धक मण्डल (Joint Management Board) द्वारा कृषि की व्यवस्था की जाती हो। सामूहिक कृषि का श्री गणेश रूस मे हुआ। इस समय रूस के अतिरिक्त फिलिस्तीन (Palestine) मे भी यह पद्धति प्रचलित है तथा इन देशो मे इसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। कांग्रेस भूमि सुधार समिति (Congress Land Reforms Committee) ने सामूहिक कृषि का प्रयोग देश मे नई भूमि के लिये जो कि अब तक बेकार पडी हुई थी, जिस पर यन्त्रीकरण भी सम्भव और जिस पर अभी तक स्वामित्व की भावना का उदय भी नही हुआ था, वाछनीय बताया है। सहकारी कृषि और सामूहिक कृषि में मुख्य अन्तर इस प्रकार है — (अ) सहकारी खेती पूर्णत ऐच्छिक सगठन पर आधारित होती है, जबकि सामूहिक खेती म अनिवार्यता और दबाव का सदा रहता है। (आ) सहकारी खेती मे कृषि

भूमि पर स्वामित्व कृषकों का होता है, जबकि सामूहिक खेती मे स्वामित्व 'समिति' का होता है। (इ) सहकारी खेती मे एक सदस्य को पृथक् होने का अधिकार होता है, जबकि सामूहिक खेती मे इस प्रकार का कोई अधिकार नही होता। (ई) सहकारी कृषि पद्धति की तुलना मे सामूहिक कृषि के अन्तर्गत फार्म बडे आकार के होते हैं। (उ) सहकारी कृषि के अन्तर्गत सदस्यो को समिति की कार्यविधि मे हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार होता है, लेकिन सामूहिक कृषि के अन्तर्गत सदस्यो को समिति की कार्यपद्धति अथवा मूल्य-निर्धारण नीति मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही होता। (ऊ) सहकारी कृषि पद्धति मे सदस्यो को सहकारिता की शिक्षा देते हुये उनके व्यक्तित्व के विकास को पूर्ण अवसर दिया जाता है, परन्तु सामूहिक कृषि पद्धति मे सदस्यो का व्यक्तित्व सामूहिकता मे परिणित कर दिया जाता है। (ए) सहकारी कृषि पद्धति मे सदस्यो को उनके परिश्रम के उपलक्ष मे मजदूरी तथा उनके भूस्वामित्व के उपलक्ष मे लाभाश दिया जाता है, परन्तु चूकि सामूहिक कृषि पद्धति मे सदस्यो का भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व नही होता है, इसलिये उन्हें श्रम के उपलक्ष मे मजदूरी दी जाती है तथा वार्षिक लाभाश मे से सदस्यो को बोनस के रूप मे कुछ भाग दिया जाता है।

निष्कर्ष—सामूहिक कृषि व्यवस्था भारत की वर्तमान परिस्थितियो के अनुकूल नही है। वस्तुत यह कृषि की एक क्रान्तिकारी (Revolutionary) प्रणाली है तथा इसको कार्यान्वित करने के लिये सामाजिक व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन लाना आवश्यक है। चूकि हमारे देश के कृषक भूमि से अपना अधिकार छोडना नही चाहते, इसलिये देश मे इस पद्धति को कार्यान्वित करना नितान्त असम्भव और अव्यवहारिक है। यही नही, इससे वेकार व्यक्तियो की सख्या मे भी वृद्धि होगी तथा कृषि व्यवस्था का ढाचा अस्त व्यस्त हो जाएगा। अत देश की कृषि व्यवस्था के ढाचे मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्थान देना देश की परिस्थितियो को देखते हुए नितात आवश्यक है, जिसका कि सामूहिक कृषि पद्धति मे सर्वथा अभाव होता है।

(४) राजकीय कृषि व्यवस्था (State Farming) — सरकारी कृषि प्रणाली के अन्तर्गत भूमि पर स्वामित्व सरकार का होता है तथा समस्त भूमि को बडे-बडे फार्मों मे विभाजित करके उनमे वैज्ञानिक पद्धतियो द्वारा वेतनभोगी कर्मचारियो द्वारा खेती कराई जाती है। रूस की क्राति के पश्चात् उस देश मे इस प्रकार के फार्म स्थापित हुए थे, परन्तु कर्मचारियो की अयोग्यता एव श्रमिकों की उदासीनता के कारण पर्याप्त सफलता नही मिल सकी। हमारे देश मे भी उत्तर प्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यो मे राजकीय फार्म स्थापित किये गये हैं जहा कृषि-सम्बन्धी अनुसधान का कार्य होता है। राजस्थान के गगानगर जिले मे ३०,००० एकड का सूरतगढ फार्म (Suratgarh Farm) बनाया गया है तथा निकट भविष्य मे ही सूरतगढ फार्म की तरह के १६ फार्म देश के विभिन्न क्षेत्रो मे स्थापित करने का विचार रक्खा गया है। वस्तुतः भारत मे जनसख्या की अधिकता,

पूंजी की अपर्याप्तता, भूमि की अपर्याप्तता, पशु शक्ति के प्रयोग की अनिवार्यता तथा कृषकों का भूमि से विशेष स्नेह आदि कारणों से, सरकारी कृषि का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। अतः भारत में सरकारी खेती न तो सम्भव ही है और न उपयोगी ही।

(५) निगम द्वारा संचालित कृषि-व्यवस्था (Corporate Farming)—निगम द्वारा सचालित कृषि पद्धति मे कृषि का प्रबन्ध एक निगम अथवा "सयुक्त स्कध कम्पनी" (Joint Stock Company) द्वारा किया जाता है। निगम के समस्त सदस्यो का दायित्व (Liability) सीमित (Limited) होता है तथा पूरी व्यवस्था सचालक मंडल (Board of Directors) द्वारा होती है। यह पद्धति अमेरिका मे प्रचलित है। भारत के कुछ राज्यो, जैसे—महाराष्ट्र, मद्रास और मैसूर मे भी इस पद्धति के अनुसार खेती की जाती है। चूंकि इस पद्धति मे बडी मात्रा मे धन और भूमि की आवश्यकता होती है और अन्ततः यह व्यवस्था पूंजीवाद की ओर ले जाती है, इसलिये व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह प्रणाली भारत मे न तो सम्भव ही है और न लाभदायक ही है।

(६) सहकारी कृषि पद्धति (Co-operative Farming)—सहकारी कृषि, व्यक्तिगत कृषि और सामूहिक कृषि के मध्य का मार्ग है। व्यक्तिगत कृषि पद्धति के अन्तर्गत कृषि भूमि का स्वामित्व एव सचालन व्यक्तिगत रूप से किया जाता है तथा सामूहिक कृषि पद्धति के अन्तर्गत भूमि पर स्वामित्व एव कृषि कार्य का सचालन सामूहिक रूप धारण कर लेता है। सहकारी कृषि पद्धति के अन्तर्गत कृषक के व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य (*Individual Liberty*) और *व्यक्तिगत स्वामित्व* (*Individual Ownership*) की रक्षा होती है तथा साथ ही साथ सहकारिता के लाभ भी प्राप्त होते हैं। भारतीय कृषि अनुसधान परिषद (Indian Council of Agricultural Research) की सलाहकार समिति (Advisory Committee) के सन् १९४९ के स्मृति-पत्र (Memorandum) के अनुसार, 'सहकारी कृषि समिति वह समिति है, जिसमे प्रत्येक कृषक को अपनी भूमि पर पूर्ण स्वामित्व होता है, किन्तु खेती सामूहिक रूप से की जाती है।' श्री निजलिङ्गप्पा समिति (Sri Nijalingappa Committee) के अनुसार 'सहकारी कृषि समिति कृषकों का एक ऐच्छिक सगठन है, जिसमे मानव शक्ति व भूमि जैसे साधन एकत्रित किए जाते हैं जिससे कि उनका अधिक अच्छा उपयोग हो सके। इस सगठन मे अधिकांश सदस्य कृषि कार्यों मे भाग लेते हैं जिससे कि कृषि-उत्पत्ति, रोजगार और आय मे वृद्धि हो सके।' सहकारी कृषि प्रणाली मे एक गाव के कृषकों की भूमि को एकत्रित करके उसे बड़े बड़े फार्मों मे विभाजित कर दिया जाता है और तद्पश्चात सहकारी आधार (Co-operative Basis) पर खेती की जाती है। समस्त कृषकों को एक समिति के अन्तर्गत ऐच्छिक आधार पर सगठित कर लिया जाता है। खेती के प्रबन्ध एव व्यवस्था के लिये सभी सदस्य एक प्रबन्धक समिति (Managing Committee) का निर्वाचन करते हैं। इस व्यवस्था मे सहकारी कृषि समिति के सदस्य तथा अन्य श्रमिक मिलकर खेती करते

है। श्रमिकों एव सदस्यों को श्रम के परिमाण के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाता है तथा लाभाश को सदस्यों की भूमि की मात्रा के आधार पर वितरित कर दिया जाता है। योजना आयोग (Planning Commission) के शब्दों मे **"सहकारी कृषि के लिए भूमि का एकत्रीकरण तथा सयुक्त प्रबन्ध अनिवार्य है*।"** भूमि का एकत्रीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है —(अ) विभिन्न कृषकों की समस्त भूमि को एकत्रित करके भूमि का प्रबन्ध एक इकाई (One Unit) के रूप मे किया जाए भूमि पर स्वामित्व उसके व्यक्तिगत स्वामियो का रहे तथा उनको खेती का लाभाश भूमि के आधार अथवा गुण के अनुसार मिल जाए। (आ) भूस्वामी एक पूर्व निश्चित लगान के आधार पर अपनी भूमि सहकारी समिति को एक निश्चित अवधि के लिए पट्टे पर उठा दें अथवा (इ) सहकारी समिति को भूस्वामित्व का अधिकार दे दिया जाए तथा सदस्यो को उनकी भूमि के मूल्य के बराबर हिस्से (Shares) दे दिए जाय। **भूमि के एकत्रीकरण की ही भांति सहकारी कृषि के अन्तर्गत कार्य करने की भी अनेक प्रणालिया हो सकती हैं** —(अ) समस्त खेत का प्रबन्ध सभी कृषि कार्यों के लिए अथवा कुछ चुने हुए कार्यों के लिए एक ही इकाई के रूप मे किया जाए। (आ) सम्पूर्ण सहकारी खेत को परिवार-समूहो की कुछ इकाइयो म विभक्त कर दिया जाए, अथवा (इ) पृथक् पृथक् परिवारो को पृथक्-पृथक् खेत देकर उन पर कुछ कार्य सयुक्त रूप से *(Collectively)* किए जाए। **इस प्रकार सहकारी कृषि की मुख्य विशेषताए इस प्रकार हैं** — (i) भूमि के विभिन्न टुकडो को मिलाकर एक चक का रूप दे दिया जाता है। (ii) समिति के प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार होता है। (iii) प्रत्येक *सदस्य को उसके कार्य का वेतन दिया जाता है।* (iv) *कृषि के कुल लाभाश मे से* कुछ भाग सुरक्षित कोष (Reserve Fund) मे रखकर शेष को सदस्यो मे वितरित कर दिया जाता है।

सहकारी कृषि पद्धति के विभिन्न रूप (Different Forms of Co-operative Farming) —इस पद्धति के चार मुख्य स्वरूप इस प्रकार हैं :—

(१) सहकारी संयुक्त कृषि (Co-operative Joint Farming) —सहकारी सयुक्त खेती के अन्तर्गत सदस्यो के छोटे छोटे खेतो को मिलाकर एक बडी इकाई का रूप दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर पूर्ण स्वामित्व होता है। सहकारी कृषि समिति भूमि का प्रबन्ध तथा कृषि-कार्य का सचालन करती है। समिति द्वारा निर्मित योजना के अनुसार ही समस्त सदस्य मिलकर कृषि-कार्य करते हैं। सदस्यो को उनके श्रम के उपलक्ष मे पारिश्रमिक (Wages) तथा भूमि के स्वामित्व के उपलक्ष मे लाभाश (Dividend) दिया जाता है। इस प्रकार की खेती से बडे पैमाने की उत्पत्ति (Large Scale Production) के समस्त लाभ उपलब्ध होते हैं। हमारे देश मे कृषकों की अशिक्षितता, रूढिवादिता तथा परम्परायुक्तता के कारण इस प्रकार की कृषि समितिया बनाना तथा उनको

* 'Co-operative farming necessarily implies pooling of land and joint management" Second Five Year Plan, Page 201.

कार्यान्वित करना अत्यन्त दुष्कर कृत्य है।

(२) उच्चतर सहकारी कृषि व्यवस्था (Co-operative Better Farming) —इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूस्वामी अपने खेतो को एक जगह नही मिलाते। भूमि का स्वामित्व और प्रबन्ध व्यक्तिगत भूस्वामी द्वारा ही होता है। विभिन्न भूस्वामी केवल उन्नत खेती के उद्देश्य से सहकारी समिति बनाते हैं। सहकारी समिति सदस्यो के लिए उन्नत खेती की योजना प्रस्तुत करती है, उन्हे उन्नत खाद, बीज, कृषि-ओजार आदि प्रदान करती है तथा सदस्यो की उपज को सग्रह करके उसकी सफाई और वर्गीकरण करके उसके विपणन की व्यवस्था करती है। यद्यपि इस प्रकार की सहकारी कृषि से बडे पैमाने की उत्पत्ति के लाभ प्राप्त नही किए जा सकते, तथापि उन क्षेत्रो मे, जहा कृषक अपनी भूमि सहकारी समितियो को देना न चाहते हो, प्रारम्भिक कार्यक्रम के रूप मे इस प्रकार की सहकारी समितिया सगठित की जा सकती हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० ओटोशीलर ने सहकारी समुन्नत कृषि का समर्थन अपनी पुस्तक "Individual Farming on Co-operative Lines' मे इन शब्दो मे किया है, कृषि-भूमि मे प्रति एकड उपज बढ़ाने के लिए भूमि के टुकडो को मिलाना आवश्यक नहीं है, केवल खाद बीज, यत्र आदि के लिए ही सहकारी सगठन का प्रयोग पर्याप्त होगा।" उत्तर प्रदेश की "गन्ना-समितिया" उच्चतर सहकारी कृषि समितियो के आदर्श नमूने है।

(३) सहकारी आसामी कृषि व्यवस्था (Co-operative Tenant Farming) :—इस प्रकार की कृषि व्यवस्था के अन्तगत सहकारी समिति भूमि की स्वय स्वामिनी होती है अथवा ये समितिया पट्टे (Lease) पर भूमि प्राप्त कर लेती है। सहकारी समिति भूमि पर स्वय खेती नही करती। समस्त भूमि को कुछ चको म विभाजित करके प्रत्येक कृषक-परिवार को एक एक चक दे दिया जाता है। ये कृषक समिति की योजना के अनुसार ही खेती करते हैं। समिति कृषको को उत्तम बीज, खाद, ओजार व वित्त-सम्बन्धी सुविधाए प्रदान करती है। हमारे देश के जिन क्षेत्रो मे नई भूमि कृषि-योग्य बनाई जा रही है, वहा पर इसी प्रकार की समितियो द्वारा खेती प्रारम्भ की जा रही है। (अ) उत्तर प्रदेश की 'गगा खादर योजना" के अन्तगत गगा खादर की ४७,००० एकड भूमि पर सहकारी आसामी कृषि व्यवस्था का प्रथम प्रयोग किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत एक जोत १० एकड की रखी गई है तथा १०० जोतो को सयुक्त करके एक सहकारी समिति सगठित की गई है। (आ) इसी प्रकार मध्य प्रदेश मे भी १,२०० एकड भूमि को कृषि-योग्य बनाकर कृषको को स्वामित्व के अधिकार दिए गए हैं तथा उनसे १० वर्ष तक सम्मिलित रूप से खेती करने का वचन लिया गया है। (इ) मद्रास म इस समय २२ उपनिवेश समितिया सगठित की जा चुकी है जिन्हे ७,८३६ एकड सरकारी परती भूमि प्रदान की गई है।

(४) सहकारी सामूहिक कृषि (Co-operative Collective Farming) —इस प्रकार की कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत सहकारी समितिया भूमि

की स्वय स्वामिनी होती हैं अथवा भूमि पट्टे पर प्राप्त कर लेती है। सदस्यो को उनकी हिस्सा-पूंजी (Share Capital) पर कोई लाभाश (Dividend) नही दिया जाता। सहकारी समिति कृषि-कार्य का सचालन व प्रबन्ध स्वय करती है। समिति के सदस्य श्रमिक के रूप मे कृषि करते हैं जिसके प्रतिफल मे उन्हे पारिश्रमिक दिया जाता है। वर्ष के अत मे सदस्यो को समिति के शुद्ध लाभाश मे से बोनस दिया जाता है। इस व्यवस्था म सदस्य व्यक्तिगत रूप से भूमि के स्वामी नही होते तथा समिति की उत्पादन मे वृद्धि करने व मूल्य निर्धारित करने की नीति मे भी उन्हे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होता। प्रत्येक सदस्य इस बात के लिये स्वतन्त्र होता है कि वह किसी भी समय समिति से अपना सम्बन्ध विच्छेद करलें तथा अपनी हिस्सा-पूंजी वापिस ले लें। हमारे देश मे इस प्रकार की सहकारी समितिया अभी तक लोकप्रिय नही हो सकी हैं।

भारत में सहकारी कृषि (Co-operative Farming in India) :—समस्त विश्व मे सहकारी कृषि केवल फिलिस्तीन (Palestine) मे ही अधिक लोकप्रिय हो सकी है। हमारे देश में लगभग सभी राज्यो मे, जिनमे महाराष्ट्र और उत्तरप्रदेश विशेषकर है, सहकारी-कृषि फार्म हैं। प्रथम पचवर्षीय योजना म योजना आयोग (Planning Commission) ने भारत मे सहकारी कृषि को लोकप्रिय बनाने के लिए आवश्यक सुझाव प्रस्तुत किये थे तथा इस कार्य पर ५० लाख रुपय व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। सन् १९५६ मे श्री आर० के० पाटिल के नेतृत्व मे एक भारतीय प्रतिनिधि मण्डल चीन और जापान की कृषि सहकारिता तथा विशेषकर सहकारी कृषि का अध्ययन करने के लिये भेजा गया था। प्रतिनिधि मण्डल चीन में सहकारी कृषि की प्रगति तथा इसके द्वारा ग्राम्य जीवन में परिवर्तन व कृषि-उत्पादन म वृद्धि को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुआ। इस मण्डल की रिपोर्ट जून १९५७ मे प्रकाशित हुई जिसम यह सिफारिश की गई कि सहकारी कृषि भारत के आर्थिक एव सामाजिक दोनों दृष्टिकोणो से लाभप्रद है। इसलिये भारत मे भी सहकारी कृषि को अपनाया जाना चाहिये। प्रतिनिधि मण्डल के दो सदस्यो की यह राय थी कि भारत मे सहकारी कृषि का प्रयोग केवल भूमि के उत्पादन बढाने के उद्देश्य से ही किया जा सकता है। इन सदस्यो ने यह विचार प्रकट किया कि चीन की राजनैतिक स्थिति के कारण ही वहा पर सहकारी कृषि का आन्दोलन सफल रहा है। परन्तु भारत की राजनैतिक स्थिति इसके अनुकूल नहीं है। सितम्बर १९५७ मे राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) की 'स्थाई समिति' (Standing Committee) ने यह निर्णय किया कि द्वितीय योजनाकाल मे देश-भर म प्रयोगार्थ ३,००० सहकारी कृषि समितिया सगठित की जानी चाहिये। जनवरी सन् १९५९ मे नागपुर मे अखिल भारतीय काग्रेस समिति (All India Congress Committee) का अधिवेशन हुआ जिसम यह पास किया गया कि भारत म भावी कृषि सम्बन्धी प्रतिरूप (Agrarian Pattern) सहकारी सयुक्त कृषि (Co-operative Joint Farming) होना चाहिये। इस व्यवस्था के अन्तर्गत

भूमि को सामूहिक कृषि के लिये एकत्रित किया जायगा। परन्तु भूमि पर अधिकार कृषकों का व्यक्तिगत रूप से रहेगा। भूमि पर काम करने वाले कृषकों अथवा श्रमिकों को काम की मात्रा के अनुपात मे पारिश्रमिक दिया जायगा तथा शेष लाभांश का वितरण समिति के सदस्यों मे भूमि के अनुपात मे कर दिया जायगा। अधिवेशन मे यह भी पास किया गया कि प्रत्येक राज्य सरकार अपने भूमि सुधार कार्यक्रम मे सहकारी कृषि समितियों की स्थापना को वैधानिक मान्यता व महत्व प्रदान करेगी। श्री निजलिंगप्पा (Shri Nijalingappa) की अध्यक्षता मे अभी एक मण्डल ने यह मत व्यक्त किया है कि संयुक्त सहकारी कृषि छोटे-छोटे व मध्यम श्रेणी के कृषकों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति को ऊंचा उठाने मे सफल सिद्ध होगी। मण्डल ने ८ राज्यों मे सहकारी कृषि समितियों की स्थिति का निरीक्षण करके, सहकारी कृषि के लिये एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है जिसमे सहकारी कृषि समितियों की बनावट, आकार, प्रबंध, वित्त-व्यवस्था, प्रशिक्षण तथा अनुसंधान आदि के विषय मे आवश्यक सुझाव दिये गये है।

संक्षेप मे इस मण्डल के मुख्य सुझाव इस प्रकार है :—(i) एक सहकारी कृषि समिति के संगठन के लिये कम से कम १० सदस्य अवश्य होने चाहिए। सहकारी कृषि समिति के संगठन मे पूर्ण स्वेच्छा के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाना चाहिये। (ii) सदस्य को अपनी इच्छानुसार समिति से पृथक् होने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। सदस्य बनाते समय समिति द्वारा कृषक की भूमि का मूल्य आंका जाना चाहिये और सदस्य के पृथक् होने पर उसे उतने ही मूल्य की भूमि वापिस दे दी जाये। यह आवश्यक नही कि सदस्य को वही पुराना भूमि का टुकड़ा दिया जाए। इस प्रकार सहकारी समिति से पृथक् होने पर सहकारी फार्म पर प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ने देना चाहिये। (iii) सदस्यों को भूमि का प्रतिफल वार्षिक वास्तविक लाभ (Annual Net Profits) मे से दिया जाना चाहिये। (iv) समिति के प्रबन्ध मे पूर्णतया जनतान्त्रिक पद्धति का अनुशीलन किया जाना चाहिए। (v) मशीनों के प्रयोग के सम्बन्ध मे कोई सैद्धान्तिक दृष्टिकोण नही अपनाया जाना चाहिये। केवल नई भूमि पर ही आवश्यकतानुसार मशीनों का प्रयोग बढ़ाया जा सकता है। (vi) सहकारी कृषि समिति की देयता-क्षमता (Repaying Capacity) के आधार पर सरकार द्वारा दीर्घकालीन ऋण तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक और प्रान्तीय सहकारी बैंक द्वारा अल्पकालीन व मध्यमकालीन ऋण देने की व्यवस्था की जानी चाहिये। (vii) सहकारी कृषि समितियों के संघ (Federations), खण्ड (Blocks) जिला, प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तर पर बनाये जाने चाहिए (viii) समितियों के कर्मचारियों व सदस्यों के प्रशिक्षण की व्यवस्था बढ़ाई जानी चाहिये तथा (ix) सामुदायिक विकास केन्द्रों (Community Development Blocks) मे सहकारी कृषि के आयोजन को विशेष महत्व दिया जाना चाहिये।

"निजलिंगप्पा मण्डल" के सुझावों के अनुसार देश के कुछ भागों मे मार्गदर्शक (Pilot) के रूप मे सहकारी कृषि के प्रयोग किये जा रहे हैं जिनमे यथासम्भव

(Fertilisers) को प्रयुक्त किया जा सकता है। (ई) आधुनिक कृषि-पद्धति एव सिंचाई की सुलभता द्वारा कृषि-उपज म वृद्धि की जा सकती है। (उ) कृषि के लिए आवश्यक कच्चा माल, यत्र तथा बीज, उर्वरक आदि को एक साथ बडी मात्रा मे क्रय करके बचत की जा सकती है। (ऊ) कृषि-कार्य मे श्रम विभाजन (Division of Labour) और विशिष्टीकरण (Specialization) नियमों का पूर्ण उपयोग सम्भव होता है। (ए) कृषि-उपज को एकत्रित करन के लिए सहकारी गोदामो की व्यवस्था सरलता से की जा सकती है तथा सहकारी विपणन (Co-operative Marketing) द्वारा कृषको को उनकी उपज का ऊचा मूल्य दिलाया जा सकता है। (ऐ) कृषि-कार्य मे केन्द्रीय प्रबन्ध तथा विकेन्द्रित कार्यकरण के लाभ उठाए जा सकते है। इस प्रकार सहकारी कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत बडे पैमाने के उत्पादन-कार्य की आतरिक एव बाह्य बचते (Internal and External Surpluses) उपलब्ध होती है तथा कृषि उत्पादन मे आशातीत वृद्धि होती है।

(३) कृषको और सरकार के मध्य अधिक निकट सम्बन्ध :— अन्यान्य कारणो के अतिरिक्त भारतीय कृषि के पिछडेपन का एक मुख्य कारण यह भी है कि यहा ऐसे ग्राम सगठनो (Village Organisations) का अभाव है जिनके द्वारा ग्रामीण जनता और कृषको के मध्य अधिक निकट का सहयोग और सम्पर्क स्थापित किया जा सके। सहकारी कृषि समितियो की स्थापना के पश्चात् कृषको एव सरकार के बीच अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। इस प्रकार सहकारी कृषि समितियो द्वारा सरकार और कृषको के मध्य निकट सम्पर्क से सम्भावित लाभ इस प्रकार होगे —(अ) सरकार सहकारी कृषि समितियो की सहायता द्वारा खेती मे विभिन्न सुधारो व विभिन्न अनुसधानो के लाभो को अधिक अच्छे ढग से प्रसारित एव प्रदर्शित कर सकेगी। (आ) सरकार सरलतापूर्वक तथा अधिकाधिक मात्रा मे खाद्यान्न के विपणन योग्य आधिक्य (Marketable Surplus) को प्राप्त कर सकेगी। वस्तुत देश की प्रगति एव औद्योगीकरण की गति को तीव्रता से अग्रसर करने के लिए इस विपणन योग्य आधिक्य को प्राप्त करके इसे शहरी जनता के उपभोगार्थ वितरण करना अति आवश्यक है। इससे न केवल खाद्यान्न के मूल्य म स्थिरता आएगी वरन् देश का आर्थिक नियोजन भी अवरुद्ध गति स अग्रसर होगा। (इ) सहकारी कृषि समितियो के माध्यम से सरकार कृषि सम्बन्धी आवश्यक आकडे ठीक ठीक और सरलतापूर्वक एकत्रित कर सकेगी। (ई) सहकारी कृषि समितियो की सहायता से ग्रामीण स्तर पर कृषि नियोजन (Agricultural Planning) भी सम्भव हो सकेगा। (उ) बाढ, अकाल अथवा फसलो के नष्ट होने की स्थिति मे सरकार सरलतापूर्वक कृषको की सहायता कर सकेगी तथा उन्हें भूमि-कर, सिंचाई-कर आदि से विमुक्त किया जा सकेगा।

(४) आर्थिक सुरक्षा के क्षेत्र में वृद्धि :— सहकारी कृषि पद्धति के अन्तर्गत फसलो के नष्ट हो जाने अथवा खराब हो जाने की जोखिम के लिए अधिकाधिक व्यक्ति उत्तरदाई होते हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत जोखिम

(Individualistic Risk) सामूहिक जोखिम (Collective Risk) का रूप धारण कर लेती है तथा कृषक अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक सुरक्षा (Economic Security) अनुभव करते हैं।

(५) सामाजिक लाभ.— सहकारी कृषि कृषकों में सह अस्तित्व और *सह-चिन्तन की भावना का विकास करके सामाजिक अथवा सामूहिक भावना को* जन्म देती है। विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों को एक साथ मिलकर कार्य करने का अवसर प्रदान करके सहकारी कृषि उनमे एकता और सद्भावना का विकास करती है। इस प्रकार सहकारी कृषि ग्रामीण समुदाय (Village Community) को एक सूत्रबद्ध करके सामाजिक-सुदृढता (Social Solidarity) स्थापित करने का अपूर्व साधन है।

(६) अन्य लाभ ·— दिल्ली विश्वविद्यालय के कृषि अर्थशास्त्रज्ञ डा० ए० एम० खुसरो (Dr A M Khusro) का मत है कि सहकारी खेती से रोजगार और पूंजीगत साधनो मे तीव्रता से वृद्धि होती है। फलत इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि श्रम और पूंजी तीनो मे एक साथ वृद्धि होती है। डा० खुसरो का कहना है कि कृषि भूमि मे सीमा-निर्धारण चकबन्दी, नई भूमि की व्यवस्था, भूदान अथवा ग्रामदान मे प्राप्त भूमि आदि कार्यक्रम, सहकारी खेती के कार्यक्रम से पूर्णत सम्बद्ध हैं। अत. इन सब कार्यक्रमो को व्यावहारिक एव सफल बनाने के लिए सहकारी कृषि के कार्यक्रम को अपनाना नितान्त आवश्यक है।

(आ) विपक्ष में तर्क :—भारत मे सहकारी कृषि के विपक्ष मे मुख्य तर्क इस प्रकार हैं —

(१) सहकारी कृषि के लाभ अवास्तविक हैं :—श्री राजगोपालाचार्य, श्री के० एम० मुन्शी, प्रो० रंगा, श्री मिनू मसानी तथा चौ० चरणसिंह आदि नेताओ ने सहकारी कृषि की योजना को भारत के लिये अनुपयोगी एव अव्यावहारिक बताया है। इन विद्वानो का मत है कि सहकारी कृषि के लाभ अवास्तविक एव कल्पनातीत हैं। इन आलोचको के अनुसार सहकारी कृषि से भारतीय जनता को अपूर्व कष्ट उठाने होगे। सक्षेप मे इन विद्वानो की राय मे सहकारी कृषि पद्धति से भारत मे होने वाली हानियां मुख्यत इस प्रकार हैं —**(अ) बेरोजगारी में वृद्धि**— आलोचकों का मत है कि सहकारी कृषि अपनाने पर भी देश मे आधार भूत 'मनुष्य-भूमि-अनुपात' (Man Land Ratio) मे कोई परिवर्तन नही आयेगा वरन् इस समय देश मे जो अदृश्य बेकारी है, वह सहकारी कृषि के अपनाने से पूणत प्रकाश मे आजायेगी। इस पद्धति के अन्तगत थोड से व्यक्तियो से ही खेती की जा सकेगी जिससे बेरोजगारो की सख्या मे और भी वृद्धि होगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत खेती मे यन्त्रीकरण का प्रयोग बेकारी को बढाने मे और भी अधिक सहायक सिद्ध होगा। **(आ) मानव श्रम व पशु-श्रम की उपेक्षा** —भारतीय कृषि व्यवस्था म मानव-श्रम और पशु-श्रम महत्वपूर्ण स्थान रखते है। देश मे मानव-श्रम और पशु-श्रम की पर्याप्तता भी इस बात की चेतावनी देती है कि इनका कृषि-कार्य मे अधिकाधिक

प्रयोग होना चाहिये। परन्तु सहकारी कृषि व्यवस्था मे बड़े-बड़े कृषि यन्त्रो का प्रयोग किया जाता है। अत भारत मे इस व्यवस्था की स्थापना से मानव-श्रम और पशु-श्रम की भी उपेक्षा होगी। **(इ) विशिष्टीकरण का सीमित क्षेत्र** —सहकारी कृषि के पक्ष-पोषको का मत है कि इससे कृषि मे विशिष्टीकरण (Specialisation) और श्रम-विभाजन (Division of Labour) के लाभ प्राप्त होते है। इसके विपक्ष मे आलोचको का मत है कि कृषि-क्रियाओ की अपनी प्रकृति के कारण विशिष्टीकरण का क्षेत्र अति सीमित होता है। इसलिये उद्योग-धन्धो की भांति सूक्ष्म श्रम-विभाजन के लाभ कृषि मे उपलब्ध नही होते। अतः सहकारी कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत भी श्रम विभाजन अथवा विशिष्टीकरण के लाभो की आशा रखना व्यर्थ है। **(ई) प्रबन्ध-व्यय मे वृद्धि और कठिनाई** —सहकारी कृषि पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन का स्तर व्यापक हो जाता है। इसमे श्रमिक अधिक विस्तृत क्षेत्र मे फैलकर कार्य करते है। फलत उनके काम का निरीक्षण करना तथा इनपर नियन्त्रण रखना अधिक कठिन और व्ययपूर्ण होता है। इस प्रकार सहकारी कृषि के अन्तर्गत प्रबन्ध की लागत और कठिनाइयो मे वृद्धि होती है।

(२) सहकारी कृषि के कार्यकरण की कठिनाइयां —संयुक्त सहकारी कृषि के व्यावहारिक कार्यकरण मे अनेक प्रकार की कठिनाइया उपस्थित होती है। आलोचको का मत है कि सहकारी कृषि मे कार्यकरण सम्बन्धी दो कठिनाइया इस प्रकार उपस्थित होती है —**(अ) पुरस्कार निर्धारण सम्बन्धी कठिनाई** —सहकारी कृषि के कार्यकरण मे सर्वप्रथम कठिनाई सदस्य कृषको द्वारा खेतो पर किये जाने वाले कार्य के पुरस्कार-निर्धारण की है। वस्तुत इस प्रकार के कार्य को ठीक-ठीक माप कर ठीक-ठीक मूल्य आंकना एक दुष्कर कार्य है। यदि सदस्य कृषको के कार्य का सही अनुमान लगाने का प्रयत्न किया जाता है, तब इससे कृषि-उत्पादन की स्थिर-लागत (Fixed cost) म आशा से अधिक वृद्धि होन की सम्भावना रहती है और यदि कार्य का माप नही किया जाता, तब प्रत्येक व्यक्ति को उनके कौशल एव मात्रा के अनुपात मे उचित पुरस्कार नही मिल पाता। **(आ) प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाई** —सहकारी कृषि के अन्तर्गत यदि प्रबन्ध कर्ताओ का निर्वाचन (Election) किया जाता है, तब इससे ढीले अनुशासन एव कार्यक्षमता कम होने के चित्र दृष्टिगोचर होते है और यदि प्रबन्धकर्त्ता सरकार की ओर से मनोनीत (Nominate) किय जाते हैं, तब इसका अर्थ यह होता है कि सहकारी समिति मे सहकारिता के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया गया है। यही नही, इससे सदस्यो मे असतोष की भावना मे भी वृद्धि होती है।

(३) भारत में सहकारी कृषि के मार्ग में विभिन्न कठिनाइयां —**(अ) सहकारी कृषि के प्रचलन की समस्या** —हमारे देश मे सहकारी कृषि के सम्बन्ध मे सर्व प्रमुख समस्या यह है कि सहकारी कृषि को स्वेच्छा (Voluntary) के आधार पर प्रचलित किया जाय अथवा अनिवार्यता (Compulsion) के आधार पर। यदि देश मे सहकारी कृषि को एच्छिक आधार पर छोड दिया जाय, तो भारतीय कृषक अपनी

अशिक्षितता, रूढिवादिता तथा भूमि से विशेष स्नेह के कारण कभी भी सहकारी कृषि के लिये तत्पर नहीं हो सकते। इसके विपरीत यदि अनिवार्य रूप से सहकारी समितियाँ संगठित की जाती हैं तथा कृषकों को उनमें सदस्य बनने के लिये वैधानिक बाध्यता का आश्रय लिया जाता है, तब इसका स्पष्ट अर्थ यह होगा कि 'सहकारी कृषि' एक 'सरकारी कृषि' बन जायेगी। इस स्थिति में यह भी कम सम्भावना होगी कि सदस्य समिति के कार्यों में विशेष रूचि लें। फलतः इस स्थिति में सहकारी कृषि समितियों के असफल होने की सम्भावना अधिक रहेगी। (आ) भूमि से लगाव —स्थाई सम्पत्ति के रूप में भूमि से स्नेह रखना तथा उसे अपने स्वामित्व में बनाये रखना, भारतीय कृषकों की एक मनोवैज्ञानिक धारणा (Psychological Concept) है। भूमि से स्वतन्त्र-व्यक्तिगत अधिकार छिनने के कारण भारतीय कृषक सहकारी कृषि का दृढ़ विरोध करता है तथा ऐच्छिक रूप से सहकारी कृषि समितियों में संगठित होने के लिये लेशमात्र भी तत्पर नहीं होता। इस स्थिति में सहकारी कृषि की योजना की सफलता की आशा रखना कोरी कल्पना के सदृश्य है। (इ) सहकारिता की भावना का अभाव —सहकारी आन्दोलन का जन्म और विकास जनता की आतरिक भावना से प्रेरणा पाकर होता है इसके लिये बाह्य-प्रचार अथवा बाध्यता की आवश्यकता नहीं होती। हमारे देश में सहकारी आन्दोलन (Co-operative Movement) अभी तक जनता की आतरिक भावनाओं का प्रदर्शन न होकर सरकारी नीति के रूप में ही अधिक परिलक्षित है। आलोचकों का मत है कि इस स्थिति में, जबकि अपेक्षाकृत सरल एवं साधारण सहकारी समितियों (साख समितियों) को भारत में सफलता नहीं मिल सकी है, तब भारतीय कृषकों से यह आशा रखना, कि वे सहकारी कृषि आन्दोलन को सफल बनाने में पूर्ण सहयोग देंगे, एक बड़ी भारी भूल होगी। (ई) अन्य कठिनाइयाँ —हमारे देश में सामाजिक वर्ग-भेद (Social Class Difference) तथा वर्ण-भेद (Cast Difference), कृषकों की निरक्षरता, अज्ञानता एवं रूढिवादिता, स्वार्थपरतावश दैनिक जीवन की अशांति, सहकारी कृषि समितियों को संगठित करने, उनका प्रबन्ध करने तथा उन्हें कृषि सम्बन्धी विशिष्ट एवं तकनीकी ज्ञान देने के लिये उपयुक्त प्रशिक्षित कर्मचारियों की दुर्लभता, दीर्घ सूत्रता (Red tape) तथा शासन सम्बन्धी देरी आदि अनेक कारण हैं, जोकि देश में सहकारी कृषि आन्दोलन के मार्ग में एक से एक बढ़कर अवरोधक हैं।

(४) विश्व के अन्य देशों में सहकारी कृषि असफल रही है —आलोचकों का मत है कि विश्व के दूसरे देशों का अनुभव यह बताता है कि साधारणतः सहकारी कृषि कोई 'सफलतापूर्ण आयोजन' नहीं है। जिस किसी देश में सहकारी प्रगति दीख पड़ती है, उसकी प्रगति का मूल कारण सरकारी दबाव है अथवा तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों की उपस्थिति। इन देशों में सहकारी कृषि की सफलता का कारण 'सहकारिता' नहीं है। सोवियत रूस, चीन और पूर्वी यूरोप में सहकारी कृषि को सफल बनाने का श्रेय सरकारी दबाव को है तथा

फिलीस्तीन मे यह श्रेय वहा की सकटकालीन विशिष्ट परिस्थितियो के अभ्युदय को प्राप्त है। आलोचको का कहना है कि इन देशो मे भी जैसे-जैसे नई पीढिया आ रही हैं, सहकारिता एव एकता की भावना का ह्रास होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप वहा भी सहकारी कृषि की सफलता खतरे मे पड गई है। यही नही, पूर्वी यूरोप के कुछ देशो मे (जैसे पौलैण्ड मे) सहकारी कृषि को लगभग त्याग दिया गया है। अत इस स्थिति मे भारत मे सहकारी कृषि को सहकारिता के आधार पर सचालित करने एव सफल बनाने की योजना एकदम भ्रमपूर्ण है।

(५) समहवाद की दिशा में एक पग :—आलोचको का मत है कि भारत मे सहकारी कृषि की योजना को कार्यान्वित करने का अर्थ समूहवाद (Collectivism) की ओर बढना है। सहकारी कृषि अन्तत. समूहवाद की जन्मदात्री होगी जिसमे कृषक सब अधिकारो से वचित होकर वैतनिक श्रमिक-मात्र रह जायेगा।

(६) कृषि-उत्पादन पर बुरा प्रभाव —सहकारी कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत कृषक की चेतन शक्ति (Consciousness) का अन्त हो जायगा जो उसके व्यक्तित्व (Personality) के विकास को कुठित कर देगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कृषक अथवा श्रमिक मेहनत से कार्य करने के लिये अपनी आतरिक प्रेरणा से प्रेरित नही होते। वे इतनी रुचि से कार्य नही करते जितनी रुचि और ध्यान से भूस्वामी कृषक अथवा भूमि मे सुरक्षित अधिकार वाले व्यक्ति करते है। अत सहकारी कृषि मे उत्पादन बढने की अपेक्षा घटने की अधिक सम्भावना रहती है।

भारत में सहकारी कृषि को सफल बनाने के लिए आवश्यक सुझाव (Necessary Suggestions for Making Successful of Co-operative Farming in India) —भारत मे सहकारी कृषि आन्दोलन को सफल बनाने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं —(i) कृषको को सहकारी कृषि की ओर आकर्षित करने के लिये, प्रारम्भिक काय के रूप मे, नई भूमि पर सहकारी कृषि की जानी चाहिय। इससे भारतीय कृषको के सम्मुख एक नया आदर्श उपस्थित होगा और वे स्वय को इसमे सम्मिलित होने के लिये प्रोत्साहित एव प्ररित होगे। (ii) जब तक देश मे सयुक्त सहकारी कृषि (Joint Co operative Farming) की सफलता की अधिक सम्भावना न दृष्टिगत हो, तब तक उन्नतर सहकारी कृषि-समितिया (Co-operative Better Farming Societies) स्थापित की जानी चाहियें। इस प्रकार भारतीय कृषको मे शनै शनै सहयोग की भावना का विकास होगा जो आगे चलकर सयुक्त सहकारी कृषि के परिचालन के लिये आवश्यक भूमिका तैयार करेगा। (iii) देश मे सहकारी कृषि को लोकप्रिय बनाने के लिये 'प्रचार' एव 'प्रदर्शन' का सहारा लेना चाहिये। प्रत्यक राज्य के कुछ गावों मे सफल सहकारी कृषि समितिया सगठित करके अन्य सदस्यो को प्रेरित करने के लिय सहकारी कृषि के लाभो का प्रचार करना चाहिय। (iv) प्रारम्भ म कृषकों को सहकारी कृषि समितियो मे सगठित करने के लिये उन्हे विभिन्न प्रकार की सहायता

ग्रौर प्रोत्साहन (Inducements) प्रदान करने चाहिए । सहकारी कृषि समिति मे सगठित कृषकों के लगान व सिचाई कर मे कमी करके, ग्रार्थिक सहायता तथा ऋण ग्रादि की सुविधायें उपलब्ध करके, प्राविधिक सलाह देकर तथा सस्ती दरो पर बीज उर्वरक व कृषि यन्त्र प्रदान करके कृषकों को सहकारी कृषि की ग्रोर ग्राकर्षित करना चाहिये । (v) विभिन्न परिस्थितियों मे भिन्न भिन्न प्रकार की कृषि समितियो की सफलता की सम्भावना को ज्ञात करने के लिये प्रयोगात्मक फार्म (Experimental Farms) स्थापित करने चाहियें । (vi) सहकारी कृषि मे प्रशिक्षा देने के लिए देश के विभिन्न भागों मे प्रशिक्षण केन्द्र (Training Centres) स्थापित करने चाहियें । (vii) यदि किसी स्थान के ग्रधिकाश कृषक सहकारी कृषि ग्रपनाना चाहते हो, लेकिन ग्रल्पसख्यक कृषक उनके इस मार्ग के विरोधी बनकर बाधक बन गये हो, तब ग्रल्पसख्यक कृषकों को सहकारी कृषि समितियो मे सम्मिलित करने के लिए वैधानिक बाध्यता की नीति ग्रपनानी चाहिये । (viii) देश मे बेकारो की समस्या के समाधान के लिये तथा सहकारी कृषि व्यवस्था ग्रपना लेने की स्थिति मे सभावित बेकार व्यक्तियो के लिये लघुस्तरीय एव कुटीर उद्योगो का द्रुतगामी विकास करना चाहिये । योजना ग्रायोग (Planning Commission) के शब्दों मे "मुख्यत सहकारी खेती का विकास सामान्य कृषि प्रयत्न की सफलता के फलस्वरूप होगा ग्रर्थात सामुदायिक विकास ग्रान्दोलन, साख-ऋण, क्रय-विक्रय, वितरण ग्रौर परि-निर्माण मे सहकारिता की प्रगति, ग्रामीण उद्योगों की प्रगति तथा भूमि सुधार के उद्देश्यों की पूर्ति के द्वारा होगा । ग्रामीण प्रगति मे सहकारी खेती का योगदान तभी महत्वपूर्ण होगा, जब वह ईमानदार स्थानीय नेताग्रों के ग्राधीन एक स्वयसेवी जन ग्रान्दोलन के रूप मे विकसित हो । यदि सामुदायिक विकास का दृष्टिकोण विद्यमान हो ग्रौर ग्राम समुदाय ग्रपने सब सदस्यों की समुन्नति का दायित्व स्वीकार करले, तब सहकारी खेती की मुख्य समस्यायें केवल प्रबन्ध सम्बन्धी, प्राविधिक ग्रौर शैक्षणिक रह जायेंगी ।"

नियोजनकाल में सहकारी कृषि की प्रगति — प्रथम ग्रौर द्वितीय, दोनो ही योजनाग्रो मे ग्रामीण ग्रर्थ व्यवस्था को पुन सगठित करने मे सहकारी खेती का जो योगदान हो सकता है, उस पर बल दिया गया था । सन् १९५५-५६ के ग्रत तक देश भर मे कुल सहकारी कृषि समितियो की सख्या १,००० के लगभग हो गई । सन् १९५७ मे 'राष्ट्रीय विकास परिषद" (National Development Council) ने द्वितीय योजनाकाल मे देश भर मे ३,००० सहकारी कृषि समितिया स्थापित करने का दृढ निश्चय किया था । दूसरी योजना मे यह लक्ष्य रखा गया था कि ऐसे ग्रावश्यक कदम उठाए जायेंगे, जिनसे सहकारी खेती के विकास के लिए सुदृढ ग्राधार प्राप्त होंगे ग्रौर जिससे १०-१५ वर्षों की ग्रवधि मे ग्रधिकाश भूमि मे सहकारी ग्राधार पर खेती होने लगेगी । परन्तु द्वितीय योजनाकाल मे इस क्षेत्र मे पर्याप्त सफलता न मिल सकी । जून सन् १९६० के ग्रत म देश मे कुल ५,४०६ सहकारी कृषि समितिया थी । इनमे से १,९७२ सहकारी काश्तकार कृषि समितिया,

भूमि-अधिकार, भूमि सुधार तथा भूदान आन्दोलन

(Land Tenures, Land Reforms and Bhoodan Movement)

प्राक्कथन — कृषि-उत्पादन एवं कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले अनेक तत्वों में से भूमि-स्वत्व व्यवस्था (Land Tenure System) एक महत्वपूर्ण प्रभावक तत्व है। राज्य सरकार की आय के दृष्टिकोण से तथा ग्रामीण समाज के सामुदायिक ढाँचे के रूप-निर्माण में भूमि व्यवस्था एक प्रधान तत्व है। वस्तुतः कृषि-उत्पादन में वृद्धि लाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि कृषक के भूमि पर अधिकार स्थाई, पैतृक एवं सुरक्षित हों। आर्थर यङ्ग (*Arthur Young*) के शब्दों में—"निजी सम्पत्ति का जादू रेत को भी सोना बना देता है। किसी व्यक्ति को रूक्ष चट्टान का सुरक्षित अधिकार दे दीजिये, वह इसे उपवन में परिवर्तित कर देगा। परन्तु यदि उसे नौ वर्ष के ठेके पर उपवन दे दिया गया, तो वह इसे मरुस्थल में बदल देगा*। अतः एक आदर्श भूमि व्यवस्था के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि (अ) कृषक के भूमि पर अधिकार स्थाई हों (Fixity of Tenure), (आ) उससे उचित लगान वसूल किया जाए (Fair Rent) तथा (इ) उसे अपनी भूमि के हस्तांतरण की पूर्ण स्वतन्त्रता हो (Freedom of Transfer)।

भूमि व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Land Tenure) — वस्तुतः भूमि व्यवस्था का अर्थ कृषक द्वारा सरकार अथवा जमींदार से प्राप्त भूमि पर स्वामित्व रखने की पद्धति से है। दूसरे शब्दों में, "भूमि व्यवस्था से हमारा अभिप्राय उन शर्तों व अवस्थाओं से है जिन पर भूमि का स्वामित्व और उसको जोतने का अधिकार निर्भर रहता है अथवा भूमि-व्यवस्था का अर्थ उस प्रथा से है जिसके अन्तर्गत किसी व्यक्ति की भूमि पर उसके अधिकार एवं उत्तरदायित्व का विचार होता है।" भूमि-व्यवस्था में मुख्यतः दो बातें अन्तर्निहित होती हैं — (अ) भू-स्वामित्व (Proprietory Tenure) —इस रूप में भूमि-व्यवस्था का अर्थ उन अवस्थाओं, अधिकारों एवं दायित्वों से समझा जाता है जिनके अनुसार व्यक्तियों द्वारा राज्य से भूमि प्राप्त की जाती है तथा जिनके अन्तर्गत सरकार के प्रति व्यक्तियों के कर्तव्यों का विवेचन रहता है। (आ) जोत सम्बन्धी अधिकार (Cultivation Tenure) —इस रूप में भूमि-व्यवस्था का अर्थ उन अवस्थाओं से समझा जाता है जिनके अन्तर्गत वास्तविक कृषक, जो स्वयं भूमि का स्वामी नहीं है, किसी

* 'The magic of private property turns sand into gold. Give a man secure possession of a bleak rock and he will turn it into a garden, give him a nine years lease of a garden and he will convert it into a desert.' — Arhur Young.

भूस्वामी से खेती करने के लिये भूमि लेता है। इस पद्धति के अन्तर्गत कृषक को तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं – (i) **खुदकाश्त** (Occupancy Tenant) — इस अधिकार के अनुसार जब तक कृषक भूमि का लगान देता रहता है, तब तक उसे भूस्वामी अथवा मालगुजार स्वेच्छा से बेदखल (Eject) नही कर सकते और न ही लगान की मात्रा मे कोई परिवर्तन कर सकते हैं। (i) **यथेच्छ काश्त** (Tenant at will) —इस अधिकार के अन्तर्गत जमीदार अपनी इच्छानुसार कृषक को किसी भी समय खेती से बेदखल कर सकता है अथवा उससे मनमाना लगान ले सकता है। सरकार की ओर से कृषक के अधिकार के लिये सरक्षण अथवा भूस्वामी पर नियन्त्रण के लिये कोई व्यवस्था नही होती। (iii) **उप कृषक** (Sub-Tenant) —इस अधिकार के अन्तर्गत मौरूसी कृषक, यदि वह चाहे तो भूमि पर स्वय खेती न करके, अन्य कृषको को लगान पर उठा सकता है। प्राय मौरूसी कृषक उप-कृषक से उस लगान की अपेक्षा जितना कि वह स्वय सरकार को देता है, ऊचा लगान वसूल करता है। यह उप कृषक भी उस भूमि को दूसरे कृषको को लगान पर उठा सकता है। इस प्रकार इस पद्धति के अन्तर्गत सरकार और वास्तविक कृषक के बीच बहुत से मध्यस्थ हो जाते हैं। यह प्रथा बगाल मे विशेषत प्रचलित रही है। एक अनुमान के अनुसार बगाल के अनेक गावो मे ऐसे उप-कृषको की सख्या लगभग ३० से ४० तक पाई जाती है।

मालगुजारी-निर्धारण अथवा बन्दोबस्त (Settlement) –समय के दृष्टिकोण से बन्दोबस्त अथवा मालगजारी का निर्धारण दो प्रकार से होता है —(अ) **स्थाई बन्दोबस्त** –(Permanent Settlement) इस पद्धति के अन्तर्गत सरकार मालगुजारी का निर्धारण सदैव के लिये एक बार ही निश्चित कर देती है। सन् १६३७ मे लार्ड कार्नवालिस द्वारा स्थाई बन्दोबस्त की यह प्रथा सर्वप्रथम बगाल मे लागू की गई थी। बगाल के अतिरिक्त यह पद्धति बिहार उडीसा मद्रास उत्तर प्रदेश तथा असम के कुछ भागो मे लागू की गई थी। स्थाई बन्दोबस्त अपनाने के तत्कालीन कारण मुख्यत इस प्रकार बताए गए —(i) **वित्तीय कारण** —सरकार को प्रतिवर्ष एक निश्चित एव बधी रकम मालगुजारी के रूप मे मिलती रहेगी। (ii) **आर्थिक कारण** —इससे भूस्वामी वर्ग भूमि मे बहुत रुचि रखेगा तथा हर सम्भव ढग से कृषि भूमि की उन्नति करेगा। (iii) **राजनैतिक कारण** —देश मे अग्रेजी शासन के सहायक एव स्वामीभक्त के रूप मे एक शक्तिशाली वर्ग का अभ्युदय होगा। (iv) **अन्य कारण** —समाज मे अपनी ऊची स्थिति (Status) के कारण भूस्वामी-वर्ग शिक्षा, जनस्वास्थ्य तथा अन्य सामाजिक कल्याण कार्यो मे महत्वपूर्ण भाग अदा करेंगे। वस्तुत स्थाई बन्दोबस्त के ये समस्त उद्देश्य पूरे न हो सके। भूस्वामी-वर्ग ने कृषि भूमि की उन्नति अथवा कृषक समाज की प्रगति के विषय म स्वय को पृथक् रखा। उनमे से अधिकाश दूरवासी जमीदार (Absentee Landlords) हो गए। श्री कारवर (Carver) ने कहा था कि, "युद्ध" दुर्भिक्ष और महामारी के उपरान्त ग्रामीण समुदाय के लिये जो अत्यधिक बुरी बात हो सकती है वह अनुपस्थित भूस्वामी प्रथा

(Absentee Landlordism) है।" (आ) अस्थाई बन्दोबस्त (Temporary Settlement) —स्थाई बन्दोबस्त की भांति अस्थाई बन्दोबस्त के अन्तर्गत मालगुजारी का निर्धारण सदैव के लिए एक बार न करके, समय-समय पर एक निश्चित अवधि के पश्चात भूमि का सर्वेक्षण करके किया जाता है। यद्यपि स्थाई बन्दोबस्त की अपेक्षा अस्थाई बन्दोबस्त अधिक श्रेष्ठ रहा है, फिर भी इस पद्धति मे कुछ मुख्य दोष इस प्रकार हैं – (i) भूमि पर लगान बढने के भय से कृषको को उसपर किसी प्रकार की उन्नति करने की प्रेरणा व प्रोत्साहन नही मिलता। (ii) बन्दोवस्त के समय सरकारी अधिकारी पक्षपात से काय करते हैं। (iii) पुन पुन बन्दोबस्त होने से ग्राम्य समाज का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है तथा उसके विकास की गति कु ठित हो जाती है।

भारत मे भूमि स्वामित्व (Proprietory Tenure in India) — हमारे देश मे विगत कुछ वर्षों पूर्व, भूमि सुधार अधिनियम लागू होने तक भूमि-स्वामित्व के आधार पर मुख्यत तीन प्रकार की प्रथाए प्रचलित रही थी —

(१) रैयतवारी प्रथा (Rayatwari System) —इस पद्धति के अन्तर्गत कृषक का सरकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। सरकार और कृषक के बीच मध्यस्थ वर्ग को पनपने के लिये इस प्रथा मे तनिक भी अवसर उपलब्ध नहीं होता। कृषक स्वय ही व्यक्तिगत रूप से सरकार को लगान देने के लिये उत्तरदाई होता है। वैधानिक रूप से सभी प्रकार की भूमि पर सरकार का स्वामित्व होता है। परन्तु व्यवहाररूप मे कृषक को अपनी भूमि पर खेती करने, उसको हस्तातरित करने, उसे बेचने अथवा बधक रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। इस पद्धति मे प्राय कृषक का भूमि पर आधिपत्य तब तक ही स्वीकार किया जाता है, जब तक कि वह सरकार को लगान अदा करता रहे। परन्तु जब वह लगान अथवा तकावी ऋण का भुगतान नही कर पाता, उस स्थिति मे सरकार को यह पूरा अधिकार होता है कि वह कृषक को भूमि से बेदखल करके भूमि को किसी अन्य व्यक्ति को बेच दे। आजकल रैयतवारी प्रथा मद्रास के ⅘ भाग, महाराष्ट्र, असम और मध्यप्रदेश के कुछ भागो मे प्रचलित है। जिन राज्यो मे जमींदारी प्रथा तथा महालवारी प्रथा के अन्तर्गत खेती न करने वाले भूमिपतियों (Non-cultivating Owners) को समाप्त कर दिया गया है, वहा भी एक प्रकार की "रैयतवारी प्रथा" अथवा 'किसान स्वामी प्रथा" (System of Peasent Proprietorship) को अपनाया गया है। रैयतवारी प्रथा के मुख्य गुण इस प्रकार हैं —(i) इस पद्धति मे भूमि जोतने वाले कृषक तथा सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध होता है। फलत मध्यस्थों द्वारा कृषको के शोषण का तनिक भी अवसर नही मिल पाता। (ii) इस प्रथा मे सरकार की लगान से प्राप्त आय स्थिर न होकर लोचदार (Elastic) रहती है। भूमि का मूल्य बढने पर अथवा भूमि से आय बढने पर बन्दोवस्त के समय सरकार अपने लगान की दर मे भी वृद्धि कर सकती है। (iii) चू कि इस पद्धति मे सरकार और कृषक के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, इसलिये अकाल, बाढ़ अथवा अन्य

विपत्तियों के समय सरकार लगान से विमुक्ति प्रदान करके अथवा इसके भुगतान को स्थगित करके कृषकों की प्रत्यक्ष रूप से सहायता कर सकती है। (iv) इस पद्धति में कृषकों के भूमि में अधिकार आदि के लेख-प्रमाण अपेक्षाकृत सरल होते हैं। इसलिये इस पद्धति के अन्तर्गत भूमि में जोतों की चकबन्दी करने अथवा सहकारी खेती अपनाने का कार्य अधिक सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। **रैयतवारी प्रथा के मुख्य दोष इस प्रकार हैं**:—(i) इस पद्धति के अन्तर्गत मालगुजारी निर्धारण करने में सरकारी अधिकारियों द्वारा बहुत पक्षपात से काम लिया जाता है। (ii) इस प्रथा के अन्तर्गत लगान का निर्धारण प्रत्येक कृषक पर व्यक्तिगत रूप में होता है इसलिये इससे ग्रामीण जीवन के सामुदायिक आधार का अध पतन हो जाता है। (iii) छोटे-छोटे कृषकों से लगान एकत्रीकरण करने में सरकार को एक बहुत बड़ी राशि व्यय करनी पड़ती है।

(२) महालवारी प्रथा (Mahalwari System) :—महालवारी पद्धति के अन्तर्गत गाव की भूमि पर सयुक्त रूप से ग्राम समुदाय (Village Community) का स्वामित्व होता है। कभी कभी एक वंश के वशजो के साझीदारों की सभा (Body of Co-sharers) गाव की सम्पूर्ण भूमि की स्वामिनी होती है। प्रत्येक साझीदार स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी भूमि पर अधिकृत (Authorised) होता है तथा वह अपने हिस्से की भूमि के लगान के लिए स्वय तथा समस्त गाव की भूमि के लगान के लिए सयुक्त रूप से उत्तरदाई होता है। इसी लिए इस पद्धति को सयुक्त ग्राम्य स्वामित्व (Joint Village Tenure) कहते हैं। सम्पूर्ण रियासत पर, जिसे कि पारिभाषिक शब्दावली मे "महाल" (Mahal) कहा जाता है और जिसके पीछे इस पद्धति का नाम "महालवारी-प्रथा" पड गया है, लगान की एक रकम निर्धारित की जाती है। इस प्रथा में गाव की बेकार भूमि सरकार की सम्पत्ति न होकर साझीदारों अथवा ग्राम समुदाय की सम्पत्ति समझी जाती है। प्रत्येक साझीदार परिवार का अपना पृथक खेत होता है। यदि कोई साझीदार अपनी भूमि छोड़ता है, तब वह भूमि सम्पूर्ण ग्राम्य समुदाय की समझी जाती है। प्रत्येक साझीदार को अपनी भूमि बेचने, रहन रखने अथवा भेंट देने का पूर्ण अधिकार होता है। इस पद्धति में लगान का अस्थाई निर्धारण (Temporary Settlement) होता है। यह प्रथा मध्य प्रदेश, पजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों मे प्रचलित थी। इन राज्यों मे महालवारी प्रथा का स्वरूप विभिन्न रहा है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे यह पद्धति जमीदारी प्रथा के अनुरूप रही है तथा पजाब मे यह पद्धति रैयतवारी अथवा "कृषक स्वामित्व" (Peasent Proprietorship) के अनुरूप रही है। **सैद्धांतिक रूप से महालवारी प्रथा मे अनेक गुण हैं** :—(i) इस पद्धति मे सामूहिक स्वामित्व (Collective Ownership) एव सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility) को प्रोत्साहन देकर कृषक समुदाय मे सह-अस्तित्व (Co-assistence) एव सह चिन्तन (Co-conscious) की भावनाओ को जागृत किया जाता है जो कि सफल सामाजिक सगठन (Social Organisation) के लिए नितात आवश्यक है।

(ii) इस पद्धति में जहां एक ओर सामूहिकता (Collectivity) को महत्व दिया जाता है वहां दूसरी ओर वैयक्तिकता (Individuality) को भी अक्षुण बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रथा में प्रत्येक साझीदार को अपनी भूमि को रहन रखने भेंट में देने अथवा बेचने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। (iii) इस पद्धति में कृषक वर्ग के शोषणकर्ता मध्यस्थ वर्ग का अभ्युदय नहीं हो पाता। (iv) इस पद्धति में लगान का निर्धारण अस्थाई रीति से होता है। इसलिये इससे सरकार की आय भी स्थाई न होकर लोचदार रहती है जो भूमि के मूल्य बढ़ने पर बढ़ाई जा सकती है। यद्यपि इस पद्धति में कुछ सैद्धांतिक गुण अवश्य हैं परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह पद्धति भी दोषों से परिपूर्ण है —(i) प्राय इस प्रथा के अन्तर्गत समस्त ग्रामीण समुदाय नहीं वरन कृषक ही व्यक्तिगत रूप से भूमि के स्वामी समझे जाते हैं। (ii) इस पद्धति में भी लगान निर्धारित करते समय सरकारी अधिकारियों द्वारा पक्षपातपूर्ण एवं मनमानी कार्यवाही करने की आशंका रहती है। (iii) इस पद्धति में साझीदार को व्यक्तिगत रूप से अपनी भूमि को बेचने, रहन रखने अथवा भेंट देने का पूरा अधिकार होता है। फलत इससे ग्रामीण जीवन में वास्तविक रूप में सहकारिता अथवा सहयोग की भावना का जन्म नहीं हो पाता। (iv) उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में यह प्रथा जमींदारी प्रथा के अनुरूप रही है। अत इन दोनों में इस पद्धति के अन्तर्गत जमींदारी प्रथा के समस्त दोष विद्यमान रहे हैं।

जमींदारी प्रथा (Zamindari System) —इस पद्धति के अन्तर्गत कृषक वर्ग एवं सरकार का सम्बन्ध प्रत्यक्ष का नहीं होता। वस्तुत कृषक और सरकार के बीच एक मध्यस्थ वर्ग होता है जो "जमींदार" कहलाता है। इस प्रथा के अनुसार जमींदार ही भूस्वामी होता है तथा उसी के हाथ में भूमि सम्बन्धी समस्त अधिकार होते हैं। जमींदार ही अपनी सम्पूर्ण रियासत (Estate) पर सरकार को लगान देने के लिए उत्तरदाई होता है। वह अपनी भूमि को कृषकों को लगान पर जोतने के लिए देता है। जमींदार अपनी भूमि के अधिकारों के सम्बन्ध में निरंकुश होता है। वह किसी भी व्यक्ति को मनमानी शर्तों पर भूमि जोतने के लिए दे सकता है, उससे मनमाना लगान, भेंट, नजराने व बेगार आदि ले सकता है तथा स्वेच्छापूर्वक बिना किसी उचित कारण के कृषक को अपनी भूमि से बेदखल कर सकता है। जमींदारी पद्धति के अन्तर्गत लगान की मात्रा निर्धारित करने के दो मार्ग होते हैं —(अ) स्थाई प्रबंध —इसमें लगान की मात्रा सर्वदा के लिए एक बार ही निश्चित कर दी जाती है तथा (आ) अस्थाई प्रबंध — इसमें लगान की मात्रा एक निश्चित अवधि के पश्चात् समय-समय पर निश्चित की जाती है। कुछ समय पूर्व तक जमींदारी प्रथा बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, उत्तरी मद्रास, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कुछ भागों में पाई जाती थी। परन्तु इस पद्धति के अनेकानेक दोषों के कारण लगभग सभी राज्य सरकारों ने इस प्रथा का कानून द्वारा उन्मूलन कर दिया है।

भारत में जमींदारी प्रथा का अभ्युदय और विकास ब्रिटिश शासन के जन्म

एव प्रौढता के साथ साथ हुआ। ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व प्राचीन हिन्दू शासनकाल मे तथा मध्यकालीन मुस्लिम शासनकाल मे भी सरकार और कृषको का सम्बन्ध प्रत्यक्ष का रहा। १८ वी शताब्दी के अतिम चरण मे ईस्ट इडिया कम्पनी को बगाल की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार प्राप्त हुआ। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस ने सन् १७९३ मे बगाल मे 'स्थाई बन्दोबस्त' को कार्यशील बनाकर जमीदारी प्रथा को जन्म दिया। **स्थाई बन्दोबस्त अथवा जमींदारी पद्धति को जन्म देने के ब्रिटिश सरकार के मुख्य लक्ष्य इस प्रकार थे —** (i) सरकारी आय मे निश्चितता एव स्थिरता लाना, (ii) भूमि पर स्थाई अधिकार हो जाने के पश्चात्, भूस्वामियो द्वारा भूमि की उन्नति के लिए आवश्यक कार्यवाही करने की सम्भावना, (iii) जमीदार के रूप मे एक सच्चे स्वामी भक्त एव शक्तिशाली वर्ग को अपने गुट मे करना तथा (iv) जमीदारो द्वारा ग्रामीण समुदाय मे शिक्षण प्रसार, जन स्वास्थ्य सुधार एव अन्य सामुदायिक विकास के कार्य किए जाने की सम्भावना। वस्तुत स्थाई बन्दोबस्त के समस्त उद्देश्य पूरे न हो सके। यद्यपि इससे सरकार की आय स्थिर एव निश्चित हो गई, सरकार के स्वामी भक्त के रूप म जमीदार वग का जन्म हो गया, परन्तु न तो इससे कृषि-भूमि मे सुधार हो सका और न ही ग्रामीण सामुदायिक जीवन की उन्नति हो सकी। जमीदार कृषको से मनमाना लगान वसूल करने लगे तथा अपने जीवन को अत्यधिक विलासपूर्ण बनाकर समाज के ऊपर एक अनार्थिक भार (Uneconomic Burden) बन गए। जमीदारो ने गावो से दूर जाकर नगरो मे अपनी कोठिया बनाकर रहना आरम्भ कर दिया तथा अपने गावो का प्रबध अपने गुमास्तो पर छोड दिया, जिन्होने कृषको की सहायता करने के स्थान पर उनपर मनमाने प्रतिक्रियावादी अत्याचार किए। अत ब्रिटिश शासनकाल का 'ग्रामीण इतिहास' जमीदारो द्वारा कृषको पर अत्याचार एव शोषण का ही इतिहास है। **फलाउड कमीशन (Floud Commission) ने अपनी रिपोर्ट में जमींदारी प्रथा के तत्कालिक दोषों को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—"स्थाई बन्दोबस्त से कृषक के अधिकार छिन गए हैं मालगुजारी बेलोचदार हो गई है, कर-निर्धारण मे असमानता आ गई है, सरकार को कृषि की स्थिति का सुपरिचित ज्ञान तथा निकट का सम्पर्क नहीं रहा है। यह एक ऐसा लोहे का शिकजा बन गया है जिसमे सभी सम्बन्धित वर्गो का साहस तथा कार्यारम्भ करने की शक्ति विनष्ट हो चुकी है, जमींदार और वास्तविक कृषक के बीच बहुत से पराश्रित मध्यस्थ हित-निर्मित हो गए हैं तथा जमींदार और कृषक के बीच अत्यधिक क्लेश एव बहुव्ययी मुकदमेबाजी हुई है।" इस पद्धति के मुख्य दोष इस प्रकार थे (i) कृषको का शोषण —** जमीदारो द्वारा अनुचित एव अत्यधिक लगान, भेंट, नजराने तथा बेगार आदि अनेक विधियो द्वारा कृषक-वर्ग का शोषण किया गया और उनका जीवन दास (Slave) जैसा हो गया था। (ii) **समाज पर अनावश्यक भार** —समाज म एक अनुत्पादक वर्ग का जन्म हुआ जो अपने विलासतापूर्ण जीवनयापन के लिए समाज

वे उत्पादक वर्ग की सम्पत्ति और मेहनत पर निर्भर हो गया। (iii) कृषि-भूमि के सुधार में अवरोधक —चूंकि इन भूस्वामियो का अंतिम और प्रधान उद्देश्य अधिकाधिक लगान वसूल करके अपने जीवन को विलासतापूर्ण व्यतीत करना था, इसलिए इन्होने कृषि-भूमि की उन्नति के सम्बन्ध मे कोई कदम नही उठाया। यही नही, कृषक वर्ग भी असामयिक बेदखली से भयभीत रहता था जिससे उसने भी भूमि की उन्नति के लिए आवश्यक प्रयत्न नही किए। (iv) स्वतन्त्रता आन्दोलन का विरोधक —यह भूस्वामी वर्ग प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ब्रिटिश शासन का सच्चा स्वामी-भक्त रहा। अत भारत के स्वतन्त्र आन्दोलन को दबाने मे उसने सरकार का पूरा पूरा सहयोग दिया। (v) सामाजिक वर्ग सघर्ष का अभ्युदय —अत मे इस पद्धति से समाज मे धनी और निर्धन वर्गों के बीच की खाई और गहरी होती गई जिसमे एक ओर, जमीदारो का अत्याचार, शोषण एव विलासी जीवन था तथा दूसरी ओर, उसका प्रतिक्रियावादीस्वरूप कृषको पर पडने वाला सामाजिक व मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव था।

सन् १९३७-३८ के आकडो के अनुसार रैयतवारी, महालवारी और जमीदारी, इन तीनों प्रकार की भूमि व्यवस्थाओ के अन्तर्गत भूमि का विभाजन इस प्रकार था —

भूमि व्यवस्था की प्रथा	क्षेत्रफल (करोड एकड मे)	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत	जहा पाई जाती थी
(१) रैयतवारी प्रथा	१८ ३	३६%	असम, महाराष्ट्र, मद्रास तथा मध्य प्रदेश।
(२) जमीदारी प्रथा (स्थाई बन्दोबस्त)	१३ ०	२५%	बगाल, बिहार, उडीसा, उत्तरी मद्रास तथा उत्तर प्रदेश का बनारस डिवीजन।
(३) जमीदारी तथा महालवारी प्रथाए (अस्थाई बन्दोबस्त)	१९·९	३९%	मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा पजाव।

भारत में मध्यस्थो का उन्मूलन (Abolition of Zamindari in India) भारत के स्वतन्त्रता सग्राम आन्दोलनो मे भी "जमीदारी उन्मूलन" (Abolition of Zamindari) तथा 'जो जोते-बोये भूमि उसकी" (Land to the Tiller of the Soil) कांग्रेस की कृषि-नीति के महत्त्वपूर्ण नारे रहे। अत सन् १९४७ मे स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् हमारी सरकार ने जमीदारी उन्मूलन को अपने आर्थिक कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अग बनाया और शनै शनै सभी राज्यो मे यह नीति क्रियान्वित की जा रही है। जमीदार, जागीरदार और इनाम आदि मध्यस्थों के पास देश की लगभग ४०% भूमि थी। कुछ अपवादस्वरूप को छोडकर भारत के प्रत्येक राज्य मे मध्यस्थों का उन्मूलन किया जा चुका है। मध्यस्थो की समाप्ति होने से दो करोड से अधिक कृषको का राज्य से सीधा सम्बन्ध जुड गया है और

कृषि योग्य परती पडी पर्याप्त भूमि तथा निजी वन सरकार के प्रबन्ध मे आ गये हैं। वस्तुत: जमींदारी उन्मूलन स्वय कोई साध्य (Ends) नहीं है, अपितु कृषि-उत्पादन मे वृद्धि लाने तथा इसके न्यायपूर्ण वितरण के लिए एक अनिवार्य साधन (Means) मात्र है। सन् १९५१ से पूर्व तक बिहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश और उत्तर प्रदेश मे मध्यस्थो के उन्मूलन मे सम्बन्धित आवश्यक अधिनियम पास किये जा चुके थे। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र मे भागदारी, नफादारी, तालुकदारी तथा वाजिफदारी, आन्ध्र प्रदेश में जागीरदारी तथा पैप्सू मे बिस्वेदारी प्रथाओ को समाप्त करने के लिये सक्रिय कदम उठाये गये। प्रथम योजनावधि में असम, उडीसा, पश्चिमी बगाल, पूर्वी पजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और दिल्ली मे मध्यस्थो के उन्मूलन से सम्बन्धित कानून पास किये गये, बिहार और असम के कानूनो मे कुछ आवश्यक सशोधन किये गये तथा महाराष्ट्र मे रैयतवारी के अतिरिक्त अन्य प्रथाए समाप्त कर दी गई। मैसूर मे इनाम प्रथा तथा मध्यप्रदेश मे व्यक्तिगत इनाम की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। "मध्यस्थो के उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियमो के बनाने तथा मध्यस्थों के क्षेत्रो को प्राप्त करने से सम्बन्धित अधिकाश कार्य किया जा चुका है तथा मध्यस्थों का लगभग पूर्णतया उन्मूलन किया जा चुका है। भूमि के कब्जेदारों (Occupants) का राज्य से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है तथा मध्यस्थो की न जोती जाने वाली भूमि व वनो आदि को राज्यों ने अपने अधिकार मे ले लिया है जिनका प्रबन्ध या तो प्रत्यक्ष रूप से राज्य के द्वारा अथवा स्थानीय एजेंसियो द्वारा किया जा रहा है*।" जमींदारी उन्मूलन के पक्ष और विपक्ष मे कुछ मुख्य तर्क इस प्रकार दिये गये :—(अ) पक्षीय तर्क —(i) जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् कृषको के शोषण का अन्त होगा, भूमि सुधार योजनाओ को कार्यान्वित किया जा सकेगा तथा खाद्यान्न के उत्पादन म वृद्धि होगी। (ii) कृषक अपनी भूमि के स्वतन्त्र स्वामी घोषित हो जाने की स्थिति मे अधिक मेहनत और तल्लीनता से कार्य करेंगे। फलत कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होगी जिससे कृषको की क्रय शक्ति (Purchasing Capacity) बढेगी, जोकि देश मे औद्योगिक प्रगति के दृष्टिकोण से नितान्त आवश्यक है। (iii) इससे समाज मे धनी और निर्धन के बीच की विशाल खाई-भारी आर्थिक असमानता मे पर्याप्त कमी आयगी। (iv) यह जनतन्त्रात्मक सिद्धान्त के अनुकूल है। (आ) विपक्षीय तर्क —(i) जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् समाज के दो सहयोगी दल, जमीदार और कृषक दो विरोधी दलो मे परिणित हो जायेंगे जिसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन मे अस्त-व्यस्तता आ जायेगी। (ii) भारतीय कृषको के पास इतनी सम्पत्ति नहीं है कि वह भूमि का दस गुना लगान अदा करके भूमिधर बन सकें। (iii) जमींदारी उन्मूलन से जमीदार और उसके कारिन्दे आदि बहुत बडी सख्या मे बेरोजगार हो जायेंगे। (iv) भारतीय ग्रामीण समाज मे जमींदारी उन्मूलन जैसे तीव्र परिवर्तन के अनुरूप स्वय को परिवर्तित कर

*India 1960—Page 260.

लेने के लिये पर्याप्त शिक्षा, दृष्टिकोण और क्षमता नहीं है। (४) जमींदार सदैव से राज्य के स्वामीभक्त रहे हैं। अतः एक शक्तिशाली स्वामी-भक्त वर्ग को समाप्त करना राज्य के अपने हित की दृष्टि से अधिक अच्छा नहीं होगा।

जमींदारी उन्मूलन के परिपालन (Implementation of the Abolition of Zamindari) में कुछ मुख्य बाधायें इस प्रकार की रही हैं —(i) उत्तर प्रदेश, बिहार आदि कुछ राज्यों में जमींदार-वर्ग ने जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों की वैधता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तथा इन अधिनियमों के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) में अपील की। अतः विवश होकर केन्द्रीय सरकार को संविधान में आवश्यक संशोधन करने पड़े जिससे अन्ततः मध्यस्थ वर्ग को मुँह की खानी पड़ी। (ii) जमींदारी उन्मूलन से सम्बन्धित द्वितीय समस्या क्षतिपूर्ति (Compensation) करने की थी। "भारतीय संविधान के ३१वें अनुच्छेद की दूसरी धारा में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यदि सरकार किसी व्यक्तिगत सम्पत्ति को अपने अधिकार में लेगी, तब उसे सम्पत्ति के स्वामी को आवश्यक क्षतिपूर्ति करनी होगी।" अनुमानतः मध्यस्थों की समाप्ति के पश्चात् उनको लगभग ६७० करोड़ रु० क्षतिपूर्ति के रूप में राज्य सरकारों को देने होंगे जिनमें से लगभग ७०% भाग केवल बिहार और उत्तर प्रदेश के दो राज्यों में ही देना होगा। क्षतिपूर्ति की समस्त रकम में से अभी तक केवल १६४ करोड़ रु० का मुआवजा मुख्यतया बाँडों में दिया गया है। प्रत्येक राज्य में क्षतिपूर्ति की दरें प्रायः सम्पत्ति (Estate) की वास्तविक आय के गुणन के बराबर निर्धारित की गई हैं। बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल और राजस्थान में क्षतिपूर्ति की रकम क्रमशः २४० करोड़ रु०, १३६ करोड़ रु०, ७० करोड़ रु० और ६३ करोड़ रु० आँकी गई हैं। (iii) अनेक क्षेत्रों में भूमि सम्बन्धी अभिलेखों (Lands Records) एवं उपयुक्त प्रशासनतन्त्र का अभाव (Lack of Administrative Machinery) भूमि सुधार की तीव्रगति से प्रगति में सबसे बड़ी बाधा रही है।

उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन व भूमि सुधार अधिनियम (*U. P.* Abolition of Zamindari and Land Reforms Act).—१० जनवरी सन् १९५१ को उत्तर प्रदेश सरकार ने जमींदारी उन्मूलन अधिनियम पास किया जिसके अन्तर्गत जमींदारों को उनकी सीर या खुदकाश्त, बगीचे, निजी कुएं और तालाबों को छोड़कर भूमि के स्वामित्व से पृथक् कर दिया गया। चूंकि हमारे संविधान में ऐसा उल्लेख है कि सरकार किसी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति को अपने अधिकार में लेने से पूर्व उसके स्वामी को आवश्यक क्षतिपूर्ति (Compensation) करेगी, इसलिये उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी जमींदारों को उनकी सम्पत्ति की आठगुनी क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था की है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे जमींदारों को क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त उनकी वास्तविक सम्पत्ति के मूल्य की लगभग २ से २० गुनी तक पुनर्स्थापन सहायता देने की व्यवस्था की गई है। क्षतिपूर्ति देने के लिये उत्तर प्रदेश सरकार ने एक जमींदारी उन्मूलन कोष (Zamindari Abolition Fund) की स्थापना की है।

अनुमानत उत्तर प्रदेश मे क्षतिपूर्ति के रूप मे जमीदारो को २४० करोड रु० देने होंगे। उत्तर प्रदेश मे नई व्यवस्था के अन्तर्गत ४ प्रकार के कृषक होंगे। (i) भूमिधर —हरएक कृषक अपनी भूमि का १० गुना लगान देने के पश्चात् अपनी भूमि का भूमिधर बन सकता है। उसे अपनी भूमि के उपयोग करने, बेचने, रहन रखने, दान मे देने अथवा भूमि के किसी भी भाग पर मकान, कुआ आदि बनवाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। इस श्रेणी के अन्तर्गत लगभग २० लाख जमीदार भी आ गये हैं जो जमीदारी उन्मूलन से पूर्व अपनी बिना लगान पर उठाई हुई भूमि पर स्वयं खेती (सीर) करते थे। अधिनियम के अनुसार जो कृषक अपनी भूमि का १० गुना लगान देकर "भूमिधर" बन जाता है उसके लगान मे आगामी ४० वर्षों के लिये ५०% कमी करदी जाती है। (ii) सीरदार —सीरदार वे कृषक हैं जिन्हें जमीदारी उन्मूलन से पूर्व भूमि पर स्थाई मौरूसी अधिकार थे। अब इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत सीरदार को स्थाई और पैत्रिक अधिकार प्रदान कर दिए गए हैं। इस अधिनियम मे यह उल्लेख किया गया है कि किसी भी सीरदार को अपनी भूमि के बेचने अथवा कृषि के अतिरिक्त दूसरे उपयोगो मे लाने से पूर्व भूमिधर बनना अनिवार्य है। (iii) आसामी —जो कृषक सन् १९४७ से पूर्व गैर-मौरूसी थे अथवा जिनका अपनी भूमि पर अस्थाई अधिकार था उनको 'आसामी' वर्ग मे रक्खा गया है। (iv) अधिवासी :—ऐसे कृषक, जो छोटे-छोटे जमीदारो की भूमि पर खेती करते थे और जिनका उस भूमि पर कोई स्थाई स्वामित्व न था, इस नये अधिनियम के अन्तर्गत उनको 'अधिवासी' वर्ग मे रक्खा गया। इस अधिनियम के बाद के सशोधन के अनुसार अधिवासी वर्ग को समाप्त कर दिया गया तथा आसामी वर्ग के कृषको को यह अधिकार दिया गया कि यदि वे "जमीदारी उन्मूलन अधिनियम" के लागू होने के ५ वर्ष बाद तक अपनी भूमि के वार्षिक लगान का १५ गुना राज्य सरकार को दे दें, तब उन्हे भूमि पर स्थाई स्वामित्व का अधिकार दे दिया जायेगा। इस एक्ट के अन्तर्गत व्यक्तिगत भूमि की न्यूनतम सीमा ६¼ एकड तथा अधिकतम सीमा ३० एकड निर्धारित कर दी गई है।

उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त मद्रास सरकार ने १९४८ मे भू-सम्पत्ति उन्मूलन और रैयतवारी परिवर्तन अधिनियम (Estates Abolition and Conversion into Rayatwari Act) पास किया गया। बिहार मे सन् १९५० मे Bihar Land Reform Bill, बम्बई मे सन् १९४८ मे Bombay Land Tenancy and Agricultural Lands Act, राजस्थान मे सन् १९५१ मे Jagirdari Abolition Bill तथा उडीसा मे १९४६ मे Estates Lands Act पास किय गए जिनके अन्तर्गत मध्यस्थो का उन्मूलन करके भूमि सुधार सम्बन्धी आवश्यक कदम उठाए गए।

भूमि सुधार (Land Reforms)—एक अनुमान के अनुसार ग्राम्य-भारत के ६·५ करोड परिवारो के पास कुल ३१ करोड एकड भूमि है जो देश के क्षेत्रफल की ३८% तथा कृषि योग्य भूमि की ६१% है। इनमे से लगभग १½ करोड

परिवार भूमिहीन हैं और लगभग १½ करोड परिवारों के पास १-१ एकड से भी कम भूमि है। समस्त ग्राम्य-भारत मे स्वामित्व अधिकार की ८४% भूमि पर भूस्वामित्व अधिकार (Proprietory Right) है, २% भूमि लगान पर है तथा १४% भूमि मौरूसी कृषकों के पास है। लगभग ६०% परिवार व्यक्तिगत खेती करते हैं तथा १०% परिवार सम्मिलित खेती करते हैं। इस स्थिति के साथ-साथ विगत वर्षों म कृषि-उत्पादन मे कमी तथा खाद्यान्न का अभाव आदि अनेक ऐसी समस्यायें उठ खडी हुई हैं कि भूमि सुधार की ओर आवश्यक कदम उठाने की वाञ्छनीयता अनुभव की गई। भूमि-सुधार के अन्तर्गत कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं — (i) मध्यस्थो का उन्मूलन, (ii) लगान की उचित दर का निर्धारण, (iii) जोतो की चकबन्दी, (iv) भू सम्पत्ति का सीमा निर्धारण तथा (v), सहकारी कृषि का विकास आदि। भूमि सुधार सम्बन्धी योजनाओं को सफल बनाने से सम्बन्धित कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं –(i) निधन एव भूमिविहीन कृषको मे मान्य आर्थिक जोत के अनुसार भूमि वितरित करनी चाहिये। (ii) कृषि-जोत की अधिकतम सीमा ३० एकड निर्धारित करनी चाहिये। (iii) निर्धन एव अनार्थिक आकार की जोत वाले कृषको द्वारा सहकारी कृषि पद्धति अपनाई जाने के उद्देश्य मे सरकारी प्रयत्न होने चाहिए। (iv) 'अधिकतम सीमा" योजना लागू होने के उपरात उपलब्ध नई कृषि योग्य भूमि का वितरण केवल सहकारी कृषि फार्मों, भूमिहीन कृषको तथा छोटी जोत वाले कृषको म ही करना चाहिए। (v) लगान वसूल करने का दायित्व ग्राम पचायतो को सौप देना चाहिए। (vi) निर्धन एव छोटे कृषकों को भूमिधर का अधिकार देने के लिए भूमिधर बनने की फीस को कम कर देना चाहिये। (vii) कृषि-सम्बन्धी स्थानीय समस्याओ को सामूहिक एव सहकारी रूप से हल करने के लिए ग्रामीण कृषक सभाओ का शीघ्र से शीघ्र निर्माण करना चाहिए।

भारत में भूमि सुधार (Land Reforms in India) :— भारत मे भूमि सुधार कार्यक्रमों को प्रथम और द्वितीय योजनाओ मे विशेष महत्व दिया गया। इन कार्यक्रमो के दो विशिष्ट उद्देश्य है। प्रथम उद्देश्य यह है कि पूर्वकाल से विरासत मे मिले खेती-बाडी के ढाचे के कारण खेती की पैदावार बढाने मे आने वाली रुकावटो को हटा दिया जाए। इससे ऐसी परिस्थितिया उत्प करने मे सहायता मिलती है, जिनमे कृषि की अर्थ-व्यवस्था का विकास शीघ्रता पूर्वक हो, कृषक अधिक कुशलता से खेती करने लगें और खेती की उत्पादकता बढ जाए। दूसरा उद्देश्य यह है कि कृषि व्यवस्था मे से सामाजिक शोषण और अन्याय को निकाल दिया जाए और भूमि जोतने वालो को सुरक्षा प्रदान की जाए। इस प्रकार ग्रामीण व्यक्तियो को यह विश्वास दिलाया जाए कि सबकी स्थिति (Status) बराबर है तथा सबको आगे बढ़ने का समान अवसर मिल सकता है। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिये प्रधानतया ये उपाय अपनाए गए हैं :—(i) मध्यस्थों का उन्मूलन :—भारत के लगभग समस्त राज्यो मे मध्यस्थों का उन्मूलन किया जा चुका है। जम्मू और काश्मीर को छोड़कर सभी राज्यो मे मध्यस्थो को उचित क्षतिपूर्ति

करने का प्रयोजन है। जम्मू और काश्मीर मे बिना क्षतिपूर्ति के प्रावधान के ही मध्यस्थो का उन्मूलन कर दिया गया है। देश के समस्त राज्यो मे क्षतिपूर्ति की रकम का अनुमान ६७० करोड रु० है। इस समय तक इस कुल रकम मे से १६४ करोड रु० की क्षतिपूर्ति मुख्यतया बाडो (Bonds) के रूप मे दी जा चुकी है। (ii) लगान मे सुधार :—योजना आयोग (Planning Commission) ने यह सुझाव दिया था कि भूमि का लगान कुल फसल के $\frac{1}{5}$ अथवा $\frac{1}{6}$ से अधिक नही होना चाहिए। लगान सम्बन्धी अधिनियम प्रत्येक राज्य मे पास किए जा चुके है। असम, पहले के बम्बई क्षेत्र, मैसूर के कुछ भाग, उडीसा, राजस्थान, पहले के हैदराबाद राज्य तथा केन्द्र प्रशासित दिल्ली व हिमाचल प्रदेश मे लगान की अधिकतम दर कुल फसल का $\frac{1}{6}$ भाग है। केरल मे धान के खेतो मे लगान की दर $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{12}$ भाग के मध्य रक्खी गई है तथा पश्चिमी बगाल, पहले के आन्ध्र प्रदेश, जम्मू और काश्मीर मे अधिकतम लगान की दर कुछ मामलो मे कुल फसल का ५०% भी है। (iii) जोतो की चकबन्दी —भारत के विभिन्न राज्यो मे सन् १९५९-६० तक लगभग २ ३० करोड एकड भूमि की चकबन्दी की जा चुकी है। उस समय लगभग १ ३० करोड एकड भूमि पर चकबन्दी की योजना कार्यान्वित थी। तीसरी योजना के अन्तर्गत ३ करोड एकड अतिरिक्त भूमि की चकबन्दी का लक्ष्य रक्खा गया है। चकबन्दी के काम मे प्रगति मुख्यतया पूर्वी पजाब, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात और मध्यप्रदेश मे हुई है। अन्य राज्यो मे दूसरी योजना की अवधि मे अपेक्षाकृत कम प्रगति हो पाई है। (iv) सहकारी कृषि —जून सन् १९६० के अत मे समस्त भारत मे लगभग ५,४०९ सहकारी कृषि समितिया थी। इन सहकारी कृषि समितियो मे से आधे से अधिक पजाब, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र राज्यो मे थी। तीसरी पचवर्षीय योजना के अन्तगत ३,२०० सहकारी कृषि समितिया सगठित करने का लक्ष्य रक्खा गया है और यह निश्चय किया गया है कि प्रत्येक जिले मे कम से कम १० *सहकारी कृषि समितिया अवश्य सगठित की जायेंगी*। (v) भूसम्पत्ति का सीमा निर्धारण —देश के विभिन्न राज्यो मे कृषि जोत की उच्चतम सीमा के निर्धारण सम्बन्धी अधिनियम पास किए जा चुके हैं। उच्चतम सीमा सम्बन्धी समस्या के दो पहलू हैं :—(अ) भूमि की भावी प्राप्ति की उच्चतम सीमा (Ceiling on Future Acquisition of Land) अर्थात् कोई व्यक्ति अथवा परिवार भविष्य मे अधिक से अधिक कितनी भूमि खरीद सकेगा तथा (आ) वर्तमान जोतो की उच्चतम सीमा (Ceiling on Existing Holdings) अर्थात् वर्तमान समय मे कृषक के पास अधिक से अधिक कितनी भूमि होनी चाहिये। इस सीमा से अधिक *जातो के स्वामियो को अतिरिक्त भूमि सरकार को देनी होगी। भारत के विभिन्न* क्षेत्रो मे भावी जोतो की उच्चतम सीमा तथा वर्तमान जोतो की उच्चतम सीमा पृथक् पृथक अग्रलिखित हैं।

भावी जोतों पर सीमा-निर्धारण

(१) आंध्र प्रदेश (तेलगाना क्षेत्र)	१२ से १८० एकड़ भूमि
(२) असम (मैदानी क्षेत्र)	५० एकड़ भूमि
(३) महाराष्ट्र (पहले का बम्बई क्षेत्र)	१२ से ४८ एकड़ भूमि
(सौराष्ट्र क्षेत्र)	६० से १२० एकड़ भूमि
(मराठवाडा क्षेत्र)	१२ से १८० एकड़ भूमि
(४) जम्मू-काश्मीर	२२$\frac{3}{4}$ एकड़ भूमि
(५) मध्य प्रदेश (मध्य भारत क्षेत्र)	५० एकड़ भूमि
(६) मैसूर (कर्नाटक क्षेत्र)	१२ से १८० एकड़ भूमि
(बम्बई क्षेत्र)	१२ से ४८ एकड़
(७) पूर्वी पंजाब (पेप्सू क्षेत्र)	३० पक्का एकड़ भूमि
(८) राजस्थान	३० सिंचित एकड़ भूमि
	६० सूखा एकड़ भूमि
(९) उत्तर प्रदेश	३० एकड़ भूमि
(१०) पश्चिमी बंगाल	२५ एकड़ भूमि
(११) देहली	३० पक्का एकड़ भूमि
(१२) केरल	१५ से ३० एकड़ भूमि

वर्तमान जोतों पर सीमा निर्धारण

(१) आंध्र प्रदेश (तेलगाना क्षेत्र)	१८ से २७० एकड़ भूमि
(२) असम (मैदानी क्षेत्र)	५० एकड़ भूमि
(३) महाराष्ट्र (मराठवाडा क्षेत्र)	१८ से २७ एकड़ भूमि
(४) जम्मू काश्मीर	२२$\frac{3}{4}$ एकड़ भूमि
(५) मैसूर (कर्नाटक क्षेत्र)	१२ से २७० एकड़ भूमि
(६) पूर्वी पंजाब (पेप्सू क्षेत्र)	३० पक्का बीघा भूमि
	(विस्थापितों के लिये ६० पक्का बीघा भूमि)
(७) पश्चिमी बंगाल	२५ एकड़ भूमि
(८) हिमाचल प्रदेश	(चम्बा जिले में ३० एकड़ भूमि तथा दूसरे क्षेत्रों में १२५ रु० लगान वाले भाग तक)
(९) केरल	१५ से ३० एकड़ भूमि

(ग) भूधारण की सुरक्षा (Security of Tenura) —भूधारण की सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियम अब तक ११ राज्यों तथा समस्त संघीय क्षेत्रों में पास किये जा चुके हैं। इन अधिनियमों के अन्तर्गत काश्तकारों की बेदखली (Egect) पर

राव लगा दी गई है। (vii) काश्तकारों के लिये स्वत्व सम्बन्धी अधिकार (Right of Ownership for Tenants) —द्वितीय योजना में यह कहा गया था कि पुनर्ग्रहण (Resumption) न किए जाने वाले क्षेत्रों में काश्तकारों (Tenants) को भूस्वामी बना दिया जाए। विभिन्न राज्यों में यह कार्य तीन प्रकार से किया गया है — (अ) गुजरात महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और राजस्थान में काश्तकारों को भूस्वामी घोषित कर दिया गया है तथा उनसे मध्यस्थों को उचित किश्तों में क्षतिपूर्ति दिलाने की व्यवस्था की गई है। (आ) दिल्ली में सरकार ने स्वयं क्षतिपूर्ति करके भूस्वत्व का अधिकार प्राप्त कर लिया है, तत्पश्चात् काश्तकारों से क्षतिपूर्ति की रकम उचित किश्तों में वसूल करने की व्यवस्था करके उन्हें स्वत्व के अधिकार दे दिए हैं। (इ) केरल और उत्तर प्रदेश में राज्य सरकारों ने भूस्वत्व के अधिकार स्वयं प्राप्त करके काश्तकारों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर लिये हैं तथा उन्हें यह छूट दे दी गई है कि वे निर्धारित क्षतिपूर्ति की रकम देकर भूमि के स्वत्व का पूर्ण अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

भूमि सुधारों की प्रगति की समीक्षा.—"भारत में भूमि सुधारों की प्रगति" पर संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O) की रिपोर्ट में इन शब्दों में प्रकाश डाला गया है, "भारत में भूमि सुधार के हाल ही के अधिनियम संख्यात्मक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इतने अधिनियम अन्यत्र कहीं नहीं बने हैं। ये अधिनियम करोड़ों कृषकों पर प्रभाव डालते हैं और भूमि के विशाल क्षेत्रों को अपनी परिधि में सम्मिलित करते हैं।" योजना आयोग (Planning Commission) के शब्दों में, "भारत में भूमि सुधार के कार्यक्रम ने ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक अन्याय को मिटाने एवं कृषकों की सुरक्षा के लिये बहुत कुछ किया है परन्तु अन्य क्षेत्रों, जैसे—सहकारी-कृषि, भूमिहीन श्रमिकों को बसाने और काश्तकारों को स्वत्व के अधिकार देने में पर्याप्त प्रगति नहीं दिखाई दी है।" वस्तुत व्यवहारिक रूप में भूमि सुधार कानूनों का लाभ विस्तृत क्षेत्रों में काश्तकारों को नहीं मिल पाया है। प्राय भूस्वामियों ने खुदकाश्त के नाम पर भूमि अपने अधिकार में रखी है तथा काश्तकारों को ऐच्छिक परित्याग (Voluntary Surrenders) करने को बाध्य किया गया है। सीमा-निर्धारण से बचने के लिए अनियमित एवं अवैधानिक अन्तरण (Malafide Transfers) किए गए हैं और अतिरिक्त भूमि नगण्य मिली है। यही नहीं, अब तक सहकारी कृषि समितियां भी अधिकांशत बड़े-बड़े भूस्वामियों द्वारा ही संगठित की गई हैं। अत अनार्थिक आकार की जोतों के स्वामियों और भूमिहीन श्रमिकों को इनसे कोई लाभ नहीं मिल पाया है। अतएव कृषि-भूमि में सुधार को वास्तविक एवं व्यवहारिक रूप देने के लिये भूमि सुधार अधिनियमों द्वारा काश्तकारों को व्यापक स्तर पर लाभ प्रदान करना सर्वथा अपेक्षित है।

एक के बाद दूसरे राज्य में भूमि सुधार सम्बन्धी कानून बन जाने के बाद से भूमि सुधारों की आवश्यकता तथा उससे जिन उद्देश्यों की पूर्ति की अपेक्षा की जाती है, उन्हें अधिक अच्छी तरह समझा जाने लगा है। अनेक कारणों से भूमि

सुधारो का प्रभाव उतना नही पडा है, जितना पडने की आशा की गई थी। अभी तक देश मे यह बात बहुत ही कम समझी गई है कि भूमि सुधार एक सचेष्ट विकास कार्यक्रम भी है। यह भली-भांति अनुभव नहीं किया जाता कि भूस्वामित्व मे सुधार करना तथा जोत की अधिकतम सीमा शीघ्र लागू करना, सहकारिता पर आधारित ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था के निर्माण की आधार शिलायें हैं। यही नही, भूमि सुधारो के प्रशासकीय अग की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। इसके विपरीत कानून की उपेक्षा करने या पालन न करने की चेष्टायें बेरोक-टोक चल रही हैं। कानून को कार्यशील ढग से लागू करने के लिये ग्राम समाज का समर्थन तथा अनुमति भी प्राप्त नहीं की जा सकी है। कानून या उसके आधीन बने नियमो मे पाई जाने वाली कमिया दूर करने के साथ-साथ यह बहुत आवश्यक है कि भूमि-सुधार का कार्यक्रम शीघ्र से शीघ्र पूरा किया जाए, जिससे इनके पालन करने मे विलम्ब से उत्पन्न होने वाली अनिश्चितता की भावना समाप्त की जा सके। भूमि सम्बन्धी कानूनों तथा अन्य सुधारो पर प्रभावशाली परिपालन के लिये यह आवश्यक है कि सरकारी अभिकरण अनवरत प्रयास करें, क्योकि सामान्यत वर्तमान स्थितियो और अवस्थाओ को जारी रखने की ओर झुकाव रहता है। केवल काश्तकारो को उनके अधिकारो से परिचित कराने के लिये ही नही वरन् प्रत्येक भाग के व्यक्तियो को भूमि सुधारो का उद्देश्य अधिक अच्छी तरह समझाने और अविलम्ब ये सुधार-कार्य पूरा करने की आवश्यकता बताने के लिये भी विशेष प्रयास करने चाहियें।

राज्यो द्वारा बनाए गए भूमि सुधार सम्बन्धी कानूनों के पालन करने से सम्बन्धित समस्याओ का भूमि सुधार सम्बन्धी अध्ययन-दल (Study Group) ने अध्ययन किया था। अध्ययन-दल ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि भू-स्वामित्व सम्बन्धी अधिकारो के सही और नवीनतम रिकार्ड तैयार किए जायें तथा राजस्व प्रशासन को और अधिक सुदृढ बनाया जाए। वित्त आयोग की कार्यक्रम गवेषणा समिति ने देश के विभिन्न भागो मे भूमि सुधार सम्बन्धी अनेक सर्वेक्षण किए हैं। इनमे भूमि सुधार सम्बन्धी कानूनो को लागू करने मे आने वाली समस्यायें बताई गई हैं। भूमि सुधार सम्बन्धी कानूनो का क्षेत्र व्यापक होने तथा स्थितियो मे भिन्नता होने के कारण यह वाछनीय है कि इन अध्ययनो का विधिवत विस्तार किया जाए। वस्तुत एक सार्वजनिक योजना के अनुसार विभिन्न क्षेत्रो मे भूमि सुधारो के परिवर्तनकालीन कार्यक्रम तथा उसके दूरगामी, आर्थिक एव सामाजिक परिणामों को दृष्टि से मूल्यांकन किया जाना चाहिये।

भारत में भूदान आन्दोलन
(Bhoodan Movement in India)

प्राक्कथन —भूदान आन्दोलन देश के लगभग एक करोड़ भूमिहीन कृषि-श्रमिक परिवारो को भूमिपतियो से दान मे भूमि प्राप्त करके, भूमि दिलाने का एक अहिंसात्मक एव गाधीवादी प्रयत्न है। यह विचार महात्मा गाधी जी के पदानुगामी

श्री विनोबा भावे के मस्तिष्क की देन है। विश्व के इतिहास मे भूदान आन्दोलन भूमि के वितरण का एक क्रातिकारी एव अद्भुत परिवर्तन है। श्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दों मे, "भूदान यज्ञ एक सही तरीके का आन्दोलन है। भारत के *प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस आन्दोलन के महत्व को समझे और* इसमे यथाशक्ति योगदान करे।" सक्षेप मे भूदान यज्ञ अहिंसात्मक ढग से समाज के अन्त करण को उद्वेलित करके एव अनुनय-विनय द्वारा मनुष्यो के हृदयो मे परिवर्तन उत्पन्न करता है और इस प्रकार प्रत्यास्थापन की क्रिया को सरल ढग से सम्भव बनाने की चेष्टा करता है।

भूदान आन्दोलन का उद्भव, उद्देश्य एवं प्रगति (*Origin, Objects and Progress of the Bhoodan Movement*) — अप्रैल सन् १६५१ मे आचार्य विनोबा भावे हैदराबाद के तेलगाना (Telangana) नामक क्षेत्र मे भ्रमण कर रहे थे। विनोबा जी ने इस क्षेत्र मे भूमि-वितरण की समस्या को लेकर रक्तपात होते देखा। उस क्षेत्र के साम्यवादी व्यक्ति भूमिपतियो (Landlords) से बलपूर्वक भूमि छीनकर उसे भूमिहीन कृषि-श्रमिको एव छोटे छोटे कृषको मे वितरित कर रहे थे। इस घटना ने विनोबा जी के हृदय मे भूदान यज्ञ का सूत्रपात किया। *१८ अप्रैल सन् १६५१ को आचार्य विनोबा तेलगाना क्षेत्र के एक छोटे से गाव* "पोचम पल्ली" मे पहुचे। इस गाव के हरिजनो ने विनोबा जी से ८० एकड भूमि की माग की। अत विनोबा भावे ने भूस्वामियो से भूमि की याचना करना प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम इस गाव के एक भूस्वामी ने साहस करके १०० एकड भूमि विनोबा जी को दान मे दे दी। इस सफलता से प्रेरित होकर आचार्य विनोबा ने पूरे देश का भ्रमण प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम विनोबा जी ने तेलगाना क्षेत्र के २०० गावो का भ्रमण किया जिनमे उन्हें १२,२०१ लाख एकड भूमि दान मे मिली। २ अक्टूबर सन् १६५१ को गाधी-जयन्ती के अवसर पर, विनोबा जी ने अप्रैल सन् १६५७ तक पाच करोड एकड भूमि दान मे प्राप्त करके, देश के एक करोड भूमिहीन कृषि श्रमिको मे वितरित करने की भीष्म-प्रतिज्ञा की। इस अवसर पर विनोबा जी ने सागर (Sagar) मे अपने लक्ष्य को जनता के सम्मुख इन शब्दों मे व्यक्त किया, "यद्यपि मेरा पेट छोटा है परन्तु दरिद्रनारायण का पेट पर्याप्त बडा है। इसी लिए यदि कोई मुझसे मेरी माग पूछता है, तब मैं कहता हू कि मुझे ५ करोड एकड कृषि योग्य भूमि चाहिए। यदि किसी परिवार मे ५ पुत्र हैं तब मुझे छठा और यदि चार हैं, तब मुझे पांचवा पुत्र समझकर कृषि-योग्य भूमि का ⅙ या ⅕ वा भाग मिल जाना चाहिए।" कुछ समय पश्चात विनोबा जी के मस्तिष्क मे यह बात घर कर गई कि दरिद्रो के उद्धार के लिए केवल भूमि का दान लेना ही पर्याप्त नही है। इसके लिए कुछ और भी आवश्यक है। अत उन्होने भूमिदान के साथ ही साथ जनता के सम्मुख सम्पत्तिदान, कूपदान, अल्वारदान, श्रमदान और जीवनदान की भी माग प्रस्तुत की।

वस्तुत भूदान आन्दोलन का उद्देश्य केवल भूमिदान मे प्राप्त करके उसे

और सत्य के सिद्धान्तो पर आधारित एक क्रातिकारी परिवर्तन है जो समाज मे एक महान परिवर्तन लाना चाहता है। फिर भी इस आन्दोलन के विपक्ष मे कुछ तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किये जाते हैं — (i) **सामाजिक विकास क्रम का अवरुद्ध होना** —साम्यवादी विचारको के अनुसार समाज का विकास एक निश्चित क्रम (Order) मे होता है। समाज की अर्थ व्यवस्था मे परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक सरचना (Social Structure) मे परिवर्तन होता है। समाज का एक वर्ग (Class) दूसरे वर्ग को जन्म देता है और कुछ समय पश्चात् वर्ग सघर्ष (Class Conflict) की स्थिति उत्पन्न होने के कारण श्रमिक-वर्ग पूजीपति-वर्ग पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है। समाज की यही अवस्था समाजवादी अथवा साम्यवादी अवस्था कहलाती है। इस प्रकार साम्यवादियो के मतानुसार समाज मे विकास का क्रम इस अवस्था (साम्यवाद) तक जारी रहता है। परन्तु भूदान आन्दोलन भूस्वामियो एव भूमिहीन कृषि श्रमिको अर्थात् शोषक और शोषित वर्गों मे वर्ग-सघर्ष की भावना को कम करके, समाज के स्वाभाविक प्रवाह मे बाधा उपस्थित करता है। (ii) **अनार्थिक आकार की जोतों मे वृद्धि** —इस आन्दोलन के अन्तर्गत भूमिहीन कृषि-श्रमिको को जो भूमि दी जाती है उसका आकार बहुत छोटा होता है और वह भूमि छोटे-छोटे टुकडो मे यत्र-तत्र बिखरी हुई होती है। इस प्रकार यह आन्दोलन देश मे अनार्थिक आकार की कृषि-जोतो (Agricultural Holdings) मे वृद्धि करके कृषि-भूमि की उपज को प्रति एकड कम करने मे सहयोग प्रदान करता है। (iii) **कृषि योग्य भूमि का दान मे न मिलना** —आलोचको का मत है कि इस यज्ञ के अन्तर्गत जो कुछ भूमि प्राप्त होती है वह प्राय बजर या ऊसर भूमि होती है। अधिकाश भूस्वामी अपनी भूमि के ऐसे क्षेत्र को दान मे देते हैं जिस पर वे कोई फसलोत्पादन नही कर पाते। अत इस प्रकार की भूमि का सग्रहण एव वितरण एक अनावश्यक कार्य है तथा भूमिहीन कृषि-श्रमिको की सहयता करने की अपेक्षा उन्हे एक अलाभकर व्यवसाय को सौंप देना है। (iv) **भूमिहीन कृषि-श्रमिकों के उद्धार के लिये केवल भूमि का दान ही पर्याप्त नहीं हैं** —आलोचको का मत है कि भूमिहीन कृषि-श्रमिको के उद्धार के लिये केवल उन्हे भूमि देने की व्यवस्था ही पर्याप्त नही है। वास्तव मे भूमिहीन कृषि-श्रमिको को भूमि देने के साथ ही साथ उस भूमि पर खेती करने के लिये सम्पत्ति, बीज, खाद, यत्र और पशुओ की व्यवस्था करनी भी अत्यावश्यक है। परन्तु भूदान आन्दोलन मे सम्पत्ति दान, साधनदान, कूपदान व श्रमदान आदि को आवश्यकतानुसार महत्व नही दिया जाता है। (v) **भूदान यज्ञ भारत मे सफल नहीं हो सकता** —हमारे देश मे कृषको को अपनी भूमि से विशेष स्नेह है। अत उनसे यह आशा रखना कि ये अपनी भूमि का कुछ भाग दान मे दे देंगे, केवल एक थोथी कल्पना मात्र है। भूदान आन्दोलन के अन्तर्गत होने वाली प्रगति को देखने से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि विनोबा जी के ५ करोड भूमि भूदान मे प्राप्त करने के लक्ष्य की पूर्ति मे कम से कम शताब्दियां लग जायेंगी। (vi) **भूमि के वितरण मे अनावश्यक देरी** —

आलोचकों का मत है कि इस आन्दोलन के अन्तर्गत जितनी भूमि प्राप्त की जाती है उसके वितरण मे सरलता एवं शीघ्रता से काम नही लिया जाता। वास्तव में यह एक व्यावहारिक सत्य भी है। अगस्त सन् १९६० के अन्त तक इस आन्दोलन के अन्तर्गत लगभग ४४·११ लाख एकड भूमि प्राप्त की जा चुकी थी। परन्तु इस समय तक प्राप्त भूमि मे से केवल ८·७२ लाख एकड भूमि का ही वितरण किया जा सका था। (vii) भूदान यज्ञ भूमिहीन कृषि-श्रमिकों की समस्या का अपूर्ण समाधान है —आलोचकों का मत है कि भूदान यज्ञ भूमिहीन कृषि-श्रमिको की समस्या का पूर्ण समाधान प्रस्तुत नहो करता। वास्तव मे भूमिहीन कृषि-श्रमिको की समस्या को सुलझाने के लिए अधिक प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी उपाय अपनाने की आवश्यकता है।

भूदान आन्दोलन को राजकीय सहायता (Governmental Assistance for Bhoodan Movement) — द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना आयोग (Planning Commission) ने भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था मे केन्द्रीय एवं प्रादेशिक सरकारो द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान करने की सिफारिश की थी। फलत: विभिन्न राज्य सरकारो ने भूदान आन्दोलन में प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता की है। द्वितीय योजनाकाल मे सन् १९५९-६० तक बिहार, मध्य प्रदेश, उडीसा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश की प्रादेशिक सरकारो ने भूदान आन्दोलन के कार्यक्रम मे क्रमश ५१९ हजार रु०, १५४, हजार रु०, ७२९ हजार रु० ७० हजार रु० और १०० हजार रु० दान मे दिए। सन् १९५६-५७ और १९५७-५८ मे केन्द्रीय सरकार द्वारा भी भूदान-आन्दोलन के कार्यक्रम के अन्तर्गत क्रमश ११ ९२ लाख रु० और १० लाख रु० अनुदान में दिए गए। सन् १९५९-६० से केन्द्रीय सरकार ने ग्रामदान मे प्राप्त होने वाले गावों को आर्थिक सहायता प्रदान करने तथा उनमे घरेलू उद्योगो (Cottage Industries) को स्थापित करने के उद्देश्य से एक योजना कार्यान्वित की है। इस योजना पर भारत सरकार द्वारा सन् १९५९-६० मे १ ६६ लाख रु० व्यय किए गए। इसी प्रकार भारत सरकार ने सन् १९५९-६० से बिहार मे भूमिहीन कृषि-श्रमिको को भूदान मे उपलब्ध होने वाली भूमि पर बसाने की एक योजना चलाई है। इस योजना पर केन्द्रीय सरकार द्वारा सन् १९५९-६० मे लगभग ३० लाख रु० व्यय किया गया।

उपसंहार —श्री मन्नारायण (Mannarayan) के शब्दों मे, "भूदान आन्दोलन देश मे महत्वपूर्ण भूमि-सुधारों के लिए स्वस्थ एवं अनुकूल पर्यावरण (Environment) उत्पन्न करने में गौरवता के साथ सफल हुआ है। इस आन्दोलन के द्वारा भारत ने विश्व को यह ज्ञान करा दिया है कि भूमि के वितरण की समस्या का हल शांतिपूर्ण ढग से किया जा सकता है।" भारत मे भूमिहीन कृषि-श्रमिकों की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसका निवारण केवल सहकारी ग्राम-प्रबन्ध (Co-operative Village Management) की योजना द्वारा ही सम्भव हो सकता है। सहकारी ग्राम-प्रबन्ध की पद्धति की स्थापना के लिये भूदान आन्दोलन

एक आवश्यक जनमत (Public Opinion) एव व्यवस्थित पर्यावरण की स्थापना करता है। वस्तुत भूदान यज्ञ का महत्व केवल इस बात मे ही सन्निहित नही है कि इसमे कितने भूमिहीन कृषि-श्रमिको को कितनी कितनी भूमि दी गई वरन् इस आन्दोलन का महत्व इससे अधिक कुछ और भी है। भूदान-यज्ञ समाज के सम्मुख भूमिहीन कृषि-श्रमिकों की विभिन्न समस्याओ का स्पष्टीकरण करता है तथा समाज को इन समस्याओ के निवारणार्थ सत्य एव अहिंसा की सरचना (Structure) पर आधारभूत मार्ग प्रस्तुत करता है।

१४

कृषि-उपज का विपणन

(Marketing of Agricultural Produce)

प्राक्कथन — भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था मे विपणन पद्धति (Marketing System) का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था एव कृषक की ऋणग्रस्तता का सबसे प्रमुख कारण कृषि-उपज के विपणन की अव्यवस्था एव दोषपूर्ण पद्धति का होना है। प्राचीन काल मे कृषि निर्वाह के आधार (Subsistence Basis) पर होती थी। उस समय भारत के गाव आत्म-निर्भर (Self-Sufficient) थे तथा व्यक्ति अपनी वस्तुओ और सेवाओ का गाव मे ही, अदल-बदल की रीति (*Barter System*) द्वारा, विनिमय कर लेते थे। उस समय यह कहावत प्रसिद्ध थी कि 'अच्छे कृषक की एक आख हल पर और दूसरी आख बाजार पर रहती है।" परन्तु १६वी शताब्दी के मध्यान्ह से परिवहन के साधनों का विकास होने के साथ-साथ कृषि का व्यापारीकरण (Commercialization) हो गया जिसके उपरान्त उपरोक्त उक्ति ने यह रूप धारण कर लिया कि "अच्छे कृषक के दोनों हाथ हल पर तथा दोनों आखें बाजार पर लगी रहती हैं।" एक सफल, सुनियोजित (Planned) एव सुव्यवस्थित विपणन-पद्धति न केवल कृषक को उसकी उपज का उचित मूल्य दिलाकर उसके जीवन-स्तर को ऊचा उठाती है वरन् इसके साथ-साथ कृषक को अधिक उत्पादन करने के लिये प्रोत्साहित करके राष्ट्र की भौतिक एव आर्थिक प्रगति को अग्रसर करती है। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के शब्दों मे, "जब तक भारत मे कृषि विपणन की समस्या को पूर्णरूपेण हल नहीं किया जाता, तब तक कृषि-समस्या का हल अधूरा ही रहेगा।"

विपणन-सेवायें (Marketing Services) —कृषि उपज के विपणन से सम्बन्धित कुछ मुख्य सेवाए इस प्रकार हैं —(अ) कृषि-उपज का एकत्रीकरण करना (Assembling), (आ) उपज का कोटि के अनुसार श्रेणीकरण करना (Grading), (इ) उपज को ठीक करना (Processing), (ई) यातायात के साधनों द्वारा उपज को गावों से मण्डी तक अथवा मण्डियों से उपभोक्ताओं तक पहुचाना (Transporting), (उ) उपज की सुरक्षा के लिये उसे गोदामो मे रखना (Storing), (ऊ) उपज का थोक व्यापार करना (Wholesaling), (ए) उसका फुटकर व्यापार करना (Retailing), (ऐ) इन समस्त क्रियाओं के लिए वित्त प्रदान करना (Financing) तथा (ओ) इन सब क्रियाओ मे निहित जोखिम को उठाना (Risk Bearing)। कृषि-उपज के विपणन से सम्बन्धित इन समस्त सेवाओं को सम्भवत कृषक अथवा

अन्य कोई अभिकरण (Agency) स्वमेव नही कर सकता। हमारे देश मे इन समस्त सेवाओ को करने के लिये कृषक एव उपभोक्ता के बीच मे बहुत से मध्यस्थ हैं जिनकी स्वार्थपरता एव स्वार्थप्रवृत्तिवश भारतीय कृषि उपज की विपणन पद्धति दोषयुक्त, असगठित एव अव्यवस्थित हो गई है। 'गेहू विपणन-समिति" (Wheat Marketing Committee) के अनुसार भारत मे इन मध्यस्थो का विवरण इस प्रकार है :—(i) कृषक, जो दूसरे कृषको से उपज एकत्रित करते हैं। (ii) भूस्वामी, जो अपने काश्तकारो की ओर से उपज एकत्रित करके बेचते हैं। (iii) गाव का बनिया और महाजन। (iv) गाव गाव घूमने वाले व्यापारी। (v) कच्चा आढतिया, (vi) सहकारी दलाली दुकानें तथा (vii) पक्का आढतिया।

सुव्यवस्थित विपणन-पद्धति के गुण (Essentials of an Organised Marketing) —एक सुसगठित एव सुव्यवस्थित विपणन-पद्धति के मुख्य गुण इस प्रकार हैं :—(i) गावो से मडियो तक शीघ्र एव कम लागत पर माल पहुचाने के लिये परिवहन एव सचार के सस्ते और सुगम्य साधन होने चाहिए। (ii) समय-समय पर विभिन्न बाजारो म सर्वत्र प्रचलित भाव का ज्ञान होना चाहिये। (iii) नियन्त्रित मण्डियो मे गोदाम (Godowns) की सुविधा होनी चाहिए, जहा माल के नमूने और श्रेणी बन सके जिससे कि वस्तु के गुण के अनुसार उसका पूरा मूल्य मिल सके। (iv) उत्पादक ग्रामो के पास ही सुव्यवस्थित बाजार होने चाहिए तथा (v) कृषको मे अपनी उपज को कुछ समय तक रोकने की क्षमता होनी चाहिये जिससे कि उनकी वस्तुए उचित भाव पर बेची जा सकें।

भारत में कृषि-विपणन की वर्तमान पद्धति (Present Agricultural Marketing System in India) —हमारे देश की वर्तमान कृषि-विपणन पद्धति की सबसे बडी समस्या यह रही है कि कृषक को अपनी उपज प्रतिकूल समय, प्रतिकूल स्थान तथा प्रतिकूल मूल्य पर बेचनी पडती है। आजकल भारत मे कृषि-पदार्थों के विक्रय की प्रचलित कुछ पद्धतिया इस प्रकार हैं :—

(१) गावों में बिक्री :—हमारे देश मे कृषि-उपज का एक वृहत् भाग गांवो मे ही बेच दिया जाता है। एक अनुमान के अनुसार बिहार, बगाल और मद्रास मे धान की कुल उपज का क्रमश ८६%, ७२% और ८६% भाग गावो मे ही बेच दिया जाता है, केन्द्रीय गुजरात मे कपास की कुल उपज का ५१% भाग तथा उत्तर प्रदेश मे गहू की कुल उपज का ८०% गावो म ही बेच दिया जाता है। इसी प्रकार पूर्वी पजाब, उत्तर प्रदेश, बगाल और बिहार मे तिलहन के कुल उत्पादन का क्रमश ७०%, ७५%, ८५%, ८५% भाग तथा बगाल और बिहार मे पटसन के कुल उत्पादन का ६०% भाग गावो मे ही बच दिया जाता है। श्री० हुसैन (Hussain) ने अनुमान लगाया है कि पजाब मे ६०% गेहू, ३५% कपास तथा ७५% तिलहन गावों म ही बेच दिया जाता है तथा उत्तर प्रदेश मे ८०% गेहू, ४०% कपास तथा ७५% तिलहन गावो मे ही बेच दिया जाता है। गावो मे कृषि-उपज की बिक्री के साधारणत तीन स्वरूप होते हैं —(i) गावों मे कभी कभी

(साप्ताहिक अथवा अर्धमासिक) लगने वाली पैंठ अथवा धार्मिक अवसरों पर लगने वाले मेलों में कृषि-उपज बेची जाती है। (ii) गाँव का साहूकार अथवा महाजन कृषि-उपज को विशेष मात्रा में, मनमाने मूल्यों पर कृषकों से क्रय करके, शहर के व्यापारियों को लाभकारी दर पर बेच देता है। (iii) आढ़तियों अथवा व्यापारियों के कुछ दलाल गाँवों में ही रहते हैं जो फसल को तैयार होते ही क्रय कर लेते हैं। भारत में कृषि-उपज के एक वृहत् भाग की गाँव में बिक्री के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(i) बहुत से कृषक गाँव के साहूकार अथवा महाजन के ऋणी होते हैं। ये साहूकार और महाजन कृषकों को ऋण देते समय उनसे यह वचन ले लेते हैं कि वे अपनी फसल तैयार होते ही साहूकार अथवा महाजन को बेच देंगे। प्रायः भावी फसल का भाव ऋण देते समय ही तय कर दिया जाता है। (ii) भारत में अधिकांश कृषक बहुत छोटे-छोटे हैं। उनके पास बाजार में बेचने योग्य आधिक्य (Marketable Surplus) की मात्रा बहुत कम होती है। फलतः वे अपनी थोड़ी-थोड़ी उपज को मण्डी तक ले जाने की अपेक्षा गाँव में ही बेच देना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। (iii) हमारे देश में गाँवों और मण्डियों को एक दूसरे से मिलाने के लिये परिवहन एवं संचार के साधन अत्यन्त दोषपूर्ण, अपर्याप्त एवं अविकसित हैं। अतः गाँव से मण्डी तक फसल को लाने में पर्याप्त व्यय एवं कठिनाई से छुटकारा पाने के उद्देश्य से बहुत से कृषक अपने उत्पादन को गाँवों में ही बेच देते हैं।

(२) मण्डियों में बिक्री —यद्यपि कृषि-उपज का एक वृहत् भाग गाँवों में ही बेच दिया जाता है, तथापि कुछ कृषक अपनी बैलगाड़ी अथवा यातायात के अन्य साधनों के माध्यम से अपनी फसल को बेचने के लिये मण्डी तक लाते हैं। चूंकि हमारे देश में गाँवों को मण्डियों से मिलाने वाले परिवहन के साधन अविकसित एवं अपर्याप्त हैं, इसलिए इससे न केवल फसल की यातायात-लागत बढ़ जाती है वरन् इससे छोटे-छोटे व्यापारियों तथा मध्यस्थों की संख्या में भी वृद्धि होती है। एक अनुमान के अनुसार कृषि-उपज के मूल्य का छैवा भाग १५ मील दूर स्थित मण्डियों तक फसल को पहुँचाने में ही किराये के रूप में उठ जाता है। मण्डी में पहुँच जाने के पश्चात् कृषक अपनी उपज "कच्चे आढ़ती" के पास ले जाता है जो इसकी ढेरी करके माल खरीदने वालों को बुला लाता है। ये माल के क्रेता "पक्के आढ़ती" अथवा थोक के खरीदार होते हैं जो दूसरी मण्डियों के पक्के आढ़ती या निर्यातकर्ता व्यापारी के लिये कमीशन एजेन्ट का कार्य करते हैं। भारतीय कृषि-उत्पादन की विपणन श्रृंखला में "पक्का आढ़ती" अथवा "थोक-व्यापारी" ही वह मुख्य कड़ी है जो कि एक मण्डी अथवा क्षेत्र से उपज क्रय करके, उन्हें देश के उन भागों में भेजने की व्यवस्था करता है, जहाँ उसकी माँग होती है। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के शब्दों में, "बड़ी मण्डियों में थोक के आढ़ती द्वारा ही खाद्यान्न का व्यापार चलता है। प्रायः वह गाँव के साहूकार अथवा व्यापारी को इस शर्त पर रुपया पेशगी देता है कि वह फसल के समय पर उसके पास नियमित रूप से माल लाएगा। वह बड़े-बड़े निर्यातकर्ता व्यापारी व

सर्राफों का भी आढती होता है और इस प्रकार कृषक व निर्यातकर्ताओं के बीच मध्यवर्तियों की श्रृंखला मे एक आवश्यक कडी होता है।" सैद्धांतिक रूप से मण्डिया नियमित और अनियमित (Regulated and Unregulated)—दो प्रकार की होती हैं, परन्तु व्यवहार रूप मे हमारे देश मे अनियमित मण्डिया ही अधिक हैं। इन मण्डियो मे कपटपूर्ण पद्धतियो (Fraudulent Practices) द्वारा कृषक की उपज का एक वृहत् भाग मध्यस्थो द्वारा हडप लिया जाता है। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) ने भारतीय मण्डियों में प्रचलित कपटपूर्ण पद्धतियों का चित्रण इन शब्दो मे किया है,— "तराजू और बाट मे ऐसा परिवर्तन किया जाता है कि विक्रेता की हानि हो। कृषक की उपज मे से दान व धर्म-कार्यों के लिये, जिनका उसे कोई लाभ नहीं है, कटौती की जाती है। क्रेता बहुत सा माल नमूने के रूप मे ले जाते हैं जिसका उसे कोई मूल्य नहीं मिलता। प्राय सौदे गुप्त एव सन्देहपूर्ण किये जाते हैं। चू कि आढती का क्रेता से हर समय सम्पर्क रहता है, इसलिये वह उसी का पक्ष अधिक लेता है। माल के श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण न होने के कारण इसमे मिलावट सुगमतापूर्वक हो जाती है जिससे कि उत्तमकोटि के माल के अच्छे दाम नहीं मिल पाते।"

(३) अन्य प्रणालियां —कृषि-उपज के विपणन की उपरोक्त पद्धतियो के अतिरिक्त "सरकार द्वारा अन्न का व्यापार" तथा "सहकारी समितियो द्वारा माल की बिक्री"—विपणन की दो अन्यान्य पद्धतिया हैं जो इस समय कृषि उपज के विपणन के क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगतिशील हैं। हमारे देश मे सहकारी विपणन पद्धति (Co-operative Marketing System) और सरकारी क्रय-पद्धति (Government Purchasing System) अभी अपने शैशव काल मे हैं और अभी तक भारत मे कृषि-उपज की विपणन पद्धति असगठित, अनियमित, अनियन्त्रित, असगत एव असामयिक अधिक है।

भारतीय कृषि विपणन की वर्तमान पद्धति के मुख्य दोष (Main Defects of Modern Agricultural Marketing System in India) — हमारे देश मे कृषि-उपज के विपणन की वर्तमान पद्धति मे मुख्य दोष इस प्रकार हैं —

(१) कृषको में सगठन का अभाव (Lack of Organization in Producers) —सफल एव प्रतियोगी विपणन पद्धति मे क्रेताओ और विक्रेताओ का पृथक् पृथक् रूप से सगठित होना परमावश्यक है। भारतीय कृषि-उपज की विपणन पद्धति म कृषि-उपज के क्रेता भलीभाति सगठित होते हैं तथा उनकी *तुलना मे विक्रेता-कृषक असगठित, अव्यवस्थित एव पृथक् पृथक् सूक्ष्म-इकाइया* (Small Units) के रूप मे रहते है। परिणामत प्रतियोगिता मे सदैव कृषक-वग की हार होती है। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के शब्दों मे, "जब तक कृषक व्यक्तिगत रूप से अथवा दूसरे उत्पादकों के साथ मिलकर बिक्री का ढग नहीं सीखेगा, तब तक वह अपनी उपज के क्रेताओं से,

जिनको बहुत विशिष्ट ज्ञान है तथा जिनके पास उससे बहुत अधिक साधन हैं, कभी भी जीत नहीं सकता।"

(२) **परिवहन के दोषपूर्ण साधन** (Defective Means of Transportation) —हमारे देश मे परिवहन के साधन अभी तक अपर्याप्त, अविकसित एव दोषपूर्ण है। गावो को मण्डियों अथवा रेलवे स्टेशनो से मिलाने वाली पक्की सडको का भारत मे सर्वथा अभाव सा है। प्राय गावो और मण्डियो के बीच कच्चे मार्ग हैं जिन पर वर्षा-ऋतु मे कीचड और दलदल के कारण स्थिति और भी भयकर हो जाती है। अनेक स्थानो पर वर्षाकाल के चार महीनो मे गावो से मण्डियो को मिलाने वाले मार्ग एकदम अनुपयोगी हो जाते हैं। महाराष्ट्र की आर्थिक व औद्योगिक आपरीक्षण समिति (Economic and Industrial Survey Committee) के अनुसार महाराष्ट्र प्रदेश मे ०% क्षेत्र ऐसा है जिसमे किसी भी प्रकार की सडकों की सेवा उपलब्ध नहीं है। मानसून के समय स्थिति और भी बिगड जाती है तथा लगभग ८०% क्षेत्र किसी भी प्रकार के आवागमन के लिए नही रह जाता। इसी प्रकार त्रिपुरा और मनीपुर ऐसे राज्य हैं जहा साधारणतया किसी भी प्रकार की सडको की सुविधायें उपलब्ध नही हैं। अत ऐसी स्थिति मे वर्षाकाल म परिवहन-व्यय बहुत अधिक हो जाता है। अभी तक भारतीय ग्रामीण क्षेत्रो में रेलो का विकास नहीं हो पाया है। हमारे देश मे प्रति १०० वर्गमील क्षेत्र मे २ २ मील रेलें हैं, जबकि इगलैंड और अमेरिका मे क्रमश २२·७ मील तथा ८ ३ मील रेलें हैं। अपर्याप्त सडको एव परिवहन के उचित साधनो के अभाव मे यातायात की लागत बहुत अधिक हो जाती है और कभी-कभी यह कृषि-उपज के मूल्य का ½ वा भाग तक होती है। अत परिवहन के सस्ते, सरल एव सुविकसित साधनों के अभाव से न केवल भारतीय कृषक को अपनी उपज का कम मूल्य प्राप्त होता है वरन् कृषक व्यापारिक फसलो (Commercial Crops) के उत्पादन मे वृद्धि करने की ओर से भी हतोत्साहित हो जाता है।

(३) **प्रतिकूल परिस्थितियो में बेचने को कृषक की विवशता** (Forced Sale) —भारतीय कृषि-उपज की विपणन पद्धति का एक महत्वपूर्ण दोष यह है कि कृषक को अपनी फसल असामयिक एव प्रतिकूल परिस्थितियो मे बेचने को बाध्य होना पडता है। अधिकाश कृषक साहूकार अथवा महाजन के ऋण से मुक्ति पाने के लिये अपनी फसल कटने के तुरन्त पश्चात् ही उसे कम से कम मूल्य पर उपज बेचने को बाध्य होते हैं तथा अपनी अगली छमाही के लिए पुन उसी महाजन अथवा साहूकार से ऊचे से ऊचे मूल्य पर खाद्यान्न व अन्य आवश्यकता की वस्तुए लेने को बाध्य होते है। कृषक की इस परिवशता मे कुछ कारण इस प्रकार हैं —(अ) अधिकांश कृषक महाजन के ऋणी होते हैं जो अपने ऋण के भुगतान मे अपनी फसल को काटते ही महाजन को निम्नतम मूल्यो पर देने को विवश होते हैं। (आ) गावों से मण्डियों तक परिवहन के सस्ते, सरल व सुगम्य

साधनो के अभाव मे कृषक को अपनी फसल गाव के व्यापारी अथवा महाजन को निम्नतम मूल्य पर बेचनी पडती है। (इ) बहुत से कृषक मण्डियो की कपटपूर्ण पद्धति से बचने के लिए भी अपनी फसल को गाव मे ही कुछ कम मूल्य पर बेचना अधिक लाभदायक समझते हैं। (ई) फसल को सुरक्षित रखने के लिए माल गोदामो के अभाव की स्थिति मे भी कृषक को बाध्य होकर अपनी फसल असामयिक एव प्रतिकूल परिस्थितियो मे बेचनी पडती है। (उ) कृषक को लगान व सिचाई कर आदि देने के लिए तुरन्त नकद रुपये की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति के लिए उसे तुरन्त ही फसल बेचने को उद्यत होना पडता है। अत स्पष्ट है कि कृषक को अपनी फसल प्रतिकूल परिस्थितियो मे बेचने के कारण उचित मूल्य नही प्राप्त हो पाता।

(४) कृषि-उपज की निम्न कोटि (Low Quality of Agricultural Produce) —प्राय. कृषको को अपनी फसल का कम मूल्य मिलने का एक प्रधान कारण कृषि-उपज की निम्न कोटि का होना है। कृषि उपज की निम्न कोटि के मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(अ) निम्न कोटि के बीजो का प्रयोग करना, (आ) असामयिक अथवा अत्यधिक वर्षा, अनावृष्टि, फसलो के रोग तथा कृमि-कीटो का आक्रमण आदि प्राकृतिक प्रकोपो द्वारा फसल की कोटि को क्षति पहुचना, (इ) फसल की कटाई के दोषयुक्त ढग से अनाज के साथ मिट्टी व ककरी आदि का मिल जाना, (ई) गाव मे माल को सुरक्षित रखने की व्यवस्था का अभाव अथवा दोषपूर्ण ढग, (उ) कृषि उपज के प्रमाणीकरण (Standardisation) तथा श्रेणीकरण (Gradation) का अभाव, (ऊ) कृषि-उपज के व्यापारियो द्वारा जान बूझकर मिलावट कर देना आदि। ऐसी स्थिति मे कृषि-उपज को उसके गुण व कोटि के अनुसार किसी प्रकार का श्रेणीकरण न करके, बढिया और घटिया उपज को सम्मिलित करके, एक साथ 'ढेरे के माल" के रूप मे बेच दिया जाता है जिससे कृषको को उनकी अच्छी श्रेणी की उपज का भी उचित मूल्य नही मिल पाता।

(५) मध्यस्थो की अधिकता (Large Number of Middlemen) हमारे देश मे कृषि-उपज के वास्तविक उत्पादक एव अंतिम उपभोक्ता के बीच मध्यस्थो की एक अटूट और लम्बी शृंखला है। ये मध्यस्थ उत्पादक और उपभोक्ता दोनो वर्गों पर अपना अस्तित्व रखते हैं तथा कृषको को मिलने वाले मूल्य का एक बहुत बडा भाग हडप कर जाते हैं। गाव का साहूकार अथवा महाजन, व्यापारी, कच्चा आढतिया, पक्का आढतिया, दलाल, थोक व्यापारी, निर्यातकर्ता, फुटकर व्यापारी आदि अनेक मध्यस्थ होते हैं जिनपर उत्पादक एव उपभोक्ता दोनो वर्गों को ही निर्भर रहना पडता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा किए गए विपणन सम्बन्धी सर्वेक्षणो (Marketing Surveys) से यह विदित है कि कृषक को गेहू की बिक्री मे १ रु० मे ६३/४ आने, चावल मे ८१/२ आने, अलसी मे १० आने, आलू मे ८ आने तथा मूगफली मे केवल ७१/२ आने ही मिल पाते हैं। नारङ्गी व अङ्गूर की कुल कीमत का क्रमश १/३ और १/५ भाग ही उत्पादको को मिल पाता है। इन आकड़ो

से स्पष्ट है कि यदि कृषि-उपज के विपणन मे उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मध्यवर्तियों की लम्बी शृखला को समाप्त कर दिया जाए, तब इससे न केवल उत्पादकों को लाभ होगा वरन् उपभोक्ताओं को भी अपेक्षाकृत सस्ते मूल्यो पर वस्तुए उपलब्ध हो सकेंगी।

(६) कृषि उपज को सुरक्षित रखने के लिये खत्तियो एवं भण्डारो का अभाव (Lack of Storage and Warehousing Facilities) —हमारे देश म कृषि उपज को सुरक्षित रखने के लिये गावो तथा मण्डियो मे भण्डारो व गोदामो की पर्याप्तता है। प्राय कृषक अपनी अतिरिक्त-उपज को भूमि के अन्दर कच्ची खत्तियो मे रखता है जिनम बहुत अधिक नमी तथा चूहो अथवा अन्य कीडे-मकोडा, जैसे—घुन, दीमक आदि के द्वारा माल की पर्याप्त क्षति होती है। अनुमानत भारत मे खाद्यान्न का इस प्रकार सग्रह होने से प्रतिवर्ष २० लाख टन अन्न की क्षति होती है और अकेले गेहू मे इस प्रकार से २२ करोड रु० की वार्षिक क्षति होती है। कृषि-उपज को इस ढग से रखने पर घुन और दीमक आदि कीटो के लग जाने के कारण न केवल खाद्यान्न के पोषक-तत्वो मे क्षति होती है वरन् भावी उत्पादन पर भी इसका हेय प्रभाव पडता है, क्योंकि प्राय कृषक आगामी फसलों को बोने के लिये इसी 'सुरक्षित' अनाज को 'बीज' के रूप मे प्रयुक्त करता है। गोदामो व भण्डारो की पर्याप्त सुविधाए न होने का सबसे दुष्कर प्रभाव यह होता है कि कृषक को अपनी फसल तुरन्त, असामयिक अथवा प्रतिकूल परिस्थितियो मे बेचनी पडती है। वह अपनी उपज को कुछ समय के लिये गोदामो मे रखकर मूल्य के ऊपर उठने की प्रतीक्षा नही कर सकता। फलत कृषक को उसकी उपज का निम्नतम मूल्य उपलब्ध होता है।

(७) मूल्यो के सम्बन्ध में सूचना का अभाव (*Lack of Information Regarding Prices*) —भारतीय कृषक विभिन्न मण्डियो के दिन-प्रतिदिन के कृषि-उपजो के प्रचलित मूल्यो एव सम्भावित मूल्यो से पूर्णतया अनभिज्ञ रहता है। उसको बाजारी मूल्य जानने का एकमात्र साधन गाव का महाजन अथवा व्यापारी होता है, जो अपनी स्वार्थप्रवृत्ति एव कृषको की अज्ञानता एव विवशता से प्रेरित होकर कभी भी कृषि-उपज के मूल्यों की सही सूचना नही देता। यद्यपि कुछ वर्षों से दैनिक पत्र-पत्रिकाओ एव आकाशवाणी द्वारा बाजार की स्थिति का चित्रण किया जाने लगा है तथा कुछ राज्यों मे राज्य सरकारो ने प्रत्येक ग्राम पचायत को रेडियो प्रदान करने की व्यवस्था भी की है, तथापि अज्ञात एव निरक्षर कृषक इन सुविधाओ से पूरा लाभ नही उठा पाते। अत भारतीय कृषक मूल्यो के सम्बन्ध मे सूचना के अभाव मे सदा ही ग्रामीण महाजनो अथवा व्यापारियो द्वारा ठगा जाता है।

(८) मण्डियो की कपटपूर्ण पद्धति (Fraudulent Practices) — मण्डियो मे अनेक प्रकार की कपटपूर्ण पद्धतिया प्रचलित है जिनसे विक्रेताओं को बहुत हानि उठानी पड़ती है तथा जिनके बारे मे या तो वह अज्ञान है अथवा जानकारी

होने पर भी परिस्थितियोवश निरक्षर रहने के लिये विवश है। 'राष्ट्रीय आयोजन समिति' (National Planning Committee) की ग्रामीण बिक्री एवं वित्त सम्बन्धी रिपोर्ट (Report on Rural Marketing and Finance) के अनुसार भारतीय मण्डियों में प्रचलित कपटपूर्ण पद्धतियां मुख्यतः इस प्रकार हैं :—(अ) मण्डियों में दलाल या मध्यस्थ अथवा कच्चा आढ़तिया क्रेता और विक्रेता दोनों की ही ओर से बातचीत करता है। चूंकि प्राय आढ़तिया क्रेता का अधिक पक्ष लेता है, इसलिये इससे कृषक को हानि होने की सम्भावना रहती है। (आ) उपज के मूल्य निर्धारण में उत्पादक को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। प्राय मण्डियों में उपज का मूल्य कच्चा आढ़तिया, दलाल अथवा क्रेता कपड़े की ओट में उंगलियों के संकेतों द्वारा निश्चित करते हैं जिसमें धोखादेही और चालबाजी की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। इस प्रकार कृषक की खून-पसीने की गाढ़ी कमाई के साथ मध्यस्थों द्वारा "खेल" किया जाता है। (इ) बहुधा उपज का पर्याप्त भाग नमूने के तौर पर ले लिया जाता है और जिसके लिये कुछ भुगतान नहीं किया जाता है। (ई) अंत में मण्डियों में कृषकों से विभिन्न प्रकार के कर व कटौती, जैसे—चुंगी व व रवन्ना, आढ़त का खर्चा, तुलाई, बोरावन्दी, पल्लेदारी, गौशाला, पाठशाला, रामलीला, प्याऊ तथा शागिर्दी, चौकीदार, भंगी, ब्राह्मण, मुनीम, भिश्ती व भिखारी के लिये पृथक् पृथक् रूप से एक बड़ी रकम हड़प ली जाती है। एक अनुमान के अनुसार विभिन्न मण्डियों में की जाने वाली यह कटौती २½ रु० % से लेकर ८ रु० % तक है। इस प्रकार भारतीय मण्डियों में प्रचलित कपटपूर्ण पद्धतियों के अन्तर्गत कृषि-उपज का एक बड़ा मूल्य मध्यस्थों की जेब में जाता है। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के शब्दों में,—"**मण्डियों में प्रचलित ये कपटपूर्ण पद्धतियां** (Fraudulent Practices) **किसी भी प्रकार खुली चोरी से कम नहीं हैं।"**

विपणन पद्धति के दोषों को दूर करने के उपाय (Suggestions for Removing the Defects of Marketing System) :— कृषि-उपज की वर्तमान पद्धति के दोषों को दूर करने के लिये दो ही रीतियां हैं —(अ) मंडियों को नियन्त्रित किया जाए (To Regulate Markets) तथा (आ) सहकारी विपणन को प्रोत्साहन दिया जाए (To Develop Co-operative Marketing)। सर्वप्रथम शाही कृषि आयोग" (Royal Commission on Agriculture) ने भारतीय कृषि-विपणन पद्धति के दोषों का अध्ययन करके उन्हें दूर करने के लिये आवश्यक सुझाव प्रस्तुत किए। इसके पश्चात राष्ट्रीय आयोजन समिति (National Planning Committee) ने कृषि-विपणन पद्धति का पुन अध्ययन किया, परन्तु स्थिति को पूर्ववत् पाया। सन् १९४९ में कांग्रेस की भूमि सुधार समिति (Congress Land Reforms Committee) ने कृषि विपणन पद्धति के दोषों को दूर करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। इस अवधि में केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (Central Banking Enquiry Committee), 'विपणन उप-समिति' (Marketing

Sub-Committee), "कृषि-वित्त उप-समिति" (Agricultural Finance Sub-Committee) "सहकारी आयोजन समिति" (Co-operative Planning Committee) तथा ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) आदि अनेक जाच समितियों ने भारत मे प्रचलित कृषि-विपणन पद्धति के दोषों का अध्ययन करके आवश्यक सुझाव प्रस्तुत किये। सन् १९५३ मे अखिल भारतीय विपणन अधिकारी सम्मेलन (All India Marketing Officers Conference) ने राज्य सरकारों को कृषि-विपणन की विकास योजनाएं तैयार करने तथा इन योजनाओं को केन्द्रीय सस्था द्वारा समन्वित करने का सुझाव दिया। सक्षेप मे वर्तमान कृषि-विपणन पद्धति के दोषों को दूर करने के लिये मुख्य सुझाव तथा इस सम्बन्ध मे भारतीय सरकार द्वारा किए गए कार्यक्रम इस प्रकार हैं —

(१) मण्डियों को नियन्त्रित करना (To Regulate Makets) — भारतीय मण्डियो मे प्रचलित कपटपूर्ण पद्धतियों (Fraudulent Practices) को रोकने के लिये मण्डियो का नियन्त्रण एव नियमन अति आवश्यक है। सर्वप्रथम सन् १८९७ मे बरार मे 'बरार कपास व गल्ला मण्डी अधिनियम' (Berar Cotton and Grain Markets Law) के अनुसार कपास के लिये नियन्त्रित मण्डी स्थापित की गई। सन् १९२६–२७ तक इस क्षेत्र म विशेष प्रगति नही हुई। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) ने नियन्त्रित-मण्डियों की स्थापना पर अत्यधिक बल डाला जिसके फलस्वरूप मद्रास मे सन् १९३३ मे, मध्य प्रदेश म सन् १९३२ म तथा हैदराबाद मे सन् १९३६ मे नियन्त्रित मडिया स्थापित की गई। इस समय १० राज्यो मे "State Agricultural Produce (Markets) Act" के अन्तर्गत बाजारो मे विपणन का नियमन किया जाता है। खेद का विषय यह है कि इस क्षेत्र मे अभी आशातीत सफलता प्राप्त नही हुई है। अभी तक उत्तर प्रदेश, बिहार, उडीसा, पश्चिमी बगाल जैसे बड़-बड़े राज्यो मे मडियों को नियन्त्रित करने की ओर कोई कदम नहीं उठाया गया है। सन् १९६०-६१ तक देश की कुल २,५०० मडियो मे से केवल ७०७ मडियो का ही नियमन किया जा सका है। तीसरी योजना के अन्त तक देश की समस्त मडियो को नियमित करने का प्रस्ताव रखा गया है। नियन्त्रित मडियो मे सरकार द्वारा नियुक्त बाजार-अधिकारी (Marketing Officers) तथा निरीक्षक (Inspectors) गेहूं, कपास, तिलहन तथा अन्य महत्वपूर्ण वस्तुओं की बिक्री का अवलोकन (Survey) करते हैं। भारत के विभिन्न भागों मे नियन्त्रित मण्डियो की धीमी प्रगति एव शिथिलता के मुख्य कारण दो रहे हैं —(अ) जिन राज्यो म मण्डियों को नियन्त्रित करने का प्रश्न उठाया गया है, वहा बड़े-बड़े व्यापारियों एव मध्यस्थों ने सरकार की इस नीति का विरोध किया है तथा प्रतिस्पर्धा द्वारा अनेक बाधाए उपस्थित करने के प्रयत्न किये हैं। (आ) अनेक विद्वानों, जाच-समितियों और आयोगो की ओर से सिफारिश किए जाने पर भी राज्य सरकारो ने नियन्त्रित मडियो के महत्व एव उपयोगिता की सर्वथा उपेक्षा की है।

(२) उपज का प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण (Standardisation and Gradation of the Produce)— अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे भारतीय कृषि-उपज का उचित मूल्य प्राप्त करने के लिये एव देश की कृषि-विपणन पद्धति मे आवश्यक सुधार लाने के लिए कृषि-उपजो का प्रमाणीकरण व श्रेणीकरण नितान्त वाछनीय है। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर भारतीय सरकार ने सन् १६३७ मे 'कृषि-उपज श्रेणीयन व बिक्री अधिनियम' [Agriculture Produce (Grading and Marketing) Act] पास किया। इस अधिनियम के अनुसार विपणन अधिकारियो के निरीक्षण मे कृषि-पदार्थों का श्रेणीकरण करने के पश्चात् इन पर 'एगमार्क' (Agmark) का लेबिल लगा दिया जाता है। सन् १६४२–४३ मे इस अधिनियम को सशोधित किया गया जिसके पश्चात् इस कानून के अन्तर्गत घी, अण्डा, आटा, तिलहन, गुड, कपास, तम्बाकू, लाख, चमडा, गेहू, ऊन, कहुवा आदि वस्तुओ का श्रेणीकरण किया जाने लगा है। सन् १६५३ मे अखिल भारतीय कृषि-विपणन अधिकारियो के सम्मेलन (All India Agricultural Marketing Officers' Conference) मे कृषि-पदार्थों के श्रेणीकरण तथा राज्य सरकारो द्वारा प्रचलित एगमार्क लेबिल (AGMARK LEVEL) द्वारा श्रेणीकरण का जोरदार प्रचार करने की सिफारिश की गई। एक अनुमान के अनुसार इस समय देश मे ८०० Grading Stations तथा १,६२० Packers कार्यरत हैं। वस्तुओ की शुद्धता एव गुण परखने के लिए नागपुर मे एक केन्द्रीय गुण नियन्त्रण प्रयोगशाला (Central Quality Control Laboratory) स्थापित की गई है तथा निकट भविष्य मे इसकी सहायक आठ प्रादेशिक प्रयोगशालाए और स्थापित करने का आयोजन रक्खा गया है।

(३) माप विधि तथा बाटो में सुधार — कुछ समय पूर्व तक देश की विभिन्न मण्डियो मे बाटो मे बहुत विभिन्नता पाई जाती थी। प्रमाणिक बाटो के प्रचलन से सम्बन्धित सर्वप्रथम सन् १६३६ मे भारत सरकार ने एक अधिनियम पास किया जिसके अनुसार बम्बई मे "मिन्ट मास्टर" द्वारा प्रमाणिक बाटो को ढालकर देशभर मे वितरित किया गया। परन्तु इस व्यवस्था से भी मण्डियो मे अप्रमाणिक बाटो के प्रचलन मे कमी नही हुई। अत भारतीय प्रमाण सस्था (Indian Standard Institution) ने देश म बाटो के प्रमाणीकरण के लिए मेट्रिक प्रणाली (Metric System) अपनाने पर जोर दिया। फलत १ अक्टूबर सन् १६५८ से देश के कुछ भागो मे "बाटो व मापो की दाशमिक प्रणाली" (Metric System of Weight and Measures) लागू की गई। इस प्रणाली को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध म उचित कार्यक्रम निर्धारित करने तथा कानून आदि की रूपरेखा के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करने का कार्य एक स्थायी-समिति को सौप दिया गया है। १ अप्रैल सन् १६६२ से भारत सरकार ने मट्रिक-प्रणाली को अनिवार्य रूप से लागू कर दिया है। आशा है कि इस पद्धति के प्रचलन से मण्डियो के अनेक दोष स्वत: ही दूर हो जायेंगे।

(४) मूल्य परिवर्तनों की सूचना की सुविधायें प्रदान करना — कृषि-उपज के दिन-प्रतिदिन के परिवर्तित मूल्य सम्बन्धी सूचना के प्रसरण की व्यवस्था की जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त कृषि-विपणन पद्धति को व्यवस्थित, सगठित एव सुनियोजित बनाने के लिये विपणन सर्वेक्षण (Marketing Surveys) तथा मूल्य-प्रसार (Price Spreads) के विश्लेषण आदि से सम्बन्धित अनुसधान (Research) कार्य भी किये जाने चाहिये। इस समय केन्द्रीय सरकार के विपणन विभाग द्वारा प्रतिदिन शाम को अखिल भारतीय रेडियो (All India Radio) से विभिन्न कृषि उपजो के मूल्य प्रसारित किये जाते हैं। द्वितीय योजना-काल मे मुख्यत कृषको को बाजार सम्बन्धी हलचलो से सूचित कराने के उद्देश्य से एक अखिल भारतीय बाजार समाचार-सेवा (All India Market News Service) को सगठित किया गया। दैनिक समाचार-पत्रो मे भी प्रमुख मण्डियो के भाव प्रकाशित किये जाते हैं। कुछ राज्यो म राज्य सरकारो द्वारा ग्राम-पचायतो के लिए समाचार पत्रो एव रेडियो की व्यवस्था की गई है। फिर भी कृषि उपजो की मूल्य सम्बन्धी सूचनाओ को प्रसारित करने के लिये एक व्यवस्थित एव व्यापक कार्यक्रम अपनाने की आवश्यकता है जिससे कि देश का प्रत्येक किसान लाभान्वित हो सके।

(५) सुरक्षित गोदामो की सुविधा : —चूकि भारतीय कृषक के पास अपनी उपज को सुरक्षित रखने के लिये पर्याप्त एव सुयोग्य खत्तियो अथवा गोदामो का अभाव है, इसलिये उसे विवश होकर अपनी फसल प्रतिकूल परिस्थितियो मे सस्ते मूल्य पर बेचनी पडती है। अत. कृषक को उसकी उपज का पूरा मूल्य दिलाने के लिए जहा अन्य साधन अपेक्षित हैं, वही पर सुरक्षित गोदामों का निर्माण भी एक आवश्यक साधन होगा। इस उद्देश्य को लेकर ही भारत सरकार ने सर्वप्रथम सन् १९४४ मे एक गोदाम-सचालन विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग के अन्तर्गत बम्बई, विशाखपत्तनम्, कोयम्बटूर आदि शहरो तथा मध्य प्रदेश और उडीसा आदि प्रदेशो मे अनेक बडे-बडे गोदामो का निर्माण किया गया। अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिश के आधार पर भारत सरकार ने सन् १९५६ मे 'कृषि-उपज (विकास तथा भण्डार) निगम अधिनियम" [Agricultural Produce (Development and Warehousing) Corporation Act] पास किया। इस एक्ट के अन्तर्गत १ सितम्बर सन् १९५६ को राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भण्डार मण्डल (National Co-operative Development and Warehousing Board) तथा २ मार्च १९५७ को केन्द्रीय भण्डार निगम (Central Warehousing Corporation) की स्थापना की गई। मार्च १९६० के अन्त तक १३ राज्यों मे इसी प्रकार के भण्डार निगम स्थापित किए जा चुके हैं। राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भण्डार मण्डल राष्ट्रीय-स्तर पर नीति का निर्माण करने तथा वित्त प्रदान करने वाली सस्था है। इसका मुख्य कार्य सहकारी समितियों एव भण्डार निगमों द्वारा कृषि-उपज के

विधायन (Processing), विपणन, संग्रहण तथा आयात व निर्यात करने को आयोजित एवं उत्साहित करना है। यह मण्डल राज्य सरकारों एवं राज्य भण्डार निगमों को अर्थ-सहायता भी प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त 'भारत अमेरिका प्राविधिक सहकारी योजना' (Indo-U. S Technical Co-operative Programme) के अन्तर्गत पुरातन कोटि के गोदामों को आधुनिकतम बनाया जा रहा है। द्वितीय योजना के अन्त तक मंडी केन्द्रों में लगभग १,६७० तथा ग्रामीण-क्षेत्रों में लगभग ४,१०० गोदाम स्थापित किए जा चुके थे। तीसरी योजना के अन्तर्गत मण्डी-केन्द्रों में ६६० तथा ग्रामीण क्षेत्रों में ६२०० अतिरिक्त गोदामों के निर्माण का लक्ष्य रक्खा गया है। योजनाकाल में गोदाम-निगमों की भण्डार-क्षमता ३.५ लाख टन से बढ़ाकर १६ लाख टन तथा सहकारी समितियों के गोदामों की क्षमता ८ लाख टन से बढ़ाकर २० लाख टन कर देने का आयोजन है।

(६) परिवहन के साधनों का विकास—भारतीय कृषि विपणन पद्धति की अव्यवस्था एवं विघटितता (Disorganisation) को दूर करने के लिये यह परमावश्यक है कि देश में व्यापक स्तर पर परिवहन के सस्ते एवं सरल साधनों का विकास किया जाये। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक गाँव को पक्की सड़कों द्वारा मण्डी से मिलाना राज्य का प्रथम ध्येय होना चाहिये। परिवहन के साधनों की पर्याप्तता के साथ-साथ उनके किराये भाड़े की दरों का सस्ता होना भी नितान्त आवश्यक है। शीघ्रनाशक कृषि उपजों को मण्डी तक ले जाने के लिये शीघ्रगामी परिवहन के साधनों का विकास किया जाना चाहिये। हमारे देश में परिवहन के साधनों का विकास करने के उद्देश्य से एक २० वर्षीय योजना बनाई गई है। इस योजना की अवधि सन् १९६०-६१ से लेकर सन् १९८०-८१ तक होगी। इसके मुख्य लक्ष्य इस प्रकार हैं —(क) एक विकसित कृषि क्षेत्र का गाँव पक्की सड़क से ४ मील अथवा अन्य किसी भी प्रकार की सड़क से १½ मील से अधिक दूरी पर न रह जाये। (ख) अर्धविकसित क्षेत्र का गाँव पक्की सड़क से ८ मील अथवा अन्य किसी भी प्रकार की सड़क से ३ मील से अधिक दूरी पर न रह जाये तथा (ग) अविकसित एवं गैर-कृषि क्षेत्र का गाँव पक्की सड़क से १२ मील अथवा अन्य किसी भी प्रकार की सड़क से ५ मील से अधिक दूरी पर न रह जाये। इन लक्ष्यों को प्राप्त कर लेने पर प्रति १०० वर्ग मील के पीछे देश में ५२ मील सड़कें हो जायेंगी, जबकि आजकल केवल १३ मील ही है। इस प्रकार योजना के पूर्ण हो जाने पर यह आशा की जाती है कि परिवहन सम्बन्धी समस्या किसी सीमा तक पर्याप्त सरल हो जायेगी।

(७) सहकारी विपणन समितियों को संगठित करना (Establishment of Co-operative Marketing Societies) —भारतीय कृषकों को संगठित करने, उन्हें अपने मूल्य का उचित मूल्य दिलाने, उत्पादक और अन्तिम उपभोक्ता के बीच मध्यस्थों को समाप्त करने तथा मण्डियों की कपटपूर्ण पद्धति से कृषक को बचाने के लिये सहकारी विपणन समितियों को व्यापक स्तर पर संगठित करना नितान्त आवश्यक है। सहकारी विपणन समितियों को सफल बनाने के लिये

उनकी कार्यप्रणाली को कृषि-साख समितियों (Agricultural Credit Societies) के साथ समन्वित कर देना और भी उत्तम होगा। इस प्रकार भारतीय कृषक की अनेक समस्याओं का समाधान हो जायेगा। सहकारी विपणन समितियाँ न केवल कृषक को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने में सफल होंगी वरन् उसमें सहभागिता एवं सह-अस्तित्व की भावनाओं को परिपूर्ण करके उसके सामाजिक एवं नैतिक जीवन को ऊंचा उठाने में भी सफल सिद्ध होंगी। इस प्रकार सहकारी विपणन समितियाँ भारतीय कृषक को निर्धनता निरीहता एवं ऋणग्रस्तता से छुटकारा दिलाकर उसके जीवन-स्तर को ऊंचा उठा सकेंगी। हमारे देश में पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सहकारी विपणन समितियों को संगठित करने का व्यापक कार्यक्रम रक्खा गया है।

सहकारी विपणन (Co-operative Marketing)

अर्थ—समाजवाद और लोकतंत्र के मूल्यों पर आधारित एक योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में सहकारिता आर्थिक जीवन की अनेक शाखाओं के संगठन का मूलभूत आधार है। सहकारी विपणन भी आर्थिक जीवन की एक मुख्य शाखा की संगठित इकाई है। "जब कुछ उत्पादक अपनी-अपनी उपज को व्यक्तिगत रूप से पृथक् पृथक् न बेचकर, एक सहकारी विपणन समिति के आयोजन द्वारा संयुक्त रूप से बेचते हैं, तब इसे सहकारी विपणन कहते हैं।" 'शाही-कृषि आयोग' (Royal Commission on Agriculture) ने सहकारी विपणन समितियों को महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की है—"आदर्श उद्देश्य यह है कि सहकारी विपणन समितियाँ कृषकों को अपनी उपज का उत्पादन करने और उसे तैयार करने के लिए शिक्षित करेंगी और बिक्री के लिये पर्याप्त मात्रा में उपज प्रदान कर सकेंगी जिससे कुशल श्रेणीकरण भी हो सकेगा और भारतीय उत्पादकों को निर्यात बाजार से सीधा सम्बन्धित कर देंगी*।"

सहकारी विपणन समितियों का संगठन— सहकारी विपणन समितियों का संगठन अनेक प्रकार से होता है —(i) कुछ समितियाँ प्रत्यक्ष रूप से अपने सदस्यों से उपज क्रय करके एकत्रित कर लेती हैं, तत्पश्चात् उपज का उचित श्रेणीकरण करके अपनी इच्छानुसार बेच देती हैं। इन समितियों को जो लाभ प्राप्त होता है वह वर्ष के अन्त में सदस्यों को वार्षिक लाभांश के रूप में वितरित कर दिया जाता है। (ii) कुछ विपणन समितियाँ हिस्सा-पूंजी (Share Capital) द्वारा संगठित की जाती हैं तथा हिस्सा-पूंजी पर एक निश्चित दर पर ब्याज दिया जाता है। (iii) कुछ समितियों का संगठन केवल इस आधार पर होता है कि सदस्यों से हिस्सा-पूंजी लेने की अपेक्षा एक निश्चित अवधि तक अपनी

* "The ideal to be aimed at is, therefore, that co-operative sale societies which will educate the cultivator in the production and preparation of his produce, will provide for market a sufficient volume of produce to make efficient grading possible and will bring the Indian producer into direct touch with the export market

—*Royal Commission on Agriculture.*

उपज को बेचने के लिये समिति को देने का वचन ले लिया जाता है। (iv) कुछ विपणन समितियां अपने सदस्यों की उपज को पृथक् पृथक् रूप से कमीशन के आधार पर बेचती हैं।

सहकारी विपणन समिति के कार्य—सहकारी विपणन समिति के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं — (i) समिति अपने सदस्यों से कृषि-उपज एवं गृह-उद्योगों के उत्पादित माल को एकत्रित करके, उसका श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण करके उसे अपने सहकारी-संघों (Co-operative Federations) को बेचने के लिये दे देती है। (ii) समिति अपने सदस्यों को उनके उत्पादित माल के बदले में ऋण प्रदान करती है। (iii) समिति अपने सदस्यों के उत्पादित माल को बेचने के लिये प्रतिनिधि (Representative) का कार्य करती है। उत्तर प्रदेश और बिहार की गन्ना समितियां यही कार्य करती हैं। (iv) समिति अपने सदस्यों को उत्तम कोटि का माल उत्पादित करने के लिये प्रेरित एवं प्रोत्साहित करती है। (v) कुछ विपणन समितियां विक्रय के साथ-साथ अपने सदस्यों को ऋण तथा अन्य सुविधाएं भी प्रदान करती हैं। हमारे देश में मद्रास राज्य की विपणन समितियां इस दृष्टि से प्रशंसनीय हैं। (vi) अन्त में सहकारी विपणन समितियां स्कूल, अस्पताल तथा सड़कों आदि के निर्माण में सहयोग प्रदान करके समाज-सेवा (Social Service) का कार्य भी करती हैं।

सहकारी कृषि-विपणन के लाभ:—सहकारी कृषि-विपणन के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं —(i) *उत्पादक और उपभोक्ता के बीच निकट सम्बन्ध*—सहकारी विपणन समितियों की स्थापना से उत्पादक और उपभोक्ता के बीच की मध्यस्थों की लम्बी शृंखला टूट जाती है। फलतः उत्पादकों और उपभोक्ताओं में निकट का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इससे एक ओर उत्पादकों को अपनी उपज का पूरा मूल्य मिल जाता है तथा दूसरी ओर उपभोक्ताओं को पहले की अपेक्षा सस्ती दर पर तथा उत्तमकोटि का माल प्राप्त हो जाता है। (ii) **उत्पादकों की सौदा करने की शक्ति में वृद्धि**—विपणन समिति एकाधिकारी थोक व्यापारियों में समानता के स्तर पर सौदा करके अपने सदस्यों की उपज को अच्छे मूल्य पर बेच सकती है। इस प्रकार सहकारी विपणन समितियां उत्पादक विक्रेताओं में सौदा करने की शक्ति (Bargaining Capacity) में वृद्धि लाती हैं। (iii) **मध्यस्थों का अन्त**—सहकारी विपणन समितियों की स्थापना से उपभोक्ता और उत्पादक दोनों वर्गों के बीच शोषणकर्त्ता मध्यस्थों (Middle Men) का अन्त हो जाता है। विपणन समिति सदस्य उत्पादकों की उपज को एकत्रित करके सीधे थोक बाजारों में अथवा उपभोक्ता सहकारी समितियों को बेचती है। (iv) **कृषकों को मण्डियों की धोखेबाजी से बचाना**:—*सहकारी विपणन समिति अपने सदस्य-उत्पादकों को,* उचित सलाह देकर उन्हें अनियमित मण्डियों में चलने वाली धोखेबाजी से बचाती हैं। यही नहीं, इन समितियों के सगठित हो जाने पर कृषकों की माल बेचने की शक्ति और समय की पर्याप्त बचत होती है। (v) **माल का श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण**.— विपणन समितियां अपने सदस्य-उत्पादकों के माल का उचित श्रेणीकरण व

प्रमाणीकरण करती हैं। इससे न केवल उपभोक्ताओं को उत्तम कोटि का माल मिल पाता है वरन् कृषि-उपज की विपण्यता (Marketability) भी बढ़ती है जिससे प्रेरणा पाकर कृषक अधिक मेहनत व सलग्नता से उत्पादन-कार्य करते हैं। (vi) **उपभोक्ताओं को लाभ** —सहकारी-विपणन समिति एक व्यक्तिगत उत्पादक की तुलना मे उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं व रूचियो का अध्ययन करने मे अधिक सफल सिद्ध होती है। अत विपणन समिति बाजार की माग का अवलोकन करके सदस्य-उत्पादको को उन्ही वस्तुओ के उत्पादन के लिये प्रोत्साहित करती है। (vii) **वस्तु-पूर्ति पर नियन्त्रण** —विपणन समिति बाजार मे आने वाली उपज की पूर्ति को नियन्त्रित करके उसकी कीमत को बढा सकती है तथा फसल पकने के समय, बाजार मे पूर्ति की अधिकता के कारण जो अन्यथा मूल्य मे भारी कमी आ जाती है, उसे रोककर मूल्य मे स्थिरता (Stability in Price) लाती है। इस प्रकार समिति सदस्य-उत्पादको को अपनी उपज का बहुत ऊचा मूल्य दिलवाने मे सफलता प्राप्त करती है। (viii) **विपणन सम्बन्धी सेवाओं मे मितव्ययिता** —एक सहकारी विपणन समिति बहुत बडी मात्रा मे व्यापार प्राप्त करती है। इस प्रकार उपज की ढुलाई, उसे स्टोर करना, ग्रेड देना तथा उसका विधायन (Processing) आदि विपणन सम्बन्धी सेवाए उत्तम ढग से तथा मितव्ययितापूर्वक की जाती हैं। (ix) **कृषि-उपज का सुरक्षित सग्रह** —सदस्य-कृषको को असामयिक एव प्रतिकूल परिस्थितियों मे उपज बेचने से रोकने के लिये सहकारी विपणन समिति गोदाम (Godowns) बनवाकर कृषि-उपज का सुरक्षित सग्रहण कर सकती है। यही नही, समिति इस सग्रहित उपज के आधार पर अधिक सरलतापूर्वक ब्याज की नीची दर पर रुपया उधार लेकर सदस्य-उत्पादको की तत्कालीन साख सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। (x) **विज्ञापन एव प्रचार** —सहकारी विपणन समिति सदस्य-कृषको की उपज का विज्ञापन (Advertisement) एव प्रचार (Propaganda) करके उसके बाजार के क्षेत्र को बढा सकती हैं तथा इस प्रकार सदस्यो की उपज की माग को व्यापक एव प्रभावोत्पादक (Effective) बनाकर उन्हे अधिक उत्पादन करने के लिये प्रोत्साहित करती है। (xi) **कृषकों मे सहकारिता की शिक्षा का प्रचार** —अन्त मे सहकारी विपणन समिति कृषको को सहकारी प्रयत्न एव व्यापार करने की विधियो मे महत्वपूर्ण प्रशिक्षा प्रदान करके उनके जीवन मे सामाजिकता तथा भ्रातृत्व की भावना का उदय करती है।

सहकारी विपणन की सफलता की आवश्यक शर्तें —सहकारी विपणन 'सहकारी विपणन समिति" की सफलता पर आधारभूत है। सहकारी विपणन समिति की सफलता के लिये कुछ आवश्यक शर्तें इस प्रकार हैं — (i) समिति को बडी मात्रा मे व्यापार प्राप्त होना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि (अ) किसी क्षेत्र के अधिकाधिक कृषक विपणन समिति की सदस्यता ग्रहण करें तथा (आ) समिति के सदस्य अपनी समस्त उपज विपणन समिति के द्वारा ही बेचें। (ii) समिति का प्रबन्ध कुशलता पूर्वक एव मितव्ययितापूर्वक होना चाहिये।

(iii) समिति के पास पर्याप्त मात्रा मे पूजी होनी चाहिये जिससे कि उसकी कार्य पद्धति सुचारू रूप से प्रवाहित होती रहे। (iv) समिति को अपने प्रति सदस्यो मे धैर्य एव विश्वास उत्पन्न करना चाहिये तथा (v) विपणन समिति को नगरो मे स्थापित उपभोक्ताओ की सहकारी समितियो से प्रत्यक्ष व्यापार करना चाहिये।

भारत मे सहकारी विपणन—भारत मे सर्वप्रथम सन् १९१२ के सहकारी समिति अधिनियम (Co-operative Societies Act) के अन्तर्गत सहकारी विपणन समितियो को सगठित करने की व्यवस्था की गई थी। सहकारी विपणन समितियो को विभिन्न उद्देश्यो के आधार पर ४ भागो मे विभाजित किया जाता है —(अ) कृषि-उपज का क्रय विक्रय करने वाली समितिया, (आ) कृषि-उत्पादन और विक्रय समितिया, (इ) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन को क्रय-विक्रय करने वाली समितिया तथा (ई) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन और विक्रय समितिया। हमारे देश मे केवल एक ही वस्तु का क्रय-विक्रय करने वाली समितियो की सख्या सर्वाधिक है। इनमे उत्तरप्रदेश और बिहार की गन्ना विपणन तथा विकास सहकारी समितिया (Sugarcane Marketing and Development Co-operative Societies) तथा महाराष्ट्र की "कपास ओटने वाली तथा उसको साफ करने वाली समितिया," (Cotton Ginning and Processing Societies) अधिक प्रमुख है। हमारे देश मे सहकारी विपणन की सरचना (Structure) स्तूप (Pyramid) के आकार जैसी है। इसमे सबसे नीचे प्राथमिक सहकारी विपणन समितिया (Primary Co operative Marketing Societies) हैं। इनका कार्यक्षेत्र एक तहसील है। ये समितिया (i) उत्पादको से माल क्रय करके बेचती हैं अथवा उनके एजेन्ट का कार्य करती है, (ii) उपज की धरोहर पर सदस्यो को ऋण प्रदान करती है तथा (iii) सदस्यो मे उन्नत बीजो व उवरको का वितरण करके उन्नत खेती से सम्बिन्धित सेवाए प्रदान करती हैं। प्राथमिक समितियो के ऊपर केन्द्रीय विपणन सघ (Marketing Unions and Federations) हैं जिनका कार्य कृषि उत्पादन एव अन्य वस्तुओ का क्रय विक्रय करना तथा प्रारम्भिक समितियो को ऋण एव अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करना है। इनके सदस्य व्यक्ति तथा समितिया दोनो ही हो सकते है। सबसे ऊपर राज्य विपणन समितिया (State Marketing Societies) है जिनका कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण राज्य (Province) होता है। इनका कार्य, (i) स्वतत्र रूप से क्रय विक्रय करना, (ii) राज्य के केन्द्रीय सघो एव प्रारम्भिक समितियो को ऋण एव अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करना, (iii) उन पर नियत्रण रखना तथा (iv) राज्य म सहकारी विपणन के कार्य मे सामन्जस्य (Co-ordination) उत्पन्न करना है। ३० जून सन् १९६० को देश मे प्राथमिक समितियो की सख्या १,५०१ थी। इनम से उत्तरप्रदेश मे ५०५, पश्चिमी बगाल मे ३०१, गुजरात म १२७, मैसूर मे २३३ और आन्ध्र प्रदेश मे २०४ विपणन समितिया थी। इन समितियो की सदस्य सख्या ११ ८४ लाख और कार्यशील पूजी (Working Capital) १८ ५८ करोड रु० थी।

सन् १६५६-६० मे प्राथमिक सहकारी विपणन समितियो ने लगभग २१ १२ करोड रु० का माल स्वतन्त्र उत्तरदायित्व पर तथा २५'५२ करोड रु० का माल सदस्यो के एजेन्टों (Agents) के रूप मे बचा। ३० जून सन् १६६० को केन्द्रीय विपणन सघो की सख्या ५११ थी, जिनम से उत्तर प्रदेश मे ७९, महाराष्ट्र मे २२२, गुजरात मे १६३, हिमाचल प्रदेश मे ५ और आन्ध्र प्रदेश मे १४ विपणन सघ थे। इसी समय भारत म राज्य विपणन समितियो की सख्या २१ थी। सन् १६६०-६१ तक देश भर म १,८६६ प्रारम्भिक क्रय विक्रय समितिया थी। तीसरी योजना मे ६०० अतिरिक्त प्रारम्भिक क्रय विक्रय समितियो की स्थापना का लक्ष्य रक्खा गया है। इस प्रकार तीसरी योजना के अत तक यह आशा की गई है कि देश की २ ५०० मडियों म से प्रत्येक म अथवा प्रत्येक के पास एक सहकारी विक्रय समिति हो जाएगी। एक अनुमान के अनुसार बिक्री समितियो द्वारा प्रतिवर्ष कृषि-उपज सम्बन्धी कुल व्यापार (Total Volume of Agricultural Business) इस समय लगभग २०० करोड रुपये का किया जा रहा है। तृतीय योजना के अन्त तक इस *व्यापार के परिमाण मे वृद्धि ४०० करोड रुपये तक हो जाने की आशा* है। हमारे देश मे सहकारी विपणन के क्षेत्र मे सर्वाधिक प्रगति उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार व मद्रास राज्यों ने की है। यद्यपि पश्चिमी बगाल की धान व पटसन की विक्रय समितियों को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है, परन्तु महाराष्ट्र और गुजरात म कपास की विक्रय समितियो की सफलता उल्लेखनीय है। उत्तर प्रदेश की "गन्ना विपणन समितिया" कारखाना म प्रयुक्त होने वाले गन्ने का ८०% भाग बेचती हैं, सदस्यो को बीज और उर्वरक प्रदान करती हैं तथा उन्हें खेती के लिये ऋण प्रदान करती हैं। गन्ना-विपणन समितियो के अतिरिक्त उत्तर-प्रदेश की "घी की विपणन समितिया" भी पर्याप्त सफल रही हैं।

भारत में कृषि-उपज के सहकारी विपणन की धीमी प्रगति के कारण (Main Causes of the Slow Progress of Agricultural Co-operative Marketing in India) :—हमारे देश मे सहकारी विपणन की धीमी प्रगति के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(i) **सहकारी आन्दोलन की एकागी प्रगति** (One-sided Development of Co-operative Movement) — भारत मे सहकारी आन्दोलन ने सर्वाधिक प्रगति सहकारी साख क्षेत्र मे की है तथा सहकारी विपणन को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया। अत सहकारी-आन्दोलन की एकागी प्रगति सहकारी विपणन की धीमी प्रगति का प्रमुख कारण रही है। (ii) **विपणन की आधारभूत अविकसित दशायें** (Undeveloped Basic Conditions of Marketing)— हमारे देश मे विपणन की आधारभूत अविकसित दशायें सहकारी विपणन की तीव्र गति से प्रगति मे दूसरा मुख्य अवरोधक रही हैं। देश मे विपणन की आधारभूत अविकसित दशायें इस प्रकार हैं —(अ) परिवहन एव सचार के साधन अविकसित एव अपर्याप्त हैं। (आ) देश मे कृषि-उपजो के सर्वमान्य प्रमाप (Standards) तथा प्रमाणित ग्रेड

(Grades) नहीं है तथा (इ) कृषि-उपज को सुरक्षित रखने के लिए भंडारों (Godowns) की अपर्याप्तता है। विपणन की इन समस्त आधारशिलाओं की अविकसित अवस्था के परिणामस्वरूप सहकारी विपणन के क्षेत्र में भी आशातीत प्रगति नहीं हो सकी है। (iii) सहकारी विपणन समितियों की कार्य-सचालन सम्बन्धी कठिनाइयाँ —भारत में सहकारी विपणन समितियों की कार्यसंचालन एवं कार्यपद्धति की अनेक कठिनाइयों एवं समस्याओं के परिणामस्वरूप भी सहकारी विपणन के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति नहीं हो सकी है। ये समस्याएँ एवं कठिनाइयाँ मुख्यत इस प्रकार हैं —(अ) समितियों की बाजार सम्बन्धी हलचलों के सम्बन्ध में अज्ञानता (आ) गाँव के महाजनों एवं व्यापारियों का कृषकों पर ऋणभार तथा प्रभुत्व, (इ) सदस्यों की समितियों के प्रति गैर वफादारी (Disloyalty), (ई) कृषकों की अज्ञानता एवं निरक्षरता, (उ) व्यापारियों व अन्य निहित हितों (Vested Interests) का इन समितियों से असहयोग एवं प्रतिद्वन्दिता, (ऊ) प्रशिक्षित एवं कार्यकुशल प्रबन्धकों का अभाव, (ए) प्राथमिक विपणन समितियों तथा उपभोक्ता समितियों के बीच पारस्परिक सहयोग का अभाव, (ऐ) समितियों को तकनीकी एवं निपुण सलाह व निर्देशन का अभाव, (ओ) विपणन-वित्त (Marketing Finance) प्रदान करने की कठिनाइयाँ, (औ) सहकारी अधिकारियों में व्यापार कौशल की कमी तथा (अं) बाजारों की व्यवस्था तथा मध्यस्थों के *अनुचित कार्यों के नियन्त्रण के लिए वैधानिक व्यवस्था का अभाव।*

भारत में सहकारी विपणन को सफल बनाने के लिये मुख्य सुझाव (Main Suggestions for the Success of Co-operative Marketing in India) —(i) **सहकारी विपणन एवं सहकारी साख में अन्तसम्बन्ध स्थापित करना** —सहकारी विपणन को सफल बनाने के लिये सर्वप्रथम आवश्यक शर्त यह है कि सहकारी विपणन का सहकारी साख के साथ अन्तसम्बन्धित किया जाना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि सहकारी साख समितियाँ अपने सदस्यों को इस बात के लिये प्रेरित करें कि वे अपनी समस्त उपज सहकारी विपणन समितियों के द्वारा ही बेचें। इस प्रकार सहकारी साख समितियाँ अपने सदस्यों को दिये गये ऋण का ठीक समय पर भुगतान पा सकेंगी जिससे उनके कार्य सचालन में तीव्र प्रवाह आ सकेगा। (ii) **विपणन समितियों और उपभोक्ता समितियों में प्रत्यक्ष व्यापार** —सहकारी विपणन समितियों एवं सहकारी उपभोक्ता समितियों में प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये। इस प्रकार विपणन पद्धति में से अनेक मध्यस्थों को हटाया जा सकेगा जिससे एक ओर, उत्पादकों को अपनी उपज का उचित मूल्य मिल सकेगा तथा दूसरी ओर, उपभोक्ताओं को उत्तमकोटि का तथा अपेक्षाकृत सस्ता माल मिल सकेगा। (iii) **भण्डारों एवं गोदामों का निर्माण** — सहकारी विपणन को सफल बनाने के लिये देश की लगभग समस्त मण्डियों में पर्याप्त संख्या में गोदाम और भण्डार बनाये जाने चाहिए। सरकार को भण्डार बनाने के लिये सहकारी विपणन समितियों को ऋण सम्बन्धी सहायता प्रदान करनी

चाहिये। पर्याप्त गरया मे सुरक्षित भण्डारो की व्यवस्था होने से सहकारी विपणन समितिया भण्डारो की उपज के आधार पर बैंको से पर्याप्त मात्रा में वित्त प्राप्त कर सकेंगी तथा सदस्य उत्पादको की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने मे किसी सीमा तक सफल हो सकेंगी। (iv) प्राविधिक प्रशिक्षा का प्रबन्ध — सहकारी विपणन समितियों के सफलतापूर्वक सचालन के लिये प्रबन्धको का प्रशिक्षित एव व्यापार कुशल होना नितान्त अनिवार्य है। अत इन समितियो के प्रबन्धको एव कर्मचारियो को प्रशिक्षित बनाने के लिये प्रशिक्षण-केन्द्रो की व्यवस्था की जानी चाहिये। (v) विपणन सघो की स्थापना :—सहकारी विपणन पद्धति को सुव्यवस्थित, सुविकसित एव सुसगठित बनाने के लिये यह नितान्त वाछनीय है कि प्राथमिक सहकारी विपणन समितिया पृथक् पृथक् कार्य करने की अपेक्षा सम्मिलित रूप से विपणन सघ (Marketing Unions) बनाकर कार्य करें। विपणन सघो को प्रादेशिक-स्तर पर केन्द्रीय विपणन सस्था में सगठित कर देना चाहिये तथा राष्ट्रीय-स्तर पर एक "अखिल भारतीय सहकारी विपणन सघ" (All India Co operative Marketing Union) की स्थापना की जानी चाहिये। इस प्रकार समस्त देश मे सहकारी विपणन के कार्यक्षेत्र में एकसूत्रता (Uniformity) एव एकबद्धता आ जायगी तथा कार्य सचालन समन्वयकारी रूप में हो सकेगा। (vi) उपज का विधायन तथा श्रेणीकरण —कृषि उपज की माग को विस्तृत करने तथा उसकी कोटि को उत्तमोत्तम बनाने के उद्देश्य से यह परमावश्यक है कि सहकारी विपणन समितियां सदस्य-उत्पादकों की उपज को एकत्रित करने के पश्चात् उसका उचित विधायन (Processing), श्रेणीकरण (Grading) तथा प्रमाणीकरण (Standardisation) करें। इस कार्य में विपणन सघो अथवा राज्य की केन्द्रीय विपणन सस्था को समितियों की सहायता करनी चाहिये। (vii) अन्य सुझाव — उपरोक्त सुझावो के अतिरिक्त सहकारी विपणन पद्धति को सफल बनाने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं —(अ) प्रारम्भ मे सहकारी विपणन समितियों को मूल्य बढने की आशा मे उपज को अधिक दिनो तक नही रोकना चाहिये, क्योकि यदि भविष्य में मूल्य बढने की अपेक्षा कम हो गये, तब तदजात विपणन समितियो के विगठित होने की अधिक सम्भावना हो जायेगी। (आ) गाओं को विपणन-केन्द्रो से मिलाने के लिये परिवहन एव सचार के सस्ते, सरल एव द्रुतगामी साधनो का विकास करना चाहिये। (इ) एक सहकारी विपणन समिति को यथासम्भव एक ही प्रकार की वस्तु के विपणन मे विशिष्टता प्राप्त करनी चाहिये तथा (ई) सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डो में सहकारी विपणन पर विशेष बल प्रदान किया जाना चाहिये।

—:o:—

१५

अकाल और खाद्य समस्या

(Famines and Food Problem)

प्राक्कथन –खाद्य समस्या एव अकाल एक दूसरे के कारण (Cause) और परिणाम (Effect) हैं। 'जब किसी देश मे अथवा किसी भाग मे खाद्यान के अभाव अथवा खाद्यान्न-क्रय करने के लिए क्रय शक्ति (Purchasing Capacity) की अपर्याप्तता के कारण जनता प्रचलित मूल्यो पर पर्याप्त मात्रा मे खाद्यान्न प्राप्त करने मे असमर्थ रहती है, तब उस स्थिति को अकाल कहते हैं।" सन् १८६७ ई० के अकाल आयोग (Famine Commission) के शब्दों मे, "अकाल का अर्थ बडी जनसख्या का भूख से पीडित होना है।" अकाल के प्राचीन एव अर्वाचीन स्वरूप मे पर्याप्त अन्तर आ गया है। प्राचीनकाल मे अकाल का अर्थ खाद्यान का अभाव होना था, परन्तु आजकल अकाल का अर्थ वस्तुओ का महगा तथा धन का अभाव अर्थात् जनता मे क्रय शक्ति का अभाव होना है।

भारत में अकालो का सक्षिप्त इतिहास (Historical Background of Famines in India) —भारतीय इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि हमारे देश मे अति प्राचीन काल से ही प्राकृतिक प्रकोप के रूप मे अकाल पडते रहे है। हिन्दू शासनकाल मे यद्यपि देशव्यापी (Country-wide) अकाल पडने का उल्लेख नही मिलता, फिर भी इतना निश्चय है कि समय समय पर भिन्न-भिन्न स्थानो पर अकाल पडते रहे। भारतीय इतिहास के अनुसार सन् ६५०, ६४१, १०२२, १०३३, ११४८ और सन् ११५६ मे भयकर अकाल पडे थे। मुस्लिम शासन-काल मे भी देश पर अकालो का जल्दी जल्दी प्रकोप हुआ। इनमे से सन् १३४३ मे मुहम्मद तुगलक के शासनकाल मे उत्तरी भारत मे पडने वाला अकाल तथा सन् १६३० मे शाहजहा के शासनकाल मे देशव्यापी अकाल अत्यन्त भयानक रहे। इसके पश्चात् सन् १६६० से १७५० तक की अवधि मे १४ भयकर अकाल पडे। अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारतवासी अकाल को एक दैवी प्रकोप ही समझते रहे जिससे कि अकालो के निवारणार्थ कभी श्लाघनीय प्रयत्न नही किये गये। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल मे (सन् १७६० से १८५७ तक) देश के विभिन्न भागो मे १२ अकाल पड तथा ४ भीषण दुर्लभताए हुई। सन् १७६६–७० मे बगाल मे भीषण अकाल पडा जिसमे लगभग १ करोड व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हुये। सन् १७६०–६२ मे भारतीय इतिहास का सर्वाधिक भयकर अकाल दक्षिणी भारत मे पडा जिससे विशेषत महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और मद्रास क्षेत्र प्रभावित हुये। ब्रिटिश

शासनकाल में सन् १८५८ से १६०० तक की अवधि में देशभर में ७ भीषण अकाल पड़े। सन् १६०० से लेकर सन् १६४३ तक देश में कोई भीषण अकाल नहीं पड़ा। कुछ अर्थशास्त्रज्ञों का मत है कि १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पड़ने वाले अकालों की भीषणता के परिणामस्वरूप अपनाई गई सरकार की अकाल निवारण-नीति के कारण ही सन् १६०० से १६४३ तक कोई भयंकर अकाल नहीं पड़ा। सन् १६४३ में बंगाल में सबसे भीषण अकाल पड़ा जिसमें भारत सरकार की अकाल निवारण-नीति पूर्णतया विफल सिद्ध हुई। कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र (Anthropology) विभाग की खोजों के अनुसार इस अकाल में लगभग ३२ लाख व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हुये। अकाल आयोग (Famine Commission) ने इस अकाल में मृत्यु संख्या का अनुमान १० लाख से २० लाख के बीच में लगाया है। सरकार और व्यक्तियों द्वारा धन, अन्न और वस्त्र की सहायता तथा चावल की अच्छी फसल होने के कारण सन् १६४४ के प्रारम्भ में ही स्थिति पुनः पहले जैसी हो गई तथा सर्वत्र शांति छा गई। सन् १६५० में बिहार में बाढ़ तथा अत्यधिक वर्षा के कारण अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। सन् १६५१ में गुजरात, पंजाब, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान के कुछ भागों में वर्षा के अभाव के कारण अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। तदुपरान्त् सन् १६५२ में मद्रास राज्य के रायल सीमा क्षेत्र में भीषण अकाल पड़ा परन्तु राष्ट्रीय सरकार ने स्थिति पर तुरन्त ही काबू पा लिया। सन् १६५५ से उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में प्रतिवर्ष भीषण वर्षा और बाढ़ के फलस्वरूप अकाल जैसी ही भयानक स्थिति रहती है। अतः स्पष्ट है कि खाद्यान्न के अभाव के रूप में अभी तक हमारे देश को अकालों के प्रकोप से पूर्णतः विमुक्ति नहीं मिल सकी है।

अकालों के प्रभाव (*Effects of Famines*) —अकाल की भीषणता के परिणाम न केवल देश की तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था के लिए भयंकर होते हैं वरन् इससे भविष्य में भी अनिश्चितता एवं भयंकरता आती है। अकाल के मुख्य भीषण परिणाम इस प्रकार होते हैं। (i) पारिवारिक अस्त-व्यस्तता —अकाल के प्रभाव में आकर परिवार के थोड़े से भी सदस्यों की मृत्यु से पारिवारिक जीवन विघटित (Disorganised) हो जाता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सन् १६४३ के अकाल के परिणाम का अध्ययन करने के लिए लगभग ७०० परिवारों की जांच की जिनमें से २४·७% परिवारों को अस्त-व्यस्त पाया। चूंकि परिवार सामाजिक जीवन की प्राथमिकशाला तथा आर्थिक ढांचे (Economic Structure) की प्रधान इकाई है, इसलिए पारिवारिक अस्त-व्यस्तता के परिणामस्वरूप समस्त सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। (ii) अनैतिकता को प्रोत्साहन —मानव के लिए सबसे महान संकट भूखों मरना है। अतः अपनी क्षुधा तो शांत करने के लिए मानव विवश होकर अनैतिक कार्य करने से भी नहीं हिचकिचाता। बंगाल के भयंकर अकाल के समय नारीत्व की पूजा करने वाला भारतीय पिता अपनी पुत्री के सतीत्व का सौदा करता देखा गया था। पारिवारिक विघटन के फलस्वरूप

अनेक स्त्रियां अनैतिक कार्य करने के लिए बाध्य होती हैं। (iii) **श्रमिकों की कार्यक्षमता में ह्रास होना** —अकाल में खाद्यान्न के अभाव के कारण नागरिक बहुत क्षीण और दुर्बल हो जाते है जिससे उनकी जीवन शक्ति शून्य एवं कार्य-क्षमता क्षीण हो जाती है। भूख के कारण अनेकों संक्रामक रोग फैलते हैं तथा क्षीण एवं दुर्बल माता-पिताओं की भावी सतान भी दुर्बल ही उत्पन्न होती है। (iv) **कृषि-उद्योग में अनिश्चितता** —अकाल का कृषक की आर्थिक दशा पर भीषण प्रभाव पडता है। उसकी क्रय-शक्ति कम हो जाती है, कृषि उद्योग में अनिश्चितता आ जाती है तथा अन्य वस्तुओं की माग कम होने से उत्पादन भी घट जाता है। (v) **पशु धन की हानी** —अकाल में खाद्यान्न के साथ-साथ चारे का भी अभाव हो जाता है जिससे कि पशु बहुत बडी संख्या में मर जाते है। (vi) **समाज में अपराधों की वृद्धि** —भूख से व्यथित मानव असामाजिक (Anti social) एवं जघन्य कृत्य करने को विवश होता है। अतः स्वाभाविक तौर पर अपराधों में वृद्धि होती है। (vii) **सरकार एवं आर्थिक नियोजन** —अकाल की स्थिति में सरकार की आय कम हो जाती है। सरकार को अकाल पीड़ितो की सहायतार्थ अपार द्रव्य व्यय करना पडता है। फलतः सरकार की आर्थिक नियोजन एवं आर्थिक प्रगति की समस्त योजनाएं अवरुद्ध हो जाती है। इस प्रकार अकालो से उद्योग, परिवहन और व्यापार अर्थात् प्रत्येक क्षेत्र में अव्यवस्था एवं अवरुद्धता दिखाई देती है।

अकाल के कारण (Causes of Famines):—अकाल के कारणों को मुख्यतः दो भागो में विभक्त किया जा सकता है—(अ) **तत्कालिक अथवा प्रत्यक्ष कारण** (Contemporary or Direct Causes) **तथा दूरस्थ अथवा प्रत्यक्ष कारण** (Remote or Indirect Causes)

(अ) प्रत्यक्ष कारण —ये कारण इस प्रकार हैं —(i) **अनावृष्टि** —भारत में अकाल पडने का सर्वप्रमुख कारण अनावृष्टि रहा है। श्री नोल्स Shri Knowles) के अनुसार '**जिस वर्ष भी वर्षा नहीं होती, उसी वर्ष कृषि उद्योग में ताला पड जाता है।**' इस समय हमारे देश में कुल कृषित क्षेत्र के केवल २१.४% भाग पर सिंचाई की सुविधाये उपलब्ध है। अतः कुल कृषित क्षेत्र का ७८.६% भाग जलवृष्टि पर ही निर्भर है। एक अनुमान के अनुसार भारत में साधारणतः ५ वर्षों में एक वर्ष सूखा तथा प्रति १० वर्षों में एक बार भीषण अकाल पडता है। अतः स्पष्ट है कि अनावृष्टि देश में अकाल पडने का मुख्य कारण है। (ii) **अतिवृष्टि**— कभी-कभी अतिवृष्टि के परिणामस्वरूप नदियों में बाढ आ जाती है जो कि फसलों को पूर्णरूपेण विनष्ट करके अपने साथ बहा ले जाती हैं और खाद्यान्न के अभाव की स्थिति उत्पन्न करके अकाल का कारक बनती है। (iii) **वनों का शोषण** — हमारे देश में कुल क्षेत्रफल के २२% भाग पर ही वन पाये जाते हैं, जबकि अच्छी जलवायु, पर्याप्त एवं समयानुकूल वर्षा के लिये कम से कम ३३% क्षेत्रफल पर वन अवश्य होने चाहियें। ब्रिटिश शासनकाल में वनों का शोषण

अनियोजित ढंग से किया गया जिसके फलस्वरूप वन-लगाव वन-कटाव से पिछड़ गया तथा अकालों में वृद्धि हुई। (iii) टिड्डीदल तथा अन्य बीमारियाँ — टिड्डीदल के आक्रमण एवं फसलों में कीड़ा लग जाने की स्थिति में फसलों को बहुत क्षति पहुंचती है। इसके अतिरिक्त जंगली पशु-पक्षी भी भारतीय कृषि-उत्पादन का एक बड़ा भाग खा जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार जंगली पशु पक्षी भारतीय कृषि उपज का २०% भाग तक खा जाते हैं। अतः इस प्रकार खाद्यान्नोत्पादन में कमी होने से कभी-कभी अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। (iv) कम उत्पादन — अन्यान्य कारणों के अतिरिक्त न्यूनोत्पादन अकाल का प्रमुख कारण है। जब जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ खाद्यान्न की उत्पत्ति उतनी तीव्रता से नहीं बढ़ती, तब स्वभाविक रूप से खाद्यान्न का अभाव होकर अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। (v) परिवहन के साधनों का अभाव — प्राचीनकाल में प्राकृतिक कारणों के साथ-साथ परिवहन के सस्ते एवं सुविकसित साधनों का अभाव भी अकालों का प्रमुख कारण रहा जिसके कारण अकाल के दिनों में शीघ्रता एवं सरलता से अधिक अन्न वाले क्षेत्रों से अकालग्रस्त क्षेत्रों तक अन्न नहीं पहुँचाया जा सकता था। परन्तु आजकल परिवहन के साधनों के पर्याप्त विकास हो जाने से अकाल का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया है। अतः आधुनिक युग में अकाल का मुख्य कारण खाद्यान्न का अभाव न होकर जनता में क्रय-शक्ति का अभाव मात्र रह गया है।

(आ) परोक्ष कारण —ये मुख्यतः इस प्रकार हैं —(i) निर्धनता — हमारे देश में अकालों का वास्तविक एवं आधारभूत कारण जनता की निर्धनता अथवा क्रय-शक्ति का अभाव रहा है। भारत की ७२% जनसंख्या कृषि पर आश्रित है। भारतीय कृषि सबसे पिछड़ा हुआ व्यवसाय है जिसके फलस्वरूप कृषकों के पास धन का अभाव है। फलतः खाद्यान्न के मूल्यों में थोड़ी सी भी वृद्धि हो जाने पर देश में भुखमरी फैलने लगती है। (ii) भारतीय कृषकों की ऋणग्रस्तता एवं भाग्यवादिता —अधिकांश भारतीय कृषक ऋणग्रस्त हैं तथा भाग्यवादी होने के कारण अकर्मण्य बने हुए हैं। फलतः उनके पास क्रय-शक्ति का अभाव है जोकि अकाल का परोक्ष कारण है। (iii) भूधारण की प्रथा —कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि भारत में अकालों का मुख्य कारण जमींदारी प्रथा तथा विशेषतः स्थाई बन्दोबस्त की प्रथा रही है। चूँकि इस पद्धति में मध्यस्थ वर्ग ने निरन्तर कृषकों का शोषण किया और कृषि-भूमि में कभी भी सुधार लाने के प्रयत्न नहीं किये, इसीलिए समय-समय पर भुखमरी और अकालों का प्रकोप हुआ। (iv) गृह-उद्योगों का अन्त.—ब्रिटिश सरकार की निबार्ध-नीति (Laissez Fair Policy) के परिणामस्वरूप भारत के लघुस्तरीय एवं गृह-उद्योगों का अन्त हो गया। फलतः देश की जनता निर्धन एवं निस्सहाय हो गई तथा भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता ही गया। भारतीय कृषक, जोकि वर्ष में ४–६ महीने निठल्ला रहता है तथा जो ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व कृषि के अतिरिक्त सहायक उद्योगों द्वारा अपनी आय बढ़ा पाता था, अब कुटीर उद्योगों के पतन के पश्चात् केवल मात्र

कृषि पर ही आश्रित रह गया। परिणामतः समय-समय पर भुखमरी फैली तथा अकाल के भयंकर चित्र देखने में आए।

अकाल-निवारण के उपाय (Remedies for Famines)—अकालों को रोकने के लिये मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं :—(i) **कृषि में उन्नति**—देश में अकालों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये कृषि की समुन्नति द्वारा, देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ ही साथ खाद्यान्न की उत्पत्ति में वृद्धि करना आवश्यक है। कृषि में सुधार करने के लिये यह आवश्यक है कि (अ) भूमि-क्षरण को रोका जाए तथा बेकार पड़ी हुई भूमि को कृषियोग्य बनाया जाए। (आ) सिंचाई के साधनों का विकास करके देश के कृषि-क्षेत्रफल को अधिकाधिक सिंचित-क्षेत्र बनाया जाए। (इ) अच्छे उर्वरक एवं बीजों का प्रयोग किया जाए। (ई) जंगली पशु-पक्षियों तथा फसल के रोगों से फसलों को सुरक्षित किया जाए तथा (उ) विज्ञान, अनुसंधान तथा सहकारिता द्वारा कृषि के साधनों में सुधार किया जाए। इन सब उपायों से कृषि-उपज में वृद्धि हो सकेगी जिससे अकाल की समस्या स्वतः ही दूर हो जाएगी। (ii) **वनारोपण**—भूमि-क्षरण को रोकने तथा पर्याप्त एवं समयानुसार जलवर्षा होने के लिये वनों का क्षेत्रफल बढ़ाया जाना चाहिये। पर्याप्त वन-क्षेत्रफल होने की स्थिति में बाढ़, अनावृष्टि तथा अतिवृष्टि की समस्याएं इतिश्री (End) को प्राप्त हो जाएगी। (iii) **उद्योग धंधों का विकास**—अकाल की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये कृषि-भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करना अति आवश्यक है। इसके लिये यह उत्तम होगा कि देश में लघुस्तरीय, कुटीर एवं विशालकाय उद्योगों का विकास किया जाए। चूंकि आजकल अकाल की समस्या खाद्यान्न के अभाव की समस्या नहीं वरन् क्रय-शक्ति (Purchasing Power) के अभाव की समस्या है, इसलिये देश में उद्योग-धंधों को विकसित करके नागरिकों की क्रय-शक्ति में वृद्धि करनी चाहिये। (iv) **परिवहन के साधनों का विकास** :—कृषि एवं उद्योग तथा वाणिज्य एवं व्यापार के विकास के लिये देश में परिवहन के साधनों का सुसंगठित, सुव्यवस्थित, समायोजित एवं संतुलित विकास किया जाना चाहिये। परिवहन के साधनों के विकास के दो परिणाम होंगे, सर्वप्रथम, कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में उन्नति होगी जिससे अकाल की समस्या स्वतः दूर हो जाएगी और दूसरे, यदि भविष्य में किन्हीं क्षेत्रों में अकाल की सम्भावना हुई तब भी परिवहन के द्रुतगामी साधनों द्वारा उस क्षेत्र में खाद्यान्न की पूर्ति करके तुरन्त ही समस्या को दबाया जा सकेगा। (v) **खाद्यान्न का एकत्रीकरण**—चूंकि कृषि एक अनिश्चित व्यवसाय है इसलिये भविष्य में अकाल की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये खाद्यान्न का एकत्रीकरण किया जाना चाहिये तथा समस्या के अभ्युदय के समय उसे तुरन्त दबाने में सहायता लेनी चाहिये। वस्तुतः भविष्य के लिये खाद्यान्न के एकत्रीकरण करने के लिये वर्तमान कृषि-पद्धति एवं कृषि-उपज में उन्नति लाना नितांत आवश्यक है, क्योंकि अभी तक तो हमारा देश खाद्यान्न के विषय में आत्मपर्याप्त भी नहीं है, अतः खाद्यान्न के एकत्रीकरण की सम्भावना करना सर्वथा अव्यावहारिक है।

(vi) परदेशागमन —कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यदि घनी जनसख्या वाले देशो के कुछ नागरिक कम जनसख्या वाले परन्तु समृद्धिशाली देशों मे जाकर बस जायें, तब विश्व के प्रत्येक क्षेत्र से अकाल की समस्या का ही अन्त हो जाएगा। वस्तुत सद्धान्तिक दृष्टि से यह सुझाव अकाल निवारण का एक उत्तम सुझाव है, परन्तु आजकल विश्व की राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इस सुझाव की व्यवहारिकता में सदेह है। वस्तुत अकाल-निवारण के लिए किसी देश को खाद्यान्न के विषय मे आत्म निर्भर तथा आत्मपर्याप्त होना चाहिये।

सरकार की अकाल निवारक नीति (Famine Policy of the Government) :—हिंदू एव मुस्लिम शासनकाल मे अकालग्रस्त क्षेत्रो की सहायतार्थ जितने भी प्रयत्न किए जाते थे उनका स्थानीय (Local) महत्व होता था और ये समस्त प्रयास तत्कालीन शासक की अभिरुचि (Will) पर निर्भर करते थे। सरकार की अकाल-निवारक नीति की दृष्टि से सन् १८६५, १८७६-७८ सन् १८६६-६७, सन् १८६६-१६०० के अकाल सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। सन् १८६५ मे उड़ीसा के भीषण अकाल के अवसर पर सरकार द्वारा अकाल निवारण के लिए सर्वप्रथम सगठित प्रयत्न किया गया। सन् १८७६-७८ के दक्षिण के भयकर अकाल के पश्चात् सरकार ने सन् १८८० मे सर रिचर्ड स्ट्रेची (Sir Richard Strachey) की अध्यक्षता मे एक अकाल आयोग (Famine Commission) की नियुक्ति की। आयोग ने भविष्य मे अकाल-निवारक नीति के निर्माण-सम्बन्धी कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिए —(i) स्वस्थ एव कार्य करने योग्य व्यक्तियो को निर्माण कार्यों द्वारा जीवकोपार्जन के साधन जुटाय जाने चाहियें। (ii) कार्य करने मे असमर्थ एव अस्वस्थ व्यक्तियो को उनके निवास-स्थानो अथवा दरिद्रालयो (Poor Houses) मे निशुल्क सहायता दी जानी चाहिये। (iii) खाद्यान्न पूर्ति के अभावग्रस्त क्षेत्रो को छोड़कर अन्य क्षेत्रो मे खाद्य-पूर्ति का दायित्व व्यक्तिगत सस्थाओं पर छोड़ देना चाहिये। (iv) फसल नष्ट होने की स्थिति मे सरकार द्वारा भूमिपतियो को ऋण द्वारा तथा उनके लगान की मुक्ति करके सहायता की जानी चाहिए। अकाल आयोग के इन सुझावो को व्यवहारिक रूप देने के लिए विभिन्न प्रातो मे अकाल-निवारक नियम (Famine Code) बनाए गए तथा सन् १८६६-६७ और सन् १८६६-१६०० के अकालों म इस नीति का परीक्षण किया गया। सन् १८१७ मे भारत सरकार ने १½ करोड़ रु० का वार्षिक अकाल बीमा (Famine Insurance Grant) स्वीकृत किया जिससे अकाल-निवारण मे पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ।

सन् १८६६-६७ के अकाल के पश्चात् सर जेम्स लॉयल की अध्यक्षता मे दूसरा अकाल आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने निर्धन व्यक्तियो की निःशुल्क सहायता करने, परोपकारी कोषों के प्रबन्ध करने के लिए नियम बनाने तथा सहायतार्थ सार्वजनिक कार्यों के विकेन्द्रीकरण को विस्तृत करने का सुझाव दिया। सन् १८६६-१६०० के अकाल के पश्चात् सर एन्थोनी मैकडानल्ड

(Sir Anthony Macdonald) की अध्यक्षता में तीसरे अकाल आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग के मुख्य सुझाव इस प्रकार थे :—(i) अकालो का सामना करने के लिए नैतिक शक्ति अथवा जनता मे साहस दिलाकर (Moral Strategy or Putting Heart into the People) आदि विधियो का सहारा लिया जाना चाहिए। (ii) अकाल की स्थिति मे कृषको को शीघ्रातिशीघ्र तकावी ऋण प्रदान किए जाने चाहियें, उन्हे लगान से विमुक्त कर देना चाहिये, तथा निरन्तर जागरूकता एव गैर-सरकारी सहायता द्वारा कृषको मे दृढता एव साहस उत्पन्न करना चाहिए। (iii) पशुओ के लिए चारे की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए तथा (iv) "रैफीसन आदर्श (Raiffeisen Model) के आधार पर सहकारी आन्दोलन तथा सरक्षणात्मक कार्यों के रूप मे (In the Form of Protective Works) सिंचाई के साधनो का विस्तार किया जाना चाहिये। सन् १६०० मे भारतीय अकाल ट्रस्ट (Indian People's Famine Trust) की स्थापना की गई जिसमे थोडे ही समय मे २८ लाख रु० की राशि हो गई। सन् १६३४ मे उत्तर प्रदेश का "Famine Orphan's Fund' भी इसी कोष मे सम्मिलित कर दिया गया। सन् १६१६ मे एक अकाल सहायता कोष (Famine Relief Fund) की व्यवस्था की गई जिसमे प्रादेशिक सरकारें प्रतिवर्ष अपनी आय का कुछ भाग जमा करती थी।

अकाल-निवारण की वर्तमान पद्धति.—वर्तमान समय मे अकाल के निवारणार्थ सरकार पहले से ही तत्पर रहती है। मौसम सम्बन्धी सूचनाओ तथा फसल की उपज सम्बन्धी भविष्यवाणियो से सम्पूर्ण स्थिति का पहले से ही ज्ञान हो जाता है। अत सरकार द्वारा उचित सहायता प्रदान करने के लिये एक सुनिश्चित कार्यक्रम पहले से ही तैयार कर लिया जाता है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, खाद्यान्नो के मूल्यो मे वृद्धि, पशुओ का इधर-उधर घूमना तथा उनका विक्रय होना आदि सम्भावित अकाल के महत्वपूर्ण लक्षण हैं जिनका सतर्कता पूर्वक अध्ययन करके तुरन्त ही समस्या का समाधान कर दिया जाता है। अत स्पष्ट है कि आजकल अकालो का भय बहुत दूर दूर हो गया है। सन् १६४३ के बगाल-दुर्भिक्ष के पश्चात् भारत सरकार ने सन् १६४५ मे सर जॉनवुडहैड (Sir John Woodhead) की अध्यक्षता मे अकाल जाच आयोग (Famine Enquiry Commission) की नियुक्ति की। आयोग ने अपनी प्रथम रिपोर्ट मे बगाल के अकाल के कारणो तथा अकाल की स्थिति का चित्रण किया तथा द्वितीय रिपोर्ट मे अकाल-निवारणार्थ कुछ सुझाव प्रस्तुत किये जिनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार थे —(i) २५ हजार तथा इससे अधिक जनसख्या वाले क्षेत्रो मे खाद्य-नियन्त्रण का सहारा लेकर अन्न का उचित रूप से वितरण करना चाहिये। (ii) "अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन" (Grow More Food Movement) को प्रोत्साहित करके देश मे खाद्यान्नोत्पादन को बढ़ाना चाहिये। (iii) समस्त देश मे खाद्यान्न नीति को समन्वित (Co-ordinate) करने के उद्देश्य से केन्द्रीय-स्तर पर एक "अखिल भारतीय खाद्य परिषद" (All India

Food Council) तथा क्षेत्रीय-स्तर पर "क्षेत्रीय खाद्य परिषदो" (Regional Food Councils) की स्थापना करनी चाहिये। (iv) खाद्यान्न के अन्न पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार (Complete Monopoly) होना चाहिये तथा कृषकों को मण्डियो मे सरकार के हाथ खाद्यान्न बेचने का प्रलोभन देना चाहिये। (v) लाइसेंस देने की सरकारी नीति को अधिक कठोर बना देना चाहिए। (vi) कृषि-जोत की अधिकतम सीमा २५ एकड़ निश्चित करके, जिन कृषकों के पास इससे अधिक भूमि हो, उसे सरकार द्वारा अपने नियन्त्रण मे ले लेनी चाहिये; तथा (vii) जनसंख्या की तीव्र गति से होने वाली वृद्धि को वैज्ञानिक साधनो द्वारा नियन्त्रित करके खाद्य की मात्रा को जनसंख्या की माग को देखते हुए बढाना चाहिये।

उपसहार — आर्थिक नियोजन के बल पर हमारी सरकार ने वर्तमान स्थिति मे पर्याप्त सुधार ला दिया है। सन् १६५२ मे रॉयल सीमा मे अकाल की स्थिति उत्पन्न होने पर तुरन्त ही सरकार ने सैनिकों को अकाल पीडितो की सहायतार्थ भेजा तथा लाखो व्यक्तियो के प्राणो की रक्षा की। हमारी पचवर्षीय योजनाओ की प्रगति द्वारा, निकट भविष्य मे यह आशा की जाती है कि देश से अकाल की सम्भावना सदैव के लिए इतिश्री को प्राप्त होकर अकाल एक ऐतिहासिक घटना-मात्र रह जाएगा।

भारत में खाद्य समस्या (Food Problem in India)

प्राक्कथन — खाद्य समस्या भारत की एक महत्वपूर्ण तथा गम्भीर समस्या है। यद्यपि भारतीय कृषि-क्षेत्र के ७६% भाग मे खाद्य फसलें बोई जाती हैं तथा समस्त जनसख्या का ७२% भाग कृषि-व्यवसाय मे लगा हुआ है, तथापि देश की आवश्यकता को देखते हुए खाद्यान्न का उत्पादन पर्याप्त नहीं हो पाता है। फलत प्रतिवर्ष लाखो टन अनाज विदेशों से मगाना पडता है। वस्तुत देश के नागरिको को पर्याप्त मात्रा मे पौष्टिक भोजन प्रदान करना ही खाद्य समस्या का मुख्य पहलू है। परन्तु हमारे देश में न तो जनता को मात्रा मे ही पर्याप्त भोजन मिल पाता है और न ही गुणात्मक दृष्टि से पौष्टिक तत्व ही उपलब्ध हो पाते हैं। का देश की जनता के शारीरिक मानसिक, एव बौद्धिक विकास के लिये सतुलित आहार (Balanced Food) का उपलब्ध होना बहुत महत्वपूर्ण है। "भूख" मानव की ऐसी मूलप्रवृत्ति (Instinct) है जिसकी पूर्ति सर्वप्रथम होनी चाहिये। इसीलिये देश की खाद्य समस्या का समाधान करना ही देशवासियों की आर्थिक, सामाजिक एव नैतिक प्रगति का प्रथम सोपान है।

खाद्य समस्या के दो पहलू (Two Aspects of Food Problem) — किसी देश की खाद्य समस्या के दो पहलू मुख्य होते हैं :—(अ) परिमाणात्मक पहलू (Quantitative Aspect) तथा (आ) गुणात्मक पहलू (Qualitative Aspect)। हमारे देश की खाद्य समस्या परिमाणात्मक एव गुणात्मक दोनों दृष्टि से भयकर रूप धारण किए हुए है। हमारे देश मे न तो पर्याप्त मात्रा मे खाद्य पूर्ति ही है और न ही देश की जनता को पौष्टिक एव सतुलित आहार ही मिल पाता है।

खाद्यान्न की अपर्याप्तता के ही कारण हमारे देश मे खाद्यान्न के मूल्य बहुत ऊंचे हैं तथा प्रतिवर्ष ऊंचे ही होते जा रहे हैं।

(अ) खाद्य समस्या का अपर्याप्त परिमाण अथवा परिमाणात्मक पहलू (Insufficient Quantity or Quantitative Aspect of Food Problem)—(i) खाद्यान्न के परिमाणात्मक दृष्टिकोण से हमारी खाद्य समस्या अत्यन्त गम्भीर है। उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण (Phase) तक भारत मे खाद्यान्न का उत्पादन खाद्यपूर्ति की तुलना मे अधिक था। सन् १८८० मे अकाल आयोग (Famine Commission) ने देश मे खाद्यान्न के उत्पादन का अनुमान ५२० लाख टन तथा उपभोग का अनुमान ४७० लाख टन लगाया गया था। (ii) सन् १८९८ के अकाल आयोग ने भी यही अनुमान लगाया था कि देश मे खाद्योत्पादन खाद्यपूर्ति की अपेक्षा अधिक है। (iii) २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत मे जनसख्या की वृद्धि की दर खाद्योत्पादन की वृद्धि की दर से अधिक ऊंची हो गई। मूल्य जाच समिति (Price Enquiry Committee) के अनुसार सन् १९१४ तक कृषि योग्य भूमि की अपेक्षा जनसख्या अधिक तीव्रता से बढ़ी जिसके कारण खाद्यान्न की आवश्यकता भूमि की उपज की अपेक्षा अधिक हो गई थी। (iv) सन् १९०१ से १९३१ तक देश की जनसख्या मे १७% वृद्धि हुई, परन्तु खाद्यान्न बोये जाने वाली भूमि मे केवल १६% वृद्धि हुई। अत सन् १९२४ तक भारत खाद्यान्न का एक आयात-कर्ता देश बन गया। (v) सन् १९३४ मे डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr Radhakamal Mukerji) ने अनुमान लगाया था कि एक सामान्य वर्ष मे भारत की खाद्य-उत्पत्ति देश की ८८% जनसख्या के लिये ही पर्याप्त होती है। (vi) सन् १९३७ मे बर्मा के भारत से पृथक् हो जाने पर देश मे १३ लाख खाद्यान्न (चावल) की कमी हो गई। (vii) द्वितीय विश्वयुद्ध तक हमारे देश मे प्रतिवर्ष १५ लाख टन से २० लाख टन प्रतिवर्ष खाद्यान्न का आयात किया जाता था। (viii) सन् १९४७ मे देश के विभाजन के पश्चात् हमारी खाद्यान्न की कमी और भी बढ गई। विभाजन मे हमारे देश को खाद्यान्न के उत्पादन क्षेत्र का ७५% भाग मिला, जबकि कुल जनसख्या का ८२% देश के भाग मे आया। पश्चिमी पजाब व सिन्ध का नहरी क्षेत्र पाकिस्तान मे जाने से भारत गेहू का अक्षय भण्डार खो बैठा। एक अनुमान के अनुसार विभाजन के कारण देश मे ७ ८ लाख टन खाद्यान्न, ६ लाख गाठ कपास तथा ५० लाख गाठ पटसन की कमी हो गई। (ix) पचवर्षीय योजनाओ के व्यापक कार्यक्रम के अन्तर्गत,खाद्यान्न के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन् १९५०-५१ से सन् १९६०-६१ तक खाद्यान्न के उत्पादन मे ४५ ६% की वृद्धि हुई, परन्तु फिर भी देश मे प्रतिवर्ष खाद्यान्न के आयात की मात्रा बढती ही जाती है। (x) सन् १९५७ ५८, १९५८ ५९, १९५९-६० और १९६०-६१ म क्रमश १६२ करोड रु०, १५२ करोड रु०, १५५ करोड रु० और १४५ करोड रु० के मूल्य का खाद्यान्न विदेशो से आयात किया गया। (xi) विगत वर्षो मे खाद्यान्न के मूल्यो मे

सन् १६४८-४६ मे सयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा मे एक व्यक्ति प्रतिदिन औसतन क्रमश ३,१२८ कैलोरीज तथा ३,०६२ कैलोरीज का उपभोग करता था, तब एक भारतवासी केवल १,६२१ कैलोरीज का प्रतिदिन उपभोग करता था। अत स्पष्ट है कि हमारे देशवासियो के भोजन मे पौष्टिक तत्वो की अपर्याप्तता है। (४) वस्तुत देशवासियो के भोजन मे अपर्याप्त पोषणता के तीन मुख्य कारण हैं — (अ) देश मे रक्षात्मक खाद्यो (Protective Foods) का उत्पादन बहुत कम है। यद्यपि हमारे देश मे विश्व की समस्त पशुसख्या का २५% भाग है परन्तु उनके चारे, पानी, नस्ल, चिकित्सा आदि अव्यवस्थाओ एव अपर्याप्तताओ के कारण उनसे दूध का उत्पादन बहुत कम है। इसके अतिरिक्त देश मे दाल, शाक, मछली, मास, अण्डे आदि पौष्टिक पदार्थों का उत्पादन भी कम मात्रा मे किया जाता है। (आ) अधिकाश भारतीय जनता निर्धन है जो अधिक पोषक पदार्थों के क्रय करने मे असमर्थ है। (इ) विभिन्न खाद्य पदार्थों के पौष्टिक तत्वो के विषय मे भी अभी हमे पूर्ण ज्ञान नही है अथवा बहुत से व्यक्ति जानते हुए भी धार्मिक अन्धविश्वास के कारण, मास, मछली, अण्डे आदि पौष्टिक पदार्थों के उपभोग से हिचकिचाते है। असन्तुलित एव अपौष्टिक आहार के दुष्परिणामस्वरूप हमारे देश मे मृत्यु दर बहुत ऊची है, नागरिको की औसत आयु बहुत कम है तथा विभिन्न प्रकार के भयकर रोग शीघ्रतापूर्वक उन पर आक्रमण कर लेते हैं।

भारत मे खाद्यान्न के अभाव के मुख्य कारण (Main causes of Shortage of Foodgrains in India) —भारत मे खाद्यान्न के अभाव के कारणो को हम (अ) दीर्घकालीन, (आ) मध्यकालीन तथा (इ) अल्पकालीन तीन भागो मे विभक्त कर सकते हैं जो मुख्यत: निम्नलिखित है : —

(अ) अन्न-संकट के दीर्घकालीन कारण —खाद्यान्नाभाव के दीर्घकालिक कारण मुख्यत इस प्रकार है —(i) **जनसंख्या में वृद्धि** —देश मे खाद्यान्न के अभाव का सर्वप्रमुख कारण विगत ४० वर्षों से देश की जनसख्या का द्रुत गति से बढना है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक ३० वर्षों मे जनसख्या मे जितनी वृद्धि हुई, उसकी दुगुनी तथा सन १६२१ से १६३१ तक जितनी वृद्धि हुई, उसकी तिगुनी वृद्धि सन् १६३१ से १६५१ तक हुई। सन् १६५१ से १६६१ तक जनसख्या की वृद्धि की दर विगत सभी अनुमानो से आगे निकल गई। इस अवधि मे जनसख्या मे प्रतिवर्ष २.२% की दर से वृद्धि हुई। वस्तुत: हमारे देश मे जनसख्या की दृष्टि मे जितनी तीव्रता से वृद्धि हुई है, उतनी ही तीव्र गति मे खाद्यान्न के उत्पादन मे वृद्धि नही हो सकी है। सन् १६०० से १६५१ तक देश की जनसख्या मे ५२% वृद्धि हुई, जबकि खाद्यान्नोत्पादन मे केवल २•% ही वृद्धि हुई। विगत दोनों पचवर्षीय योजनाओ मे खाद्यान्न की उत्पत्ति मे ४५.६% वृद्धि हुई है, परन्तु देश की जनसख्या की वृद्धि की दर से यह बहुत पीछे रही है। (ii) प्रति एकड कम उत्पादन —हमारे देश मे अन्न-सकट का दूसरा प्रमुख कारण कृषि उपज का प्रति-एकड कम होना है। यद्यपि कृषि भारत का प्रधान व्यवसाय

है, प्रतिवर्ष लगभग २०'८ करोड़ एकड़ भूमि पर खाद्य-फसलें (Food crops) उगाई जाती हैं तथा देश की कार्यशील जनसंख्या का ७२% भाग कृषि में लगा हुआ है, तथापि प्रति एकड़ कम उत्पत्ति होने के फलस्वरूप देश में खाद्यान्न का अभाव बना हुआ है। (iii) प्राकृतिक प्रकोप —खाद्यान्न-संकट का तीसरा कारण प्राकृतिक विपत्तियाँ हैं जिनके कारण भारतीय कृषि एक अनिश्चित व्यवसाय बना हुआ है —(अ) देश के किसी न किसी भाग में प्रतिवर्ष अनावृष्टि, अतिवृष्टि अथवा असामयिक वृष्टि के कारण फसलें नष्ट हो जाती हैं। (आ) नदियों में बाढ़ आ जाने अथवा ओला पड़ जाने अथवा आँधी और तूफान आ जाने से भी फसलों को क्षति पहुँचती है। (इ) प्रायः फसलों में कीड़ा लग जाने, टिड्डी दल अथवा जंगली पशु-पक्षियों द्वारा फसल के एक बड़े भाग को हानि पहुँचाई जाती है। अतः स्पष्ट है कि प्राकृतिक प्रकोप अन्न-संकट लाने में प्रत्यक्ष रूप से सहायक होते हैं। (iv) उत्पत्ति और उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन —डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr Radhakamal Mukerjee) ने अपनी पुस्तक "Food Planning For Four Hundred Millions" में अन्न-संकट के एक नए कारण का उल्लेख किया है। उन्होंने बताया है कि भारत में अन्न-संकट का मूल कारण उपभोग और उत्पत्ति की प्रवृत्ति (Trends) में परिवर्तन होना है। विगत कुछ वर्षों से देश में गेहूँ, चावल आदि पौष्टिक खाद्यान्नों के स्थान पर घटिया अनाज बोने की प्रवृत्ति बढ़ गई है, जबकि उपभोग के क्षेत्र में स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है अर्थात् घटिया अनाजों के स्थान पर गेहूँ और चावल का उपभोग बढ़ गया है। फलतः गेहूँ और चावल का देश में अभाव पाया जाता है।

(आ) अन्न-संकट के मध्यमकालीन कारण — देश में खाद्यान्न की कमी के मध्यमकालीन कारण मुख्यतः इस प्रकार हैं —(i) बर्मा का भारत से पृथक् हो जाना :—सन् १९३७ में बर्मा के भारत से पृथक् हो जाने पर देश को प्रतिवर्ष १३ लाख टन चावल का अभाव सहन करना पड़ा। (ii) देश का विभाजन —सन् १९४७ में देश का विभाजन होने से भारत की खाद्य-स्थिति और भी दुर्बल हो गई। विभाजन के पश्चात् भारत को अविभाजित भारत की ८२% जनसंख्या मिली, परन्तु, खाद्यान्नों की पूर्ति का केवल ७५% भाग तथा वास्तविक सिंचित क्षेत्र का ६९% भाग प्राप्त हुआ। विभाजन के बाद बड़ी संख्या में विस्थापितों के आने से देश में खाद्यान्न का अभाव और भी अधिक बढ़ गया। (iii) दूषित वितरण व्यवस्था –सन् १९५७ में भारत सरकार द्वारा श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में नियुक्त खाद्यान्न जाँच समिति (Food grains Enquiry Committee) ने बताया कि भारत में अन्न-संकट की समस्या उत्पादन की अपेक्षा वितरण से अधिक सम्बन्धित है। बहुधा पर्याप्त उत्पादन होने की स्थिति में भी कृषक, व्यापारी तथा उपभोक्ता न्यूनाधिक मात्रा में खाद्यान्न एकत्रित कर लेते हैं। फलतः बाजार में खाद्य पूर्ति कम हो जाती है जिससे खाद्यान्न का मूल्य बढ़ जाता है। अतः मूल्यों की दृष्टि से उत्पादन में परिवर्तन होने से भी अधिक

महत्वपूर्ण विपणन के लिये आने वाली मात्रा मे परिवर्तन का होना है जोकि प्रत्यक्ष रूप मे उपज के न्यायोचित वितरण से सम्बन्धित है। (iv) **सरकार की नीति** —अन्त मे सरकार की खाद्य नीति भी देश मे अन्न-सकट के लिये किसी सीमा तक उत्तरदाई है। समुन्नत उर्वरको एव बीजो का अभाव, बार-बार उद्देश्यो एव नीतियो मे परिवर्तन, तथा प्राकृतिक आपदाओ एव प्रशासनिक कठिनाइयो के कारण भारत सरकार देश को खाद्यान्न के विषय मे आत्मपर्याप्त नही बना सकी है। फलत बाध्य होकर मूल्यो की अत्यधिक वृद्धि को रोकने के लिये, सरकार को खाद्यान्न के आयात एव मूल्यो के नियन्त्रण का सहारा लेना पडा है।

(इ) **अन्न-सकट के अल्पकालीन कारण** :—देश मे खाद्यान्न की कमी के अल्पकालीन कारण मुख्यत इस प्रकार हैं —(i) **खाद्यान्नों की मांग मे वृद्धि** —आर्थिक नियोजन की प्रगति के फलस्वरूप राष्ट्र के नागरिको की औसत आय मे वृद्धि हुई है जिसके कारण खाद्यान्नो तथा अन्य उपभोग्य पदार्थों की माग उनकी पूर्ति की अपेक्षा बहुत बढ गई है। फलत खाद्यान्नों के मूल्यों मे वृद्धि हुई है तथा देश मे खाद्यान्नो की कमी दृष्टिगत होती है। (ii) **उत्पादन मे कम वृद्धि** —प्रथम योजना-काल मे प्राकृतिक अनुकूलता के कारण खाद्यान्नो के उत्पादन मे आशातीत वृद्धि हुई। परन्तु द्वितीय योजनाकाल के १९५६–५७ तथा १९५७–५८ दो वर्ष प्रतिकूल रहे तथा योजनाकाल मे कृषि-उत्पादन मे कुल वृद्धि केवल १६% हुई। अत खाद्यान्न की माग मे वृद्धि की गति के साथ-साथ उत्पादन मे वृद्धि न हो सकना ही विगत वर्षों मे अन्न सकट का मूल कारण रहा है। (iii) **सग्रह वृत्ति** :—प्राय खाद्यान्न के उत्पादन कम होने अथवा उसकी माग बढने की स्थिति मे कृषक, उपभोक्ता और व्यापारी न्यूनाधिक रूप मे खाद्यान्न को जमा कर लेते हैं जिससे बाजार मे खाद्यान्न की आपूर्ति कम होकर मूल्य ऊचा हो जाता है। इस प्रकार उपभोक्ता, उत्पादक और व्यापारियो की सग्रह-वृत्ति भी अल्पकालीन अन्न-सकट के लिये किसी सीमा तक उत्तरदाई है।

खाद्य समस्या को हल करने के लिए आवश्यक सुझाव (Main Suggestions for Solving the Food Problem) — काग्रेस कार्य समिति (Congress Working Committee) के अनुमानानुसार भारत मे खाद्यान्न का वास्तविक अभाव केवल १०% है। अन्नाभाव को दूर करने के लिये समिति ने कुछ सुझाव इस प्रकार दिये है —(i) खाद्यान्न के विनाश को रोकने के लिये सुरक्षित भण्डारो का निर्माण करना चाहिये। दावतो मे आमन्त्रित व्यक्तियों की सख्या कम से कम करके अन्न की मितव्ययिता को नियन्त्रित करना चाहिये। (ii) गेहू खाने वाले क्षेत्रो मे चावल की खपत कम करनी चाहिये। (iii) अनाज के साथ साथ शाक-सब्जी तथा फलो का उपभोग बढाना चाहिये। (iv) अल्पकाल मे तैयार हो जाने वाली फसलो को अधिक बोना चाहिये। (v) आलू और केले को ठोस खाद्य पदार्थों के रूप मे उपभोग करना चाहिये। (vi) खाद्यान्न की सग्रह-वृत्ति पर रोक लगानी चाहिये। (vii) प्रादेशिक कृषि-विभागो (States, Agriculture Departments)

द्वारा खाद्योत्पादन में वृद्धि लाने के लिये सक्रिय प्रयत्न किये जाने चाहिएं। खाद्य समस्या को हल करने के लिए मुख्य सुझाव निम्न प्रकार हैं —

(१) उत्पादन में वृद्धि — वस्तुतः खाद्य समस्या का मौलिक समाधान खाद्योत्पादन में वृद्धि लाने में ही अन्तर्निहित है। अतः खाद्योत्पादन में वृद्धि लाने के लिये एक व्यावहारिक देशव्यापी कार्यक्रम कार्यान्वित करना चाहिये जिसमें समस्त सरकारी संस्थाएं तथा देशवासी सम्मिलित रूप से सहयोगी बनें। खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिये कुछ मुख्य तरीके इस प्रकार हैं — (अ) कृषि-जोतों के उपविभाजन एवं विखण्डन की समस्या को दूर करने के लिये चकबन्दी का कार्यक्रम अपनाना चाहिए। एक अनुमान के अनुसार केवल चकबन्दी द्वारा ही कृषि-उत्पादन में २०% वृद्धि की जा सकती है। (आ) उन्नत कोटि के बीजों रसायनिक उर्वरकों, उत्तम कृषि यन्त्रों एवं नवीनतम कृषि पद्धतियों द्वारा गहरी खेती (Intensive Cultivation) के लाभ प्राप्त करने चाहियें। कृषि वैज्ञानिकों का मत है कि पर्याप्त मात्रा में खाद, पानी, उन्नत कोटि के बीज तथा सुधरे हुए कृषि-यन्त्रों की सहायता से कृषि-उपज में १००% से २००% तक वृद्धि की जा सकती है। (इ) जंगली पशु-पक्षियों, भयंकर रोगों तथा टिड्डियों से फसलों की रक्षा करनी चाहिये। (ई) हमारे देश में लगभग ५·३ करोड़ एकड़ कृषि योग्य बंजर भूमि है। इस पर सिंचाई के साधनों, ट्रैक्टरों तथा रसायनिक उर्वरकों द्वारा विस्तृत खेती (Extensive Cultivation) करनी चाहिये। (उ) सिंचाई के साधनों को विकसित करना चाहिये। (ऊ) भूमि-क्षरण को रोकने के सक्रिय प्रयत्न करने चाहिए। एक अनुमान के अनुसार भूमि-क्षरण को रोककर तथा पानी के दुरुपयोग को बन्द करके कृषि-उत्पादन में २०% से ५०% तक वृद्धि की जा सकती है। (ए) कृषक की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सहकारी साख समितियों को विकसित करना चाहिये। (ऐ) कृषि अनुसन्धानों को प्रोत्साहित करना चाहिये जिससे बीजों, उर्वरकों की नई किस्मों, विभिन्न प्रकार की भूमियों में उर्वरकों के प्रयोग की प्रणालियों तथा फसल-परीक्षण आदि को प्रयोग में लाया जा सके।

(२) वितरण की सुव्यवस्था —खाद्यान्न के थोक व्यापार का समाजीकरण (Socialization) करके उचित मूल्यों पर खाद्यान्न के वितरण का समुचित प्रबन्ध करना चाहिये। कृषि-इतर जनसंख्या (Non-agricultural Population) की खाद्यान्न की मांग को पूरा करने के लिये 'बाजार में विपणन के लिये आने वाले खाद्यान्न का आधिक्य" (Marketed Surplus of Foodgrains) होना अति आवश्यक है। खाद्यान्न के उचित वितरण के लिये प्रो० अलक घोष (Alak Ghose) ने यह सुझाव दिया है कि कृषि-जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करके सीमा से अधिक वाले कृषकों से भूमि हस्तगत कर लेनी चाहिये। चूंकि खाद्यान्न का संग्रह केवल बड़े-बड़े कृषक ही कर सकते हैं, इसलिए भूमि की अधिकतम सीमा के निर्धारण द्वारा यह समस्या हल की जा सकती है। अशोक मेहता समिति (Ashoka Mehta Committee) ने राज्य द्वारा अनाज का थोक व्यापार अपने हाथ में लेकर सस्ते

अनाज की दुकानों, सहकारी समितियों तथा उपभोक्ताओं के संगठनों द्वारा अनाज के वितरण की सिफारिश की है। अतः खाद्य-संकट तथा ऊंची मूल्य-प्रवृत्ति तथा संग्रह-प्रवृत्ति को दूर करने के लिये वितरण की सुव्यवस्थित योजना का अपनाना नितान्त आवश्यक है।

(३) जनसंख्या पर नियंत्रण:—खाद्य समस्या को हल करने के लिये खाद्योत्पादन में वृद्धि लाने के साथ ही साथ तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या को नियन्त्रित करना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं की आंशिक सफलता का भी मुख्य कारण यही है कि हमारी जनसंख्या अनुमानित दर से अधिक तीव्रता से बढ़ रही है जिससे खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मपर्याप्तता के समस्त साधन विफल हो जाते हैं। अतः संतति-निग्रह तथा परिवार नियोजन द्वारा जनसंख्या की वृद्धि की गति को कम करना चाहिये। योजना आयोग के मतानुसार "जनसंख्या-वृद्धि को एक अवधि तक स्थिर रखना आयोजित विकास का केन्द्र-बिन्दु है। त परिवार नियोजन का कार्यक्रम अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसके लिए नागरिकों को शिक्षित करना, उनके लिए व्यापक पैमाने पर सुविधाओं और परामर्श की व्यवस्था करना तथा सभी देहाती और शहरी समुदायों में लोकप्रिय प्रयत्न करना आवश्यक है।"

(४) उपभोग में सुधार:—हमारे देशवासियों के नित्य प्रतिदिन के भोजन में अन्न की प्रधानता रहती है। खाद्य समस्या को हल करने का एक मुख्य सुझाव यह भी है कि देश के नागरिकों की उपभोग-प्रवृत्ति में परिवर्तन लाए जाएं। अतः अन्न के उपभोग को कम करके देशवासियों में फल, शाक-सब्जी, दाल, मांस, मछली, आदि उपभोग्य पदार्थों के प्रति उपभोग-प्रवृत्ति जागृत करनी चाहिये।

(५) सामुदायिक विकास द्वारा सहयोग तथा संगठन:—खाद्योत्पादन में वृद्धि लाने के कार्य में सामुदायिक विकास खण्ड के कर्मचारी भी महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। इन कर्मचारियों का यह प्रथम कर्तव्य होना चाहिये कि वे कृषकों को नवीन कृषि-पद्धति अपनाने के लिये प्रेरित करें और उन्हें उन्नत किस्म के बीज, यन्त्र तथा उर्वरक आदि के प्रयोग करने की शिक्षा दें। इससे न केवल खाद्योत्पादन में वृद्धि होगी अर्थात् खाद्य समस्या सुलझ जायगी। वरन् कृषकों का आर्थिक स्तर भी ऊंचा उठ सकेगा। वस्तुतः तीसरी योजना में खाद्यान्नोत्पादन के तात्कालिक दृष्टिकोण को सामने रखते हुये, सामुदायिक विकास आन्दोलन को जिस महत्वपूर्ण कसौटी पर पूरा उतरना है, वह यह है कि यह आन्दोलन कृषि विस्तार अभिकरण के रूप में व्यावहारिक रूप से प्रभावशाली सिद्ध हो। इसीलिये यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में अपने को सुदृढ़ करने के लिये सामुदायिक विकास संगठन को समस्त आवश्यक कदम उठाने चाहिए और यथासम्भव अधिकतम स्थानीय प्रयत्न के आधार पर खाद्यान्न-उत्पादन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये अपना दायित्व स्वीकार करना चाहिये।

(६) कृषि प्रशासन का नवीनीकरण:—केन्द्रीय एवं राज्यों के कृषि

समोच्च रेखाओं के समानान्तर बाँध (Terracing and Counter Bunding for Soil Conservation) बनाना। (iii) पूर्ति योजनायें (Supply Schemes) — इस कार्यक्रम के अन्तर्गत उन्नत बीज, उर्वरक तथा कृषि यन्त्रों की पूर्ति व वितरण तथा इन्हें क्रय करने के लिये अल्पकालीन ऋण व अर्थ-सहायता देने की योजनाएं सम्मिलित की गई। (iv) मिली-जुली योजनायें (Miscellaneous) —उपरोक्त कार्यक्रम के अतिरिक्त आन्दोलन के अन्तर्गत कुछ मिले-जुले प्रयत्न भी सम्मिलित किये गए, जैसे—(अ) छोटे रेशे वाली कपास बोई जाने वाली भूमि पर खाद्य फसलें उगाने के प्रयत्न किये गये, (आ) सहायक खाद्यों की उत्पत्ति बढाने के प्रयत्न किये गये, (इ) बीमारियों व कीडों-मकोडों से फसलों की रक्षा कर सकने वाले उपाय अपनाये गए तथा (ई) फसल प्रतियोगिताओं (Crop Competitions) का आयोजन किया गया।

सन् १९४३-४६ की अवधि मे भारत सरकार ने ऋणों और अनुदानों के रूप मे अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन पर १६ करोड रु० व्यय किए। आन्दोलन के प्रारम्भिक वर्षों मे कोई विशेष सफलता नही मिली। फलतः खाद्यान्न के उत्पादन मे विशेष वृद्धि नही हुई। सन् १९४५, ४६ और ४७ मे खाद्यान्न की उपज क्रमश ४६१, ४०६ और ४२० लाख टन थी। आन्दोलन की असफलता के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार थे :—(i) खाद्यान्नों की उपज बढाने के लिए कोई निश्चित लक्ष्य निर्धारित नही किया गया, (ii) कृषि-विकास सम्बन्धी कोई व्यापक एव नियोजित कार्यक्रम नही बनाया गया तथा (iii) आन्दोलन का सदेश ग्रामीण क्षेत्रों मे पहुचाने के लिए सामुदायिक विकास अथवा राष्ट्रीय विस्तार सेवा के रूप मे कोई निश्चित सगठन नही था।

सन् १९४४ मे 'अकाल आयोग' (Famine Commission) की नियुक्ति की गई। आयोग ने यह सुझाव दिया कि भारत सरकार को जनता के भरण-पोषण का दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। फलत सरकार ने खाद्य समस्या को हल करने के लिए अल्पकालीन उपायों के रूप म ग्रामीण क्षेत्रों से अनाज क्रय करके अपने नियत्रण म वितरण की व्यवस्था की। खाद्यान्न के भाव निश्चित कर दिए गए तथा खाद्यान्न के लाने लेजाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अनेक स्थानों पर राशनिंग भी कर दिया गया। सन् १९४७ मे लगभग शहरों की १४.५ करोड जनता राशनिंग व्यवस्था के अन्तर्गत थी।

(आ) स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार की खाद्य-नीति (Government's Food Policy After Independence) —स्वतत्रता प्राप्ति के समय देश मे खाद्यान्न की नीति पूर्णत सतोषप्रद नहीं थी। फलतः सरकार ने २७ सितम्बर १९४७ को खाद्यान्न-नीति-समिति (Foodgrains Policy Committee) नियुक्त की। समिति ने खाद्य समस्या के समाधान के लिए यह सुझाव दिया कि हमे विदेशी आश्रितता कम करके खाद्यान्न के विषय मे आत्म निर्भरता प्राप्त करनी चाहिए। समिति की सिफारिशों के आधार पर उसी वर्ष

फलत खाद्यान्नो का उत्पादन सन् १९५५–५६ मे ६५८ लाख टन से बढकर १९५६–५७ मे ६८८ लाख टन हो गया। परन्तु पुन प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप सन् १९५७–५८ म खाद्यान्नो की कुल उपज घटकर ६२५ लाख टन ही रह गई। अत खाद्यान्न के मूल्यों मे वृद्धि हुई जिसे देखकर कृषको, व्यापारियो तथा उपभोक्ताओ ने खाद्यान्नो का सग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। खाद्यान्नो के बढते हुए मूल्यो की जाच करने के लिए सन् १९५७ मे भारत सरकार ने अशोक मेहता (Ashoka Mehta) की अध्यक्षता मे एक जाच समिति (Enquiry Committee) नियुक्त की। इसके अतिरिक्त सरकार ने खाद्यान्नो के उचित वितरण के लिये उचित मूल्यो की दुकानो (Fair Price Shops) की सख्या म वृद्धि की, अपने 'Buffer Stock" मे से राज्य सरकारो को खाद्यान्न दिया तथा बडे-बडे व्यापारियो के लिये लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया। सन् १९५८ मे देशभर मे ५०,००० उचित मूल्य वाली दुकानें थी। अनाज के सग्रह को कम करने के लिये रिजर्व बैंक ने सभी अनुसूचित बैंको को यह आदेश दिया कि वे चावल की धरोहर पर कम ऋण प्रदान करें। यही नही, देश के चावल और गेहू क्षेत्रो (Zones) को पुन सगठित किया गया तथा विभिन्न क्षेत्रो के बीच गेहू-चावल के आयात निर्यात पर कड प्रतिबन्ध लगा दिए गये। भारत सरकार ने देश मे अन-सकट की भावी समस्या के निवारणार्थ मई सन् १९६० मे अमेरिकन सरकार से एक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत भारत को तीसरी योजना के प्रथम दो वर्षों तक अमेरिका से लगभग ६०८ करोड रु० का १६ करोड टन गेहू और १० लाख टन चावल प्राप्त हो सकेगा। सन् १९६०–६१ म खाद्यान्न का कुल उत्पादन ७६० लाख टन हुआ तथा खाद्यान्नो की प्रति व्यक्ति दैनिक उपलब्धि १४ औंस से बढकर १६ औंस हो गई। साराश रूप म द्वितीय योजनाकाल म खाद्यान्नोत्पादन मे विशेष प्रगति नही हो सकी। सन् १९५७–५८, १९५८–५९, १९५९–६० और १९६०–६१ मे क्रमश १६२, १५२, १५५ और १४५ करोड रु० के मूल्य का खाद्यान्न विदेशो से मगाया गया। (iii) तीसरी पचवर्षीय योजना —इस योजना मे कृषि-उत्पादन म वृद्धि लाकर ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिय एक व्यापक दृष्टिकोण की परिकल्पना की गई है। बडी और छोटी परियोजनाओ से सिंचाई का विकास, भूमि-सरक्षण कार्यक्रम और उर्वरको की आपूर्ति, उन्नत बीज और ऋण तथा ग्राम-स्तर तक विस्तार सवाओ की व्यवस्था आदि अनेकानेक उपायो द्वारा, तीसरी योजना मे प्रत्यक्षरूप से उत्पादन बढाया जायगा। योजना के अन्तर्गत खाद्योत्पादन का लक्ष्य १,००० लाख टन रक्खा गया है। योजनाकाल मे प्रति एकड उत्पादन म वृद्धि लाने के लिए सामूहिक प्रयत्न किय जायेंगे जिनसे कि दूसरी योजना क औसत उत्पादन से प्रति एकड चावल के उत्पादन म २७ ५% तथा गेहू के उत्पादन म २०% अधिक वृद्धि हो सके। योजनाकाल म खाद्यान्नो की प्रति व्यक्ति दैनिक उपलब्धि १९६०–६१ मे १६ औंस से बढकर सन् १९६५–६६ म १७ ५ औंस तथा खाद्य-तेलो की दैनिक उपलब्धि ० ४ औंस से बढ़कर ० ५ औंस हो

गति (Trend of Economic Development) तथा इसकी घाटे की वित्तीय व्यवस्था (Deficit Financing) है। समिति ने बताया कि सन १९५३-५४ और १९५६-५७ की अवधि मे नियोजन के कार्यक्रम मे बडी मात्रा मे विनियोग किया गया जिसकी पूर्ति के लिये सरकार ने साख-विस्तार तथा घाटे की वित्तीय व्यवस्था की नीति का सहारा लिया। समिति की राय मे सरकार की यही नीति महगाई का मूल कारण थी। (ii) आर्थिक विकास के कारण देश के अनेक वर्गों की आय मे पूर्वापेक्षा वृद्धि हो गई जिसके फलस्वरूप इन वर्गों की उपभोग की मात्रा (Quantity of Consumption) तथा उपभोग की प्रवृत्ति (Trend of Consumption) मे अन्तर आ गया अर्थात् खाद्य व उपभोग्य वस्तुओ की माग बढ गई तथा मोटे अनाज की जगह गेहू-चावल आदि का उपभोग बढ गया जिसके फलस्वरूप गेहू और चावल के मूल्यो मे विशेषकर वृद्धि हो गई। (iii) समिति की राय मे मूल्य-वृद्धि का तीसरा कारण व्यापारियो एव बडे उत्पादको की सग्रह-प्रवृत्ति रहा है। खाद्यान्न के अभाव की सम्भावना करके तथा बढते हुए मूल्यो से लाभ उठाने के लिये व्यापारियो ने तथा बडे-बडे कृषको ने खाद्यान का सग्रह करना प्रारम्भ कर दिया जिसके फलस्वरूप खाद्यान्न के मूल्यो मे अत्यधिक वृद्धि हो गई। (iv) समिति का मत है कि खाद्यान्न के मूल्यो की घटा-बढी उसकी कुल उपज की घटा-बढी से इतनी सम्बन्धित नही है, जितनी कि खाद्यान्न की बाजार मे बिकने के लिये आने वाली मात्रा की घटा-बढी से सम्बन्धित है। चू कि भारतीय कृषको की आर्थिक स्थिति सुधर गई है तथा उनकी साख-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति भी सरलतापूर्वक होने लगी है, इसलिये उनकी सग्रह प्रवृत्ति बढ गई है जिसके कारण बाजार मे खाद्यान्न की पूर्ति कम हो गई है तथा उसके मूल्यो मे वृद्धि हो गई है। (v) समिति के अनुसार कभी-कभी किसी विशेष खाद्यान्न की पूर्ति मे परिवर्तन होने से भी समस्त खाद्यान्नो के मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है। सन् १९५५-५६ मे ज्वार-बाजरे की फसल खराब हो जाने से गेहू की माग बढ गई जिसके फलस्वरूप ज्वार-बाजरा और गेहू तीनो खाद्यान्नो के मूल्यो मे वृद्धि आ गई। (vi) अन्त मे समिति के अनुसार कभी-कभी देश के किसी एक क्षेत्र मे अनावृष्टि अथवा वर्षा की अनिश्चितता के कारण क्षत्रीय-अन्न सकट से भी देशव्यापी महगाई दृष्टिगत होती है।

'अशोक मेहता समिति' ने खाद्य समस्या के समाधान के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार प्रस्तुत किये —(i) यद्यपि खाद्यान्न के मूल्यो को बिल्कुल स्थिर रखना न तो सम्भव ही है और न वाछनीय ही, परन्तु फिर भी हमारा उद्देश्य खाद्यान्नो एव उससे सम्बन्धित वस्तुओ के मूल्य मे स्थिरता (Stability) लाना होना चाहिए। समिति ने खाद्यान्नो के मूल्यो मे स्थिरता लाने के लिये "अबाध-निजी व्यापार" तथा 'पूर्ण कन्ट्रोल' के मध्य का मार्ग अपनाने का सुझाव दिया है। समिति का मत है कि कन्ट्रोल लगाने का हमारा उद्देश्य पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना न होकर खाद्यान्न की पूर्ति मे होने वाली घटा-बढी का नियमन एव नियन्त्रण करना होना चाहिए। (ii) सरकार को मूल्य-स्थिरीकरण की नीति निर्धारित करने के

लिए तथा तत्सम्बन्धित कार्यक्रम को सुचारू रूप से चलाने के लिए एक मूल्य स्थिरीकरण मण्डल (Price Stabilization Board) की स्थापना करनी चाहिये जिसकी सहायतार्थ एक गैर-सरकारी केन्द्रीय खाद्य-सलाहकार परिषद (Non-official Central Foodgrains Advisory Council) तथा अखिल भारतीय एव क्षेत्रीय आधार पर मूल्य-सूचनाक तैयार करने के लिये मूल्य ज्ञान विभाग (Price Intelligence Division) की स्थापना करनी चाहिये। (iii) खाद्यान्नो के क्रय विक्रय एव मूल्य-स्थिरीकरण की नीति को कार्यान्वित करने के लिये एक खाद्यान्न-स्थिरीकरण सगठन (Food-grains Stabilization Organisation) की *स्थापना करनी चाहिये। इस सगठन का यह कार्य होना चाहिये कि वह* एक अन्तरस्थ-भडार (Buffer Stock) अपने पास रक्खे तथा मूल्य-वृद्धि के समय खाद्यान्नो को बेचकर तथा मूल्य-ह्रास के समय खाद्यान्नो को खरीदकर मूल्यो को स्थिर रक्खे।

खाद्यान्न जाच समिति ने खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए जिस उपरोक्त योजना की रूपरेखा बनाई उसकी सफलता के लिए कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिए —(i) खाद्यान्न के सभी बडे बडे उत्पादको तथा व्यापारियो के लिए लाइसेंस लेने अनिवार्य कर देना चाहिये। (ii) खाद्यान्न स्थिरीकरण सगठन (Foodgrains Stabilization Organisation) के "अन्तस्थ-भण्डार' (Buffer Stock) के अतिरिक्त २० लाख टन का एक खाद्यान्न सुरक्षित-भण्डार (Foodgrains Reserve) भी स्थापित करना चाहिए। (iii) खाद्यान्नो के उचित वितरण के लिए "सस्ते अनाज की दुकानें' खोलनी चाहिए। सहकारी समितियो तथा सहकारी उपभोक्ता भण्डारो को खाद्यान्न के वितरण का दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए जिससे कि वितरण की समस्या सरलता से हल हो सके। (iv) समिति की राय मे आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत अभावग्रस्त-क्षेत्रो के विकास कार्यक्रम को प्राथमिकता देकर तथा पूरक खाद्यान्नो की उत्पादन-वृद्धि की नीति अपनाकर खाद्य समस्या को किसी सीमा तक सरलता से सुलझाया जा सकता है। (v) अत मे समिति ने खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए जनसख्या को नियत्रित करने तथा कृषि-विकास योजनाओ के अन्तर्गत खाद्योत्पादन मे वृद्धि लाने का सुझाव दिया है।

यद्यपि समिति की उपरोक्त सिफारिशो को सरकार द्वारा व्यवहरित नही किया गया, तथापि खाद्यान्नो के मूल्यो को नियन्त्रित करने के लिए सरकार ने कुछ अन्य उपाय प्रयुक्त किए, जिनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं :—(i) सट्टेबाजी *(Speculation) पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से अनाज के बड़े विक्रेताओ के लिए* लाइसेंस (Licence) लेना अनिवार्य कर दिया है। (ii) कुछ क्षेत्रो मे सस्ते अनाज की दुकानें खोली गई हैं। (iii) अनाज का सट्टा रोकने के लिए रिजर्व बैंक की सहायता से साख नियत्रण के लिए कदम उठाए गए हैं तथा देश मे अन्नाभाव को दूर करने के लिए खाद्यान्न के आयात की व्यवस्था की गई है। (iv) अनेक क्षेत्रो मे सशोधित रूप से राशनिंग (Rationing) व्यवस्था लागू की गई है।

खाद्यान्न का राजकीय व्यापार
(State Trading in Foodgrains)

प्राक्कथन :—सन् १९५७ की खाद्यान्न जाच समिति (Foodgrains Enquiry Committee) ने खाद्यान्नो के मूल्यो मे स्थिरता लाने के लिए व खाद्यान्न के थोक व्यापार का सामाजीकरण (Socialization of Wholesale Trade in Foodgrains) करने का सुझाव दिया। सन् १९५७-५८ मे खाद्यान्नो के मूल्यो मे बहुत अधिक वृद्धि हुई तथा सरकार द्वारा पर्याप्त प्रयत्नो के पश्चात् भी ये कम नही हो सके। सन् १९५८ मे राष्ट्रीय-विकास परिषद (National Development Council) ने भी खाद्यान्न के थोक व्यापार का सामाजीकरण करने की सिफारिश की। अत भारत सरकार ने "खाद्यान्न के राजकीय व्यापार' की योजना तैयार करने के लिए एक कार्यकर्त्ता दल (Working Group) की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशो के आधार पर २ अप्रैल १९५९ को खाद्यान्न के राजकीय व्यापार की घोषणा कर दी गई।

खाद्यान्न के राजकीय व्यापार की योजना (Scheme of State Trading in Foodgrains)—(क) सरकार द्वारा खाद्यान्न के व्यापार करने की योजना की मुख्य बातें इस प्रकार है—(1) उद्देश्य—खाद्यान्न के राजकीय व्यापार के मुख्य उद्देश्य दो रखे गये हैं — (अ) खाद्यान्न के मूल्यो को उस स्तर (Level) पर रखना *जो कि उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनो के दृष्टिकोण से न्यायपूर्ण* हो तथा (आ) उपभोक्ता द्वारा दिये जाने वाले तथा उत्पादक द्वारा प्राप्त किए जाने वाले मूल्यो के अन्तर को कम करना। (ख) **योजना की रूप रेखा** — सरकार ने खाद्यान्न के राजकीय व्यापार की योजना को दो भागो मे विभाजित किया है—(अ) **अन्तरिम योजना** (Interim Pattern)—अन्तरिम अवधि मे सरकार मूल्यो पर नियन्त्रण रखने के लिये बिक्री के लिये आने वाले खाद्यान्न का अधिकाधिक भाग क्रय करेगी। अन्तरिम काल मे थोक व्यापारियो को आज्ञापत्र (Licence) दिये जाएगे। आज्ञा त्र प्राप्त थोक व्यापारी अपनी ओर से खाद्यान्न का क्रय करेंगे परन्तु उन्हे सरकार द्वारा निर्दिष्ट न्यूनतम मूल्य कृषको को अवश्य देना होगा। सरकार को यह अधिकार होगा कि वह थोक व्यापारियो का समस्त अथवा थोडा सा माल नियन्त्रित मूल्यो पर खरीद सके। शेष भाग को थोक व्यापारी केवल नियन्त्रित मूल्यो पर ही फुटकर विक्रेताओ को बेच सकेंगे। सरकार द्वारा उचित मूल्यो की दुकानो (Fair Price Shops) की सख्या बढाकर तथा उपभोक्ताओ की सहकारी समितियो को अधिकाधिक सख्या मे सगठित करके फुटकर मूल्यो को भी प्रभावित करने के प्रयत्न किये जायेंगे। अन्तरिम काल मे राजकीय खाद्य व्यापार की मुख्य बातें इस प्रकार रहगी — (i) प्रारम्भ मे सरकार केवल गेहू और चावल का ही व्यापार करेगी, (ii) सरकार की सभी क्रय-विक्रय सम्बन्धी क्रियाए 'न हानि, न लाभ" (No Profit, No loss) के आधार पर ही चलाई जायेंगी तथा (iii) साधारणत एक राज्य अथवा एक क्षेत्र मे खाद्यान्न के क्रय के लिये समान मूल्य ही निश्चित

किये जायेंगे। **(आ) अन्तिम प्रतिरूप (Ultimate Pattern) :—** खाद्यान्न के राजकीय व्यापार के अन्तिम प्रतिरूप की एक ऐसी रूप-रेखा होगी, जिसमे ग्राम के स्तर पर सहकारी सेवा समितियां (Village Co-operatives) कृषकों से उत्पादन के आधिक्य (Surplus Productions) को एकत्रित करेंगी जिनका वितरण "सहकारी विपणन समितियों" (Co-operative Marketing Societies) तथा "शीर्ष सहकारी विपणन समितियों" (Apex Co-operative Marketing Societies) द्वारा होता हुआ फुटकर विक्रेताओं तथा उपभोक्ता की सहकारी समितियों द्वारा किया जाएगा। सरकार ने यह निश्चय किया है कि इस अन्तिम ध्यान तक सहकारी समितियों को अधिकाधिक संख्या में संगठित करके खाद्यान्न का थोक व्यापार अधिकाधिक मात्रा में इन समितियों द्वारा किया जाने लगेगा।

भारत में खाद्यान्न के राजकीय व्यापार की कठिनाइयां — हमारे देश मे खाद्यान्न के राजकीय व्यापार से सम्बन्धित कुछ कठिनाइयां इस प्रकार हैं — (i) एक अनुमान के अनुसार देश के कुल खाद्योत्पादन का लगभग ३०% भाग अर्थात प्रतिवर्ष लगभग २ करोड़ टन खाद्यान्न देश की हजारों छोटी-बड़ी मंडियों में बिक्री के लिये आता है। अत इस समस्त विपणय-आधिक्य (Marketable Surplus) को सरकार द्वारा क्रय करने, एकत्रित करने, श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण करने, भण्डारों मे सुरक्षित रूप से संग्रह करने, देश मे वितरित करने तथा बेचने आदि का कार्य यदि असम्भव नहीं, तो दुष्कर अवश्य हो जायेगा। (ii) इतने बड़े व्यापार को चलाने के लिये सरकार को बहुत बड़ी मात्रा मे द्रव्य की आवश्यकता होगी। यदि इसी द्रव्य को किसी उत्पादन कार्य में लगा दिया जाए, तब सम्भवत देश की आर्थिक प्रगति द्रुत गति से हो सकेगी। (iii) व्यापार के लिये अनुभवसिद्ध, प्रशिक्षित एव योग्य कर्मचारियों की परम आवश्यकता होती है। व्यक्तिगत व्यापार के अन्तर्गत एक व्यापारी मे सभी गुण होते हैं, परन्तु राजकीय व्यवस्था के अन्तर्गत एक कर्मचारी में इन गुणों का अभाव रहता है। (iv) चूंकि खाद्यान्न की अनेक किस्मे हैं, इसलिये सरकारी व्यापार के अन्तर्गत विभिन्न किस्मों के खाद्यान्न एक दूसरे मे मिल जाने की अधिक सम्भावना रहेगी। (v) राजकीय व्यापार से देश के लाखों व्यापारी बेकार हो जायेंगे। (vi) राजकीय व्यापार में निजी व्यापार की तुलना मे व्यापार-लागत बहुत अधिक होती है। अत इस व्यवस्था के अन्तर्गत भी कम मूल्यों पर जनता को खाद्यान्न मिल सकना एक कल्पना-मात्र है। (vii) राजकीय व्यापार मे कर्मचारियों को "व्यक्तिगत प्रेरणा" अथवा लाभ की प्रवृत्ति (Profit Motive) न हो सकने के कारण खाद्यान्न के खराब हो जाने की अधिक चिन्ता नहीं होगी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत घूसखोरी तथा राजनैतिक व्यभिचार को प्रोत्साहन ही अधिक मिलेगा। (viii) अन्त मे खाद्यान्न का राजकीय व्यापार जनतान्त्रिक सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है।

निष्कर्ष — खाद्यान्न का राजकीय व्यापार भारत सरकार द्वारा समाजवादी व्यवस्था को लाने मे महत्वपूर्ण कदम है। परन्तु प्रशासनिक एव द्रव्य सम्बन्धी

असुविधाओ को देखते हुये यह उचित है कि सरकार खाद्यान्न के थोक व्यापार का कार्य स्वय अपने हाथो मे लेकर एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करे जिससे कि खाद्यान्न के मूल्यो मे अधिक अस्थिरता न आ सके। सयुक्तराष्ट्र सघ (U N O) के "खाद्य एव कृषि सगठन" (Food and Agricultural Organisation) ने भी मूल्यो के स्थाईकरण के सिद्धान्त को महत्ता प्रदान की है। अत मूल्यो को स्थिर रखने के लिये सरकार के पास एक "अन्न भण्डार" होना चाहिये तथा मूल्यो की वृद्धि के समय भण्डार से अन्न बेचकर तथा मूल्यो के ह्रास के समय अन्न को खरीदकर मूल्यो को स्थिर रखना चाहिये। "खाद्यान्न के राजकीय व्यापार" का विस्तृत कार्यक्रम देश की परिस्थितियो के अनुकूल नही है, परन्तु मूल्यो की अस्थिरता को रोकना अति आवश्यक है।

१६
सिंचाई
(Irrigation)

भारत में सिंचाई का महत्व (Importance of Irrigation in India) —भारत एक कृषि प्रधान देश है। देश की आर्थिक सरचना (Economic Structure) मुख्यत कृषि व्यवसाय पर स्थित है। मिट्टी, और जलवायु के अतिरिक्त कृषि-उत्पादन मे पानी की आवश्यकता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अत देश मे कृषि विकास के लिए सिंचाई के साधनो की पर्याप्तता एव विकसितता नितान्त वाछनीय है। हमारे देश मे सिंचाई के साधनो की महत्ता के कुछ कारण इस प्रकार है —(i) **वर्षा का दोषपूर्ण वितरण** — भारत के समस्त भागो मे वर्षा का वितरण समान नहीं है। यदि एक ओर चीरापू जी जैसे क्षेत्र हैं जहा विश्व मे सबसे अधिक वर्षा (५००" वर्षा) होती है, तब दूसरी ओर राजस्थान तथा दक्षिण के पठार मे १०" से भी कम वर्षा होती है। पश्चिमी बगाल, असम और पश्चिमी घाट में वर्षा का वार्षिक औसत ७०" है जोकि फसल-उत्पादन के लिए पर्याप्त है। बिहार तथा पूर्वी-उत्तर प्रदेश मे भी वर्षा साधारणतया पर्याप्त हो जाती है। परन्तु पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पजाब आदि क्षेत्रो मे पर्याप्त वर्षा नही हो पाती। अत अपर्याप्त वर्षा वाले तथा शुष्क क्षेत्रो मे कृषि-उपज बढाने के लिए सिंचाई के कृत्रिम साधनो का विकास करना अत्यावश्यक है। (ii) **वर्षा की अनिश्चितता तथा असामयिकता** :—हमारे देश मे वर्षा की मुख्य विशेषता अनिश्चितता है। यदि किसी वर्ष पर्याप्त वर्षा हो जाती है, तब दूसरे वर्ष अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि के चित्र प्राकृतिक-चित्रपट पर अकित होते हैं। इसीलिए कहा भी जाता है कि "भारतीय कृषि मानसून का एक जूआ है" (Indian Agriculture is a Gamble in Monsoons)। **नानवती और अन्जीरिया (Nanawati and Anjaria) के शब्दों मे, "भारतीय कृषि वर्षा के हाथ का एक जुआ है। किसी वर्ष वर्षा होती ही नहीं और यदि होती भी है, तब समय से बहुत पूर्व अथवा समय से बहुत बाद और जिस वर्ष सामान्य वर्षा होती है तब भी उसकी अनिश्चितता एव असमान वितरण के कारण अकाल के दृश्य उपस्थित होते हैं*।"** डा० बलजीत सिह (Dr Baljit Singh)

* "Indian agriculture has been called a gamble in rains In any given year, not only may the rains not arrive, but they may arrive too early or too late Even a year of normal average rainfall may, thus, witness famine conditions because of the untimely commencement or end of the monsoon and the uneven distribution of the rainfall over the season "
Nanawati and Anjaria "The Indian Rural Problem "

ने अपनी पुस्तक "Wither Agriculture in India" मे लिखा है कि उत्तर प्रदेश मे विगत ३५ वर्षो मे लगभग १६ वर्ष कम वर्षा हुई है तथा ६ वर्षों मे सूखा पडा है। इसी प्रकार बगाल मे १० वर्षो मे एक वर्ष ही ऐसा होता है जब कि सामयिक एव पर्याप्त वर्षा होती है तथा प्रतिवर्ष प्रदेश के किसी न किसी भाग मे अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि का प्रकोप एक साधारण सी घटना हो गई है। एक अन्य अन्वेषण के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारत मे हर पाच वर्षो मे दो वर्ष अतिवृष्टि, दो वर्ष अनावृष्टि तथा केवल १ वर्ष ही पर्याप्त वर्षा हो पाती है। अत भारतीय कृषि को "मानसून के जुआ" से विमुक्ति दिलाने के लिए सिचाई के साधनो का विकास करना बहुत आवश्यक है। (iii) **सब ऋतुओं मे वर्षा का अनियमित वितरण** —हमारे देश मे केवल स्थान की दृष्टि से ही नही वरन् समय की दृष्टि से भी वर्षा का वितरण असमान है। अधिकाश वर्षा जुलाई से सितम्बर तक के ३ महीनो मे ही होती है तथा शरद्काल मे वर्षा बहुत कम हो पाती है। अत शरदकालीन फसलो के लिए कृत्रिम सिचाई के साधनो का प्रबन्ध करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। (iv) **अधिक पानी चाहने वाली फसलें**—कुछ फसलें, जैसे-गन्ना, चावल और कपास आदि के उत्पादन के लिए पानी की अधिक वाञ्छनीयता होती है। अत इन फसलो को पर्याप्त एव नियमितता-पूर्वक पानी देने के लिए सिचाई की बहुत आवश्यकता है। (v) **जीवन की सुरक्षा का साधन** —श्री नोवल्स के मतानुसार सिचाई के साधनो ने जीवन को सुरक्षित बना दिया है क्योकि इनके कारण भूमि के उत्पादन मे वृद्धि होती है, भूमि के मूल्य मे वृद्धि होती है तथा उससे प्राप्त आय मे वृद्धि होती है। एक अनुमान के अनुसार सिचाई के कृत्रिम साधनो द्वारा निश्चित एव पर्याप्त वर्षा वाले क्षेत्रो के उत्पादन मे ५०% वृद्धि होती है तथा अपर्याप्त एव अनिश्चित वर्षा वाले क्षेत्रो मे १००% से २००% तक वृद्धि होती है। पश्चिमी पजाब के नहरी-उपनिवेश (Canal Colonies) (जो अब पाकिस्तान मे हैं) इस तथ्य के साक्षात प्रमाण हैं। Sir Chares Trevillijyan के शब्दों मे, **"भारत मे सिचाई ही सब कुछ है। पानी का मूल्य भूमि से अधिक है क्योकि भूमि मे पानी लगा देने से उत्पादन छ गुने से भी अधिक बढ जाता है तथा भूमि भी अधिक उर्वरा हो जाती है।"** (vi) **कृषि-नियोजन** —देश मे जनसख्या की तीव्र वृद्धि को देखते हुए यह परमावश्यक है कि कृषि का नियोजित ढग से विकास किया जाए। ऐसी स्थिति मे बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाना, वैज्ञानिक कृषि पद्धति का प्रयोग, उत्तम बीज, उर्वरक तथा कृषि यन्त्रो का प्रयोग आदि विभिन्न उन्नत साधनो द्वारा गहरी खेती (*Intensive Cultivation*) तथा विस्तृत खेती (*Extensive Cultivation*) की जानी चाहिए। परन्तु यह समस्त कार्यक्रम तभी सफल हो सकता है जबकि कृषि-व्यवसाय को वर्षा की आश्रितता से मुक्त कर दिया जाए। अत कृषि-नियोजन एव देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिए सिचाई का प्रबन्ध करना अति आवश्यक है। (vii) **सरकार की आय मे वृद्धि** —सिचाई

द्वारा कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होने से यातायात, व्यापार तथा राजकीय आय प्रत्येक मे समृद्धि आयेगी। सिंचाई के साधनो से कृषक एव सरकार दोनो की ही आय मे वृद्धि होगी जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीयसमृद्धि एव आर्थिक-सम्पन्नता मे सुदृढता आएगी। (viii) अकालों का निवारण —सिंचाई के कृत्रिम साधनो के विकास से भारतीय कृषि की मानसूनी निर्भरता को समाप्त करके अकाल की सम्भावना को सदैव के लिए दूर किया जा सकता है। भारत मे सिंचाई के साधनो के विकास के साथ-साथ अकालो की सख्या और भीषणता मे पर्याप्त कमी आ गई है। (ix) परिवहन सम्बन्धी सेवा —कृत्रिम-सिंचाई योजना के अन्तर्गत बनाई गई बडी बडी नहरो मे नाव और स्टीमर चलाए जा सकते हैं और इस प्रकार अन्तर्देशीय जल परिवहन सम्बन्धी सुविधाओ का विकास करके रेल एव सडक परिवहन से यातायात के भार (Burden of Traffic) की मात्रा को कम किया जा सकता है।

भारत में सिंचित-क्षेत्र :—भारत मे लगभग १३५ ६ करोड एकड फुट नदी पानी साधन उपलब्ध हैं। प्राकृतिक भूवृत कारणो से, इसमे से केवल ४५ करोड एकड फुट पानी का ही सिंचाई के लिए उपयोग हो सकेगा। द्वितीय योजना के अन्त तक इसमे से केवल १२ करोड एकड फुट पानी का उपयोग किया जा सका है। अत स्पष्ट है कि यद्यपि भारत मे जल के महान और विस्तृत स्रोत हैं तथापि उनके अपूर्ण उपयोग के कारण देश का सिंचित-क्षेत्र बहुत कम है। सन् १९४७ मे देश के विभाजन से पूर्व समस्त कृषितक्षेत्रफल (२९ ८ करोड एकड) का २४% भाग अर्थात् ७'२ करोड एकड क्षत्र सिंचित था। देश का विभाजन इस दृष्टिकोण से भारत के प्रतिकूल रहा। भारत को कुल जनसख्या का ८२% भाग मिला, परन्तु कुल सिंचित-क्षेत्र का केवल ६९% भाग ही मिला। इस प्रकार विभाजन के उपरात भारत का कुल सिंचित-क्षेत्र ५ करोड एकड था। सन् १९५०-५१ मे देश मे कुल ५१५ लाख एकड भूमि सीची गई। इसमे से ~२० लाख एकड भूमि बडी और मध्यम सिंचाई योजनाओ द्वारा तथा २९५ लाख एकड भूमि छोटी सिंचाई योजनाओ द्वारा सीची गई। सन् १९५५-५६ मे कुल सिंचित क्षेत्र बढाकर ५६२ लाख एकड तथा सन् १९६०-६१ मे ७०० लाख एकड कर दिया गया। सन् १९५५-५६ मे 'विशुद्ध कृषित क्षेत्र' (Net Area Sown) ३,१८० लाख एकड था जिसमे से विशुद्ध सिंचित-क्षेत्र (Net Area Irrigated) ५६२ लाख एकड था। इस प्रकार प्रथम योजना के अत तक सिंचित-क्षेत्र कुल कृषित क्षेत्र का १७ ६% था। सन् १९६०-६१ मे विशुद्ध कृषित क्षेत्र ३,२७० लाख एकड मे से ७०० लाख एकड क्षेत्र मे सिंचाई हुई। इस प्रकार कुल सिंचित-क्षेत्र कृषित क्षेत्र का २१ ४% हो गया। अन्य देशो की तुलना मे हमारे देश मे सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत बहुत कम है। जबकि पाकिस्तान और चीन मे कुल कृषित-क्षेत्र के क्रमश ४८% और ४६% भाग पर सिंचाई होती है, तब हमारे देश मे कुल कृषित क्षेत्र के केवल २१'४% भाग पर ही सिंचाई होती है। तीसरी पचवर्षीय

योजना के अन्तर्गत कुल सिंचित क्षेत्र मे २६% वृद्धि लाने का लक्ष्य रखा गया है अर्थात् योजना के अन्त तक ६०० लाख एकड भूमि पर सिंचाई की सुविधाए उपलब्ध करने का निश्चय किया गया है। इस प्रकार सन् १९६५-६६ तक १६ करोड एकड फुट नदी-पानी-साधन को उपयोगी बनाने का अनुमान है। साराश रूप मे देश के विस्तृत भू-आकार तथा कृषि के महत्व को देखते हुए वर्तमान कृषि सिंचित-क्षेत्र आवश्यकता से बहुत कम है। अत आवश्यकता इस बात की है कि सभी छोटी, मध्यम और बडी *सिंचाई योजनाओ के कार्यक्रम* को व्यापक रूप मे विस्तृत करके सिंचित-क्षेत्र मे वृद्धि की जाए।

भारत में सिंचाई के साधन (Means of Irrigation in India) — भारत मे सिंचाई के मुख्य साधन तीन हैं.— (अ) कुआ (Wells), (आ) तालाब (Tanks) तथा (इ) नहरें (Canals)। सिंचाई के इन साधनो मे नहरें अधिक महत्वपूर्ण साधन हैं। सन् १९५५-५६ मे देश के कुल सिंचित-क्षेत्र (५६२ लाख एकड भूमि) मे से १६७ लाख एकड भूमि कुओ द्वारा, १०६ लाख एकड भूमि तालाबो द्वारा, २३२ लाख एकड भूमि नहरो द्वारा तथा ५४ लाख एकड भूमि सिंचाई के *अन्य साधनो द्वारा सीची गई। सिंचाई के विभिन्न साधनो की स्थिति और महत्व* का पृथक् पृथक् चित्रण इस प्रकार है —

(अ) कुआं (Well) —कुआ भारत मे सिंचाई का बहुत महत्वपूर्ण एव प्राचीनतम साधन है। चू कि कुआ सिंचाई का सबसे सरल और सस्ता साधन है, इसलिए देश के छोटे छोटे कृषको के लिये इसका महत्व और भी अधिक बढ जाता है। एक अनुमान के अनुसार कुओ द्वारा देश के सम्पूर्ण सिंचित क्षेत्र के ३०% भाग की सिंचाई होती है। कुए कच्चे और पक्के दो प्रकार के होते हैं। हमारे देश मे कच्चे कुओ की सख्या अधिक है। परन्तु देश की आर्थिक प्रगति के साथ-साथ पक्के *कुओ की सख्या मे भी वृद्धि होती जा रही है।* अधिकाशत कुए उन्ही स्थानों मे बनाये जाते हैं जहा पर मिट्टी मुलायम होती है तथा जहा पर भूमि की निचली सतह का जल अधिक नीचा नही होता। एक अनुमान के अनुसार भारत मे लगभग २५ लाख कुए हैं जिनमे लगभग १०० करोड रु० की पूजी लगी हुई है। इनमे से आधे से अधिक कुए अकेले उत्तर प्रदेश मे हैं। उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त मद्रास, महाराष्ट्र, पूर्वी पजाब तथा मध्य प्रदेश मे कुओ की सख्या क्रमश ६½ लाख, ३ लाख, ३ लाख और ४½ लाख है। कच्चे कुओ से चरस और ढेंकली द्वारा तथा पक्के कुओ से रहट द्वारा पानी निकाला जाता है। सामान्यत कुए निजी व्यक्तियो द्वारा ही बनाए *जाते हैं। कुछ कृषक सहकारिता के आधार पर भी कुओ का निर्माण करते हैं।* कुओ के निर्माण के लिये सरकार भी कृषको को तकावी ऋण प्रदान करती है। कुओं द्वारा सिंचाई के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं — (i) हमारे देश मे छोटे-छोटे कृषको की आर्थिक स्थिति को देखते हुए कुआ सिंचाई का सरल, सस्ता और अनुकूलतम साधन है। (ii) अन्य साधनो की अपेक्षा कुए से सिंचाई नियमित एव सामयिक रूप से की जा सकती है। कुआ सिंचाई का 'स्वतन्त्र व्यक्तिगत साधन'

है जो आवश्यकतानुसार किसी भी समय खेत की सिंचाई के लिये चलाया जा सकता है। (iii) नहरो द्वारा सिंचाई करने से होने वाली जलानुवेधन (Waterlogging) या क्षार फूटना (Salt-effervescence) आदि हानिया कुओ द्वारा सिंचाई करने से नही होती। (iv) कुए के पानी मे बहुत से रसायनिक पदार्थ, जैसे—सोडा, नाइट्रेट, क्लोराइड तथा सल्फट आदि घुले रहते हैं जिनसे भूमि की उर्वरा-शक्ति बढती है और अधिक अच्छा उत्पादन होता है। कुओं द्वारा सिंचाई करने के मुख्य दोष इस प्रकार हैं— (i) कुए द्वारा सिंचाई करने मे व्यय और परिश्रम दोनो ही अधिक लगते हैं। एक पक्का कुआ बनाने की औसत लागत १,००० रु० होती है जिसे एक छोटा निर्धन कृषक सहन नही कर सकता। (ii) लगातार पानी निकालने से कुए शीघ्र ही सूख जाते हैं तथा जिस वर्ष सूखा पडती है, कुओ मे पानी भी कम हो जाता है। अत इस दृष्टि से कुआ भी सिंचाई का सरल, उपयुक्त एव भरोसे का साधन नही है। (iii) अनुमानत एक पक्के कुए से १५ से ५० एकड भूमि की सिंचाई हो सकती है और कच्चे कुए से अधिक से अधिक ३ एकड भूमि की सिंचाई हो सकती है। इसीलिये कुआ सिंचाई का सीमित साधन है। (iv) अनेक स्थानो मे कुओ का जल खारा होता है जो सिंचाई लिये अधिक उपयुक्त नही होता।

(आ) नलकूप (Tube Well) —नलकूप सिंचाई का नवीनतम साधन है। नलकूप सिंचाई योजना (Tubewell Irrigation Scheme) का जन्म भारत मे सर्वप्रथम गगा की घाटी (Ganges Valley) मे हुआ था। एक नलकूप ३० फुट से ४०० फुट तक गहरा होता है जिसमे भूमितल का जल विद्युत्-शक्ति द्वारा निकाला जाता है। इसमे १ घटे मे ३३ हजार गैलन तक पानी खिंचता है जिससे लगभग ५०० एकड भूमि की सिंचाई हो सकती है। नलकूप के निर्माण के लिए कुछ आवश्यक बाते इस प्रकार हैं —(अ) भूमितल मे जल पर्याप्त मात्रा मे हो। (आ) भूमितल मे जल कम गहराई पर ही उपलब्ध हो। (इ) सिंचाई की माग भूमि के विस्तृत क्षेत्र मे व्याप्त हो तथा (ई) सस्ती विद्युत्-शक्ति उपलब्ध हो। भारत मे सबसे अधिक नलकूप उत्तर प्रदेश मे हैं। उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त, बिहार, महाराष्ट्र और पजाब मे भी नलकूप सिंचाई का एक महत्वपूर्ण साधन है। भारत मे नलकूप खुदवाने का कार्यारम्भ सर्वप्रथम सन् १९३० मे उत्तर प्रदेश और बिहार मे हुआ था। सन् १९५० मे देश मे लगभग २,५०० नलकूप थे जिनमे से अकेले उत्तर प्रदेश मे ही २,३०० नलकूप थे जिनसे लगभग १० लाख एकड भूमि पर सिंचाई होती थी। प्रथम योजनाकाल मे २,२९६ नलकूप "भारत-अमेरिका टेकनीकल सहकारी कार्यक्रम" (Indo—U S. Technical Co-operation Programme) के अन्तर्गत तथा २,०४३ नलकूप विभिन्न राज्यो की योजनाओ के अन्तर्गत खोदे गए थे। सन् १९५४ के अधिक अन्न उपजाओ (Grow More Food) कार्यक्रम के अन्तर्गत मार्च सन् १९६० तक उत्तर प्रदेश और पूर्वी पजाब मे २७० नलकूप बनाए गए। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत उत्तरी-गुजरात मे ४०० नलकूप बनाए गए जिनमे से केवल ३७४ नलकूप ही सफल हो सके। दूसरी योजना

के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश मे १,५०० नलकूप बनाने का लक्ष्य रखा गया था जिनमे से दिसम्बर १९६० तक केवल ६३० नलकूप ही बनाए जा सके। उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त गुजरात, असम, पश्चिमी बगाल और मध्य प्रदेश मे भी नलकूप बनाने का कार्य प्रगति पर रहा है। नलकूप द्वारा सिंचाई के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं — (i) नलकूप के निर्माण मे एक बार अवश्य ही बडी मात्रा मे पूजी व्यय होती है, परन्तु बाद मे इनके प्रबन्ध तथा सचालन मे बहुत कम व्यय करना पडता है जिससे कि सिंचाई भी सस्ती होती है। (ii) नलकूप कुए की अपेक्षा अधिक बडे क्षेत्र की सिंचाई कर सकता है। अत वृहतोत्पादन (Large Scale Production) की उन्नत कृषि के लिए यह एक महत्वपूर्ण साधन है। (iii) नहरी पानी की अपेक्षा नलकूप का पानी सिंचाई के लिए अधिक उपयुक्त होता है तथा इससे सिंचाई भी निश्चितता-पूर्वक एव समयानुसार की जा सकती है। (iv) कुओ की तरह नलकूप द्वारा सिंचाई करने से भी जलानुवेधन (water logging) की समस्या उग्ररूप धारण नही करती। (v) नलकूप द्वारा सिंचाई करने से कृषक के अपने श्रम तथा अपने बैलो के श्रम की बचत होती है जिस श्रम का उपयोग अन्य आर्थिक कार्यो मे किया जा सकता है। नलकूप द्वारा सिंचाई करने के मुख्य दोष इस प्रकार हैं —(i) नलकूपो के निर्माण मे एक बडी मात्रा मे पूजी की आवश्यकता होती है जिसे औसत भारतीय कृषक वहन नही कर सकता। (ii) देश मे राज्य सरकारो द्वारा यत्र तत्र नलकूप अवश्य बनवाये गए है, परन्तु वित्त सम्बन्धी कठिनाई के कारण राज्य सरकारो को भी इस क्षेत्र मे पर्याप्त सफलता नही मिल पाई है। (iii) राजकीय स्वामित्व के नलकूपो को हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक उपयोगी, सरल तथा सुलभ सिंचाई का साधन नही कह सकते, क्योंकि राजकीय कर्मचारी भ्रष्टाचार और घूसखोरी से अधिक प्रभावित होते हैं और कृषकों की सिंचाई सम्बन्धी आवश्यकताओ की उपेक्षा करके अपनी मनमानी अधिक करते हैं।

(इ) तालाब (Tanks) —दक्षिणी भारत मे तालाब सिंचाई का एक महत्वपूर्ण साधन है। समस्त देश मे कुल सिंचित क्षेत्र के लगभग १९% भाग की सिंचाई तालाबो द्वारा होती है। तालाबो द्वारा सिंचाई करने वाले क्षेत्र मुख्यत मद्रास आध्रप्रदेश मैसूर, महाराष्ट्र, राजस्थान और मध्यप्रदेश हैं। मद्रास और आध्रप्रदेश मे सर्वाधिक सिंचाई तालाबो द्वारा की जाती है। इन दोनो राज्यो मे लगभग ३५ हजार तालाब हैं जिनके द्वारा लगभग ३० लाख एकड भूमि की सिंचाई की जाती है। दक्षिणी भारत के अतिरिक्त उत्तरी भारत मे भी बगाल, बिहार उडीसा उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश आदि राज्यो म तालाबो द्वारा थोडी बहुत मात्रा म सिंचाई की जाती है। तालाब कच्चे और पक्के दोनो प्रकार के होते हैं। भारत म कुछ तालाब प्राकृतिक हैं तथा कुछ मनुष्य निर्मित। इनम से अधिकाश या तो सरकारी स्वामित्व मे हैं अथवा स्थानीय सस्थाओ के स्वामित्व म है। तालाबो का निर्माण नदियो के आर पार ऊचे-ऊचे बाध बनाकर अथवा वर्षा-ऋतु मे वर्षा का जल एकत्रित करके किया जाता है और आवश्यकता

पड़ने पर इनसे नालियों द्वारा सिंचाई की जाती है। तालाब द्वारा सिंचाई करने के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं —(i) चूंकि तालाब के पानी में वर्षा-जल तथा गन्दगी का सम्मिश्रण होता है, इसलिए तालाबों द्वारा सिंचाई करने से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। (ii) सिंचाई के अन्य साधनों की अपेक्षा तालाब सस्ता और सरल साधन है तथा यह कृषकों में पारस्परिक निर्भरता एवं सहकारिता की भावनाएं जाग्रत करने का बड़ा माध्यम है। (iii) दक्षिणी भारत में तालाब सिंचाई की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वहां की पथरीली भूमि में कुओं का निर्माण करना बहुत कठिन है तथा ग्रीष्मकाल में वहां की नदियां भी सूख जाती हैं। अतः वर्षा के जल को एकत्रित करके तालाबों द्वारा सिंचाई करना दक्षिणी भारत में अत्यन्त आवश्यक एवं लाभपूर्ण है। तालाब द्वारा सिंचाई करने के मुख्य दोष इस प्रकार हैं:—(i) जिस वर्ष वर्षा नहीं होती अथवा कम होती है, उस वर्ष तालाब भी सूख जाते हैं। अतः वर्षा पर आश्रितता होने के कारण तालाब स्वतन्त्र एवं भरोसे का साधन नहीं है। (ii) तालाबों की तह में शीघ्र ही मिट्टी जम जाती है जिसे प्रतिवर्ष साफ कराने में पर्याप्त व्यय करना पड़ता है। (iii) तालाबों द्वारा सिंचाई करने में पानी की बर्बादी बहुत होती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पंचायतों, सहकारी समितियों तथा स्थानीय संस्थाओं के द्वारा तालाबों के निर्माण एवं उनके विकास सम्बन्धी कार्यक्रम को शीघ्रता से आगे बढ़ाया जाए।

(ई) नहरें (Canals)—हमारे देश में नहरें सिंचाई का सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। अनुमानतः कुल सिंचित क्षेत्र का लगभग ४१% भाग नहरों द्वारा सींचा जाता है। नहरों द्वारा अधिकतर सिंचाई पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, मद्रास, मैसूर, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में की जाती है। उत्तरी भारत की नहरें गंगा, यमुना और सतलज जैसी निरन्तर पूरे वर्ष बहने वाली नदियों से निकाली गई हैं। चूंकि दक्षिणी भारत की नदियों का बहाव ग्रीष्मकाल में बहुत कम हो जाता है, इसलिये वहां नहरें भी अपेक्षाकृत कम हैं। नहरों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है —(i) बारहमासी नहरें (Perennial Canals) — बारहमासी नहरें नदियों पर बड़े-बड़े बांध लगाकर पानी को एकत्रित करके निकाली जाती हैं। चूंकि इस प्रकार की नहरों में पूरे वर्ष पानी बहता है, इसलिये इनसे सिंचाई भी नियमित ढंग से की जा सकती है। पंजाब, उत्तर प्रदेश, मद्रास और आंध्र प्रदेश में डेल्टा क्षेत्र की नहरें बारहमासी नहरें हैं। (ii) बाढ़ निरोधक अथवा बरसाती नहरें (Inundated Canals) — बरसाती नहरें पूरे वर्ष नहीं बहती वरन् वर्षा ऋतु में पानी आने पर ही बहती हैं। यद्यपि बारहमासी नहरों के निर्माण करने में बहुत बड़ी मात्रा में व्यय करना पड़ता है तथा बरसाती नहरों की अपेक्षा तकनीकी कुशलता, मशीन तथा अन्य सामग्री की अधिक आवश्यकता होती है, तथापि बारहमासी नहरें बरसाती नहरों की अपेक्षा सिंचाई का अधिक ठोस साधन हैं। (iii) स्टोरेज वर्क्स नहरें (Storage Works

Canals) — स्टोरेज वर्क्स नहरें पहाडी घाटियो मे बाध लगाकर वर्षा के पानी के एकत्रीकरण द्वारा निकाली जाती है। इस प्रकार की नहरें दक्षिणी भारत तथा मध्य भारत मे निकाली गई है। सिंचाई के दृष्टिकोण से स्टोरेज नहरो का महत्व तालाबो के ही समतुल्य है। वित्तीय दृष्टिकोण से नहरो को दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है —(i) उत्पादक नहरें (Productive Canals) — जिन नहरो से १० वर्ष की अवधि के भीतर ही इतनी आय प्राप्त होने लगे कि उनसे नहरो के निर्माण मे लगी हुइ पूजी का ब्याज दिया जा सके, उन्हे उत्पादक नहरें कहते है। (ii) रक्षात्मक अथवा अनुत्पादक नहरें (Protective or Unproductive Canals) — रक्षात्मक नहरें केवल देश की अकालो से सुरक्षा करने के लिये बनाई जाती है। इन नहरो से सरकार को कोई प्रत्यक्ष आय नही होती। स्वामित्व के दृष्टिकोण से हमारे देश मे दो प्रकार की नहरे पाई जाती हैं — (अ) व्यक्तिगत नहरें तथा (आ) राजकीय नहरें। सन् १९५५-५६ मे नहरो द्वारा कुल सिंचित क्षेत्र, २३२ लाख एकड मे से १९८ लाख एकड क्षेत्र राजकीय नहरो द्वारा और ३४ लाख एकड भूमि व्यक्तिगत नहरो से सींची गई थी।

नहरो द्वारा सिंचाई करने के मुख्य लाभ इस प्रकार है — (i) समतल भूमि तथा नरम मिट्टी वाले क्षेत्रो मे नहरे सिंचाई की सबसे सहज, सस्ती और शीघ्रगामी साधन है। (ii) चू कि भारत की अधिकाश नदिया अविरल गति से बहने वाली हैं, इसलिये इनसे निकाली गई बारहमासी नहरें सिंचाई का अविरल एव भरोसे की साधन हैं। (iii) नहरो के पानी मे अनेक रसायनिक पदार्थ मिश्रित हो जाते है जो भूमि को उपजाऊ बनाकर कृषि उत्पादन मे वृद्धि लाते है। (iv) नहरो द्वारा सिंचाई करके कृषक थोडे परिश्रम से अच्छी उपज प्राप्त कर लेता है। अत भारतीय कृषको के जीवन-स्तर को ऊचा उठाने मे नहरो का महत्वपूर्ण योग दान है। (v) बडी-बडी नहरों मे जल-परिवहन की सुविधाय उपलब्ध की जाती हैं। (vi) नहरो के निर्माण से अकाल और अन्न-सकट की समस्या दूर होती जा रही है। (vii) नहरें सरकारी आय बढाने का महत्वपूर्ण साधन हैं। राज्य सरकारें नहरो द्वारा सिंचित-क्षेत्रो से सिचाई-कर वसूल करती हैं। (viii) नहरो के दोनो ओर वृक्ष लगाकर न केवल भूमि क्षरण को कम किया जा सकता है वरन वन-क्षेत्र म वृद्धि लाकर इधन की समस्या को भी सुलझाया जा सकता है। नहरो द्वारा सिचाई के मुख्य दोष इस प्रकार है — (i) नहरो द्वारा अधिक सिंचाई होने से नहर-सिंचित क्षेत्रो मे जलानुवेधन (Waterlogging) तथा क्षार फूटने (Salt effervescence) की भीषण बुराइयो का नग्न-दिग्दर्शन होता है। (ii) नहरो द्वारा सिंचाई करने से पानी एक स्थान पर भर जाता है जिसमे मच्छर आदि कीटाणु उत्पन्न होकर जनता के स्वास्थ्य एव कार्य क्षमता पर बुरा प्रभाव डालते हैं। (iii) कृषक नहरी पानी के प्रयोग म मितव्ययिता एव सावधानी से काम नही लेते और आधे से भी कम पानी खेतो म पहुच पाता है। (iv) प्राय नहर विभाग के कर्मचारी समयानुसार, नियमिततापूर्वक तथा आवश्यकतानुसार पानी नही देते तथा

"Commanded Area" के ½ की सिंचाई होने तक को ही अपने दायित्व की इतिश्री समझते हैं। अन नहरें सिंचाई का स्वतन्त्र साधन नहीं हैं जिससे कि सिंचाई मे नियमितता नही आती।

निष्कर्ष —साराश रूप मे भारत मे कृषि-व्यवसाय के महत्व को दृष्टि मे रखते हुए राजकीय एव व्यक्तिगत रूप मे सिंचाई के समस्त प्रकार के साधनों को विकसित करने के लिये सक्रिय कदम उठाये जाने चाहियें। हमारे देश मे नहरों के बढाने के लिये अधिक क्षेत्र हैं क्योंकि देश मे पूरे वर्ष बहने वाली नदिया पाई जाती हैं। व्यक्तिगत साधन के रूप में कुओ का भी बहुत महत्व है। अन सरकार को चाहिये कि वह तकावी ऋण व तकनीकी परामर्श आदि की सहायता देकर कृषकों को कूप-निर्माण के लिये प्रोत्साहित करे।

सिंचाई सगठन —सन् १६१६ के अधिनियम के अन्तर्गत सिंचाई व्यवस्था का दायित्व राज्य सरकारो को सौंप दिया गया। अत प्रत्येक राज्य मे सिंचाई विभाग (Irrigation Departments) स्थापित किए गए। अन्तर्राज्य सिंचाई व्यवस्था (Inter-state Irrigation) का सचालन करने के लिए सन् १६३१ मे केन्द्रीय सिंचाई परिषद (Central Board of Irrigation) तथा सन् १६४५ मे केन्द्रीय जल विद्युत्, सिंचाई और जलयान आयोग (Central Water Power, Irrigation and Navigation Commission) की स्थापना की गई। केन्द्रीय सिंचाई परिषद भारत के अनुसधान केन्द्रों मे सिंचाई एव तत्सम्बन्धित अन्य विषयो पर किए जाने वाले अन्वेषण कार्यों मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करती है तथा केन्द्रीय जल-विद्युत् सिंचाई और जलयान आयोग का कार्य जल-शक्ति का नियत्रण, उसका उपयोग और उसके सरक्षण के लिए योजनाए बनाकर कार्यान्वित करना है और आवश्यकता पड़ने पर राज्य सरकारों की सलाह से नई योजनाए बनाना है। सन् १६४५ मे एक नलकूप विकास सघ (Tube well Development Union) की स्थापना की गई। यह सघ कृषि एव खाद्य मत्रालय के अन्तर्गत नलकूप योजनाओ के व्यवस्थापक के निर्देशन मे कार्य करता है। इसके अतिरिक्त यह सघ कम वर्षा वाले क्षेत्रो मे अनुसधान द्वारा भूमि के अन्दर पानी की मात्रा व प्रयोग की सम्भावनाओ का पता लगाता है। इन सस्थाओं के अतिरिक्त एक "केन्द्रीय जल सघ" (Central Ground Water Organisation) की स्थापना की गई जो सन् १६४६-४७ से जल-स्रोतों पर कार्य कर रहा है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई का विकास (Irrigation Development in Five Year Plans) — (१) **प्रथम और द्वितीय योजना** —प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे देश का कुल सिंचित क्षेत्र ५१५ लाख एकड था जो योजना के अन्त मे बढाकर ५६२ लाख एकड कर दिया गया। सन् १६५५-५६ मे २४६ लाख एकड क्षेत्र बड़ी एव मध्यम सिंचाई योजनाओ द्वारा तथा ३१३ लाख एकड क्षेत्र छोटी सिंचाई योजनाओं द्वारा सींचा गया था। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अत तक देश का कुल सिंचित

क्षेत्र बढाकर ७०० लाख एकड कर दिया गया। योजना के अंतिम वर्ष मे (सन् १९६०-६१) २१० लाख एकड क्षेत्र बडी और मध्यम सिंचाई योजनाओ द्वारा तथा ३६० लाख एकड क्षेत्र छोटी सिंचाई योजनाओ द्वारा सीचा गया। प्रथम और द्वितीय योजनाओ के अन्तर्गत सम्मिलित की गई बडी और मध्यम सिंचाई परियोजनाओ की समस्त अनुमानित लागत लगभग १,४०० करोड रु० है। यह आशा की जाती है कि सिंचाई की इन योजनाओ के पूर्णत विकसित हो जाने पर लगभग ३८० लाख एकड क्षेत्र की सिंचाई इन परियोजनाओ द्वारा हो सकेगी। दूसरी योजना के अन्त तक सिंचाई-विकास कार्यक्रम पर लगभग ८०० करोड रु० व्यय किए जा चुके थे।

(ii) **तीसरी योजना**।—तीसरी पचवर्षीय योजना मे ४२५ लाख एकड क्षेत्र की सिंचाई बडी और मध्यम सिंचाई की योजनाओ द्वारा होने तथा ४७५ लाख एकड क्षेत्र की सिंचाई छोटी सिंचाई योजनाओ द्वारा होने अर्थात् कुल ९०० लाख एकड क्षेत्र की सिंचाई होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। दूसरी योजना के अन्त तक १२ करोड एकड फुट नदी-पानी-साधन का उपयोग किया जा सका था। तीसरी योजना मे ४ करोड एकड फुट नदी-पानी-साधन का अतिरिक्त उपयोग किए जाने की सम्भावना है। इस योजना मे जो नवीन परियोजनाएं प्रारम्भ की जायेगी उनमे लगभग ९५ नई मध्यम सिंचाई योजनाए सम्मिलित हैं। इस योजना मे सिंचाई और बाढ-नियंत्रण कार्यक्रम पर ६६१ करोड रु० व्यय करने का प्रावधान है। इसमे से ४३६ करोड रु० उन सिंचाई परियोजनाओ पर व्यय किए जायेगें जो दूसरी पचवर्षीय योजना से चली आ रही है, १६४ करोड रु० नई परियोजनाओ पर तथा ६१ करोड रु० बाढ-नियन्त्रण, जल-निकासी, जल-प्लावन तथा समुद्र-तट क्षरण को रोकने की योजनाओ पर व्यय किए जायेगे। इस प्रकार तीसरी योजना मे सिंचाई विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत इन योजनाओ पर महत्व दिया जाएगा :— (i) दूसरी पचवर्षीय योजना से जो काम होते चले आ रहे हैं उन्हे पूरा करके किसानो के खेतो तक पानी पहुचाने के लिए नालिया बनाने का कार्य पूरा किया जाएगा। (ii) देश के कुछ भागो मे, विशेषकर पजाब मे, जल प्लावन की समस्या गम्भीर बन गई है। तीसरी योजना मे जल-प्लावन को रोकने का काम बडे विस्तृत पैमाने पर किया जाएगा। इसी प्रकार इस योजना मे कुछ समुद्रतटवर्ती क्षेत्रो, जैसे—केरल मे समुद्र से भूमि के कटाव को रोकने की समुचित व्यवस्था की जायगी। (iii) योजनाकाल मे मध्यम सिंचाई परियोजनाओ के विकास कार्यक्रम पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। तीसरी योजना मे सिंचाई सम्बन्धी बुनियादी अनुसधान के कार्यक्रमों के लिए १२० लाख रु० रखे गए हैं। यह अनुसधान कार्य पूना के "केन्द्रीय जल और विद्युत् अनुसधान केन्द्र" (Central Water and Electric Research Centre) तथा विभिन्न राज्यों मे स्थित १५ अनुसधान केन्द्रों मे चल रहा है। सिंचाई परियोजनाओ से अतिशीघ्र लाभ उठाने के उद्देश्य से तीसरी योजना मे हेडवर्क्स, नहरें, सहायक नदिया, जलमार्ग और खेतो की नालिया आदि

बनाने के कार्य एक साथ सम्पन्न किये जायेंगे। सिंचाई परियोजनाओं के विकास-कार्यक्रम से तीसरी योजना मे खुशहाली-कर (Betterment Tax) तथा बाढ-शुल्क (Flood's Fees) के रूप मे राज्य सरकारो को ३९ करोड रु० प्राप्त होने का अनुमान है।

नदी घाटी योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई-विकास :—हमारे देश मे अनेक बहु-उद्देशीय नदी-घाटी योजनाओ पर कार्य किया जा रहा है। इनमे से कुछ योजनाए पूर्णत तथा कुछ अशत पूरी हो चुकी हैं। बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओ का प्रमुख उद्देश्य अन्य कार्य-क्रमो के अतिरिक्त सिंचाई सुविधाओं का विकास करना है। (प्रमुख नदी-घाटी योजनाओ, जैसे — भाखरा नागल योजना, दामोदर घाटी योजना, हीराकुड बाध योजना, रिहन्द बाध योजना, चम्बल योजना, तुगभद्रा योजना, मचकुड योजना, काकरपाडा योजना तथा कोसी योजना के विषय मे विस्तृत रूप से 'शक्ति के साधन तथा जलविद्युत योजनाए' नामक पाठ मे लिखा जा चुका है। अत इस सदर्भ मे उसी अध्याय को पढिए)।

भारत में सिंचाई के विकास में मुख्य कठिनाइयां (Main Shortcommings in the Development of Irrigation in India) —भारत मे सिचाई के साधनो का विकास करने मे कुछ मुख्य कठिनाइया इस प्रकार है :— (i) **वित्त की कमी** :—सिचाई की समस्त छोटी, मध्यम और बडी परियोजनाओ के लिए अपार धन-राशि की आवश्यकता होती है। व्यक्तिगत तथा सहकारी रूप मे कुओ और तालाबो के निर्माण के लिए भी अपार धनराशि की आवश्यकता पडती है। यद्यपि वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए तीसरी योजना मे ऋण लेने, सरकारी सहायता, विशेष अनुदान, जलपूर्ति-कर, लगान मे वृद्धि तथा सिचाई और खुशहाली-कर आदि लागू करने की व्यवस्था की गई है, तथापि देश मे सिचाई विकास कार्यक्रम की आवश्यकता को देखते हुए पर्याप्त मात्रा मे धन प्राप्त नही हो सकेगा। यही नही, इस प्रकार सरकार धन सचित करने के लिए जो अतिरिक्त-कर लगाएगी, उससे जनता पर अनुचित भार पडेगा जिससे जनता मे असतोष की प्रवृति जागृत होगी। (ii) **तकनीकी शिक्षा का अभाव** :—हमारे देश मे सिचाई योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए विशेषज्ञ एव प्रशिक्षित कर्मचारियो का नितात अभाव है। सिचाई योजनाओ को कार्यान्वित एव सचालित करने के लिए विदेशी-विशेषज्ञो की नियुक्ति करनी पडती है जिससे कि देश पर अनावश्यक व्यय-भार बढता है। (iii) **आवश्यक सामग्री का अभाव** :—सिचाई परियोजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए सीमेंट, इस्पात तथा मशीनरी आदि आवश्यक सामग्री का देश मे नितात अभाव है। यही कारण है कि हमारे देश मे सिचाई योजनाओ का कार्य शिथिलता से चलता है। (iv) **जनसहयोग का अभाव** — बाढ-नियन्त्रण, जल-निकासी, जल-प्लावन तथा समुद्रतट-क्षरण रोकने की योजनाओ तथा सिचाई योजनाओ के धीमे विकास का मुख्य कारण यह है कि इन योजनाओ मे जनता सरकार को कोई सहयोग नही करती। (v) **अन्वेषण और अनुसंधान**

की कमी —हमारे देश मे सिचाई सम्बन्धी बुनियादी अनुसधान कार्यक्रम को विशेष महत्व नही दिया जाता है तथा प्रस्तावित योजनाओ को बिना अन्वेषण के ही कार्यान्वित कर दिया जाता है। अतः परियोजनाओ के निर्माण मे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडता है और उनमे शिथिलता आती है (vi) कृषकों की अनुत्तरदायित्व की भावना —हमारे देश मे कृषक नहरो आदि के पानी को "सरकारी पानी" समझते हैं। अतः पानी की बर्बादी की ओर कोई ध्यान नही देते। इसी प्रकार भारतीय कृषक खेत की सिचाई के लिए वर्षा की प्रतीक्षा मे बैठा रहता है और वर्षा मे अति-विलम्ब हो जाने की स्थिति मे ही सिचाई के लिए नहरों और नलकूपो से पानी लेने की दौड धूप करता है। परन्तु सभी कृषको को सिचाई की आवश्यकतानुसार पानी मिलना अत्यत असम्भव होता है। इसलिए सिचाई की व्यवस्था पर अत्यधिक भार पडता है तथा सिचाई के साधनो का पूर्ण उपयोग भी नही होने पाता। अत कृषको की अज्ञानता और उदासीनता भी किसी सीमा तक सिचाई के साधनो के शिथिल विकास के लिए उत्तरदाई है।

सिंचाई की सुविधाओ के विकास के लिए सुझाव (Suggestions for Improvement for Irrigation Facilities) —सिचाई के साधनो के तीव्र गति से विकास के लिए कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं —(i) देश के जिस क्षेत्र मे सिचाई के लिए जैसे साधन अधिक सुलभ, उपयुक्त एव कम लागत-व्यय के हो, उस क्षेत्र मे सिचाई के उन्ही साधनो का विकास करना चाहिये। (ii) निजी व्यक्तियो तथा सहकारी समितियो द्वारा कुए, तालाब तथा नलकूप आदि बनाये जाने के लिये सरकार को ऋण, अनुदान आदि के रूप मे सहायता करनी चाहिये। ग्रामीण क्षेत्रो मे "अल्प बचत योजना" को प्रसारित करके पर्याप्त मात्रा मे धन प्राप्त किया जा सकता है जिससे छोटी सिचाई योजनाओ का विकास किया जा सकता है। (iii) सभी बडी, मध्यम तथा छोटी सिचाई परियोजनाओ के विकास के लिये राज्य व सरकारो को तीव्रगति से कदम बढाना चाहिये। केन्द्रीय सरकार को चाहिये कि वह सिचाई योजनाओ के लिये राज्य-सरकारो को बडी मात्रा मे अनुदान दें। (iv) सिंचाई कार्यों से जिन क्षेत्र के व्यक्तियो को लाभ होगा, उन्ह इस बात के लिए तैयार करना चाहिये कि वे स्वेच्छापूर्वक श्रमदान अथवा अर्थदान द्वारा इन योजनाओ को पूरा करने मे सहायक हो। (v) वर्तमान सिचाई सुविधाओ को भली भाति सुरक्षित रखकर उनसे अधिकाधिक लाभ उठाया जाना चाहिय। (vi) सिंचाई सम्बन्धी अन्वेषण एव अनुसधान कार्य को प्रोत्साहन देना चाहिये। राज्य सरकारें जिन सिचाई योजनाओं को चौथी योजना मे सम्मिलित करने का प्रस्ताव रखना चाहे, उन योजनाओ के पर्याप्त अन्वेषण के पश्चात् परियोजना सम्बन्धी रिपोर्ट तीसरी योजना की अवधि मे ही सब प्रकार से पूरी कर लेनी चाहिये। तीसरी योजना मे सिचाई सम्बन्धी बुनियादी अनुसधान कार्यक्रम पर १२० लाख रु० व्यय करने का निश्चय किया गया है। इस समय कृषि-सम्बन्धी अनुसधान कार्य पूना के केन्द्रीय पानी

श्रौर विजली अनुसधान केन्द्र (Central Water and Electricity Research Centre) तथा विभिन्न राज्यो मे स्थित १५ अनुसधान केन्द्रो मे चल रहा है। (vii) जल-साधनो के एकीकृत एव लाभप्रद विकास के लिये यह बहुत आवश्यक है कि नदी-क्षेत्रो के विकास मे राज्यो मे परस्पर सहयोग हो। (viii) बडी-बडी सिंचाई योजनाश्रो को कुशलतापूर्वक तथा मितव्ययितापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए 'नियत्रण मण्डलो' की नियुक्ति की जानी चाहिये। जिन योजनाश्रो के लिए नियत्रण-मण्डल नियुक्त न किये जायें, उनकी 'विद्युत् एव जल मन्त्रालय" द्वारा समीक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये जिससे कि इन योजनाश्रो के कार्य मे गत्यावरोध न हो सके। (ix) पानी के अनुचित उपयोग को रोकने के लिये सिंचाई-कर, प्रयोग किये गये पानी की मात्रा के आधार पर लगाया जाना चाहिये। (x) बाढ-नियन्त्रण, जल-निकासी श्रौर जल प्लावन रोकने के काम का सिंचाई से गहरा सम्बन्ध है। अत सिंचाई की व्यापक विकास योजनाए बनाते समय इन सब पर एक साथ विचार कर लेना चाहिय। (xi) वर्तमान सिंचाई सुविधाश्रो को भली भाति सुरक्षित रखकर उनसे अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिये।

कृषि-पूंजी एवं कृषि-श्रम

(Agricultural Capital and Agricultural Labour)

प्राक्कथन :— यद्यपि कृषि भारत का एक मुख्य व्यवसाय है, फिर भी अपनी अविकसितावस्था एवं प्रति एकड़ न्यूनोत्पादन के कारण भारतीय कृषि कोई लाभदायक व्यवसाय (Profitable Occupation) न होकर जीवन यापन का एक ढंग-मात्र (Only a Way of Life) रह गई है। भारतीय कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था के कारणों को हम तीन शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं — (अ) संरचना सम्बन्धी दोष (Structural Deficiencies), (आ) प्राविधिक कारण (Technical Causes) तथा (इ) संगठन सम्बन्धी दोष (Organisational Defects)। प्रस्तुत अध्याय में पशु-श्रम, कृषि-यन्त्र, कृषि अनुसंधान, बीज, खाद एवं कृषि-श्रम पर पृथक् पृथक् रूप से प्रकाश डाला गया है।

(१) पशु-श्रम (Animal Labour)

भारतीय कृषि में पशुओं का महत्व (Importance of Cattle in Indian Agriculture) — भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था (Agricultural Economy) में पशुओं का विशेष महत्व है। कृषि उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर पशु-शक्ति अपना महत्वपूर्ण योगदान करती है। पशुओं के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं —(i) **कृषि-कार्य के संचालन में सहयोग** — कृषि-उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर पशु चालक शक्ति (Motive Power) प्रदान करते हैं। खेत जोतने, कुओं से सिंचाई करने, खेतों की बुवाई करने, अनाज को भूसे से पृथक् करने तथा फसल को मण्डी तक ले जाने में पशु शक्ति प्रभावपूर्ण योगदान करती है। एक अनुमान के अनुसार पशु-श्रम का मूल्य खेती की कुल लागत का १५ से २०% तक होता है। डाक्टर राइट (Dr. Wright) के अनुमानानुसार पशु-शक्ति से भारत को प्रतिवर्ष १,००० करोड़ रु० की आय होती है। (ii) **खाद की उपलब्धि** —पशुओं से गोबर के रूप में खाद उपलब्ध होती है जोकि सभी प्रकार के खादों से उत्तम कोटि की होती है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में प्रतिवर्ष ताजे गोबर का उत्पादन लगभग ८० लाख टन है। कुल गोबर का २०% नष्ट हो जाता है, ४० प्रतिशत भाग खाद के रूप में प्रयुक्त होता है तथा ४०% भाग ईंधन के रूप में जला लिया जाता है। अनुमानतः गोबर की खाद का वार्षिक मूल्य २७० करोड़ रु० होगा। (iii) **सहायक खाद्यों की पूर्ति** :—दूध देने वाले पशु भारतवासियों को दूध तथा दूध से बनी हुई अन्य वस्तुएं, जैसे—घी, मक्खन, मट्ठा आदि प्रदान करते हैं जोकि पौष्टिकता की

दृष्टि से मुख्य सहायक खाद्य-पदार्थ हैं। एक अनुमान के अनुसार दुग्ध एवं दुग्ध-पदार्थों का वार्षिक मूल्य लगभग ७५० करोड रु० होगा। (iv) **चमडा और हड्डियों की आपूर्ति** :—पशु अपने जीवनकाल मे मानव जगत की सेवा करता हुआ अपनी मृत्यु के उपरात भी खाल मास, हड्डी आदि के रूप मे मानव की आर्थिक सहायता करता है। हड्डी की खाद बनाई जाती है तथा खाल के आधार पर हमारा चमडा उद्योग आश्रित है। (v) **परिवहन का साधन** — ऊट, खच्चर, गधा, घोडा, भैंस और बैल आदि पशुओ से परिवहन सम्बन्धी कार्य भी लिया जाता है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश मे बैलो द्वारा खीची जाने वाली गाडिया वर्षभर मे रेलो के बराबर मात्रा मे माल ढोती हैं। माल ढोने के अतिरिक्त पशुओ अथवा पशुओ द्वारा खीची जाने वाली गाडियो से यात्री-यातायात भी ढोया जाता है। (vi) **अन्य लाभ** —इस प्रकार पशुओ का अनेक रूप से आर्थिक महत्व है। डार्लिंग (Darling) के शब्दों मे, **"पशुओ के बिना खेतों मे हल नहीं चलता, अन्न-भण्डार खाली रहते हैं तथा भोजन का स्वाद आधा रहता है, क्योंकि शाकाहारी देश मे दूध, घी या मक्खन न मिलने से अधिक बुरा क्या हो सकता है।"** एक अनुमान के अनुसार पशुओ से लगभग १,३२५ करोड रु० की वार्षिक आय उपलब्ध होती है। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रो मे विभाजित कृषि की एक ठोस पद्धति के अभिन्न उत्पादक-अंग के रूप मे पशुओ के महत्व की परिकल्पना शत् प्रतिशत सत्य है।

भारत में पशुओं की स्थिति —हमारे देश मे ससार की कुल पशु सख्या का लगभग ¼ भाग है। सन् १९५६ की पशु गणना के अनुसार देश मे ३०·६ करोड पशु थे। भारत के प्रति वर्गमील क्षेत्र मे २०४ तथा कृषि योग्य भूमि के प्रति १०० एकड क्षेत्र मे लगभग ६५ पशु हैं। यद्यपि सख्यात्मक दृष्टि से भारत अपनी पशु सम्पत्ति पर गर्व कर सकता है, परन्तु उनकी उत्पादकता की दृष्टि से भारत अधिक सौभाग्यशाली नही है। सन् १९५१ मे खाद्यान्न एवं कृषि सघ (Foodgrains and Agriculture Association) के द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता ने बताया था कि यद्यपि भारत मे पशुओं की कुछ नस्लें ऐसी हैं जिन पर भारत को गर्व हो सकता है, तथापि देश मे ऐसे पशुओ की सख्या भी कम नही है जिनकी नस्ल बहुत खराब है तथा जिनके उपयोग से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। पशु उपयोगिता समिति (Cattle Utilisation Committee) के अनुमानानुसार देश में कुल पशु-सख्या का लगभग १०% भाग अनुत्पादक है। अन्य देशो की अपेक्षा भारत मे गाय और भैंस बहुत कम दूध देती हैं। भारत मे एक गाय वर्षभर मे लगभग ४०० पौंड तथा एक भैंस लगभग १,१०० पौंड दूध देती है, जबकि अधिक उन्नत पश्चिमी देशो में दूध की यह मात्रा ५,००० पौंड अथवा इससे भी अधिक है। हमारे देश के अनेक भागो मे दूध न देने वाली गायो का अनुपात दूध देने वाली गायो के अनुपात से अधिक है। मद्रास, मैसूर, उडीसा, बिहार आदि राज्यो मे दूध न देने वाली गायो का अनुपात २ : १ है, मध्य-प्रदेश मे ३/२ : १ है तथा पजाब मे ४/३ : १ है। अत स्पष्ट है कि भारत मे उत्पादकता

(Productivity) की दृष्टि से पशुओ की स्थिति अधिक अच्छी नही है।

भारत में पशुओं की हीन दशा के कारण — देश मे पशुओ की हीन दशा के मुख्य कारण इस प्रकार हैं — (i) **पशुओं की अधिकता** (Excess of Cattle) —अन्य देशो की अपेक्षा भारत मे कृषि भूमि के क्षेत्रफल के अनुपात मे पशुओ की सख्या सर्वाधिक है। जबकि इगलैंड और मिस्र मे प्रति १०० एकड कृषित क्षेत्र के पीछे क्रमश ३८ और २५ पशु हैं, तब भारत मे यह सख्या लगभग ६५ है। अत अधिक सख्या मे पशुओ के होने से बोई जाने वाली कृषि-भूमि पर अनावश्यक भार पडता है तथा अधिक क्षेत्रफल मे चारे की फसल उगानी पडती हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत मे इस समय उपलब्ध चारे व पशु-खाद्य की पूर्ति पर केवल वर्तमान पशु-सख्या का केवल ⅔ भाग ही अच्छी अवस्था मे रक्खा जा सकता है। इस प्रकार देश मे पशुओ की सख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण पशुओ का पालन अच्छी अवस्थाओ मे नही किया ज सा। (ii) **अपर्याप्त एवं अपौष्टिक चारा** — पशुओं के आधिक्य का स्पष्ट परिणाम यह है कि देश मे पशुओ को अपर्याप्त एव अपौष्टिक चारा मिल पाता है। यद्यपि अन्य देशो की अपेक्षा भारत म पशु-सख्या अधिक है, परन्तु चारे की फसल बोने के क्षेत्रफल का प्रतिशत अपेक्षाकृत बहुत कम है। जबकि इगलैंड और मिस्र मे समस्त कृषि-क्षेत्र के क्रमश २५% तथा १६% भाग मे चारे की फसल उगाई जाती हैं, तब हमारे देश मे केवल ४% कृषित क्षेत्र मे ही चारे की फसल उगाई जाती है। भारतीय कृषक अपनी निर्धनता के कारण पशुओ को खली, चन', बिनौला आदि पौष्टिक खाद्य खिलाने मे भी असमर्थ रहता है। यद्यपि देश मे तिलहन का उत्पादन बहुत बडी मात्रा मे होता है, परन्त विदेशी विनिमय की माग के कारण उसका अधिकाश भाग विदेशो को निर्यात कर दिया जाता है। अत भारतीय पशु अपर्याप्त एव अपौष्टिक चारा मिलने के कारण दुर्बल और अकार्यक्षम (Inefficient) हैं। (iii) **दोषयुक्त एवं अविवेकी अभिजनन** (Defective and Indiscriminate Breeding) — भारतीय कृषक की अज्ञानता, असावधानी, निरक्षरता तथा गावो मे अच्छे साड न मिल सकने के कारण देश मे पशुओ का वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण अभिजनन नही हो पाता जिससे पशुओ की नस्ल दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही है। चूकि शारीरिक गठन, शारीरिक विकास, तथा कार्यक्षमता पर पैत्रिकता (Heredity) का निर्णायक प्रभाव पडता है इसलिये भारतीय पशुओ की दुर्बलता और अकार्यक्षमता के लिये दोषपूर्ण अभिजनन किसी सीमा तक उत्तरदाई है। (iv) **रहने की दोषपूर्ण दशायें** — हमारे देश मे पशुओ को अस्वस्थकर एव गन्दे स्थानो मे रक्खा जाता है। पशुओ को पानी पिलाने तथा चारा खिलाने मे भी किसी सावधानी अथवा समयानुकूलता का ध्यान नही रक्खा जाता। फलत पशु दुर्बल और अशक्त होते हैं। (v) **पशुओं के रोग** — रहने की गन्दी एव अस्वस्थकर दशाओ, अपर्याप्त एव अपौष्टिक चारा तथा किसी प्रकार की देखभाल न होने के कारण भारतीय पशु शीघ्र ही बीमारियो के शिकार बन जाते हैं। अकेले त्वचा सम्बन्धी रोग 'रिण्डरपेस्ट" (Rinderpest)

के कारण देश में प्रतिवर्ष कुल मरने वाले पशुओं की संख्या का ६०% है। (vi) कृषक की निर्धनता एवं निरक्षरता — अन्यान्य कारणों के साथ साथ भारतीय पशुओं की हीनावस्था के लिये कृषक की निर्धनता एवं निरक्षरता सर्वाधिक उत्तरदाई है। अशिक्षित कृषक पशुओं के वैज्ञानिक अभिजनन के प्रति असावधान रहता है, उनकी समय पर ठीक देखभाल नहीं करता तथा पशुओं की बीमारी के समय भाग्य पर भरोसा रखकर "हाथ पर हाथ रक्खे" बैठा रहता है। यही नहीं, निर्धनता के ही कारण भारतीय कृषक पशुओं को पौष्टिक एवं पर्याप्त चारा खिलाने में असमर्थ रहता है तथा बीमारी के समय दैवीय भरोसे पर ही रहने को विवश होता है। भारतीय कृषक अज्ञान नहीं है वरन् उसका ज्ञान उसकी निर्धनता से ओझल रहता है जिसके फलस्वरूप उसके पशु दुबल और अशक्त रहते हैं।

पशुओं की हीन दशा को सुधारने के उपाय — खाद्यान्न एवं कृषि संघ के द्वितीय सम्मेलन (Second Conference of Foodgrains and Agriculture Association) में पशुओं की दशा सुधारने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये गए थे — (i) देश की उत्तम नस्लों को चुनकर उनका विकास करना चाहिए। (ii) चूंकि विदेशी साडों का भारतीय पशुओं की नस्ल पर बुरा प्रभाव पड़ता है, इसलिये विदेशी साडों का आयात बन्द कर देना चाहिये। परन्तु प्रयोगात्मक पशुओं के आयात को अवश्य सुविधा देनी चाहिये। (iii) जब तक कम से कम चार पीढ़ी तक अच्छे साडों की व्यवस्था न कर ली जाए, पशु-सुधार केन्द्रों की स्थापना का कार्यक्रम उस समय तक के लिये स्थगित कर देना चाहिये। (iv) कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों (Artificial Insemination Centres) की स्थापना करनी चाहिये। (v) अनुसंधान केन्द्रों (Research Centres) की स्थापना करनी चाहिए। (vi) कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों तथा अनुसंधान केन्द्रों के कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था करनी चाहिये।

भारत में पशुओं की हीन दशा को उन्नत करने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं —(i) **बेकार पशुओं का प्रथक्करण** :—हमारे देश में लगभग १०% बेकार तथा अनुत्पादक पशु हैं। एक अनुमान के अनुसार इन अनुत्पादक पशुओं को जीवित रखने में लगभग १७६ करोड़ रु० वार्षिक का अनावश्यक व्यय होता है। अत आवश्यकता इस बात की है कि इन बेकार पशुओं को समाप्त कर दिया जाए। चूंकि हिन्दू धर्म हिंसा के विरुद्ध है, इसलिए यहां शीघ्रता से बूढ़े एवं बेकार पशुओं के बध को प्रचलित करना सम्भव नहीं है। अत बेकार पशुओं को अलग से ऐसे स्थानों पर रक्खा जाना चाहिए जहां पर चारे की बहुतायत हो। हमारे देश में विभिन्न राज्यों में स्थापित गोसदन इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। (ii) **पर्याप्त एवं पौष्टिक चारे की व्यवस्था** —पशुओं को सशक्त एवं कार्यक्षम्य बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उनके लिए पर्याप्त और पौष्टिक चारा खाने को दिया जाए। अत मिश्रित खेती (Mixed Farming) का विकास करके चारे की समस्या को हल करना चाहिए। चारे की कमी को पूरा करने के लिए यह और भी अधिक आवश्यक है कि चारे की पूर्ति बढ़ाने के साथ-साथ उसको सुरक्षित रखने

एव मितव्ययितापूर्ण प्रयोग करने पर ध्यान दिया जाए। पशुओ को पौष्टिक खाद्य देने के लिए यह आवश्यक है कि विदेशो को तिलहन का निर्यात् न करके तेल का निर्यात किया जाए। इससे पशुओ को पर्याप्त मात्रा मे खली मिल सकेगी जिससे उनके स्वास्थ्य एव कार्यक्षमता पर अच्छा प्रभाव पडेगा। (iii) **विवेकपूर्ण अभिजनन (Proper Breeding)** —पशुओ की नस्ल सुधारने के लिए अभिजनन के लिए चुने हुए उत्तम साडो की व्यवस्था करनी चाहिये। भविष्य मे पशुओ की नस्ल मे दोष उत्पन्न होने से रोकने के लिए दुर्बल और अयोग्य साडो को बधिया (Sterile) कर देना चाहिये। भारत सरकार की आधार ग्राम योजना (Key Village Scheme) इस दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम है। (iv) **सक्रामक रोगों से पशुओं की रक्षा करना :— (Prevention of Disease)** —पशुओ को हीनावस्था से ऊचा उठाने की दृष्टि से पशुओ मे फैलने वाली महामारियो तथा बीमारियो की रोकथाम करना नितात आवश्यक है। सक्रामक रोगो से पशुओ को सुरक्षित करने के लिए निवारक (Preentive) तथा उपचारात्मक (Curative) दोनो प्रकार के उपाय अपनाने चाहियें। निवारक उपायो के अन्तर्गत पशुओ के लिए पौष्टिक चारा, स्वस्थकर रहने की दशायें तथा विवेकी अभिजनन की व्यवस्था करनी चाहिए तथा उपचारात्मक उपायो के अन्तर्गत पशु-चिकित्सालय खोलने चाहियें जिनमे निर्धन पशुपालको के पशुओ की नि शुल्क चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। (v) **रहने की स्वास्थ्यप्रद दशायें उपलब्ध करना (To Create Hygienic Conditions)** —पशुओ के स्वास्थ एव कार्यक्षमता को उन्नत करने के लिए यह अति आवश्यक है कि पशुओ को स्वस्थकर दशाओ मे रखा जाए तथा उनकी उचित देख-रेख की जाए। इस प्रकार पशु बीमारियो से विमुक्त हो जायेंगे और उनके स्वास्थ्य एव कार्यक्षमता मे भी उन्नति होगी। (vi) **पशु-प्रदर्शनी व मेले** :—सरकार को पशु पालको मे अच्छी नस्ल तथा अच्छी किस्म के पशु पालने के लिए तथा स्वस्थ प्रतियोगी भावना उत्पन्न करने के लिए पशु-प्रदर्शनियो तथा मेलो की व्यवस्था करनी चाहिए तथा इनमे सबसे उत्तम और स्वस्थ पशुओ के स्वामियो को इनाम देना चाहिए।

पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत पशु-पालन विकास कार्यक्रम

(i) प्रथम और द्वितीय योजना —प्रथम और द्वितीय योजनाओ मे पशु पालन के विकास कार्यक्रम पर क्रमश ८ करोड रु० तथा २१ करोड रु० व्यय किए गए। प्रथम योजना के अन्तर्गत १४६ आधार ग्राम खण्ड (Key Village Blocks) स्थापित किए गए जिनमे कृत्रिम गर्भाधान की सुविधायें उपलब्ध की गईं। योजना-काल म २५ गोसदन स्थापित किए गए तथा रिण्डरपेस्ट (Rinderpest) रोग के निवारणार्थ एक आदर्श योजना कार्यान्वित की गई। द्वितीय योजनाकाल मे १६६ नए आधार ग्राम खण्ड स्थापित किए गए तथा प्रथम योजना के अन्तर्गत स्थापित ११४ आधार ग्राम खण्डो का विकास किया गया। सन् १९६० के अन्त तक देश मे ६७० कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित किए जा चुके थे। द्वितीय योजनावधि मे

३४ अतिरिक्त गोसदन स्थापित किए गए तथा २४६ गोशालाओं को विकास के लिए चुना गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ६५० पशु चिकित्सालय खोले गए। द्वितीय योजनाकाल में १,६०० पशु-चिकित्सालय और खोले गए। इस प्रकार इन दोनों योजनाओं में "केन्द्र ग्राम योजना" पशुओं के भरपूर विकास का एक मुख्य कार्यक्रम रही है।

(iii) तीसरी योजना :—इस योजना में पशुपालन विकास कार्यक्रम पर ५४ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इस योजना में विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित कृषि की एक ठोस प्रणाली के अभिन्न अंग के रूप में पशुपालन के विकास की परिकल्पना की गई है। फार्मों के उप-उत्पादनों (By Products) के अधिक अच्छे उपयोग के लिए, भूमि की उर्वरता बनाए रखने के लिए, वर्ष भर कृषकों को पूरा रोजगार दिलाने के लिए तथा ग्रामीण आयों में वृद्धि करने के लिए तीसरी योजना में ऐसे व्यवसाय पर अत्यधिक बल दिया गया है। इस समय देश में दूध का कुल उत्पादन लगभग २·२० करोड़ टन है और यह आशा की गई है कि तीसरी योजना के अन्त तक दूध का कुल उत्पादन बढ़ाकर २.५० करोड़ टन कर दिया जाएगा। योजनाकाल में बछड़े तैयार करने की सुविधाओं में वृद्धि करने, वर्तमान चारे के साधनों का और अधिक अच्छा उपभोग करने तथा सीमान्त (Marginal) एवं उपसीमान्त भूमियों (Sub-marginal Lands) में चारे की फसलें बोने पर ध्यान दिया जाएगा तथा मुख्य प्रजनन क्षेत्रों में प्रजनन समितियों (Breeding Societies) को प्रोत्साहित किया जाएगा। प्रजनन समितियों के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत पशुओं के पंजीकरण (Registration) और दुग्ध-उत्पादन के हिसाब-किताब की व्यवस्था करना एवं अन्य क्षेत्रों में प्रजनन-सांडों की आवश्यकता होने पर उनकी पूर्ति करना होगा। कृत्रिम गर्भाधान के विस्तार के अतिरिक्त, योजनाकाल में प्रजनन क्षेत्रों में सांड तैयार करने के ११ फार्म खोलने तथा ३०,००० सांड तैयार करने के लिए आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गई है। योजनावधि में वर्तमान २३ सरकारी पशु-प्रजनन फार्मों में पशु-संख्या बढ़ाने तथा अनेक नए पशु-फार्म स्थापित करने का लक्ष्य रक्खा गया है। इस योजना में पशुओं की नस्ल-सुधार तथा व्यवस्थित प्रजनन के कार्यक्रम की सफलता के लिए घटिया किस्म के बेकार पशुओं को हटाने के कार्यक्रम पर विशेष महत्व दिया गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए योजनाकाल में २३ अतिरिक्त गोसदन स्थापित करने का निश्चय किया गया है। योजना के अंत तक पशु चिकित्सा के लिए चिकित्सालयों की संख्या बढ़ाकर ८,००० कर दी जाएगी। योजना में सन् १९६३-६४ तक देश के समस्त पशुओं को खूनी दस्त की बीमारी से बचाने के लिए टीके लगाने का आयोजन है। तीसरी योजना में दो प्रादेशिक सूअर प्रजनन तथा सूअर की मांस की प्रक्रिया, १२ सूअर प्रजनन एकक, १४० सूअर प्रजनन विकास खण्डों की स्थापना करने तथा एक अश्व प्रजनन फार्म, जिसमें १० अभिजनन केन्द्र होंगे, की व्यवस्था करने का लक्ष्य रक्खा गया है। ऊन की

किस्म सुधारने तथा स्थानीय भेडो की नस्लो का विकास करने के लिए १५ भेड प्रजनन फार्मों की स्थापना करने तथा १७ वर्तमान फार्मों का विस्तार करने का निश्चय किया गया है। इस प्रकार योजना के अंत तक ऊन का उत्पादन ७·२० करोड पौण्ड से बढकर ६ करोड पौंड हो जाने की आशा की गई है। कुक्कुट पालन के विकास कार्यक्रम मे ६० राज्य कुक्कुट फार्मों, ३ क्षेत्रीय कुक्कुट फार्मों और ५० विस्तार एव विकास केन्द्रो मे वृद्धि करने का निश्चय किया गया है। तीसरी योजना मे १६८ गोशालाओ की सहायता की जाएगी जिससे कि वे दूध-उत्पादन तथा पशु प्रजनन एककों के रूप मे विकसित हो सकें। योजनाकाल मे २ नए पशु-चिकित्सा कालेज स्थापित करने का निश्चय किया गया है जिनमे लगभग ७०,००० पशु-पालको को प्रशिक्षित किया जा सकेगा।

(१) कृषि का यन्त्रीकरण (Mechanisation of Agriculture)

भारतीय कृषि के औजार (Tools and Implements of Indian Agriculture) —भारतीय कृषि की पतितावस्था के अनेक कारणो मे से पुरानी पद्धति के औजारो का प्रयोग एक मुख्य कारक है। भारतीय कृषक अपने खेतो पर हल्के, वहनीय एव सस्ते औजारो का प्रयोग करता है। ये औजार स्थानीय स्थिति एव पशुओ की शक्ति के अनुकूल होते हैं। इन औजारो से भूमि पर उगने वाली अनावश्यक वनस्पति पूर्णतया नष्ट नही होती और न हरी खाद (Green Manure) का उचित उपयोग ही किया जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान श्री डार्लिङ्ग (Darling) ने भारतीय कृषि मे उपयोग मे आने वाले यन्त्रों के सम्बन्ध मे लिखा था कि "हल केवल एक अध खुले पेंसिल बनाने वाले चाकू के ही समान है और यह भूमि को केवल कुरदने ही पाता है, दराती (Sickle) मनुष्यों की अपेक्षा बच्चों के उपयोग के लिये ही अधिक बनाई गई प्रतीत होती है, पुरानी किस्म की बनी टोकरी से हवा की सहाता द्वारा भूसे को अनाज से पृथक् किया जाता है और गडासा जिसके उपयोग से चारा भी काफी नष्ट होता है आदि को आज भी पुरातन व पूर्वस्मरणीय कार्यों से प्रतिस्थापित नहीं किया जा सका है"।* सर जॉन रसेल (Sir John Russell) के अनुसार भारतीय कृषक मे खेती करने के लिये आवश्यक गुणो, सूझ और ज्ञान की कोई कमी नही है। यद्यपि भारतीय कृषक अपने कार्यों मे पूर्ण जानकार है, तथापि पुरातन कृषि पद्धति एव पुरातन किस्म के कृषि यत्रो के उपयोग के कारण वह अपनी उपज को बढाने मे असमर्थ है। एक बार पडित जवाहर लाल नेहरू ने खाद्य समस्या पर आयोजित एक गोष्ठी के सामने कृषि यत्रो को उन्नत करने के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत किये थे —'मेरे अनुमान से पुराना हल पिछले दो या तीन हजार वर्षों से काम

* 'The plough that looks like a half-open pen knife and just scratches the so l the hand s ckle made more for a child than a man the old fashioned winnow ng tray that woos the wind to sift the grain from the chaff and the rude chopper with its waste fodder, are undisplaced from their primitive but immemorial functions' —Darling

में लाया जा रहा है। मुझे पता नहीं कितने समय से यह प्रयोग में आया है। यह पुराना हल भूमि की सतह को केवल दो या तीन इंच तक खरोंच पाता है। इसलिये इससे अच्छे परिणामों की आशा किस प्रकार की जा सकती है। परन्तु दूसरी ओर एक कठिनाई और यह है कि यदि पुराने हल की जगह नया हल काम मे भी लाया जाए, तब दुबले-पतले बैल उसे कैसे खींच सकेंगे क्योंकि देश के थोड़े ही भागों मे बलिष्ठ बैल मिलते हैं। लेकिन ये ऐसी कठिनाईयां हैं जिन्हें सरलता से सुलझाया जा सकता है।"शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) ने भारतीय कृषि मे इन पुरातन पद्धति के यत्रो का समर्थन करते हुए कहा था कि स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए भारत मे कृषि के ये औजार सर्वथा उपयुक्त हैं। इस सम्बन्ध मे सर जानरसेल के विचार स्मरणीय हैं,—"कृषि के नये यत्र सदैव ही पुराने यत्रों से उत्तम नहीं हो सकते। परन्तु फिर भी नये यत्र हल्के होते हैं जिससे कि इनके प्रयोग से मनुष्यों और बैलों को कम परिश्रम उठाना पड़ेगा और कार्य शीघ्रतापूर्वक हो सकेगा। बैलों के श्रम मे बचत होने से अधिक बैल नहीं रखने पड़ेंगे तथा दूध देने वाले जानवरों को अधिक सख्या मे पाला जा सकेगा। चूंकि नए कृषि-यन्त्रों के प्रयोग से कार्य को गति तीव्र हो जाएगी, इसलिये शेष समय मे कृषि के अन्य कार्य किये जा सकेंगे।"

भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण के पक्ष और विपक्ष में तर्क—कृषि के यन्त्रीकरण के पक्ष मे कुछ तर्क इस प्रकार दिये जाते हैं —(i) कृषि मे यन्त्रों के प्रयोग से कार्य की गति तीव्रतर हो जाती है जिससे कि प्रति एकड उत्पादन में वृद्धि होती है। (ii) चू कि कृषि मे यन्त्रो के प्रयोग से नियत कार्य मानवी व पशु-श्रम की अपेक्षा बहुत अल्पकाल मे हो जाता है, इसलिये कृषि मे प्राकृतिक जोखिम कम उठानी पडती है। (iii) यन्त्रों के प्रयोग से कृषकों का खेतों मे कार्य पर्याप्त सुविधाजनक हो जाता है जिससे उनके समय की बचत होती है और उस समय में वे अन्य सहायक कार्यों द्वारा अपनी आय को बढ़ा सकते हैं। (iv) पशुओं की अपेक्षा मशीनों से खेती करना अनेक प्रकार से मितव्ययिता पूर्ण होना है .—(अ) पशुओं को पूरे वर्ष खिलाना-पिलाना पड़ता है, उनकी देखभाल करनी पड़ती है, परन्तु मशीनों की देखभाल तथा उनपर तेल व पैट्रोल का व्यय तभी करना पड़ता है जबकि वे कार्यरत हो। (आ) पशुओ से लगातार चौबीसो घण्टे कार्य नही लिया जा सकता। उन्हें विश्राम देना अति आवश्यक है, परन्तु डीजिल इजन के रूप मे यान्त्रिक-शक्ति लगातार कार्य कर सकती है। (इ) पशुओ के काम की गति धीमी होती है, परन्तु मशीनो के कार्य की गति अतितीव्र होती है तथा (ई) पशुओं के चारे की व्यवस्था के लिये बोई जाने वाली भूमि के ⅕ या ⅙ भाग मे चारे को क्रमश बोना अति आवश्यक है, परन्तु मशीनो को चालू रखने के लिये कृषि-उपज के किसी भाग की आवश्यकता नही होती। (v) ऊसर भूमि को तोड करके, झाड़ों को साफ करके तथा जलमार्गों व गड्ढों को भरकर कृषि योग्य बनाना,

समोच्च रेखाओं के समानान्तर बाँध बनाकर (Contour Bunding) तथा चबूतरे बनाकर (Terracing) मिट्टी-कटाव को रोकना, नहरों, नालियों और सिंचाई की नहरों को बनाना और उद्वहन सिंचाई (Lift Irrigation) के द्वारा उच्च-भूमि जल को भूमि की सिंचाई के लिये प्रयुक्त करना आदि अनेक कार्य मानव-श्रम और पशु-श्रम की अपेक्षा मशीनों द्वारा सुविधापूर्वक किये जा सकते हैं। (vi) ऐसे क्षेत्रों में, जहाँ पर जनसंख्या बहुत कम हो तथा कृषि-योग्य भूमि बहुत अधिक हो, यान्त्रिक-कृषि अधिक कार्यक्षम (Efficient), उपयुक्त एवं सस्ती होती है। भारत में कृषि के यन्त्रीकरण के विपक्ष में मुख्य तर्क इस प्रकार दिए जाते हैं :– (i) भारत में कृषि-जोतों (Agricultural Holdings) का आकार बहुत छोटा है। उत्तराधिकार के नियमों के फलस्वरूप कृषि-जोतों के उपविभाजन (Sub-division) और विखण्डन (Fragmentation) होते-होते इनका आकार अनार्थिक (Uneconomic) हो गया है। अतः इन छोटे-छोटे और बिखरे हुये खेतों पर यन्त्रों द्वारा खेती करना अत्यन्त दुष्कर है। (ii) भारतीय कृषकों की निर्धनता, निरक्षरता एवं उनकी रूढ़िवादी प्रवृत्ति के कारण कृषि-कार्य में मशीनों का प्रयोग असम्भव-सा है। (iii) कृषि में यन्त्रीकरण के विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि इससे देश में बेरोजगारी में वृद्धि होगी। इस देश में, जहाँ भूमि पर जनसंख्या का दबाव पहले से ही अधिक है, कृषि में मशीनों के प्रयोग से अब की अपेक्षा बहुत कम श्रमिकों के लिये काम रह जाएगा। वस्तुतः हमारे देश में कृषि के यन्त्रीकरण द्वारा श्रम की बचत की आवश्यकता नहीं है वरन् श्रम-परक (Labour Intensive) कार्यों को विकसित करने की अधिक आवश्यकता है। (iv) हमारे देश में मानव श्रम के साथ-साथ पशु-श्रम की भी अधिकता है। अतः कृषि में यन्त्रों का प्रयोग करने से पशु-श्रम भी बेकार हो जाएगा। (v) यान्त्रिक-कृषि विशिष्ट खेती के लिये ही अधिक उपयुक्त है, परन्तु भारत में जहाँ पर कृषि केवल जीवन-निर्वाह मात्र (Subsistence Farming) ही रह गई है, कृषि का यन्त्रीकरण सर्वथा अनुपयुक्त है। (vi) भारत में कृषि के यन्त्रीकरण से सम्बन्धित कुछ कठिनाइयाँ भी हैं, जो इस प्रकार हैं :—(अ) भारत में कृषि मशीनें अभी तक विदेशों से आयात की जाती हैं जिनका मूल्य बहुत ऊँचा होता है। यही नहीं, इन मशीनों की टूट-फूट हो जाने पर इनकी मरम्मत का भी देश में समुचित प्रबन्ध नहीं है। (आ) कृषि-मशीनों के संचालन के लिये सस्ती विद्युत् अथवा खनिज तेलों की आवश्यकता होती है, परन्तु भारत में इनकी भी अपर्याप्तता है। (इ) देश में सिंचाई की सुविधाएं तथा उत्तम बीज और खाद की उपलब्धता बहुत कम है। अतः इस स्थिति में यन्त्रों द्वारा कृषि करना अधिक लाभप्रद नहीं हो सकता।

भारत में कृषि के यंत्रीकरण को लोकप्रिय एवं सफल बनाने के लिये आवश्यक सुझाव —देश में कृषि के यन्त्रीकरण को सफल बनाने के लिये कुछ आवश्यक उपाय इस प्रकार हैं :– (i) देश की परिस्थितियों को देखते हुये छोटे छोटे खेतों में प्रयुक्त करने के लिये उपयुक्त यन्त्रों का निर्माण करना चाहिए।

चकबन्दी और सहकारी खेती द्वारा कृषि-जोतों का आकार बढ़ाना चाहिये, ताकि इनमे यन्त्रों का प्रयोग हो सके। (iii) जो कृषक इन यन्त्रों का क्रय करना चाहे, उनके लिये समुचित साख-व्यवस्था होनी चाहिये। (iv) कृषि-यन्त्रों के संचालन के लिये सस्ती जल-विद्युत् को शीघ्रातिशीघ्र विकसित करना चाहिये। (v) कृषि के यन्त्रीकरण के कारण सम्भावित बेरोजगार व्यक्तियों को काम दिलाने के लिये रोजगार के नए साधनों का विकास करना चाहिये।

वस्तुतः भारत मे कृषि का पूर्णतः यन्त्रीकरण न तो वाछनीय है और न सम्भव ही है। देश में कृषि के यन्त्रीकरण के लिए आवश्यक भूमिका बनानी होगी। फिर भी हमारे देश मे कृषि योग्य बेकार भूमि को पुनः कृषि योग्य बनाने के उद्देश्य से "केन्द्रीय ट्रैक्टर संस्था" (Central Tractor Organisation) की स्थापना की गई है। इस संस्था के द्वारा प्रथम योजनाकाल मे २६ लाख एकड़ बेकार भूमि तथा द्वितीय योजनाकाल मे १२ लाख एकड़ भूमि कृषि योग्य बनाई गई। तीसरी योजनावधि मे लगभग ७ लाख एकड़ बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाया। तीसरी योजना मे उन्नत प्रकार के कृषि उपकरणों के प्रयोग के लिए आवश्यक कदम उठाया जाएगा। योजनाकाल मे इन कार्यक्रमों को पूरा करने का लक्ष्य रखा गया है —(अ) कृषि उपकरणों के लिए जिस प्रकार के लोहे की आवश्यकता हो, उसकी पर्याप्त आपूर्ति, (आ) प्रत्येक राज्य मे उन्नत प्रकार के कृषि उपकरणों के लिए अनुसंधान, परीक्षण तथा प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना, (इ) उन्नत प्रकार के कृषि उपकरणों का प्रदर्शन और लोकप्रिय बनाने के लिए जिला और खण्ड स्तर पर राज्य सरकारों द्वारा उपयुक्त विस्तार व्यवस्था, (ई) राजकीय कृषि विभागों के इंजीनियरिंग अधिभागों को सुदृढ़ करना तथा (उ) उन्नत प्रकार के उपकरणों की आपूर्ति के लिए ऋण सम्बन्धी निश्चित प्रबन्ध करना और समस्त विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रों मे कृषि कारखानों की व्यवस्था करना।

(३) खाद (Manures) —ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण (Reconstruction) की परिकल्पना कृषि उत्पादन को बढ़ाने के प्रयत्नों पर आधारित है। बड़ी और छोटी परियोजनाओं से सिंचाई का विकास, भूमि संरक्षण कार्यक्रम और उर्वरकों की आपूर्ति, उन्नत बीज और ऋण तथा ग्राम स्तर तक विस्तार सेवाओं की व्यवस्था आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनके आधार पर प्रत्यक्ष रूप से कृषि उत्पादन मे वृद्धि सम्भव है। भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने तथा बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये विभिन्न प्रकार के उत्तम खादों की बहुत आवश्यकता होती है। "खाद और पानी" का महत्व भारत का अशिक्षित कृषक भी जानता है। हमारे देश मे मुख्य प्रकार के खाद इस प्रकार हैं —(i) गोबर की खाद —उपलब्धता एवं उपयोगिता के दृष्टिकोण से हमारे देश मे गोबर की खाद का विशेष महत्व है। परन्तु भारतीय कृषक अपनी अज्ञानता एवं असमर्थता के कारण इस खाद का समुचित उपयोग नही कर पाता। अनुमानतः हमारे देश मे गोबर की वार्षिक-उपलब्धि लगभग ८० लाख टन है। इसमे से ४०% भाग जलाने के काम मे आता है, २०% नष्ट हो जाता है

और केवल ४०% भाग ही खाद के रूप में प्रयोग होता है। कृषि वैज्ञानिकों का अनुमान है कि एक पशु के गोबर को अच्छी तरह से जमा करके १ टन की अपेक्षा २ टन खाद प्राप्त किया जा सकता है तथा उसमें नाइट्रोजन की मात्रा ५% से बढ़ाकर १०% की जा सकती है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में गोबर की खाद का वार्षिक मूल्य २७० करोड़ रु० है। वस्तुतः देश में कृषि-उपज को बढ़ाने के लिये गोबर की खाद की मात्रा को बढ़ाना अति आवश्यक है। इसके लिये दो बातों की नितान्त आवश्यकता है :–(अ) समस्त उपलब्ध गोबर की वैज्ञानिक रीति से खाद बनाई जाए तथा (आ) ईंधन की समस्या को दूर करने के लिये अधिकाधिक संख्या में वृक्ष लगाये जायें। (ii) कम्पोस्ट खाद —कम्पोस्ट खाद कूड़ा-करकट, मल-मूत्र, घास फूस और पेड़-पत्तियों को एक गड्ढे में दबाकर तैयार की जाती है। हमारे देश में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Movement) के अन्तर्गत नगरपालिकाओं को कम्पोस्ट खाद बनाने के लिये आर्थिक सहायता दी जाती है। सामुदायिक और राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाओं द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में कम्पोस्ट खाद बनाई जाती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार सीवर (Sewer) तथा गंदे नालों के पानी को खाद बनाने में प्रयोग करने के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करती है। सन् १९६०–६१ में शहरी कम्पोस्ट खाद का उत्पादन ३० लाख टन तथा ग्रामीण कम्पोस्ट खाद का उत्पादन ८३० लाख टन था। तीसरी योजना में एक बड़े पैमाने पर कम्पोस्ट खाद की पूर्ति की व्यवस्था की जावेगी। योजना के अन्तर्गत शहरी कम्पोस्ट खाद का उत्पादन ५० लाख टन तथा ग्रामीण कम्पोस्ट खाद का उत्पादन १,५०० लाख टन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। (iii) विष्ठा खाद (Blood Meal) .—विष्ठा-खाद भूमि की उर्वराशक्ति को बढ़ाने में प्रमुख उर्वरक है। परन्तु भारतीय कृषक अपनी अज्ञानता, अंधविश्वास एवं धर्मान्धता के कारण इसके प्रयोग करने में हिचकता है। उत्तर प्रदेश, मद्रास, पश्चिमी बंगाल तथा मध्य-प्रदेश आदि राज्यों ने विष्ठा खाद के उत्पादन को बढ़ाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। उत्तर प्रदेश की चार प्रमुख नगरपालिकाओं कानपुर, हापुड़, गोरखपुर और लखनऊ द्वारा प्रतिवर्ष लगभग ४६० टन विष्ठा खाद उत्पन्न की जाती है। बम्बई में पूना नगर, पूना छावनी और बम्बई नगर द्वारा लगभग ३०० टन विष्ठा खाद प्रतिवर्ष तैयार की जाती है। (iv) रासायनिक खाद —प्राकृतिक खाद की अपर्याप्तता के कारण रासायनिक खाद की, विशेषतः एमोनियम सल्फेट (Ammonium Sulphate) तथा नाइट्रेट (Nitrate) से निर्मित खाद की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। रासायनिक खाद के उत्पादन के लिये सर्वप्रथम सन् १९५१–५२ में सिन्दरी (Sindri) में एक कारखाना लगाया गया जिसका वार्षिक उत्पादन ३½ लाख टन है। इसके अतिरिक्त केरल राज्य में ५०,००० टन वार्षिक खाद बनाने वाले एक नये कारखाने ने भी खाद बनाना प्रारम्भ कर दिया है। एक कारखाना भाखरा नांगल में स्थापित किया गया है जहाँ विद्युत् की सहायता से पानी और हवा द्वारा एमोनियम नाइट्रेट का उत्पादन होगा। सन् १९५५–५६ में नत्रजनीययुक्त उर्वरक

का उत्पादन ५५ हजार टन तथा फास्फेटयुक्त उवरक का उत्पादन ७ हजार टन था। सन् १९६०—६१ म इनके उत्पादन म पर्याप्त वृद्धि हुई तथा नत्रजनीययुक्त खाद का उत्पादन १०५ हजार टन और फास्फटयुक्त खाद का उत्पादन १३ हजार टन हुआ। तीसरी पचवर्षीय योजना म १,००० हजार टन नत्रजनीययुक्त उवरक ४०० हजार टन फास्फटयुक्त उवरक तथा २०० हजार टन पोटाशयुक्त उवरक के उत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया है। (४) हरी खाद (Green Manuring) —अन्याय खादो के अतिरिक्त भूमि की उवराशक्ति को बढ़ाने म हरी खाद का विशेष महत्व है। प्राय जिन खेतो म खाद देना दुष्कर होता है अथवा पयाप्त मात्रा म खाद दुष्प्राप्य होता है उनम हरी खाद की फसल जसे—सनई मूग ढचा नील मटर आदि बोई जाती हैं जिनको पर्याप्त बडा हो जाने पर हल चलाकर पाटा लगा दिया जाता है। हमारे देश के मद्रास राज्य मे हरी खाद का प्रयोग बहुतायत से होता है। द्वितीय पचवर्षीय योजना म ११८ लाख एकड क्षत्र को हरी खाद से लाभान्वित किया गया था। तीसरी पचवर्षीय योजना म हरी खाद का क्षेत्रफल बढ़ाकर ३६० लाख एकड रक्खा गया है। (vi) खली की खाद (Oil Cake) —उवराशक्ति एव उपलब्धि के दृष्टिकोण स भारत मे खली की खाद का क्षत्र बहुत व्यापक है। खली की खाद म नाइट्रोजन तत्व पर्याप्त मात्रा मे होता है। यद्यपि हमारे देश म तिलहन का उत्पादन पर्याप्त मात्रा म होता है परन्तु इसका अधिकाश भाग विदेशो का निर्यात कर दिया जाता है। भारतीय कृषक अपनी निधनतावश खली की खाद का प्रयोग करने से असमथ है। इसलिए आजकल अधिकाश खली का प्रयोग पशु खाद्य के रूप म ही होता है और केवल २० लाख टन खली मे से ६ लाख टन का उपयोग खाद के रूप म हो पाता है। अत खली के खाद के प्रयोग को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि विदेशो को तिलहन का निर्यात न करके तेल का निर्यात किया जाए।

(४) बीज (Seeds) —हमारे देश म अधिकाश कृषक उत्तम बीजो का उपयोग नही करते क्योकि एक तो भारत के अशिक्षित कृषक इनका महत्व नही समझते और दूसरे देश म उत्तम कोटि के बीजो की पूर्ति का कोई समुचित प्रबध नही है। एक अनुमान के अनुसार भारत म उत्तम कोटि का बीज गन्ना-क्षत्र के ६५% भाग म, पटसन क्षेत्र के ५०% भाग म तथा गेहू व कपास-क्षेत्र के २०% भाग म ही बोया जाता है। अत देश म कृषि उपज को बढाने क लिए उत्तम कोटि क बीजो का बोना अति आवश्यक है। अकाल जाच आयोग (Famine Enquiry Commission) न अनुमान लगाया है कि उत्तम प्रकार क बीजो द्वारा कृषिउत्पादन म ५% से लकर १०% तक वृद्धि की जा सकती है। भारतीय कृषि अनुसधान परिषद (Indian Council of Agricultural Research) न सभी प्रकार क उत्तम बीजो का पता लगाकर उनम अधिकाधिक सुधार लाने क प्रयत्न किए हैं। इसके अतिरिक्त चावल, आलू और गन्ने की केन्द्रीय अनुसधान सस्थाओ (Central Research Institutes) न भी उत्तम कोटि के बीजो की खोज की है। नारियल,

कपास, पटसन, तम्बाकू, व लाख की केन्द्रीय समितियो (Central Committees) ने भी अपनी-अपनी वस्तु के उत्तम बीजो की खोज की है। सन् १९६०-६१ मे उन्नत बीजो का क्षेत्र (खाद्यान्न) ५५० लाख एकड था। तीसरी योजना मे १,४८० लाख एकड अतिरिक्त खाद्यान्न-क्षेत्र मे उत्तम कोटि के बीज बोने का लक्ष्य रक्खा गया है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत ८०० बीज फार्म स्थापित किए गए। तीसरी योजना मे ८०० अतिरिक्त बीज फार्म स्थापित करने का लक्ष्य रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त योजनाकाल मे बीजो की किस्म की जाच करने के लिए बीज परीक्षण केन्द्र (Seed Testing Centres) तथा कुछ प्रदेशो मे सहकारी बीज भण्डार (Co-operative Seed Stores) स्थापित करने का आयोजन है।

(५) कृषि-नाशक कीडो और रोगो से फसलो को रक्षा (Protection of Crops against Pests and Diseases) —एक अनुमान के अनुसार कृषि-नाशक कीडो, जगली पशुओं एव सक्रामक रोगो द्वारा देश की कृषि के उत्पादन को २०% तक क्षति पहुचती है। यह समस्या गन्ने की फसल के सम्बन्ध मे अत्यन्त गम्भीर है। अनुमानत गन्ने की फसल का ४०% भाग कृषि-नाशक कीडो, जगली पशुओ तथा सक्रामक रोगो द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। उत्तर प्रदेश मे इस प्रकार होने वाली क्षति का अनुमान ५१ करोड रु० वार्षिक है। अत सिंचाई, खाद तथा उत्तमकोटि के बीजो से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिये इन कीडो एव सक्रामक रोगो से फसलो को विमुक्त करना नितान्त आवश्यक है। कृषि-नाशक कीडो तथा सक्रामक रोगो के स्थानिक (Endemic) हो जाने की स्थिति मे लाभप्रद खेती करना एकदम दुर्लभ हो जाता है। केन्द्रीय खाद्य एव कृषि सचिवालय (Ministry of Central Food and Agriculture) तथा "Directorate of Plant Protection" इस सबन्ध मे बहुत उपयोगी काय कर रहे हैं। इस समस्या को मुख्यत ५ प्रकार से सुलझाया जा सकता है —(i) सक्रामक रोगो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलने से रोकने लिए विदेशो से रोगयुक्त पौधों के आयात को बन्द कर देना चाहिए। कृषि-कृमि एव रोग नियम (Insect and Pests Act) के अन्तर्गत बिना उपयुक्त प्रमाण-पत्र के किसी पौधे को विदेशो से आयात करने पर रोक लगाई गई है। विदेशो से आने वाले रोगयुक्त पौधो की जाच करने के लिये बम्बई, मद्रास, कलकत्ता और कोचीन मे जाच-कन्द्रो की स्थापना की गई है। (ii) किसी स्थान विशेष पर रोग को रोकने के लिये रासायनिक पदार्थों द्वारा कीडो को मार देना चाहिए। (iii) टिड्डी दल से भी भारतीय कृषि को प्रतिवर्ष भारी क्षति पहुचती है। विगत ३ वर्षों मे टिड्डी दल के आक्रमण से राजस्थान, पजाब, गुजरात, मध्य प्रदेश, और महाराष्ट्र आदि राज्यो का ८०,८०० वर्गमील क्षेत्र प्रभावित हुआ है। अत टिड्डी दल से फसलों को सुरक्षित करने के लिए सक्रिय कदम उठाने चाहिए। इसके लिए टिड्डियों को बडी बडी खाइयों मे डालकर गाड देने की अपेक्षा जहरीली धूप अथवा जहरीले पदार्थ छिडकर उनको

मार देना अधिक सुलभ प्रतीत होता है। (iv) जंगली पशुओं से फसलों की रक्षा करने के लिये बन्दूक-क्लब (Gun Clubs) स्थापित करने चाहिये। (v) सम्पूर्ण खाद्य-सामग्री का ५% भाग भण्डार में घुन लग जाने के कारण नष्ट हो जाता है। अतः सीमेन्ट से बने उचित हवादार भण्डारों का निर्माण करके उनमें खाद्यान्न भरने से पूर्व डी० डी० टी० छिड़क देना चाहिए।

(६) कृषि-अनुसंधान (Agricultural Research) —कृषि-उत्पादन में वृद्धि लाने के लिये उत्तम प्रकार के बीज, खाद, यन्त्र, सिंचाई की सुविधाओं के साथ-साथ "कृषि की वैज्ञानिक पद्धति" का अपनाया जाना बहुत महत्वपूर्ण है। भारत में कृषि के महत्त्व की ओर सरकार का ध्यान बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गया। सन् १९०५ में केन्द्र तथा प्रान्तों में कृषि विभाग (Agricultural Departments) स्थापित किये गये तथा अनुसंधान कार्यों का श्रीगणेश हुआ। सन् १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत कृषि को पूर्णतः प्रादेशिक विषय बना दिया गया जिससे कि कृषि-क्षेत्र में अनुसंधान कार्यों को विशेष प्रोत्साहन मिला। सन् १९२८ में शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) की सिफारिश के आधार पर भारत सरकार ने १९२९ में एक इम्पीरियल कृषि-अनुसंधान परिषद (Imperial Agricultural Research Council) की स्थापना की जो आजकल भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (Indian Council of Agricultural Research) कहलाती है। इस संस्था का कार्य कृषि अनुसंधान सम्बन्धी कार्यों की उन्नति, पथ-प्रदर्शन तथा समन्वय करना है। इस संस्था के अतिरिक्त "Indian Institute of Veterinary Research" (Mukteshwar); "Tea-Research Institute" (Tokla), "Cotton Research Laboratory" (Matunga), "*Indian Institute of Animal Husbandary and Dairying*" (Banglore), "Cane Breeding Station' (Coimbatore), "H. B. T. Institute" (Kanpore) तथा "Central Rice and Potato Research Institute" (Cuttack) आदि अनेक संस्थाओं में कृषि-अन्वेषण कार्य चल रहा है। अन्वेषण के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं —(i) कृषि-नाशक कीटाणुओं तथा सामान्य रोगों पर नियन्त्रण तथा रोग निवारक बीजों की खोज करना। (ii) उत्तम कृषि यन्त्रों का आविष्कार करना। (iii) खाद तथा उत्पादन द्वारा नये प्रकार के बीजों की खोज करना। (iv) भूमि-संरक्षण के नवीनतम उपायों की खोज करना तथा (v) फसल उगाने की उत्तम प्रणाली की खोज करना। इन सब अनुसंधान केन्द्रों का मुख्य उद्देश्य भूमि का उत्पादन बढ़ाना है। कृषि-अनुसंधान पर व्यय करना देश की समृद्धि में एक बहुत बड़ा और स्थाई योग देना है। शुद्ध व्यावहारिक एवं शिक्षाप्रद कृषि-अनुसंधान को बढ़ावा देना भारत सरकार के मुख्य लक्ष्यों में से एक है। प्रथम योजना के अन्तर्गत मुख्यतः राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं और अन्य अनुसंधान संस्थाओं के निर्माण पर ध्यान दिया गया था। दूसरी योजना में वर्तमान सुविधाओं को और आगे बढ़ाया गया, अनुसंधान कार्य का आधार व्यापक किया गया

तथा विभिन्न अनुसधान केन्द्रो मे अनुसधान की सुविधाए बढाई गई। तीसरी योजना मे वर्तमान अनुसधान सस्थाओ को दृढ बनाने तथा अनुसधान की सुविधाओं को व्यापक क्षेत्र मे प्रसारित करने का निश्चय किया गया है। द्वितीय योजनाकाल मे कृषि-अनुसधान कार्य पर १३'८० करोड रु० व्यय किये गये। तीसरी योजना मे इस कार्यक्रम पर २६'४० करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है।

(७) कृषि-श्रमिक (*Agricultural Labour*)

प्राक्कथन —भारत मे जनाधिक्य एव अविकसित अर्थ-व्यवस्था का स्पष्ट दर्शन हमे कृषि-श्रमिको की दयनीय दशा के दर्पण मे होता है। कृषि-श्रमिको की समस्या भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख व आधारभूत समस्या है। गावो की इस अतिरिक्त श्रम शक्ति (Surplus Rural Man Power) को पूजी-निर्माण मे परिवर्तित करके ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को सुदृढ एव सुसगठित किया जा सकता है। "कृषि-श्रम जाच समिति' (Agricultural Labour Enquiry Committee) के शब्दों मे, "**कृषि श्रमिक उन व्यक्तियो को कहते हैं जो वर्ष मे अपने कार्य के समस्त दिनों मे आधे से अधिक दिन "कृषि श्रमिक" बनकर कार्य करते हैं।**"

कृषि–श्रम की सीमा (Extent of Agricultural Labour) :—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत मे कृषि-श्रमिको की सख्या ४ करोड ९० लाख थी। सन् १९५६-५७ मे कृषि-श्रमिको की सख्या बढकर ६ करोड ६६ लाख हो गई। सन् १९५०-५१ मे 'केन्द्रय श्रम सचिवालय" की जाच से पता चलता है कि ग्रामीण परिवारो मे ३० ४ प्रतिशत परिवार कृषि श्रमिको के थे जिनमे से आधे परिवारो के पास थोडी थोडी भूमि थी और आधे भूमिहीन थे। सन् १९५६-५७ मे कृषि-श्रमिक परिवारो मे लगभग ५७% परिवार भूमिहीन थे। इस वर्ष कृषि श्रमिको के परिवारो का औसत आकार ४ ४ व्यक्ति था और प्रति परिवार कमाने वाले व्यक्तियो की सख्या २ ०३ थी। कृषि-श्रमिको को दो वर्गो म रक्खा जा सकता है (i) अस्थाई कृषि-श्रमिक (Casual Agricultural Labour) तथा (ii) स्थाई कृषि-श्रमिक (Attached Agricultural Labour)। अस्थाई कृषि-श्रमिक अलपकाल के लिए फसल बोने व काटने के समय या अन्य कृषि-कार्यो के लिए रक्खे जाते हैं तथा स्थाई कृषि-श्रमिक अपेक्षाकृत अधिक समय के लिए रक्खे जाते हैं। सन् १९५०-५१ की जाच के अनुसार देश मे स्थाई व अस्थाई कृषि-श्रमिको का अनुपात १० ९० था जो सन् १९५६-५७ मे २७ ७३ हो गया, अर्थात् स्थाई कृषि-श्रमिको का अनुपात बढ गया। वस्तुत कृषि-श्रमिको के वर्ग का अभ्युदय ब्रिटिश सरकार की भूमि-कर नीति थी। रैयतवाडी क्षेत्रो मे, जहा भूमि के हस्तातरण की सुविधायें अधिक थी, भूमिहीन श्रमिको की सख्या मे तीव्र गति से वृद्धि होती गई। विगत वर्षो म जनसख्या मे वृद्धि तथा उसके भूमि पर भार पडने के परिणामस्वरूप कृषि-श्रमिको की सख्या म और भी तीव्रता से वृद्धि हुई। डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr. Radba Kamal Mukerjee) के

अनुसार सन् १९११ से १९२१ के बीच कृषि-श्रमिकों की संख्या में १२.४% वृद्धि हुई तथा सन् १९११ से १९३७ के बीच लगभग ५३.४% वृद्धि हुई।

कृषि-श्रमिकों की मुख्य समस्यायें (Main Problems of Agricultural Labour) —कृषि-श्रमिकों की प्रमुख समस्यायें इस प्रकार हैं :—(i) रोजगार की समस्या :—एक विश्वसनीय जांच से पता चला है कि "अस्थिर कृषि-श्रमिकों" को वर्ष में २०० दिन तथा "स्थिर कृषि-श्रमिकों" को वर्ष में ३२६ दिन काम मिल पाता है। वर्ष के शेष दिनों इन्हें बेकार रहना पड़ता है। (ii) मजदूरी की समस्या :—अखिल भारतीय जांच से पता लगा है कि पंजाब के स्थाई कृषि-श्रमिकों को ४६ रु० प्रति माह मजदूरी दी जाती है जो कि देश में सबसे अधिक है तथा पश्चिमी बंगाल में केवल २२ रु० मासिक मजदूरी दी जाती है। डा० राधाकमल मुकर्जी ने उत्तर प्रदेश का उदाहरण देते हुए लिखा है कि वहां चमार जाति के व्यक्तियों को पारिश्रमिक के रूप में जौ की फसल का १/१३ तथा गेहूं की फसल का १/१६ भाग दिया जाता है। श्रीधर मिश्रा ने लिखा है कि उत्तर प्रदेश के पूर्वी-भाग में कृषि-श्रमिकों को २ आने से लेकर ४ आने प्रतिदिन और पश्चिमी भाग में १ रु० से लेकर १.५० रु० तक प्रतिदिन मजदूरी दी जाती है। यही नहीं, स्त्री, पुरुषों व बाल-श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी की दर पृथक् पृथक् हैं। कृषि-श्रमिकों को कम मजदूरी मिलने के मुख्य कारण इस प्रकार हैं :—(अ) बाल-श्रमिकों की मजदूरी न करने के सम्बन्ध में किसी सनियम का अभाव, (आ) महाजन और साहूकार, जमींदार और जागीरदार तथा मालगुजार आदि द्वारा कृषि-श्रमिकों को ऋण देकर उन्हें जीवनपर्यन्त दबाये रखना, (इ) कृषि-श्रमिकों में सगठन का अभाव, (ई) कृषि-श्रमिकों में अशिक्षा, अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता, (उ) निम्न श्रेणी में जन्म होने के कारण सामाजिक दबाव तथा (ऊ) उन्हें केवल मौसम में ही काम मिल सकना। (iii) काम के घण्टे :—समस्त देश में स्थान, ऋतु एवं फसलों की विभिन्नता के कारण कृषि-श्रमिकों के काम के घण्टे भिन्न-भिन्न हैं। कृषि-श्रम जांच-समिति (Agricultural Labour Enquiry Committee) के अनुसार देश के विभिन्न भागों में कृषि-श्रमिकों के काम के घंटे १० से लेकर १४ तक हैं और कभी-कभी तो उन्हें पूरे २४ घंटे काम करना पड़ता है। (iv) निवास की समस्या :—भूमिहीन श्रमिक भूमिपतियों अथवा ग्राम्य-संस्थाओं के स्वामित्व की भूमि पर उनकी स्वीकृति लेकर मकान या झोंपड़ी बनाकर रहते हैं। डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr. Radha Kamal Mukerjee) ने कृषि-श्रमिकों के निवास की स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है—"ये झोंपड़ियां केवल ऐसे स्थान हैं, जहां पर श्रमिक केवल अपने पैर फैलाकर सो सकता है और अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहां कि एक ही झोंपड़ी में अनेक व्यक्तियों के सोने से पर्दा न होने के कारण मर्यादा समाप्त हो जाती है। शरदकाल में एक ही कमरे में स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे और कभी-कभी पशु-पक्षी भी एक साथ ठूंसे रहते हैं। इन मकानों में शुद्ध वायु तथा प्रकाश के लिए खिड़कियों का पता नहीं होता। दीवारें तथा आंगन सीलन के कारण गीले

रहते हैं जिससे व्यक्ति बुखार से पीडित रहते हैं और बच्चों का स्वास्थ्य इतना खराब रहता है कि सदैव मृत्यु की आशका रहती है।" (४) आय-व्यय और ऋण की समस्या —एक अनुमान के अनुसार सन् १६५०-५१ की तुलना मे सन् १६५६-५७ मे कृषि-श्रमिकों की दैनिक मजदूरी कम हो जाने से उनकी औसतन वार्षिक आय प्रति परिवार १० रु० कम हो गई। सन् १६५०-५१ मे कृषि-श्रमिकों की प्रति व्यक्ति औसतन वार्षिक आय १०४ रु० थी जो सन् १६५६-५७ मे कम होकर ६६ ४ रु० हो गई और यह प्रति व्यक्ति औसत राष्ट्रीय आय का केवल ⅓ भाग थी। अत अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कृषि-श्रमिकों को ऋण पर आश्रित होना पडता है। सन् १६५०-५१ मे समस्त कृषि-श्रमिक परिवारों मे से ४५% परिवार ऋणी थे और प्रति परिवार औसत ऋण १०५ रु० था। सन् १६५६-५७ मे कुल श्रमिक परिवारों मे से ६४% परिवार ऋणग्रस्त थे और प्रति परिवार औसत ऋण लगभग १३८ रु० था। कृषि-श्रमिकों के समस्त ऋणग्रस्त परिवारों पर कुल ऋण का भार सन् १६५०-५१ मे ८० करोड रु० से बढकर सन् १६५६-५७ मे १४३ करोड रु० हो गया था।

कृषि-श्रमिकों की सख्या में वृद्धि के मूल कारण (Root Causes of Increasing Number in Agricultural Labourers) —डा० राधाकमल मुकर्जी Dr. Radha Kamal Mukerjee) ने अपनी पुस्तक "Land Problems of India" मे लिखा है कि वे सब कारण जिनसे कि छोटे कृषकों एव ग्रामीण शिल्पियों की आर्थिक स्थिति दयनीय हुई हैं, कृषि-श्रमिकों की सख्या मे वृद्धि के लिये उत्तर-दाई हैं।" कृषि-श्रमिकों की सख्या म वृद्धि लाने वाले मुख्य कारण इस प्रकार हैं :— (i) जनसख्या मे वृद्धि —हमारे देश मे जनसख्या तीव्र गति से बढ रही है। परन्तु उद्योग धन्धो के विकास की मदगति के कारण कृषि-भूमि पर ही जनसख्या का दबाव बढता जा रहा है। भूमि पर जनभार मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कृषि पर आश्रितो के अनेक वर्ग बन गये हैं, जैसे—भूस्वामी, काश्तकार, कृषि-श्रमिक अथवा सर्वहारा (Agricultural Proletariat)। (ii) भूमि का उपविभाजन और विखण्डन) —सामाजिक उत्तराधिकार के नियमो (Law of Social Inheritence) के फलस्वरूप कृषि जोतो का उपविभाजन (Sub-division) और विखडन (Fragmentation) होते-होते इनका आकार अनार्थिक हो गया है जिसके कारण छोटे छोटे कृषको को बड कृषको के खेत पर मजदूरी करने को बाध्य होना पडता है अथवा यदि वे ऋण लेकर अपना जीवनयापन करने की सोचते हैं, तब कालान्तर मे उनका भूमि का टुकडा भी महाजन, साहूकार व भूस्वामी के अधिकार मे चला जाता है। आज हमारे देश मे ऐसे कृषि-श्रमिकों का अभाव नही है जिनके पास पहले स्वय की भूमि थी, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अब उनके पास केवल "श्रम" ही बेचने को रह गया है। (iii) कुटीर उद्योग-धन्धों का विनाश —ब्रिटिश सरकार की प्रबन्ध व्यापार-नीति तथा असहयोगी प्रवृत्ति के फलस्वरूप भारत के लघुस्तरीय एव कुटीर उद्योगो का पतन हो गया। चूँकि इन बेकार शिल्पियों के

सामने जीविकोपार्जन का दूसरा साधन नहीं था, इसलिये विवश होकर उन्हें "कृषि-श्रमिकों" के रूप में कृषि-भूमि पर आश्रित होना पड़ा। इस प्रकार कुटीर उद्योग-धन्धों के विनाश के कारण भारतीय ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था में एक सामान्य पिछड़ापन आ गया और ग्रामीण जनसंख्या के एक वृहत् भाग के लिये केवल मजदूरी करना ही शेष रह गया। (iv) अन्य कारण —उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त आर्थिक-घटना चक्र, ऋण का भार, सामाजिक पिछड़ापन एवं अशिक्षा आदि अनेक कारणों ने मिलकर कृषि-श्रमिकों की संख्या बढ़ाने में पूरक सहयोग दिया। दूसरे शब्दों में ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था के विघटन ने जिस कृषि-श्रमिक वर्ग को जन्म दिया, उसी को बाद की अन्य परिस्थितियों ने और भी अधिक दयनीय बना दिया और इस प्रकार भूमिहीन श्रमिकों की संख्या बढ़ती ही गई।

कृषि श्रमिकों की स्थिति सुधारने के उपाय —(Suggestions to Improve the Position of Agricul ural Workers in India) —भारतीय कृषि-श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं — (i) **कृषि-श्रमिकों को संगठित करना** —कृषि-श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति को बढ़ाकर उन्हें उचित पारिश्रमिक दिलाने, उचित सुविधायें दिलाने, काम के घंटे कम कराने तथा उनके शोषण को रोककर उनकी आर्थिक स्थिति को ऊंचा उठाने के लिए कृषि-श्रमिकों का एक सूत्र में संगठित होना नितान्त आवश्यक है। इसलिये कृषक-सुधार-समिति (Agriculturists Improvement Committee) ने सुझाव दिया था कि एक योजनाबद्ध कृषि अधिनियम पास करके कृषि-श्रमिकों का देशव्यापी संगठन बनाया जाए जिसका उद्देश्य जनसंख्या के इस वृहत् भाग को जीवन निर्वाह की वर्तमान अमानवीय परिस्थितियों से ऊंचा उठाना हो। (ii) **श्रम सहकारिता** —योजना आयोग (Planning Commission) ने सुझाव दिया है कि ग्रामीण श्रमिकों की श्रम व निर्माण सहकारी संस्थाएं (Labour and Construction Co-operatives) संगठित करके जहां तक सम्भव हो सके, व्यक्तिगत ठेकेदारों के स्थान पर इन्हीं सहकारी-संस्थाओं को निर्माण-कार्य के ठेके दिये जायें। इस प्रकार सहकारी संगठन के विकास में ही कृषि श्रमिकों की बेकारी की समस्या का समाधान तथा उनकी आर्थिक सम्पन्नता एवं समृद्धि निहित है। (iii) **कृषि-श्रमिकों का भूमि पर पुनः संस्थापन** —कृषि-श्रमिकों की बेरोजगारी की समस्या हल करने के लिए कृषि-इतर रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना एक दीर्घकालीन उपचार है। इसलिए कृषि-श्रमिकों की स्थिति को तत्काल सुधारने के कुछ कृषि-श्रमिकों को भूमि दिलाकर खेती में ही पुनः स्थापित करना वांछनीय है। इसके लिये तीन स्रोतों से भूमि प्राप्त की जा सकती है — (अ) कृषि-योग्य बेकार भूमि को खेती के आधीन लाना, (आ) कृषि-जोतों की उच्चतम सीमायें निर्धारित करके भूमि प्राप्त करना तथा (इ) भूदान-यज्ञ द्वारा। सम्भव है कि प्रत्येक राज्य में ऐसे भूखण्ड समस्त कृषि-श्रमिकों के लिये अपर्याप्त हों, किन्तु इस योजना से उनमें विश्वास और साहस बढ़ेगा, यह निश्चित है। कृषि-

श्रमिको को भूमि पर पुन स्थापित करने के साथ साथ उन्हे उन्नत कृषि करने के लिये सभी आवश्यक साधनो जैसे—हल बैल आदि प्रदान करना होगा। (iv) **न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना** :—कृषि-श्रमिको की आय मे वृद्धि लाने के लिये सभी राज्यो मे न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर देनी चाहिये। केन्द्रीय सरकार ने सन १९४८ मे न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पास करके कृषि-श्रमिको की मजदूरी ऊची उठाने मे व्यावहारिक कदम उठाया है। (v) **भू दासत्त का अन्त** — अब से कुछ समय पूर्व तक, भारत के अनेक भागो मे कृषि श्रमिको की घोर दरिद्रता के कारण जमीदार, जागीरदार, मालगुजार, महाजन तथा सुसम्पन्न कृषक इनको आवश्यकता के समय कुछ ऋण देकर वश परम्परा के लिये दास बना लेते थे। भारत के नवीन सविधान मे दासता को एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया है तथा काश्तकारी कानूनो के अन्तर्गत उनके हितो की रक्षा की गई है। फिर भी पिछडे, दलित एव अनुसूचित वर्गों की स्थिति को ऊचा उठाना नितात आवश्यक है। (vi) **गृह स्थान** (House Sites) —योजना आयोग (Planning Commission) ने यह सिफारिश की है कि जहा कृषि-श्रमिको के गृह-स्थान ग्रामीण समुदाय की सम्मिलित सम्पत्ति है, वहा कृषि-श्रमिको को बिना किसी मूल्य के उनके गृह स्थानो के स्वामी बना देना चाहिये तथा जिन गावो मे कृषि-श्रमिको के गृह स्थान निजी भूस्वामियो की सम्पत्ति हैं, वहा वैधानिक आश्रय द्वारा श्रमिकों को उनके गृह-स्थानो मे मौरूसी (Occupancy) अधिकार प्रदान किया जाना चाहिये। (viii) **कुटीर उद्योगो का विकास** — कृषि-श्रमिको की बेकारी की समस्या का समाधान देश मे लघुस्तरीय एव गृह उद्योगों के विकास मे सन्निहित है। अन कृषि श्रमिको को रोजगार दिलाने के लिये देश मे व्यापक स्तर पर लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योग-धन्धो का विकास करना अपेक्षित है। योजना आयोग (Planning Commission) —ने कृषि-श्रमिको को पूर्ण रोजगार दिलाने के लिये ४ श्रेणियो के अन्तर्गत इन कार्यों की गणना कराई है —(**अ) अदक्ष एव अर्ध-दक्ष श्रमिको द्वारा किये जा सकने वाले कार्य** — जैसे—सिचाई व बाढ नियत्रण के कायक्रम, नई भूमि तोडना, पानी के उचित बहाव की व्यवस्था करना, वृक्षा-रोपण भूसरक्षण तथा सडक-निर्माण आदि। (**आ) सिचाई की सुविधाओं के विकास कार्यक्रम** — जैसे—खेतो मे सिचाई के लिये नालिया बनाना, नदी के क्षेत्र मे बाध बनाना, तालावो की सफाई आदि। (**इ) सामूहिक सम्पत्ति के साधन तैयार करना**, जैसे—गाव मे तालाब बनाना, मछली उद्योग, ईंधन के वृक्ष लगाना, चरागाह बनाना, मुर्गी पालना, ग्रामीण उद्योग, परिनिर्माण उद्योग (Processing Industries) पशु पालन आदि। (**ई) ग्रामीण जनता को सुविधा पहुँचाने के कार्य**, जैसे—पीने के पानी की व्यवस्था गाव की सडक को मुख्य सडक से मिलाना, स्कूल की इमारत बनाना, पुस्तकालय बनाना आदि। आयोग ने सुझाव दिया है कि इन विभिन्न श्रेणी के कार्यों को विकसित करके इनमे कृषि-श्रमिको को वृहत् मात्रा मे काम दिलाया जा सकता है।

भारत में कृषि-श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए उठाए गए कदम - (i) न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (Minimum Wage Act) — सन् १९४८ में भारत सरकार ने न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पास करके समस्त राज्य सरकारों को यह आदेश दे दिया कि वे तीन वर्ष की अवधि में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दें। कुछ समय पश्चात् यह अवधि ३१ दिसम्बर १९५४ तक कर दी गई। मई १९५५ में "भारतीय श्रम-सम्मेलन" (Indian Labour Conference) के १४वें अधिवेशन में यह निश्चय किया गया कि न्यूनतम मजदूरी की दर कभी भी निश्चय की जा सकती है। अब तक न्यूनतम मजदूरी केरल, उड़ीसा पूर्वी पंजाब, दिल्ली और त्रिपुरा में निश्चित की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त असम, मैसूर, आन्ध्र-प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी-बंगाल में कुछ क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गई है। केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय के आधीन चलाए गए कृषि फार्मों में भी केन्द्रय सरकार द्वारा न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी गई है।* भूदान आन्दोलन —आचार्य विनोबा भावे ने अप्रेल १९५१ में भूदान आन्दोलन चलाया जिसके अन्तर्गत सन् १९५७ तक ५ करोड़ भूमिहीन श्रमिकों को बसाने के लिए ५ करोड़ एकड़ भूमि प्राप्त करने का लक्ष्य रक्खा गया था। अगस्त सन् १९६० तक इस आन्दोलन के लगभग ४४ लाख ११ हजार एकड़ भूमि एकत्रित की गई जिसमें से लगभग ८.७२ लाख एकड़ भूमि, भूमिहीन श्रमिकों में विभक्त की जा चुकी है। (iii) रोजगार सम्बन्धी सुविधा —कुछ राज्य सरकारों ने भूमिहीन कृषि-श्रमिकों की सहकारी समितियों (Labour Co-operatives) को रोजगार देने से सम्बन्धित कुछ सुविधायें उपलब्ध की हैं। आन्ध्र प्रदेश में सरकार ने यह आज्ञा दी है कि २,५०० रु० से कम के ठेके सार्वजनिक निर्माण विभाग (P W D) और जिला परिषदों (District Boards) द्वारा केवल श्रम समितियों को ही दिए जायेंगे। गुजरात में २०,००० रु० तक के ठेके बिना Tender मांगे श्रम सहकारिताओं को ही दिए जाते हैं। पूर्वी पंजाब में अनेक प्रकार से सरकार श्रम समितियों की सहायता करती है —(अ) २,५०० रु० तक के ठेके बिना Tender मांगे श्रम सहकारिताओं को दिए जाते हैं। (आ) विद्युत् में ५०,००० रु० तक के ठेके Tender मांग कर ऐसी ही समितियों को दिए जाते हैं। (इ) समितियों को प्रारम्भ में धन जमा नहीं करना पड़ता और उनके ५ हजार रु० तक के बिल अकेक्षण (Audit) से पहले ही अदा कर दिए जाते हैं तथा (ई) यदि समिति को ३०० रु० से अधिक मिलने हों, तब उसे चालित भुगतान (Running Payment) किया जा सकता है।

आयिक नियोजन के अन्तर्गत कृषि-श्रमिकों की स्थिति सुधारने के प्रयास —कृषि श्रमिकों की दो प्रमुख समस्याएं भावी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में उनके निवास स्थान और उनके लिये रोजगार की व्यवस्था से सम्बन्धित हैं।*

* India 1961, Page 260

यद्यपि कृषि-श्रमिकों और सामान्यरूप से सभी पिछड़े वर्गों के मार्ग की असुविधाएं बहुत कम हो गई हैं तथापि, उनकी आर्थिक समस्याए, विशेषकर उनके लिये काम के अधिक अवसर प्रदान करने की आवश्यकता अधिक प्रखर रूप से सामने आई है। पचवर्षीय योजनाओं का एक प्राथमिक लक्ष्य यह है कि ग्रामीण समाज के सभी वर्गों के लिये काम के पूर्ण अवसर जुटाये जाए और उनके रहन-सहन के स्तर को ऊंचा किया जाये तथा विशेषकर कृषि-श्रमिकों एवं दूसरे पिछड़े वर्गों को अन्य वर्गों के स्तर तक उठने में सहायता दी जाये। उनकी समस्याएँ निश्चय ही एक चुनौती है और इन समस्याओं का सन्तोषजनक हल ढूंढना पूरे समुदाय का उत्तरदायित्व है। वस्तुतः कृषि-श्रमिकों की समस्या ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त बेरोजगारी *तथा अन्य रोजगार की व्यापकतर समस्या का अंग है।* विगत नियोजनकाल में कृषि व सिंचाई के विकास से उत्पादन और रोजगार की कुल मात्रा में वृद्धि हुई है। परन्तु इसमें बहुत अधिक व्यक्ति भागीदार हैं। यह अनुभव किया गया है कि ग्रामीण जनता के हित के लिये जो विभिन्न कार्य किये जाते हैं, उनकी अनेक प्रकार से अनुपूर्ति की जानी चाहिये तथा कृषि-श्रमिकों के रहन-सहन की स्थिति को सुधारने और ग्राम विकास तथा अन्य कार्यक्रमों द्वारा गावों में बढ़ाये जा रहे अवसरों का, उन्हें भी उचित अंश दिलाने के लिये विशेष कदम उठाये जाने चाहिए।

कृषि-श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिये प्रथम पचवर्षीय योजना में कृषि-उत्पादन, भूमि सुधार, सहकारिता, ग्रामीण उद्योग आदि से सम्बन्धित विकास-कार्यक्रमों को आगे बढ़ाया गया। योजनाकाल में केन्द्रीय सरकार ने मध्य प्रदेश में १०,००० एकड़ के फार्म पर भूमिहीन श्रमिकों को बसाया। दूसरी योजना में राज्य सरकारों ने पुर्नवास की उन योजनाओं को चालू रक्खा जो उन्होंने तैयार की थी और इनमें से अनेक योजनाओं के लिये केन्द्रीय सरकार ने भी आर्थिक सहायता प्रदान की। कुछ राज्य सरकारों ने कृषि-श्रमिकों को मकान बनाने के लिये निःशुल्क भूमि दी अथवा भूमि क्रय करने के लिये अर्थ-सहायता दी। कृषि, सिंचाई, सामुदायिक विकास तथा कुटीर एवं लघुस्तरीय उद्योगों के विकास कार्यक्रमों से भी कृषि-श्रमिकों को ग्रामीण क्षेत्रों के अन्य व्यक्तियों के साथ-साथ पर्याप्त सीमा तक लाभ पहुंचा। तीसरी योजना में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिये बहुत बड़ी धनराशि व्यय करने की व्यवस्था की गई है। कृषि, सामुदायिक विकास और सिंचाई कार्यों पर सरकारी क्षेत्र में (Public Sector) १,७०० करोड़ रु० व्यय किये जाएंगे। इस कार्यक्रम से तथा गृह एवं लघु उद्योगों के विकास, गावों में विद्युत ले जाने और उनके लिये पीने के पानी का प्रबन्ध करने, गावों में मकान बनाने और पिछड़े वर्गों की भलाई के कार्यक्रमों से, जिनके लिये तीसरी योजना में पर्याप्त व्यवस्था की गई है, कृषि-श्रमिकों की स्थिति पर्याप्त सुधर सकेगी। इसके अतिरिक्त योजना आयोग द्वारा हाल में ही स्थापित केन्द्रीय कृषि-श्रमिक सहालकार समिति (Central Agricul-

tural Labour Advisory Committee) की सिफारिश के अनुसार ५० लाख एकड़ में भी अविरत क्षेत्र में भूमिहीन कृषि-श्रमिकों के ७ लाख परिवारों को बसाने का आयोजन किया गया है। राज्य सरकारों और केन्द्र सरकार ने कृषि-श्रमिकों को बसाने के कार्यक्रम पर क्रमश ४ करोड़ रु० और ८ करोड़ रु० के व्यय की योजनाएं बनाई हैं। कृषि-श्रमिकों के लाभार्थ तीसरी योजना में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया है, वह है—ग्रामीण क्षेत्रों में सकार्य-परियोजनाओं का कार्यक्रम (Works Projects Programme)। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत तीसरी योजना के अन्त तक ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग २५ लाख व्यक्तियों को लगभग १०० दिन के लिये, विशेषकर उस समय जब कृषि का काम मद गति से चल रहा हो, अतिरिक्त रोजगार देने की व्यवस्था करने का आयोजन है। उन क्षेत्रों में, जहां बहुत अधिक कृषि-श्रमिकों के लिए अल्प रोजगार रहता है, कृषि कार्य की मदी के समय में सिचाई, बाढ़-नियन्त्रण, भूमि को कृषि-योग्य बनाने, वन लगाने, भू-सरक्षण तथा सड़कों का विकास करने आदि कृषि विकास की योजनाओं द्वारा कृषि-श्रमिकों को रोजगार देने की व्यवस्था की जायेगी।

उपसंहार—सहकारी ढग पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन करने और ग्रामीण समुदाय में अपने कर्तव्यों पर बल देने का उद्देश्य केवल कृषि-उत्पादकता बढ़ाना और ग्रामीण आर्थिक सरचना में विविधता उत्पन्न करना ही नहीं है वरन् यथासम्भव शीघ्र एक एकीकृत समाज की स्थापना करना भी है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को जाति-भेद अथवा वर्ग-भेद के बिना समान अवसर मिले। दूसरे शब्दों में, पचवर्षीय योजनाओं द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था का जो ढाचा खड़ा किया जा रहा है, उसमें कृषि-श्रमिक पूरी तरह और बराबरी के आधार पर भाग लेंगे और उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति (Status) ग्रामीण जनता के समान हो जायेगी। इस दिशा में वास्तविक प्रगति कितनी हुई, इस पर पूर्ण दृष्टि रखनी चाहिये तथा इसके लिये विशेष अध्ययन और मूल्यांकन तथा केन्द्रीय सलाहकार समिति और राज्यों में स्थापित किये जाने वाले ऐसे ही निकायों (Associations) द्वारा समीक्षा होनी चाहिये।

— o —

१८
कृषि-वित्त

(Agricultural Finance)

प्राक्कथन :–ग्रामीण ऋणग्रस्तता भारतीय कृषक की दीर्घस्थाई (Chronic) निर्धनता एवं कृषि की अविकसित अवस्था का कारण और परिणाम दोनों हैं। भारतीय कृषक की ऋणग्रस्तता से सम्बन्धित यह उक्ति अक्षरशः सत्य है कि, "भारतीय कृषक ऋणीरूप में जन्म लेता है, ऋणीरूप में अपना समस्त जीवन व्यतीत करता है और अन्त में ऋणीरूप में ही मृत्यु को प्राप्त होता है" (Indian cultivator is born in debt, lives is debt and dies in debt)। डा० वीरा एन्सटे (Vera Anstey) ने भारतीय कृषि की पिछड़ी हुई दशा के दो कारण बताये हैं —(अ) कृषकों की ऋणग्रस्तता तथा (आ) कृषकों के पास पूंजी का अभाव। हमारे देश के अधिकांश कृषक अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेते हैं जिसके कारण वे एक बार ऋणी हो जाने पर स्वयं को ऋण से विमुक्त कर पाने में असमर्थ रहते हैं। श्री उल्फ (Wolff) ने भारतीय ग्रामीण ऋणग्रस्तता को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"देश महाजन के चुंगल में फसा हुआ है। ऋण की बेड़ियों ने कृषि को जकड़ रक्खा है।"

कृषि-ऋण की सीमा (Extent of Agricultural Indebtedness) – एक अनुमान के अनुसार आज भी भारत के ७०% कृषक ऋण के भार से दबे हुए हैं। निर्धनता एवं निरीहता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ भारतीय कृषक मुख्यतः जीवन निर्वाह के लिए ही ऋण लेता है, उत्पादन कार्यों के लिये नहीं। दक्षिण-विप्लव-आयोग (Deccan Riots Commission) के समय से ही भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न समय पर कृषि-ऋण की सीमा का अनुमान लगाया गया है। सन् १८८० के अकाल आयोग (Famine Commission) के अनुसार उस समय भारत में लगभग ⅓ कृषक बुरी तरह से ऋणग्रस्त थे तथा ⅓ कृषक साधारण ऋणी थे। सन् १९११ में सर एडवर्ड मैक्लेगन (Sir Edward Maclagan) ने अनुमान लगाया कि उस समय ग्रामीण ऋण का भार लगभग ३०० करोड़ रु० था। सन् १९२४ में सर एम० एल० डार्लिंग (Sir M L Darling) ने भारत के समस्त कृषि ऋण का अनुमान लगभग ६०० करोड़ रु० लगाया। सन् १९२९ में केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने अनुमान लगाया कि तत्कालीन ब्रिटिश भारत में कृषि ऋण का भार ९०० करोड़ रु० था। सन १९२९ की विश्वव्यापी घोर मंदी के परिणामस्वरूप कृषि-उपज का मूल्य बहुत गिर गया जिससे कृषकों की स्थिति दिन-प्रतिदिन दयनीय होती

गई और उन पर ऋण का भार बढ़ता ही गया। सन् १९३५ में डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr. R. K. Mukerjee) के अनुमानानुसार देश में समस्त ग्रामीण-ऋण का भार लगभग १,२०० करोड़ रु० था। सन् १९३७ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) तथा सन् १९३८ में श्री मनियम (Maniam) ने कुल कृषि-ऋण का अनुमान १,८०० करोड़ रु० आंका था। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) के अनुसार सन् १९५०-५१ में प्रति ग्रामीण परिवार पर औसत ऋण का भार २८३ रु० था। *इस प्रकार स्पष्ट है कि देश में कृषि-ऋण का भार निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है* और ऋणग्रस्तता भारतीय कृषक की एक सहज प्रवृत्ति बन गई है। चूंकि कृषक की ऋणग्रस्तता का ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर कुप्रभाव पड़ता है, इसलिये भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सुधार करने के लिए कृषक को *ऋणग्रस्तता से मुक्त करके उसे भावी जीवन पथ में अग्रसर होने के लिए साहस* एवं चेतना प्रदान करना नितान्त आवश्यक है।

कृषकों की ऋणग्रस्तता के कारण (Causes of Agricultural Indebtedness)—भारतीय कृषकों की ऋणग्रस्तता के मुख्य कारण इस प्रकार हैं:—(i) **कृषि-भूमि पर जनसंख्या के भार में वृद्धि**:—हमारे देश में कुल जनसंख्या का ७२% भाग अपने जीवकोपार्जन के लिये कृषि-भूमि पर आश्रित है। *जनसंख्या की तीव्रगति से वृद्धि के साथ ही साथ कृषि-भूमि पर भार की यह* मात्रा भी प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष २·२% की दर से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। अतः देश में प्रतिवर्ष जनसंख्या लगभग १ करोड़ की वृद्धि से बढ़ रही है और कृषि-भूमि पर भी प्रतिवर्ष लगभग ७० लाख व्यक्तियों का भार बढ़ जाता है। चूंकि कृषि-भूमि एक सीमित साधन है, इसलिये भूमि पर जनसंख्या के भार में वृद्धि होने से *स्वभावतः प्रतिव्यक्ति औसत आय कम होती चली जा रही है।* चूंकि जीवन के लिये "भोजन और कपड़ा" दो प्राथमिक आवश्यकताएं हैं, इसलिए अपने जीवन को सुरक्षित रखने के लिये कृषक-वर्ग को बाध्य होकर ऋण का मार्ग ढूंढना पड़ता है। (ii) **कृषि की अनिश्चितता**:—कृषि एक अनिश्चित व्यवसाय है जो मुख्यतः प्राकृतिक प्रकोप के कुचक्र में फंसा रहने के कारण कृषक के जीवन को अनिश्चित एवं अल्पकारयुक्त बनाये रखता है। यदि किसी वर्ष प्रकृति की *अनुकम्पा एवं उदारता के कारण खेती खूब फलती-फूलती है जिससे कृषक कुछ* दिनों के लिये सुख की नींद सोता है, तब दूसरे ही वर्ष प्रकृति बाढ़, अनावृष्टि, ओले, तूफान अथवा अतिवृष्टि के रूप में कृषक की खून-पसीने की गाढ़ी कमाई को चौपट कर देती है। फलतः कृषक को अपना पेट भरने के लिये ऋण की शरण लेनी पड़ती है। (iii) **कृषि जोतों का अनार्थिक रूप**:—देश में खेतों का उप-विभाजन एवं विखण्डन होते होते, उनका आकार 'अनार्थिक' (Uneconomic) हो गया है। कृषि-जोतों के इस अनार्थिक रूप में वैज्ञानिक खेती करना और खेती

मे आवश्यक सुधार लाकर बड़े पैमाने का उत्पादन करना सम्भव नही है । इन छोटे छोटे आकार की कृषि-जोतो का स्पष्ट परिणाम यह हुआ है कि भारतीय कृषि एक लाभदायक व्यवसाय (Profitable Occupation) न होकर "जीवन-यापन का एक ढगमात्र" (Only a way of life) बन गई है । इस स्थिति मे न्यूनोत्पादन के कारण भारतीय कृषक अपनी समस्त आवश्यकताओ को सतुष्ट करने मे असमर्थ रहता है और उसे विवश होकर ऋण लेना पडता है । (iv) कृषक की अस्वस्थता :—अपौष्टिक, अपर्याप्त एव असतुलित भोजन मिलने के कारण भारतीय कृषक शीघ्र ही बीमारियो का शिकार हो जाता है । कभी-कभी ऐसा होता है कि बुवाई, जुताई अथवा कटाई के समय (यह समय कृषि कार्य की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।) कृषक बीमार हो जाता है जिससे वह अपनी फसल को काटने व एकत्रित करने के कार्य को ठीक प्रकार से नही करने पाता है और उसे हानि सहनी पडती है) चू कि भारतीय कृषक निर्धन हैं, इसलिये वे चिकित्सा के अभाव मे बीमारी से भी छुटकारा नही पाते । इस स्थिति मे समस्त कृषक-परिवार का जीवन घोर अन्धकारमय हो जाता है और उसे अपनी आजीविका चलाने के लिये ऋण लेने को विवश होना पडता है । (v) निर्धनता .—निर्धनता भारतीय कृषको की ऋणग्रस्तता का कारण (Cause) व परिणाम (Effect) दोनो हैं। राष्ट्रीय-आय समिति (National Income Committee) के मतानुसार भारत मे प्रति कृषक-परिवार औसतन कृषि-उपज का वार्षिक मूल्य ५०० रु० से अधिक नही है । इतनी न्यून आय से एक परिवार का जीवन निर्वाह हो सकना अत्यन्त दुष्कर है। अत निर्धनता के कुचक्र मे फसा भारतीय कृषक अपनी क्षुधा शात करने के लिये ग्रामीण साहूकार और महाजनो से ऋण लेता है। परन्तु उसको यह पता नही होता कि ये साहूकार और महाजन अपनी कुप्रवृत्तियो एव कुचालो से उसकी क्षुधा को जीवनपर्यन्त तक शात नही होने देंगे। (vi) निरक्षरता एव अपव्ययता —कृषको की ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण निरक्षरता है। देश के लगभग ६०% कृषक अशिक्षित हैं । अशिक्षा एव अधविश्वास के कारण भारतीय कृषक अपनी मेहनत की कमाई को शादी, प्रीतिभोज, अनुष्ठान, दसूठन आदि धार्मिक एव सामाजिक उत्सवो पर जी खोलकर व्यय करता है। एक अनुमान के अनुसार भारतीय कृषक अपने ऋण का ४०% से ५०% भाग सामाजिक एव धार्मिक उत्सवो पर व्यय करने के लिये लेता है। चू कि भारतीय कृषक अशिक्षित हैं इसलिये वे अपने आय-व्यय का वार्षिक बजट नही बनाते जिससे उनका व्यय करने का ढग असतुलित एवं दोषपूर्ण होता है। यही नही, निरक्षरता के ही कारण भारतीय कृषक ग्रामीण साहूकार एव महाजनो से ठगा जाता है। अत स्पष्ट है कि भारतीय कृषको की ऋणग्रस्तता का मुख्य कारण उनकी निरक्षरता, अन्धविश्वास धर्मान्धता एव अपव्ययता है। (vii) ग्रामीण साख सगठन की दोषपूर्ण स्थिति —हमारे देश म कृषि-ऋणग्रस्तता का एक महत्वपूर्ण कारण ग्रामीण साख सगठन की दोषयुक्त व्यवस्था है। देश मे सहकारी

साख समितियों का कृषि-साख की आवश्यकता पूर्ति में अत्यन्त न्यून स्थान है। अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) के अनुसार भारतीय कृषकों को अपने कुल ऋण का ३.३% भाग सरकार द्वारा और ३.१% भाग सहकारी संस्थाओं द्वारा प्राप्त होता है तथा अपनी साख-आवश्यकता के शेष ९३.६% भाग के लिये उसे आज भी ग्रामीण व्यापारियों, साहूकारों तथा अन्य मित्र व सम्बन्धियों पर निर्भर रहना पड़ता है जिससे किसानों का ऋण बहुत ही महंगा, अपर्याप्त एवं अनिश्चित हो जाता है। ग्रामीण साहूकार और महाजन कृषकों की विवशता का अनुचित लाभ उठाकर उन्हें ऊँचे ब्याज की दर पर ऋण प्रदान करते हैं तथा अन्य चालाकियों एवं धोखेबाजियों से कृषकों को ठगते हैं। प्रायः महाजन कृषकों को ऋण देते समय उनसे खाली कागज पर अंगूठा लगवा लेते हैं और बाद में उसपर मनमानी रकम लिखकर वसूल करने के लिये कानूनी कार्यवाही करते हैं। अशिक्षित कृषक महाजन के इस कुचक्र को समझ नहीं पाता और अपनी भूमि, सम्पत्ति आदि सब कुछ कुर्क करा लेने को बाध्य होता है जिससे उसका और उसकी संतान का भावी जीवन अंधकारयुक्त हो जाता है। (viii) ऊँची ब्याज की दर पर ऋण मिलना :—भारतीय कृषक ग्रामीण साहूकारों और महाजनों से ऊँची ब्याज की दर पर ऋण लेने के लिये बाध्य होता है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की रिपोर्ट के अनुसार साहूकार व महाजनों द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर कहीं-कहीं बिहार और उत्तर प्रदेश में ३०%, पश्चिमी बंगाल और हिमाचल-प्रदेश में ४०% और उड़ीसा में ७०% तक पाई गई है। प्रायः साहूकार व महाजन एक छमाही में ब्याज अदा न सकने की स्थिति में चक्रवर्धी ब्याज वसूल करते हैं। इस प्रकार निर्धन कृषक जीवनपर्यन्त ब्याज की अदायगी से ही छुटकारा नहीं पाता और मूलधन को "पवित्र धरोहर" के रूप में अपनी संतान पर छोड़ मरता है। (ix) पैतृक-ऋण :—भारतीय कृषक ऋण का भार अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करते हैं, जीवन-पर्यन्त उस ऋण को चुकाने के लिये कठोर परिश्रम करने में संलग्न रहते हैं और अन्त में मृत्यु-उपरान्त इस ऋण को अपनी संतान के लिये धरोहर के रूप में छोड़ जाते हैं। इस प्रकार पैत्रिक-ऋण कृषि-परिवारों की एक महत-प्रवृत्ति एवं अनन्त प्रक्रिया बन गई है, जिसके भार से पीड़ित कृषक, अपनी परिस्थितियों एवं असुविधाओं के कारण, अपने सम्पूर्ण जीवन को रौरव-नर्क बना लेता है तथा अपनी भावी पीढ़ियों के अनुगमन के लिये अंधकारयुक्त मार्ग का प्रदर्शीकरण करता है। (x) कुटीर-उद्योगों का अन्त :—ब्रिटिश सरकार की प्रबन्ध-नीति के फलस्वरूप भारत के लघुस्तरीय एवं कुटीर-उद्योगों का धीरे धीरे पतन होता गया और बेकार शिल्पियों को कृषि-भूमि पर आश्रित होने के लिए बाध्य होना पड़ा। अतः कृषि भूमि पर जनसंख्या के दबाव में वृद्धि हुई। यही नहीं, कुटीर उद्योगों के पतन से पूर्व भारतीय कृषक सहायक-उद्योगों से जो अतिरिक्त आय (Additional Income) प्राप्त कर लेते थे, कुटीर-उद्योगों के पतन के पश्चात् वह भी इतिश्री

(End) को प्राप्त हो गई। इस प्रकार कुटीर-उद्योगो के पतन के दो स्वाभाविक परिणाम हुये— (अ) कृषि-भूमि पर जनसख्या का भार बढ गया जिससे प्रतिव्यक्ति औसत भूमि का क्षेत्रफल तथा उससे अर्जित आय कम हो गई तथा (आ) कृषको की सहायक उद्योगो से प्राप्त अवरुद्ध हो गई और ग्रामीण क्षेत्र मे अर्ध-रोजगार (Semi-employment) की समस्या उत्पन्न हो गई। इस स्थिति मे अपना भरण-पोषण करने के लिये कृषको को बाध्य होकर ऋण की शरण लेनी पडी और यह स्थिति आज भी उग्र रूप धारण करती जा रही है। (xi) मुकदमेबाजी —अशिक्षा एव सामाजिक नियन्त्रण के शिथिल होने के कारण भारतीय कृषक छोटी-छोटी बातो पर लडाई झगडा करने से नही हिचकिचाते तथा झगडो को तय कराने के लिये कचहरी की शरण लेते हैं, जहा पर वकीलो और गवाहो द्वारा धन की लूट होती है। अत विवश होकर कृषक को मुकदमेबाजी रुपया उधार लेकर करनी पडती है। (xii) पशु की हानि :—अपर्याप्त एव अपौष्टिक चारा, रहने की गदी और अस्वस्थकर दशाए तथा प्राकृतिक बीमारियो और महामारियो के कारण भारतीय कृषक की अचल-सम्पत्ति 'पशु धन'' का असामयिक विनाश होता रहता है। अत. कृषि-कार्य सचालन के लिये कृषक को ऋण लेकर नये पशु क्रय करने पडते हैं। वस्तुत इस प्रकार से ऋण लेने का मूल कारण भारतीय कृषको की अज्ञानता है जिसके फलस्वरूप एक ओर, तो वे अपने पशुओ की उचित देख-भाल नही करते, उनके चारे की सुव्यवस्था नही करते तथा बीमारी के समय उनकी चिकित्सा नही कराते जिससे कि उनके पशु असामयिक मर जाते हैं और दूसरी ओर, वे चल-पूजी के प्रतिस्थापन के लिए एक ऐसे मूल्य ह्रास-कोष'' (Depreciation Fund) की स्थापना नही करते कि अचल-पूजी के विनाश के समय वे इस कोष का उपयोग करके चल-पूजी की प्रतिस्थापना कर सकें। (xiii) कृषि-उपज की दोषपूर्ण विपणन पद्धति —हमारे देश मे कृषि-उपज के विपणन की दोषयुक्त प्रणाली के कारण कृषको को अपनी उपज का लगभग आधा मूल्य ही मिल पाता है और शेष लगभग आधा भाग उत्पादक और उपभोक्ता के बीच के मध्यस्थ हडप जाते है। यह स्पष्ट है कि यदि कृषक को अपनी फसल का पूरा और न्यायोचित मूल्य मिल जाए, तब उसकी निर्धनता अथवा ऋणग्रस्तता की समस्या किसी सीमा तक दूर हो जायगी। परन्तु खेद है कि यह स्थिति अभी तक पूर्ववत ही है जिससे कि कृषक को ऋण लेने के लिए विवश होना पडता है। (xiv) भूमि और सिचाई के भारी कर —श्री रमेश चन्द्र दत्त (Ramesh Chandra Datta) तथा अन्य लेखको ने यह मत प्रकट किया है कि भारत म कृषको की ऋणग्रस्तता का एक मुख्य कारण भूमि-कर और सिचाई-कर का अधिक होना है। यही नही, कृषको से भूमि-कर और सिचाई-कर कठोरता पूर्वक तथा ऐसे समय मे वसूल किए जाते हैं जबकि उनके पास द्रव्य का अभाव होता है। फलत कृषको को सिचाई-कर और भूमि-कर चुकाने के लिए महाजनो से ऊची ब्याज की दर पर ऋण लेना पड़ता है। (xv) कृषकों की आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन :—श्री एम० एल०

डार्लिंग (Shri M. L. Darling) का मत है कि "फसलों की अनिश्चितता के समतुल्य ही फसलों की सम्पन्नता भी भारतीय कृषकों की ऋणग्रस्तता का कारण बन जाती है।" भारत मे आर्थिक विकास के साथ ही साथ भूमि के मूल्य में भी वृद्धि हुई है। जहाँ देश मे एक ओर दरिद्रता मे कमी आई है वहा दूसरी ओर भूमि की जमानत पर ऋण लेने की कृषकों की शक्ति मे वृद्धि हुई है। इसलिए अज्ञानी कृषक इस स्थिति का अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करता है और अधिक ऋण लेने के प्रलोभन को संवरण नही कर पाता। (xvi) भूमि के लिए कृषकों की लालसा तथा ऋण की सुगमता से उपलब्धता —भारत के कृषकों में अधिक से अधिक भूमि प्राप्त करने की एक सहज-प्रवृति बन गई है जिससे उनम भूमि को खरीदने के लिए परस्पर प्रतियोगिता होती है और कभी कभी वे ऋण लेकर बेकार भूमि तक के लिए भी ऊंचे मूल्य देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। ऋण की सहज-उपलब्धता भी कृषकों को ऋणग्रस्त बनाने म सहयोग देती है। चूंकि ग्रामीण साहूकार और महाजन कृषकों को आसानी से ऋण प्रदान करते हैं, इसलिये भारतीय कृषक इस सुविधा का अनुचित लाभ उठा कर जीवनपर्यन्त स्वयं को और अपने परिवार को महाजनो के चुगल में फसाये रखता है। (xvii) कृषि व्यवसाय मे उत्पत्ति-ह्रास नियम की क्रियाशीलता —कृषि-व्यवसाय मे पर्याप्त मात्रा में खाद पानी, श्रम एव उन्नत कृषि यन्त्रो का प्रयोग तथा वैज्ञानिक पद्धति को प्रयुक्त करने की स्थिति मे भी अन्तत क्रमगत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम (Law of Decreasing Returns) लागू होता है। फलत कृषक द्वारा अधिक श्रम और पूजी की मात्रा प्रयुक्त करने पर भी, अनुपात मे अथवा इससे अधिक उपज प्राप्त नही होती। इस स्थिति मे कृषक को भूमि की उत्पादन-क्षमता को स्थिर बनाये रखने के लिए ऋण लेकर अधिक साधन जुटाने पडते हैं।

कृषि ऋणग्रस्तता के दुष्परिणाम (Evils of Agricultural Indebtedness) — ऋणग्रस्तता कृषक के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक एव मानसिक अर्थात जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे असन्तुलन (Disequilibrium) उपस्थित करके उसे छिन्न भिन्न कर देती है। कृषक के आर्थिक जीवन पर ऋण-ग्रस्तता के मुख्य प्रभाव इस प्रकार हैं — (i) निम्न जीवन-स्तर —कृषक अपने कठोर परिश्रम से प्राप्त आय को मूल और ब्याज चुकाने मे ही व्यय करता रहता है। फलत कभी कभी वह अपने जीवन की आवश्यक आवश्यकताओ से भी वंचित रहता है। (ii) कृषि-उत्पादन पर बुरा प्रभाव — ऋणग्रस्तता कृषक के स्वास्थ्य एवं कार्यक्षमता को प्रभावित करके अप्रत्यक्ष रूप से कृषि-उत्पादन को प्रभावित करती है। (iii) नैतिक पतन.—ऋणग्रस्तता कृषक को अनैतिक बनाती है। एक बार ऋण लेने पर तथा इससे छुटकारा न मिल सकने की स्थिति मे कृषक बार बार ऋण लेने का आदि हो जाता है। फलतः कृषक का जीवन महाजनो पर आश्रित हो जाता है। (iv) मानसिक असन्तुलन — कृषक के ऋणग्रस्त जीवन के कारण उसका पूरा परिवार दुखी रहता है। कठोर परिश्रम करने पर भी कृषक, महाजनो की

चालबाजी एव शोषण वृत्ति के कारण, स्वय को ऋण भार से पूर्णत. मुक्त नही कर पाता। फलत कृषक के जीवन मे निराशा (Frustration) उत्पन्न हो जाती है। यह निराशा उसके मानसिक सन्तुलन (Mental Equilibrium) को छिन्न-भिन्न करके उसके मस्तिष्क मे सघर्ष (Mental Conflict) की स्थिति उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार कृषक और उसके सम्पूर्ण परिवार का जीवन चेतनाविहीन हो जाता है (v) **कृषि की उन्नति मे अवरोध** —ऋणग्रस्त कृषक अपनी भूमि पर स्थाई रूप से सुधार करने अथवा कृषि उत्पादन मे उत्तम कोटि के उर्वरक, बीज एव यन्त्र आदि का प्रयोग करने मे असमर्थ रहता है। फलत कृषक अपने उत्पादन स्तर को ऊचा उठाकर अपने जीवन-स्तर को ऊचा करने मे सफल नही होता है। (vi) **कृषि उपज की कम मूल्य पर बिक्री** — ऋण देते समय ग्रामीण साहूकार और महाजन प्राय कृषको से यह तय कर लेते हैं कि उन्हे अपनी फसल महाजन अथवा साहूकार को ही बेचनी पड़ेगी। इस प्रकार कृषक को अपनी फसल असमय पर ही महाजनों के हाथो बेचनी पडती है और ये महाजन कृषक की फसल को प्रचलित मूल्य से भी कम मूल्य पर खरीदते है। फलत कृषक को अपनी उपज का न्यायोचित मूल्य नही मिल पाता, जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से कृषक के उत्साह एव कार्यक्षमता पर तथा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि-उत्पादन पर अस्वस्थकर पड़ता है। (vii) **भूमिहीन कृषि-श्रमिक वर्ग का जन्म** — ऋणग्रस्तता के कारण अधिकाश कृषको को अपनी भूमि साहूकार अथवा महाजन को बेचनी पड़ती है। इस प्रकार समाज मे एक भूमि-हीन सर्वहारा वर्ग (Landless Proletariat) का जन्म होता है, जो अपने जीविकोपार्जन के लिए बड़े-बड़े भूस्वामियो पर निर्भर रहता है। (viii) **आर्थिक दासत्व** — ऋणग्रस्तता का सबसे अधिक घातक परिणाम कृषको की आर्थिक दासता है। ऋणग्रस्त कृषक से साहूकार व महाजन प्राय बेगार व अन्य अनेक प्रकार की भेंट व नजराने समय-समय पर लेते रहते हैं।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के उपाय (Remedies for Rural Indebtedness) —ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं —(i) **शिक्षा का प्रसार** —देश मे व्यापक-स्तर पर शिक्षा का प्रसार करके कृषको को व्यय करने एव कृषि-उपज मे वृद्धि करने के ढगो को सिखाया जाना चाहिये। शिक्षा के प्रसार से कृषको की सामाजिक एव धार्मिक उत्सवो पर अपव्ययता की प्रवृत्ति भी स्वत समाप्त हो जायेगी। (ii) **ऋण का परिशोध** —वस्तुत जब तक कृषक अपने पुराने ऋण-भार से मुक्त नही हो जायेंगे, तब तक उनके जीवन मे किसी प्रकार की प्रगति की आशा रखना भारी भूल होगी। अत कृषको को वर्तमान ऋण-भार से मुक्त करने के लिये सरकार को आवश्यक अधिनियम पास करने चाहिए। कुछ व्यक्तियो का मत है कि सरकार को इस आशय के अधिनियम बनाने चाहियें कि कृषको द्वारा महाजन अथवा साहूकारो को ऋण अदा करना निषेध हो जाय। परन्तु इस प्रकार के अधिनियमो का साहूकार व महाजनो द्वारा विरोध किया जाएगा। इसलिये कुछ अन्य व्यक्तियों का सुझाव

है कि सरकार को कृषकों के ऋण-भार को अपने ऊपर लेने की व्यवस्था करनी चाहिये अथवा इन ऋणों का भुगतान भूमि बंधक बैंक्स और कृषि साख संघों (Agricultural Credit Carporations) द्वारा किया जाना चाहिये। (iii) सहकारी साख आन्दोलन का प्रसार —वस्तुत कृषि-ऋणग्रस्तता की समस्या का समाधान सहकारी साख आन्दोलन की सफलता एवं प्रसार में अन्तर्निहित है। कृषकों की साख-आवश्यकता की पूर्ति के लिये कृषि-साख सहकारी समितियां को देश भर में व्यापक-स्तर पर सगठित करना चाहिये। प्राथमिक साख समितियों (Primary Credit Societies) की वित्तीय व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिये केन्द्रीय सहकारी बैंको तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों (Central and Apex Co-operative Banks) को सगठित करना चाहिये। कृषकों के पुराने ऋणों के शोधन तथा दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था के लिये भूमि बन्धक बैंक्स (Land Mortgage Banks) को अधिकाधिक संख्या में सगठित करना चाहिये। भूमि बन्धक बैंक्स कृषकों को भूमि में स्थाई सुधार के लिये दीर्घकालीन ऋण प्रदान करके, कृषि-व्यवसाय की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। (iv) उत्पादक ऋण — सहकारी साख समितियों, भूमि बंधक बैंको अथवा अन्य व्यापारिक बैंकों को कृषकों को केवल उत्पादन कार्यों के लिये ही ऋण प्रदान करने चाहियें। ताकि कृषकों द्वारा ऋणों का सदुपयोग किया जा सके, इसलिये साख समितियों और बैंक्स को कृषकों को ऋण नकद (Cash) में नहीं वरन् उर्वरक, बीज, यंत्र एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं के रूप में देना चाहिये। (v) कृषि में सुधार —वास्तव में कृषि-उपज में वृद्धि द्वारा ही कृषकों को ऋणग्रस्तता के दूषित-कुचक्र से स्थाई रूप से विमुक्ति दिलाई जा सकती है। अत कृषि-भूमि में प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि (अ) कृषि जोतों के विखण्डन एवं उप-विभाजन की समस्या को हल करने के लिये चकबन्दी के कार्यक्रम को प्रसारित किया जाये, (आ) सहकारी खेती की योजना को शीघ्रता से आगे बढ़ाया जाये, (इ) कृषकों को बीज, यन्त्र एवं उर्वरक कम मूल्य पर देने की व्यवस्था की जाये, (ई) फसलों को रोगों एवं कृमि-कीटों से रक्षा करने के लिए कीट-नाशक दवा का उपयोग बढ़ाया जाये तथा (उ) कृषि-भूमि पर उन्नत सिंचाई के साधन उपलब्ध किये जायें। इन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करके देश में प्रति एकड़ कृषि-उपज में सरलता से वृद्धि की जा सकती है जिसके फलस्वरूप कृषक-वर्ग, ऋणग्रस्तता के भार से मुक्त होकर सुख और आराम का जीवन व्यतीत करने लगेगा। (vi) सिंचाई कर व भूमि कर में कमी :- सरकार को भूमि-कर एवं सिंचाई-कर की न्यायोचित दरें निर्धारित करनी चाहियें तथा इन करों की वसूली में कठोरता की नीति का परित्याग करना चाहिये। (vii) आर्थिक संकट के समय कृषकों की सहायता —अकाल, बाढ़, भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि अथवा टिड्डी-दल द्वारा फसल नष्ट कर देने की संकटपूर्ण स्थिति में, सरकार को न केवल सिंचाई-कर व भूमि-कर माफ या कम करना चाहिए वरन् उसे कृषकों को प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता भी करनी चाहिये। (viii) महाजनों

की कार्य पद्धति पर नियन्त्रण —साहूकार व महाजनो की कपटपूर्ण कार्य-पद्धति एव शोषण वृत्ति को समाप्त करने के लिए यह नितात आवश्यक है कि सरकार को ऐसे अधिनियम पास करने चाहियें कि साहूकार व महाजनो की कार्य पद्धति का नियमन एव नियन्त्रण हो जाये। इन अधिनियमो मे साहूकार व महाजनो द्वारा एक उचित एव निश्चित ब्याज की दर लेने का प्रावधान (Provision) होना चाहिये तथा इस निर्धारित दर से अधिक ब्याज लेने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था की जानी चाहिये। (ix) कुटीर उद्योगो का विकास —ग्रामीण क्षेत्र की अर्ध रोजगार (Semi-employment) की समस्या के निवारणार्थ तथा कृषको को एक अतिरिक्त आय (Additional Income) का साधन जुटाने के लिये कुटीर उद्योगो (Cottage Industries) का विकास करना चाहिये। हमारे देश मे कृषि भूमि पर जनसख्या के दबाव मे वृद्धि, ग्रामीण क्षेत्रो मे बेकारी एव अर्ध-बेकारी तथा ऋण-ग्रस्तता की समस्यायें, कुटीर एव लघुस्तरीय उद्योगो के पतन के फलस्वरूप ही उत्पन्न हुई है। अत इन समस्याओ के निवारण के लिए लघुस्तरीय एव कुटीर-उद्योगो का देश मे व्यापक-स्तर पर विस्तार व विकास किया जाना चाहिये। (x) कृषि-उपज के विपणन की उचित व्यवस्था —कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिये, सहकारी विपणन समितियो को सगठित करना चाहिये तथा बाजारो के नियमन एव नियन्त्रण की भी समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये। कृषको द्वारा अपनी उपज को सुरक्षित रखने तथा इसे मूल्य वृद्धि के समय बेचने के लिये गोदामो (Godowns) की व्यवस्था करनी चाहिये। वस्तुत कृषकों को उनकी उपज का अच्छा मूल्य दिलाने से, उनमे अधिक परिश्रम से खेती करने की प्रेरणा जन्म लेगी, जिसके फलस्वरूप एक ओर कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होगी और दूसरी ओर कृषको का ऋणभार कम होकर उनका जीवन अधिक सुखी और समृद्ध बन जायेगा (xi) अल्प बचत को प्रोत्साहन —कृषकों की ऋण लेने की प्रवृत्ति को दूर करने के लिये उनमे धन-सचय की भावना को प्रोत्साहित करना नितान्त आवश्यक है। चू कि कृषक बडी मात्रा म धन-सचय नही कर सकते, इसलिये उनमे 'अल्पबचत योजना, (Small Savings Scheme) अधिक प्रभावशाली एव व्यावहारिक सिद्ध हो सकती है। (xii) ग्राम पचायतो की स्थापना को प्रोत्साहन — भारतीय कृषक के आर्थिक स्तर को उन्नत करने मे ग्राम पचायतें (Village Panchayats) एव सामुदायिक विकास सगठन (Community Development Organisations) महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। पचायतो द्वारा कृषकों के पारस्परिक झगडो को निबटाने की व्यवस्था करके, उन्हे अदालती मुकदमबाजी म होने वाले धन के अपव्यय से छुटकारा दिलाया जा सकता है। इसी तरह सामुदायिक विकास सगठनो द्वारा कृषको के सामाजिक, आर्थिक एव सास्कृतिक जीवन मे परिवर्तन लाकर, उनके जीवन-स्तर को अधिक ऊचा उठाया जा सकता है।

कृषि-साख समस्या का रूप (Nature of the Problem of Indian Agricultural Credit) —कृषक को प्राय तीन प्रकार के ऋणों की

तथा खेतीहर महाजन कुल कृषि-साख के २५% भाग की पूर्ति करते हैं। पेशेवर महाजन अथवा साहूकार उन व्यक्तियों को कहते है जो रुपये के लेन-देन के साथ ही साथ गाव मे वस्तुओ के खरीदने-बेचने का कार्य भी करते हैं। खेतीहर अथवा गैर-व्यवसायी महाजन वे जमीदार अथवा बडे-बडे भूपति हैं, जिनका मुख्य व्यवसाय तो कृषि है, परन्तु जो एक अच्छी प्रतिभूति (Security) के आधार पर अपने जाने-पहचाने व्यक्तियो को रुपया उधार दे देते हैं।

महाजनो की कार्य-पद्धति —साहूकार व महाजनो के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं —(1) ऋण देना —महाजन कृषको को उत्पादक व अनुत्पादक दोनो ही प्रकार के ऋण प्रदान करते हैं। वे कृषक की अल्पकालीन, मध्यमकालीन व दीर्घ-कालीन सभी प्रकार की साख-आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। महाजन प्राय अचल सम्पत्ति अथवा फसल की जमानत पर कृषको को ऋण देते है। परन्तु वे उन्हे कभी-कभी बिना जमानत के भी ऋण दे देते हैं। ऋण देने के सम्बन्ध म महाजन किसी प्रकार की औपचारिकता का वर्ताव नही करते। वस्तुत महाजन द्वारा प्रदत्त साख मे लोच एव शीघ्र प्राप्ति के दो महत्वपूर्ण गुण होते हैं। नकदी के रूप मे ऋण देने के अतिरिक्त साहूकार और महाजन कृषको को वस्तुओ के रूप मे भी ऋण देते हैं। (ii) आन्तरिक व्यापार को प्रोत्साहन —ग्रामीण साहूकार और महाजन कृषको की फसल की बिक्री मे मध्यस्थता का कार्य करके आन्तरिक व्यापार को प्रोत्साहित करते हैं। (iii) व्यापार करना —खेतीहर महाजन लेन-देन के अतिरिक्त कृषि का कार्य भी करते हैं और व्यवसायिक महाजन ऋण देन के अतिरिक्त छोटी मोटी दुकान भी करते हैं। ग्रामीण साहूकार अथवा महाजन कृषको को ऋण देने म जितनी दयावृत्ति दिखाता है, वह उनसे ब्याज एव मूलधन की वसूली मे प्राय उतनी ही अधिक कठोरता एव शोषणवृत्ति से काम लेता है। महाजन ऋण देते समय अग्रिम ब्याज व गिरह खुलाई लेता है तथा वह कभी-कभी खाली कागज पर अगूठा लगवाकर, उस पर मनमानी रकम लिख लेता है अथवा हिसाब मे गडबडी करके अधिक रकम वसूल करता है। महाजनो की कार्य-पद्धति के ये सब बहुत महत्वपूर्ण दोष हैं। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण (All India Rural Credit Survey) रिपोर्ट के अनुसार 'महाजन प्रदत्त साख मे लोच व शीघ्रप्राप्ति के गुणो के अतिरिक्त अन्य कोई भी सराहनीय बात नही होती और अनेक बातो मे तो इनकी ऋण व्यापार पद्धति अत्यन्त हेय एव निकृष्ट ही होती है।' प्राय साहूकार व महाजन ऊची ब्याज की दर पर रुपया उधार देते हैं तथा किसी छमाही म ब्याज की अदायगी नही होने पर वे चक्रवृद्धि ब्याज वसूल करते हैं। साख सर्वेक्षण समिति की जाच के अनुसार महाजनो द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर कहीं-कहीं बिहार और उत्तर प्रदेश मे ३०%, पश्चिमी बगाल और हिमाचल प्रदेश मे ४०% तथा उडीसा मे ७०% तक रही है। महाजनों द्वारा ली जाने वाली ऊची ब्याज के अनेक कारण हैं - (अ) ग्रामीण क्षेत्रो मे ऋण प्रदायक सस्थाओ का अभाव है जिससे महाजन स्वय को एकाधिकारी की स्थिति मे पाकर मनमाना ब्याज लेता है। (आ) महाजन नागरिको

से जमा पर धन प्राप्त नहीं करता। एक ओर उसके पास पूंजी सीमित मात्रा में होती है और दूसरी ओर उससे ऋण की अधिक माँग की जाती है। फलत वह ऊँची ब्याज की दर लेने में सफल हो जाता है। (ड) चूंकि महाजन बिना किसी प्रतिभूति अथवा अपर्याप्त प्रतिभूति पर कृषकों को ऋण देते हैं, इसलिये ऋण में जोखिम का अंश अधिक होने के कारण वे ऊँची ब्याज की दर लेते हैं। (ई) चूंकि महाजन व साहूकार थोड़ी थोड़ी रकम अनेक व्यक्तियों को उधार देते हैं, इसलिये उनका प्रबन्ध-व्यय बढ़ जाता है। इस व्यय की पूर्ति करने के लिये अधिक ब्याज पर रुपया देते हैं। (उ) अन्त में महाजन कृषकों की अज्ञानता, अशिक्षितता, निरीहता एवं परवशता का अनुचित लाभ उठाकर उनसे ऊँची ब्याज की दर वसूल करते हैं।

महाजनों की कार्य-प्रणाली में दोष :—यद्यपि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में साहूकार अथवा महाजन का आज भी महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि उनकी ऋण-व्यापार पद्धति में उनकी शोषणवृत्ति स्पष्ट झलकती है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) के अनुसार महाजनों की कार्य-पद्धति में मुख्य दोष इस प्रकार हैं —(i) महाजन कृषकों को ऋण देते समय गिरह-खुलाई व अग्रिम ब्याज के रूप में एक बहुत बड़ी रकम काट लेते हैं। (ii) ऋणी कृषक को समय-समय पर अनेक प्रकार की भेंट व नजराने देने पड़ते हैं और *कभी-कभी महाजन की बेगार भी करनी पड़ती है।* इस प्रकार कृषक को एक प्रकार की आर्थिक दासता स्वीकार करनी पड़ती है जोकि सामाजिक, नैतिक एवं मानसिक दृष्टिकोण से अत्यधिक निकृष्ट है। (iii) प्राय महाजन ऋण देते समय खाली कागज पर अंगूठा लगवा लेते हैं और बाद में उस पर मनमानी रकम लिखकर वसूल करने के लिये अदालती कार्यवाही करते हैं। इस तरह महाजन कृषक की भूमि-सम्पत्ति की कुर्की कराके उसके जीवन को अन्धकारमय बना देते हैं। (iv) महाजन ऊँची ब्याज की दर पर ऋण देते हैं और यदि ऋणी किसी छमाही में अपना ब्याज अदा नहीं करता तो वे उससे चक्रवर्ती ब्याज (Compound Interest) वसूल करते हैं। महाजनों की यह नीति सामाजिक दृष्टि से बहुत हेय है। (v) कभी-कभी महाजन ऋण देते समय कृषक से यह तय कर लेते हैं कि उसे अपनी फसल महाजन के हाथों बेचनी पड़ेगी। फलत कृषक को अपनी उपज असमय ही सस्ते मूल्य पर महाजन को बेचनी पड़ती है। (vi) *महाजनों के मुनीम व नौकर भी ऋणी-*कृषक से कमीशन के रूप में कुछ रकम वसूल करते हैं तथा (vii) महाजनों की साख-प्रणाली में एक बड़ा दोष यह भी है कि यह ऋणियों को अनियन्त्रित साख (Uncontrolled Credit) प्रदान करती है। महाजन कृषकों को उत्पादक व अनुत्पादक दोनों प्रकार के कार्यों के लिए ऋण देते हैं। ऋण देने के पश्चात् वे इस बात की बिल्कुल भी परवाह नहीं करते कि ऋणी कृषक ऋण की रकम का सदुपयोग करता है अथवा दुरुपयोग। कभी कभी महाजन कृषकों से अपना पहला ऋण वसूल होने से पहले ही उसे दूसरा ऋण भी दे देते हैं ताकि वह उनके चंगुल में फंसा रहे।

फलत अज्ञानी एव अशिक्षित कृषक सरलता से अधिक ऋण पा लेने के लोभ का सवरण नही कर पाता, जिससे उसमे अपव्यय्ता को प्रोत्साहन मिलता है और उसमे बचत करने की आदत उत्पन्न नही होती।

महाजनो की कार्य-पद्धति पर नियन्त्रण — जब तक देश मे सहकारी साख आन्दोलन का समुचित विकास एव विस्तार नही हो जाता, तब तक ग्रामीण वित्त-प्रदायक के रूप मे महाजन अनिवार्य रूप से अग्रगण्य रहेगा। चू कि देश मे अभी तक साख सहकारिता का पर्याप्त विकास नही हो पाया है, इसलिये महाजनो द्वारा कृषको को अल्पकालीन, मध्यमकालीन एव दीर्घकालीन साख प्रदान करने का कार्य अभी लम्बी अवधि तक अनिवार्य रूप से चलना रहेगा। इस प्रकार महाजन एक प्रकार की आवश्यक बुराई (Neces ary Evil) है। अत ग्रामीण-वित्त के इस महत्वपूर्ण साधन की कार्य-पद्धति पर नियन्त्रण की नितान्त आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे कृषि-वित्त उप-समिति (अथवा गॉडगिल समिति) (Agricultural Finance Sub-committee) ने कुछ सुझाव इस प्रकार दिए हैं —(i) महाजनो का पजीकरण (Registration) किया जाए तथा उनके लिये आज्ञा पत्र (Licence) लेना अनिवार्य कर दिया जाए। (ii) महाजनो के बही-खातो व हिसाब-किताब का समय-समय पर निरीक्षण किया जाए। (iii) महाजनो द्वारा ली जाने वाली ब्याज की एक निश्चित दर निर्धारित की जाए तथा निर्धारित दर से अधिक ब्याज वसूल करने वाले महाजनो के विरुद्ध वैधानिककार्यवाही व्यवस्था की जाए तथा (iv) महाजनो की अनुचित वसूलियो को निषेध किया जाए।

हमारे देश मे समय समय पर महाजनो के कार्यों को नियन्त्रित करने के लिये अनेक वैधानिक उपायो का आश्रय लिया गया है। इनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं — (i) ब्याज की दर के नियमन सम्बन्धी नियम — सन् १९१८ के एक अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि न्यायालय महाजनो के खातो की पूर्ण छानबीन कर सकता है तथा ब्याज की दर को कम करके पुन ऋण की रकम निर्धारित कर सकता है। लगभग सभी राज्य सरकारो ने इस आशय के कानून बनाये है तथा इनमे समय समय पर आवश्यकतानुसार सशोधन किये हैं। (ii) हिसाब किताब सम्बन्धी नियम — विभिन्न राज्य सरकारो ने ऐसे अधिनियम पास किए हैं जिनके अन्तर्गत साहूकारो को ऋण सम्बन्धी हिसाब-किताब रखना तथा ऋणी को समय समय पर ऋण व ब्याज की रकम की सूचना भेजना अनिवार्य कर दिया गया है। (iii) ब्याज की अधिकतम सीमा — पजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश और असम की राज्य सरकारो ने साहूकारो द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर की अधिकतम सीमा का निर्धारण कर दिया है। कुछ राज्यो ने चक्रवर्धी ब्याज (Compound Interest) लेने के विरुद्ध भी नियम बनाये हैं। (iv) महाजनों का पञीकरण — कुछ राज्यो ने साहूकारो द्वारा कार्यारम्भ करने से पूर्व अपना रजिस्ट्रेशन कराना तथा आज्ञा पत्र (Licence) लेना अनिवार्य कर दिया गया है। (v) ऋणों को तय करने के सम्बन्ध में नियम — मध्य प्रदेश, बगाल, पजाब और

मद्रास आदि राज्य सरकारों ने ऋणो की रकम तय करने से सम्बन्धित नियम (Debt Conciliation Acts) पास किये हैं। फलत इन अधिनियमो के अन्तर्गत विभिन्न राज्यो मे ऋण तय करने वाले बोर्डों (Debt Conciliant Boards) की स्थापना की गई है। ये बोर्ड कृषक की सम्पत्ति के आधार पर उसके ऋण के भुगतान की किस्तें निश्चित करते हैं तथा ऋणी और ऋणदाताओं में समझौता कराकर ऋण की रकम को भी कम कराते हैं। (vi) ऋणों को अनिवार्यत कम करना — मद्रास, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार और उत्तर प्रदेश राज्यो ने ऐसे अधिनियम पास किए हैं जिनके द्वारा कृषको के ऋण की रकम अनिवार्यत कम कर दी जाती हैं। (vii) भूमि के हस्तातरण पर प्रतिबन्ध — पूर्वी पजाब, पश्चिमी बगाल और उत्तर प्रदेश प्रदेशो मे ऐसे नियम बनाए गए हैं कि ऋणदाता ऋणो के भुगतान मे ऋणी की भूमि सरलता से नही खरीद सकता। फलत अब ऋणदाता ऋणी को डरा-धमका कर उस से अनुचित लाभ नही उठा सकता है।

(२) व्यापारिक बैंक्स (Commercial Banks) —व्यापारिक बैंक्स प्रत्यक्ष रूप से कृषको की साख-आवश्यकता की पूर्ति मे योगदान नही करते। इन बैंको का आज भी मुख्य कार्य ग्रामीण व शहरी महाजनो, देशी बैंकर्स तथा व्यापारियो को ही वित्त सहायता प्रदान करना है। अत कृषि-वित्त की पूर्ति मे अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक बैंको का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार व्यापारिक बैंक्स कृषि-साख आवश्यकता की प्रत्यक्ष रूप से केवल ०.६% भाग की ही पूर्ति कर पाते हैं। सर्वेक्षण-समिति के शब्दों में, "वाणिज्य बैंकिंग प्रणाली जैसे-जैसे कृषक के पास आती है, वैसे ही वैसे धीमी होती जाती है और अन्तत यह कृषि की सीमा पर आकर बिल्कुल रुक जाती है।" चूकि व्यापारिक बैंक के पास जमा-पूजी अल्पकालीन (Short Term Deposits) होती है, इस कारण वे दीर्घकालीन व मध्यमकालीन ऋण प्रदान करने मे असमर्थ होते हैं और कभी-कभी कुछ विशेष कारणों से कृषको को अल्पकालीन साख भी सीमित मात्रा मे ही देने पाते हैं। इन बैंको द्वारा कृषकों को प्रत्यक्ष रूप से सीमित मात्रा मे ऋण प्रदान करने के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(i) कृषकों को जितने समय के लिए ऋण की आवश्यकता होती है, उतने समय के लिए ये बैंक्स बिना किसी प्रतिभूति के ऋण नही दे सकते। (ii) चूकि लगभग सभी व्यापारिक बैंक्स शहरो मे स्थित हैं, इसलिए वे कृषको की फसल आदि धरोहर का उचित मूल्य आकने मे असमर्थ रहते हैं। (iii) चूकि कृषक की फसल प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है, इसलिए व्यापारिक बैंक्स इस प्रतिजोखिम वाली प्रतिभूति के आधार पर ऋण प्रदान नही करते। (iv) इन बैंको के लिए गाव के छोटे-छोटे कृषकों से सम्बन्ध बनाए रखना सरल नही होता तथा (v) देश म लाइसेंस भण्डारो (Licensed Warehouses) के अभाव के कारण कृषक इन बैंको स लाभ नही उठा पाते हैं। परन्तु व्यापारिक बैंक्स कपास, जूट, तिलहन, चीनी आदि वस्तुओ के थोक व्यापार को ऋण के

रूप मे सहायता देते हैं। भारत मे ये बैंक्स रबर, चाय और कहवा के बागातों को भी ऋण देते है। व्यापारिक बैंक्स अपने स्वीकृत ग्राहकों को बेची हुई कृषि-उपज के विरुद्ध लिखी गई हुण्डियो को क्रय करके या भुना कर अथवा उनके माग विकर्षो (Demand Drafts) का क्रय-विक्रय करके भी उन्हें ऋण देते हैं। बैंक्स बन्दरगाहो पर लिखे गए विकर्षो और तार द्वारा स्थानान्तरणो (Telegraphic Transfers) को क्रय करके कृषि उपज को उत्तरी भारत से बन्दरगाहो तक के वहन (Movement) के लिए भी वित्त प्रदान करते हैं। अत यह स्पष्ट है कि व्यापारिक बैंको ने कृषि उपज के उत्पादन की तुलना मे विपणन एव व्यापार मे ही अधिक रुचि दिखाई है।

(३) स्वदेशी बैंकर्स (Indigenous Bankers) — भारत की ग्रामीण वित्त-व्यवस्था मे स्वदेशी बैंकर्स का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। डा० एल० सी० जैन (L C Jain) के शब्दो मे, "स्वदेशी बैंकर्स कोई भी व्यक्ति या व्यक्तिगत फर्म है जो ऋण देने के साथ ही साथ जमा (Deposit) पर रुपया स्वीकार करती है या हुडियो मे व्यवहार करती है अथवा दोनो कार्य करती है। सन् १९२९ की केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) के अनुसार, 'इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया (अब स्टेट बैंक आफ इण्डिया), विनिमय बैंक्स, व्यापारिक बैंक्स तथा सहकारी समितियों को छोडकर जो व्यक्ति या फर्म हुंडियों का व्यवहार करती हों, जनता से जमा पर रुपया प्राप्त करती हों तथा ऋण प्रदान करती हो, स्वदेशी-बैंकर्स कहलाती हैं।'"* इस समय साहूकार महाजन स्वदेशी बैंकर्स ग्रामीण साख आवश्यकता के लगभग ६९.७% भाग की पूर्ति करते हैं। स्वदेशी बैंक का कार्य एक धनी व्यक्ति, बैंकिंग साझेदारी फर्म तथा व्यापारी बैंकर जिसकी विभिन्न स्थानो पर शाखायें होती हैं, आदि के द्वारा किया जाता है। देश के विभिन्न प्रदेशो मे स्वदेशी बैंकर्स के भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित हैं — बगाल मे इन्हे सेठ व बनिया, उत्तर प्रदेश और बिहार मे साहूकार व महाजन, बम्बई मे सर्राफ व मारवाड़ी तथा मद्रास मे चेट्टी (Chettys) कहा जाता है।

स्वदेशी बैंकर्स की कार्य-पद्धति — स्वदेशी बैंकर्स के मुख्य कार्य इस प्रकार है —(i) जनता से जमा पर धन प्राप्त करना —स्वदेशी बैंकर्स नागरिको से जमा पर धन (Deposits) प्राप्त करते हैं और इस पर ३% से ९% तक ब्याज देते हैं। इनकी जमा प्राप्त करने की क्षमता सीमित होती है और ये प्राय अपने मित्रो व सम्बन्धियो के ही धन को जमा के रूप मे लिया करते हैं। (ii) रुपया उधार देना —स्वदेशी बैंकर्स मुख्यत व्यापार-उद्योग एव कृषि-कार्यों के लिये और कभी कभी उपभोग के कार्यों के लिये भी ऋण देते हैं। ऋण देते समय ये किसी न किसी प्रकार का प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Note) लिखवा लेते हैं। इनके

* "All bankers other than the Imperial Bank of India, Exchange Banks the Joint Stock Banks and The Co-operative Societies and the expression includes any individual or private firm receiving deposits and dealing in Hundies or lending money."

द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर अच्छी प्रतिभूति पर ९% से १८% तक तथा अपर्याप्त प्रतिभूति पर १८% से ३६% तक पाई जाती है। स्वदेशी बैंकर्स, भूमि, जेवर, फसल आदि की जमानत पर ही ऋण देते हैं और कभी-कभी केवल व्यक्तिगत जमानत (Personal Security) पर ही ऋण प्रदान करते हैं। इनके द्वारा ऋण कभी-कभी वस्तुओं (Goods) के रूप में दिये जाते हैं और इसी रूप मे वसूल भी किये जाते हैं। कृषकों को ऋण देने के अतिरिक्त स्वदेशी बैंकर्स, शिल्पियो, साहूकारों व जमींदारों को भी ऋण प्रदान करते हैं। (iii) **हुंडियों का व्यवसाय करना** — स्वदेशी बैंकर्स विभिन्न प्रकार की हुडियो को जारी (Issue) करते हैं, इनका क्रय विक्रय करते हैं अथवा इन्हे भुनाते हैं। (iv) **अन्य व्यापार** — स्वदेशी बैंकर्स प्राय बैंकिंग कार्य के साथ ही साथ व्यापार व दूकानदारी भी करते हैं। इनमे से कुछ अनाज, कपास व अन्य प्रकार की प्रतिभूतियो मे सटटा (Speculation) करते हैं तथा कुछ व्यापारिक फर्मों के एजेन्ट (Agents) के रूप मे कार्य करते हैं।

स्वदेशी बैंकर्स की कार्य-पद्धति में दोष — स्वदेशी बैंकिंग प्रणाली मे मुख्य दोष इस प्रकार है —(i) स्वदेशी बैंकर्स बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय भी करते है। अत बैंक के रूप मे इनकी उपयोगिता तथा जनता मे इनका विश्वास कम हो जाता है। (ii) इनकी कार्य पद्धति सामान्यत कपटपूर्ण एव अनुचित व्यवहारों से परिपूर्ण होती है। ये ऋण देते समय अनेक प्रकार की कटोतिया काटते हैं, कोरे कागज पर हस्ताक्षर अथवा अगूठे का निशान लेकर बाद मे उसपर मनचाही रकम लिखकर वसूल करते हैं अथवा ऋण वसूली हो जाने पर भी ये ऋणी व्यक्ति को ऋण वसूली की रसीद नही देते हैं। (iii) चूं कि स्वदेशी बैंकर्स बहुत सीमित मात्रा मे जमा पूजी प्राप्त करते हैं, इसलिये एक ओर उनकी कार्यशील पूजी (Working Capital) की मात्रा बहुत कम होती है तथा दूसरी ओर जनता मे बचत करने के लिये कोई प्रोत्साहन नही मिल पाता। फलत देश मे सचित राशि एव निष्क्रय राशि का उत्पादन कार्यों मे कोई उपयोग नही हो पाता है। (v) परम्परागत आधारो (Traditional Basis) पर कार्य करने के कारण विभिन्न स्वदेशी बैंकर्स की कार्य विधि मे भिन्नता पाई जाती है। चूकि ये न तो अपने हिसाब किताब अथवा स्थिति विवरण-पत्रो को प्रकाशित करवाते हैं और न ही इनका अकेक्षण (Auditing) करवाते हैं, इसलिए इनकी कार्य-विधि मे जनता का बहुत कम विश्वास होता है। (vi) स्वदेशी बैंकर्स व्यक्तिगत प्रतिभूति अथवा कभी-कभी अपर्याप्त प्रतिभूति के आधार पर ऋण देकर अपने व्यवसाय मे जोखिम का अश बहुत रखते हैं। (vii) इनमे परस्पर प्रतियोगिता पाई जाती है जिससे इनकी आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है।

स्वदेशी बैंकर्स की कार्य पद्धति में सुधार के लिए सुझाव —ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे स्वदेशी बैंकर्स का महत्वपूर्ण स्थान है। अत इनकी कार्य पद्धति के दोषो का निवारण करना नितान्त आवश्यक है। स्वदेशी बैंकर्स का तीन दिशाओं

मे सुधार सम्भव है —(अ) इनकी कार्य विधि मे सुधार, (आ) इनकी आर्थिक-स्थिति मे सुधार तथा (इ) इनके अनुचित कार्यों पर नियन्त्रण। केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (१९२९) तथा प्रातीय बैंकिंग जाच समितियो ने स्वदेशी बैंकिंग के सुधार के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये हैं — (i) स्वदेशी बैंकर्स को बैंकिंग कार्यों के साथ ही साथ अन्य व्यापारिक कार्य अथवा सट्टा-व्यापार नही करना चाहिये। (ii) *रिजर्व बैंक का इनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होना* चाहिये। (iii) रिजर्व बैंक को अन्य व्यापारिक बैंको की तरह इनपर भी इनकी पूजी, जमा धन (Deposits) तथा कार्य-विधि के सम्बन्ध मे कुछ प्रतिबन्ध लगाने चाहिए तथा इसके बदले मे इन्हे अग्रिम (Advances) तथा स्वीकृत-पत्रो की पुन कटौती की सुविधाए देनी चाहिए। (iv) व्यापारिक बैंको द्वारा स्वदेशी बैंकर्स की हुडियो की पुन कटौती करनी चाहिए। (v) रिजर्व बैंक को स्वदेशी बैंकर्स के हिसाब किताब एव कार्य विधि के निरीक्षण एव अकेक्षण (Inspection and Auditing) की व्यवस्था करनी चाहिये। (vi) स्वदेशी बैंकर्स के पजीकरण (Registration) तथा उनके द्वारा अनिवार्यत आज्ञा पत्र (Licence) लेने की व्यवस्था की जानी चाहिये। (vii) स्वदेशी बैंकर्स तथा मिश्रित पूजी बैंको का यथासम्भव एकीकरण (Amalgamation) किया जाना चाहिये। (viii) राज्य सरकारो द्वारा आवश्यक अधिनियम पास करके स्वदेशी बैंकर्स की अनुचित एव छलपूर्ण कार्य-पद्धति पर नियन्त्रण लगाया जाना चाहिये।

(४) **सरकार** —कृषि सम्बन्धी वित्त-पूर्ति के लिये भारत सरकार ने सन् १८७३ मे भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act) तथा सन् १८८४ मे कृषक ऋण अधिनियम (Agriculturists Loans Act) पास किया। प्रथम अधिनियम के अन्तर्गत कृषको को भूमि मे स्थाई सुधार करने के लिये दीर्घकालीन ऋण प्रदान किया जाता है तथा द्वितीय अधिनियम के अन्तर्गत कृषको को अल्पकालीन ऋण प्रदान किया जाता है। इन दोनो प्रकार के ऋणो को तकावी ऋण (Taqavi Loans) कहा जाता है। इन ऋणो का मुख्य लाभ यह है कि इनपर ब्याज की दर बहुत नीची (५% से ६% तक) होती है। हमारे देश मे सरकार द्वारा दिये जाने वाले तकावी ऋण अधिक लोकप्रिय नही हो सके हैं। अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण रिपोर्ट (सन् १९५४) के अनुसार देश मे सरकार ग्रामीण साख आवश्यकता के केवल ३ ३% भाग की ही पूर्ति कर पाती है। तकावी ऋणो के लोकप्रिय न हो सकने के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार रहे हैं —(i) तकावी ऋण प्राप्त करने मे अनेक प्रकार की वैधानिक कठिनाइया सामने आती है। कृषक को अपना आवेदन पत्र तहसील स्तर से आगे म आम सरकारी कर्मचारियो को घूस देनी पडती है। (ii) तकावी ऋण मिलने मे पर्याप्त समय लगता है। (iii) इन ऋणो को बहुत कठोरता से वसूल किया जाता है। (iv) *तकावी ऋण के रूप मे मिलने वाली रकम कृषक की साख*-आवश्यकता को देखते हुए अपर्याप्त होती है। (v) सरकार द्वारा इन ऋणो क

उपयोग की देख-रेख की कोई व्यवस्था नही की जाती है। अतः अधिकाश कृषक तकावी ऋणो का प्रयोग अनुत्पादक कार्यों मे ही कर लेते हैं जिससे बाद मे उनके लिये उन ऋणो की अदायगी बहुत कठिन हो जाती है। (vi) चूकि सरकार कृषको की साख आवश्यकता के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति रखती है, इसलिये उसके द्वारा प्रदान किये जाने वाले तकावी ऋण अधिक लोकप्रिय नही होने पाते हैं। (vii) तकावी ऋण प्राय बडे बडे कृषको को ही मिल पाते हैं। (viii) इन ऋणो पर ब्याज की लागत कम होने पर भी ऋण की वास्तविक लागत अधिक होती है। सरकारी कर्मचारी कृषको को ऋण देते समय अवैध रूप से अपना कमीशन काट लेते हैं।

आजकल सरकारो ने देश मे खाद्यान्नो को प्रोत्साहन देने के हेतु अपनी ऋण-नीति को बहुत ही अधिक उदार एव व्यावहारिक बना लिया है। इस समय सरकारें कृषको को खेत पर कुआ बनवाने, नलकूप लगवाने, बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाने, कृषि-यन्त्र खरीदने तथा उन्नत बीज, उर्वरक आदि क्रय करने के लिये बड़ी मात्रा मे तथा उदारतापूर्वक ऋण व अनुदान दे रही हैं। राज्य सरकारें 'राज्य सहकारी बैंको' को ऋण प्रदान करके परोक्ष-रूप मे प्राथमिक कृषि साख समितियो की सहायता कर रही हैं। परन्तु फिर भी राज्य सरकारें कृषि-वित्त के प्रदायक के रूप मे आज भी महत्वपूर्ण साधन नही हैं और सम्भवत निकट भविष्य मे भी यही स्थिति बनी रहेगी। इस सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक का मत है कि सरकारें कृषि को सामान्य रूप से साख प्रदान करने के साधन के रूप मे उपयुक्त नहीं है और सहकारी-साख की तुलना मे सरकारी-साख कृषकों के लिए भी अधिक लाभप्रद एव शिक्षाप्रद नही होती है। वस्तुत रिजर्व बैंक का यह मत किसी सीमा तक तर्कसगत है। फिर भी कुछ विशिष्ट क्षेत्रो, मे जैसे—कृषि-सुधारो को लोकप्रिय बनाने मे, अकाल के दिनो मे कठिनाइयो को दूर करने मे तथा देश के उन अविकसित क्षेत्रो मे जहा कि सहकारी साख आन्दोलन अधिक सफल नही हो सका है, सरकार द्वारा प्रदत्त तकावी तथा अन्य प्रकार का ऋण बहुत लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

(५) सहकारी साख समितियां (Co-operative Credit Societies)—भारत मे सहकारी आन्दोलन का आरम्भ विकास केन्द्रीय सरकार के सन् १९०४ के सहकारी-साख समिति अधिनियम के साथ हुआ है। विस्तार एव महत्व की दृष्टि से हमारे देश मे केवल सहकारी साख आन्दोलन का ही अधिक विकास हुआ है। भारत मे सहकारी साख प्रणाली सघीय आधार पर सगठित की गई है। ग्राम-स्तर पर प्राथमिक कृषि-साख समितिया (Primary Agricultural Credit Societies), जिला-स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks) तथा प्रादेशिक-स्तर पर राज्य सहकारी बैंक्स अथवा सहकारी शीर्ष बैंक्स (State Co-operative Banks or Co-operative Apex Banks) हैं। प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितिया कृषको को अल्पकालीन व मध्यमकालीन ऋण प्रदान करती हैं। कृषको की दीर्घकालीन साख-आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सहकारी

भूमि-बन्धक को सगठित किया गया है।

देश मे प्राथमिक कृषि साख समितियो का सगठन जर्मनी के रैफीसन आदर्श (Raiffeisen Model) के रूप मे किया जाता है। सहकारी साख विषयक समिति (Committee of Co-operative Credit) के प्रस्तावो पर विचार करके, सितम्बर सन् १९६० मे राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) ने यह सामान्य नियम बनाया है कि ग्राम समुदायो को प्रारम्भिक इकाई मानकर उसके आधार पर सहकारी समितियो का सगठन किया जाना चाहिये। इसके साथ ही साथ यह बात भी स्वीकार कर ली गई है कि जहां गाव बहुत छोटे हो वहा, सुचारु रूप से कार्य सचालन की दृष्टि, से सहकारी समिति मे गावो की सख्या मे वृद्धि की जा सकती है। तीसरी योजना मे राज्य सरकारों द्वारा, केन्द्रीय सहकारी बैंको के माध्यम से, प्रारम्भिक कृषि साख समितियो की हिस्सा पूजी मे सहायता करने का भी प्रावधान रक्खा गया है। राज्य सरकारें इन समितियो को ३ से ५ वर्ष तक की अवधि के लिये अधिक से अधिक ९०० रु० का प्रबन्ध-अनुदान (Management Assistence) भी देती हैं। पहली दो योजनाओ की अवधि मे सहकारी साख आन्दोलन की प्रगति पर्याप्त उत्साहवर्धक रही है। इस अवधि मे प्रारम्भिक कृषि साख समितियों की सख्या १·०५ लाख से बढकर लगभग २ १० लाख, इनकी सदस्य-सख्या ४४ लाख से बढकर १७० लाख तथा इनके द्वारा दिये गए ऋण लगभग २३ करोड रु० से बढकर २०० करोड रु० हो गये हैं। तीसरी योजना मे इन साख समितियो की सख्या बढकर २ ३० लाख, सदस्य सख्या ३७० लाख तथा इनके द्वारा अल्पकालीन एव मध्यमकालीन ऋण देने का वार्षिक-स्तर ५३० करोड रु० हो जाएगा। द्वितीय योजना मे लगभग ४२ हजार प्रारम्भिक साख समितियो को पुन सगठित किया गया था। तीसरी योजना मे लगभग ५२ हजार साख-समितियो को पुन सगठित किया जाएगा। तीसरी योजना मे प्रारम्भिक साख-समितियो के आन्तरिक साधनो को भी बढाने की व्यवस्था की गई है। इस योजना मे प्रारम्भिक साख समितियो की हिस्सा-पूजी सन् १९५९-६० मे ४२ करोड रु० से बढकर सन् १९६५-६६ तक ८५ करोड रु० तथा जमा-पूजी सन् १९५९-६० मे १२ करोड रुपये से बढकर सन् १९६५-६६ तक ४२ करोड रु० हो जाएगी।

केन्द्रीय सहकारी बैंक्स (Central Co operative Banks) प्राथमिक कृषि साख समितियो की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। इन बैंको के सदस्य प्राथमिक साख समितिया तथा व्यक्ति दोनो ही होते हैं। इन बैंको का कार्य गैर-सदस्यो से जमा-धन (Deposits) प्राप्त करके, प्राथमिक साख समितियो को देना होता है। केन्द्रीय सहकारी बैंक उन प्राथमिक साख समितियो से जिनमे कि रुपये का आधिक्य (Surplus) होता है, उन प्राथमिक साख समितियो को, जिनमे कि रुपये का अभाव (Deficiency of Finance) होता है, दिलवा कर एव सन्तुलन-केन्द्र (Balancing Centre) का कार्य करता है। कुछ प्रदेशो मे ये बैंक प्राथमिक कृषि साख समितियो क निरीक्षण का कार्य भी करते हैं। ३० जून सन् १९६० को समस्त

भारत मे केन्द्रीय सहकारी बैंकों की सख्या ४०० थी। उस समय इन बैंको की हिस्सा-पूजी २३ करोड रु०, कार्यशील पूजी २४७ ४० करोड रु०, तथा जमा-पूजी ६५ करोड रु० थी। तीसरी योजना के अन्त तक केन्द्रीय सहकारी बैंको की हिस्सा-पूजी ६२ करोड रु० तथा जमा-पूजी २१२ करोड रु० हो जाने की आशा है। प्रान्तीय सहकारी बैंक (Provincial Co operative Bank) राज्य के सहकारी साख आन्दोलन का सर्वोपरि होता है जोकि प्रत्यक अवस्था मे सहकारी साख आन्दोलन का नियत्रण, नियमन, पर्यवेक्षण (Survey) एव मार्गदर्शन (Guide) करता है। आजकल प्रत्यक राज्य म एक प्रातीय सहकारी बैंक है। भारत मे प्रातीय सहकारी बैंक्स मिश्रित तथा सहकारी दोनो ही प्रकार के हैं अर्थात् महाराष्ट्र, मद्रास, मध्य-प्रदेश, बिहार और असम के प्रातीय सहकाही बैंको के सदस्य केन्द्रीय सहकारी बैंक्स तथा व्यक्ति दोना हैं (मिश्रित प्रकार) तथा बगाल और पजाब आदि प्रदेशो मे इन बैंको के सदस्य केन्द्रीय सहकारी बैंक्स व प्राथमिक साख समितिया हैं (सहकारी प्रकार)। प्रान्तीय सहकारी बैंक प्रदेश के समस्त केन्द्रीय बैंको के कार्य-सचालन को समन्वित एव नियन्त्रित करते है, प्रदेश के विभिन्न केन्द्रीय बैंको के बीच सतुलन-केन्द्र का कार्य करते है तथा ये सम्पूर्ण प्रादेशिक साख आन्दोलन की वित्तीय व्यवस्था करते हैं। ३० जून सन् १९६० को राज्य सहकारी बैंको की कुल सख्या २२ थी। उस समय इनकी हिस्सा पूजी (Share Capital) ६ करोड रु०, कार्यशील-पूजी (Working Capital) १७४ ७४ करोड़ रु०, तथा जमा-पूजी (Deposits) ६० करोड रु० थी। तीसरी योजना के अन्त तक इन बैंको की हिस्सा पूजी ३३ करोडे रु० तथा जमा-पूजी १४२ करोड रु० हो जाने की आशा है।

प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक्स कृषको को भूमि मे स्थाई सुधार करने अथवा पुराने ऋणो के शोधन के लिए दीर्घकालीन साख प्रदान करते है। सन् १९२९ मे सर्वप्रथम मद्रास मे एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक की स्थापना हुई थी। तदपश्चात् ही हमारे देश मे इस प्रकार के बैंकों का वास्तविक विकास हुआ। भूमि बन्धक बैंक्स भूमि की प्रथम-बन्धक (First Mortagage) के रूप मे उसके मूल्य के ½ भाग तक ऋण प्रदान करते हैं। इन बैंको की ऋण प्रदान करने की न्यूनतम सीमा ४०० रु० तथा अधिकतम सीमा १५ हजार रु० तक होती है। ४०० रु० से कम के ऋण प्रारम्भिक कृषि साख समितियो द्वारा दिए जात हैं। सन् १९५९-६० मे प्रत्येक प्रदेश में एक केन्द्रीय भूमि बधक बैंक (Central Land Mortgage Bank) अथवा प्रादेशिक सहकारी बैंक से सम्बद्ध एक विशेष भूमि बन्धक बैंकिग विभाग (Special Land Mortgage Banking Department Attached to the Provincial Co operative Bank) था। इस समय समस्त देश मे ४०७ प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक्स थे। तीसरी योजना मे २६५ अतिरिक्त प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक्स खोले जायेंगे। दूसरी योजना म इन बैंको का ऋण देने का वार्षिक-स्तर ३४ करोड़ रु० था, जो तीसरी योजना के अन्त तक १५० करोड़ रु० हो जाने

की आशा है।

सहकारी साख संगठन की समालोचना :—यद्यपि सहकारी साख आन्दोलन की प्रगति संख्यात्मक दृष्टि से उत्साहवर्द्धक है, परन्तु कृषकों की साख-आवश्यकताओं की पूर्ति में इसे अभी तक विशेष सफलता नहीं मिल सकी है। अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति की दिसम्बर १९५४ की रिपोर्ट के अनुसार सहकारी साख समितियां कृषकों की साख आवश्यकता के केवल ३% भाग की ही पूर्ति कर पाई है तथा कृषक को अपनी ९०% साख-आवश्यकता की पूर्ति के लिए महाजन, साहूकार और स्वदेशी बैंकर्स पर निर्भर रहना पड़ता है। सहकारी साख आन्दोलन के मुख्य दोष इस प्रकार हैं —(i) यह आन्दोलन अभी तक देश के उन क्षेत्रों मे नहीं पहुंच पाया है जहां कि उसकी सर्वाधिक आवश्यकता है। (ii) कृषकों की साख आवश्यकता को देखते हुए साख-समितियों की संख्या, उनकी हिस्सा पूंजी, जमा पूंजी और कार्यशील-पूंजी अपर्याप्त है। (iii) अभी तक सहकारी साख समितियों ने अधिकांश ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए ही दिए है। इन समितियों मे सदस्यों द्वारा लिए गए ऋण के उपयोग की निगरानी करने की कोई विशेष व्यवस्था भी नहीं है।

उपसंहार —उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत मे कृषि-वित्त के साधन एवं उनके द्वारा प्रदत्त साख सुविधाएं अपूर्ण, अपर्याप्त एवं अनेक उलझनों से परिपूर्ण हैं। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) के शब्दों मे, 'विभिन्न साधनों (एजेन्सियों) द्वारा जो कृषि-साख आजकल प्रदान की जाती है वह ठीक मात्रा से कम है, ठीक प्रकार की नहीं है तथा आवश्यकता की कसौटी को ध्यान मे रखते हुए बहुधा उपयुक्त व्यक्तियों तक नहीं पहुंच पाती है।" संक्षेप मे, ग्रामीण वित्त व्यवस्था के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं —(i) देश में कृषि के लिए उपलब्ध साख सुविधायें उसकी साख सम्बन्धी आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कम हैं। (ii) कृषि वित्त व्यवस्था समुचित रूप से संगठित नहीं है। इसके विभिन्न अभिकरण (Agencies) एक सुसंगठित एवं एकीकृत (Well Organised and Integrated) द्रव्य बाजार के अङ्गों के रूप मे काय न करके पृथक् पृथक् एवं असम्बद्ध इकाइयों के रूप में कार्य करते हैं। (iii) कृषि साख बहुत महंगी है। (iv) कृषि-वित्त के विभिन्न प्रदायकों की कार्य प्रणाली बहुत दोषपूर्ण है तथा (v) कृषकों की अल्पकालीन, मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन साख के लिए क्रमबद्ध व्यवस्था (Systematic Arrangement) का अभाव है। अतः इन सब दोषों को दूर करके कृषि के लिए पर्याप्त मात्रा मे सस्ती, सुसंगठित और नियंत्रित साख-सुविधाओं की व्यवस्था करना अति आवश्यक है। गोरवाला-समिति (Gorwala Committee) के मतानुसार भविष्य मे भी कृषि वित्त की पूर्ति के लिए सहकारी साख समितियों के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा साधन उपयुक्त नहीं होगा। अतः हमे अन्ततः सहकारी साख समितियों को ही उचित सीमा तक विकसित करना चाहिए।

ग्राम्य-साख का पुनर्संगठन
(Reorganisation of Rural Credit)

ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) —सन् १९४६ में भारत सरकार ने श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति की नियुक्ति की। इस समिति की रिपोर्ट सन् १९५० में प्रकाशित हुई। समिति ने ग्रामीण साख-सरचना को पुनर्संगठित करने के लिए कुछ सुझाव दिये थे जिनमें से कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं —(i) ग्रामीण जनता को साख प्रदान करने तथा उनकी बचत को सग्रहित करने का काम एक ही सस्था द्वारा किया जाना चाहिये। (ii) ग्रामीण साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त साख सस्थाओं की व्यवस्था करनी चाहिए। (iii) देश में विभिन्न क्षेत्रों की स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार तथा अल्पकालीन, मध्यमकालीन व दीर्घकालीन साख प्रदान करने के लिए, सहकारी-आधार पर पृथक् पृथक् सस्थायें सगठित होनी चाहियें। (iv) साख सस्थाओं के विकास पर पड़ने वाले प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए, भूमि तथा ऋण सम्बन्धी समस्त सरकारी नियम व्यावहारिक बना देने चाहियें। (v) ग्रामीण बैंकिंग को सस्थागत रूप देना चाहिए। (vi) ग्रामीण क्षेत्रों मे व्यापारिक बैंकों को अपनी शाखायें खोलने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। (vii) ग्रामीण क्षेत्रों मे दीर्घकालीन साख-व्यवस्था के लिए भूमि बन्धक बैंक खोलने चाहियें तथा (viii) ग्रामीण क्षेत्रों में इम्पीरियल बैंक (अब यह स्टेट बैंक हो गया है) को पाच वर्षों में २०० नई शाखायें खोलनी चाहियें।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee).—सन् १९५१ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने ग्रामीण साख-व्यवस्था की जाच करने के उद्देश्य से श्री० ए० डी० गोरवाला (A. D. Gorwala) की अध्यक्षता में एक अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति को सगठित किया था। इस समिति की रिपोर्ट दिसम्बर सन १९५४ में प्रकाशित हुई। साख-सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों को 'ग्रामीण साख की एकीकृत-योजना' (Integrated Scheme of Rural Credit) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। ग्रामीण साख के पुनर्गठन एव विकास की एकीकृत-योजना तीन आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित है — (क) सरकार को विभिन्न स्तरों पर पूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिए। (ख) साख एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं, पर विशेषकर विपणन (Marketing) एव विधायन (Processing) मे पूर्ण समन्वय होना चाहिए तथा (ग) योजना का प्रशासन एव प्रबन्ध कुशल एव प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा होना चाहिये। साख-सर्वेक्षण समिति ने ग्रामीण वित्त एव सहकारी साख आन्दोलन के पुनर्गठन के लिये कुछ सुझाव इस प्रकार दिये हैं :—(i) साख-आन्दोलन मे प्राथमिक (Primary), उप०

क्षेत्रीय (Sub regional) एवं केन्द्रीय (Central)। प्रत्येक स्तर पर सरकारी सहभागिता (Co-partnership) होनी चाहिये। राज्य सरकारों को सहकारी बैंकों व भूमि बन्धक बैंकों के ५१% हिस्से (Shares) क्रय करने चाहियें। (ii) चूंकि सहकारी साख तथा अन्य आर्थिक-क्रियाएं परस्पर सम्बन्धित हैं, इसलिये विपणन (Marketing), परिनिर्माण (Processing), गोदाम (Godowns) तथा साख (Credit) से सम्बन्धित आर्थिक क्रियाओं को परस्पर समन्वित कर देना चाहिये। (iii) सहकारी विपणन एवं गोदाम-व्यवस्था में भी सरकार की साझेदारी होनी चाहिये। (iv) प्राथमिक कृषि साख समितियों का आकार एवं क्षेत्र विस्तृत किया जाना चाहिए तथा इनमें सदस्यों का दायित्व (Liability) सीमित होना चाहिए। (v) इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) का राष्ट्रीयकरण करके, राज्य की सहभागिता के रूप में उसकी शाखायें ग्रामीण क्षेत्रों में खोली जानी चाहियें ताकि सहकारी बैंक्स अपनी साख-आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से कर सकें। (vi) सहकारी समितियों एवं सहकारी विभागों के कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों के लिये सहकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये। (vii) प्राथमिक साख समितियों को ग्रामीण बचतों को प्रोत्साहन देना चाहिये तथा इन्हें संग्रहित करके इसे ग्रामीण साख-व्यवस्था की उन्नति के लिये प्रयोग में लाना चाहिए। (viii) ग्रामीण क्षेत्रों में साहूकारों व महाजनों की कार्य पद्धति पर नियन्त्रण एवं निरीक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये। (ix) सरकार को कृषि उपजों के मूल्यों में स्थिरता बनाए रखने की नीति अपनानी चाहिए। (x) कुटीर उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वित्त-निगमों एवं रिजर्व बैंक की सहायता लेनी चाहिये। (xi) उपरोक्त नीतियों को कार्यान्वित करने तथा इनके लिए आवश्यक धन जुटाने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक को राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term Operations) Fund] तथा राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थिरीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilization) Fund] नामक दो कोषों की स्थापना करनी चाहिए। राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष से (अ) राज्य सरकारों को सहकारी साख संस्थाओं में हिस्से खरीदने के लिये ऋण लेने की व्यवस्था होनी चाहिए। (आ) कृषिगत कार्यों के लिये मध्यमकालीन ऋणों की व्यवस्था होनी चाहिये तथा (इ) भूमि बन्धक बैंकों के लिये ऋणों की व्यवस्था की जानी चाहिए। राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थाईकरण) कोष से राज्य सहकारी बैंकों को अल्पकालीन ऋण तथा आवश्यकता पड़ने पर इन बैंकों द्वारा अल्पकालीन साख को मध्यमकालीन साख में परिवर्तित कर सकने के लिये ऋण देने की व्यवस्था होनी चाहिये। (xii) उपरोक्त कोषों के अतिरिक्त सर्वेक्षण समिति ने भारत सरकार द्वारा तीन अन्य कोष बनाने का सुझाव दिया— (अ) राष्ट्रीय गोदाम विकास कोष (National Warehousing Development Fund), (आ) राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष (National Co-operative Development Fund) तथा (इ) राष्ट्रीय कृषि-साख (सहायता एवं गारन्टी)

कोष [National Agricultural Credit (Relief and Guaranttee) Fund]।

भारत सरकार ने सर्वेक्षण समिति की एकीकृत-योजना को स्वीकार कर लिया है तथा योजनाओं के अन्तर्गत ग्रामीण वित्त व्यवस्था के विस्तार के लक्ष्य इसी की सिफारिशों के आधार पर निर्धारित किये हैं। अतः यह पूर्ण आशा है कि तृतीय योजना के अन्त तक ग्रामीण वित्त व्यवस्था के अनेक दोष दूर होकर, कृषकों की साख-आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति सहकारी समितियों द्वारा हो सकेगी।

ग्रामीण वित्त व्यवस्था तथा रिजर्व बैंक (Rural Credit and Reserve Bank of India) —केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) की सिफारिशों के आधार पर सन् १९३५ में भारत में 'रिजर्व-बैंक आफ इन्डिया" की स्थापना हुई। रिजर्व बैंक के अधिनियम में प्रारम्भ से ही एक कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। कृषि-साख विभाग के अन्तर्गत दो कार्यों का प्रावधान (Provision) रखा गया :—(i) कृषि साख सम्बन्धी समस्त विषयों का अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञ नियुक्त करना तथा केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, राज्य सहकारी बैंकों व अन्य बैंकिंग संस्थाओं को उचित परामर्श देना और (ii) कृषि-साख के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक के कार्यों तथा राज्य सहकारी बैंकों या अन्य दूसरी साख-संस्थाओं के कार्यों में सम्बन्ध स्थापित करना।

रिजर्व बैंक द्वारा वित्त-सहायता - रिजर्व बैंक कृषकों को प्रत्यक्ष रूप से साख प्रदान नहीं करता। यह बैंक राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से, अप्रत्यक्ष रूप से, कृषकों की साख आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। ग्रामीण वित्त-व्यवस्था के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक जो कार्य करता है, उनमें से मुख्य इस प्रकार है —(i) रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को दो प्रकार से अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है :— (अ) रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को निर्दिष्ट प्रतिभूतियों के आधार पर अल्पकालीन अग्रिम (Short Trem Advances) प्रदान करता है तथा (आ) यह बैंक राज्य सहकारी बैंकों को उन विनिमय विपत्रों (Bills of Exchange) या वचन पत्रों (Promissory Notes) जोकि १५ मास में परिपक्व हो जाते हैं तथा जो मौसमी कृषि-कार्यों या फसलों के विपणन के लिये लिखे जाते है, को भुनाकर या उनके विरुद्ध अग्रिम रकम देकर अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है। (ii) रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष तथा राष्ट्रीय-कृषि साख (स्थाईकरण) कोष से मध्यमकालीन साख प्रदान करता है। इन ऋणों की अवधि १५ माह से ५ वर्ष तक की होती है। (iii) रिजर्व बैंक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष में से भूमि बन्धक बैंकों को भी दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है। (iv) रिजर्व बैंक प्रादेशिक सरकारों को सहकारी साख संस्थाओं की हिस्सा-पूंजी में भाग लेने के लिये दीर्घकालीन ऋण देता है। (v) रिजर्व बैंक केन्द्रीय

भूमि बन्धक बैंकों द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों (Debentures) को खरीदार उनकी कार्यशील पूंजी (Working Capital) में योगदान करता है। (vi) रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को मौसमी कृषि-कार्यों (Seasonal Agricultural Operations) तथा कृषि उपज के विपणन सम्बन्धी कार्यों (Marketing of Crops) के लिये बैंक-दर (Bank Rate) से २% कम पर वित्त प्रदान करता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत प्रगतिशील कृषि-नीति अपनाने, सन् १९४६ में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने तथा विशेषकर सन् १९५१ से, रिजर्व बैंक ग्रामीण साख व्यवस्था के विकास में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय भाग ले रहा है। रिजर्व बैंक की नीति में इस परिवर्तन के मुख्य कारण इस प्रकार हैं :-(i) रिजर्व बैंक अधिनियम में सन् १९५१ में किये गये संशोधन के अनुसार अब रिजर्व बैंक द्वारा मौसमी कृषि-कार्यों एवं फसलों के विपणन कार्यों के लिए राज्य सहकारी बैंकों को दी जाने वाली साख की अवधि ६ माह से बढ़ाकर १५ माह हो गई है। (ii) सन् १९५१ से पहले रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) को जो सुविधा, उनके विश्वसनीय (Bonafide) वाणिज्य सौदों के आधार पर लिखे विनिमय विपत्रों (Exchange Bills) तथा वचन पत्रों (Promissory Notes) को खरीदने-बेचने और पुन भुनाने (Discounting) के रूप में दी जाती थी, सन् १९५१ के संशोधन के अनुसार यह सुविधा राज्य सहकारी बैंकों को भी दी जाने लगी है। (iii) रिजर्व बैंक अधिनियम में सन् १९५३ के संशोधन के अनुसार अब रिजर्व बैंक को (अ) मिश्रित खेती (Mixed Farming) और (आ) किसानों द्वारा विपणन से पूर्व फसलों के विधायन (Processing) के लिये अल्पकालीन ऋण देने का अधिकार दे दिया गया है। (iv) सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को साख देने की विधि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। इस नई विधि के अनुसार अब राज्य सहकारी बैंकों को यह अधिकार मिल गया है कि वे रिजर्व बैंक को प्रत्येक ऋण का भुगतान पृथक् पृथक् रूप में, ऋण की अवधि पूर्ण होने पर कर सकेंगे। (इससे पहले यह सनियम था कि राज्य सहकारी बैंकों को रिजर्व बैंक से लिये गये सभी ऋणों को एक निश्चित तिथि तक वापिस करना पड़ता था)। (v) यद्यपि नवम्बर सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने बैंक दर को ३% से बढ़ाकर ३½% तथा मई १९५७ में इसे बढ़ाकर ४% कर दिया था, तथापि यह कृषि के लिये पहले के समान ही सहकारी संस्थाओं को १½% की रियायती दर पर वित्त प्रदान करता है।

इस समय रिजर्व बैंक कृषि साख व्यवस्था के सम्बन्ध में काफी उदार नीति अपना रहा है। फलत उसके द्वारा राज्य सहकारी बैंकों (State Co-operative Banks) को मौसमी कृषि कार्यों (Seasonal Agricultural Operations) तथा फसलों के विपणन (Marketing of Crops) के लिये बड़ी मात्रा में अल्पकालीन साख प्रदान की जा रही है। रिजर्व बैंक ने सन् १९५०-५१ में

राज्य सरकारो को राज्य सहकारी बैंको की हिस्सा पूंजी म भाग लेने के लिये तथा राज्य सहकारी बैंको को प्रत्यक्ष रूप से लगभग १४ करोड रु० के ऋण दिये थे। सन् १६६०-६१ मे रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली यह राशि बढकर ८५ करोड रुपये हो गई। तृतीय योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक कृषि साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये और भी अधिक महत्वपूर्ण योगदान देगा।

रिजर्व बैंक कृषि वित्त-व्यवस्था से सम्बन्धित कुछ अन्य काय इस प्रकार करता है —(i) रिजर्व बैंक का कृषि-साख विभाग कृषि साख की समस्त समस्याओं का अध्ययन करता है तथा समय-समय पर सहकारी आन्दोलन की समीक्षाएं छापता है। (ii) रिजर्व बैंक का कृषि-साख विभाग सहकारी आन्दोलन से घनिष्ठ सम्पर्क रखता है तथा समय-समय पर अपने अधिकारियों को देश के विभिन्न भागों मे तत्स्थान अध्ययन (Study on the Spot) करने के लिये भेजता है। (iii) सन १६५२ से रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों के कार्यों का नियमन व निरीक्षण कर रहा है। (iv) रिजर्व बैंक का सहकारी-साख आन्दोलन से निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिये जुलाई सन् १६५१ मे एक कृषि साख की स्थाई मन्त्रणा समिति (Standing Advisory Committee on Agricultural Credit) स्थापित की गई। इस समिति का काय रिजर्व बैंक को कृषि-साख विभाग तथा इससे सम्बन्धित विषयों पर सलाह देना है। (v) रिजर्व बैंक कृषि-साख व्यवस्था मे महत्वपूर्ण सुधार सम्बन्धी सुझाव देने के लिय, समय समय पर सहकारी बैंको को परिपत्र (Circulars) निर्गमित (Issue) करता है। (vi) रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग केन्द्रीय सरकार, प्रादेशिक सरकारों, सहकारी समितियों के रजिस्ट्रारो, सहकारी बैंको तथा अन्य बैंकिंग संस्थाओं के कृषि-साख से सम्बन्धित सभी विषयों पर प्राविधिक (Technical) परामर्श तथा निर्देशन प्रदान करता है। (vii) रिजर्व बैंक ने सहकारी अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रशिक्षण की महत्वपूर्ण व्यवस्था की है। सन् १६५२ मे रिजर्व बैंक ने पूना (Poona) मे अखिल भारतीय प्रशिक्षण केन्द्र खोला। प्रारम्भ के दो वर्षों म रिजर्व बैंक ने इस संस्था को ५० हजार रु० अनुदानस्वरूप दिये। नवम्बर सन् १६५३ मे रिजर्व बैंक ने भारत सरकार स मिलकर एक केन्द्रीय प्रशिक्षण समिति (Central Training Committee) का आयोजन किया तथा इस समिति पर सहकारी प्रशिक्षण के लिये योजना बनाने तथा सहकारी संस्थाओं एवं सहकारी विभाग के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था का दायित्व रखता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारतीय कृषि वित्त-व्यवस्था म प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनो ही रूप मे बहुत महत्वपूर्ण योगदान करता है।

आर्थिक नियोजन और ग्रामीण वित्त-व्यवस्था —अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) ने सन् १६५४ की रिपोर्ट मे ग्राम्य-साख के पुनर्गठन एवं एकीकरण (Re-organisation and Integration of Rural Credit) के लिय जो सुझाव दिय थे, उनको

साकार रूप देने के लिये विगत दोनों योजनावधियों में जो कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये गये, वे इस प्रकार है :—(i) **राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कोष की स्थापना** – सन् १९५५ म रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit (Long Term Operations) Fund] की स्थापना की। प्रारम्भ मे इस कोष मे १० करोड रु० जमा किये गये। परन्तु रिजर्व बैंक ने इस कोष म प्रतिवर्ष ५ करोड रु० अनुदानस्वरूप जमा करने की व्यवस्था की है। इस कोष से (अ) राज्य सरकारो को सहकारी साख सस्थाओं के हिस्से (Shares) खरीदने के लिये ऋण दिये जाते हैं, (आ) कृषिगत कार्यो के लिये मध्यमकालीन ऋण दिये जाते हैं तथा (इ) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों (Debentures) को खरीदा जाता है। (ii) **राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थाईकरण) कोष** – सन् १९५५ मे ही रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (स्थाईकरण) कोष [National Agricultural Credit (Satbilization) Fund] की स्थापना की। प्रारम्भ मे इस कोष मे ५ करोड रु० की पूजी जमा की गई। परन्तु रिजर्व बैंक ने इस कोष मे प्रतिवर्ष १ करोड रुपया अनुदानस्वरूप जमा करने की व्यवस्था की है। इस कोष से (अ) राज्य सहकारी बैंको को अल्पकालीन ऋण दिये जाते है तथा (आ) आवश्यकता पडने पर इन बैंको की अल्पकालीन साख को मध्यमकालीन साख मे परिवर्तित करने के लिये मध्यमकालीन ऋण भी दिये जाते हैं। (iii) **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना** – १ जुलाई सन् १९५५ को इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसे स्टेट बैंक का नाम दिया गया। इस बैंक पर जुलाई १९६० तक ग्रामीण क्षेत्रों मे ४०० नई शाखाए खोलने का दायित्व रक्खा गया। स्टेट बैंक ने इस अवधि मे निश्चित शाखाओं से भी अधिक (४२६) शाखायें स्थापित कर दी। इस समय स्टेट बैंक की कुल मिलाकर लगभग ६५० शाखाए हैं। स्टेट बैंक सहकारी साख सस्थाओं एव परिनिर्माण (Processing) सस्थाओं की वित्तीय सहायता करके, कृषि-साख की सुविधाए बढाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। (iv) **सन् १९५६ का कृषि उपज (विकास तथा भण्डार व्यवस्था) निगम एक्ट** (Agricultural Produce (Development and Warehousing) Corporation Act) —इस एक्ट के अन्तर्गत भारत सरकार ने १ सितम्बर सन् १९५६ को राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भण्डार मण्डल (National Co-operative Devolopment and Warehousing Board) की स्थापना की तथा २ मार्च सन् १९५७ मे केन्द्रीय भण्डार निगम (Central Warehousing Corporation) की स्थापना की। राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भण्डार मण्डल एव केन्द्रीय भण्डार निगम के कार्यकलापो को पूरा करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने तीन कोषो की स्थापना की है —(अ) राष्ट्रीय भण्डार विकास कोष (National Warehousing Fund), (आ) राष्ट्रीय सहकारिता-विकास कोष (National Co-operative Development Fund) तथा (इ) राष्ट्रीय कृषि-साख (सहायता एव गारन्टी) कोष [National Agricultural Credit (Relief and Guarantee) Fund]। (v) **सहकारी**

साख संस्थाओं में राज्य की साझेदारी —राज्य सरकारें प्रादेशिक सहकारी बैंकों (State Co-operative Banks) तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों की हिस्सा पूंजी (Share Capital) में भाग लेती हैं। तीसरी योजना में यह प्रावधान (Provision) रक्खा गया है कि यदि प्राथमिक कृषि साख समिति के ६०% सदस्य तथा उस समिति से सम्बन्धित केन्द्रीय सहकारी बैंक इच्छुक हो, तब राज्य सरकारें प्राथमिक कृषि साख समितियों की हिस्सा-पूंजी में भी भाग (Participate in the Share Capital) ले सकती हैं। राज्य सरकारें प्राथमिक कृषि-साख समितियों की हिस्सा-पूंजी में ५,००० रु० तक तथा विशेष परिस्थितियों में १०,००० रु० तक भाग ले सकती हैं, परन्तु समिति के सदस्यों को भी उतनी हिस्सा-पूंजी जुटानी आवश्यक है जितनी कि हिस्सा-पूंजी राज्य सरकार द्वारा प्रदान की गई है। सामान्य नियम यह है कि राज्य सरकारें प्राथमिक कृषि-साख समितियों की हिस्सा-पूंजी में सहकारी शीर्ष बैंकों (Co-operative Apex Banks) तथा सहकारी केन्द्रीय बैंकों (Co-operative Central Banks) के माध्यम से ही भाग लेंगी। (४) विगत नियोजन के दस वर्षों में सहकारी साख समितियों एवं सहकारी बैंकों की संख्या, सदस्य-संख्या, कार्यशील-पूंजी तथा उनके द्वारा दिए गए ऋणों में आशातीत वृद्धि हुई है। द्वितीय ग्रामीण-साख पुन सर्वेक्षण की सन् १९५७-५८ की रिपोर्ट के अनुसार सन् १९५७-५८ में सहकारी साख समितियों ने ग्रामीण साख-आवश्यकता के १२% भाग की पूर्ति की, जबकि सन् १९५०-५१ में यह केवल ३% भाग ही था।

आयोग (Planning Commission) ने जाच समिति के उक्त सुझाव को स्वीकार कर लिया और २ अक्टूबर सन् १९५३ से सामुदायिक विकास खण्डो के साथ ही साथ राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्ड भी स्थापित किये गये।

परियोजना अवधि (Period of Project) — अप्रैल सन् १९५८ तक सरकार ने यह नीति अपनाई कि प्रत्येक नये विकास खण्ड को प्रथम तीन वर्ष राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजना के अन्तर्गत कार्य करना पडता था, तद्पश्चात् इस विकास खड को सामुदायिक विकास खण्ड मे परिवर्तित कर दिया जाता था। अप्रैल सन् १९५८ से सरकार ने इस नीति को बदल दिया है। अब प्रत्येक विकास खड को आरम्भ मे एक वर्ष की पूर्व-प्रसार अवस्था (Pre extension Stage) मे रहना पडता है। इस एक वर्ष की अवधि मे विकास खड के कार्यक्रम के अन्तर्गत केवल कृषि के विकास पर ही बल दिया जाता है। तद्पश्चात् अगले पाच वर्षों मे इस प्रसार-खड के गहन विकास का कार्यक्रम अपनाया जाता है। इस पाच वर्ष की गहन विकास की अवधि को समाप्त कर लेने पर ही इस विकास खड को सामुदायिक विकास खड मे परिवर्तित किया जाता है।

सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजनाओ के उद्देश्य एव आधारभूत सिद्धान्त (Main Objects and Basic Principles of Community Development and National Extension Service Projects) — "सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य है—जनता के मानसिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाना, जिस परिवर्तन द्वारा जनता अपने जीवन के महत्व एव उद्देश्य को समझने लगे, अपने जीवन के लिये उच्च-स्तर की माग करने लगे, अपने जीवन के स्तर को ऊचा उठाने के लिये प्रेरणा, स्फूर्ति, लगन व उत्साह से परिश्रम करना सीखे और इस प्रकार भारत के ५,५८०८८ गावों के ७ करोड परिवारों का जीवन-स्तर ऊचा हो सके।" सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजनाओ के मुख्य उद्देश्य एव आधारभूत सिद्धान्त इस प्रकार हैं — (i) गाव के समस्त परिवारो का समुचित एव सर्वांगीण विकास करना तथा पददलित वर्गों के जीवन-स्तर को ऊचा उठाने के लिये विशेष प्रयत्न करना। (ii) ग्रामीण जनता मे अपने निजी उत्थान के लिये 'स्वत-चालित शक्ति' (Motive Force) को जन्म देना। (iii) विकास के कार्यक्रम मे ग्रामीण जनता का उत्तरोत्तर अधिक सहयोग पाने का प्रयत्न करना। (iv) सामुदायिक विकास से सम्बन्धित क्षेत्रो को गहन-परिश्रम का क्षेत्र बनाकर इन क्षेत्रो मे समन्वित एव सुनियोजित ढग से ग्रामीण जनता के जीवन के हर एक पहलू का उत्थान करना तथा (v) ग्रामीण जनता म सहयोग एव सहकारिता के बीज आरोपित करना। इन उद्देश्यो को पूरा करने के लिये सामुदायिक-योजना के कार्यक्रम की मुख्य रूपरेखा इस प्रकार है — (i) ग्रामीण जनता मे प्रगतिशील दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए सभी यथासम्भव प्रयत्न करना, (ii) ग्रामीण जनता के हित के लिये बहु-उद्देशीय सहकारी संस्था (Multi-purpose Co operative Institution) की

सगठित करना, (iii) गाव के तालाबो, सडको, स्वस्थ्य-केन्द्रो, स्कूलो व अस्पतालो आदि सार्वजनिक कार्यों के लिये सगठित प्रयत्न करना, (iv) कृषि, पशु पालन, बागवानी तथा मत्स्य पालन (Pisciculture) आदि कार्यों म नवीन वैज्ञानिक पद्धति का प्रचार करना, (v) ग्रामीण जनता की अर्ध-बेकारी तथा बेकारी को दूर करने के लिये लघुस्तरीय एव कुटीर-उद्योग धन्धो का विकास करना, (vi) गावो मे सडक, शिक्षा, सफाई, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य और मनोरजन आदि की समुचित व्यवस्था करना तथा (vii) ग्रामीण जनता के लिये सस्ते और स्वास्थ्यवर्द्धक मकानो का निर्माण करना आदि। इस प्रकार सामुदायिक विकास आन्दोलन के अन्तर्गत ग्रामीण जनता को अपना रहन-सहन का स्तर ऊचा करने के लिये तथा सहकारिता व सहयोग का भाव उत्पन्न करने के लिये हर प्रकार की सहकारी, आर्थिक, शिल्पिक एव सहकारी सहायता दी जाती है। इस आन्दोलन के कार्यकर्त्ता ग्रामीण जनता के सामने अपना कार्यक्रम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं — (अ) हरएक ग्रामीण परिवार को गाव के विकासार्थ श्रमदान अथवा धन-दान, जैसा भी सम्भव हो सके, अवश्य देना चाहिये। (आ) गाव के सभी व्यक्तियो को अपना एक सगठन बना लेना चाहिये। (इ) गाव मे प्रत्येक कार्य सहयोग एव सहकारिता के आधार पर किया जाना चाहिये तथा (ई) प्रत्येक कृषक परिवार को अपने कृषि व्यवसाय अथवा कुटीर-उद्योग के विकासार्थ आवश्यक योजना बनाकर उसके अनुरूप कदम उठाना चाहिये।

भारत में सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजनाओ की प्रगति (Progress of Community Development and National Extension Service Projects in India) हमारे देश मे सामुदायिक विकास खडो की स्थापना की प्रारम्भना २ अक्टूबर सन् १९५२ से तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा खडों की स्थापना प्रारम्भना २ अक्टूबर सन् १९५३ से हुई। प्रथम पचवर्षीय योजना मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर ४६.१९ करोड रु० व्यय किए गए। इस योजना की समाप्ति तक सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यक्रम ९८८ विकास खडो (Development Blocks) मे स्थित १ लाख ४० हजार गावो मे, जिनकी जनसख्या ७७५ लाख थी, लागू किया गया। दूसरी योजना मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर लगभग १९४ करोड रु० व्यय किया गया। इस योजना के अन्त तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम ३,१०० से अधिक विकास-खडो मे जिनमे ३ लाख ७० हजार गाव सम्मिलित थे और जिनकी जनसख्या २० ४ करोड थी, लागू किया जा चुका था। इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम समस्त देश के आधे से अधिक गावों में फैलाया जा चुका था। इन ३,१०० विकास-खण्डो (Development Blocks) म से लगभग ८८० विकास खड, दूसरी योजना के अन्त तक, सामुदायिक विकास कार्यक्रम के पाच से अधिक वर्ष पूरे करके विकास कार्यक्रम के दूसरे चरण मे पहुच चुके थे। इस योजना के अन्त मे ४६० 'पूर्व-विस्तार खड' (Pre-extension Blocks) भी चल

रहे थे। योजनाविधि मे समस्त देश को ५,०२४ खडो मे विभाजित किया गया था। तीसरी योजना मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर २९४ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है और यह आशा की गई है कि सन् १९६३ तक सामुदायिक विकास के कार्यक्रम का प्रसार समस्त देश मे हो जाएगा। इस योजना के अन्त तक १,००० विकास-खड १० वर्ष की अवधि पूरी कर चुकेंगे, २,००० विकास-खड कार्यक्रम के द्वितीय चरण (Second Stage) मे होगे तथा १,००० विकास-खड पूर्व-प्रसार (Pre extension Blocks) की अवस्था मे होगे। योजना आयोग ने यह सिफारिश की है कि तृतीय योजनावधि मे सामुदायिक विकास के कार्यक्रम मे लोकतन्त्रीय सस्थाओ, विशेषकर ग्राम पचायतो और सहकारी-सगठनो, का सहयोग प्राप्त करना अधिक श्रेयस्कर होगा।

दूसरी योजनावधि मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम मे तीन महत्वपूर्ण बातें हुई—(i) राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास सगठनो को सामुदायिक विकास की एक योजना मे मिला दिया जाना, (ii) पचायती राज का आरम्भ तथा (iii) विकास खण्ड को आयोजन एव विकास की इकाई के रूप मे स्वीकार करना। तीसरी योजनावधि मे जिला योजना के सामान्य ढाचे के अन्तर्गत खण्ड योजना मे उन समस्त सामाजिक तथा आर्थिक क्रिया-कलापो को सम्मिलित किया जाएगा जिनके लिए (अ) खण्ड और ग्राम स्तरो पर स्थानीय रूप से आयोजन आरम्भ करना आवश्यक है तथा (आ) खण्ड के भीतर कार्यान्वित होने वाली विभिन्न विभागो की योजनाओ का समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है। खण्ड योजना की परीधि म आने वाली मुख्य कार्यवाहिया इस प्रकार हैं —(i) सामुदायिक विकास खण्ड के योजनाबद्ध बजट मे, जिस गति मे काम पहुच गया हो, उसके अनुसार आने वाली मदें, (ii) विभिन्न विभागो के बजट मे सम्मिलित होने वाली ऐसी मदें जिन पर खण्ड सस्था के द्वारा पालन होता है, (iii) स्थानीय समुदाय या लाभान्वित होन वालो के द्वारा कानून से निर्धारित उत्तरदायित्वों के अनुसार प्रारम्भ किए गए कार्य, (iv) खण्ड मे आरम्भ किए गए ऐसे कार्य जिनमे अकुशल और अर्द्ध कुशल मजदूर काम करते हैं और (v) विकास खण्ड मे खण्ड सस्था द्वारा इस उद्देश्य से प्रारम्भ की गई कार्यवाहिया, ताकि विभिन्न क्षेत्रो मे विकास योजनाओ के निमित्त स्थानीय समुदायो का और अधिक योगदान हो सके।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का पुन सगठन करने के लिए इस समय जो बुनियादी प्रश्न है, वह है—ग्राम स्तर पर कृषि सम्बन्धी प्रयत्न का सगठन करना। कृषि और सहकारिता के क्षेत्र म तीसरी योजना मे बडे महान कार्य रक्खे गए हैं जिनके लिए ग्राम-स्तर पर अत्यन्त भरपूर प्रयत्नो का सगठन करना होगा। उत्पादन बढाने के लिए ग्रामीण समुदाय को तैयार करने मे जिस सीमा तक प्रगति होगी, उसी सीमा तक ग्रामीण क्षेत्रो की हर सम्भव समस्या को सुलझाना सरल होगा और अन्य दिशाओ म विशेषत ग्रामीण उद्योग और सामाजिक सेवाओ की व्यवस्था करने मे अधिक उन्नति की जा सकती है। कृषि उत्पादन को बढाने का इतना

अधिक महत्व है कि तीसरी योजना के तात्कालिक दृष्टिकोण को सामने रखते हुए, सामुदायिक विकास आन्दोलन को जिस महत्वपूर्ण कसौटी पर पूरा उतारना है, वह यह है कि यह आन्दोलन कृषि विस्तार अभिकरण के रूप में व्यावहारिक रूप से प्रभावशाली सिद्ध हो। इस लिए यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में अपने को सुदृढ़ करने के लिए सामुदायिक विकास सगठन को समस्त आवश्यक कदम उठाने चाहिए और यथासम्भव अधिकतम स्थानीय प्रयत्न के आधार पर कृषि उत्पादन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपना दायित्व स्वीकार करना चाहिए। इसके साथ ही साथ कृषि विभागों तथा कृषि उत्पादन से सम्बद्ध अन्य विभागों के लिए यह आवश्यक है कि वे सामुदायिक विकास सगठन को जिला और खण्ड स्तर पर आवश्यक विशेषज्ञ, निरीक्षण और पथप्रदर्शन तथा आपूर्तियां, प्रशिक्षित जनशक्ति तथा अन्य वाञ्छनीय साधन उपलब्ध करें।

ग्राम उत्पादन कार्यक्रम, गांव के समस्त किसानों को कृषि कार्य में जुटाने तथा स्थानीय समुदाय के साधनों को प्रभावशाली रूप से गतिशील करने का मुख्य साधन है। राष्ट्रीय विस्तार के क्षेत्र में, तीसरी योजना में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया जाएगा, वह यह है कि ग्राम की उत्पादन योजनायें तैयार की जायेंगी। कृषि विकास के लिये अब तक कार्य की साधारण पद्धति के रूप में इस प्रकार की योजनायें बनाने के विचार को क्रियान्वित नहीं किया गया था। राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Service) के अन्तर्गत ग्राम की उत्पादन योजना में जो कार्यक्रम सम्मिलित हैं, उनके दो मुख्य वर्ग हैं—(अ) ऋण, उर्वरक और उन्नत बीजों की आपूर्ति, वनस्पति सरक्षण के लिए सहायता, छोटे सिंचाई कार्य आदि जिनके लिये गांव के बाहर से कुछ सहायता देनी होगी तथा (ब) बड़ी योजनाओं से सिंचाई करने के लिये खेतों से नालियों का रख-रखाव कन्टूर बांध बनाना, गांव में तालाबों का खोदना और उनकी देखभाल, खाद के स्थानीय साधनों का विकास और उपयोग, गांवों में ईंधन के लिये वृक्ष लगाना आदि के कार्यक्रम जिनके लिये ग्रामीण समुदाय अथवा लाभान्वित होने वाले व्यक्तियों के प्रयत्न करने की आवश्यकता है। दूसरे वर्ग के कार्यक्रम को पूरा करने में ग्राम समुदाय का उत्साह और सहयोग, अधिकांश रूप से आपूर्तियों एवं ऋण आदि के कुशल सगठन तथा राष्ट्रीय-विस्तार सेवा के कार्यकर्त्ताओं द्वारा दिये गए प्राविधिक परामर्श की उत्तमता पर निर्भर होगा। ग्राम उत्पादन योजनाओं को सफलता-पूर्वक क्रियान्वित करने के लिए जिन विभिन्न तत्वों की आवश्यकता है, उनके लिये तीसरी योजना में पहले से ही व्यवस्था की जा चुकी है।

सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा के कार्यक्रम का संगठन :—राष्ट्रीय प्रसार सेवा एव सामुदायिक विकास के कार्यक्रम में कार्यकरण की इकाई विकास-खंड (Development Block) होता है। एक विकास खंड का क्षेत्र लगभग १०० गांवों में, जिनका क्षेत्रफल ३८८.४९८ वर्ग किलोमीटर से ४४०.२९८ वर्ग किलोमीटर (१५० वर्ग मील

से १६० वर्गमील) तक होता है,फैला होता है। प्रत्येक खण्ड के क्षेत्र के अन्तर्गत यह अनिवार्य है कि उसमे कम से कम २० ४ हजार हैक्टर्स (५० हजार एकड़) कृषि क्षेत्र हो और ५० हजार से लेकर ७० हजार तक व्यक्ति निवास करते हो। एक विकास-खण्ड को ५,५ गावो के समूहो मे बाट दिया जाता है और प्रत्येक 'ग्राम-समूह' एक ग्राम-सेवक (Village Level Worker) का कार्य क्षेत्र होता है। दिसम्बर सन् १९५६ तक सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यक्रम का सचालन केन्द्रीय-स्तर पर सामुदायिक परियोजना प्रशासन (Community Project Administration) के अन्तर्गत होता था, परन्तु दिसम्बर सन् १९५६ मे सामुदायिक-योजना प्रशासन को समाप्त कर दिया गया और इस प्रशासन के समस्त अधिकार सहकारिता मत्रालय के आधीन कर दिये गये। फलत सन् १९५६ से देश में एक सामुदायिक विकास सहकारिता मत्रालय (Ministry of Community Development and Co-operation) की स्थापना कर दी गई है।

परियोजनाओ की वित्त-व्यवस्था —भारत मे सामुदायिक विकास परियोजनाओ का श्रीगणेश अमरीकी आर्थिक सहायता द्वारा किया गया था और आज भी इन योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए सयुक्त राज्य अमेरिका से आर्थिक सहायता मिल रही है। सन् १९५७-५८ मे इन परियोजनाओ के लिए अमेरिका से १४२ ४ लाख डालर की सहायता प्राप्त हुई थी। इन योजनाओ को चलाने के लिए जनता और सरकार दोनो का सम्मिलित सहयोग प्राप्त किया जाता है। सघीय सरकार प्रारम्भिक व्यय (Primary Expenditure) तथा स्थाई व्यय का ७५% भाग और चालू व्यय (Current Expenditure) का ५०% भाग देती है तथा राज्य सरकारें अस्थाई-व्यय का २५% भाग और चालू व्यय का ५०% भाग देती हैं। जनता से भी इन योजनाओ को चलाने के लिए बहुत बडी मात्रा मे धनराशि प्राप्त होती है। प्रथम पचवर्षीय योजना म सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजनाओ पर किए गए कुल सरकारी व्यय का ६० % भाग जनता के सहयोग के रूप मे प्राप्त हुआ था। ३० सितम्बर सन् १९६० तक इन परियोजनाओ के सचालन म जनता से सहयोग के रूप म ६३ ७२ करोड रु० प्राप्त हुए थ जबकि इसी अवधि मे कुल सरकारी व्यय २००·८२ करोड रु० हुआ था।

सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजनाओं के अन्तर्गत किए जाने वाले कार्य (Functions Being Undertaken in Community Development and National Extension Service Projects) — इन परियोजनाओ के अन्तगत किये जाने वाले कुछ मुख्य कार्य इस प्रकार हैं —(i) लघुस्तरीय एव कुटीर उद्योगों का विकास —सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत कृषकों को अतिरिक्त आय दिलाने के लिये सहायक धन्धे के रूप म गावो म कुटीर एव लघुस्तरीय उद्योगो का विकास किया जाता है। इसके फलस्वरूप ग्रामीण बेरोजगारी व अर्ध बेरोजगारी का अन्त होता है। (ii) परिवहन सम्बन्धी सुविधाओं

का विस्तार —इन योजनाओं में गावों को मुख्य सडकों से मिलाने के लिये ग्रामीण जनता के सहयोग से सहायक सडकों का निर्माण किया जाता है। (iii) कृषि और तत्सम्बन्धी कार्य —इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषकों को अपनी प्रति हैक्टर (प्रति एकड) उत्पत्ति बढाने के लिये बीज, उर्वरक, कृषि-यन्त्र आदि दिये जाते हैं तथा खेतों की सिंचाई के लिये कुओं, नहरों, नालियों और नलकूपों का निर्माण किया जाता है। कृषकों को सहकारी खेती तथा पशु-पालन की उत्तम विधियों के अपनाने एवं अन्नोत्पादन के साथ ही साथ फल-तरकारियों को पैदा करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। (iv) शिक्षा एवं प्रशिक्षा की व्यवस्था।—सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत प्रारम्भिक (Primary), माध्यमिक (Secondary) तथा तकनीकी (Technical) शिक्षा का आयोजन किया जाता है। (v) चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था —सामुदायिक विकास परियोजना के प्रत्येक विकास-क्षेत्र (Develpment Block) में एक स्वास्थ्य केन्द्र तथा एक गतिशील चिकित्सालय (Mobile Hospital) की स्थापना द्वारा ग्रामीण जनता को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें प्रदान की जाती हैं। मलेरिया, हैजा, चेचक और तपेदिक आदि महामारियों की रोक-थाम के लिये टीके (Vaccination) लगाये जाते हैं तथा ग्रामीण जनता को आहार-व्यवहार की शिक्षा देकर उन्हें स्वस्थ रहना सिखाया जाता है। (vi) गृह-निर्माण कार्य —इन योजनाओं में ग्रामीण जीवन की प्रगति के लिये ग्रामवासियों को अच्छे व स्वास्थ्यवर्द्धक मकान बनाने की विधियां बताई जाती हैं और उनके भवन-निर्माण के लिये ईंट, सीमेंट और लोहे की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त इन परियोजनाओं में गांव के कुओं रास्तों और नालियों की समुचित मरम्मत की जाती है तथा घने बसे हुये क्षेत्रों में आवास-स्थानों (Building Sites) का विकास किया जाता है। (vii) सामाजिक-कल्याण के कार्य —ग्रामीणों के मनोरंजन तथा सामाजिक एवं नैतिक विकास के लिये सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा-खण्डों में अनेक कार्य किये जाते हैं, जैसे—फिल्मों का प्रदर्शन, खेल-कूद, दंगल और मेले की व्यवस्था। इस प्रकार इन योजनाओं के कार्यक्रम का मुख्य ध्येय ग्रामीण जनता का सर्वांगीण विकास करना है।

राष्ट्रीय विस्तार सेवा और सामुदायिक विकास योजनाओं का मूल्यांकन —योजना आयोग (Planning Commission) ने सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यक्रम की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए एक कार्यक्रम-मूल्यांकन-संगठन (Programme Evaluation Organisation) की नियुक्ति की है। इस मूल्यांकन-संगठन की रिपोर्ट में यह बताया गया है कि सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यक्रम की तीन मुख्य कमियां हैं —(i) सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा के क्षेत्रीय-विशेषज्ञों तथा विषय-विशेषज्ञों में पारस्परिक समन्वय का अभाव है। (ii) इन विकास खंडों में प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव है और ये अपने को जनता का सेवक नहीं समझते हैं तथा (iii) ग्राम-सेवक (Village Level Worker) का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। 'योजना आयोग'

ने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि इन परियोजनाओं में अन्तर्गत विभिन्न दिशाओं में किये गए प्रयत्न अपर्याप्त एवं अपूर्ण रहे हैं तथा उनके कार्यों की गति अत्यन्त धीमी रही है, तथापि विगत वर्षों मे सामुदायिक विकास क्षेत्रो मे अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा फसलो के उत्पादन मे २०% से २५% तक अधिक वृद्धि हुई है। इन परियोजनाओं के कार्यक्रम मे असफलता अथवा धीमी प्रगति दिखाई देने का मुख्य कारण यह है कि भारत की ग्रामीण जनता जीवन के हरएक पहलू मे पिछड़ी हुई है और इसके सर्वांगीण विकास के लिये बड़ी मात्रा मे साधन उपलब्ध होने की आवश्यकता है।

विकास कार्यक्रम में कठिनाइयां—सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्यक्रम मे आने वाली मुख्य कठिनाइयां इस प्रकार हैं—(i) **जनता की असहयोगी भावना**—भारतीय ग्रामीण जनता सामुदायिक विकास कार्यक्रम के प्रति सहयोगी भावना के स्थान पर उदासीनता की भावना ही दिखाती है। कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन (Programme Evaluation Organisation) की सातवीं रिपोर्ट के अनुसार—"अधिकांश जनता विकास खण्डों एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता और विकास के सम्बन्ध मे कोई रुचि नहीं रखती है। अधिकतर ग्रामीण जनता इसे अपना कार्यक्रम नहीं मानती है और ऐसा प्रतीत होता है कि आज भी भारतीय ग्राम-समाज सरकार पर निर्भर है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम को जनता का सहयोग प्राप्त नहीं हो सका है।" (ii) **अप्रशिक्षित कर्मचारी वर्ग**—सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा खंडो के कर्मचारी संख्या अथवा गुण और प्रशिक्षण की दृष्टि से असतोषप्रद एवं अपर्याप्त हैं। अत इन विकास खंडो का संचालन भली प्रकार से नहीं हो पाता है। (iii) **ग्राम पंचायतों की असहयोगी नीति**—सामुदायिक विकास कार्यक्रमो की सहायता देने के लिए स्थापित की गई संस्थाओं और ग्राम पंचायतो ने भी इन योजनाओं के प्रति कोई सहकारिता नहीं दिखलाई है। (iv) **वित्तीय-प्राप्तियों पर अधिक बल**—सामुदायिक विकास परियोजनाओं मे भौतिक एवं वित्तीय-प्राप्तियो तथा इनके व्यय करने पर अधिक बल डाला गया है। ग्रामीण व्यक्तियों को अपने कार्यों को करने की नई पद्धतियों की कोई शिक्षा नहीं दी जाती और न ही ऐसी बातो पर अधिक बल डाला जाता है जिनसे राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजना ग्रामीणो के विकास के लिये एक प्रभावपूर्ण एजेन्सी बन सके। (v) **ग्राम-सेवक का विस्तृत क्षेत्र**—ग्राम-सेवकों (Village Level Workers) का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा गया है जिससे वे 'कृषि-उत्पादन मे वृद्धि लाने' के अपने उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक पूरा नहीं कर पाते हैं। (vi) **कार्यक्रम की अस्पष्ट रूप-रेखा**—इन परियोजनाओं मे सम्मिलित विकास-कार्यक्रमो की रूप-रेखा भी अधिक स्पष्ट नहीं है। अत. विकास-खंडो के कर्मचारी अपने कार्य-क्षेत्र मे सम्बन्धित कार्यक्रम से अनभिज्ञ एवं अस्पष्ट से रहते है। (vii) **कार्यक्रम मे औपचारिकता**:—सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा खंडों के कार्यक्रम मे व्यावहारिकता के स्थान पर

ओपचारिकता, नौकरशाही व लालफीताशाही को अधिक महत्व दिया जाता है इन योजनाओं से सम्बन्धित विभिन्न सरकारी विभागों में भी सामंजस्य अथवा सहयोग का अभाव पाया जाता है। (viii) कार्यक्रम के नियोजन में अनावश्यक देरी —सामुदायिक विकास परियोजनाओं के कार्यक्रम की मंद गति का एक कारण यह भी रहा है कि इन योजनाओं में किसी कार्यक्रम को प्रारम्भ करने से पूर्व उसको नियोजित करने में तथा उपकरणों को प्राप्त करने में अनावश्यक देरी लगाई जाती है।

भारत में सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों की सफलता के लिए कुछ मुख्य सुझाव :—*कार्य मूल्यांकन संस्था* (Programme Evaluation Organisation) ने सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों के कार्य-संचालन में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये हैं —(i) **अनुसंधान सम्बन्धी सुविधाओं का विकास** —इन विकास खण्डों में अनुसंधानशालाओं को सुदृढ़ बनाना चाहिये तथा कृषि सम्बन्धी समस्त सूचनाओं को इन अनुसंधानशालाओं तक पहुंचाने का प्रबन्ध होना चाहिये। (ii) **औद्योगिक विभागों को सुदृढ़ बनाना** —सामुदायिक विकास योजना के प्रत्येक स्तर पर औद्योगिक-विभागों को सुदृढ़ बनाना चाहिये। (iii) **सामुदायिक विकास से सम्बन्धित सरकारी विभागों में सामंजस्य** :—सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजनाओं से सम्बन्धित सरकारी विभागों के कार्यों को विकास खण्डों के कार्यों से परस्पर सम्बन्धित एवं समन्वित कर देना चाहिये। (iv) **ग्राम पंचायतों का सहयोग** :—इन योजनाओं के कार्यक्रम में सक्रिय भाग लेने के लिये ग्राम-पंचायतों को प्रोत्साहित एवं अभिप्रेरित करना चाहिये। ग्राम-पंचायतों द्वारा इन योजनाओं के कार्यक्रम में सहयोग देना अपना महत्व-पूर्ण उत्तरदायित्व समझा जाना चाहिये। (v) **कृषि सुधार के साथ ही साथ अन्य कार्यों को भी महत्व देना** :—सामुदायिक विकास खण्डों में अब तक केवल कृषि-सुधार कार्यक्रम को ही अपनाया गया है। वस्तुतः ग्रामीण जीवन की सर्वांगीण प्रगति के लिए इन विकास-खण्डों द्वारा अन्यान्य कार्यों को भी महत्व दिया जाना चाहिए। (vi) **भूदान आन्दोलन को महत्व देना** —विकास खण्डों में भूदान आन्दोलन को चलाने के लिये विकास खण्ड के अधिकारियों एवं कर्मचारियों द्वारा भूदान यज्ञ की विचारधारा ग्रामीण व्यक्तियों को समझाई जानी चाहिये। फलतः कृषकों में पारस्परिक सहयोग एवं सहकारिता के भाव उदय होंगे तथा भूमिहीन कृषि-श्रमिक अपनी आजीविका के लिये भूदान-यज्ञ द्वारा कुछ भूमि प्राप्त कर सकेंगे। (vii) **कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था** —विकास खण्डों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये। (viii) **सहकारी आन्दोलन को महत्व देना** :—ग्रामीणों में सहकारिता का भाव पैदा करने इन परियोजनाओं के अन्तर्गत सहकारी-कृषि, सहकारी-साख और सहकारी-विपणन सम्बन्धी सहकारी संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहित करना चाहिये। (ix)

ग्राम सेवक के कार्य-क्षेत्र को सीमित करना —ग्राम सेवक द्वारा अपने कार्य को सफलतापूर्वक कर सकने केलिये यह आवश्यक है कि उसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत ५ हजार से अधिक जनसख्या नहीं आनी चाहिये । (x) स्वदेशी भावना का विकास —सामुदायिक विकास एव राष्ट्रीय प्रसार सेवा परियोजनाओ को सफल बनाने के लिये, इन योजनाओ के कार्यक्रम मे स्वदेशी भावना कूटकर भरी जानी चाहिये । (xi) परिवार नियोजन को महत्व देना —ग्रामीण जीवन की वास्तविक प्रगति के लिये, तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या को नियन्त्रित करना नितान्त आवश्यक है । अत सामुदायिक विकास योजनाओ म परिवार-नियोजन को कार्य क्रम (Family Planning Programme) का एक आवश्यक अग बनाकर, कृषको के जीवन-स्तर को ऊचा उठाने के लिये सक्रिय प्रयत्न करने चाहिये ।

—:o:—

२०

भारत में सहकारिता

(Co operation in India)

प्राक्कथन—समाजवाद और लोकतन्त्र के मूल्यों पर आधारित एक योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में 'सहकारिता' आर्थिक जीवन की अनेक शाखाओं के संगठन का मूलभूत आधार है। सहकारिता आर्थिक संगठन का वह रूप है जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक, अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए समानता और स्वेच्छा के आधार पर अपने साधनों को एक जगह जुटाते हैं। वस्तुतः सहकारिता के भाव का अभ्युदय परिस्थितियों से प्रतिक्रियात्मक (Reactionary) रूप में होता है। इस भाव की दृढ़ता उतनी ही अधिक बढ़ती चली जाती है जबकि दूसरे व्यक्ति भी समान समस्या का अनुभव करते हैं।

सहकारिता का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definit on of Co-operation)—सहकारिता आर्थिक संगठन का एक स्वरूप है। स्वभावतः जब कोई मनुष्य किसी कार्य को स्वयं करने में असमर्थ रहता है तो उसे दूसरों की सहायता (या सहकारिता) की आवश्यकता अनुभव होती है। अतः प्रो० कलवर्ट (Calvert) के शब्दों में 'सहकारिता एक ऐसा संगठन है जिसमें व्यक्ति ऐच्छिकता और मानतापूर्ण ढंग से, समानता के आधार पर, अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए संगठित होते हैं।" डा० सी० आर० फे० (C R. Fay) ने सहकारिता को एक 'संगठित स्वतन्त्रता' (Organised Liberty) कहकर सम्बोधित किया है। सर होरेस प्लेनकट (Sir Horace Plunkett) के शब्दों में, 'सहकारिता संगठन द्वारा प्रभावित की जाने वाली आत्मसहायता है।" अतः "सहकारी समिति कुछ व्यक्तियों की ऐसी संस्था है जिसमें सदस्य स्वेच्छापूर्वक, समानता एवं स्वतन्त्रता के आधार पर, मिलजुलकर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामूहिक प्रयत्न करते हैं।"

सहकारिता के लक्षण अथवा सिद्धान्त—Characteristics or Principles of Co-operation)—सहकारिता के आधारभूत लक्षण इस प्रकार हैं —(i) ऐच्छिक संगठन —(Volunary Association)—सहकारी संगठन का आधार सदस्यों की स्वेच्छा होनी है। वस्तुतः सहकारिता के भाव का उदय और विस्तार हृदय से प्रारम्भ होता है। इसे बलपूर्वक लादा नहीं जा सकता। कुछ विद्वानों ने भारत जैसे अविकसित देश में 'अनिवार्य सहकारिता-सिद्धान्त' के अपनाने का सुझाव दिया है, परन्तु जैसा कि प्रो० कलवर्ट (Calvert) ने कहा है

कि 'अनिवार्य-सहकारिता' को "सामाजिक सुधार की राजकीय योजना" ही कहा जा सकता है—"सहकारिता" नही। (ii) जनतन्त्रीय प्रशासन (Democratic Administration)–सहकारी सगठन जनतन्त्रीय प्रशासन द्वारा मानव का मानव द्वारा शोषण' (Exploitation of Man by Man) के विरुद्ध बीमा का कार्य करता है। सहकारी सगठन मे धनी-वर्ग का प्रशासन नही होता। जनतन्त्रीय पद्धति के अनुसार सहकारी-सगठन मे भी 'एक सदस्य, एक वोट' के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। (iii) पारस्परिक सहायता द्वारा आत्मसहायता (Self-help Through Mutual-help)—सहकारी सगठन मे सदस्यो के लिये 'पारस्परिक सहायता द्वारा आत्मसहायता" मार्गदर्शी सिद्धान्त (Guiding Principle) का कार्य करता है। सहकारी सगठन के अन्तर्गत उन सदस्यो मे परस्पर कोई अन्तर्विरोध नही होता, जो सहायता चाहते है और जो सहायता करते हैं। सहकारिता का मूलभूत नारा है—"प्रत्येक सब के लिये और सब प्रत्येक के लिए" (Each for all and all for each)। (iv) सामान्य कार्य, द्वारा सामान्य कल्याण (Common Welfare Through Common Action.)—सहकारी सगठन मे व्यक्तिवादी 'स्व चेतना' को अधिक महत्व नही दिया जाता वरन् इसे सामूहिक अथवा सामान्य चेतना मे समायोजित करके 'सामान्य कल्याण-कार्य किये जाते है। (v) सेवा भाव (A Spirit of Service)—सहकारिता सेवा भाव के दृष्टिकोण से एक नैतिक आन्दोलन कहा जा सकता है। सहकारी-सगठन मे सेवा भाव प्रत्येक सदस्य का मूल-मन्त्र होता है। वस्तुत सहकारिता जीवन के नैतिक आदर्श से ऊंची वस्तु है जो मनुष्य को 'न्याय' और 'मानवता' के नाम पर 'त्याग' करना सिखाती है। सहकारिता के बिना समाज मे 'धर्म' की स्थिति अनुत्पादक (Sterile) है तथा सहकारिता के सिद्धान्त को अपनाकर 'धर्म' समाज मे 'शातिपूर्ण-निर्माणकारी शक्ति' बन जाता है। (vi) आर्थिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि ((Satisfaction of Economic Wants)—सहकारी सगठन का मूल उद्देश्य सदस्यो द्वारा किसी आर्थिक आवश्यकता की सतुष्टि करना होता है। (vii) मितव्ययिता एव कार्यकुशलता (Efficiency and Economy)—सहकारी सगठन का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि प्रत्येक कार्य मे कुशलता एव मितव्ययिता अपनाई जानी चाहिये। (viii) समानता (Equity or Equality)—सहकारी सगठन मे प्रत्येक सदस्य को समानाधिकार प्राप्त होते है। सहकारी सगठन मे मतदान का आधार 'शेयरो की सख्या' नही होनी वरन प्रत्येक सदस्य का 'एक वोट' होता है। (ix) समीपता (Proximity)—सहकारी सगठन मे सदस्यो की क्षेत्रीय-समीपता एक आवश्यक लक्षण एव अनिवार्य एव लाभदायक दशा है। क्षेत्रीय-समीपता के फलस्वरूप एक सदस्य दूसरे सदस्य को पथ-विचलित होने से रोक कर सुमार्ग सुझा सकता है। (x) एकता (Unity)—सहकारिता के लिये सदस्यों की एकता मूलाधार का कार्य करती है। वस्तुत सहकारी सगठन मे सदस्यों के व्यक्तिगत व्यक्तित्व की रक्षा करते हुये भी उन्हे 'एक इकाई' के रूप मे समायोजित किया जाता है। (xi) अलाभकर प्रवृति (No

Profit Motive)—सहकारी संगठन का मूलभूत लक्षण सदस्यों का 'सामान्य हित" होता है—'लाभ कमाना" नहीं।

भारत में सहकारिता का इतिहास (History of Co-operation in India) —१९वीं शताब्दी में भारतीय कृषक वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। यह वर्ग महाजनों के ऋणभार से बुरी तरह ग्रस्त था। इसी समय जर्मनी में शुल्जे (Schulze) और रैफीसन (Raffieisen) दो समाज-सुधारकों ने सहकारिता के सिद्धान्त पर ग्रामीण एवं शहरी बैंकों को संगठित करके, ऋण-समस्या को हल करने के लिये विश्व के सम्मुख एक नया आदर्श प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम सन् १८८२ में सर विलियम वैडरबर्न तथा श्री महादेव गोविंद रानाडे ने तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड रिपन को भारत में सहकारी बैंक संगठित करने का सुझाव दिया। सन् १८९५ में मद्रास सरकार ने ग्रामीण-ऋणग्रस्तता की समस्या के अध्ययन करने के लिये फैड्रिक निकल्सन (Fredric Nicholson) को नियुक्त किया। निकल्सन ने भारत में 'रैफीसन-आदर्श' की सहकारी-समितियां संगठित करने का सुझाव दिया। सन् १९०१ में भारत सरकार ने सर एडवर्ड लॉ (Sir Edward Law) की अध्यक्षता में एक समिति का आयोजन किया जिसकी सिफारिशों के आधार पर सन् १९०४ में प्रथम सहकारी साख समिति अधिनियम (The Co-operative Credit Societies Act) पास किया गया। सन् १९०४ से १९११ तक देश में लगभग ८,१७७ सहकारी साख समितियां संगठित की गईं, जिनकी सदस्य संख्या लगभग ४ लाख थी। सन् १९१२ में दूसरा अधिनियम पास किया गया जिसके अन्तर्गत प्राथमिक साख समितियों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये केन्द्रीय बैंकों तथा प्रान्तीय बैंकों के संगठन करने तथा गैर साख समितियों के संगठन करने का प्रस्ताव रक्खा गया। सन् १९१४ में सर एडवर्ड मैक्लेगन (Sir Edward Maclagan) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसके सुझावों को मान्यता देने के लिये सन् १९१९ के माटफोर्ड सुधारों (Montford Reforms) के अन्तर्गत सहकारिता को एक प्रान्तीय विषय बना दिया। इस समय सहकारी आन्दोलन के संचालन का पूर्ण दायित्व प्रान्तीय सरकारों पर है। सर्वप्रथम १९२५ में बम्बई सरकार ने अपना सहकारी समिति अधिनियम (Co-operative Societies Act) पास किया। तत्पश्चात सन् १९३२ में मद्रास, १९३४ में बिहार तथा १९४३ में बंगाल की प्रान्तीय सरकारों ने सहकारी-समितियों से सम्बन्धित अधिनियम पास किए। सन् १९२९ तक हमारे देश में लगभग ९४,००० सहकारी समितियां संगठित की जा चुकी थीं जिनकी सदस्य संख्या लगभग ३७ लाख थी। सन् १९२९-३३ की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के दिनों में सहकारी आन्दोलन की प्रगति कुंठित सी हो गई। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पश्चात् देश में सहकारी आन्दोलन ने तीव्रगति से प्रगति की। द्वितीय महायुद्ध-काल में सहकारी साख आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ सहकारी-उपभोक्ता-भण्डार आन्दोलन ने भी विशेष प्रगति की। सन् १९३९ से १९४५ तक की अवधि

मे सहकारी समितियो की सख्या, उनकी सदस्य-सख्या और कार्यशील पूजी मे क्रमश ४१%, ७० ६% तथा ५४% की वृद्धि हुई। सन् १९४५ मे भारत सरकार ने श्री आर० जी० सरैया (R.G Saraiya) की अध्यक्षता मे सहकारी नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) की नियुक्ति की। सरैया-समिति ने भारत की प्राथमिक-साख-समितियो को बहु-उद्देशीय सहकारी-समितियो (Multi-purpose Co-operative Societies) मे परिवर्तित करने का सुझाव दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तथा विशेष रूप से द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के पश्चात्, देश मे सहकारी आन्दोलन ने आशातीत प्रगति की है।

सहकारी समितियो का वर्गीकरण

(Classification of Co operative Societies)

भारत में सहकारी समितियो का ढाचा (Structure of Co-operative Societies in India) —भारत मे सहकारी आन्दोलन को समितियो के उद्देश्यो एव कार्यों के आधार पर दो भागो मे बाटा जा सकता है —(अ) साख समितिया (Credit Societies) तथा (आ) गैर-साख समितिया (Non-credit Societies)। साख समितियो का उद्देश्य साख प्रदान करना है। ये समितिया दो प्रकार की होती हैं —एक तो वे समितिया जो केवल कृषि-कार्यों के लिये ऋण प्रदान करती हैं और दूसरी वे समितिया जो गैर-कृषि कार्यों के लिए ऋण प्रदान करती है। गैर-साख समितिया किसी सामाजिक या आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाई जाती हैं। ये समितिया भी दो प्रकार की होती हैं.— एक तो वे समितिया जो कृषि से सम्बन्धित होती हैं और दूसरी वे समितिया जो गैर-कृषि कार्यों से सम्बन्धित होती है —

सहकारी आन्दोलन (Co operative Movement)

- साख-समितियो (Credit Societies)
  - कृषि-साख समितिया (Agricultural Credit Societies)
  - गैर-कृषि साख समितिया (Non-agricultural Credit Societies)
- गैर-साख समितिया (Non-credit Societies)
  - गैर-साख कृषि समितिया (Non credit Agricultural Societies)
  - गैर-साख गैर-कृषि समितिया (Non-credit Non-agricultural Societies)
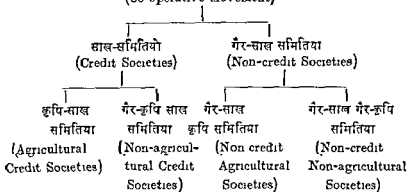
प्राथमिक कृषि-साख समितिया (Primary Agricultural Credit Societies) —सन् १९५१–५२ और सन् १९५९–६० मे प्राथमिक कृषि साख समितियो की तुलनात्मक स्थिति इस प्रकार थी —

	सन् १९५१-५२	सन् १९५९-६०
(१) औसत सदस्यता	४४	७१
(२) औसत हिस्सा-पूंजी (प्रति समिति)	७२७ रु०	२,३१२ रु०
(३) औसत हिस्सा-पूंजी (प्रति सदस्य)	१६ रु०	३२ रु०
(४) औसत जमा-पूंजी (प्रति समिति)	४०८ रु०	५८५ रु०
(५) औसत जमा पूंजी (प्रति सदस्य)	९ रु०	९ रु०
(६) औसत कार्यशील पूंजी (प्रति समिति)	४,१६० रु०	११,०११ रु०

विगत वर्षों में छोटे आकार की कृषि साख समितियों का एकीकरण करके बड़ी समितियां बनाई गई हैं। ३० जून सन् १९६० को देश में बड़े आकार की कृषि साख समितियों की संख्या ८,०२३ थी। सन् १९५९-६० में पंजाब में २८० बड़े आकार की समितियों को सेवा समितियों में बदला गया। हमारे देश में प्राथमिक कृषि-साख समितियों का संविधान एवं कार्य पद्धति इस प्रकार है —

(१) सदस्यता एवं समिति का आकार :—कोई भी १० व्यक्ति अथवा अधिक से अधिक १०० व्यक्ति जो समान क्षेत्र, भाषा अथवा जाति (Tribe) के हों, एक कृषि-साख समिति को संगठित कर सकते हैं। समिति की स्थापना से पूर्व सदस्यों को तत्सम्बन्धी कार्य के लिये रजिस्ट्रार से आज्ञा लेनी अनिवार्य है। सन् १९५९-६० में कृषि साख समितियों की औसत सदस्य संख्या ७१ थी।

(२) कार्य-क्षेत्र (Area of Operation):—जर्मनी के रैफीसन आदर्श (Raiffeisen Model) के आधार पर भारत में भी प्राथमिक साख समितियों का कार्य-क्षेत्र एक गांव ही रखा गया है। सितम्बर १९६० में राष्ट्रीय-विकास-परिषद (National Development Council) ने यह प्रस्तावित किया कि यद्यपि सहकारी-साख समितियों का कार्य-क्षेत्र एक गांव होना चाहिये, तथापि जहां गांव अत्यधिक छोटे हैं वहां पर ३-४ मील तक के आस-पास के गांव, जिनकी जनसंख्या अधिक से अधिक तीन हजार हो, मिलकर एक साख-समिति का संगठन कर सकते हैं। वस्तुतः इस प्रकार कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण रखना सर्वथा अनुचित है। सहकारी साख समितियों की सुदृढ़ता बनाए रखने तथा सहकारी भावना की सुरक्षा के लिये समिति के आकार के सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।

(३) दायित्व (Liability) —भारत में अधिकांश प्राथमिक कृषि-साख समितियों में सदस्यों का दायित्व अपरिमित (Unlimited) है अर्थात् प्रत्येक सदस्य पर समिति के ऋण चुकाने का दायित्व व्यक्तिगत एवं सामूहिक (Individual and Joint Responsibility) दोनों ही रूप में होता है। असीमित दायित्व के कारण समिति की साख-क्षमता बढ़ जाती है तथा सदस्यों में से पारस्परिक नियन्त्रण एवं निरीक्षण के कारण ऋणों का सदुपयोग अधिक होता है। सन् १९५७-५८ में देश की ५५% समितियों में अपरिमित दायित्व का नियम प्रचलित था। सन् १९५९-६० में देश की समस्त २,०३,१७२ प्राथमिक कृषि-साख समितियों में से लगभग

५६% समितियां सीमित दायित्व वाली और शेष असीमित दायित्व वाली समितियां थी। उस समय उत्तरप्रदेश और बिहार में समिति-दायित्व वाली समितियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी। गोरवाला समिति (Gorwala Committee) ने यह सिफारिश की है कि देश में बड़े आकार की प्राथमिक-साख समितियों को संगठित किया जाना चाहिये तथा इनमें परिमित-दायित्व (Limited Liability) के सिद्धांत को अपनाया जाना चाहिए। वास्तव में अपरिमित दायित्व का सिद्धान्त पारस्परिक जानकारी और पारस्परिक-नियन्त्रण की परिकल्पना पर पराश्रित है जो वर्तमान ग्रामीण समाज में नहीं पाए जाते हैं। अपरिमित दायित्व के कारण जो सदस्य समिति से ऋण नहीं लेते अथवा समिति का ऋण बकाया नहीं रखते, उन्हें कठिनाई उठानी पड़ती है। इससे आन्दोलन में बदनामी फैलती है तथा अच्छी स्थिति के कृषक समितियों के सदस्य नहीं बन पाते हैं।

(४) संचालन (Management)—प्रबन्धकी दृष्टि से समिति की साधारण सभा (General Assembly) सर्वोच्च इकाई है। इसमें समिति के समस्त सदस्य सम्मिलित होते हैं और प्रत्येक सदस्य को 'एक मत' देने का अधिकार होता है। दैनिक प्रबन्ध के लिये ५ से ९ सदस्यों की एक प्रबन्ध-समिति (Managing Committee) का निर्वाचन किया जाता है। समिति का प्रबन्ध अवैतनिक होता है। 'साधारण सभा' के कुछ मुख्य कार्य इस प्रकार होते हैं'— (i) पदाधिकारियों एवं सदस्यों का निर्वाचन करना, (ii) वार्षिक तल-पट (Blance Sheet) को स्वीकार करना (iii) ऑडीटर तथा रजिस्ट्रार की रिपोर्ट पर विचार करना, (iv) वार्षिक-लाभांश का वितरण एवं सुरक्षित-कोष के उपयोग पर विचार करना, (v) सदस्यों के ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों पर विचार करना तथा (vi) विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अपनी सामान्य-नीति का निर्धारण करना। 'प्रबन्ध-समिति' के मुख्य कार्य इस प्रकार होते हैं—(i) जमा (Deposit) पर धन प्राप्त करना (ii) समिति के लिए ऋण लेना, (iii) सदस्यों को निर्धारित ब्याज की दर पर साख प्रदान करना, (iv) ऋणों की वसूलयावी करना, (v) समिति द्वारा उधार लिये हुए धन का भुगतान करना, (vi) सदस्यों द्वारा लिए गए ऋण के उपयोग पर निरीक्षण व नियन्त्रण रखना, (vii) समिति के लिए कोषों का निर्धारण करना, (viii) सचिव द्वारा प्रस्तावित लेखों का परिक्षण करना, (ix) आय-व्यय का लेखा प्रस्तुत करना, (x) रजिस्ट्रार से लिखा-पढ़ी करना, (xi) आवश्यकता पड़ने पर साधारण सभा का आयोजन करना तथा (xii) साधारण सभा की बैठक में समिति का वार्षिक बजट व अन्य प्रकार के विवरण प्रस्तुत करना आदि। कृषि-साख समितियों के असफल संचालन का मुख्य कारण यह है कि इनके सदस्य प्रायः समिति के कार्यों में कोई दिलचस्पी नहीं रखते।

(५) पूंजी (Capital)'—समितियां अपनी कार्यवाहक पूंजी (Working Capital) दो स्रोतों से प्राप्त करती हैं—(अ) आन्तरिक स्रोत (Internal Resources), जैसे—प्रवेश शुल्क (Entrance Fees), हिस्सा पूंजी (Share

Capital), सदस्यों से जमा पर प्राप्त धन (Deposits by Members) तथा सुरक्षित कोष (Reserve Fund) आदि। (आ) बाह्य स्रोत (External Resources), जैसे-सरकारी ऋण, गैर-सदस्यो से ऋण प्राप्त करना तथा केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारी बैंको से ऋण प्राप्त करना आदि। प्रत्येक साख-समिति अपने वार्षिक शुद्ध लाभांश का २५% भाग सुरक्षित कोष मे रखती है। रजिट्रार की आज्ञा पाकर साख समितिया अपने लाभाश का १०% भाग दान सम्बन्धी कार्यों पर व्यय कर सकती हैं। तीसरी योजना के अन्तर्गत इस तथ्य पर बल डाला गया है कि राज्य सरकारो को केन्द्रीय व प्रान्तीय सहकारी बैंको के माध्यम से, प्राथमिक कृषि-साख समितियों की हिस्सा-पूजी (Share Capital) मे हिस्सा लेना चाहिये। राज्य सरकारो द्वारा इन समितियो की हिस्सा-पूजी मे हिस्सा लेने की अधिकतम रकम ५ हजार रु० तथा विशेष परिस्थितियो में १० हजार रु० निर्धारित की गई है। राज्य सरकारें साख-समिति की हिस्सा-पूजी मे केवल उस दशा मे ही योगदान कर सकती हैं जबकि समिति के ६०% सदस्य तथा समिति से सम्बन्धित केन्द्रीय बैंक (Central Bank) इस कार्य के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान कर दें। हमारे देश मे पूजी के आभ्यान्तरिक स्रोतो के अविकसित होने के कारण प्रारम्भिक कृषि साख समितिया अपनी कार्यशील पूजी के लिए केन्द्रीय सस्थाओ पर आश्रित रहती हैं। सन् १९५९-६० मे प्राथमिक कृषि साख समितियो की कार्यशील पूजी (Working Capital), हिस्सा-पूजी (Share Capital) तथा जमा-पूजी (Deposits) क्रमशः २२३·७० करोड रु०, ४२ करोड रु० और १२ करोड रु० थी। कृषि-साख समितियो की कुल कार्यशील पूजी मे से लगभग १४१.६२ करोड रु० अर्थात् कार्यशील पूजी का ६३·५% भाग केन्द्रीय सस्थाओ और सरकार से ऋणस्वरूप प्राप्त किया हुआ था।

(६) ऋण का उद्देश्य (Object of Loans) :—सहकारी साख समितियां अपने सदस्यों को तीन प्रकार के कार्यों के लिए ऋण प्रदान करती हैं :—(i) उत्पादक कार्य, जैसे-खाद, बीज, हल, बैल आदि खरीदने के लिए, (ii) अनुत्पादक कार्य, जैसे- विवाह, दगुन्न, प्रीतिभोज और उपयोग के अन्य कार्यो के लिए, तथा (iii) पुराने ऋणो के भुगतान के लिए। हमारे देश मे साख-समितियों की असफलता का मुख्य कारण यह रहा है कि इन समितियो द्वारा सदस्यो को अधिकाशत अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण दिये जाते रहे हैं। इस सम्बन्ध मे गोरवाला-समिति (Gorwala Committee) ने यह सुझाव दिया है कि साख समितियों है द्वारा कृषकों को ऋण नकद द्रव्य मे न दिया जाकर उर्वरक, खाद, बीज, यन्त्र आदि के रूप मे दिया जाना चाहिए तथा ऋण के उपयोग पर पूर्ण निगरानी व निरीक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। वस्तुत सैद्धान्तिक रूप से अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण देना वर्जित होना चाहिए। परन्तु कृषकों को साहूकारों के चुगल से छुटकारा दिलाने के लिए इसकी भी नितान्त आवश्यकता है।

(७) ब्याज की दर (Rate of Interest) :—सहकारी साख-समितियों

के सगठन का मूल उद्देश्य कृषको को सस्ती साख प्रदान करना है। हमारे देश मे प्राथमिक कृषि-साख समितियो की ब्याज की दर विभिन्न क्षेत्रो मे मे ४% से लेकर १२% तक है। बिहार मे साख समितियो द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर ७%; आंध्र प्रदेश और मद्रास म ६½% तथा उत्तर प्रदेश मे ९% है। सन् १९५९-६० मे वडे आकार की साख-समितियो की ब्याज की दरें ३½% से ९¾% थी और छोटे आकार की साख-समितियो की ब्याज की दरें ४½% से १२½% थी। कुछ विद्वानो ने समितियो द्वारा ऊची ब्याज की दर पर ऋण देने का इन तर्कों के आधार पर समर्थन किया है —(i) सदस्य बिना सोचे समझे ऋण नही लेंगे। (ii) यदि ब्याज की दर नीची हो, तो सदस्य समिति से ऋण लेकर इसे ऊची ब्याज पर अन्य व्यक्तियो को दे सकते हैं। (iii) समिति द्वारा दिये जाने वाले अनुत्पादक-ऋणो से उत्पन्न होने वाली क्षति की पूर्ति ब्याज की दर ऊची रखकर ही सम्भव हो सकेगी। (iv) प्रबन्ध-व्यय सरलता से प्राप्त किया जा सकेगा। (v) समिति के सुरक्षित कोष का विस्तार किया जा सकेगा तथा (vi) सदस्य समिति का ऋण समय पर अदा करने के लिए बाध्य होगे। इस मत के विपरीत कुछ विचारकों ने साख-समितियो द्वारा नीची ब्याज की दर निर्धारित करने का समर्थन किया है। इन विद्वानो का कहना है कि ऊची ब्याज की दर सदस्यो की पूरी अथवा अधिकाश बचत को समाप्त कर देती है। उत्तर-प्रदेश मे समितियो द्वारा ब्याज बाजारी-दर (Market Rate) पर लिया जाता है परन्तु बजारी-दर और समिति की दर के अन्तर को सदस्य के खाते मे जमा कर दिया जाता है।

(८) ऋण का भुगतान (Payment of Loan) —सहकारी साख समितियो के सुनियमित सचालन के लिए सदस्यो द्वारा समिति के ऋणो का समय पर भुगतान किया जाना नितान्त आवश्यक है। भारत मे साख-समितियो की विफलता का प्रमुख कारण यही है कि इनके सदस्य ऋण अदायगी समय पर नही करते। कभी-कभी समितिया सदस्यों से पुराना ऋण लेकर तुरन्त ही उन्हे नया ऋण दे देती हैं अथवा ऋणिया से केवल ब्याज मात्र लेकर ऋणी के खाते मे ऋण का नवीनीकरण (Renewal) कर दिया जाता है। इन सब रीतियो से साख-आन्दोलन को बहुत ठेस पहुचती है। सन् १९५७-५८ मे भारत की प्राथमिक साख समितियो के लगभग १०७ करोड रु० के ऋण बाकी (Outsanding Loans) थे और इनमे से लगभग २२.७९ करोड रु० के ऋण अवधि बीत जाने पर भी बाकी रहे। सन १९५९-६० म प्राथमिक साख-समितियो द्वारा १९९.०९ करोड रु० के ऋण दिये गये थे और १७७.३१ करोड रु० के ऋण बाकी थे। इनमें से २१% ऋण अवधि समाप्त होने पर भी बाकी (Overdue Loans) रहे। सहकारी-साख आन्दोलन की सरचना (Structure) को सुदृढ बनाने के लिये प्राथमिक कृषि साख समितियों के ऋणों का भुगतान की इस असन्तोषजनक स्थिति को सुधारना परमावश्यक है। इसके लिए साख समितियो के सदस्यो के ऋणो के प्रयोग पर पूर्ण निगरानी की व्यवस्था की जानी चाहिए तथा सहकारी-विपणन और

सहकारी साख आन्दोलन को परस्पर सम्बद्ध किया जाना चाहिये।

(९) प्रतिभूति (Security) हमारे देश मे साख-समितियो द्वारा सदस्यों की ईमानदारी अथवा सच्चरित्रता की अधिक छान-बीन नही की जाती वरन् कृषक की खडी फसल अथवा भूमि की जमानत पर अथवा दो सहयोगी सदस्यो की जमानत पर ही ऋण प्रदान कर दिया जाता है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण-समिति (All India Rural Credit Committee) ने यह सुझाव दिया है कि साख समितियो द्वारा ऋण कृषको की उत्पादन-क्षमता अथवा भावी-उपज की जमानत पर दिए जाने चाहियें। इस सम्बन्ध मे जून सन् १९६० मे मेहता समिति (Mehta Committee) ने भी एक महत्वपूर्ण सिफारिश की है कि साख-समितियों द्वारा अपने सदस्यो को चुकाने की क्षमता तथा अन्य गवाहो की जमानत पर ही ऋण दिया जाना चाहिए ताकि देश मे उत्पादन बढ़ सके।

(१०) लाभ का बटवारा (Distribution of Profits) —जिन समितियो मे हिस्सा-पूंजी नही रखी गई है, उनमे समस्त लाभ रक्षित-कोष (Reserve Fund) मे जमा करना पडता है। परन्तु जिन समितियो मे हिस्सा-पूंजी रखी गई है उन्हें वार्षिक शुद्ध लाभांश का २५% भाग रक्षित-कोष मे रखना होता है। समिति रजिस्ट्रार की आज्ञा पाकर लाभांश का १०% भाग धमार्थ-कार्यों पर व्यय कर सकती है। शेष बचे हुए लाभांश को सदस्यों मे समिति के नियमानुसार वितरित कर दिया जाता है।

(११) लेखा-परीक्षण, पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण (Audit, Supervision and Inspection) —प्राथमिक-साख समितियो का लेखा परीक्षण कराने का उत्तरदायित्व रजिस्ट्रार का होता है। रजिस्ट्रार इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लेखा परीक्षको एवं निरीक्षको की नियुक्ति करता है। रजिस्ट्रार को यह भी अधिकार होता है कि वह लेखा परीक्षण कार्य अपने आधीन गैर-सरकारी संस्थाओं को सौंप दे। निरीक्षण का कार्य निरीक्षण संघ (Supervising Union) अथवा केन्द्रीय बैंको (Central Banks) के आधीन होता है।

(१२) समिति का भंग होना —रजिस्ट्रार को यह अधिकार होता है कि यदि वह किसी समिति को सहकारिता के नियमो के विरुद्ध कार्य करते पाता है, तब वह उस समिति को भंग (Dissolve) कर सकता है।

(१३) पंच-निर्णय —जब कभी समिति और उसके सदस्यो के बीच झगड़ा हो जाता है, तब उसका निर्णय पचायती-ढंग से कर लिया जाता है।

(१४) अवलम्बित अधिकार (Summary Powers) —अनेक प्रदेशों मे सहकारी-साख-समितियो को यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपने सदस्यो से समय पर (अवलम्बित) ऋण प्राप्त करने के लिए अनुचित तरीके प्रयोग मे ला सकती हैं, जैसे—किसी सदस्य से ऋण अदा न हो सकने पर उसकी पशु-सम्पत्ति पर अधिकार कर लेना आदि। समितियो के इस अधिकार को अवलम्बित अधिकार (Summary Powers) कहा जाता है। वस्तुत. समितियों का यह अधिकार

सहकारिता के सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योकि इससे पारस्परिक नियत्रण शिथिल पड जाता है। समिति को अपने सदस्यों से ऋण वसूल करने के लिए नैतिक-दबाव (Moral Pressure) का ही प्रयोग करना चाहिए।

प्रारम्भिक-कृषि-साख समितियो का पुनर्गठन (Reorganisation of Primary Agricultural Co-operative Credit Societies)—हमारे देश मे प्राथमिक-कृषि-साख-समितयो को सन् १९०४ के सहकारी साख-समिति अधिनियम (Co operative Credit Societies Act of 1904) के अन्तर्गत सगठित किया जाना प्रारम्भ हुआ। उस समय से लेकर आज तक इन साख-समितियो के कार्य क्षेत्र मे कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हो पाई है। सन् १९५१-५२ की अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) के मतानुसार प्राथमिक कृषि साख समितिया ग्रामीण साख-आवश्यकता के केवल ३% भाग की पूर्ति करती हैं। सर्वेक्षण समिति की सचालक-समिति के अध्यक्ष श्री ए० डी० गोरवाला (A D Gorwala) ने, कोलम्बो योजना के सलाहकार सर एम० डार्लिङ्ग (Sir M Darling) ने तथा महता समिति (Mehta Committee) के अध्यक्ष श्री वैकुठलाल मेहता ने प्राथमिक-कृषि-साख समितियो को पुनर्गठित करने पर बल डाला। इन सभी के सुझावो का मुख्य साराश इस प्रकार है —(i) साख और गैर साख समितियो को परस्पर सम्बद्ध कर देना चाहिए। (ii) निष्प्राण एव निर्जीव समितियो को भग करके, 'सगठन एव पुनर्जीव-कार्यक्रम' के अन्तर्गत, सुदृढ समितियो का सगठन किया जाना चाहिए (iii) अपेक्षाकृत बड आकार की साख-समितियो की स्थापना की जानी चाहिए। परन्तु उन्होने यह भी स्वीकार किया कि अत्यधिक सदस्यता अथवा विस्तृत-क्षेत्र उत्तम नही होगा। (iv) प्राथमिक साख समितियो द्वारा साख (Credit) के साथ-साथ बचत (Savings) पर भी महत्व दिया जाना चाहिए जिससे 'ग्रामीण-आत्मनिभरता' मे वृद्धि हो सके तथा गावो मे बढती हुई आय के साथ-साथ साख-समितियो मे जमा (Deposit) की पूजी मे भी वृद्धि हो सके। (v) ऋण की स्वीकृति देते समय, सदस्यो की ऋण के लिए आवश्यकता तथा उपयोगिता पर पूर्णत विचार किया जाना चाहिए। समितियो द्वारा केवल उत्पादक-कार्यों के लिए ही ऋण प्रदान किए जाने चाहियें। (vi) समितियो द्वारा सदस्यो के ऋण के उपयोग के निरीक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए तथा (vii) जब तक कोई सदस्य अपना पहला ऋण अदा न कर दे, तब तक उसे पुन नया ऋण नही दिया जाना चाहिए।

भारत की पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत प्राथमिक कृषि साख-समितियों के पुनर्गठन, पुनर्वर्द्धन, कार्यक्षेत्र विस्तार एव विकास-कार्यक्रम को पर्याप्त महत्व दिया गया है। प्राथमिक-साख समितियो की हिस्सा-पूजी को सुदृढ बनाने के लिये, राज्य सरकार द्वारा केन्दीय बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के माध्यम से, समितियो की हिस्सा-पूजी म हिस्सा लेने का व्यवधान किया गया है। राज्य सरकार

किसी भी प्राथमिक कृषि-साख समिति की हिस्सा-पूंजी में (यदि समिति के ६०% सदस्य तथा सम्बन्धित केन्द्रीय बैंक अपनी स्वीकृति दे दें) ५ हजार रु० से १० हजार रु० तक हिस्सा ले सकती है। प्राथमिक साख समितियों द्वारा सीमान्त व अर्द्ध सीमान्त कृषकों (Marginal and Sub-marginal Cultivators) तथा भूमिहीन कृषकों (Landless Tenants) की साख आवश्यकता की पूर्ति के लिये, तीसरी योजना के अन्तर्गत यह प्रस्ताव रखा गया है कि राज्य सरकारें प्राथमिक-कृषि-साख समितियों को ३ प्रतिशत ब्याज की दर पर अतिरिक्त-ऋण (Additional Loan) देंगी। यह ऋण उस ऋण से अतिरिक्त (Additional) होगा जो राज्य सरकारें प्रतिवर्ष प्राथमिक साख समितियों को प्रदान करती हैं। सन् १९६०-६१ में प्राथमिक साख समितियों की संख्या २ १० लाख, सदस्य संख्या १७० लाख, हिस्सा-पूंजी ४२ करोड़ रु० तथा जमा-पूंजी (Deposits) १२ करोड़ रु० थी। तीसरी योजना के अन्त तक इन साख समितियों की संख्या २ ३० लाख, सदस्य-संख्या ३७० लाख, हिस्सा पूंजी ८५ करोड़ रु० तथा जमा-पूंजी ४२ करोड़ रु० हो जाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत इन साख-समितियों का अल्पकालीन व मध्यमकालीन ऋण प्रदान करने का वार्षिक स्तर २०० करोड़ रु० था, जो तीसरी योजना के अन्त तक ५३० करोड़ रु० हो जाने की आशा है। द्वितीय योजना की अवधि में लगभग ४,२०० प्राथमिक कृषि साख समितियों को पुनर्गठित किया गया। तीसरी योजना की अवधि में लगभग ५,२०० प्राथमिक साख समितियों को पुनर्गठित किया जायेगा। अनुमानतः तीसरी योजना के अन्त तक ६० प्रतिशत कृषि-जनसंख्या प्राथमिक-साख-समितियों की सदस्य बन जायेगी।

केन्द्रीय सहकारी बैंक
(Central Co operative Banks)

प्राक्कथन —सन् १९०४ के सहकारी समिति अधिनियम (Co-operative Societies Act) के अन्तर्गत ग्रामीण-साख समितियों (Village Credit Societies) तथा शहरी-साख समितियों (Urban Credit Societies)— दो प्रकार की साख संस्थाओं का आयोजन किया गया था और यह आशा की गई थी कि इन समितियों की वित्तीय आवश्यकतायें स्थानीय जमाओं (Local Deposits) से पूरी हो जाया करेंगी। परन्तु देश में अशिक्षा एवं बैंकिंग प्रवृत्ति के अभाव के कारण साख समितियां अपने सदस्यों से अथवा स्थानीय रूप से पर्याप्त जमाएं (Deposits) प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकीं। अतः सन् १९१२ के सहकारी साख समिति अधिनियम के अन्तर्गत प्राथमिक कृषि साख समितियों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय बैंक का आयोजन किया गया। इस अधिनियम के परिणामस्वरूप समस्त देश में सामान्यतः तथा उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंगाल और मध्य प्रदेश में विशेषकर केन्द्रीय बैंकों की स्थापना तीव्र गति से हुई। हमारे देश में केन्द्रीय बैंकों का संविधान तथा कार्यपद्धति इस प्रकार है :—

(१) कार्य-क्षेत्र (Area of Operation) —केन्द्रीय बैंको का कार्य-क्षेत्र तथा उनके अन्तर्निहित सदस्यो की सख्या देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे विभिन्न हैं। उत्तर प्रदेश, बगाल, बिहार, उडीसा और पजाब मे केन्द्रीय बैंको का कार्यक्षेत्र तथा उसके अन्तर्निहित प्राथमिक साख समितियो की सदस्यता और कार्यशील पूजी अन्य प्रदेशो के केन्द्रीय बैंको की तुलना मे कम है, परन्तु प्रबन्ध का व्यय उपेक्षाकृत अधिक है।

(२) सदस्यता (Membership) —केन्द्रीय बैंको की सदस्यता के दृष्टिकोण से मैक्लैगन समिति (Maclagan Committee) की रिपोर्ट के अन्तर्गत इन्हे ३ वर्गो मे विभक्त किया गया है —(अ) वे केन्द्रीय बैंक जिनकी सदस्यता केवल व्यक्तियो के लिए खुली हुई है, (आ) वे केन्द्रीय बैंक जिनकी सदस्यता केवल प्राथमिक कृषि साख समितियो के लिए ही खुली हुई है तथा (इ) वे केन्द्रीय बैंक जिनकी सदस्यता व्यक्तियो तथा साख-समितियो दोनो के लिए खुली हुई है। सन् १९५९–६० म केन्द्रीय बैंको की सदस्य सख्या १,५२,६०० व्यक्ति तथा २,१६,४३७ समितिया थी।

(३) कार्य (Functions) —केन्द्रीय सहकारी बैंको के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं —(i) ये सदस्य साख-समितियो को सस्ती ब्याज की दर पर ऋण प्रदान करते हैं। (ii) ये गैर सदस्यों से जमाए (Deposite) प्राप्त करते हैं। (iii) ये बैंक उन प्राथमिक कृषि साख समितियो से जिनके पास कार्यशील पूजी का आधिक्य है (Surplus Societies), उन कृषि साख समितियो को रुपया दिलवाकर जिनके पास कार्यशील पूजी की न्यूनता है (Deficit Societies), एक सन्तुलन केन्द्र (Balancing Centre) का कार्य करते हैं। (iv) प्रादेशिक सहकारी बैंक (Provincial Co-operative Bank) की अनुपस्थिति मे ये बैंक रजिस्ट्रार की आज्ञा से आन्तरिक लेनदेन का कार्य भी कर सकते हैं। (v) केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारण बैंकिंग-कार्य भी करते हैं। ये व्यक्ति-सदस्यों को स्थाई जमा रसीदो, सरकारी प्रतिभूतियो, सोने-चादी और कृषि-उपज की जमानत पर ऋण प्रदान करते हैं। (vi) कुछ प्रदेशो मे य बैंक सदस्य कृषि-साख समितियो के कार्यों का निरीक्षण (Inspection) एव पर्यवेक्षण (Supervision) भी करते हैं।

(४) प्रबन्ध (Managment) — केन्द्रीय बैंक का प्रबन्धक एव सचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा होता है जिसका निर्वाचन साधारण सभा (General Meeting) के वार्षिक अधिवेशन मे किया जाता है। सामान्यत सचालक मडल मे १० से २४ तक सदस्य होते हैं। यह बोर्ड अपने कार्य को शीघ्रता-पूवक निवटाने के लिये कार्य-समितियो (Working Committees) की नियुक्ति करता है। बोर्ड की बैठक माह मे एक बार तथा कार्य समिति की बैठक प्रति सप्ताह होती है। बैंक की अन्तिम सत्ता साधारण सभा के हाथ मे होती है जिसमे 'एक सदस्य एक वोट" (One Member, One Vote) का सिद्धान्त अपनाया जाता है।

(५) कार्यशील पूंजी (Working Capital) — केन्द्रीय सहकारी

बैंक अपनी कार्यशील पूंजी चार साधनो से प्राप्त करते हैं —(अ) हिस्सा पूंजी (Share Capital) — केन्द्रीय सहकारी बैंको मे हिस्सा-पूंजी का मूल्य १० रु० से लेकर ५०० रु० तक होता है, परन्तु सामान्यत यह ५० रु० से १०० रु० तक का रक्खा जाता है । बैंको मे सामान्यत सीमित दायित्व (Limited liability) का सिद्धान्त प्रचलित है तथा कुछ प्रदेशो मे केन्द्रीय सहकारी बैंको मे प्रत्येक हिस्सा के लिखित मूल्य (Face Value) के ४ से १० गुना तक निश्चित कर दिया गया है। (आ) सुरक्षित कोष (Reserve Fund) — सन् १९१२ के सहकारी साख समिति अधिनियम (Co-operative Credit Societies Act) के अनुसार प्रत्येक केन्द्रीय सहकारी बैंक को अपने वार्षिक शुद्ध लाभ का २५% सुरक्षित कोष म रखना पड़ता है। (इ) जमा पूंजी (Deposits) —जमाएँ सदस्यों और गैर सदस्यो दोनो से प्राप्त की जाती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं प्रथम स्थिर जमाए (Fixed Deposits) तथा द्वितीय बचत जमाए (Savings Deposits) । विगत वर्षों मे केन्द्रीय सहकारी बैंको की जमा पूंजी मे आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है । महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, पजाब, मद्रास और उत्तर प्रदेश के केंद्रीय बैंको मे जमाए अधिकाशत व्यक्तियो से प्राप्त की गई हैं। (ई) ऋण-पूंजी (Loans) — जमाओ के अतिरिक्त केन्द्रीय सहकारी बैंक अपने कोष को बाह्य ऋणो द्वारा बढा सकते हैं। ये सरकार अथवा प्रादेशिक सहकारी बैंकों से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। सन् १९५९-६० मे केन्द्रीय सहकारी बैंको की कार्यशील पूंजी, हिस्सा पूंजी और जमा-पूंजी क्रमश २४७ ४० करोड रु०, २३ करोड रु० तथा ६५ करोड रु० थी।

(६) ऋण व्यापार (Loan Business) —केन्द्रीय सहकारी बैंक व्यक्ति सदस्यो तथा साख-समितियों दोनों को ऋण प्रदान करते हैं। इन बैंको का मुख्य कार्य अपने कार्य-क्षेत्र की प्राथमिक कृषि साख समितियो की वित्तीय व्यवस्था करना है। ये बैंक सदस्य साख समितियो को बाड्स, सोने चादी तथा कृषि-उपज की जमानत पर ही ऋण प्रदान करते हैं। सन् १९५९-६० मे केन्द्रीय सहकारी बैंको की सख्या ४०० थी जिन्होने इस वर्ष मे लगभग २९४ १४ रु० के ऋण प्रदान किए थे।

(७) सदस्य समितियों के कार्यों का निरीक्षण व पर्यवेक्षण (Inspection and Supervision of the Member Societies) — केन्द्रीय सहकारी बैंक सदस्य प्राथमिक कृषि साख समितियो के कार्यों के निरीक्षण (Inspection), पर्यवेक्षण (Supervision) तथा पथ-प्रदर्शन के (Guidance) के लिये प्रशिक्षित कर्मचारियो की नियुक्ति करते हैं।

(८) लाभ का वितरण (Division of Profits) — केन्द्रीय सहकारी बैंकों मे सामान्यत प्रबन्ध सम्बन्धी व्यय को घटाकर जो वार्षिक लाभाश बचता है उसे दो भागो मे विभक्त किया जाता है, प्रथम सुरक्षित कोषो (Reserve Fund) के निर्माण के लिये तथा द्वितीय शेयर होल्डर्स (Share Holders) को लाभाश देने के लिये। लाभाश की दर देश के विभिन्न भागो मे ३% से ९% तक है, परन्तु अधिकतर ५% लाभाश दिया जाता है।

भारत में केन्द्रीय सहकारी बैंकिंग कार्यों की प्रमुख विशेषताएं
(Chief Features of Central Banking Activities in India)—(i) केन्द्रीय सहकारी बैंकों मे कार्यशील पूंजी की आवश्यकता को देखते हुए हिस्सा पूंजी का ढाचा बहुत कमजोर है। अत यह नियम रक्खा जाना चाहिये कि जब तक सुरक्षित कोष (Reserve Fund) दत्त शायर पूंजी (Paid-up Share Capital) के बराबर न हो जाए, तब तक कम से कम ¼ लाभों को सुरक्षित कोषो मे डाला जाता रहे तथा इसके पश्चात् यह ½ रक्खा जा सकता है। (ii) प्राथमिक कृषि साख समितियो से ऋणो के लिये माग मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है परन्तु इनकी पूर्ति के लिये केन्द्रीय सहकारी बैको को प्रादेशिक सहकारी बैंको पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके लिये ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) ने यह सुझाव दिया है कि केन्द्रीय सहकारी बैंको को अपना वित्तीय ढाचा सुदृढ़ बनाने के लिये ग्रामीण बचतो (Rural Savings) से अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिये। (iii) कुछ प्रदेशो मे केन्द्रीय बैंको के कार्य सचालन की विशेषता यह है कि इनमे व्यापार वाणिज्य कार्यों को बैंकिंग कार्यों म सम्मिलित कर दिया गया है। केन्द्रीय बैंको की यह प्रवृत्ति उनके विकास की दृष्टि से असन्तोष-प्रद है। अत आवश्यकता इस बात की है कि ये बैंक व्यापार-वाणिज्य सम्बन्धी कार्यों से पृथक् रह। (iv) केन्द्रीय सहकारी बैंक साख समितियो की उपेक्षा करके व्यक्तिगत सदस्यो को अधिक प्राथमिकता देते है। यह प्रवृत्ति सहकारी साख आन्दोलन के विकास माग मे एक बहुत बडी बाधा है। अत इन बैंको द्वारा ऋण प्रदान करते समय साख-समितियो को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। (v) वित्तीय मामलो मे इन बैंको को चाहिए कि वे समिति के सदस्यो को प्राथमिकता दें व्यापारिक बैंकिंग कार्यों को नही (vi) केन्द्रीय सहकारी बैंको को सजग ऋण-नीति, सहकारिता एव बैंकिंग के सिद्धान्तो का समुचित परिपालन करना चाहिये तथा (Bad Debts) के सन्तुलन को पूरा करने के लिए आवश्यक सुरक्षित कोषो का निर्माण करना चाहिए। (vii) केन्द्रीय सहकारी बैंको द्वारा व्यक्तिगत सदस्यो तथा सदस्य साख-समितियो को समय पर और पर्याप्त मात्रा मे ऋण प्रदान किए जाने चाहियें जिससे कि ये ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे प्रभावपूर्ण एव सहायक सिद्ध हो सकें।

प्रादेशिक सहकारी बैंक
(State Co operative Banks)

प्राक्कथन.—प्रादेशिक सहकारी बैंको को शीप बैंक (Apex Banks) भी कहते है। सहकारी साख आन्दोलन म यदि प्राथमिक कृषि साख समितिया (Primary Agricultural Credit Societies) दृढ नीव है तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक (Cantral Co-operative Banks) उसका मध्यभाग है तब राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Banks) उसका शिरोभाग है। जिस प्रकार केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रारम्भिक कृषि साख समितियो का एक सघ होता है, ठीक उसी

प्रकार प्रादेशिक सहकारी बैंक प्रदेश के केन्द्रीय सहकारी बैंकों का एक संघटन होता है। प्रादेशिक सहकारी बैंक अथवा शीर्ष बैंक राज्य के सहकारी आन्दोलन का सर्वोपरि होता है जोकि प्रत्येक अवस्था में सहकारी आन्दोलन का नियन्त्रण, पर्यवेक्षण एवं मार्गदर्शन करता है। इस प्रकार यह बैंक प्रदेश के सहकारी आन्दोलन का मित्र, प्रेरक तथा पथ-प्रदर्शक सब कुछ है। इन बैंकों का संविधान और कार्य-पद्धति इस प्रकार हैं :—

(१) रचना (Organisation) —प्रादेशिक सहकारी बैंक सर्वप्रथम बम्बई और मद्रास में स्थापित किए गए। आजकल प्रत्येक प्रदेश में एक शीर्ष बैंक है। संगठन के आधार पर इन बैंकों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है —(अ) सहकारी प्रकार के प्रादेशिक बैंक (Co-operative Type Provincial Banks) तथा (आ) मिश्रित प्रकार के शीर्ष बैंक (Mixed Type Apex Banks)। प्रथम प्रकार के प्रादेशिक सहकारी बैंकों में सदस्यता केवल प्रारम्भिक कृषि साख समितियों तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों तक ही सीमित रहती है। परन्तु दूसरे प्रकार के प्रादेशिक सहकारी बैंकों में सदस्यता व्यक्तियों केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा प्राथमिक कृषि साख समितियों तीनों के लिये खुली हुई होती है। मैक्लेगन समिति (Maclagan Committee) ने अपनी रिपोर्ट में भारतीय परिस्थितियों को देखते हुए मिश्रित प्रकार के शीर्ष बैंकों को अधिक महत्वपूर्ण बताया था। इस समय महाराष्ट्र, मद्रास, मध्य प्रदेश, बिहार और आसाम आदि राज्यों में मिश्रित प्रकार के शीर्ष बैंक हैं और बंगाल और पंजाब आदि राज्यों में सहकारी प्रकार के शीर्ष बैंक हैं।

(२) कार्य (Functions) –मैक्लेगन समिति (Maclagan Committee) के अनुसार एक शीर्ष बैंक का कार्य, "प्रादेशिक आधार पर वित्त पूर्ति की व्यवस्था द्वारा केन्द्रीय बैंकों के कार्यों का समन्वय एवं नियन्त्रण करना, प्रदेश के सहकारी आन्दोलन के लिए एक वित्तीय-केन्द्र का कार्य तथा विभिन्न केन्द्रीय बैंकों के लिए एक सन्तुलन केन्द्र के रूप में कार्य करना है।"* एक प्रादेशिक सहकारी बैंक के मुख्य कार्य इस प्रकार होते हैं —(i) प्रदेश के केन्द्रीय सहकारी बैंकों के कार्य संचालन को नियन्त्रित एवं समन्वित करना, (ii) सहकारी आन्दोलन को राष्ट्रीय-द्रव्य-बाजार (National Money Market) से सम्बन्धित करना, (iii) सहकारी आन्दोलन को राष्ट्रीय-आन्दोलन (National Movement) से सम्बन्धित करना, (iv) प्रदेश के विभिन्न केन्द्रीय बैंकों के बीच सन्तुलन-केन्द्र का कार्य करना तथा (v) सम्पूर्ण प्रादेशिक सहकारी आन्दोलन के लिये वित्तीय व्यवस्था करना। इन कार्यों के अतिरिक्त कुछ राज्यों में ये बैंक संयुक्त-स्कन्ध बैंक्स (Joint Stock

*"The function of an Apex Bank is, "The Co ordination and Control of the working of Central Banks throngh making arrangements for finance on a *provincial basis, as also to act as the financial centre of the Co-operative* movement of the province and to be the balancing centre for the various Central Banks "

Banks) के भी कुछ कार्य करते हैं। विगत वर्षों मे महाराष्ट्र और मद्रास के प्रादेशिक सहकारी बैंकों ने सहकारी उपभोक्ता आन्दोलन (Co-operative Consumers, Movement) को सगठित करने मे महत्वपूर्ण योगदान किया है।

(३) **कार्यशील पूंजी** (Working Capital)—प्रादेशिक सहकारी बैंक अपनी कार्यशील पूंजी ५ स्रोतो से प्राप्त करते हैं— (अ) हिस्सा पूंजी (Share Capital) द्वारा, (आ) जमा-पूंजी (Deposits) द्वारा, (इ) निर्गमित ऋण पत्रो (Issueing Debentures) द्वारा, (ई) सुरक्षित कोष (Reserve Fund) द्वारा तथा (उ) प्रत्यक्ष सरकारी सहायता (Direct Government Aid) द्वारा प्रादेशिक बैंक सदस्यो तथा गैर सदस्यो दोनो से ही जमाए प्राप्त कर सकते है। सन् १९१२ के सहकारी साख समिति अधिनियम (Co-operative Credit Societies Act of 1912) के अनुसार शीर्ष बैंक अपने लाभाश का २५% सुरक्षित कोष मे रखते हैं। ये बैंक प्रादेशिक सरकार तथा रिजर्व बैंक से उधार ले सकते है। रिजर्व बैंक इनको राज्य सरकार की गारन्टी पर २% ब्याज की दर पर ऋण प्रदान करता हैं।

(४) **ऋण व्यापार** (Loan Business)—शीर्ष बैंक अपने फण्ड मे से केन्द्रीय सहकारी बैंको, प्राथमिक कृषि साख समितियो, वैयक्तिक सदस्यो तथा अन्य प्रकार के सहकारी सगठनो को ऋण प्रदान करते हैं। ये बैंक रिजर्व बैंक के पास अपनी जमाए (Deposits) रखते हैं तथा सरकारी प्रतिभूतियो मे भी अपने फण्ड का विनियोग (Investment) करते हैं।

प्रादेशिक सहकारी बैंक तथा केन्द्रीय सहकारी बैंको का पारस्परिक सम्बन्ध—प्रादेशिक सहकारी बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंका के कार्यों मे समानता लाने के लिये उनकी कार्य सचालन सम्बन्धी नीतियो एव कार्यों का नियन्त्रण निरीक्षण एव पर्यवेक्षण करता है तथा उनके कार्यों को समन्वित करता है। सहकारी वित्त के उचित नियमन के लिये प्रादेशिक सहकारी बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंको द्वारा प्रारम्भिक कृषि साख समितियो से ली जाने वाली ब्याज की दरों का नियन्त्रण करता है।

प्रादेशिक सहकारी बैंक तथा रिजर्व बैंक का पारस्परिक सम्बन्ध—प्रादेशिक सहकारी बैंक सहकारी आन्दोलन और राष्ट्रीय द्रव्य बाजार म एक ओर तथा सहकारी आन्दोलन और रिजर्व बैंक के बीच मे दूसरी ओर जोडने वाली कडी (Link) का कार्य करता है। प्रत्येक राज्य सहकारी बैंक रिजर्व बैंक का सदस्य होता है तथा रिजर्व बैंक उसे कुछ शर्तों पर कोष प्रदान करता है। अभाव के दिनो मे रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियो (Govermental Securities), सहकारी-कागजो अथवा कृषि-उपज की जमानत पर इन बैंको को ६ माह के लिए साख प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंको को मौसमी कृषिगत कार्यों (Seasonal Agricultural Operations) और फसलो के विपणन (Marketing of Crops) के लिये बैंक-दर (Bank Rate) से २% कम पर वित्त

प्रदान करता है और यह प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।

सारांशतः एक प्रादेशिक सहकारी बैंक अथवा शीर्ष बैंक एक इकाई सगठन के रूप में अल्पकालीन साख-आन्दोलन के ढांचे (Structure of the Short Term Credit Movement) में महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। सन् १९५९-६० में प्रादेशिक सहकारी बैंकों की संख्या २२ थी। इस वर्ष इनके सदस्य ८,२१७ व्यक्ति (Individual Members) और २२,७६० केन्द्रीय सहकारी बैंक और प्राथमिक कृषि साख समितियां थीं। सन् १९५९–६० में इन बैंकों की कार्यशील पूंजी (Working Capital), हिस्सा पूंजी (Share Capital) तथा जमा-पूंजी (Deposits) क्रमशः १७४.७४ करोड़ रु०, ६ करोड़ रु० तथा ६० करोड़ रु० थी। इस वर्ष इन बैंकों ने १९९.६२ करोड़ रु० के ऋण प्रदान किए।

गैर-कृषि साख समितियाँ (Non-agricultural Credit Societies) — इस प्रकार की समितियां नगरों और छोटे-छोटे कस्बों में रहने वाले व्यक्तियों की साख-आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। गैर-कृषि साख समितियों को शुल्जे-डेलित्ज (Schulze Delitzch) के सिद्धान्तों पर सगठित किया जाता है। इन समितियों में प्राथमिक कृषि साख समितियों की अपेक्षा सदस्य-संख्या न्यून होती है, उनका दायित्व सीमित होता है तथा समिति के लाभांश का वृहत् भाग सदस्यों में वितरित कर दिया जाता है। जून १९६० के अन्त में देशभर में गैर-कृषि साख समितियों की संख्या ११,३७१ थी जिनकी सदस्य-संख्या लगभग ४२.३१ लाख तथा कार्यशील पूंजी (Working Capital) लगभग १७४० करोड़ रु० और जमा-पूंजी ८३'२७ करोड़ रु० थी। इस वर्ष इन समितियों द्वारा लगभग ११७ ४० करोड़ रु० के ऋण प्रदान किये गए थे। हमारे देश में प्राथमिक कृषि-साख समितियों की अपेक्षा गैर-कृषि साख समितियों को अधिक सफलता मिल सकी है। इसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं :—(i) इन समितियों का संचालन योग्य, कुशल एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। (ii) इन समितियों में कार्यशील पूंजी अधिकांशतः सदस्यों से जमा (Deposits) के रूप में प्राप्त होती है। (iii) इन समितियों ने सदस्यों में बचत को प्रोत्साहन दिया है तथा उनका सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास किया है। (iv) ये समितियां सदस्यों को उचित ब्याज की दर पर ऋण प्रदान करती हैं और समिति के सदस्य अपने ऋण को पूर्व निश्चित तिथि पर चुका देते हैं। हमारे देश में ये समितियां विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रूप में कार्य कर रही हैं। महाराष्ट्र और मद्रास में "जनता-बैंक" (People's Banks) के नाम से ये समितियां *मध्यमवर्ग को लाभान्वित करती हैं। महाराष्ट्र, मद्रास और पजाब में* "मितव्ययिता समितियों" (Economy Societies) के रूप में श्रमिकों को उचित ब्याज की दर पर ऋण प्रदान करती हैं तथा उन्हें बचत करने के लिये प्रोत्साहित करती हैं।

गैर-साख समितियां (Non-credit Societies) :—गैर-साख समितियों

के संगठन की व्यवस्था सर्वप्रथम सन् १९१२ के सहकारिता अधिनियम के अन्तर्गत की गई थी। इनमें से कुछ समितिया कृषि और गावों से सम्बन्धित हैं, जैसे—चकबन्दी समितिया, कृषि-विपणन समितिया, सहकारी कृषि समितिया, पशु-पालन समितिया तथा सिंचाई-सहकारी समितिया आदि और कुछ समितिया उद्योग और शहरों से सम्बन्धित हैं, जैसे—सहकारी गृह-निर्माण समितिया, सहकारी उपभोक्ता भण्डार तथा औद्योगिक सहकारी समितिया। सन् १९६०-६१ में सहकारी कृषि-विपणन समितियों की सख्या १,८६६ थी। सन् १९६५-६६ तक ६०० अतिरिक्त प्राथमिक कृषि-विपणन समितियों की स्थापना करने के पश्चात् यह आशा की गई है कि देश की बडी-बडी २,५०० मडियों में से प्रत्येक मडी में अथवा उसके आस-पास एक सहकारी कृषि-विपणन समिति स्थापित हो जायेगी। सन् १९६० में सहकारी कृषि समितियों की कुल सख्या ५,४०९ थी। तीसरी योजना के अन्तर्गत ३,२०० अतिरिक्त सहकारी कृषि-समितिया सगठित की जायेंगी। इसी प्रकार सन् १९५९-६० में सहकारी उपभोक्ता भण्डारों (Consumer's Co-operative Stores) की कुल सख्या ७,१६८ तथा उनकी सदस्य-सख्या लगभग १४ लाख थी। तीसरी योजना में ५० थोक और २,२०० प्राथमिक उपभोक्ता भण्डार स्थापित किये जायेंगे। द्वितीय योजना के अन्त में गृह-निर्माण समितियों की सख्या ५,५६४ तथा उनकी सदस्य-सख्या ३,२२,००० थी। इसी समय देश में औद्योगिक सहकारी समितियों (Industrial Co-operatives) की सख्या ३० हजार, उनकी सदस्य-सख्या २० लाख तथा हिस्सा-पूजी १० करोड रु० थी। तीसरी योजना के अन्त तक औद्योगिक सहकारी समितियों की सख्या बढाकर ४० हजार, उनकी सदस्य-सख्या ३० लाख तथा हिस्सा-पूजी २० करोड रुपये कर देने का निश्चय किया गया है। सन् १९६० में गन्ना-आपूर्ति समितियों, दुग्ध-आपूर्ति समितियों तथा मत्स्य-पालन समितियों की सख्या क्रमशः २३,४०,०००, २,३३,००० और २,२०,००० थी।

भारत में सहकारिता का पुनर्गठन
(Reorganisation of Co-operation in India)

प्राक्कथन—सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के 'कृषि साख विभाग' (Agricultural Credit Department) के एक प्रकाशन में बहु-उद्देशीय समितियों की स्थापना के विषय में सर्वप्रथम सुझाव दिया गया था। सन् १९४६ में सहकारी नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) ने प्रारम्भिक साख समितियों को बहु-उद्देशीय समितियों में पुनर्गठित करने के महत्व पर बल दिया। सन् १९४७ में रजिस्ट्रारों के १५वें सम्मेलन में (15th Conference of Registrars) में भी बहु-उद्देशीय समितियों के महत्व एव कार्य-क्षेत्र पर बल डाला गया। प्रथम पचवर्षीय योजना में अन्तर्गत भी यह प्रस्तावित किया गया था कि कृषकों की प्रत्येक समस्या, जैसे—साख, विपणन, वैज्ञानिक कृषि-यत्र, उत्तम खाद व बीज की पूर्ति आदि को सुलझाने के लिए

बहुध्येयी-समितियों का सगठन किया जाना चाहिये। भारत के अनेक क्षेत्रो में इन सिफारिशो के आधार पर साख समितियों को बहु-उद्देशीय समितियो मे परिवर्तित किया जा रहा है।

बहु-उद्देशीय समिति* का अर्थ और उसके कार्य (Meaning and Functions of Multi-purpose Societies)—"बहु उद्देशीय समितियां वे समितियां हैं जिनको सगठित करने का उद्देश्य सदस्यों की किसी एक आवश्यकता की पूर्ति करना न होकर उनकी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है।" डा० के० एन० काटजू (Dr K N Katju) के अनुसार—"बहु-उद्देशीय शब्द का अभिप्राय उन विभिन्न कार्यों से लेना चाहिए जिनमें समिति के सभी सदस्य रुचि ले सकते हैं।" एक ऐसे गाव मे जहा सम्पूर्ण जनसख्या कृषि मे सलग्न हो, वहा पर स्थापित समिति के सदस्य जिन कार्यों मे व्यक्तिगत एव सामूहिक रूप से रुचि रखते है वे इस प्रकार हैं —(i) उत्तम कृषि—इसमें सिचाई की सुविधायें, खाद का उत्पादन और ऐसी कोई भी बात जो कृषि के कार्य एव फसल के विपणन से सम्बन्धित हो, सम्मिलित हैं। (ii) हरी कृषि और (iii) हाथ से कताई। इसीलिये कुछ व्यक्तियो का मत है कि एक बहुद्देशीय समिति को केवल इन तीन विषयो से सम्पर्क रखना चाहिये तथा अपने आपको अनेक प्रकार के कार्यों जैसे—ग्रामोद्योग व शिक्षा-व्यवस्था मे सलग्न नहीं करना चाहिए। बहु-उद्देश्शीय समितियों के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं:—(i) साख-आवश्यकता की पूर्ति —बहु-उद्देशीय समिति सदस्यों की चालू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण प्रदान करती हैं तथा भूमि बधक बैंकों के माध्यम से सदस्या के पुराने ऋणो का शोधन कर देती हैं। (ii) कृषि-उपज का विपणन —बहु-उद्देशीय समिति कृषि-उपज को सहकारिता के आधार पर बेचकर कृषको को उनकी फसल का अधिक अच्छा द्रव्य-मूल्य दिलाने मे सफल हो होती हैं। (iii) सहायक उद्योगों के सचालन मे सहायता —बहु-उद्देशीय समिति कृषकों को सहायक उद्योग (कुटीर-उद्योग) चलाने के लिए सहायता व प्रोत्साहन देती है। (iv) उन्नत खेती से सम्बन्धित वस्तुओं की आपूर्ति—समिति सदस्यों को उत्तम बीज, उर्वरक, कृषि-यन्त्र एव उन्नत खेती से सम्बन्धित अन्य आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करती है और इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से कृषि-उत्पादन मे प्रति एकड वृद्धि लाने मे महत्वपूर्ण सहायता करती है। (v) सदस्यों के जीवन -स्तर को ऊपर उठाना —बहु-उद्देशीय समिति सदस्यो मे जीवन की उच्च भावनाओं को पैदा करके, उनकी अपव्ययता को कम करके तथा उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठाकर, सदस्यों मे स्वस्थ एव स्वच्छ जीवन व्यतीत करने की आदत

---

* अखिल भारतीय कांग्रेस के जनवरी सन् १६५६ के अधिवेशन मे बहु-ध्येयी सहकारी समितियों को एक नया नाम "सेवा सहकारितायें" (Service Co operatives) दिया गया। उस समय से यही नाम अधिक प्रचलित है।

डालती है। (vi) समाज सेवी कार्य—बहु-उद्देशीय समिति सदस्यो को चिकित्सा सम्बन्धी सहायता प्रदान करती है तथा गावो मे सफाई और शिक्षा की व्यवस्था करके समाज सेवी कार्य करती है। (vii) सदस्यों मे बचत को प्रोत्साहन—बहु-उद्देशीय समिति सदस्यो मे अल्प-बचत को प्रोत्साहित करके सदस्यो को आत्मनिर्भर एव आत्मवाहक बनने के मार्ग का प्रशस्तीकरण करती है। (viii) अन्य कार्य—समिति कृषि जोतो के उप-विभाजन एव विखण्डन को रोकने के लिये चकबन्दी और सहकारी खेती की योजना को क्रियान्वित करती है तथा सदस्यो मे परस्पर झगडा हो जाने की स्थिति मे पच-निर्णय द्वारा उनकी मुकदमेबाजी की अपव्ययता को समाप्त करती है। इस प्रकार बहु-उद्देशीय समिति ग्रामीण जीवन मे सर्वांगीण उन्नति करने तथा 'उन्नत खेती, उन्नत व्यापार एव उन्नत जीवन'' (Better Farming, Better Business and Better Living) के "त्रिमुखी-आदर्श" को प्राप्त करने मे महत्वपूर्ण योगदान करती हैं।*

बहु-उद्देशीय-समितियो के पक्ष-विपक्ष में तर्क (Arguments For and Against Multi purpose Societies)—बहु उद्देशीय समिति के पक्ष मे मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—(i) चू कि बहु-उद्देशीय समिति मे कृषको को वस्तुओ के रूप मे ऋण दिया जाता है, इसलिये ये समितियां द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था (Money Economy) के दोषो से विमुक्ति दिलाती है। (ii) समिति अपने सदस्यो मे अधिक दायित्व की भावना (Spirit of Liability) भरती है तथा उनके हितो मे अधिकाधिक कार्य करती है। (iii) एक विस्तृत कार्य क्षेत्र होने के फलस्वरूप समिति के प्रबन्ध मे अधिक कुशलता एव मितव्ययिता रहती है। (iv) समिति सदस्यो के श्रेष्ठ जीवनयापन को बढावा देकर सहायक एव कुटीर-उद्योगो के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान करती है और इस प्रकार यह सदस्यो को अतिरिक्त-आय दिलाने का साधन जुटाती है। (v) समिति सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन की कृषि-सम्बन्धी समस्याओ के सुलझाने के लिये एक अच्छी एजेन्सी का कार्य करती है। (vi) केवल बहु-उद्देशीय समितिया ही कृषको को महाजन से पूर्ण मुक्ति दिला सकती हैं क्योकि साख-समस्या, जोकि कृषि-विपणन, कृषक की अशिक्षा एव अज्ञानता आदि अनेक समस्याओ से सयुक्त रहती है, का समाधान केवल ये ही समितिया

---

* The Reserve Bank of India has defined the functions of a Multi-purpose Co-operative Society as follows — Starting with credit for current needs a Society may get the old debts of its good members liquidated through a land mortgage bank introduce better business and better monetary return by inducing its members to sell their produce co-operatively, ensure their growing of the improved varieties of crops by purchasing seeds for them, Save on purchases by arranging for the purchase of their needs jointly and as profitable rates on an indent system without recurring any risk or liability, Save litigation expenses by effecting arbitration, improve the outturn of crops by consolidation of holdings, supply pure Seeds and improved implements, Supplement the income of its members by inducing them to take to Subsidiary industries, introduce better farming measures by adopting bye laws by common consent which will curtail ceremonial expenditure and remove insanitary habits, provide medical relief and so on".

कर सकती हैं। (vii) चूँकि ये समितियाँ अनेक प्रकार के व्यापार में संलग्न रहती हैं, इसलिए यदि एक कार्य-व्यापार में हानि उठानी पड़े, तब उसकी क्षतिपूर्ति अन्य कार्य-व्यापारो से हो सकती है। (viii) बहु-उद्देशीय समिति इसलिये भी लाभप्रद है क्योंकि इसमे प्रशिक्षित कर्मचारी कार्य करते हैं। (ix) अन्त मे, एक बहु-उद्देशीय समिति अपने विस्तृत कार्य-क्षेत्र म अनेक कठिनाइयो व दोषो को दूर सकती है। बहु-उद्देशीय समिति के विरुद्ध मे मुख्य तर्क इस प्रकार हैं —(i) एक बहु उद्देशीय समिति मे कार्य यन्त्रीकरण की तरह होता जोकि एक सीधे-सादे सदस्य की समझ से बहुत परे होता है। इस प्रकार समिति का समस्त कार्य केवल गिने-चुने व्यक्तियों के हाथो मे रहता है। (ii) चूँकि इन समितियो मे अनेक कार्यों का समुक्तिकरण कर दिया जाता है, इसलिये यह स्पष्ट नहीं रहता कि किस क्षेत्र मे कितनी सफलता अथवा असफलता मिली है। (iii) इन समितियों म सबसे भयात्मक स्थिति यह रहती कि यदि समिति को किसी कार्य-व्यापार मे असफलता या हानि उठानी पड़ती है, तब वह अन्य कार्य-क्षेत्रों को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। (iv) समिति का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होने के कारण सदस्यो मे पारस्परिक सहयोग एव सच्ची सहानुभूति का आभास नही होता। ये दोनों ही सच्ची-सहकारिता के मुख्य लक्षण होते हैं। (v) अन्त मे, इन समितियो मे सीमित दायित्व के कारण सदस्य एक-दूसरे के कार्यों पर नियन्त्रण नहीं रख पाते।

भारत में बहु-उद्देशीय समितियों की प्रगति (Progress of Multi-purpose Societies in India) —सहकारी आन्दोलन के विशेषज्ञों एव विभिन्न सहकारी-सम्मेलनों एव समय-समय पर नियुक्त की गई जाँच समितियों ने भारत मे बहु-उद्देशीय समितियों की स्थापना पर बहुत महत्व दिया है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के 'कृषि-साख विभाग' ने सन् १९३७ मे प्राथमिक-कृषि-साख समितियों का पुनर्गठन करके, उनके द्वारा ग्रामीणों के सर्वांगीण जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने पर जोर दिया था। सन् १९४० की मद्रास की सहकारी-समिति ने बहु-उद्देशीय समितियों की महत्ता इन शब्दों मे व्यक्त की—"यदि समितियाँ अपने वर्तमान नियमों द्वारा निर्धारित सीमा तक अपना कार्य-क्षेत्र फैलाती हैं, तब इस सीमा के पश्चात् समितियों का अगला महत्वपूर्ण कदम 'विकसित बहु-उद्देशीय समितियों' मे परिवर्तित होना होगा।" सन् १९४६ मे सहकारी नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) ने, सन् १९४७ मे रजिस्ट्रारो के १५वें सम्मलन (XVth Conference of Registrars) ने तथा सन् १९५६ मे ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) ने भारत मे प्रारम्भिक-कृषि-साख सहकारी समितियो को बहु उद्देशीय समितियाँ मे परिवर्तित करने का सुझाव दिया था। हमारे देश मे सन् १९३९ के पश्चात् इन समितियों को विशेष प्रोत्साहन मिला है। युद्धकाल मे राज्य सरकारो ने विभिन्न वस्तुओं के वितरण का कार्य सहकारी-साख-समितियो को सौंप कर उन्हें बहु-उद्देशीय समितियों का रूप दिया था। सन् १९४६–४७ म देश भर मे बहुध्येयी-समितियों की संख्या

६,६५०, इनकी सदस्य-संख्या लगभग ५३ लाख और कार्यशील पूंजी (Working Capital) ५६ ०६ करोड रु० थी। सन् १९५७–५८ मे इनकी संख्या लगभग ७५ हजार हो गई। अन्य राज्यो की अपेक्षा उत्तर प्रदेश मे इन समितियो ने विशेष प्रगति की है। सन् १९४७ से उत्तर प्रदेश मे विकास-समन्वय आयोजन (Development Co ordination Plan) के प्रारम्भ होने पर बहु-उद्देशीय समितियो ने आश्चर्यान्वित उन्नति की है। फलत सन् १९५५–५६ मे उत्तर प्रदेश मे इन समितियो की संख्या बढकर लगभग ४२ हजार हो गई। इसीलिये इस वर्ष देश मे जितनी भी बहु-उद्देशीय समितिया थी, उनमे से आधे से अधिक अकेले उत्तर प्रदेश मे थी। जनवरी सन १९५९ मे अखिल भारतीय कांग्रेस (All India Congress) के नागपुर के अधिवेशन मे बहु-ध्येयी अथवा सेवा-सहकारी समितियो (Multi purpose or Service Co operatives) की स्थापना के पक्ष मे एक विशेष प्रस्ताव पास किया गया। तभी से समस्त भारत मे सेवा-सहकार समितियो की स्थापना के लिये बहुत अधिक प्रयत्न किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नो के फलस्वरूप ही सन १९६०–६१ के अन्त तक देश मे ६७ हजार सेवा-सहकारिताओ की स्थापना हो गई थी। इन समितियो की स्थापना को प्रोत्साहन देने के लिये सभी प्रादेशिक सरकारो ने प्राथमिक कृषि साख समितियो और बहु-ध्येयी समितियो के नियमो मे संशोधन किये हैं तथा कर्मचारियो के प्रशिक्षण के लिए स्थान-स्थान पर प्रशिक्षण केन्द्र खोले है।

भारत में सहकारी आन्दोलन की सफलता
(Success of Co operative Movement in India)

भारत में सहकारिता के लाभ (Benefits of Co operation in India)—वस्तुत एक योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था मे सहकारिता आर्थिक जीवन की अनेक शाखाओ के विशेषत कृषि और छोटे सिंचाई कार्य, छोटे उद्योग, परिनिर्माण, क्रय-विक्रय, वितरण आपूर्तिया गाव मे बिजली लगाना, मकान और निर्माण तथा स्थानीय समुदाय के लिए आवश्यक सुविधाओ की व्यवस्था सम्बन्धी संगठन का मुख्य आधार है। मध्यम और बडे उद्योगो और परिवहन मे भी अधिकाश क्रियाकलाप सहकारी आधार पर किए जा सकते है। इस प्रकार शीघ्रता से विकसित होने वाला एक सहकारी क्षेत्र, जिसमे किसान, मजदूर और उपभोक्ता की आवश्यता पर विशेष बल दिया गया हो, सामाजिक स्थिरता, रोजगार के अवसरो म विस्तार तथा शीघ्रता से आर्थिक विकास के लिये एक महत्वपूर्ण कारक बन गया है। बुनियादी तौर पर सहकारिता का उद्देश्य एक ऐसी योजना बनाना है जिससे एक सहकारी सामुदायिक सगठन की स्थापना हो और जिसमे जीवन के सभी पहलुओं का समावेश हो। विशेषतया ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे सहकारिता उत्पादन का स्तर बढाने, प्रौद्योगिकी मे सुधार करने और रोजगार बढाने का मुख्य साधन हैं जिससे समुदाय के प्रत्येक सदस्य की बुनियादी आवश्यकताए पूरी हो सकें।

भारत के सामाजिक और आर्थिक ढाचे के पुनर्निर्माण के लिए आर्थिक

विकास (Economic Progress) तथा सामाजिक परिवर्तन (Social Changes), ये दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण तत्व हैं। सहकारिता बुनियादी अर्थ-व्यवस्था (Basic Economy) में परिवर्तन लाने के मुख्य साधनों में से एक है। किसी ऐसे देश मे, जिसकी आर्थिक ढाचे की जडें गावों मे हों, सहकारिता केवल सहकारी आधार पर सगठित कुछ क्रियाकलाप-मात्र नही है वरन् यह उससे भी अधिक बढ़कर है। ग्राम-स्तर पर सहकारिता का अर्थ यह है कि समूचे ग्राम के सर्वमान्य हित की दृष्टि से भूमि तथा अन्य साधनों और विभिन्न सेवाओं का विकास किया जाए और अपने समस्त सदस्यों के प्रति ग्राम समुदाय म निरन्तर बढ़ने वाली दायित्व की भावना उत्पन्न हो। तीसरी योजना मे इस तथ्य पर विचार किया गया है कि एक और अधिक बड़ी सहकारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के अङ्ग के रूप मे नीति का व्यापक ध्येय यह होना चाहिये कि कृषि और ग्रामीण जनता के कल्याण से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कई अन्य आर्थिक और सामाजिक सगठनों की प्रारम्भिक इकाई के रूप मे ग्राम का विकास किया जाए। इसके साथ ही शिल्पकार तथा अन्य व्यक्ति अपने सामान्य हितो की दृष्टि से सहकारी सघ बनाये जो उनकी विशेष आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। भारत के भावी वर्षों मे शनै शनैः कृषि सम्बन्धी आधार के दृढ हो जाने पर तथा ग्रामीण क्षेत्रों मे क्रियाकलाप के लिए निरन्तर और अधिक सख्या मे सहकारी समितियों के सगठन की आवश्यकता होगी। यही नहीं, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र हो जाने पर तथा ग्राम समुदाय द्वारा कुशलता और उत्पादन के उच्च स्तर प्राप्त कर लेने पर सहकारिता की और अधिक बडी और पेचीदा मागों की पूर्ति करनी होगी। इस प्रकार देश मे नई आवश्यकताओं एव सम्भावनाओं के अनुकूल सहकारी सगठनों के विभिन्न-स्वरूप विकसित होंगे।

हमारे देश मे सहकारी आन्दोलन अब तक पर्याप्त विकसित एवं विस्तृत हो चुका है। एक अनुमान के अनुसार जून १९६० के अन्त तक समस्त भारत के लगभग १५·१५ करोड व्यक्ति सहकारी आन्दोलन मे सम्मिलित हो चुके थे। सन् १९५९–६० मे समस्त प्रकार की सहकारी समितियो की सख्या लगभग ३,१३, ४९९, इनकी कुल सदस्य सख्या लगभग ३·०३ करोड तथा कुल कार्यशील-पूजी (Working Capital) लगभग १,०८३ ४७ करोड रु० थी। भारत मे सहकारिता के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं :—

(१) आर्थिक लाभ :—सहकारी आन्दोलन के मुख्य आर्थिक लाभ इस प्रकार हैं :—(i) ब्याज की नीची दर पर साख प्राप्त करना :—सहकारी-साख समितिया कृषकों एव शिल्पकारो को सस्ती ब्याज की दर पर ऋण प्रदान करके उनके व्यय मे बचत कराती हैं। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश मे साख-समितियो से कृषक एव शिल्पियों को प्रतिवर्ष लगभग १ करोड रु० की बचत होती है। (ii) नियन्त्रित-साख प्रदान करना :—सहकारी समितिया अपने सदस्यों को नियन्त्रित-साख (Controlled Credit) प्रदान करती हैं। पहले कृषकों एव

शिल्पियों की अनियन्त्रित ऋण की माग कम होकर उनका नैतिक विकास सम्भव हो सका है। (iii) महाजनों के एकाधिकार की समाप्ति —ग्रामो मे साख-समितियों के सगठित हो जाने के फलस्वरूप अब ग्रामीण-व्यक्तियो को महाजनों पर अपेक्षाकृत कम निर्भर रहना पड़ता है। अत विवश होकर महाजनों ने भी अपनी ब्याज की दर नीची कर दी है। (iv) बचत व विनियोग की आदत का विकास :—सहकारी साख समितियों के विकास से ग्रामीणो की अपव्ययता अथवा अपसचय (Hoarding) पर रोक लगी है तथा उनमे मितव्ययिता एव बैंकिंग प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिला है। फलत बचत और विनियोग की प्रवृत्ति मे शनै शनै अभिवृद्धि हुई है। (v) कृषि का विकास —(अ) बहु-उद्देशीय समितिया कृषकों के लिये उत्तम बीज, यत्र एवं उर्वरकों की व्यवस्था करके उनकी कृषि उपज मे वृद्धि लाने मे प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती हैं, (आ) सहकारी-विपणन समितिया कृषको एव शिल्पियों के उत्पादन के विपणन मे सहायक बनकर उन्हे उचित मूल्य दिलाती हैं, (इ) सहकारी चकबन्दी-समितिया भूमि के छोटे-छोटे और बिखरे हुये खेतो को एक चक मे सम्मिलित करके, प्रति एकड़ उत्पत्ति मे अभिवृद्धि लाने मे परोक्ष रूप मे सहायक होती हैं तथा (ई) सहकारी-कृषि समितिया कृषकों को सहकारी खेती की की ओर प्रोत्साहित करके उनके कृषि विकास कार्यक्रम को व्यावहारिक स्वरूप देती हैं। इस प्रकार सहकारी आन्दोलन ने कृषकों मे 'उन्नत-खेती, उन्नत-व्यापार और उन्नत-जीवन' (Better Farming, Better Business and Better Living) के "त्रिमुखी आदर्श" को लोकप्रिय बना दिया है। (vi) भूमि बन्धक बैंकों द्वारा कृषि मे स्थाई सुधार लाना —भूमि बन्धक बैंकों ने कृषको की दीर्घकालीन एव कम ब्याज की दर पर साख प्राप्त करने की माग पूरी की है जिससे कृषकों ने अपनी भूमि मे 'स्थाई-सुधार कार्यक्रम' को व्यावहारिक स्वरूप दिया है। (vii) गैर-कृषि कार्यों मे सहायता :—गैर-कृषि समितिया (Non agricultural Societies), जैसे—शिल्पकारों, श्रमिको, बुनकरों, वेतनभोगियो तथा उपभोक्ताओं की समितिया आदि ने अनेक उपयोगी कार्यों द्वारा अपने सदस्यों की प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता की है। (viii) ग्रामीण जीवन की प्रगति —भारत के अविकसित ग्रामीण जीवन की प्रगति के लिये सहकारी आन्दोलन का विशेष महत्व है। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के शब्दों मे—"यदि भारत मे सहकारिता असफल रही, तब भारत के गावों की सर्वोत्तम आशा असफल हो जायगी।" वास्तव मे, भारतीय ग्राम्य जीवन के विकासार्थ कृषि-सहकारी समितियों, कुटीर-उद्योग सहकारी समितियो एव उन्नत जीवन सहकारी समितियों का व्यापक विस्तार अपेक्षित है। (ix) मध्यस्थों द्वारा शोषण का अन्त :—सहकारी आन्दोलन ने उत्पादक एव उपभोक्ता समितियो को परस्पर सम्बद्ध करके, विपणन प्रणाली से मध्यस्थ-वर्ग (Middleman) को हटा दिया है। इस प्रकार सहकारी समितियों ने उपभोक्ता एव उत्पादक दोनो वर्गों को मध्यस्थो के शोषण के विरुद्ध सरक्षण प्रदान किया है। (x) निवास की समस्या का समाधान :—सहकारी गृह-निर्माण

समितियाँ अपने निर्धन एवं निःसहाय सदस्यों के लिये निवास की व्यवस्था करके उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि लाती हैं। (xi) आर्थिक नियोजन की सफलता के लिये आवश्यक :—वस्तुतः योजनाओं की सफलता जनता के सहयोग एवं सहकारिता पर निर्भर है। एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सहकारिता आर्थिक जीवन की अनेक शाखाओं के संगठन में मूलभूत आधार का कार्य करती है। (xii) व्यापारिक प्रगति :—सहकारी उपभोक्ता भण्डार (Consumer's Co-operative Stores) अपने सदस्यों को उचित मूल्य पर शुद्ध माल की आपूर्ति करते हैं। इस प्रकार किसी देश की व्यापारिक प्रगति में सहकारिता का महत्वपूर्ण स्थान है। (xiii) श्रम और पूंजी के संघर्ष का अन्त :—चूंकि सहकारिता के अन्तर्गत मध्यस्थ-वर्ग का पृथक्करण हो जाता है इसलिये श्रम और पूंजी के पारस्परिक विरोध एवं संघर्ष का अन्त हो जाता है। सहकारिता के आधार पर असंगत एवं निर्धन व्यक्ति संगठित होकर अपनी आर्थिक प्रगति कर पाते हैं। (xiv) स्व प्रेरणा व साधन (Initiative and Resources) :—सहकारी संगठन के अन्तर्गत सामूहिक व्यापार के विपुल साधन उपलब्ध होते हैं। चूंकि प्रत्येक सदस्य को उसके साधनों एवं परिश्रम के अनुसार लाभांश मिलता है, इसलिये उसमें सहकारी संगठन में कार्य करने की प्रेरणा एवं तीव्रता आ जाती है जिसके परिणामस्वरूप अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है।

(२) नैतिक लाभ :—'सहकारिता' जीवन के नैतिक आदर्श से ऊंची भावना है। यह मनुष्य को न्याय और मानवता के नाम पर त्याग करना सिखाती है। सहकारिता के बिना समाज में धर्म की स्थिति अनुत्पादक (Sterile) है तथा सहकारिता के सिद्धान्त को अपनाकर धर्म समाज के अन्तर्गत 'शान्तिपूर्ण निर्माणकारी लक्ष्य' बन जाता है। श्री एम० एल० डार्लिङ्ग (M L Darling) के शब्दों में, "एक उत्तम सहकारी समिति में मुकदमेबाजी, अपव्ययता, शराबखोरी और जुआबाजी कम हो जाते हैं और इनके स्थान पर परिश्रम, आत्मविश्वास, आत्म-निर्भरता, आत्मसहायता, ईमानदारी, शिक्षा, मितव्ययिता एवं पारस्परिक सहायता पाई जाती है।"*

(३) शिक्षात्मक लाभ :—सहकारी आन्दोलन अपने सदस्यों को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षित एवं प्रशिक्षित करने में सहायक होता है। सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों के मानस को झकझोरकर उनमें नवीन चेतना, नवीन बुद्धि एवं नवीन स्फूर्ति पैदा करती हैं। समितियों के सम्मेलनों में भाग लेकर, समिति के कार्य-संचालन में हाथ बटाकर, पारस्परिक वाद विवाद में भाग लेकर तथा समिति के किसी उत्तरदाई पद को सम्भालकर सदस्यों में उत्तरदायित्व की भावना का तथा बुद्धि ज्ञान का विकास होता है।

* Litigation and extravagance drunkeness and gambling are all at a discount in a good Co-operative Society and in their place will be found industry, self reliance, straight dealing, education, thrift, self help and mutual help' —M. L. Darling

(४) सामाजिक लाभ —सहकारी आन्दोलन से प्राप्त होने वाले मुख्य सामाजिक लाभ इस प्रकार हैं —(i) **सामाजिक नियन्त्रण मे सहयोग** —सहकारी समितिया सदस्यो मे नैतिकता एव दायित्व की भावना का विकास करके प्रत्यक्ष रूप से 'पारस्परिक नियन्त्रण" एव अप्रत्यक्ष रूप से 'सामाजिक नियन्त्रण" (Social Control) लाने मे व्यावहारिक सहयोग प्रदान करती हैं। (ii) **समाज-सेवी कार्य** —सेवा भाव सहकारिता का एक प्रमुख लक्षण है। इस दृष्टिकोण से सहकारिता को एक नैतिक आन्दोलन कहा जा सकता है। सहकारी सगठन के अन्तगत 'सामान्य कार्य द्वारा सामान्य कल्याण' (Common Welfare through Common Action) को व्यवहरित किया जाता है। सहकारी समितिया अपने शुद्ध वार्षिक-लाभाश का १०% भाग धर्मार्थ कार्यों पर व्यय करती हैं। इस प्रकार शिक्षा, सफाई, चिकित्सा, मार्ग निर्माण, गड्ढे व तालाबो की भराई तथा कुओ की मरम्मत आदि कार्यों द्वारा सहकारी समितिया अनेक 'जन-कल्याण कार्य' करती हैं। (iii) **सामाजिक गुणों का विकास** —सहकारी आन्दोलन 'पारस्परिक सहायता द्वारा आत्म सहायता' (Self help through Mutual help) तथा 'प्रत्येक सबके लिए और सब प्रत्येक के लिए' (Each for All and All for Each) के ढाचे पर आधारित होता है। सहकारी-सगठन सदस्यो मे सद्भावना, सहयोग, त्याग, बन्धुत्व एव मैत्री भाव पैदा करके उन्हे 'सामाजिक' बनाते हैं।

(५) राजनैतिक लाभ —सहकारी आन्दोलन जनतन्त्र का पोषक एव साम्यवाद और पूजीवाद के मध्य का मार्ग है। पूजीवाद से 'पूजी पर व्यक्तिगत स्वामित्व' एव 'व्यक्तिगत-स्वातन्त्र्य' को लेकर तथा समाजवाद से 'सामूहिक क्रिया' एव 'समाज म धन के समान वितरण' के सिद्धान्त को अपनाकर सहकारी-आन्दोलन एक तीसरा नया-माग प्रस्तुत करता है, जिसमे एक ओर 'मानव समाज के अधिकतम कल्याण' पर बल डाला जाता है और दूसरी ओर 'व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य' पर। यद्यपि सहकारी आन्दोलन 'राजनैतिक-प्रभाव' से अछूता रहता है, परन्तु सदस्यों में समानाधिकार एव स्वातन्त्र्य के भावो को जागृत करके, सहकारी आन्दोलन 'राजनैतिक जागरण' एव 'राजनैतिक प्रवृति' के अभ्युदय म महत्वपूर्ण योगदान करता है।

सहकारी आन्दोलन का मूल्याकन

क्या भारत में सहकारी आन्दोलन सफल हुआ है —हमारे देश मे सहकारिता 'जीवित गत्यात्मक शक्ति' (Living Dynamic Power) नही बन पाई है। अभी तक सहकारिता भारतवासियो का लोकप्रिय-आन्दोलन न होकर एक सरकारी-नीति (Government Policy) ही अधिक रही है। *सन् १९५४ म गोरवाला* समिति (Gorwala Committee) ने भारत मे सहकारिता की सफलता का मूल्याकन इस प्रकार प्रस्तुत किया था —(i) सहकारी आन्दोलन अभी तक देश के प्रत्येक भाग म पर्याप्त रूप से विस्तृत नहीं हो पाया है। (ii) जिन क्षेत्रों मे सहकारी आन्दोलन का प्रसार हुआ भी है, उन क्षेत्रो म कृषको एव शिल्पियों

को एक बड़ी संख्या अभी तक सहकारी समितियों की सदस्य नहीं बन पाई है। (iii) जो व्यक्ति साख समितियों के सदस्य हैं भी—उनकी साख सम्बन्धी अधिकांश आवश्यकता की पूर्ति अभी तक साहूकारों व महाजनों से ही होती है तथा (iv) गैर-साख सहकारिता के क्षेत्र में सहकारी आन्दोलन की प्रगति एकदम हेय रही है।

भारत में सहकारी आन्दोलन की विफलता के कारण (Causes of the Failure of Co operative Movement in India) —सहकारी आन्दोलन की विफलता एवं मंद प्रगति के मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(i) **शिक्षा का अभाव** (Lack of Education) —सहकारी आन्दोलन की मंद प्रगति का एक प्रमुख कारण भारतीय नागरिकों का निरक्षरता है। अशिक्षित एवं अज्ञान भारतवासी सहकारिता के सिद्धान्तों को समझने उनका अनुशीलन करने तथा उनको भारतीय परिस्थितियों में समायोजित (Adjust) करने में सर्वथा असमर्थ हैं। (ii) **दायित्व का अभाव** (Lack of Responsibility—सदस्यों में उत्तरदायित्व के अभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण उपभोक्ता-भण्डार आन्दोलन की असफलता है। हमारे देश की सहकारी समितियों के सदस्यों में दायित्व के अभाव के दो कारण हैं — (अ) **सहकारी शिक्षा का अभाव** (Lack of Co-operative Education) तथा (आ) **सहकारी आत्मीयता का अभाव** (Lack of Co-operative Spirit)। (iii) **सहकारी आन्दोलन का एकपक्षीय विकास** (One-sided Development of Co-operative Movement) —हमारे देश में सहकारी आन्दोलन की मुख्य दुर्बलता यह है कि इसका एकांगी अथवा एक-पक्षीय विकास हुआ है। अभी तक देश में केवल कृषि साख सहकारिताओं का ही अधिक विकास हुआ है। वस्तुतः साख-सम्बन्धी व्यवस्था ग्रामीण-ऋणग्रस्तता के समाधान का अकेला साधन नहीं हो सकती। **गाडगिल समिति** (Gadgil Committee) ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि **'कृषि अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के लिए सहकारी-क्षेत्र में बहुमुखी विकास होना आवश्यक है।'** (iv) **साख आन्दोलन की प्रगति भी पर्याप्त नहीं है** (The Development of Credit Movement is not adequate) —हमारे देश में साख-क्षेत्र में भी आन्दोलन को विशेष सफलता नहीं मिल सकी है। अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee 1957-59) के अनुसार अभी तक सहकारी-साख समितियां ग्रामीण-साख आवश्यकता की माग के लगभग १२% भाग की ही पूर्ति कर पाई हैं। साख समितियां द्वारा दिये गये ऋण भी अधिकांशतः अनुत्पादक ही रहे हैं। इन समितियों में ली जाने वाली ब्याज की दर (९% से १२% तक) भी अत्यधिक ऊंची है। (v) **स्वतः प्रकृति का अभाव** (Lack of Spontaneity) —भारतीय सहकारी आन्दोलन की विफलता का सर्वाधिक दुर्बल कारण यह रहा है कि देश में इस आन्दोलन का स्वतः जन्म नहीं हुआ वरन् यह ऊपर से थोपा हुआ प्रतीत होता है। भारतीय नागरिक सहकारिता को अभी तक 'स्वतः जनित आन्दोलन' न समझकर इसे एक 'सरकारी-नीति' ही समझते रहे हैं।

(vi) **अकुशल प्रबन्ध** (Inefficient Management) :—सहकारी समितियों में मितव्ययिता, उत्पादक-ऋण और यथासमय वसूली पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। साख-समितियों की कार्यशील पूंजी का बहुत थोड़ा-सा भाग सदस्यों से जमा पूंजी (Deposits) के रूप में प्राप्त होता है तथा अधिकांश पूंजी सहकारी केन्द्रीय बैंकों से मिलती है। हमारे देश में सहकारी-समितियों का प्रबन्ध अप्रशिक्षित एवं अकुशल कर्मचारियों द्वारा होता है। फलतः सहकारी समितियाँ अधिक सफल नहीं हो सकी हैं। (vii) **सरकारी उपेक्षा** (Indifference of the Government) :—यद्यपि सहकारी आन्दोलन का विकास 'एक सरकारी-विभागीय कार्यवाही' के रूप में हुआ है तथा सहकारी समितियों के रजिस्ट्रेशन, कार्य का निरीक्षण एवं इसका समापन आदि कार्य राज्य सरकारों द्वारा नियुक्त रजिस्ट्रार द्वारा ही किये जाते हैं, तथापि व्यावहारिक रूप में राज्यों के सहकारी विभागों ने साख-आन्दोलन के साथ सहयोग की प्रवृत्ति न दिखाकर उदासीनता की ही नीति अपनाई है। गोरवाला समिति (Gorwala Committee) ने भी इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "भारत में सहकारिता निर्बलों का संगठन है और इसे शक्तिशाली साहूकारों, व्यापारियों एवं स्थानीय नेताओं से प्रतियोगिता अथवा उनके विरोध का सामना करना पड़ा है। अब तक राज्य का सहयोग यदाकदा चलनस्वरूप हाथ मिलाने के रूप में मिला है, हाथ में हाथ मिलाकर साथ साथ चलने के रूप में नहीं।" (viii) **जनता की उपेक्षा** (Public Apathy) :—भारत में सहकारी आन्दोलन की अविकसित अवस्था का एक मुख्य कारण जनता की उपेक्षनीय प्रवृत्ति रही है। सहकारी समितियों पर सरकारी नियन्त्रण होने के कारण भारतीय जनता सहकारिता को एक सरकारी आन्दोलन समझती रही है। इसीलिये नागरिकों में सहकारिता की भावना का विकास नहीं हो पाया है। 'सरकारी-विभागीय-हस्तक्षेप' के कारण भी सहकारी-समितियों की आत्मनिर्भरता कम हो गई है। (ix) **व्यापारिक सिद्धान्तों का अभाव** (Lack of Business Principles) :—कुछ साख समितियों की सम्पत्ति में तरलता के अभाव (Lack of Liquidity) का मुख्य कारण यह रहा है कि इनमें ठोस एवं प्रगतिशील व्यापारिक नियमों का पालन नहीं किया जाता, जैसे—अधिकांश साख समितियों में सदस्यों की ऋण की आवश्यकता, ऋण के उपयोग तथा उचित प्रतिभूमि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, ऋणों को केवल ब्याज लेकर ही नवीनीकृत (Renew) कर दिया जाता है अथवा पहला ऋण चुकाने के तुरन्त पश्चात् ही सदस्य को दूसरा नया ऋण दे दिया जाता है आदि। (x) **सर्वाधिक आवश्यकता वाले क्षेत्र के प्रति उदासीनता :** शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के मतानुसार केवल पंजाब, महाराष्ट्र और मद्रास को छोड़कर, सहकारी आन्दोलन ग्राम्य-जनसंख्या के एक बहुत थोड़े से भाग तक ही पहुंच पाया है। इस प्रकार साख आन्दोलन का विस्तार उन क्षेत्रों में नहीं हो सका है, जहां इसकी सर्वाधिक आवश्यकता है। (xi) **पद-लोलुपता** (Thirst for Office) :—हमारे देश में अधिकांश व्यक्ति या तो

सहकारी समिति को सगठित करने अथवा इसके कार्यालय को अधीनस्थ करने के लिये अधिक तत्पर रहते हैं। वे इन समितियो की सफलता के लिये प्राय कोई सक्रिय कार्य नहीं करते। फलत सहकारी समितिया अपने सगठन के कुछ समय पश्चात् ही असफलता की ओर अग्रसर हो जाती हैं। (xii) **देश की सामाजिक, आर्थिक एव भौगोलिक परिस्थितियां** —गोरवाला समिति (Gorwala Committee) के मतानुसार भारत मे सहकारी आन्दोलन की मद प्रगति का एक महत्वपूर्ण कारण देश की सामाजिक, आर्थिक व भौगोलिक परिस्थितिया हैं। देश की घोर निधनता सहकारी-साख समितियों को पतन के गर्त मे ढकेले हुए है तथा कृषि-क्षेत्र की मानसूनी-निर्भरता' ने कृषि साख सहकारिताओं की सफलता को 'जलवायु की अनुकूलता' पर आश्रित कर दिया है। इसके अतिरिक्त देश म सामाजिक-पक्षपात (Social Prejudice) तथा सामाजिक वर्ग-सघर्ष (Social Class Conflict) की व्याधियों के फलस्वरूप देश मे सहकारी आन्दोलन का ढाचा बहुत कमजोर बन गया है। ग्रामीण साहूकार व महाजन अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर सहकारी आन्दोलन का विरोध करते हैं तथा पक्षपात एव भाई-भतीजावाद के कारण सहकारी समितियो का प्रबन्ध एव उनमे प्राप्त होने वाला लाभ, कुछ ही सदस्यों तक सीमित रह गया है। ठोस सामाजिक आधार के अभाव के कारण, देश मे सहकारी आन्दोलन सदस्यो से प्रवेश-शुल्क लेकर उनके नाम रजिस्टर में दर्ज कर लेना मात्र रह गया है। (xiii) **कमजोर ढाचा** —देश में सहकारी आन्दोलन का ढाचा अधिक सुदृढ नहीं है। आन्दोलन के विभिन्न अगो मे आवश्यक समन्वय एव 'सुदृढ-सम्बन्ध-स्थापन' नहीं हैं। प्राय प्राथमिक, केन्द्रीय एव प्रान्तीय सहकारी समितिया एक-दूसरे को सहयोग देने की अपेक्षा पीछे को ढकेलती हैं। (xiv) **नियोजन का अभाव** —हमारे देश मे सहकारी आन्दोलन का अभ्युदय एव विकास किसी निश्चित एव निर्धारित योजना के आधार पर नहीं हुआ है। विदेशी शासन के अन्तर्गत सहकारी आन्दोलन मे, सरकार द्वारा सहयोग की अपेक्षा हस्तक्षेप ही अधिक प्राप्त हुआ और सरकार की यह प्रवृत्ति आज भी कम नही हुई है।

भारत में सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के सुझाव (Suggestions for the Improvement of the Co-operative Movement in India) — अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) ने अपनी दिसम्बर सन् १९५४ की रिपोर्ट म देश मे सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये थे — (i) सहकारी आन्दोलन मे राज्य का कार्य केवल निर्देशन (Direction) तक ही सीमित नहीं होना चाहिए वरन् इस आन्दोलन मे राज्य की साझेदारी (State's Partnership) होनी चाहिए। (ii) इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए। (iii) सहकारी आन्दोलन का विस्तार साख क्षेत्र के साथ ही साथ गैर-साख क्षेत्र मे भी होना चाहिए। (iv) बडे आकार की प्राथमिक कृषि-साख समितियो की स्थापना की जानी चाहिए तथा (v) सहकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था

करनी चाहिए। भारत में सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार है –(i) **शैक्षणिक पुनर्गठन** (Educational Reconstruction) – सहकारिता की सफलता इसके सिद्धान्तो को समझने और पुन इनके दक्षता एव ईमानदारी से पालन करने पर निर्भर है। सरैया समिति (Saraiya Committee) ने यह सुझाव दिया है कि देश मे सहकारिता को सफल बनाने के लिए एक व्यापक-स्तर पर सामान्य-शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। (ii) **सहकारी प्रशिक्षण** — अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) ने इस बात पर महत्व दिया है कि देश मे सहकारी आन्दोलन की ऐकिक (Uniform) प्रगति के लिये सहकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये तथा प्रशिक्षण-संस्थाओ मे सहकारी-बैंकिंग, विपणन एव औद्योगिक सहकारिताओ की शिक्षा दी जानी चाहिए। (iii) **नेतृत्व** (Leadership) —वस्तुत सहकारी सगठन की सफलता उचित नेतृत्व के अभाव मे अधूरा-स्वप्न है। नियोजन आयोग (Planning Commission) ने यह सुझाव रखा है कि सहकारी आन्दोलन मे सफल नेतृत्व के लिये सगठनकर्त्ताओ मे सम्भवतः आत्मसहाय एव आत्मपर्याप्त के गुण होने चाहिए। (iv) **सदस्यो की नैतिकता** — सहकारी सगठन के सदस्यो मे 'पारस्परिक सहायता द्वारा आत्म सहायता' (Self-help through Mutual-help) की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। (v) **आन्दोलन की व्यापकता** —सहकारी आन्दोलन की प्रगति के लिये सदस्यो का समिति के प्रति घनिष्ट-सम्बन्ध एव एक्य की भावना का होना अति आवश्यक है। समिति को सदस्यो के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर ध्यान रखना चाहिए। अत देश मे बहु उद्देशीय समितियो की *स्थापना द्वारा सहकारी आन्दोलन को व्यापक स्वरूप प्रदान किया जाना चाहिए।* (vi) **सरकारी सहायता** — देश मे सहकारी आन्दोलन के क्षेत्र मे सरकारी सहायता म निरन्तरता एव वृद्धि होनी चाहिये। परन्तु समितियो के प्रबन्ध एव सचालन मे राज्य का हस्तक्षेप अधिकतम न होकर न्यूनतम होना चाहिये। (vii) **सहकारी सिद्धान्तों का अनुसरण** — 'पारस्परिक सहायता द्वारा आत्म सहायता' की सहकारी भावना को प्रोत्साहन देने के लिय मितव्ययिता की भावना एव जनतन्त्रीय प्रबन्ध का बढावा दिया जाना चाहिए। (viii) **पर्यवेक्षण की व्यवस्था** — सहकारी समितियो के विभागीय एव आन्तरिक अंकेक्षण (Auditing) तथा उनकी रोकथाम (Control) एव पर्यावेक्षण (Survey) की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। (ix) **उत्पादक ऋण** — रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के कृषि साख विभाग ने सहकारी आन्दोलन की सफलता के लिये यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि सहकारी समितियों द्वारा कृषको एव शिल्पियो को जहा तक सम्भव हो सके, उत्पादन कार्यों के लिये ही ऋण दिये जाने चाहिये। (x) **आन्दोलन में नारी वर्ग का सहयोग** — सरैया-समिति (S[illegible] Committee) ने भारत म सहकारी आन्दोलन की सफलता लिए इस [illegible] उन क्षेत्रो मे [illegible] डाला है कि आन्दोलन मे नारी वर्ग का समुचित [illegible] प्राप्त [illegible]-लोलुपता (Thirst [illegible] (xi) **सहकारिता-साहित्य का प्रकाशन**—

होती हैं : - (i) अल्पकालीन साख :—अल्पकालीन साख की आवश्यकता साधारण पारिवारिक उपभोग की वस्तुएं तथा खाद-बीज आदि क्रय करने के लिये होती है। इसकी अवधि १ वर्ष तक की होती है। (ii) मध्यमकालीन साख :—मध्यमकालीन साख की आवश्यकता पशु, कृषि-यन्त्र एवं अन्य वस्तुओं के क्रय करने के लिये होती हैं। इसकी अवधि ३ से ५ वर्ष तक की होती है। (iii) दीर्घकालीन साख :—कृषि भूमि में स्थाई सुधार करने, कुंआ बनवाने, बड़ी-बड़ी कृषि-मशीनें खरीदने तथा पुराने ऋणों का परिशोधन (Payment) करने के लिये दीर्घकालीन साख की आवश्यकता होती है। इसकी अवधि २० से ६० वर्ष तक की होती है। एक साधारण साख-समिति अपने सीमित वैत्तिक साधनों (Limited Financial Resources) से केवल अल्पकालीन व मध्यमकालीन ऋण प्रदान कर सकती है तथा देश के व्यापारिक बैंक्स अथवा सहकारी बैंक्स भी [इनके पास अल्पकालीन निक्षेपों (Short Term Deposits) के कारण] अधिक समय के लिये ऋण नहीं दे सकते हैं। अतः कृषक की दीर्घकालीन साख-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भूमि-बन्धक बैंक्स की नितान्त आवश्यकता है।

भारत में भूमि बन्धक बैंकों का विकास:—भारत सरकार ने सन् १८८३ व १८८४ में क्रमशः भूमि-विकास ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act) व कृषक-ऋण अधिनियम (Agriculturists Loans Act) पास किये थे। प्रथम अधिनियम कृषकों को दीर्घकालीन ऋण तथा द्वितीय अधिनियम उन्हें अल्पकालीन ऋण प्रदान करने के लिये बनाया गया था। परन्तु कृषकों की अज्ञानता एवं राज्य सरकारों की उदासीनता तथा ऋण देने के कठोर नियमों के कारण, ये अधिनियम अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सके। भारत में प्रथम भूमि बन्धक बैंक की स्थापना सन् १९२० में झंग (पंजाब) में हुई। परन्तु सन् १९२९ में मद्रास के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक की स्थापना के बाद ही, उक्त संस्था का वास्तविक अभ्युदय हुआ। सन् १९६०–६१ में भारत के प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक (Central Land Mortgage Bank) अथवा राज्य के प्रान्तीय सहकारी बैंक से सम्बद्ध एक विशेष भूमि बन्धक बैंकिंग विभाग (A special Land Mortgage Banking Department attached to the Apex Co-operative Bank) था। सन् १९५९—६० में देशभर में प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक्स (Primary Land Mortgage Banks) की संख्या ४०७ थी। इनकी सदस्य संख्या ५·५ लाख, इनकी परिदत्त-पूंजी (Paid-up Capital) १·५५ करोड़ रु० तथा इनके द्वारा प्रदान किये गये ऋणों की मात्रा १६.२२ करोड़ रु० थी। इसी वर्ष देश में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों की संख्या १६, इनकी कार्यशील पूंजी (Working Capital) ३७·३८ करोड़ रु० तथा इनके द्वारा प्रदान किये गये ऋणों की मात्रा ८·९२ करोड़ रु० थी। देश में बन्धक बैंकों के विकास में भी बहुत अन्तर पाया जाता है। समस्त प्राथमिक भूमि बन्धक बैंकों का ⅔ भाग केवल तीन प्रदेशों – आन्ध्र प्रदेश, मद्रास और मैसूर में पाया जाता है। सन् १९५९–६० में समस्त भूमि बन्धक

बैंकों ने अपने ऋण पत्रों (Debentures) द्वारा जो राशि एकत्रित की थी, उसका ५०% भाग आन्ध्र प्रदेश व मद्रास के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों द्वारा प्राप्त की गई। इसी प्रकार इस वर्ष में ऋण के रूप में दी गई राशि का ⅔ भाग केवल तीन केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों-आन्ध्र प्रदेश, बम्बई और मद्रास द्वारा प्रदान किया गया। तीसरी योजना के अन्तर्गत २६५ अतिरिक्त प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक्स संगठित किए जायेंगे। इस योजना में भूमि बन्धक बैंकों द्वारा दीर्घकालीन साख प्रदान करने का वार्षिक स्तर लक्ष्य १५० करोड़ रु० रखा गया है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के कोष (Fund) का प्रमुख साधन ऋण-पत्र (Debentures) होते हैं जिन्हें केन्द्रीय बैंक निर्गमित (Issue) करता है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों को खरीदकर उनकी आर्थिक सहायता करने में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, स्टेट बैंक आफ इण्डिया तथा जीवन-बीमा निगम (Life Insurance Corporation) महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्रों को क्रय करने तथा उनको अन्य प्रकार के कोष प्रदान करने के लिए एक कृषि-वित्त निगम (Agricultural Development Finance Corporation) संगठित करने की सिफारिश, भारत सरकार को, की है।

भूमि बन्धक बैंकों का ढाचा व कार्य-पद्धति —हमारे देश के भूमि बन्धक बैंक्स अर्ध-सरकारी (Semi-government) संस्था के रूप में कार्य करते हैं। इनका संगठन व ढाचा सिद्धान्त रूप में सहकारिता के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। व्यवहार में ये सरकार द्वारा सहायता पाते हैं तथा सरकार द्वारा नियन्त्रित होते हैं। व्यवस्था की दृष्टि से भूमि-बन्धक बैंक्स संघात्मक (Federal) व एकात्मक (Unitary) दो प्रकार के होते हैं। भारत में संघात्मक भूमि बन्धक बैंक्स हैं। भूमि बन्धक बैंक्स जिन कार्यों के लिए ऋण प्रदान करते हैं उनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं —(अ) कृषि भूमि को रहन से छुड़ाना, (आ) पुराने पैतृक-ऋण का परिशोधन (Payment) करना, (इ) कृषि-भूमि में स्थाई सुधार करना, (ई) भूमि क्रय करना तथा (उ) जोतों की चकबन्दी करना आदि। हमारे देश में भूमि बन्धक बैंक्स जमानत के रूप में रक्खी जाने वाली भूमि के मूल्य के ½ भाग तक ऋण प्रदान करते हैं। इन बैंकों की ऋण प्रदान करने की अधिकतम सीमा १० हजार से १५ हजार रु० तक होती है। चार सौ रु० से कम मात्रा के ऋण प्राथमिक साख समितियों द्वारा प्रदान किये जाते हैं। ऋण ४% से ४½% तक ब्याज की दर पर दिये जाते हैं। हमारे देश में अभी तक इन बैंकों द्वारा अधिकांश ऋण केवल पुराने ऋणों के परिशोधन के लिये ही दिये गये हैं और केवल १०% ऋण ही भूमि-सुधार कार्यों के दिये गये हैं।

भारत में भूमि बन्धक बैंक्स की धीमी प्रगति के कारण —भारत में मद्रास राज्य को छोड़कर अन्य प्रदेशों में भूमि बन्धक बैंकों ने कोई आशाजनक प्रगति नहीं दिखाई है। इन बैंकों की धीमी प्रगति के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं :—(1) इन बैंकों की कार्य पद्धति अकुशल है तथा इन बैंकों का कार्य संचालन

अप्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। (ii) हमारे देश में कृषि-सम्बन्धी आय और व्यय के आंकड़े उपलब्ध नहीं है। फलत भूमि बन्धक बैंक्स ऋण देने से पूर्व कृषक की साख आवश्यकता का सही अनुमान नहीं लगा पाते। (iii) अभी तक इन बैंकों द्वारा ९०% ऋण पुराने ऋणों के परिशोधन (Payment) के लिए ही दिये गये हैं तथा केवल १०% ऋण उत्पादक कार्यों के लिए दिये हैं। (iv) इन बैंकों की ऋण देने की व्यवस्था दोषपूर्ण एवं अवैज्ञानिक है। (v) भूमि बन्धक बैंकों द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों (Debentures) मे जनता का अधिक विश्वास नही है फलत ये बैंक्स आवश्यक कोष जुटाने मे असफल रहे हैं तथा (vi) हमारे देश की कृषि अर्थ व्यवस्था मे अभी तक भूमि-सुधार कार्यों को अधिक व्यापक एव व्यावहारिक रूप नहीं दिया गया है।

भूमि बन्धक बैंकों की प्रगति के लिए सुझाव :—अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) ने भूमि-बन्धक बैंकों के विकास के लिये कुछ सुझाव इस प्रकार दिये हैं —(i) भूमि बन्धक बैंकों द्वारा उत्पादक ऋणों के लिये प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिये। (ii) प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों के पास पर्याप्त कोष जुटाने के लिये केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक द्वारा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों की हिस्सा-पूजी मे योगदान किया जाना चाहिये। (iii) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों को पूजी एकत्रित करने के लिये ऋण-पत्र (Debentures) निर्गमित (Issue) करने चाहिये। इन्हें रिज़र्व बैंक, स्टेट बैंक तथा राज्य सरकारों द्वारा पूर्णत अथवा अंशत खरीदा जाना चाहिए। (iv) राज्य सरकारों द्वारा भूमि बन्धक बैंकों को स्टाम्प-कर तथा रजिस्ट्रेशन शुल्क आदि मे कुछ छूट दी जानी चाहिये तथा अविकसित क्षेत्रों मे इन बैंकों के सफल सचालन के लिये, राज्य सरकारों को इनके प्रबन्ध व्यय मे सहायता देनी चाहिये। (v) भूमि बन्धक बैंकों के कर्मचारियों को प्रशिक्षित कराने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों की व्यवस्था की जानी चाहिए तथा (vi) इन बैंकों द्वारा कृषकों को कम ब्याज की दर पर ऋण दिए जाने चाहिये।

भारत में सहकारिता का पुनर्गठन व विकास (Reoganisation and Development of Co-operation in India)— गोरवाला समिति (Gorwala Committee) के मतानुसार, 'यद्यपि अभी तक भारत में सहकारिता सफल नहीं हो पाई है, परन्तु इसे यहा सफल अवश्य होना है।'' गोरवाला-समिति की सिफारिशों के आधार पर भारत में सहकारिता के क्षेत्र में किए जाने वाले कुछ महत्वपूर्ण प्रयत्न इस प्रकार हैं —(i) राज्य की साझेदारी — गोरवाला समिति की सिफारिशों के आधार पर अब विभिन्न राज्यों मे सहकारी-सरचना को सरकारी-साझेदारी के आधार पर पुनर्गठित किया जा रहा है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों तथा प्रांतीय सहकारी बैंकों में राज्य का भाग इनकी कुल हिस्सा-पूजी का कम से कम ५१% रक्खा जा रहा है। तीसरी योजना के अन्तर्गत राज्य सरकारों द्वारा केन्द्रीय एव प्रांतीय सहकारी बैंकों के माध्यम से, प्राथमिक-कृषि-साख समितियों

की हिस्सा पूंजी (Share Capital) में भाग लेने का प्रावधान (Provision) रखा गया है। सहकारी संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने के अपने उत्तरदायित्व को निभा सकने के लिये रिजर्व बैंक ने दो कोषों की स्थापना की है –(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term) Fund] तथा (आ) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थानीयकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund]। राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष का उपयोग (क) राज्य सरकारों द्वारा सहकारी साख संस्थाओं के शेयर खरीदने के लिए, (ख) कृषिगत कार्यों के लिए मध्यमकालीन ऋणों के लिए तथा (ग) भूमि बन्धक बैंकों को ऋण प्रदान करने के लिए किया जाता है। इस कोष का निर्माण फरवरी सन १९५५ में १० करोड रु० की पूंजी द्वारा किया गया तथा इसमें रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिवर्ष ५ करोड जमा करने की व्यवस्था की गई है। राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थायीकरण) कोष का उपयोग राज्य सहकारी बैंकों को मध्यमकालीन ऋण प्रदान करने तथा आवश्यकता पडने पर राज्य सहकारी बैंकों द्वारा अल्पकालीन साख को मध्यमकालीन साख में परिवर्तित करने के लिये ऋण प्रदान करने में किया जाता है। इस कोष की स्थापना जूलाई सन् १९५६ में की गई तथा इस कोष में रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिवर्ष १ करोड रु० जमा किया जाता है। (ii) साख, विपणन एवं भण्डार समितियों की स्थापना तथा इनका पारस्परिक समन्वय —देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्राथमिक कृषि साख समितियों को बहु-उद्देशीय समितियों में परिवर्तित किया जा रहा है। साख समितियों, विपणन समितियों एवं भण्डार समितियों के कार्यों को परस्पर सम्बन्धित एवं समन्वित करके कृषि-क्षेत्र में एकरूप प्रगति (Uniform Progress) का लक्ष्य कार्यान्वित किया जा रहा है। भारत सरकार ने १ सितम्बर सन् १९५६ को राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा गोदाम मन्डल (National Co operative Development and Warehousing Board) तथा २ मार्च १९५७ को केन्द्रीय गोदाम निगम (Central Warehousing Corporation) की स्थापना की। राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा गोदाम मण्डल एवं केन्द्रीय गोदाम मण्डल आदि के कार्यों को सम्पन्न करने के लिये, भारत सरकार ने तीन अन्य कार्यों की स्थापना की है —(अ) राष्ट्रीय भण्डार गृह विकास कोष (National Warehousing Development Fund), (आ) राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष (National Co operative Development Fund) तथा (इ) राष्ट्रीय कृषि-साख (सहायता व गारन्टी) कोष [National Agricultural Credit (Relief and Guarantee) Fund]। (iii) कर्मचारियों के लिये प्रशिक्षण की व्यवस्था —द्वितीय योजना के अन्त में पूना के सहकारी प्रशिक्षण कॉलिज (Co-operative Training College) के अतिरिक्त १३ क्षत्रीय केन्द्र खण्ड-स्तर कार्यकर्ताओं (Block Level Workers) के प्रशिक्षण के लिये तथा ६२ सहकारी प्रशिक्षण केन्द्र सहायक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिये थे। इस योजना में अन्त तक ५४३ उच्च कार्यकर्ता (Senior Workers), ३,४१७ खण्ड-स्तर कार्यकर्ता (Block Level

Workers) तथा ३४,००० सहायक कार्यकर्ता (Junior Workers) प्रशिक्षित किये गये । अखिल भारतीय सहकारी सगठन (All India Co operative Union) तथा राज्यो के सहकारी सगठनो ने द्वितीय योजना के अन्तर्गत सहकारी कार्यकर्ताओ को प्रशिक्षित करने के लिये ३५८ गतिशील पार्टिया (Peripatetic Parties) सगठित की । योजना काल मे ३८२ कार्यकर्ता भूमिबन्धक बैंको के सचालनार्थ तथा १,२५३ कार्यकर्ता सहकारी विपणन समितियो के सचालनार्थ प्रशिक्षित किए गये । तीसरी योजना के अन्तर्गत सहायक कार्यकर्ताओ (Junior Workers) के प्रशिक्षणार्थ १३ अतिरिक्त प्रशिक्षण केन्द्र खोले जायेगे तथा गतिशील-पार्टियो के कार्यक्रम को जारी रक्खा जायेगा । (iv) **स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया की स्थापना** —१३ जुलाई १९५५ को इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तथा उसका नाम बदलकर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया रक्खा गया । इस बैंक का मुख्य कार्य ग्रामीण-वित्त मे सहायता प्रदान करना है । यह बैंक सहकारी बैंको को ऋण व अन्य सुविधायें प्रदान करता है तथा साख, विपणन व परिनिर्माण (Processing) कार्य करने वाली सहकारी सस्थाओ को ऋण आदि की सुविधाए प्रदान करता है ।

पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सहकारी आन्दोलन का विकास
(Progress of Co operative Movement under the Five Year Plans)

(अ) प्रथमव द्वितीय योजना –(i) प्रथम और द्वितीय योजनाओ के अन्तर्गत सहकारी-साख आन्दोलन ने आशातीत प्रगति की । सन् १९५०-५१ मे प्राथमिक कृषि-साख समितियो की कुल सख्या १·०५ लाख, सदस्य सख्या ७० लाख तथा साख-प्रदान करने का वार्षिक-स्तर २३ करोड रु० था । सन् १९६०–६१ मे इन साख-समितियो की सख्या २·१० लाख, इनकी सदस्य सख्या १७० लाख तथा इनका ऋण प्रदान करने का वार्षिक स्तर २०० करोड रु० हो गया । (ii) द्वितीय योजना के अन्त तक देश के प्रत्येक राज्य मे एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक से सम्बद्ध एक विशेष भूमि-बन्धक बैंकिंग विभाग के अतिरिक्त, कुल मिलाकर ४०७ प्राथमिक भूमिबन्धक बैंक्स थे । इस योजना मे दीर्घकालीन ऋणों का स्तर सन् १९५५–५६ म १३ करोड रु० से बढकर सन् १९६०–६१ मे ३४ करोड रु० हो गया । (iii) द्वितीय योजना के अन्त तक देश मे सहकारी विपणन समितियो की सख्या १८६६ थी । प्रथम और द्वितीय योजना के अन्तर्गत मडी केन्द्रो मे १,६७० सहकारी गोदाम तथा गावो मे ४,१०० सहकारी गोदाम स्थापित किये गये । (iv) इन दोनो योजनाओ मे ३० सहकारी चीनी फैक्ट्रियो के अतिरिक्त ३७८ सहकारी प्रोसेसिंग इकाइयां (Co operative Processing Units) स्थापित की गई । (v) *सहकारी कृषि के क्षेत्र मे दोनो योजनाओ के अन्तर्गत प्रगति अति न्यून रही है ।* सन् १९५५–५६ मे देश मे सहकारी कृषि-समितियो (Co operative Farming Societies) की सख्या लगभग १,००० थी, जो जून १९६० मे बढ कर ५४०६ हो गई । (vi) सन् १९५१-५२ मे सहकारी-उपभोक्ता भण्डारो की सख्या ६,७५७ तथा इनकी सदस्य-सख्या १८·५ लाख थी । इसके पश्चात् अनेक उप–

भोक्ता समितिया विफल हो गई । सन् १९५९-६० मे उपभोक्ता-भण्डार समितियो की कुल सख्या ७,१६८ तथा इनकी सदस्य सख्या १४ लाख थी । (viii) औद्योगिक सहकारिताओ (Industrial Co operatives) के क्षेत्र म विगत योजनाओ मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है। दोना योजनाओ की अवधि मे ३० हजार औद्योगिक-सहकारिताओ को सगठित किया गया जिनकी सदस्य-सख्या २० लाख तथा हिस्सा-पू जी १० करोड रु० थी । (ix) सन् १९५९-६० मे ५,५६४ सहकारी-गृह निर्माण समितिया थी जिनकी सदस्य सख्या ३ लाख २२ हजार थी । सन् १९५७-५८, १९५८-५९ तथा १९५९-६० मे इन समितियो द्वारा क्रमश ३६ हजार, ४४ हजार तथा ४५ हजार गृहों का निर्माण किया गया ।

(आ) तृतीय योजना .—(i) इस योजना के अन्तर्गत सहकारी विकास कार्यक्रम पर ८० करोड रु० व्यय करने का निश्चय किया गया है, जबकि द्वितीय योजना के अन्तर्गत इस पर केवल ३४ करोड रु० व्यय किया गया । (ii) इस योजना के अर्न्तगत प्राथमिक साख समितियो को सुदृढ बनाने तथा उनके पुनर्गठन पर विशेष बल दिया गया है । दूसरी योजना के अन्तर्गत ४ २०० प्राथमिक कृषि साख समितियो को पुनर्संगठित किया गया । तीसरी योजना मे ५,२०० साख-समितियो को पुनर्संगठित करने का लक्ष्य रक्खा गया है । इस योजना के अन्तगत सीमान्त व उप-सीमान्त कृषको (Marginal and Sub-marginal Cultivators) तथा भूमिहीन कृषको (Landless Tenants) को उनकी उत्पादन क्षमता के आधार पर, सस्ती साख प्रदान करने के लिये यह प्रस्तावित किया गया है कि राज्य सरकारें, उस वार्षिक ऋण के अतिरिक्त जो कि वे प्रतिवर्ष प्राथमिक-कृषि-साख समितियो को प्रदान करती हैं, ३% ब्याज की दर पर इन समितियो को अतिरिक्त ऋण (Additional Loans) प्रदान करेंगी । तीसरी योजना के अन्त तक प्राथमिक कृषि साख समितियो की सख्या २ ३० लाख, उनकी सदस्य सख्या ३७० लाख तथा मध्यमकालीन व अल्पकालीन-साख प्रदान करने का उनका वार्षिक-स्तर ५३० करोड रु० हो जायेगा । (iii) योजनाकाल मे प्राथमिक-कृषि-साख समितियो, केन्द्रीय सहकारी बैंको तथा प्रान्तीय सहकारी बैंको की हिस्सा पूजी सन् १९५९-६० मे क्रमश ४२ करोड रु०, २३ करोड रु० तथा ६ करोड रु० से बढकर सन् १९६५-६६ तक क्रमश ८५ करोड रु०, ६२ करोड रु० तथा ३३ करोड रु० हो जायेगी । इस अवधि मे प्राथमिक-कृषि साख समितियो, केन्द्रीय सहकारी बैंको तथा प्रान्तीय सहकारी बैंको की जमा-पू जी (Deposits) सन् १९५९-६० मे क्रमश १२ करोड रु०, ६५ करोड रु० तथा ६० करोड रु० से बढकर सन् १९६५-६६ म क्रमश ४२ करोड रु०, २१२ करोड रु० और १४२ करोड रु० हो जायेगी । (iv) तीसरी योजना के अन्तर्गत २६५ अतिरिक्त प्राथमिक भूमि बधक बैंक्स को सगठित करने का लक्ष्य रक्खा गया है तथा १५० करोड रु० दीर्घकालीन वार्षिक स्तर पर साख-पूर्ति का लक्ष्य रक्खा गया है। (v) इस योजना मे ६०० अतिरिक्त प्राथमिक सहकारी विपणन समितिया सगठित करने के पश्चात् यह आशा की गई है कि

भारत की बड़ी-बड़ी २,५०० मण्डियों में से प्रत्येक मण्डी में अथवा प्रत्येक मण्डी के आस-पास एक सहकारी विपणन समिति स्थापित हो जायेगी। (vi) योजनाकाल में ६८० अतिरिक्त गोदाम मण्डी केन्द्रों में तथा ५,१०० गोदाम ग्रामीण-केन्द्रों में बनाये जायेंगे। (vii) सहकारी-कृषि के क्षेत्र में योजना के अन्तर्गत ३,२०० मार्गदर्शी (Pilot) सहकारी कृषि-समितियां सगठित की जायेंगी जिनमें से कम से कम १० समितियां प्रत्येक जिले (District) में सगठित होंगी। योजना के अन्तर्गत सहकारी खेती के विकासार्थ विभिन्न राज्यों द्वारा ६ करोड़ रु० व्यय के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा भी ६ करोड़ रु० व्यय किये जायेंगे। (viii) योजनावधि में २५ अतिरिक्त सहकारी चीनी फैक्ट्रियों के अतिरिक्त ७८३ सहकारी प्रोसैसिंग एकको (Co operative Processing Units) की स्थापना की जायेगी। (ix) उपभोक्ता भण्डार आन्दोलन के अन्तर्गत, योजना में ५० थोक भण्डार तथा २,२०० प्राथमिक उपभोक्ता-भण्डारों को सगठित किया जायेगा। सन् १९६५-६६ तक देश में औद्योगिक-सहकारिताओं (Industrial Co operatives) की सख्या ४० हजार, उनकी सदस्य-सख्या ३० लाख तथा उनकी हिस्सा-पूंजी २० करोड़ रु० हो जायेगी। इस प्रकार तीसरी योजना के अन्त तक देश में सहकारिता के प्रत्येक क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हो सकेगी।

— ० —

महत्वपूर्ण वाक्य—

'मिट्टी के कटाव के कारण देश निर्वासित हो जाते हैं, मनुष्यों के स्वास्थ्य तथा समृद्धि का विनाश होने लगता है तथा कृषक बेकार घूमने लगते हैं। यह दोष एक वर्ष या कुछ वर्षों मे उत्पन्न नही होता है इसके उत्पन्न होने मे दशाब्दियां लगती है। इसलिये मिट्टी के कटाव को शनै शनै होने वाली मृत्यु कह सकते हैं।"

—श्री एच० ग्लोवर

'भूदान ईश्वर का संकेत है, नहीं तो वे व्यक्ति जो एक फीट भूमि के लिये परस्पर झगड़ते है, क्या इस प्रकार बिना मूल्य अपनी सैकड़ो एकड़ भूमि दे सकते हैं? पुराने समय मे भारत के ऋषि, मनुष्य तथा समाज की आत्मा को पवित्र करने के लिये बड़े बड़े यज्ञ किया करते थे। भूदान यज्ञ का उद्देश्य निर्धन व्यक्तियों को अपनी दशा सुधारने तथा इस निर्दयी ससार मे अच्छा जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देना है।"

—श्री बाबूराम मिश्र

भारतीय अर्थशास्त्र

भाग २

XV-II

परिभाषाओं को उनके उद्देश्यों को ध्यान मे रखकर अपनाया जाता है।"

भारत मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगों की आवश्यकता व महत्व· राष्ट्रपिता महात्मा गाधी (Mahatma Gandhi) ने एक बार कहा था कि "भारत का मोक्ष उसके कुटीर-उद्योगों मे निहित है।" वर्तमान युग मे विश्व के प्रत्येक देश मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो का अपना विशेष महत्व है। जर्मनी की १२ ६% जन-सख्या, जापान की ५३% जनसख्या तथा अमेरिका की ४५% जनसख्या अपनी आजीविका के लिए कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो पर आश्रित है। हमारे देश म औद्योगिक-जनसख्या (Industrial Population) का ६०% भाग कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो पर निर्भर है। देश के लगभग २ करोड व्यक्ति विभिन्न कुटीर एव छोटे-स्तर के उद्योगो मे लगे हुए हैं। भारत की राष्ट्रीय-आय म इनका अ शदान बडे स्तर के उद्योगो की अपेक्षा लगभग दुगुना है। भारत की वर्तमान परिस्थितियो म कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो की विशेष आवश्यकता व महत्व है। इसके मुख्य कारण प्रकार हैं—(i) बेकारी व अर्ध-बेकारी की समस्या का हल—प्रथम योजना के अन्त म भारत मे बेरोजगार व्यक्तियो की सख्या ५३ लाख थी। द्वितीय योजना के अन्त म बेरोजगारी व्यक्तिया की सख्या ६० लाख थी। गावो मे साधारणतया बेरोजगारी का स्वरूप अर्ध-बेरोजगारी है। अत देश मे बढती हुई बेकारी व अर्ध-बेकारी को दूर करने के लिये कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के व्यापक विस्तार की आवश्यकता है। (ii) कृषि भूमि पर जनसख्या के भार को कम करने मे सहायक हमारे देश की ७२% जनसख्या अपनी आजीविका के लिए कृषि-भूमि पर आश्रित है। देश म जन सख्या की तीव्रगति से वृद्धि के साथ ही साथ कृषि भूमि पर आश्रितो की सख्या भी शनै शनै बढती जा रही है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश म १५%से २०% व्यक्ति कृषि-व्यवसाय मे आवश्यकता से अधिक लगे हुए हैं। यही कारण है कि भारतीय कृषक वर्ष मे लगभग १६५ दिन बेकार रहता है। अत कृषि भूमि पर जनसख्या के दबाव को कम करने के लिए तथा कृषको की अर्ध-बेकारी को दूर करन के लिए, सहायक धन्धे के रूप मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो का विकास किया जाना परमावश्यक है। (iii) खेतीहर श्रमिकों को सहायक आय प्रदान करना—भारतीय कृषक का जीवन स्तर अन्य देशो की तुलना मे बहुत नीचा है। कुटीर उद्योगो के विकास से खेतीहर कृषक (Landless Cultivators) अपन खाली समय म कार्य करके अतिरिक्त आय प्राप्त कर सकगे जिससे उनका जीवन-स्तर स्वत ही ऊ चा हो जाएगा। (iv) उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण में सहायता—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योग, उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण मे मुख्य साधन का कार्य करते हैं। फलत इनके विस्तार से उद्योगो के स्थानीयकरण के समस्त दोष दूर हो जाते हैं, देश के विभिन्न भागो मे सतुलित आर्थिक विकास सम्भव होता है, अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिल जाता है तथा विशालकाय औद्योगिक नगरो म अत्यधिक घनी आबादी के कारण नैतिक-पतन के दोष भी दूर हो जाते हैं। (v) आय और धन का समान वितरण

सम्भव —विशालकाय उद्योगो के निर्माण से देश की समस्त पूजी कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के पास एकत्रित हो जाती है, परन्तु कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास से अपक्षाकृत अधिक व्यक्तियो को रोजगार मिलता है तथा राष्ट्रीय आय का वितरण भी लगभग समान एव न्यायपूर्ण हो जाता है। चूकि कुटीर उद्योगों म मजदूर मजदूरी पर नही रक्खे जाने, इसलिय इन उद्योगो म उनके शोषण के लिए बहुत कम स्थान रहता है। (vi) **कुटीर उद्योग भारतवासियों के स्वभाव के अनुकूल हैं**—भारतीय कृषि-व्यवसाय का स्वभाव ऐसा है कि इसम कृषक स्वेच्छापूर्वक एव स्वतन्त्रतापूर्वक काय करता है। कुटीर-उद्योगो म भी वे गुण विद्यमान हैं। अत भारतीय कृषको द्वारा इन उद्योगो को अपनाने म कोई कठिनाई नही होगी तथा उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधर जाएगी। (vii) **निर्धन-वर्ग की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति**—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो द्वारा उत्पादित अनेक प्रकार की साधारण एव सस्ती वस्तुओं का उपभोग समाज के उन निधन व्यक्तियो द्वारा किया जाता है, जो मिलो द्वारा उत्पादित मूल्यवान एव उच्चकोटी की वस्तुओ का उपभोग करने म असमर्थ रहते हैं। (viii) **देश को आत्म निर्भर और आत्म-पर्याप्त बनाने में सहायक**—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास से देश को अनेक प्रकार की वस्तुओ के उत्पादन म स्व भरित एव आत्म-पयाप्त बनाया जा सकता है। इस प्रकार इन उद्योगो के विकास से राष्ट्र का सर्वाधिक कल्याण सम्भव होता है। (ix) **देश की अर्थ-व्यवस्था पर समाज का नियन्त्रण**—कुटीर एव लघु-स्तरीय उत्पादन से न केवल मनुष्य के निजी व्यक्तित्व का विकास होता है वरन् देश की अर्थ-व्यवस्था पर समाज का नियन्त्रण भी सम्भव हो जाता है। (x) **आर्थिक सुदृढ़ता**—ग्रामीण क्षेत्रो म कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो का विकास करके, कृषि की अनिश्चितता तथा अकाल की सम्भावना को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार इन उद्योगो के विकास से न केवल ग्रामीण-अर्थ-व्यवस्था वरन् व्यापक रूप म भारतीय अर्थ-व्यवस्था सुदृढ की जा सकती है। (xi) **औद्योगिक अशांति तथा इसके दुष्परिणामों से मुक्त होना**—चूकि कुटीर-उद्योगो म उद्योग का सचालक व अन्य सहायक-श्रमिक सभी एक परिवार के होते हैं इसलिये इन सब म अति निकट सम्पर्क रहता है। फलत इन उद्योगो म श्रम-सघर्षों से उत्पन्न होने वाली आर्थिक व समाजिक हानि स्वत ही दूर हो जाती है। (xii) **सरलतापूर्वक सचालन**—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगों को चलाने के लिए बहुत थोडी सी पूजी, बहुत कम प्रशिक्षण तथा सरल औजारो की आवश्यकता होती है। इन उद्योगो से सम्बन्धित कच्चा-माल भी प्राय: गावो म ही पैदा किया जाता है। अत इन उद्योगो को सरलतापूर्वक सचालित किया जा सकता है। (xiii) **परम्परानुकूलता**—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योग देश के शिल्पकारों व कलाकारो द्वारा प्राप्त परम्परागत चातुर्य एव कार्यकौशल को बनाए रखने म सहायक होते हैं। (xiv) **देश के लिये उपयुक्तता**—कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योग हमारे देश की आर्थिक-सरचना के दृष्टिकोण से सर्वथा उपयुक्त हैं। हमारे देश मे श्रम-शक्ति की

बहुतायत है। अत हम पूजी की मात्रा को कम करके ऐसी प्रणाली अपना सकते हैं जिसमे कि अधिकाधिक व्यक्तियो को रोजगार मिल सके तथा उत्पादन भी वांछित मात्रा मे उपलब्ध हो सके और ऐसा केवल तभी सम्भव है, जबकि कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगो का विकास किया जाए। (xv) **राष्ट्रीय आय मे वृद्धि**—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास से राष्ट्रीय आय मे अभिवृद्धि होती है। राष्ट्रीय-आय-समिति (National Income Committee) के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो का अनुदान, विशालकाय उद्योगो के अनुदान से प्रतिवर्ष अधिक होता है। केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन (Central Statistical Organisation) द्वारा प्रकाशित सूचना के अनुसार सन् १९५६-५७ मे भारत के कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो द्वारा उत्पादित माल की कीमत ९७० करोड रु० थी जबकि विशालकाय उद्योगो द्वारा उत्पादित-माल की कीमत केवल ८९० करोड रु० थी। (xvi) **लोचकता**—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो की उत्पादन रीतियो को मांग और परिस्थितियो के अनुसार सरलता से परिवर्तित किया जा सकता है। चूकि इन उद्योगो के बाजार और उपभोक्ताओ का प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, इसलिए ये उद्योग उपभोक्ताओ की परिवर्तित रुचियो के अनुरूप वस्तुओ का उत्पादन कर सकते हैं तथा (xvii) **नैतिक लाभ**—बडे स्तर के उत्पादन ने समाज मे जिन स्वार्थपरता, विद्वेष, असहयोग, शोषण, असमानता, कटुता एव प्रतिस्पर्धा की अमानवीय प्रवृत्तियो को जन्म दिया है, उनको नष्ट करके मानव समाज म सहयोग, सहानुभूति, सहकारिता, समानता, मातृभाव एव स्नेह आदि मानवीय प्रवृत्तियो का विकास कर सकना लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगो के विकास एव व्यापक विस्तार पर ही सम्भव है।

भारत मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगों के विकास मे कठिनाइयां और इन्हें दूर करने के लिए उपाय—(Difficulties and Remedies for the Development of the Cottage and Small Scale Industries in India)—हमारे देश मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास मार्ग म मुख्य कठिनाइया तथा इन्हे दूर करने के उपाय इस प्रकार है—

(१) समय पर तथा पर्याप्त मात्रा मे कच्ची सामग्री का न मिलना—हमारे देश मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो को कच्ची-सामग्री प्राप्त करने म तीन कठिनाइया का सामना करना पडता है —(i) प्राय इन उद्योगो म भी उसी कच्ची सामग्री की मांग होती है जिसकी माग विशालकाय उद्योगो म होती है। फलत लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योग अपनी अपेक्षाकृत कम माग होने के कारण, कच्ची सामग्री को उतनी सस्ती दर पर प्राप्त नहीं कर पाते, जितनी सस्ती दर पर विशालकाय उद्योग प्राप्त कर लेते हैं। (ii) कुछ कुटीर-उद्योग अपनी कच्ची-सामग्री के लिए बडे पैमाने के उद्योगो पर निर्भर होते हैं, जैसे-हाथ करघा वस्त्र उद्योग सूत की पूर्ति के लिए बडी-बडी सूती मिलो पर निर्भर है। अत जब कभी मिलो द्वारा सूत की पूर्ति म कमी हो जाती है, तब हाथ करघा उद्योग ठप हो जाता है तथा

(iii) नगरपालिकायें कच्चे माल के लाने ले जाने पर चुंगी लगा देती है जिससे लघु-स्तरीय एव कुटीर-उद्योगो को बहुत ठेस पहुँचती है। उपाय (Remedies)—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो मे शिल्पकारो की सहकारी समितिया सगठित की जानी चाहियें। ये समितियाँ अपने सदस्यो की सामूहिक माग के आधार पर कच्चे-माल की पूर्ति सस्ती दर पर कर सकती हैं। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) के सुझावानुसार बम्बई, उत्तर-प्रदेश तथा मद्रास आदि अनेक राज्यो म शिल्पकारो की सहकारी समितिया सगठित की जा रही हैं। राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम (National Small Scale Industries Corporation) ने लघु व कुटीर-उद्योगो को लोहा, इस्पात, सीमेंट तथा कच्चा-माल देने के लिए डिपो (Depots) खोले हैं।

(२) पुरातन उत्पादन-पद्धति एव औजार—भारतीय कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगों मे पुरातन उत्पादन प्रणाली द्वारा तथा पुरातन ढग के यत्रो से ही उत्पादन-कार्य किया जाता है, जिससे इन उद्योगो मे निर्मित वस्तुयें घटिया-किस्म की होती है तथा उनमें उत्पादन-व्यय भी अपेक्षा-कृत अधिक होता है। उपाय (Remedies)—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो की प्राविधिक (Technical) कुशलता को बढाने, इनमे उत्पादन व्यय को कम करके तथा इनमे उत्तमकोटि की वस्तुओ का उत्पादन करने के लिये, इन उद्योगो मे प्रयोग मे लाये जाने वाले औजारो एव उत्पादन-विधियों मे सुधार एव अनुसधान को प्रोत्साहन देना चाहिये। इस सम्बन्ध मे सन् १९५५ की कार्वे-समिति (Carvey Committee) ने यह मत प्रकट किया है कि नवीन यत्रों एव शक्ति-चालित मशीनो एव नवीन उत्पादन-विधियो को इस प्रकार अपनाया जाना चाहिये कि देश मे बेकारी की वृद्धि न होने पाये।

(३) वित्त-सम्बन्धी कठिनाई—लघु-स्तरीय एव कुटीर-उद्योगो को कच्ची-सामग्री खरीदने, तैयार माल के सग्रह करने तथा मजदूरो को मजदूरी देने के लिये अल्पकालीन-वित्त की आवश्यकता होती है तथा औजार व मशीन खरीदने, भूमि या इमारतो की व्यवस्था करने तथा सहकारी समितियो मे हिस्सा-पूंजी के रूप मे विनियोग करने के लिये मध्यकालीन व दीर्घकालीन-वित्त की आवश्यकता होती है। चूंकि भारत के अधिकाश शिल्पी निर्धन हैं और जमानत के अभाव के कारण व्यापारिक-बैंको से ऋण प्राप्त नही कर पाते, इसलिये विवश होकर उन्हे महाजनो से ऊंची ब्याज की दर पर ऋण लेना पडता है। ये साहूकार और महाजन ऋण देते समय शिल्पकारो से यह तय कर लेते हैं कि उन्हे अपना उत्पादित-माल उन्ही को बेचना पडेगा। कभी-कभी महाजन शिल्पियो से उनके भावी-उत्पादित माल की कीमत ऋण देते समय ही निश्चित कर लेते हैं जिससे उत्पादको को बहुत हानि उठानी पडती है। उपाय से (Remedies)—केन्द्रीय-बैंकिंग-जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगो की वित्त-सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये सहकारी-साख-समितियो को सगठित करने का

सुझाव दिया है। औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) ने भी इन उद्योगो को आवश्यक ऋण प्रदान करने तथा किराया बिक्री पद्धति (Hire purchase System) के आधार पर उपकरण (Tools and Implements) देने की व्यवस्था करने का सुझाव दिया है। वस्तुतः इन उद्योगो की वित्तीय-आवश्यकता की पूर्ति किसी एक स्रोत से सम्भव नही है। अत यह कार्य व्यापारिक बैंको, सहकारी साख समितियो, राज्य-वित्त निगमो तथा राज्य सरकारो द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाना चाहिये। कार्वे-समिति (Carvey Committee) ने इस सम्बन्ध मे यह सुझाव दिया है कि कृषि-साख समितियो अथवा व्यापारिक बेंको को इन उद्योगो को कार्य-शील-पू जी (Working Capital) तथा राज्य सरकारो अथवा राज्य वित्त निगमों का इन उद्योगो को दीर्घकालीन पू जी देने की व्यवस्था करनी चाहिये।

(४) उत्पादित-माल के विपणन-सम्बन्धी कठिनाइयां—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो द्वारा निर्मित-माल के विपणन मे आने वाली कठिनाइयो के मुख्य कारण इस प्रकार हैं —(i) कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादित माल मे समय और श्रम अधिक लगता है जिसके कारण इनका मूल्य ऊ चा होता है और वे सरलता से नही बिक पाती। (ii) इन उद्योगो मे माल की समापन (Finish) अच्छी नही होती तथा एकरूपता (Uniformity) का अभाव होता है। फलत इन उद्योगो म उत्पादित-माल बडे स्तर के उद्योगो के माल से प्रतियोगिता नही कर पाता। (iii कुटीर-उद्योगो म उत्पादक एक वर्ग मे सगठित नही है। (iv) उपभोक्ताओ की रुचि और फैशन मे होने वाले नित्य प्रति के परिवर्तनो का पता लगा सकना कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो क उत्पादकों के लिये असम्भव न्ही तव कठिन अवश्य होता है। फलत. वे पुराने ढग की वस्तूओ का ही उत्पादन करते रहते हैं। (v) अशिक्षा के कारण शिल्पकार अपने उत्पादित माल के बाजार के क्षेत्र से अनभिज्ञ रहते है। फलत माल के विपणन के लिये वे मुख्यत मध्यस्थो पर निर्भर रहते हैं। एक अनुमान के अनुसार शिल्पी द्वारा उत्पादित माल के मूल्य का ४० प्रतिशत भाग मध्यस्थों के पास चला जाता है। उपाय (Remedies)—इन उद्योगो द्वारा निर्मित माल के विपणन एव विज्ञापन के लिये सहकारी-विपणन-समितिया सगठित की जानी चाहियें। कुटीर उद्योगो के माल के प्रचार एव विज्ञापन के लिये उत्तर-प्रदेश सरकार ने लखनऊ मे एक कला और शिल्प भण्डार (Arts and Crafts Emporium) तथा केन्द्रीय सरकार ने नई दिल्ली म एक केन्द्रीय कुटीर-उद्योग भण्डार (Central Cottage Industries Emporium) की स्थापना की है।

(५) सगठन का अभाव—हमारे देश मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो मे सगठन का अभाव है। फलत वे कच्चा-माल खरीदने, तैयार माल वेचने तथा वित्त प्राप्त करने मे सगठित उद्योगो से प्रतियोगिता नही कर पाते। असगठित होने के कारण ये उद्योग वैज्ञानिक अविष्कार तथा अनुसंधान की व्यवस्था करने में भी असमर्थ रहते है। उपाय (Remedies)—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के शिल्पियो

को औद्योगिक-सहकारी-समितियों (Industrial Co-operatives) मे सगठित करके उनकी सौदा करने की शक्ति (Bargaining Power) तथा क्रय-शक्ति (Purchasing Power) मे वृद्धि की जानी चाहिये। योजना आयोग (Planning Commission) ने कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगों के विकासार्थ यह सुझाव दिया है कि सरकार को बड़े पैमाने के उद्योग पर कर (Cess) लगाना चाहिये तथा इस प्रकार के कर से प्राप्त आय को कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास पर व्यय करना चाहिये ताकि कुटीर-उद्योग भी विशाल-स्तरीय उद्योगों से सरलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा कर सकें।

(६) विशाल-स्तरीय उद्योगों की प्रतिस्पर्धा भावना अब तक हमारे देश मे बड़े पैमाने के उद्योगो ने कच्चे-माल के खरीदने, वित्त प्राप्त करने तथा तैयार माल को बेचने आदि मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के साथ प्रतिस्पर्धी नीति को ही अपनाया है। फलत: देश के लघु-स्तरीय एव कुटीर-उद्योग पनप नही सके हैं। उपाय (Remedies) – कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योगो तथा विशालकाय-उद्योगो के आपसी-सघर्ष एव प्रतिस्पर्धा को नष्ट करने के लिये हमे इन दोनो प्रकार के उद्योगो के कार्यक्षेत्र को यथासम्भव पृथक् पृथक् कर देना चाहिये। चूंकि व्यवहार मे कार्यक्षेत्र का इस प्रकार का विभाजन असम्भव नहीं तब कठिन अवश्य है, इसलिये जापान की तरह हमारे देश मे भी छोटे और बड़े पैमाने के उद्योगो को सम्मिलित रूप से तथा एक दूसरे के पूरक के रूप मे उत्पादन-कार्य करना चाहिये।

(७) स्थानीय करों का भार–देश के विभिन्न क्षेत्रो मे लघु-स्तरीय एव कुटीर-उद्योगों पर असहनीय स्थानीय-कर (Local Taxes) लगे हुए हैं। परिणामत: इन उद्योगो के उत्पादन-व्यय मे वृद्धि हुई है जिसके कारण कुटीर-उद्योगों का माल बाजार मे बहुत कम मात्रा मे बिक पाता है। इस स्थिति मे इन उद्योगो के विकास को बहुत ठेस पहुचती है। उपाय (Remedies)–कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों की समुन्नति एवं महत्व को दृष्टिगत रखते हुए इन उद्योगो पर स्थानीय करो के अनावश्यक एव असहनीय भार को कम करना चाहिये।

(८) विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन—हमारे देश के कुटीर-उद्योगो मे जनसाधारण की आवश्यक माग की वस्तुओ की अपेक्षा कला-कौशलपूर्ण महंगी एव विलासयुक्त वस्तुओ का उत्पादन अधिक होता है। चूंकि इस प्रकार की वस्तुओं की माग का क्षेत्र सीमित होता है, इसलिये इन उद्योगों को अधिक उत्पादन के लिये कोई प्रोत्साहन नही मिल पाता और इन्हें अवनति का मुंह देखना पड़ता हैं। उपाय—कुटीर-उद्योगों द्वारा दैनिक उपयोग की तथा सस्ते मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन करना चाहिये तथा विलासपूर्ण एव कलाकौशलपूर्ण तथा महगी वस्तुओ का उत्पादन कम करना चाहिये।

(९) नागरिकों की विदेशी वस्तुओं मे अभिरुचि—हमारे देश के नागरिक अपनी दासत्व प्रवृत्ति के कारण स्वदेशी माल तथा स्वदेशी फैशन की अपेक्षा विदेशी माल तथा विदेशी फैशन मे अधिक अभिरुचि रखते हैं। उपाय—देश के नागरिको मे

राष्ट्रीय-भावना की चेतना जाग्रत करके उन्हे स्वदेशी फैशन अपनाने तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपभोग करने की ओर प्रेरित करना चाहिये।

(१०) सहकारी आन्दोलन की असफलता—वस्तुत कुटीर व लघु स्तरीय उद्योगो का विकास सहकारी समितियो की सफलता एव प्रगति पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। कच्चे माल के खरीदने, औजार तथा पू जी को पूर्ति करने, माल के विपणन की व्यवस्था करने, माल के विज्ञापन एव प्रचार की सुविधा उपलब्ध करने, उद्योगो द्वारा उत्पादित माल के लिये गोदामो का निर्माण करने तथा शिल्पकारो को शिक्षित एवं प्रशिक्षित करने मे सहकारी समितिया प्रश सनीय (श्लाघनीय) प्रयत्न कर सकती हैं। चू कि हमारे देश म सहकारी आन्दोलन की प्रगति अत्यन्त मन्द रही है, इसलिये लघु स्तरीय एव कुटीर उद्योगो की प्रगति भी पतन के गर्त मे छिपी पडी है। उपाय—कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगो की वास्तविक समुन्नति के लिये देश मे सहकारी आदोलन को सफल बनाने के लिये सामूहिक प्रयत्न किये जाने चाहियें।

कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योग तथा राजकीय नीति (Cottage and Small Scale Industries and the Government Policy) – प्राचीन भारत मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो को राज्य का सरक्षण प्राप्त था। १६वी और १७वी शताब्दी मे भारत के इन कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो ने इतनी प्रगति की थी कि भारत को 'Industrial Workshop of the World' का सम्मान प्राप्त हुआ। ब्रिटिश शासनकाल म सरकार की अबन्ध व्यापार-नीति (Laissez Faire Policy) के फलस्वरूप भारत के लघु-स्तरीय एव कुटीर-उद्योगो का पतन हो गया। कार्लमार्क्स (Karl Marx) **के शब्दों मे "भारत जो कि प्राचीनकाल से ससार के लिये सूती वस्त्र का वर्कशाप था, अब अग्रेजी वस्तुओं से भर गया।"** महात्मा गांधी (Mahatma Gandhi) **ने अबन्ध व्यापार की नीति की आलोचना करते हुए कहा था कि '१६ वीं शताब्दी मे भारत सरकार की स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अर्थ इगलैण्ड के लिये अन्न तथा भारत के लिए विष था।"** देश मे उद्योगो के विकास के लिये सरकार द्वारा सक्रिय कदम सर्वप्रथम सन् १९३४ मे उठाया गया। उस वर्ष 'अन्त-प्रान्तीय उद्योग सम्मेलन' की सिफारिशो के आधार पर भारत की केन्द्रीय सरकार ने कर्घा उद्योग (Handloom Industry) के विकास के लिये आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया। औद्योगिक-आयोग (Industrial Commission) ने भी कुटीर उद्योगो के विकास के लिये सक्रिय कदम उठाने का सुझाव दिया था। सन् १९३५ मे विभिन्न प्रातो मे औद्योगिक विभाग खोले गये। वस्तुत लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगो के विकास के लिये ठोस व्यावहारिक कदम स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही उठाये गये। इनम से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—

(१) मण्डलों व निगमों की स्थापना—(i) **कुटीर व लघु स्तरीय उद्योगों से सम्बन्धित मण्डलों की स्थापना**—देश मे कुटीर व लघु स्तरीय उद्योगो के योजनाबद्ध विकास के लिये कुछ अखिल भारतीय मण्डलो की स्थापना की गई है, जैसे—अखिल-

भारतीय करघा बोर्ड (All India Handloom Board), अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड (All India Handicrafts Board), लघु-उद्योग-मण्डल (Small Industries Board) केन्द्रीय सिल्क बोर्ड (Central Silk Board) तथा कोयर-मण्डल (Coir Board) आदि। अप्रैल सन् १९५७ में एक खादी व ग्रामोद्योग (Khadi and Village Industries Commission) की नियुक्ति की गई। ये अखिल भारतीय बोर्ड राष्ट्रीय-स्तर पर अपने-अपने क्षेत्रों में उद्योगों के विकास के लिये राज्य सरकारों व उद्योगों से सम्बन्धित संगठनों के सहयोग से तकनीकी शिक्षा, विपणन-सुविधाओं तथा उत्पादन के प्रमाणीकरण आदि की व्यवस्था कर रहे हैं। (ii) राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम (National Small Industries Corporation)—सन् १९५५ में भारत सरकार ने राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम की स्थापना की। इस निगम के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं (अ) लघु-स्तरीय उद्योगों को वित्त प्रदान करना, (आ) केन्द्रीय व राज्य सरकारों से लघु-स्तरीय उद्योगों के लिये आर्डर प्राप्त करना, (इ) आर्डर प्राप्त वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिये सम्बन्धित उद्योगों को वित्तीय एवं प्राविधिक सहायता प्रदान करना, (ई) कुटीर-उद्योगों को किराया बिक्री पद्धति (Hire-purchase System) के आधार पर मशीनें देना, (उ) इन उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के विपणन में सहायता देना, (ऊ) बैंकों तथा अन्य खास संस्थाओं से लघु-स्तरीय उद्योगों को मिलने वाले ऋण की गारन्टी देना, (ए) लघु-औद्योगिक इकाइयों के विकास को बड़े उद्योगों के सहायक के रूप में बढ़ावा देना, (ऐ) ओखला (देहली) तथा नैनी (इलाहाबाद) आदि स्थानों पर औद्योगिक-बस्तियां (Industrial Estates) स्थापित करना तथा (ओ) दिल्ली और राजकोट में दो, आदर्श प्रशिक्षण सहित उत्पादन केन्द्रों की स्थापना करना। सन् १९५६ से १९५९ तक इस निगम ने लघु-स्तरीय उद्योगों को ७ ६ करोड़ रु० के ऋण दिये जिसमें से २ ८ करोड़ रु० के मूल्य की मशीनें दी गई।[1] केन्द्रीय 'वाणिज्य एवं उपभोग्य-वस्तु-उद्योग मन्त्रालय' ने 'राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम' के चार सहायक लघु-उद्योग निगमों की स्थापना बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली व मद्रास में की है। इनमें से प्रत्येक निगम की अधिकृत-पूंजी १० लाख रु० तथा कार्यशील-पूंजी २ ५ लाख रु० है। (iii) भारतीय दस्तकारी विकास निगम (Indian Handicrafts Development Corporation)—भारत सरकार ने अप्रैल १९५८ में इस निगम की स्थापना दस्तकारियों के विकास के लिये की है। इस निगम के मुख्य उद्देश्य व कार्य इस प्रकार है—(अ) वाणिज्य आधार पर दस्तकारी की वस्तुओं के उत्पादन को व्यवस्थित करना एवं शिल्पियों को अधिकाधिक मात्रा में उत्पादन करने के लिये प्रोत्साहित करना, (आ) देश-विदेश में दस्तकारों द्वारा उत्पादित माल की बिक्री एवं खपत के लिये विपणन-केन्द्रों व एजेन्सियों की स्थापना करना तथा अन्य व्यापारिक कम्पनियों से सम्बन्ध स्थापित करना तथा (उ) अधिकतम उत्पादन करने, उत्पादन के उन्नत ढंगों को अपनाने तथा अच्छी प्रबन्ध-

1 Report on Currency and Finance, 1959 60, Pages, 53 54

व्यवस्था करने मे शिल्पियो की सहायता करना। (iv) लघु-उद्योग सेवाशालायें (Small Industries Service Institutes)—फोर्ड फाउन्डेशन (Ford Foundation) के विशेषज्ञों के एक दल की सिफारिशो के आधार पर भारत सरकार ने सन् १९५३ म कलकत्ता, मद्रास बम्बई और दिल्ली म चार प्रादेशिक लघु-उद्योग सेवाशालायें (Regional Small Industries Service Institutes) स्थापित की। इन सेवाशालाओं का कार्य लघु-स्तरीय उद्योगों को उचित प्रशिक्षण, उपकरण एव डिजाइनों के विषय म प्राविधिक सेवायें, सलाह, निर्देशन एव सहायता करना है।

(२) वित्त व्यवस्था—लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योग को स्थाई पूंजी (Fixed Capital) तथा कार्यवाहक पूजी (Working Capital) दोनो ही प्रकार की पूजी की आवश्यकता होती है। विगत वर्षो मे कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुछ साधन इस प्रकार बढाये गये हैं—(i) 'उद्योगों को सरकारी सहायता अधिनियम के अन्तर्गत ऋण प्रदान करना—राज्य वित्त निगम (State Finance Corporations) बनने मे पहले राज्य सरकारें उद्योगो को सरकारी सहायता अधिनियम (State Aid to Industries Act) के अन्तर्गत लघु एव कुटीर-उद्योगो को ऋण प्रदान करती थी। सन् १९४७ तक इस प्रकार के राज्य सरकारो द्वारा प्रदान किये जाने वाले ऋणों से कोई विशेष लाभ नहीं उठाया जा सका। आजकल केन्द्रीय सरकार प्रदेशीय सरकारो को कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये अनुदान देती हैं। सन् १९५६ से १९५८ तक राज्य सरकारो ने लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगो के लिये ७ करोड रु० के ऋण दिये थे।[1] (ii) राज्य वित्त निगम (State Finance Corporations)—भारत सरकार ने सन् १९५१ मे राज्य-वित्त निगम अधिनियम पास किया। मार्च सन् १९५९ तक इस अधिनियम के अन्तर्गत १२ राज्य वित्त निगम स्थापित किये गये। सन् १९५९-६० मे राज्य-वित्त निगमो ने लघु-स्तरीय एव कुटीर *उद्योगों को ५.६१ करोड रु० के ऋण देना स्वीकार किया,* परन्तु इनम से केवल ३.६६ करोड रु० के ऋण वास्तव मे दिये गये।[2] (iii) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने एक मार्गदर्शी (Pilot) योजना चालू की है जिसके अन्तर्गत छोटे उद्योगों के लिये साख-पूर्ति की एक मिली-जुली व्यवस्था की गई है। इस योजना मे राज्य वित्त निगम, सहकारी बैंक तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारें भाग लेती हैं। मार्च सन् १९६० तक स्टेट बैंक ने इस मार्ग-दर्शी योजना के अन्तर्गत ५.११ करोड रु० के ऋण देने स्वीकार किये थे।[3] (iv) राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम (National Small Industries Corporation)—यह निगम छोटी छोटी औद्योगिक इकाइयो को किश्तो पर ऋण प्रदान करता है। सन् १९५६ मे १९५९ के अन्त तक राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम ने ७.६ करोड रु० के ऋण दिये जिनम से २.८ करोड रु०

1 Report on Currency and Finance, 1958 59, Page 49.
2 Ibid Page 50
3 Ibid, Page 53

के मूल्य की मशीने दी गई । * (v) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया—रिजर्व बैंक विभिन्न राज्यो मे स्थापित वित्त-निगमो की पूंजी मे हिस्सा लेकर परोक्ष रूप से लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगो को सहायता करता है। यह बैंक सहकारी बैंको एव व्यापारिक बैंको के माध्यम से भी लघु-स्तरीय उद्योगो की सहायता करता है। (vi) औद्योगिक सहकारी समितियाँ (Industrial Co-operative Societies)—ग्रामीण शिल्पकारो को सामान्य रूप से तथा हाथ करघा उद्योग को विशेष रूप से वित्तीय सहायता देने के लिये, औद्योगिक-सहकारी समितियों को संगठित किया गया है। शिल्पकारो की ये समितिया सामूहिक रूप से कच्चा माल खरीदने, तैयार-माल को बेचने तथा वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की व्यवस्था करती हैं।

(३) विपणन सम्बन्धी सुविधायें (Marketing Facilities) —केन्द्रीय सरकार ने अप्रैल १९४९ में एक केन्द्रीय कुटीर-उद्योग एम्पोरियम (Central Cottage Industries Emporium) की स्थापना की। इसका कार्य विदेशी एव देशी माग के आधार पर, कुटीर उद्योगो द्वारा उत्पादित समान के विपणन मे सहयोग देना है। उत्तर प्रदेश, मद्रास, मध्य-भारत, असाम, पंजाब महाराष्ट्र और काश्मीर राज्य सरकारो ने भी कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो द्वारा निर्मित-माल के विपणन म सहायता देने के लिए 'एम्पोरियम' (Emporium) स्थापित किये हैं। ये एम्पोरियम देश की विभिन्न प्रदर्शनियो मे कुटीर-उद्योगो द्वारा उत्पादित माल के विज्ञापन के लिये अपनी दुकान रखते है। सन् १९५५ मे कार्वे समिति (Carvey Committee) ने यह सिफारिश की थी कि लघु स्तरीय एव कुटीर उद्योगो द्वारा उत्पादित माल को सहकारी ढग पर बेचने के लिए सहकारी विपणन समितियो (Co-operative Marketing Societies) को सगठित करना चाहिये। इस समिति की सिफारिश के आधार पर देश मे सहकारी-विपणन समितियो एव विपणन-संघो को सगठित किया जा रहा है।

(४) औद्योगिक बस्तियाँ (Industrial Estates)—प्रथम और द्वितीय योजनाकाल मे कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगो की समुन्नति के लिए, देश के विभिन्न भागो मे औद्योगिक बस्तिया तथा उपनिवेश (Colonies) स्थापित किये गये। सन १९६०–६१ तक देश भर मे लगभग ६० औद्योगिक बस्तिया स्थापित की गई जिनमे से ५२ औद्योगिक-बस्तियों मे १,०३५ कारखाने थे और इन कारखानो मे १३ हजार व्यक्ति काम कर रहे थे। तीसरी योजना के अन्तर्गत ३०० नई विभिन्न प्रकार की औद्योगिक-बस्तिया स्थापित की जायगी। औद्योगिक बस्तियो एव उपनिवेशो की स्थापना के मुख्य लाभ इस प्रकार है —(i) लघु स्तरीय उद्योगो को एक ही स्थान पर सगठित करके उन्हे सामान्य-सेवायें प्रदान करना, (ii) लघु-स्तरीय उद्योगो के उत्पादन म विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन देना, (iii) कच्ची सामग्री मशीन यन्त्र व

* Report on Currency and Finance 1960 Page 53 54

उपकरणों का मितव्ययिनापूर्वक उपयोग करना, तथा (iv) उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण अथवा देश के प्रादेशिक औद्योगिक विकास मे सहायक होना।

(५) सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम—प्रथम पचवर्षीय योजना मे सर्वप्रथम एक विशाल-स्तरीय उद्योग तथा इससे सम्बन्धित लघु-स्तरीय उद्योग के लिये सामान्य उत्पादन कार्यक्रम के सिद्धान्त को अपनाया गया। इस नीति के दो मुख्य उद्देश्य हैं—(अ) कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के लिये एक सगठित-क्षेत्र की व्यवस्था करना तथा (आ) बडे स्तर के उद्योगो एव कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योगो मे पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना। 'सम्मिलित-उत्पादन कार्यक्रम' की नीति को व्यावहारिक रूप देने के लिये—(i) कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगो का उत्पादन-क्षेत्र सीमित रक्खा जाता है। (ii) विशाल-स्तर के उद्योगो की उत्पादन-क्षमता के विस्तार पर रोक लगाई जाती है। (iii) बडे पैमाने के उद्योगो के उत्पादन पर उप-कर (Cess) लगाया जाता है तथा इस कर से प्राप्त आय को सम्बन्धित लघु एव कुटीर-उद्योग के विकास पर व्यय किया जाता है। (iv) सम्बन्धित लघु-स्तरीय एव कुटीर-उद्योगो को कच्ची-सामग्री की पूर्ति की व्यवस्था की जाती है और (v) अनुसधान एव प्रशिक्षण म आदान-प्रदान व समन्वय स्थापित किया जाता है। अनुभव से ज्ञात हुआ है कि 'सम्मिलित-उत्पादन के कार्यक्रम' से कुछ कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगो को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला है।

पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगों का विकास (*Progress of Cottage and Small Scale Industries Under the Five Year Plans*)—योजना आयोग (Planning Commission) के शब्दों में "कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योग हमारी '*आर्थिक सरचना*' (*Economic Structure*) तथा राष्ट्रीय योजना के महत्वपूर्ण अंग है जिनकी कमी भी अपेक्षा नहीं की जा सकती और न ही उनको इनसे (आर्थिक-ढाचा व राष्ट्रीय-योजना) पृथक ही किया जा सकता है। ग्रामीण-क्षेत्रों मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगों को विकसित करने का उद्देश्य नागरिकों को काम के लिये अवसर देना, उनकी आय तथा जीवन-स्तर को ऊचा उठाना एव ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को अधिक सतुलित और सगठित बनाना है।' (1) प्रथम और द्वितीय योजना—देश म कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकासाथ प्रथम और द्वितीय योजनाओ के अन्तर्गत क्रमश ४३ करोड रु० और १८० करोड रु० व्यय किये गये। प्रथम योजना काल मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के योजनाबद्ध विकास के लिय कुछ अखिल भारतीय मण्डलो की स्थापना की गई, जिनमें स अखिल भारतीय करघा बोर्ड (All India Handloom Board), अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड (All India Handicrafts Board), लघु-उद्योग मण्डल (*Small Industries Board*), *केन्द्रीय सिल्क बोर्ड* (*Central Silk Board*) तथा *कोयर मण्डल* (*Coir Board*) *प्रमुख हैं। सन् १९६०–६१ तक देश भर मे ६० औद्योगिक-बस्तियां* (*Industrial Estates*) *तथा १५ सेवा-शालाओं* (*Service Institutes*) *की स्थापना की गई। दूसरी योजना के अन्तर्गत व्यवसायिक एव*

शैल्पिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करने तथा सामुदायिक विकास परियोजनाओं के कार्यक्रम को अखिल भारतीय-मण्डलों (All India Boards) के कार्यक्रम मे समन्वित करके, कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योगो का तीव्रतम विकास करने पर बहुत बल डाला गया। सन् १९५८-५९ मे देशभर मे लगभग २,४५,०१५ अम्बर चर्खे (Ambar Charkha) का उपयोग किया जा रहा था जिनसे उस वर्ष २४०.४ लाख गज वस्त्र तैयार किया गया था। सन् १९५९ मे एक हैण्डलूम निर्यात सघ (Handloom Export Organisation) की स्थापना की गई। इस सघ का उद्देश्य विदेशो मे भारत के हाथकरघा वस्त्र उद्योग के कपडे का निर्यात बढाना है। सितम्बर सन् १९५६ में ग्रामोद्योग के विकासार्थ एक खादी तथा ग्राम-उद्योग आयोग-अधिनियम (Khadi and Village Industries Commission Act) पास किया गया जिसके अन्तर्गत एक खादी एव ग्रामोद्योग आयोग (Khadi aud Village Irdustries Commission) की नियुक्ति की गई। दूसरी योजना की अवधि मे ३० लाख अतिरिक्त बुनकरो एव १० लाख अतिरिक्त सूत कातने वालो को काम मिल सका। सन् १९५०-५१ मे हाथकरघा वस्त्र उद्योग के कपडे का उत्पादन ७४२ करोड गज था, जो कि १९६०-६१ मे बढकर १९० करोड गज हो गया। सहकारी समितियो मे हाथकरघो की सख्या सन् १९५३ मे ७ लाख से बढकर सन् १९६० के मध्य तक १३ लाख हो गई। खादी का उत्पादन सन् १९५०-५१ मे ७० लाख गज से बढकर सन् १९६०-६१ मे ४८ करोड गज हो गया। दूसरी योजना मे ग्रामोद्योग विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग ५ लाख शिल्पियो को रोजगार मिला। कुल मिलाकर इस योजना मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ३५ हजार अतिरिक्त व्यक्तियो को पूर्ण रोजगार तथा २७ लाख अतिरिक्त व्यक्तियो को आंशिक रोजगार मिला। नारियल के रेशे के धागे और अन्य समान बनाने के उद्योग मे, द्वितीय योजना के अन्तर्गत ८ लाख व्यक्तियो को रोजगार मिल सका। कच्ची रेशम का उत्पादन सन् १९५१ मे २५ लाख पौंड से बढकर सन् १९६० मे ३६ लाख पौंड हो गया। इसके अतिरिक्त अन्य लघु-स्तरीय उद्योगो मे, जैसे—मशीनो के उपकरण, सिलाई-मशीन, विद्युत-पखे, मोटर, साईकिल तथा लोहे की अन्य वस्तुओ के उत्पादन मे प्रथम और द्वितीय योजनाओ के अन्तर्गत आशातीत प्रगति हुई। इन वस्तुओ के उत्पादन मे प्रतिवर्ष लगभग २५% से ५०% तक वृद्धि हुई। (ii) तीसरी योजना—तीसरी योजना मे रोजगार के साधनो मे वृद्धि लाने, सामान्य उपभोग व उत्पत्ति की वस्तुओ की पूर्ति बढाने तथा उद्योगो का विकेन्द्रीयकरण करने के उद्देश्य से कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास की एक व्यापक-योजना बनाई गई है। इस योजना मे लघु स्तरीय एव कुटीर उद्योगो के विकास पर २६४ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त २० करोड रु० सामुदायिक विकास परियाजनाओ (Community Development Projects) के अन्तर्गत तथा २७५ करोड रु० निजी-क्षेत्र (Private Sector) मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकासार्थ व्यय

किये जायेंगे । योजनाकाल मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास कार्यक्रमो द्वारा ६ लाख अतिरिक्त व्यक्तियो को पूर्ण रोजगार तथा ८० लाख अतिरिक्त व्यक्तियो को अशतः रोजगार मिल सकेगा । सन् १९६५-६६ तक शक्ति-करघों (Power Looms) की सख्या (हाथकरघा क्षेत्र मे) १३ हजार तक पहुच जायेगी। योजनाकाल मे ३०० नई औद्योगिक बस्तियो (Industrial Estates) की स्थापना की जायेगी । सन् १९६५-६६ मे कपडे के कुल उत्पादन का लक्ष्य ९३० करोड गज रक्खा गया है जिसमे हाथ-करघा, विद्युत-करघा तथा खादी उद्योग का भाग ३५० करोड गज है । इस योजना मे सहकारी समितियो से सम्बद्ध हाथकरघा-बुनकरो की आर्थिक-स्थिति को सुधारने के लिये ९ विद्युत करघे लगाये जायगे । तीसरी योजना मे खादी के उत्पादन का वार्षिक-लक्ष्य १६ करोड गज तथा शहतूती और गैर शहतूती रेशम के उत्पादन का वार्षिक-लक्ष्य ५० लाख पौंड रक्खा गया है। कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकासार्थ तीसरी योजना मे वर्तमान सहकारी-सस्थाओ के सगठन और पूजी को सुदृढ बनाने तथा अधिकाधिक शिल्पकारो को उनमे भर्ती करने पर बल दिया जायेगा ।

फैक्ट्री-उद्योग या कुटीर-उद्योग
(Factory Industry versus Cottage Industry)

भारत मे फैक्ट्री और कुटीर-उद्योगो मे से किसको प्रोत्साहन देना चाहिये ? —भारत मे कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन मिलना चाहिये अथवा फैक्ट्री उद्योगो को—यह एक विवादग्रस्त विषय है । **जो व्यक्ति भारत मे कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने के विपक्ष मे तथा विशाल स्तरीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के पक्ष मे हैं, उनके मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—(i) कुटीर उद्योग कालातीत हैं**—आधुनिक मशीन युग मे कुटीर व लघु स्तरीय उद्योगो का विकास करना देश की आर्थिक एव औद्योगिक प्रगति को रोकना है । आलोचको का मत है कि किसी देश की आर्थिक प्रगति वहा पर बडे पैमाने के उत्पादन पर निर्भर रहती है और बडे पैमाने की उत्पादन क्षमता विशाल-स्तरीय उद्योगो से ही सम्भव है । चू कि कुटीर उद्योग मे बडी-बडी मशीनो का उपयोग सम्भव नही होता तथा तकनीकी कुशलता के प्रसार का अधिक क्षेत्र नही होता, इसलिये इन उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन मे अभिवृद्धि लाकर राष्ट्र के आर्थिक विकास कर सकने का स्वप्न अधूरा ही रहेगा । वस्तुत कुटीर-उद्योग पिछले युग का उद्योग है और बड़े पैमाने का उद्योग वर्तमानकालीन उद्योग है । **(ii) लागत व्यय**—कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो मे बडे पैमाने की आतरिक और बाह्य बचतें (Internal and External Economies) प्राप्त नही होती है तथा श्रम-विभाजन अथवा विशेषीकरण पद्धति का उपयोग भी सीमित मात्रा मे हो पाता है । अत कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योगो मे वस्तुओ का उत्पादन व्यय बडे-स्तर के उद्योगो के उत्पादन-व्यय की तुलना मे अधिक होता है जिससे उत्पादक, उपभोक्ता और सम्पूर्ण राष्ट्र का हानि होती है । **(iii) कम उत्पादन व निम्न जीवन स्तर**—कुटीर एव लघु स्तरीय

उद्योगों मे उपभोक्ता की विशाल एवं नित्यप्रति परिवर्तित रुचियों के अनुरूप वस्तुओं का उत्पादन सम्भव नहीं होता। इन उद्योगों में श्रमिकों को मजदूरी भी थोड़ी मात्रा में ही मिलती है। फलत कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योग राष्ट्र के नागरिकों का उपभोग-स्तर अथवा जीवन-स्तर ऊंचा उठाने में अधिक सहायक सिद्ध नहीं होते। (iv) **पूंजी का निर्माण**—चूंकि कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों में धनोत्पादन न्यून-मात्रा में होता है, इसलिये नागरिकों में धन बचाने की शक्ति व इच्छा कम होती है। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि देश में पूंजी का निर्माण बहुत कम होने पाता है। इसलिये कुछ विद्वानों का मत है कि वर्तमान परिस्थितियों में, जबकि राष्ट्र का तीव्रगति से आर्थिक विकास करना है, देश में धनोत्पादन में वृद्धि करने, नागरिकों की धन बचाने की इच्छा व शक्ति में वृद्धि करने तथा पूंजी निर्माण में वृद्धि करने के लिये कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों को तिलाजलि देनी चाहिये और इनके स्थान पर बड़े पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन देना नितांत आवश्यक है। (v) **श्रम विभाजन एवं ऊंची कार्यक्षमता का अभाव**—अपने लघु आकार के कारण कुटीर एवं लघु-उद्योगों में श्रम विभाजन (Division of Labour) अथवा विशिष्टीकरण (Specialization) का सिद्धान्त पूर्णत सफलीभूत नहीं होता। फलत श्रमिकों में वह दक्षता (Efficiency) नहीं आ पाती जो कि विशाल-स्तरीय उद्योगों में सम्भव है।

कुछ व्यक्ति देश में कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के पक्ष में तथा बड़े पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन देने के विपक्ष में इस प्रकार तर्क प्रस्तुत करते हैं—(i) **बेकारी की समस्या का समाधान**—बड़े पैमाने के उद्योगों में मानव श्रम को मशीन शक्ति से प्रतिस्थापित किया जाता है जिससे देश में बेरोजगारी में वृद्धि होती है। वस्तुत हमारे देश में कृषि-भूमि पर जनसंख्या के भार में वृद्धि तथा बेरोजगारी की समस्या को फैलाने का मुख्य कारण ब्रिटिश शासन-काल में लघु-स्तरीय एवं कुटीर-उद्योगों का अध पतन ही था। अत देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार देने, कृषि-व्यवसाय की अर्ध-बेकारी को दूर करने तथा देश की अर्थ-व्यवस्था का सतुलित विकास करने के लिये कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों का विकास करना नितान्त आवश्यक है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी (Mahatma Gandhi) ने भी कहा था कि '**देश का मोक्ष कुटीर एवं लघु स्तरीय उद्योगों के विकास में ही अन्तर्निहित है।**" (ii) **व्यवसाय का स्वभाव**—कुछ व्यवसाय, जैसे—बीड़ी उद्योग, मिट्टी के बर्तन बनाने का उद्योग अथवा रस्सी बनाने का उद्योग केवल छोटे पैमाने पर ही सम्पन्न किये जा सकते हैं। (iii) **व्यक्तिगत अभिरुचियों की पूर्ति**.—कुछ व्यवसाय, जैसे—दर्जी व्यवसाय, कढ़ाई-बुनाई तथा आभूषण बनाने का व्यवसाय आदि व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति करते हैं जिससे इनको केवल छोटे पैमाने पर ही चलाया जा सकता है। अत इस दृष्टिकोण से कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों का विकास स्वाभाविक ही है। (iv) **प्राविधिक कार्यकुशलता में वृद्धि सम्भव है**.—प्राय आलो-

चक इस आधार पर लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगों के विकास का विरोध करते हैं कि इन उद्योगों की प्राविधिक कार्यकुशलता में कोई सुधार नही लाया जा सकता। परन्तु वास्तव मे आधुनिक युग मे अनुसधान द्वारा ऐसी उत्पादन विधियो व यत्रो का विकास हो गया है जो कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के लिये सर्वथा उपयुक्त हैं। फलत इन उद्योगों मे भी बहुत कुछ आधुनिक ढग की वस्तुओ का उत्पादन किया किया जा सकता है। (v) **समाज मे धन का समान वितरण** —बडे स्तर के उद्योगों के विकास से समाज का समस्त धन कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के हाथो मे केन्द्रीत हो जाता है, फलत समाज म वर्ग सघर्ष तथा वर्ग-भेद को बढावा मिलता है तथा श्रमिको का अत्यधिक शोषण होता है। इसके विपरीत कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास से आय व धन का अपेक्षाकृत अधिक समान वितरण सम्भव होता है तथा समाज मे वर्ग-भेद अथवा वर्ग-सघर्ष का अन्त हो जाता है। अत देश म धन का समान वितरण करने तथा वर्ग-भेद अथवा वर्ग-सघर्ष को न्यूनातिन्यून करने के लिये बड पैमाने के उद्योगों को तिलांजलि देकर लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगो का विकास करना उचित है। (vi) **बडे स्तर के उद्योगों मे एकाधिकार के समस्त दोष सामने आ सकते हैं** —प्राय बडे पैमाने के उद्योगो के स्वामी एकाधिकारी-संघ (Monopolies) का निर्माण कर लेते हैं। इस स्थिति म एक ओर श्रमिको का शोषण होता है तथा दूसरी ओर उपभोक्ताओं को कम उत्तम वस्तुओ का उपभोग करने तथा इनका ऊचा मूल्य देने के लिये विवश किया जाता है। चू कि लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगों मे एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना ही नही होती, इसलिये तत्सम्बन्धित दोष भी दृष्टिगत नही होते।

निष्कर्ष :— वस्तुत देश की आर्थिक एव औद्योगिक प्रगति के लिये, कुटीर व लघु-स्तरीर उद्योग तथा विशाल स्तरीय उद्योग दोनों ही का एक साथ विकास करना नितान्त आवश्यक है। आधुनिक युग मे कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योगो का भी अपना निश्चित महत्व है। अत वर्तमान अर्थ-व्यवस्था मे इन उद्योगो का अन्त करना भारी भूल होगी। हाल ही मे सस्ती विद्युत-शक्ति की उपलब्धता, कलापूर्ण वस्तुओ की निरन्तर बढती हुई माग, सहकारी आन्दोलन तथा प्राविधिक ज्ञान (Technical Knowledge) का प्रसार आदि अनेक सुविधाओ के कारण कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योगो की स्थिति और भी अधिक सुदृढ हो गई है। भारत जैसे कृषि-प्रधान तथा अर्ध-विकसित एव अतिवासी (Over Populated) देश मे कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योगो का और भी अधिक महत्व है। दूसरी ओर देश का तीव्रगति से आर्थिक विकास बडपैमाने के उत्पादन तथा बडी मात्रा मे पू जी के निर्माण पर ही आश्रित है। इसलिये देश मे बडे पैमाने के उद्योगों का तीव्रगति से विकास करना भी नितान्त अनिवार्य है। **भारत की वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था समयानुकूल है। भारत मे एक ओर यदि कुछ व्यवसाय, जैसे—गोला-बारूद व लोहा इस्पात उद्योग, बडे पैमाने पर फैक्ट्री प्रणाली के आधार पर चलाये जा रहे हैं तब दूसरी ओर कुछ व्यवसाय, जैसे—गुड**

व्यवसाय, खाद व्यवसाय छोटे पैमाने पर लघु-स्तरीय उद्योगों की प्रणाली के आधार पर चलाये जा रहे हैं तथा तीसरी और कुछ व्यवसाय, जैसे —सूती व ऊनी वस्त्र उद्योग, जूता उद्योग छोटे व बडे दोनों ही पैमानों पर, फैक्ट्री व कुटीर दोनों ही उद्योग प्रणालियों के आधार पर चलाये जा रहे हैं।

भारत के कुछ प्रमुख कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योग (Some Important Cottage and Small Scale Industries of India)—हमारे देश के कुछ प्रमुख कुटीर एव लघु-स्तरीय उद्योग इस प्रकार हैं '—(i) **हाथ करघा उद्योग** (Handloom Industry) भारत के लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगो मे हाथकरघा वस्त्र उद्योग का प्रमुख स्थान है। इस समय इस उद्योग मे लगभग २६,२३,००० करघे हैं जिन पर लगभग १४० लाख व्यक्तियो को रोजगार मिला हुआ है। देश के कुल वस्त्रोत्पादन का लगभग ३३% भाग इसी उद्योग से प्राप्त होता है। सन् १६६०–६१ मे हाथकरघे के वस्त्र का उत्पादन १६० करोड गज था। तीसरी योजना मे हाथकरघे द्वारा वस्त्रोत्पादन का वार्षिक लक्ष्य ३५० करोड गज रक्खा गया है। इस उद्योग के देश मे प्रमुख केन्द्र वाराणसी, इटावा, अमरोहा, मऊ, टाडा, बाराबकी (उत्तर-प्रदेश), चन्देरी, (मध्य-प्रदेश), कोयम्बतूर (मद्रास), कर्नाटक (महाराष्ट्र) तथा नागपुर है। (ii) **चमडे का उद्योग** —हमारे देश मे पशुओ की सख्या सब देशो से अधिक है। पशुओं के मरने पर इनकी खाल से अनेक प्रकार की वस्तुयें तैयार होती है। आगरा, कानपुर, देहली, अमृतसर तथा मद्रास आदि औद्योगिक नगरो मे जूते तथा चमडे की अन्य वस्तुओ के बनाने के कारखाने हैं। दूसरी योजना मे चमडे के छोटे-छोटे कारखानो ने निर्यात के निए ६ लाख जोडी जूते तैयार किए थे। अकेले उत्तर-प्रदेश मे चमडा उद्योग में १,५०,००० व्यक्ति लगे हुए हैं। (iii) **गुड व्यवसाय** —कृषि व्यवस्था के सहायक के रूप मे गुड व्यवसाय का हमारे देश मे महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम व द्वितीय योजना के अन्तर्गत गुड-व्यवसाय को विकसित करने के लिये सक्रिय कदम उठाए गये तथा सुधरे एव उत्तम ढग के कोल्हूओं का उत्पादन बढाया गया। बिहार और उत्तर-प्रदेश मे गुड व खाडसारी का धन्धा बहुत प्रचलित है। सन् १६६०–६१ मे भारत मे गन्ने द्वारा बनाए जाने वाले गुड का उत्पादन लगभग ८० लाख टन था। तीसरी योजना मे इसके उत्पादन का लक्ष्य १०० लाख टन रक्खा गया है। गन्ने के अतिरिक्त हमारे देश मे खजूर के रस से भी गुड बनाने का कार्यक्रम जारी है। (iv) **बीडी सिगरेट उद्योग** —इस उद्योग मे लगभग ५ लाख व्यक्ति लगे हुए हैं। हमारे देश मे समस्त विश्व के तम्बाकू-उत्पादन का २५% भाग उत्पन्न होता है। बीडी बनाने का ४० प्रतिशत काम महाराष्ट्र, व मद्रास म, २५ प्रतिशत काम मध्य प्रदेश मे तथा ३५ प्रतिशत काम उत्तर-प्रदेश, बगाल और मैसूर मे होता है। देश मे सिगरेट बनाने के मुख्य केन्द्र कलकत्ता, बम्बई, सहारनपुर, मुघेर तथा बंगलौर हैं। (v) **रेशम-उद्योग** —हमारे देश मे रेशम उद्योग के प्रमुख केन्द्र बनारस, मैसूर, मद्रास, बगाल व काश्मीर है। सन् १६६० मे कच्ची रेशम का कुल उत्पादन ३६ लाख पौंड

था। दूसरी योजना के अन्तर्गत इस उद्योग म ३५ हजार व्यक्तियों को पूर्ण रोजगार तथा २७ लाख व्यक्तियों को आंशिक रोजगार मिला। तीसरी योजना के अन्तगत कच्ची रेशम के उत्पादन का लक्ष्य ५० लाख पौंड रक्खा गया है। भारत सरकार ने अच्छी किस्म के रेशम के उत्पादन के दृष्टिकोण से बहरामपुर (बगाल) मे एक केन्द्रीय प्रयोगशाला (Central Sericulture Station) की स्थापना की है जिसमे रेशम के कीडे की नस्ल सुधारने के लिये अनुसधान कार्य को प्रोत्साहन दिया जाएगा।

(vi) लक्डी व धातु का उद्योग—भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे लकडी व धातु के काम पर लगभग ६० लाख व्यक्ति लगे हुए हैं। पजाब म होशियारपुर व करतारपुर तथा उत्तर-प्रदेश म बरेली मे लक्डी का फर्नीचर उच्चकोटि का बनता है। इसी प्रकार मेरठ मे लकडी का खेल का सामान तथा मैसूर मे चन्दन की लकडी और काश्मीर मे अखरोट की लकडी पर खुदाई का काम बहुत अच्छा होता है। इसके अतिरिक्त भारत के अनेक नगरों, जैसे—मुरादाबाद, हाथरस, फर्रुखाबाद, मिर्जापुर, वाराणसी व हरदोई मे पीतल, तावा, कासा व चादी के बर्तन बनाने के उद्योग है।

(vii) तेल पेरने का उद्योग—यद्यपि हमारे देश म तिलहन का उत्पादन बहुत होता है, परन्तु इसका एक बडा भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। हमारे देश मे तेल का खाने के रूप मे उपभोग बहुत होता है। भारत के गाव-गाव मे तेली घानी द्वारा तेल पेरते हैं। देश की औद्योगिक प्रगति के साथ ही साथ देश म तेल पेरने के छोटे-बडे कारखाने भी स्थापित हो गए हैं। इस उद्योग की प्रगति एव प्रोत्साहन के लिये यह आवश्यक है कि देश म उत्पादित तिलहन को कच्चे रूप म निर्यात करने की अपेक्षा उसका तेल पेरकर (तैयार माल के रूप म) निर्यात किया जाए।

— ——

२२
भारत का औद्योगीकरण

(Industrialisation of India)

प्राक्कथन—आज का युग उद्योग-प्रधान युग है। किसी देश को आर्थिक प्रगति एव सभ्यता के मार्ग पर प्रशस्त करने के लिये तथा देश की निर्धनता एव बेकारी को दूर करके वैभव और सफलता लाने के लिए देश का औद्योगीकरण अति आवश्यक है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन से पूर्व भारत अपनी कला-कौशल एव कुटीर उद्योगो के लिये विश्वविख्यात था। उस समय देश के लघु-स्तरीय एव कुटीर उद्योगो द्वारा विनिर्मित विभिन्न प्रकार का माल ग्रीस, रोम, मिस्र, चीन आदि देशो को जाया करता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके पश्चात् ब्रिटिश शासन की अबन्ध-व्यापार नीति (Laissez Faire Policy) एव पक्षपात पूर्ण नीति के फलस्वरूप भारतीय उद्योग धन्धे विदेशी मशीनो द्वारा निर्मित वस्तुओ से प्रतिस्पर्धा न कर सके। फलत शनै शनै भारतीय उद्योग-धन्धो का पतन हो गया।

भारत मे औद्योगीकरण की समस्या (Problem of Industrialization in India)—हमारे देश मे औद्योगीकरण के प्रश्न पर दो विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। एक ओर राष्ट्रपिता महात्मा गाधी (Mahatma Gandhi) और उनके अनुयाई बडे स्तर के उद्योगो के विपक्ष में हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे विचारक हैं जो औद्योगीकरण के विरोधी न होकर भी देश मे औद्योगीकरण के विरोधी हैं। इन विद्वानो के मतानुसार भारत की परिस्थितिया औद्योगीकरण के लेशमात्र भी अनुकुल नही हैं। **प्रथम दृष्टिकोण के विचारक भारत में बड़े स्तर के उद्योगों की स्थापना के विपक्ष में इस प्रकार तर्क प्रस्तुत करते हैं**—(i) औद्योगीकरण युद्ध और हिंसा (War and Violence) का आधार-स्तम्भ है। (ii) औद्योगीकरण के फलस्वरूप समाज मे वर्ग-भेद उत्पन्न होता है। शोषक और शोषित समाज के दो प्रमुख वर्ग बन जाते हैं। पूंजीपति अथवा शोषक वर्ग श्रमिको की विवशता का लाभ उठाकर उनका मनमाना शोषण करता है, जो कि सामाजिक न्याय (Social Justice) की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। यही नही, सामाजिक वर्ग-भेद (Social Class difference) का कुचक्र आगे चलकर सामाजिक-सघर्ष (Social Conflict) को जन्म देता है। (iii) औद्योगीकरण देश मे आर्थिक विषमता को व्यापक बनाता है। विशाल-स्तरीय उद्योगो के विकास के साथ ही साथ देश मे धनी और निर्धन के बीच मे विशाल खाई उत्पन्न हो जाती है।

(iv) बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास देश में बेरोजगारी की समस्या को जटिल करने का आह्वान है। (v) औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप आर्थिक एवं राजनैतिक केन्द्रीयकरण का कुचक्र फैलता है। समाज में आर्थिक विषमता की स्थिति में समानता व स्वतन्त्रता का अधिकार एक थोथी कल्पना (Mere Myth) है। (vi) औद्योगीकरण मानव को मशीन-तुल्य आत्मारहित निर्जीव प्राणी बना देता है तथा (vii) औद्योगीकरण से तेजी-मन्दी के व्यापार-चक्र की समस्या जन्म लेती है। द्वितीय दृष्टिकोण के विचारक जो भारतीय परिस्थितियों को औद्योगीकरण के प्रतिकूल बताते हैं, अपने मत के समर्थन में दो तर्क प्रस्तुत करते हैं—(i) भारत की भौगोलिक स्थिति केवल कृषि-व्यवसाय के लिये ही उत्तम है। प्रकृति ने भारत को कृषि-प्रधान बनाया है। अतः इस स्थिति में देश के औद्योगीकरण के प्रश्न को तिलाजलि देकर, देश की सम्पूर्ण पूंजी व श्रम शक्ति, कृषि के विकास पर ही लगाई जानी चाहिये। (ii) भारत में औद्योगीकरण करने से बहुमूल्य प्राकृतिक साधन नष्ट होंगे। इससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन (International Division of Labour) अथवा विशिष्टीकरण (Specialization) की संरचना (Structure) टूट जायगी। फलतः भारत के औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी। अतः इन विचारकों के अनुसार भारत को केवल कृषि-व्यवसाय पर ही निर्भर रहना चाहिये तथा इसी पर अपनी समस्त शक्ति और साधन जुटाने चाहियें, क्योंकि प्रकृति ने ही भारत को कृषि के लिये 'विशिष्ट' (Specialize) बनाया है।

वस्तुतः उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों में से दूसरा दृष्टिकोण अत्यधिक दोषपूर्ण एवं निराधार है। प्रकृति ने भारत में औद्योगिक विकास के लिये पर्याप्त खनिज-पदार्थ उपहारस्वरूप दिये हैं। यही नहीं, भारत में औद्योगीकरण का विरोध इस आधार पर भी नहीं किया जा सकता कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का ढाचा नष्ट हो जायगा। वास्तव में विश्व का कोई भी देश किसी एक ही व्यवसाय के लिये 'विशिष्ट' नहीं है। अतः भारत के औद्योगीकरण के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण की सरचना का टूट जाना, एक कल्पना मात्र है। उपरोक्त प्रथम दृष्टिकोण में कुछ सत्यता अवश्य है। वस्तुतः गांधी जी का यह मत था कि देश में केवल लघु-स्तरीय एवं कुटीर-उद्योगों का ही विकास होना चाहिये। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि देश की आर्थिक प्रगति के लिये न केवल लघु-स्तरीय एवं गृह-उद्योगों का विकास ही अनिवार्य है वरन् विशालस्तरीय उद्योगों का विकास भी अपेक्षित है। फिर महात्मा गांधी (Mahatma Gandhi) और उनके अनुयायियों द्वारा बड़े पैमाने के उद्योगों के विरुद्ध दिये गये तर्कों से यह भी स्पष्ट है कि इनमें से बहुत से तर्क निजी-उद्यम के विरोध में हैं। यद्यपि स्वतन्त्र उद्यम-पद्धति के अपने कुछ स्वाभाविक दोष हैं, परन्तु केवल इसी आधार पर औद्योगीकरण को तिलाजलि नहीं दी जा सकती। फिर, सार्वजनिक-क्षेत्र में विशालस्तरीय उद्योगों की स्थापना करके तथा निजी-क्षेत्र के उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण रखकर इन सम्भावित दोषों को दूर

किया जा सकता है। भारत सरकार की औद्योगिक नीति इसी सुझाव का व्यावहारिक स्वरूप है। वस्तुत जहा एक ओर लघु-स्तरीय व कुटीर-उद्योग एव विशालस्तरीय उद्योग एक दूसरे के पूरक (Supplement) हैं, वहा दूसरी ओर कृषि एव उद्योग भी एक दूसरे के पूरक हैं। अत देश मे कृषि व उद्योग तथा लघु-स्तरीय व विशालस्तरीय उद्योगों का साथ ही साथ विकास किया जाना चाहिये।

भारत मे औद्योगीकरण के लाभ (Benefits of Industrialization in India —हमारे देश मे औद्योगीकरण से सम्भावित लाभ इस प्रकार हैं—(i) **कृषि मे उन्नति** —(अ) विगत वर्षों मे हमारे देश मे जैसे-जैसे औद्योगिक विकास हुआ है अथवा कृषि-उत्पादित कच्चे-माल पर निर्भर उद्योगों (चीनी, वस्त्र-उद्योग, जूट-उद्योग आदि) का विकास हुआ है, वैसे ही वैसे देश मे कृषि की व्यापारिक फसलो के उत्पादन मे वृद्धि हुई है। भविष्य मे इन उद्योगो के और भी अधिक विकसित हो जाने पर, व्यापारिक फसलो की उपज स्वत बढ जायगी। (आ) औद्योगीकरण के फलस्वरूप जनसख्या के व्यवसायिक वितरण मे सन्तुलन आ जाता है। यद्यपि अभी तक देश के औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप कृषि-व्यवसाय पर आश्रित जनसख्या के प्रतिशत मे कमी नही हुई है, पर तु भविष्य मे औद्योगीकरण के चर्मोत्कर्ष की स्थिति मे कृषि-व्यवसाय पर आश्रित जनसख्या के प्रतिशत मे कमी होने की पूरी आशा है। (इ) विगत वर्षों मे भारत मे रासायनिक खादो के कारखानो के विकास से, मशीनरी उद्योग मे निर्मित कृषि-यन्त्रों के प्रयोग से तथा औषधियों के कारखानो मे निर्मित कीट-नाशक दवाइयों के प्रयोग से, प्रति एकड कृषि-उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। अत भविष्य मे भी देश के औद्योगिक विकास से कृषि-व्यवसाय मे और भी अधिक उन्नति होने की पूर्ण सम्भावना है। (ii) **देश की अर्थ-व्यवस्था में सुदृढ़ता**—देश की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ एव सन्तुलित बनाने के लिये औद्योगीकरण की नितान्त आवश्यकता है। वस्तुत. भारतीय अर्थ-व्यवस्था की मानसूनी-निर्भरता तथा देश की बेकारी व दुर्भिक्ष की समस्या का अन्त औद्योगीकरण के बल पर ही किया जा सकता है। (iii) **विनियोग की मात्रा मे वृद्धि**—विगत दस वर्षीय नियोजनकाल मे औद्योगिक प्रगति के साथ ही साथ देश में पू जी के विनियोग की मात्रा तथा इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय-बचत की दर मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। भविष्य मे भी देश के औद्योगीकरण के साथ ही साथ पू जी का और भी अधिक मात्रा मे निर्माण होगा जिसके फलस्वरूप कृषि, व्यापार, परिवहन आदि क्षेत्रो मे पर्याप्त विकास हो सकेगा। (iv) **राष्ट्रीय सुरक्षा मे वृद्धि**—वास्तव मे अस्त्र-शस्त्र व गोला-बारूद आदि प्रतिरक्षा से सम्बन्धित उद्योगो के विकास को तिलांजलि देकर, आज के विश्व की कठिन राजनैतिक परिस्थितियो मे, देश की समुचित सुरक्षा की आशा नही की जा सकती। यही नही, आर्थिक विपत्ति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति के समय उद्योग-धन्धो के ही बल पर कोई देश आत्म-पर्याप्त एव स्वावलम्बी रह सकता है। अत भारत मे औद्योगिक विकास के फलस्वरूप देश की अर्थ-व्यवस्था को अधिकाधिक आत्मनिर्भर एव स्वावलम्बी बनाया जा सकता है तथा देश की स्वतन्त्रता को भी सुरक्षित रखा जा सकता है। (v) **राष्ट्रीय आय मे वृद्धि**—औद्योगिक

उत्पादन मे वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। विगत दशाब्दी मे भारत की राष्ट्रीय आय मे ४२ प्रतिशत वृद्धि हुई है और इस वृद्धि के अधिकाश भाग का श्रेय औद्योगिक उत्पादन को ही है। अत भविष्य म भी राष्ट्रीय आय मे आशातीत वृद्धि करने के लिये, देश का औद्योगीकरण एक महत्वपूर्ण अस्त्र होगा। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के फलस्वरूप देश मे प्रतिव्यक्ति औसत आय म वृद्धि हो जाती है। फलत भारतीय नागरिको का जीवन-स्तर ऊ चा उठ सकेगा। (vi) **करदेयक्षमता मे वृद्धि**—जनता की करदेयक्षमता (Taxable Capacity) मे वृद्धि लाने के लिये, देश का औद्योगिक विकास एक प्रभावशाली साधन है। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय और प्रतिव्यक्ति औसत आय म वृद्धि होती है। अत नागरिको की कर देयक्षमता अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है। इस प्रकार सरकार उद्योगपतियो पर भारी प्रत्यक्ष कर लगाकर तथा देश के अन्य नागरिको पर उनकी बढती हुई करदेय क्षमता के आधार पर कर लगाकर अधिक मात्रा मे धन एकत्रित कर सकती है और इस प्रकार जन-कल्याण कार्यों को सम्पन्न करने मे सरकार अधिकाधिक भाग ले सकती है। (vii) **उपभोक्ताओं को लाभ एव सामाजिक प्रगति**—मशीनो द्वारा वस्तुओ की उत्पत्ति कम लागत पर होने से उपभोक्ताओं को इनकी उपलब्धि कम मूल्य पर सभव होती है। फलत उपभोक्ता अपनी सीमित आय से पहल की अपेक्षा अधिक आवश्यक ताओ की सन्तुष्टि कर सकते हैं। हमारे देश मे औद्योगिक विकास के फलस्वरूप नागरिको के उपभोग-स्तर मे पर्याप्त वृद्धि हुई है और भविष्य मे उपभोग-स्तर मे और भी अधिक सुधार होने की आशा है। अत देश के औद्योगीकरण के फलस्वरूप सामा जिक, राजनैतिक एव आर्थिक प्रत्येक क्षेत्र मे प्रगति की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप देश के कृषको मे निष्क्रियता, भाग्यवादिता, आलस्यता एव हीनता के भावो का अन्त होगा और इनके स्थान पर स्वावलम्बन, आत्म-गौरव, आत्म निर्भरता एव उच्चता के भावो का जन्म और विकास होगा। अत यह कहना कि भारत की आर्थिक प्रगति औद्योगीकरण मे अन्तर्निहित है, अत्युक्ति पूर्ण नही है।

भारत में औद्योगिकरण की सम्भावनायें (Possibilities of Industrialization in India)—किसी देश म औद्योगिक विकास के लिए भूमि, श्रम, पू जी कच्चा-माल, साहसी, व्यवस्थापक, चालक-शक्ति, परिवहन के समुन्नत साधन एव विकसित बाजार का होना अत्यावश्यक है। हमारे देश म इन साधनो की उपलब्धि इस प्रकार है— (i) **भूमि**—भारत का क्षेत्रफल लगभग १२,५६,७१६ वर्गमील है। यह क्षेत्र-फल औद्योगिक-क्षेत्र मे पूर्ण विकसित देश ब्रिटेन का १४ गुना और जापान का ६ गुना है। यही नहीं, यूरोप के अनेक औद्योगिक देश, जैसे—फ्रास, इगलैंड आयरलैंड, बेल्जियम हालैण्ड, जर्मनी, डेनमार्क, आस्ट्रिया हगरी, स्पेन आदि भारत के क्षेत्रफल म समा सकते हैं। अत औद्योगिक विकास की प्रथम आवश्यक दशा "भूमि" की हमारे देश म पर्याप्तता है। (ii) **श्रम**—यद्यपि गुणात्मक दृष्टि से हमारे देश म कुशल श्रम की

अपर्याप्तता है, तथापि सख्यात्मक दृष्टि से श्रम-शक्ति की पर्याप्तता है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसख्या ४३ ८० करोड है। वस्तुत. विश्व की समस्त जनसख्या का ⅙ वा भाग भारत मे निवास करता है। अत देश मे औद्योगिक विकास करने के लिये श्रम-शक्ति को प्रशिक्षित एव कुशल बनाने की आवश्यकता है। देश की पचवर्षीय योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिये श्रमिको के प्रशिक्षण कार्य-क्रम के द्वारा भविष्य मे तकनीकी एव कुशल श्रम की उपलब्धि की पूर्ण सम्भावना है। (iii) **पूंजी**—औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक साधन 'पूंजी" की भारत मे अपर्याप्तता है। देश मे अनेक उद्योगो का सगठ विदेशी सहायता से किया गया है और भावी योजनाओ मे भी विदेशी सहायता द्वारा औद्योगीकरण मे महत्वपूर्ण योग-दान करने की सम्भावना है। दूसरी योजनावधि मे विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के ७ प्रतिशत भाग से बढकर ११ प्रतिशत भाग हो गई। तीसरी योजना मे विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के ११ प्रतिशत भाग से बढकर १४ प्रतिशत भाग हो जायगी। चूकि हमारे देश मे बचत की दर बहुत कम है, इसलिए योजनाओ के कार्यक्रमो को पूरा करने के लिये बडी मात्रा मे विदेशी सहायता लेनी पडती है। सन् १९६०–६१ मे देशी बचत की दर राष्ट्रीय आय का ८ ५ प्रतिशत भाग थी जो तीसरी योजना के अन्त तक लगभग ११ ५ प्रतिशत हो जाएगी। यह आशा की जाती है कि देश की योजनाओ के अन्तर्गत बढ रही विनियोग की मात्रा से भविष्य म पूजी का निर्माण अधिकाधिक मात्रा मे हो सकेगा और इस प्रकार देश के औद्योगीकरण के लिए स्वदेशी पूजी पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध हो सकेगी। (iv) **कच्चा-माल**:—कच्चे-माल की दृष्टि से भारत की स्थिति पर्याप्त सुदृढ है। हमारे देश मे कच्चा लोहा, अभ्रक, मैंगनीज, क्रोमियम, बाक्साइट आदि खनिज-पदार्थों के अक्षय भण्डार हैं। अनेक खनिजों पर भारत को एकाधिकार-सा प्राप्त है। अत खनिज पदार्थों से सम्बन्धित उद्योगों के पूर्ण विकास की साकार कल्पना सम्भव है। इसके अतिरिक्त भारत के वनो से अनेक प्रकार की वस्तुए लाख, कागज, चमडा और दियासलाई आदि उद्योगो मे कच्चे-माल के रूप मे प्रयुक्त होती है। जहा तक कृषि-व्यवसाय द्वारा उत्पादित कच्चे-माल पर आश्रित उद्योगो, जैसे—चीनी, सूती वस्त्र, पटसन आदि का सम्बन्ध है, इन उद्योगो के विकास के लिए कृषि-व्यवसाय मे अधिकाधिक मात्रा मे व्यापारिक फसलें उपजाकर पर्याप्त कच्चा-माल प्राप्त किया जा सकता है। (v) **चालक-शक्ति**—भारत मे चालक-साधन के रूप मे पशु-शक्ति व मानव शक्ति का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त कोयला-शक्ति की भी देश मे पर्याप्तता है। भविष्य मे सूर्य-शक्ति एव अणु-शक्ति के उपयोग की भी पूर्ण सम्भावना है। यही नही, भविष्य मे वनो के विकास के फलस्वरूप थोडी-बहुत मात्रा मे ईधन शक्ति का भी उपयोग हो सकेगा। हमारे देश मे जल-शक्ति भी अक्षय भण्डार है। अमेरिका, कनाडा, और रूस को छोडकर विश्व के अन्य देशो की अपेक्षा हमारे देश मे जल विद्युत-शक्ति के सर्वाधिक विकास की सम्भावना है। यद्यपि हमारे देश मे पैट्रोल व प्राकृतिक गैस के

साधनों की अपर्याप्तता है, परन्तु उद्योगो मे कृत्रिम एल्कोहल का उत्पादन बढाकर इस अभाव की पूर्ति की जाने की पूर्ण आशा है। अत. स्पष्ट है कि चालक शक्ति की दृष्टि से भारत म औद्योगिक-चर्मोत्कर्ष की पूर्ण सम्भावना है। (vi) **परिवहन एव सचार के समुन्नत साधन**—यद्यपि अभी तक हमारे देश मे परिवहन एव सचार के साधन सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं, तथापि देश की भावी योजनाओ मे इस क्षेत्र मे *पर्याप्त विकास की पूर्ण आशा है।* अन्तत यातायात एव सम्वादवहन के साधनों के प्रसार के साथ ही साथ देश मे औद्योगीकरण का प्रसार भी होता जाएगा। (vii) **मशीन एव मूल रसायन**—भारत मे मशीनो एव मूल रसायनो की अपर्याप्तता है और इनकी पूर्ति के लिये विदेशी आयात पर निर्भर रहना पडता है। विगत योजनाओ मे मशीनरी एव मूल रसायन सम्बन्धी कुछ उद्योगो की स्थापना हुई है तथा देश म इनके उत्पादन मे आशातीत वृद्धि भी हुई है। देश की भावी योजनाओ में इन उद्योगो का अधिकाधिक विस्तार एव विकास करके इस अभाव की पूर्ति की पूर्ण सम्भावना है। (viii) **साहसी और व्यवस्थापक**—किसी देश मे औद्योगिक इकाइयो की स्थापना के लिये योग्य साहसियो तथा प्रशिक्षित प्रबन्धको की नितान्त आवश्यकता होती है। हमारे देश मे कुशल साहसियो एव योग्य प्रबन्धको का पूर्णत अभाव है। अत सरकार को सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो के सचालन के लिए विदेशी व्यवस्थापक बुलाने पडते हैं। इस समय हमारे देश मे प्रशिक्षण-सुविधाओं मे वृद्धि की जा रही है और आशा है *कि शीघ्र ही सुयोग्य प्रबन्धकों की सख्या मे पर्याप्त वृद्धि हो जायगी।* (ix) **व्यवस्थित बाजारः**—उद्योग धन्धों द्वारा उत्पादित माल की खपत के लिये सुसगठित बाजार का होना नितान्त आवश्यक होता है। देश की विशाल जनसख्या उद्योगों के उत्पादन की खपत के लिए एक विस्तृत एव स्थाई बाजार प्रदान करती है। देश की जनसख्या की क्रयशक्ति मे शनैं शनैं वृद्धि होने से उद्योगो मे निर्मित माल की खपत की मात्रा में भी वृद्धि होती चली जायगी। (x) **सरकारी सहायता**—किसी देश का औद्योगीकरण किसी सीमा तक राजकीय नीति अथवा राजकीय *सहयोग पर निर्भर रहता है।* ब्रिटिश शासनकाल मे सरकार की असहयोगी एव पक्षपातपूर्ण नीति के फलस्वरूप भारत में उद्योग-धन्धों का विकास नही हो सका। जथार और बेरी (Jathar and Berry) के शब्दो मे "अभी तक भारत मे औद्योगिक-विकास की समस्या आर्थिक न होकर राजनैतिक ही अधिक थी।" स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने, अपनी पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत, उद्योगों की प्रगति के लिये प्रशसनीय कदम उठाये हैं। सार्वजनिक-क्षेत्र में *उद्योगो की स्थापना* के अतिरिक्त, भारत सरकार ने निजी-क्षेत्र के उद्योगो को भी सहायता देने का अपूर्व प्रयास किया है। अत प्रत्येक दृष्टिकोण से भारत में औद्योगीकरण की सम्भावना का भविष्य उज्जवल है।

भारत मे औद्योगिक विकास का इतिहास

(History of Industrial Development in India)

(१) सन् १८५० से १९१४ तक —१७ वी और १८वी शताब्दी मे हमारे

देश मे कुटीर एव लघु स्तरीय-उद्योग अपनी चर्मोत्कर्ष की सीमा को प्राप्त थे। उस समय भारत को "विश्व की औद्योगिक कार्यशाला" (Industrial Workshop of the World) कहा जाता था। ईस्ट इ डिया कम्पनी और तद्पश्चात् ब्रिटिश सरकार की स्वार्थपरायणता से प्रेरित अबन्ध व्यापार नीति (Laissez Faire Policy) के कारण, देश के कुटीर उद्योगों का तेजी से पतन हुआ और सन् १८८१ तक इन उद्योगों का देश से नाम तक उठ गया। १९ वीं शताब्दी के तृतीय दशक (Decade) से देश मे वृहत्स्तरीय उद्योगों की आरम्भना हुई। सन् १८३० के लगभग चाय के उद्योग को बडे पैमाने पर सर्वप्रथम सगठित किया गया था। फैक्ट्री उद्योग का प्रारम्भ सर्वप्रथम बम्बई मे सन १८५३ में सूती मिल खुलने से हुआ। सन् १८५३ से लेकर सन् १९०० तक देश मे अनेक वस्त्र और जूट के कारखानो की स्थापना हुई तथा खानो से कोयला निकालने का कार्यारम्भ भी हुआ। २० वी शताब्दी के प्रारम्भ मे, स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाववश, देश मे औद्योगीकरण को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इस अवधि मे साबुन, तेल, दियासलाई, पैंसिल आदि अनेक छोटे-बडे कारखाने स्थापित हुये। सन् १९०४ मे लोहा व इस्पात उद्योग की स्थापना हुई। डा० बुकेनन (Dr Vucanan) के मतानुसार सन् १८९० से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध तक, 'सूती मिलो मे तकुओ की सख्या दुगनी से अधिक हो गई और करघो की सख्या चौगुनी हो गई, जूट मिल के करघो मे ४½ गुनी वृद्धि हो गई, कोयले के उत्पादन मे ६ गुनी वृद्धि हो गई तथा रेलो का विस्तार' ८०० मील प्रति वर्ष की दर से हुआ था।" डा० सी० पी० श्रीवास्तव (Dr C P. Srivastava) के शब्दो मे, "सन् १९११ की औद्योगिक गणना के अनुसार उस समय ७,११३ मिलों मे से केवल ४,५९९ अथवा ⅔ से भी कम करखानो मे यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग हो रहा था और औद्योगिक जनसख्या का ८१ प्रतिशत से भी अधिक भाग बागान, सूती व अन्य बुनाई की मिलो, खान व यातायात आदि उद्योगो मे कार्य कर रहा था"। वस्तुत इस अवधि में सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति, पू जी का अभाव, प्रशिक्षित कर्मचारियो एव सुयोग्य व्यवस्थापको व प्रबन्धको के अभाव के कारण देश मे औद्योगीकरण की-गति अत्यन्त मन्द रही।

(२) सन् १९१४ से १९३९ तक :—प्रथम महायुद्धकाल मे आयात बन्द हो जाने के कारण, ब्रिटिश सरकार देश मे औद्योगिक विकास की ओर आकृष्ट हुई। कुछ प्रान्तो मे उद्योग-विभाग (Department of Industries) खोले गये और सन् १९१६ मे भारत सरकार ने उद्योग-सम्बन्धी विषयो पर आवश्यक परामर्श देने के लिये एक औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) की नियुक्ति की। आयोग की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने 'भारत रक्षा अधिनियम' के अन्तर्गत युद्ध-सामग्री के निर्माण, रक्षा एव नियन्त्रण के लिये सन् १९१७ मे एक भारतीय युद्ध सामग्री बोर्ड (Indian Munition Board) की स्थापना की। इन सब प्रयत्नो के फलस्वरूप सूत, जूट, लोहा व इस्पात, चमडा, ऊन, कागज, रग व वार्निश, तेल,

रासायनिक पदार्थ तथा इन्जीनियरिंग आदि उद्योगों का पर्याप्त विकास हुआ। युद्ध की समाप्ति के साथ ही भारतीय उद्योगों की प्रगति अवनति मे परिणित हो गई। अत भारत सरकार ने उद्योगो के विकास सम्बन्धी सुझाव देने के लिये वित्त-आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की। आयोग ने भारतीय उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिये दो मार्ग अपनाने पर बल डाला —(अ) सरकार द्वारा भारतीय उद्योगो को अर्थ-सहायता दी जाय तथा (आ) विदेशो से आने वाले माल पर आयात कर लगा दिये जायें। ब्रिटिश सरकार ने किसी सीमा तक इन सुझावो को मानकर व्यवहारिक रूप दिया। फलत चीनी, इस्पात, सूती वस्त्र, कागज और दियासलाई के उद्योग पुन तीव्रगति से प्रगति करने लगे। सन् १९३२ मे ब्रिटिश सरकार ने एक नई नीति अपनाई जिसके अन्तर्गत विदेशो से आने वाले सामान पर आयात-कर म ब्रिटिश माल को विशेष छूट दी जाने लगी। अत इगलैंड का माल भारतीय उद्योगो से पुन भीषण प्रतिस्पर्धा करने लगा। इसी काल मे सन् १९२९ ३३ के बीच मे आने वाली विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप देश के औद्योगिक विकास पर तीव्र आघात पहुचा।

(३) सन् १९३९ से १९४७ तक :—द्वितीय महायुद्धकाल मे औद्योगिक उत्पादन की माग बढ जाने से भारतीय उद्योगो ने पर्याप्त प्रगति की। सन् १९४० मे उद्योगो को नई उत्पादन विधियो अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से सलाह देने के लिये एक औद्योगिक एव वैज्ञानिक अनुसधान बोर्ड (Industrial and Scientific Research Board) की स्थापना हुई। सन १९३९ से १९४७ तक की अवधि म लगभग १२ सूती वस्त्र मिलें स्थापित हुई तथा सूती वस्त्र का उत्पादन सन १९३९ मे ४११ करोड गज से बढकर सन् १९४५ म ४७० करोड गज हो गया। सन् १९३९ से १९४३ तक की अवधि मे इस्पात के उत्पादन मे ३८ प्रतिशत सीमेन्ट के उत्पादन मे ४५ प्रतिशत और चीनी के उत्पादन म ३० प्रतिशत वृद्धि हुई। आयात औषधियो का लगभग ७५ प्रतिशत भाग देश मे ही उत्पादित होने लगा। कागज का उत्पादन सन् १९२९ मे ६७ हजार टन से बढकर सन् १९४५ मे १०९ हजार टन हो गया। देश मे औद्योगिक उत्पादन का सूचनाक सन् १९३९ मे १०२७ (सन् १९३५ को आधार वर्ष मानकर) से बढकर न् १९४५ मे १२० हो गया।

(४) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत मे उद्योगों का विकास (Industrial Development in India after Independence) :—देश के विभाजन का प्रभाव भारतीय उद्योगो के लिये बहुत घातक सिद्ध हुआ। विभाजन मे कपास के उत्पादक क्षेत्र, सिंध और पश्चिमी पजाब पाकिस्तान मे चले गये। फलत सूती वस्त्र उद्योग के सामने कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति की समस्या उठ खडी हुई। इसी प्रकार जूट के उत्पादन का लगभग ७५ प्रतिशत क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया, जबकि जूट की लगभग सभी मिलें भारत म रह गई। औद्योगिक विकास के उपायो पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के उद्देश्य मे भारत सरकार ने दिसम्बर १९४७ मे एक औद्यो-

गिक सम्मेलन (Industrial Conference) का आयोजन किया। ६ अप्रैल सन् १९४८ को सरकार ने अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति से भारतीय उद्योगों के इतिहास में एक नये इतिहास का प्रारम्भ हुआ। सन् १९४७ से लेकर सन् १९५० तक देश में औद्योगिक विकास की गति अत्यन्त मन्द रही। सन् १९५१ में केन्द्रीय सरकार ने उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम [Industries (Development and Regulation) Act] पास किया। इस एक्ट के अन्तर्गत एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (Central Advisory Council) की स्थापना की गई। इस परिषद् का कार्य केन्द्रीय सरकार को औद्योगीकरण से सम्बन्धित आवश्यक परामर्श देना है। अप्रैल सन् १९५१ से भारत की प्रथम योजना कार्यान्वित की गई। विगत नियोजनकाल में भारत की औद्योगिक प्रगति के विवरण को हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाट लेते हैं — (अ) कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों की प्रगति तथा (आ) वृहद् स्तरीय उद्योगों की प्रगति।

(अ) विगत नियोजन काल में कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों की प्रगति : — (i) प्रथम और द्वितीय योजनाकाल में ग्रामोद्योग एवं लघु-उद्योगों ने देश में रोजगार बढ़ाने, उत्पादन में वृद्धि करने और आय के अधिक उचित वितरण के उद्देश्यों की दिशा में पर्याप्त महत्वपूर्ण योगदान किया है। (ii) प्रथम योजनावधि में हाथकरघा उद्योग, खादी और ग्रामोद्योग, रेशम, नारियल रेशा, दस्तकारी और लघु-स्तरीय उद्योगों के विकास के कार्यक्रमों में सहायता करने एवं परामर्श देने के लिये अखिल भारतीय मण्डलों की स्थापना करके इन उद्योगों की प्रगति के लिये एक बड़ा कदम उठाया गया। इस काल में विकास कार्यों का एक महत्वपूर्ण अंग इन उद्योगों में लगे हुये शिल्पियों को विविध रूप, जैसे— प्रशिक्षण सुविधायें, तकनीकी परामर्श, सुधरे हुये औजार आसान किस्तों पर देने का प्रबन्ध और बिक्री की दुकानों की स्थापना करना आदि के रूप में सहायता पहुंचाना था। दूसरी योजनावधि में इन सब में बहुत अधिक वृद्धि कर दी गई। प्रथम और दूसरी योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत लघु एवं कुटीर-उद्योगों पर क्रमशः ४३ करोड़ रुपये और १८० करोड़ रुपये व्यय किये गये। (iii) विगत नियोजनकाल में ग्रामोद्योगों एवं लघु-उद्योगों के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई। हाथकरघे के वस्त्र का उत्पादन सन् १९५०-५१ में ७४२ करोड़ गज से बढ़कर सन् १९६०-६१ में लगभग १९० करोड़ गज हो गया। इस अवधि में लगभग ३० लाख बुनकरों को पहले से अधिक रोजगार मिला। सहकारी समितियों में हाथकरघों की संख्या सन् १९५३ में ७ लाख से बढ़कर सन् १९६० के मध्य तक १३ लाख हो गई। खादी (सूती, रेशमी व ऊनी) का उत्पादन सन् १९५०-५१ में ७० से लाख गज बढ़कर सन् १९६०-६१ में ४८० लाख गज हो गया। अम्बर खादी का उत्पादन सन् १९५६-५७ में १६ लाख गज से बढ़कर सन् १९६०-६१ में लगभग २६० लाख गज हो गया। इन कार्यक्रमों से लगभग १४ लाख कातने वालों को अर्द्ध-रोजगार मिला और लगभग १.६ लाख बुनकरों व बढ़इयों इत्यादि को पूर्ण रोजगार

प्राप्त हुआ (iv) ग्रामोद्योगो के कार्यक्रमो से दूसरी योजनावधि मे लगभग ५ लाख शिल्पकारो और गावो की महिला श्रमिको को कुछ रोजगार मिला। दूसरी योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिये खादी-योजना एव ग्रामोद्योगो के सघन विकास के लिये एक सघन क्षेत्र योजना चलाई गई। कच्चे रेशम का उत्पादन सन् १९५१ के २५ लाख पौंड से बढकर सन् १९६० मे ३६ लाख पौंड हो गया। एक अनुमान के अनुसार दूसरी योजना के अन्त मे इस उद्योग मे ३५,००० व्यक्तियो को पूर्ण रोजगार तथा लगभग २७ लाख व्यक्तियो को आंशिक रोजगार (Part Time Empolyment) मिला। नारियल के रेशे के धागे और सामान का निर्यात सन् १९६०-६१ मे प्रथम योजना के अन्त के स्तर से नीचा रहा। इस उद्योग मे इस समय लगभग ८ लाख व्यक्ति रोजगार पा रहे हैं। विगत नियोजन-काल मे दस्तकारियो की वस्तुओ की देश और विदेश दोनो मे बिक्री बढ़ी है। एक अनुमान के अनुसार लगभग ६ करोड रु० प्रतिवर्ष का समान दूसरी पचवर्षीय योजना के अन्तिम ३ वर्षों मे विदेश भेजा गया। (v) दूसरी योजनावधि मे अनेक छोटे उद्योग जैसे—मशीनी औजार, सिलाई की मशीन, विद्युत पखे और मोटरें, साइकिलें, राजगीरो के औजार तथा लोहे की वस्तुओ के उत्पादन मे २५ प्रतिशत से ५० प्रतिशत तक प्रति वर्ष वृद्धि हुई। छोटे उद्योगपतियो को किस्तो पर मशीन देने के लिये एक औद्योगिक-विस्तार सेवा प्रारम्भ की गई जिसमे लगभग ४२ करोड रु० की मशीनें उधार-क्रय (Hire Purchase) की शर्तों पर दी गई। दूसरी योजनाकाल मे छोटे कारखानो ने निर्यात के लिये ६ लाख जोडी जूते तैयार किये। सन् १९६०-६१ तक औद्योगिक क्षेत्रो मे लगभग ६० औद्योगिक बस्तियो (Industrial Colonies) पूरी हो गई जिनमे लगभग १,०३५ कारखाने थे और इन कारखानों मे १३ हजार व्यक्ति काम करते थे।

तीसरी योजना का मार्ग निर्धारण.—वस्तुतः कुटीर एव लघु-उद्योगो के क्षेत्र मे नियोजन का एक प्रमुख लक्ष्य शिल्पियो को उत्पादन की नई विधि अपनाने मे सहयोग देना है और इनके सगठनों को अधिक कार्यकुशल बनाना है जिससे देश की साधारण जनता के आर्थिक विकास के फलस्वरूप जो सुविधायें एव सेवायें उपलब्ध हो, उनसे पूरा लाभ उठाया जा सके और कुछ अवधि के पश्चात् यह सम्पूर्ण क्षेत्र आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी बन जाए। परन्तु इसके साथ ही साथ बड़े पैमाने की प्राविधिक बेरोजगारी (Technical Unemployment) को बचाने के लिए प्राविधिक परिवर्तन पर नियत्रण रखना आवश्यक है। इसलिए इन उद्योगो की समस्याओ पर पुनर्विचार करने और आवश्यक उपाय करने की आवश्यकता है जिससे ये उद्योग राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के आवश्यक एव अभिन्न अग के रूप मे अपना पूरा योगदान कर सकें। तीसरी योजना मे **ग्रामोद्योगों एवं लघु-उद्योगों के कार्यक्रम मे प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार रक्खे गए हैं**:— (1) शिल्पकार की उत्पादन क्षमता बढाने और उसे कार्यकुशल बनाने, प्राविधिक परामर्श देने, बढिया औजार और ऋण आदि

की सहायता देकर उत्पादन व्यय घटाने मे सहयोग देना। (ii) विपणन व उत्पादन मे सहायता देना और मध्यस्थों द्वारा विक्रय को शनैं शनैं समाप्त करना। (iii) गावों और छोटे कस्बो में उद्योगों की वृद्धि को प्रोत्साहन देना। (iv) छोटे उद्योगो का बडे उद्योगो के सहायक के रूप म विकास करना तथा (v) शिल्पियो की सहकारी समितियां बनाना। **इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये तृतीय योजनावधि मे मुख्य नीति व उपाय इस प्रकार अपनाये जायेंगे** (i) प्राविधिक एव प्रबन्धकीय कार्यकर्त्ताओं को तयार करने के लिये तीसरी योजना म प्रशिक्षण की सुविधाए बढाने का व्यापक कार्यक्रम रक्खा गया है। औद्योगिक-विस्तार तकनीक का प्रशिक्षण देने के लिये एक अखिल भारतीय संस्था बनाई जायगी। (ii) योजनावधि म साधारण बैंकिंग व अन्य सस्थाओ से शिल्पकारों को ऋण देने की सुविधाओ का और अधिक विस्तार किया जायगा और उन्हे उचित शर्तों पर तथा न्यूनतम समय मे ऋण दिया जायगा। (iii) योजनाकाल म संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम के साधारण नियमो को उद्योग विशेष की समस्याओ का पूरा अध्ययन और बातचीत करने के बाद लागू किया जायगा। (iv) यद्यपि व्यवहार्य सहायता के कार्यक्रमों के क्रमिक विकास से यह पूर्ण आशा है कि तीसरी योजना म कुटीर एव लघु-उद्योगो को सरकारी सहायता और बिक्री म छूट की आवश्यकता कम हो जायगी, फिर भी कुछ पारस्परिक उद्योगो को इस प्रकार की सहायता देने और उनम बने माल के लिये बाजार ढूढने आदि के उपायो को अन्य लघु उद्योगो की अपेक्षा अधिक समय तक जारी रखने की व्यवस्था की जायगी। (v) तीसरी योजनावधि म ग्रामीण क्षेत्रो और छोटे कस्बो म तथा ऐसे कम विकसित क्षेत्रो मे जहा कुटीर एव लघु-उद्योग चालने की स्पष्ट सम्भावनाएँ हैं, इन उद्योगो की और अधिक वृद्धि को प्रोत्साहन दिया जायगा। (vi) नियोजन काल मे सार्वजनिक एव निजी दोनो क्षेत्रो मे बडे कारखानो और छोटे छोटे कारखानो मे पारस्परिक सहयोग बढाया जायगा। (vii) योजनावधि मे वर्तमान औद्योगिक सहकारी सस्थाओ के सगठन और पूजी को सुदृढ बनाने तथा अधिकाधिक शिल्पियो को उनका सदस्य बनाने पर जोर दिया जायगा। (viii) योजनावधि मे इन विभिन्न कार्यक्रमो को चलाने वाली विभिन्न एजेन्सियो एव मण्डलो के कार्यों मे समन्वय लाने की व्यवस्था की जायगी।

तीसरी योजना मे कुटीर एवं लघु स्तरीय उद्योगों के विकास के मुख्य कार्य क्रम इस प्रकार रक्खे गये है—(i) व्यय—इस योजना मे ग्रामोद्योगो एवं लघु-उद्योगो के विकास पर २६४ करोड रु० व्यय करने का प्रस्ताव रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास कार्यक्रम (Community Development Programme) म भी इन उद्योगो के विकास के लिये २० करोड रु० की व्यवस्था की गई है। निजी क्षेत्र मे, जिन मे बैंक भी सम्मिलित हैं, इन उद्योगो पर २७५ करोड रु० व्यय किये जाने का अनुमान है। (ii) हाथ करघा और विद्युत् करघा उद्योग – तीसरी योजना म हाथ करघो पर बुनने वाले जुलाहो को पहले से अधिक काम दकर, उन्हे सहकारी समितियों की

हस्सा-पूंजी के लिये ऋण देकर और सुधरे हुए तरीकों को अपनाने पर महत्व देकर उनकी स्थिति को ऊंचा उठाया जायगा। इसके अतिरिक्त बिक्री-छूट आदि के महत्व को कम करके तथा उद्योग को दृढ बनाने वाली अन्य प्रकार की सहायता देकर, अशक्त औद्योगिक सहकारी समितियों को सक्षम बनाया जायगा। सहकारी समितियों में सम्मिलित बुनकरों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये योजनाकाल में ९ हजार विद्युत के करघे लगाये जायेंगे। सन् १९६५-६६ में वस्त्र के कुल उत्पादन का लक्ष्य ५३० करोड गज है जिसमें हाथ-करघा, विद्युत करघा और खादी उद्योग का भाग ३५० करोड गज रक्खा गया है। (iii) **पारम्परिक एवं अम्बर खादी** —खादी और ग्रामोद्योग आयोग (Khadi and Village Industries Commission) ने सघन क्षेत्रों या ग्राम इकाइयों के रूप में ग्रामीण विकास का जो कार्यक्रम बनाया है, उसी के अनुसार तीसरी योजना में खादी के विकास का कार्यक्रम रक्खा गया है। इस कार्यक्रम में ३ हजार ग्राम इकाई खोलने का प्रस्ताव है जिसमें से प्रत्येक में १ अथवा १ से अधिक गांव होंगे लेकिन जिनकी अधिकतम जनसंख्या ५ हजार होगी। सन् १९६५-६६ में खादी का कुल उत्पादन बढ़ाकर १६ करोड़ गज करने का लक्ष्य है। (iv) **ग्रामोद्योग** —खादी और ग्रामोद्योग आयोग ने सघन जनसंख्या वाले क्षेत्रों के लिये ग्रामोद्योगों के कार्यक्रम बनाये हैं जिनका लक्ष्य स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करना है। ये विकास कार्यक्रम हैं -धान को हाथ से कूटने तिलहन से तेल निकालने, चमडा, रंगने, दियासलाई बनाने, गुड़ व खाँडसारी, मधुमक्खी पालन, ताड़ गुड़, हाथ से कागज बनाना आदि उद्योगों के नये उत्पादन-केन्द्र खोलने तथा इन्हें सुधरे हुए औजार देने हैं। इन कार्यक्रमों को तीसरी योजनाकाल में और भी आगे बढाया जायगा। (v) **रेशम उद्योग** —योजना काल में रेशम-उद्योग के विकास कार्यक्रम में उत्पादन-व्यय में कमी करने, उचित विपणन-संगठन तैयार करने, निरोग अण्डे उपलब्ध कराने तथा निर्यात बढ़ाने की सम्भावनाओं की खोज करने पर बल दिया जायगा। शहतूत और गैर शहतूत वाली रेशम का उत्पादन सन् १९६० में ३६ लाख पौंड से बढ़कर सन् १९६५-६६ में ५० लाख पौंड होने की आशा है। (vi) **नारियल रेशा उद्योग** —योजनावधि में इस उद्योग के माल का निर्यात बढ़ाने और सहकारी संस्थाओं को दृढ आधार पर संगठित करने पर विशेष बल दिया जायगा। (vii) **दस्तकारियां** —अखिल भारतीय दस्तकारी मण्डल ने १२ चुनी दस्तकारियों के विकास के लिये जो विशेष कार्यक्रम बनाये है, तीसरी योजना में उन्हीं को व्यवहरित करने का प्रस्ताव रक्खा गया है। योजना काल में दस्तकारी विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत दस्तकारों को सहकारी समितियों में संगठित करना, बाहर भेजे जाने से पहले वस्तुओं का निरीक्षण तथा निर्यात करने वालों को ऋण-सुविधा, डिजाइन तैयार करने के केन्द्रों की व्यवस्था, अन्तर्राज्य व्यापार को प्रोत्साहन, प्रशिक्षण सुविधाओं की व्यवस्था, बिक्री सम्बन्धी अनुसन्धान और विक्रय भण्डारों का प्रबन्ध और बिक्री सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था आदि कार्य किये जायेंगे।

(viii) लघु उद्योग.—दूसरी योजनावधि मे प्राविधिक परामर्श देने, उधार-वित्त और प्रशिक्षण सुविधायें, मशीनें देने, विपणन की व्यवस्था और कच्चे-माल की उपलब्धि आदि की व्यवस्था करने के जो कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये थे, उन्हें तीसरी योजना मे और अधिक विस्तृत किया जायगा। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारें इन उद्योगों से सम्बन्धित कठिनाई में मिलने वाले कच्चे माल के भण्डारों की व्यवस्था करेगी। (ix) औद्योगिक बस्तियां—तीसरी योजना म ३०० नई औद्योगिक बस्तियां (Industrial Estates) खोलने का प्रस्ताव रक्खा गया है। योजना के अन्तर्गत बड़े उद्योगों के आस-पास इनके सहायक के रूप मे पनप सकने वाले, एक ही प्रकार के लघु-उद्योगों की बस्तियां खोलने का सुझाव रक्खा गया है। (x) रोजगार:—तीसरी योजना मे सार्वजनिक और निजी क्षेत्रो मे, लघु एवं कुटीर-उद्योगों के विकास कार्यक्रम म लगभग ८० लाख व्यक्तियो को आंशिक रोजगार मिलने तथा ६ लाख व्यक्तियो को पूर्ण रोजगार मिलने की आशा है।

(आ) विगत नियोजन काल में वृहत्स्तरीय उद्योगो की प्रगति—(i) विगत १० वर्षों म और विशेषकर दूसरी योजनावधि में वृहत्स्तरीय उद्योगों का बहुत तीव्रता से विकास हुआ है। फलत देश मे अनेक प्रकार के उद्योग स्थापित किये गये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र मे तीन नये इस्पात के कारखाने खोले गये हैं तथा निजी-क्षेत्र के उद्योगों का आकार दुगना कर दिया गया है। विद्युत के भारी सामान, भारी मशीनरी यन्त्र और भारी मशीनो को बनाने वाले कारखानों की नींव डाल दी गई है। रसायन उद्योगो म उर्वरकों और बुनियादी रसायन का उत्पादन पर्याप्त बढाया गया है और यूरिया, पैनेसिलीन, नकली रेशे, औद्योगिक विस्फोटक, रंग-रोगन और अखबारी कागज जैसे नए पदार्थों का भी बनाना आरम्भ हो गया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेकों उद्योगो के उत्पादन म आशातीत वृद्धि हुई है। विगत १० वर्षों से संगठित उद्योगों का उत्पादन लगभग दुगना हो गया है और औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक जो सन् १९५०-५१ में १०० था, सन् १९६०-६१ में बढकर १९४ तक पहुँच गया। (ii) औद्योगिक उत्पादन में दूसरी ओर कुछ कमियां भी शेष रह गई हैं, जैसे—सन् १९६०-६१ मे तैयार इस्पात का उत्पादन केवल २२ लाख टन था जबकि दूसरी योजना का निर्धारित लक्ष्य ४५ लाख टन था। इसी प्रकार कुछ अन्य उद्योगों मे योजना मे निर्धारित लक्ष्य पूरा नही हो सका है। उर्वरक आदि के कुछ महत्वपूर्ण कारखानो के पूरे होने मे भी देर लगी है। (iii) विगत १० वर्षों मे उद्योगो को देश भर मे फैलाने म भी सफलता मिली है। इस अवधि मे सार्वजनिक क्षेत्र म अनेक कारखाने खोले गये जिनमे म भिलाई, राऊरकेला और दुर्गापुर में इस्पात के कारखाने और रांची म भारी मशीन का कारखाना, भोपाल में विद्युत के भारी सामान का कारखाना, नेवेली म लिगनाइट का कारखाना, सिन्दरी मे रासायनिक खाद का कारखाना विशाखापत्तनम् मे हिन्दुस्तान पोत निर्माण (Shipbuilding) का कारखाना, जालाहाली में कल पुर्जों का कारखाना और बर्दवान म

टेलीफोन-तार का कारखाना मुख्य हैं। (iv) सन् १९५२ के पश्चात् भारी रासायनिक इ जीनियरिंग, साइकिल, चीनी, भारी विद्युत मशीनें, दवायें, कृत्रिम सिल्क और ऊन आदि उद्योगो के लिये विकास परिषदें (Development Councils) स्थापित की गई, जिन्होंने द्वितीय योजनावधि मे इन उद्योगो के विकास कार्यक्रम बनाने मे बडी सहायता की है। (v) प्रथम योजनावधि मे सगठित उद्योगो म कुल मिलाकर ५३ करोड रु० सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा ३४० करोड रु० निजी क्षेत्र मे विनियोजित किये गए। द्वितीय योजनाकाल मे सगठित उद्योगो मे कुल विनियोग सार्वजनिक क्षत्र मे ७७० करोड रु० तथा निजी क्षेत्र मे ८५० करोड रु० हुआ।

तीसरी योजना मे औद्योगिक प्राथमिकता —तीसरी योजना के औद्योगिक विकास कार्यक्रम का उद्देश्य अगले १५ वर्षों मे तीव्रता से औद्योगीकरण की नीव डालना है। इसीलिये इस योजना मे मूल उद्योगो (Basic Industries) के विकास पर अधिक महत्व दिया गया है। इस योजना मे इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि नये कारखानो को स्थापित करने की अपेक्षा वर्तमान कारखानो का विस्तार करना अधिक अच्छा है क्योंकि इससे उत्पादन भी शीघ्रता से होगा और उत्पत्ति-लागत भी घट जायगी। तीसरी योजनावधि मे जिन उद्योगो के विकास कार्य को प्राथमिकता दी जायगी वे इस प्रकार है —(i) ऐसे उद्योगो को पूरा करना जो दूसरी योजनावधि में प्रारम्भ किये गए थे अथवा जिन्हे विदेशी कठिनाइयो के कारण सन् १९५७-५८ मे रोक देना पडा था। (ii) भारी इ जीनियरिंग और मशीन के कारखानो का विस्तार तथा उर्वरक एव पैट्रोल के कारखानो के उत्पादन म वृद्धि करना। (iii) अल्मुनियम, खनिज, तेल, घुलने वाली लुगदी, मूल कार्बनिक और अकार्बनिक रसायन और पैट्रोल के रसायन तथा नए उद्योगो मे काम आने वाले रसायन आदि के कारखानो के उत्पादन को बढाना तथा (iv) दवा कागज, कपडा, चीनी, तेल और इमारती सामग्री आदि के उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि करना।

तीसरी योजना मे वृहत्स्तरीय उद्योगों के विकास के मुख्य कार्यक्रम इस प्रकार हैं—(i) व्यय —तीसरी योजना मे उद्योग एव खनिज विकास कार्यक्रम पर सार्वजनिक क्षेत्र म १,५५० करोड रु० और निजी क्षेत्र मे १,२८० करोड रु० विनियोग करने का लक्ष्य रक्खा गया है। योजनावधि म सरकारी क्षत्र म जो बडे उद्योग चलाये जायेंगे उनमे लोहा व इस्पात कारखानो की मशीन, बिजली का भारी सामान, मशीनी औजार, उर्वरक, मूल रसायन और ऐसे रसायन जिनसे दूसरी वस्तुयें तैयार होती हैं, दवायें और पैट्रोल साफ करने के कारखाने आदि सम्मिलित है। इस कार्यक्रम मे सैनिक कारखानो का जो विस्तार होगा उनसे भी असैनिक व्यवहार की कुछ वस्तुए, जैसे — मिश्रित धातुयें, ट्रैक्टर, ट्रक और विद्युत के उपकरण आदि तैयार किये जायगे। राज्य सरकारो के औद्योगिक कार्यक्रम इस प्रकार हैं—(अ) मैसूर लोहा व इस्पात कारखाना और आन्ध्र कागज मिल का विस्तार करना, (आ) दुर्गापुर की कोक की भट्टी को दोहरा करना तथा दुर्गापुर से कलकत्ता तक नलो द्वारा गैस ले जाना (इ)

उवरक का उत्पादन बढ़ाने के लिए एफ० ए० सी० टी० कारखाने का विस्तार करना, (ई) ट्रावनकोर-कोचीन कैमिकल्स का विकास करना तथा (उ) दुर्गापुर बोर्ड आफ इन्डस्ट्रीज (Durgapur Board of Industries) द्वारा कास्टिक सोडा, फ़ैनोल, थैलिक एनहाइड्राइड और अन्य कार्बनिक रसायनों का निर्माण करना। (ii) धातु उद्योग (अ) लोहा व इस्पात.—तीसरी योजनावधि में भिलाई, दुर्गापुर, रूरकेला और मैसूर में लोहा व इस्पात के कारखानों का विस्तार किया जाएगा तथा बोकारो (विहार) में इस्पात का नया कारखाना लगाया जाएगा। इसके अतिरिक्त नैवेली में लिगनाइट से चलने वाला लोहे का कारखाना भी खोला जाएगा। इस योजना में १०२ लाख टन इस्पात के ढोके और १५ लाख टन विक्री के लिये लोहा बनाने का लक्ष्य रक्खा गया है। इसमें से निजी उद्योग का हिस्सा ३२ लाख टन इस्पात के ढोके और ३ लाख टन विक्री के लिये लोहा रक्खा गया है। (आ) औजारों में काम आने वाली मिश्रित धातु व बेदागी इस्पात—योजनाकाल में दुर्गापुर में प्रतिवर्ष ४८ हजार टन विशेष किस्म का इस्पात बनाने वाला एक कारखाना लगाया जाएगा। सैनिक कारखानों से भी लगभग ५० हजार टन मिश्रित इस्पात तैयार होगा। (इ) अल्युमिनियम—सन् १९६५-६६ में अल्युमिनियम के उत्पादन का लक्ष्य ८७,५०० टन रक्खा गया है। (ई) तांबा और जस्ता—तीसरी योजनावधि में घटशिला में इन्डियन कापर कॉरपोरेशन के कारखाने में इलैक्ट्रोलिटिक तांबे का उत्पादन प्रारम्भ हो जाएगा। खेतड़ी और दड़ीबो की खानों में लगी भट्टियों से भी लगभग ११,५०० टन इलैक्ट्रोलिटिक तांबा प्रतिवर्ष बनाने की आशा है। राजस्थान में जावर की जस्ते की खानों से उदयपुर की जस्ते की भट्टी में लगभग १५ हजार टन धातु प्रतिवर्ष तैयार होगी। (iii) इन्जीनियरी उद्योग—(क) ढलाई और गढ़ाई—योजनाकाल में सार्वजनिक-क्षेत्र में मुख्यतः भारी मशीनों के बनाने पर अधिक बल दिया जाएगा। इस योजना में १२ लाख टन भूरे लोहे की ढलाई और २-२ लाख टन इस्पात की ढलाई व गढ़ाई करने का लक्ष्य रक्खा गया है। निजी क्षेत्र में ढलाई और गढ़ाई का कार्य मुख्यतः मोटर के कारखानों में और कागज, चीनी, सीमेंट और सिलाई की मशीनों के कारखानों में होगा। (ख) कारखानों की मशीनें—सार्वजनिक क्षेत्र में रांची में भारी मशीनों को बनाने का, दुर्गापुर में खानों और विद्युत की भारी मशीनों को बनाने का तथा भोपाल में बिजली के भारी सामान बनाने का कारखाना लगाया जाएगा। भारी मशीनों के कारखाने में प्रतिवर्ष १० लाख टन इस्पात की मशीनें बन सकेंगी। खानों की मशीनों के कारखाने में प्रतिवर्ष ४५ हजार टन माल बनेगा। विद्युत के भारी सामान के कारखानों में विद्युत-यन्त्रों का निर्माण होगा जिससे सन् १९७१ से लेकर प्रतिवर्ष बिजली बनाने की क्षमता २० लाख किलोवाट बढ़ती चली जाएगी। (ग) मशीनी औजार—सन् १९६०-६१ में ७ करोड़ रु० के मूल्य के मशीनी औजार बनाये गए। तीसरी योजना में ३० करोड़ रु० के मूल्य के मशीनी औजार बनाने का लक्ष्य रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त लगभग ५ करोड़ रु० के मशीनी औजार छोटे कारखानों में बनेंगे। सार्व-

जनिक क्षेत्र मे हिन्दुस्तान मशीन टूल्स और आगा टूल्स कारखानो का विस्तार किया जाएगा, राची मे एक नया भारी मशीन बनाने का कारखाना खोला जाएगा तथा पजाब मे हिन्दुस्तान मशीन टूल्स की समानता का कारखाना खोला जाएगा। (घ) परिवहन का सामान –तीसरी योजनावधि म सार्वजनिक क्षेत्र मे विद्युत व डीजल के इजिन बनाने तथा विशाखापत्तनम् के जहाज कारखाने का विस्तार करने की व्यवस्था की जाएगी तथा कोचीन में एक जहाज-निर्माण का कारखाना खोला जाएगा। इस योजना मे प्रतिवर्ष १ लाख मोटर गाडियाँ और ६० हजार साइकिल, स्कूटर व तीन पहिये वाली गाडिया बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। (IV) रसायन और सम्बन्धित उद्योग (क) उर्वरक –तीसरी योजना मे सन् १९६५-६६ तक १० लाख टन नत्रजनयुक्त, ४ लाख टन पोटाश युक्त तथा ४ लाख टन फॉस्फेटयुक्त उर्वरको के उत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया है। योजनावधि मे सरकारी और निजी दोनों क्षेत्रो मे रासायनिक उर्वरको के उत्पादन के लिये नये कारखाने खोले जायेंगे। (ख) गधक का तेजाब, कास्टिक सोडा और सोडा ऐश.–तीसरी योजना मे १७ ५ लाख टन गधक, ४ लाख टन कास्टिक सोडा तथा ५ ३ लाख टन सोडा ऐश के उत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया है। कास्टिक सोडा और सोडा ऐश दोनो की पूर्ति मे तीसरी योजना के अन्त तक आत्म निर्भर होने की पूर्ण आशा है। (ग) कार्बनिक रसायन –योजनाकाल मे ४० कार्बनिक रसायनो को बनाने की व्यवस्था की जाएगी जिनका कुल उत्पादन २५, १६० टन होगा। (घ) पैट्रोल की सफाई –हमारे देश मे सन् १९६५ तक ११७ लाख टन पैट्रोलियम की आवश्यकता का अनुमान है। इस समय देश मे कारखानो की पैट्रोल साफ करने की क्षमता ५६ लाख टन है। यह आशा की गई है कि नूनमती और बरौनी के सरकारी कारखानो के पूरा हो जाने पर देश म पैट्रोलियम पदार्थों का उत्पादन ७६ लाख टन हो जायगा। तीसरी योजनावधि मे २० लाख टन क्षमता का तेल सफाई का तीसरा कारखाना गुजरात मे खोला जायगा। (ङ) अन्य –तृतीय योजना काल मे आन्ध्रप्रदेश के सनतनगर म कृत्रिम (Synthetic) दवाओ का कारखाना, ऋषिकेश के पास ऐन्टीबायोटिक दवाओ का कारखाना और केरल मे फोटो कैमिकल का कारखाना खोला जायगा। इन कारखानो के अतिरिक्त निजी कारखानो मे जो दवायें बनेंगी उनको मिलाकर तीसरी योजना के अन्त तक हमारा देश मुख्य-मुख्य दवाओ मे आत्मनिर्भर हो जायगा। तीसरी योजना मे ८५ हजार टन प्लास्टिक और १०५ लाख टन सीमेंट के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। (V) व्यवहार की वस्तुओं सम्बन्धी उद्योग (क) वस्त्र –तीसरी योजना मे ९३० करोड गज वस्त्रोत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया है। इसमे से ८५ करोड गज वस्त्र के निर्यात का लक्ष्य रक्खा गया है। कपडे की मिलों का उत्पादन बढाने के लिये योजना काल मे २५ हजार स्वचालित करघे लगाये जायेंगे तथा मिलो मे तकुओ की सख्या सन् १९६०-६१ मे १२७ लाख से बढाकर सन् १९६५-६६ मे १६५ लाख करदी जाएगी। (ख) नकली रेशा–दूसरी योजना के अन्त मे रेयन और स्टेपिल उद्योग की क्षमता १० करोड पौंड थी जो सन् १९६५–६६ के अन्त तक बढाकर २१ ५ करोड पौंड करदी जाएगी। (ग) कागज और अखबारी कागज–इस समय कागज उद्योग की उत्पादन क्षमता ४ १ लाख

टन है जिसे बढाकर तीसरी योजना के अन्त तक ८ २ लाख टन कर दिया जायगा। योजनाकाल मे अखबारी कागज की उत्पादन क्षमता ३० हजार टन से बढाकर १५० हजार टन कर दी जायेगी। (घ) चीनी —तीसरी योजना मे प्रतिवर्ष ३५ लाख टन चीनी बनाने का लक्ष्य रक्खा गया है। कुल उत्पादन का २५ प्रतिशत भाग सहकारी कारखानो म उत्पन्न किये जाने का अनुमान है (ङ) तेल—तिलहन और नारियल के तेल का उत्पादन सन् १९६५–६६ तक २६ लाख टन हो जायगा। योजनाकाल म बिनौले के तेल के उत्पादन का लक्ष्य १ लाख टन तथा खली से तेल के उत्पादन का लक्ष्य १ ६ लाख टन प्रतिवर्ष रक्खा गया है। (vi) औद्योगिक उत्पादन मे कुल वृद्धि-इस प्रकार यह आशा की गई है कि औद्योगिक उत्पादन का सूचक अक सन् १९६५-६६ म ३२९ हो जाएगा जो कि (सन् १९५०–५१ का आधार वर्ष मानकर) सन् १९५५–५६ म १३९ और सन १९६० ६१ म १९४ था।

निष्कर्ष—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे औद्योगिक विकास की गति अत्यन्त तीव्र रही है और इसम थोडी बहुत अनेकरूपता व विभिन्नता भी आई है। फलत आज भारत की गणना विश्व के ८ बडे औद्योगिक देशो म की जाती है। एशिया महाद्वीप म जापान को छोडकर भारत औद्योगिक क्षेत्र म अग्रगण्य है। परन्तु देश की विस्तृत आवश्यकताओ और विपुल प्राकृतिक साधनो को देखते हुये, हमारे देश की औद्योगिक पूर्ति अपूर्ण एव अपर्याप्त है। भारत की कुल जनसख्या का केवल ३ प्रतिशत भाग ही उद्योगो म लगा हुआ है। हमारे देश के औद्योगिक विकास के दो मुख्य दोष हैं —(i) देश म उत्पादक एव उपभोग्य वस्तुओ के उद्योगो के विकास म सन्तुलन स्थापित नही हो सका है तथा (ii) देश के विभिन्न भागो मे सन्तुलित औद्योगिक विकास नही हो सका है।

भारत मे मन्द औद्योगीकरण के कारण (Causes of the Slow Industrial Progress in India)—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भारत के औद्योगिक पिछडेपन के मुख्य कारण इस प्रकार थे— (अ) ब्रिटिश सरकार की स्वार्थपूर्ण मुक्त-व्यापार (Free Trade) नीति, (आ) औद्योगिक उत्पादन की पुरातन व अकुशल प्रणाली, (इ) सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक विकास का पूर्णतया अभाव तथा (ई) मशीनो के लिये विदेशी निर्भरता। **विगत नियोजन काल मे देश मे औद्योगिक विकास की मन्द गति के मुख्य कारण इस प्रकार रहे हैं—(i) पूंजी का अभाव**-भारतवासियो की बचत करने की इच्छा व शक्ति अपेक्षाकृत बहुत कम है। इस समय घरेलू बचत की दर राष्ट्रीय आय का केवल ८ ५ प्रतिशत भाग है। अत नियोजन के कार्यक्रमो को पूरा करने के लिये, देश को बाह्य सहायता पर निर्भर रहना पडता है। (ii) **सस्ती शक्ति के साधनों का अभाव**—हमारे देश मे तेल शक्ति का अभाव है तथा सूर्य शक्ति व वायु शक्ति का प्रयोग 'नही' के बराबर है। अब तक अधिकाश रूप से उद्योगो के सचालन म कोयला शक्ति का प्रयोग किया जाता रहा है जिसकी उत्पादन-लागत बहुत अधिक है। यद्यपि देश म विद्युत शक्ति के रूप म सस्ती चालक-शक्ति

उत्पन्न करने की अपूर्व सम्भावना है, परन्तु अभी तक इस क्षेत्र मे अधिक प्रगति नहीं हो पाई है। आशा है कि भविष्य मे जल विद्युत शक्ति की उत्पादन-क्षमता बढाकर देश के उद्योगो को सस्ती चालक शक्ति मिल सकेगी। (iii) **मूलभूत उद्योगों का अभाव**— किसी देश का औद्योगिक विकास प्रधानत मूलभूत उद्योगो (Basic Industries) के विकास पर अवलम्बित होता है। हमारे देश म इस्पात, सीमेंट, इ जीनियरिंग भारी रासायनिक तथा पू जीगत वस्तुओ (Capital Goods) के निर्माण क उद्योगो का समुचित विकास नही हो पाया है। आशा है कि भावी योजनाओ मे इस क्षेत्र मे समुचित प्रगति हो सकेगी और इस तरह देश के औद्योगिक विकास मे एक महत्वपूर्ण अभाव की पूर्ति हो सकेगी। (iv) **तकनीकी कर्मचारियों एव सुयोग्य सगठन कर्त्ताओं का अभाव**—विगत वर्षों म तकनीकी कर्मचारियो एव सुयोग्य प्रबन्धको का अभाव देश के औद्योगिक विकास मे एक मुख्य बाधा रही है। सावजनिक क्षेत्र मे उद्योगो के सचालनार्थ भारत सरकार को ऊ चे-ऊ चे वेतन देकर विदेशी तक ीक बुलाने पडते हैं। तीसरी पचवर्षीय योजना मे कर्मचारियो के प्रशिक्षण के व्यापक कार्यक्रम के परिणामस्वरूप, भविष्य मे कुशल कार्यकर्त्ताओ एव सुयाग्य प्रबन्धको की सख्या म पर्याप्तता आने की पूर्ण सम्भावना है। (v) **आधुनिकोकरण क कायक्रम की धीमी गति** हमारे देश मे नये उद्योगो के स्थापित करने की आवश्यकता के साथ ही साथ चीनी. जूट और वस्त्र उद्योगो मे आधुनिकीकरण (Rationalization) की प्रधान आवश्यकता है। विगत वर्षों मे इस क्षत्र मे जो कदम उठाये गये है वे अपर्याप्त हैं। इसीलिय इन उद्योगो म लागत व्यय बहुत ऊ चा हैं और यह स्थिति इन उद्योगो के विकास मे मुख्य बाधा है। (vi) **औद्योगिक वित्त की समस्या**— भारत म औद्योगिक साख की आवश्यकता की पूर्ति करने वाली सस्थाओ का अभाव-सा है। देश के व्यापारिक बैंक्स उद्योगो को केवल अल्पकालीन ऋण ही दे पाते हैं। यद्यपि विगत नियोजनकाल मे औद्योगिक वित्त की पूर्ति के लिये अनेक वित्त निगमो की स्थापना की गई है, तथापि देश के उद्योग धन्धो को विशाल वित्तीय आवश्यकता को देखते हुये ये सब साधन नगण्य हैं। चू कि वित्त उद्योगो के विकास म प्राणाधार का काय करता है, इसीलिय हमारे देश मे इसकी अपर्याप्त पूर्ति के कारण औद्योगिक विकास की गति अत्यन्त मन्द रही है। (vii) **भारत सरकार की कर नीति व श्रम-नीति**– विगत वर्षों मे भारत सरकार द्वारा लगाये गये व्यय-कर (Expenditure Tax), उपहार कर (Gift Tax) सम्पदा-कर (Estate Duty) तथा धन-कर (Wealth Tax) आदि प्रत्यक्ष करो की भरमार से निजी क्षेत्र मे पू जी-सचय के मार्ग म तीव्र बाधा पहुची है। कुछ विचारको का मत है कि भारत सरकार द्वारा अपनाई गई श्रम-नीति, जिसम उद्योगपतियो को श्रमिको की दशा सुधारने तथा उनके लिये महगाई भत्ता व बोनस देने की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया है, निजी क्षेत्र म औद्योगिक विकास की दृष्टि से मुख्य गत्यावरोधक रही है। वस्तुत सरकार की कर-नीति एव श्रम-नीति की इस आधार पर आलोचना करना अधिक उपयुक्त नही है। श्रम-नीति के अन्तर्गत श्रमिको को दी

गई सुविधाओं का श्रमिकों की कार्यक्षमता पर उत्तम प्रभाव पडेगा जिसमें उत्पादन में वृद्धि होगी और अन्तत उद्योगपति ही इससे लाभान्वित होंगे। जहा तक कर नीति का सम्बन्ध है, देश में सरकार के बढते हुये कार्यों के लिये वित्तीय व्यवस्था करने तथा समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करने के लिये यह सर्वथा उपयुक्त ही है। (viii) **परिवहन के साधनों की अपर्याप्तता**—यद्यपि विगत नियोजन-काल में देश में परिवहन सम्बन्धी सुविधाओं मे पर्याप्त वृद्धि हुई है, परन्तु देश के विशाल क्षेत्रफल तथा औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं की दृष्टि से, ये सब सुविधायें नगण्य ही हैं। यही नहीं, देश के समस्त भागों में परिवहन के साधनों का सन्तुलित विकास भी नहीं हो पाया है। फलत भारतीय उद्योगों की आशातीत वृद्धि में पर्याप्त बाधा पडी है। (ix) **सामाजिक वातावरण**—हमारे देश में प्रचलित जाति-प्रथा एव सयुक्त-परिवार प्रथायें औद्योगिक विकास की मन्द गति में मुख्य बाधक रही हैं। इन प्रथाओं के कारण भारतीय श्रमिक में अगतिशीलता की प्रवृत्ति पाई जाती है। सयुक्त परिवार प्रथा ने नागरिकों मे उत्तरदायित्व की भावना एव साहस को नष्ट करके उद्यमकर्त्ताओं का आगे बढने से रोका है। उत्तराधिकार के नियमों ने पूंजी के विगठन का मार्ग खोलकर देश में पूंजी सञ्चय के मार्ग में बाधा पहुँचाई है। अत देश के सामाजिक पर्यावरण (Environment) से भी औद्योगिक विकास में बाधा पडी है। (x) **भारत सरकार की औद्योगिक नीति**—स्वतन्त्र उद्यम प्रणाली के पक्षपातियों का मत है कि भारत सरकार की औद्योगिक नीति और सन् १९५१ के उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम ने स्वतन्त्र उद्यमकर्त्ताओं को निराशित किया है जिससे औद्योगिक उन्नति के मार्ग में मुख्य बाधा पडी है। वस्तुत भारत सरकार की औद्योगिक नीति को औद्योगीकरण के मार्ग में बाधक मानना दोषपूर्ण है। यह एक व्यावहारिक नीति है तथा इसमे निजी एव सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों को पर्याप्त महत्व दिया गया है। यही नहीं, निजी क्षेत्र के उद्योगों के विकास के लिये सरकारी सहायता का प्रावधान (Provision) भारत सरकार की औद्योगिक नीति की उदारता, व्यावहारिकता एव विकासोन्मुखता का परिचायक है। (xi) **विदेशी पूंजी की अपर्याप्त उपलब्धि**—हमारे देश में औद्योगिक विकास के लिये अभी तक पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूंजी उपलब्ध नहीं हो सकी है। चूंकि देश को अनेक प्रकार की मशीनों के लिये विदेशी आयात पर निर्भर रहना पडता है, जिनकी पूर्ति केवल विदेशी पूंजी के द्वारा ही की जा सकती है, इसलिये विदेशी पूंजी की असामयिक (Untimely) एव अपर्याप्त (Inadequate) उपलब्धि के कारण देश के औद्योगिक विकास में अनिश्चितता का वातावरण रहा है, जिससे औद्योगिक विकास के मार्ग में बहुत बाधा पहुंची है। आशा है कि भविष्य में पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूंजी मिल सकने पर औद्योगिक विकास को अधिक गति मिलेगी।

भारत में तीव्रगति से औद्योगीकरण के लिये सुझाव (Suggestions for the Rapid Industrialisation in India)—देश में तीव्रगति से औद्योगिक

विकास के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं — (i) **पूंजी निर्माण मे वृद्धि** — औद्योगिक वित्त की समुचित व्यवस्था के लिये पूजी निर्माण मे वृद्धि की जानी चाहिये। देश की जनता को बचत के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। औद्योगिक सस्थाओं की दीर्घकालीन एव मध्यकालीन साख-पूर्ति के लिए वित्त निगमो के कोषो और कार्य-क्षेत्र मे वृद्धि की जानी चाहिये। व्यापारिक बैंको को औद्योगिक इकाइयो की अल्पकालीन एव मध्यकालीन साख-आवश्यकताओ की पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे करनी चाहिये। (ii) **प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग** —हमारा देश खनिज पदार्थों की दृष्टि से सर्वसम्पन्न है। अत इनके समुचित उपयोग की व्यवस्था करनी चाहिये। देश म उपलब्ध जल साधन से सस्ती विद्युत शक्ति उत्पन्न करनी चाहिये तथा औद्योगिक विकास की दृष्टि से वन-सम्पत्ति का यथेष्ट विदोहन करना चाहिये (iii) **परिवहन के साधनों का विस्तार** — देश मे औद्योगिक उत्पादन की खपत के लिये, सस्ते परिवहन के साधनो का होना वाछनीय है। अत औद्योगिक केन्द्रो तक कच्चा-माल पहुँचाने तथा उद्योगों द्वारा निर्मित माल को देश के प्रत्यक भाग मे पहुचाने के लिये, सस्ते एव द्रुतगामी परिवहन के साधनो का विकास किया जाना चाहिये। (iv) **श्रमिकों की कार्यक्षमता मे वृद्धि** —श्रमिको की कार्यक्षमता मे वृद्धि करने के लिये, उनका जीवन-स्तर ऊंचा उठाना चाहिये। उत्पादन कार्य म पूर्ण रूचि दिलाने के उद्द श्य से श्रमिको को प्रबन्ध मे साझीदार बनाना चाहिये। इस प्रकार श्रमिको को कार्यकुशल बनाकर दश मे तीव्रगति से औद्योगिक विकास किया जा सकता है। (v) **सावजनिक क्षेत्र मे उद्योगो का विकास** —भारत के भावी औद्योगिक ढाचे मे सार्वजनिक क्षेत्र का महत्वपूर्ण भाग होना चाहिये। वस्तुत सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो की सफलता पर ही भारत का भविष्य निर्भर है। दश मे समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना के लिये, यह एक महत्वपूर्ण कदम है। अत सार्वजनिक क्षत्र मे उद्योगो की कार्य-कुशलता के स्तर का सुधारा जाना अत्यावश्यक है। (vi) **विदेशी पूजी को प्रोत्साहन** —विदेशी पूजी को देश मे आकर्षित करने के लिय, अनुकूल परिस्थितिया उत्पन्न करनी चाहियें। विदशी पूजी का उपयाग केवल अधिकतम उत्पादक उद्योगो मे ही किया जाना चाहिये। (vii) **निजी क्षेत्र के दृष्टिकोण मे परिवर्तन की आवश्यकता**— देश के औद्योगिक विकास के लिए सार्वजनिक और निजी दोनो क्षेत्रो म पारस्परिक सहयोग एव समन्वय होना अति आवश्यक है। दोनो क्षत्रो के ही उद्योगो का समान महत्व दिया जाना चाहिये। सरकार का निजी क्षत्र का भी पूर्ण प्रोत्साहन एव अर्थ-सहायता देनी चाहिये। (viii) **आधुनिकीकरण के कार्यक्रमों की गति को तीव्र करना** —चीनी, जूट, सूतीवस्त्र और अन्य पुराने कारखानो म पुरानी किस्म की मशीनो को नई मशीनो से विस्थापित करना चाहिय। औद्योगिक आधुनिकीकरण की गति को तीव्रतर करने के लिय, वित्त निगमो का उद्योगो के साधनो म वृद्धि करनी चाहिये।

भारत में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की समस्या
(Problem of Nationalisation of Industries in India)

उद्योग के राष्ट्रीयकरण का अर्थ (Meaning of Nationalisation of Industries) – समाज में समाजवादी सगठन की स्थापना निश्चय ही एक सचयी प्रक्रिया है। औद्योगिक राष्ट्रीयकरण इसी प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है। '**जब किसी देश की सरकार अपने देश के किसी उद्योग का व्यवस्थापन और सचालन स्वय करती है तथा निजी क्षेत्र (Private Sector) मे इस उद्योग के व्यवस्थापन एव विकास के लिय लेशमात्र भी अवसर नहीं छोडती तब ऐसी स्थिति को अमुक उद्योग का राष्ट्रीयकरण कहते हैं।**' अन्य शब्दों मे सरकार द्वारा किसी उद्योग का पूर्णतया सचालन और नियन्त्रण ही उद्योग का राष्ट्रीयकरण कहलाता है।

भारत मे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे तर्क (Arguments for Nationalisation of Industries in India) –हमारे देश मे उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे कुछ तर्क इस प्रकार हैं —(i) **उद्योगों का राष्ट्रीयकरण जनतान्त्रिक शासन व्यवस्था के अनुरूप है**—उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का मत है कि भारत मे उद्योगो का राष्ट्रीयकरण प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली के अधिक निकट है। वस्तुत प्रजातन्त्र की यह माँग है कि देश की समस्त सम्पत्ति पर सम्पूर्ण जनता का अधिकार होना चाहिये, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। (ii) **सरकार जोखिम उठाने में अधिक समर्थ है**—भारत मे औद्योगिक राष्ट्रीयकरण के पक्षानुमोदको का मत है कि सरकार अव्यक्तिवादी होने के कारण, किसी उद्योग मे जोखिम उठाने के लिये अपेक्षाकृत अधिक समर्थ होती है। प्राय व्यक्तिगत उद्यमी अधिक जोखिम वाले व्यवसायो मे अपनी पूजी निवेश (Inuestment) नहीं करते। अत जिन उद्योगो मे अधिक जोखिम की सम्भावना है, उनका सचालन केवल सरकार द्वारा ही सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। (iii) **पूजीवादी शोषण का अन्त**—उद्योगो के राष्ट्रीयकरण से न केवल श्रमिकों का शोषण ही बन्द हो जायगा वरन् एकाधिकारी व्यवस्था के अन्तर्गत पाये जाने वाले सकटो से उपभोक्ता वर्ग का भी छुटकारा मिल सकेगा। इस मत के विरोध मे यह तर्क दिया जाता है कि चूकि उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था मे राज्य ही एकमात्र स्वामी होता है, इसलिये इसमे एकाधिकार और भ्रष्टाचार की अधिक सम्भावना रहती है। परन्तु वास्तव मे राज्य का उद्देश्य नागरिको की भलाई होता है। अत औद्योगिक राष्ट्रीयकरण की अवस्था मे एकाधिकारपूर्ण भ्रष्टाचार की सम्भावना करना सर्वथा अनुचित है। (iv) **आर्थिक विषमताका अन्त**–उद्योगो का राष्ट्रीयकरण भारत मे सामाजिक एव आर्थिक विषमता को यथासम्भव कम करने मे महत्वपूर्ण कदम सिद्ध होगा क्योंकि इस स्थिति मे उद्योगो से जो कुछ लाभ प्राप्त होगा उसका उपयोग भी सार्वजनिक हित मे किया जा सकेगा। (v) **नियोजन की प्रगति मे सहायक** —भारत की पचवर्षीय योजनाओं की बुनियादी धारणा देश मे समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करना है। इस योजना के

मूल उद्देश्य देश की द्रुत गति से आर्थिक समुन्नति, रोजगार का विस्तार, न्याय का वितरण, आय और धन के वितरण की असमानताओं मे यथासम्भव कमी और आर्थिक शक्ति के सन्केन्द्रण को रोकना है। वस्तुत: भारत मे नियोजन के इन मूलभूत उद्देश्यो तक पहुँचने मे उद्योगो का राष्ट्रीयकरण एक प्रारम्भिक दशा है। चूकि राष्ट्रीयकरण की स्थिति मे उत्पादन-कार्य जनता की माग को सामने रखकर किया जाता है, व्यक्तिगत उद्यमी की तरह अधिकतम लाभ पाने के उद्देश्य को सामने रखकर नही किया जाता, इसलिये देश मे अत्युत्पादन (Over-production) अथवा न्यूनोत्पादन (Under-production) की सम्भावित समस्याओ को दूर करने तथा देश का नियोजित ढग से विकास करने के लिये, उद्योगो का राष्ट्रीयकरण अति आवश्यक है। (vi) **जनता का सहयोग**—जनतन्त्रीय आदर्शो और रचनात्मक कार्यों की परम्परा वाले विकासोन्मुख देश मे, सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये, जनता के सहयोग का सर्वोच्च स्थान है। वस्तुत. राष्ट्रीयकरण की स्थिति मे निर्धारित कार्यक्रमो को पूरा करने मे जनसहयोग की अपेक्षा करना अधिक सम्भव है, क्योकि इस स्थिति मे जनता यह समझती है कि देश के उद्योगो का विकास उसकी अपनी ही समुन्नति है। (vii) **अनुसधान की अधिक सम्भावना**–किसी देश की औद्योगिक प्रगति (Technical Advancement) नवीन आविष्कारो की बडी सख्या से प्रतिलक्षित होती है। औद्योगिक अनुसधान पर व्यय करना, देश की समृद्धि मे बडा और स्थाई योग देना है। चूकि अनुसधानकार्य अत्यधिक खर्चीला होता है, इसलिये व्यक्तिगत उद्यमी अनुसधान को प्रोत्साहन देने मे असमर्थ होता है। परन्तु सरकार के सामने राष्ट्रहित का व्यापक दृष्टिकोण होता है और वह अधिक साधन-सम्पन्न होती है, इसलिये औद्योगिक अनुसधान की प्रगति की सम्भावना, उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की स्थिति मे ही पूरी हो सकती है। (viii) ***श्रम-सुरक्षा व श्रम कल्याण*** स्वतन्त्र उद्यम पद्धति मे अधिकतम लाभ पाने की प्रवृत्ति के कारण, उद्योगपति श्रमिको का अधिकाधिक शोषण करते है तथा उनकी सुरक्षा एव कल्याण की दृष्टि से कोई कार्य प्राय नही करते हैं। परन्तु सरकार के सामने श्रम-कल्याण का महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है जिसकी पूर्ति उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की स्थिति मे अधिक सफलतापूर्वक की जा सकती है। (ix) **मूल उद्योगो का सामरिक महत्व**—लोहा व इस्पात, अस्त्र शस्त्र एव गोला बारूद तथा रेल, वायु यातायात एव समुद्री परिवहन का सामरिक (युद्ध सम्बन्धी) दृष्टिकोण से बहुत महत्व होता है। व्यक्तिगत साहसी द्वारा इन उद्योगो का विकास, राष्ट्रहित की दृष्टि से, कष्टप्रद एव हानिकारक सिद्ध होता है। अत राष्ट्रीयकरण के समर्थको का मत है कि देश की सुरक्षा के लिये इन उद्योगो का राष्ट्रीयकरण एक अनिवार्य दशा है। (x) **उद्योगों का अभिनवीकरण**—हमारे देश मे चीनी, सूती वस्त्र एव पटसन आदि उद्योगो मे अभिनवीकरण (Rationalisation) की अत्यन्त आवश्यकता है। चूंकि अभिनवीकरण के अन्तर्गत पुरानी मशीनो को हटाकर आधुनिकतम मशीनें लगाने मे अत्यधिक व्यय की आवश्यकता होती है और इस व्यय को सहन करने की सामर्थ्य भारतीय उद्योगपतियो

मे नही है। इसलिये इस दृष्टि से उद्योगो का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। (xi) **प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा**–भारत मे उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के समर्थको का कहना है कि चूँकि देश मे खनिज वन, आदि प्राकृतिक साधन सीमित मात्रा मे उपलब्ध हैं। इसलिये इनका उपयोग अधिक नियोजित एव मितव्ययी ढग से किया जाना चाहिये। जबकि अमुक उद्योगो पर व्यक्तिगत उद्यमियो का नियन्त्रण होता है, तब स्वभावत वे इनका ऐसे तरीको से उपयोग करते हैं कि उन्हे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। फलत सामाजिक दृष्टिकोण से प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग होता है। इसके विपरीत देश के प्राकृतिक साधनो पर राजकीय स्वामित्व का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि इनका प्रयोग ऐसे योजनाबद्ध ढग से किया जाता है कि इनका उपयोग किसी एक वर्ग के लाभ के लिये नही वरन् सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिये किया जाता है। (xii) **देश के समस्त क्षेत्रो का सन्तुलित विकास** —चूँकि स्वतन्त्र उद्यमी, अधिकाधिक लाभ पाने के ध्येय से, उद्योग धन्धो की स्थापना देश के उन क्षेत्रो मे करते हैं जिनमे उनके लिये अधिक सुलभता एव अनुकूलता होती है, इस लिये इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि जबकि कुछ क्षेत्रो मे तो अत्यधिक औद्योगीकरण सम्भव हो चुका है, तब अन्य कुछ क्षेत्र बिल्कुल ही पिछडे हुए रह गये हैं। अत देश के कम विकसित क्षेत्रो के औद्योगीकरण की दृष्टि से उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाना अति आवश्यक है।

भारत में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे तर्क (Arguments Against Nationalisation of Industries in India).—ये तर्क मुख्यत इस प्रकार हैं – (i) **जनतान्त्रिक व्यवस्था का विरोधी** — भारत मे उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के विपक्षियो का मत है कि उद्योगो का राष्ट्रीयकरण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारो को महत्वहीन बना देता है। औद्योगिक राष्ट्रीयकरण जनतान्त्रिक पद्धति से आगे चलकर साम्यवाद की स्थापना मे एक महत्वपूर्ण कदम है। (ii) **कार्यकुशलता की समस्या** —औद्योगिक-क्षेत्र मे सरकारी प्रवेश के विरुद्ध एक प्रबल तर्क यह दिया जाता है कि सरकारी संस्थायें उद्योगो के कार्य का संचालन कुशलतापूर्वक नही कर सकती। जिन उद्योगो मे प्राइवेट व्यक्तियों का स्वामित्व एव प्रबन्ध होता है उनमे अपेक्षाकृत अधिक कार्य-कुशलता पाई जाती है। इसके अनेक कारण हैं (अ) चूंकि प्राइवेट व्यक्ति हानि के भय और लाभ की आशा से प्रेरित होकर कार्य करते हैं, इसलिये सम्भावना यही रहती है कि वेतनभोगी सरकारी अधिकारियो की अपेक्षा वे अधिक प्रेरणा और योग्यता से काम करेंगे। (आ) किसी उद्योग की उन्नति और सफलता के लिये जोखिम उठाना अति आवश्यक होता है। परन्तु यह देखा जाता है कि सरकारी अधिकारी साधारणतया जोखिम उठाने के लिये अनिच्छुक ही रहते हैं। (इ) सरकारी उद्योगों के प्रबन्धकों तथा अन्य कर्मचारियो का चुनाव भी उनकी व्यापारिक योग्यता को देखकर नही किया जाता वरन् राजनैतिक दलबन्दी के आधार पर किया जाता है तथा (ई) लालफीताशाही

और फाईलिंग व्यवस्था के कारण कार्य करने की सरकारी रीतियां बहुत अकुशल और शिथिल होती हैं। (iii) **साधनो के स्वाभाविक प्रवाह मे बाधा** चूंकि प्राइवेट व्यक्ति निजी-हित (Self Interest) की प्रेरणा से कार्य करते है, इसलिये उनके द्वारा उद्योगो मे आर्थिक साधनो का स्वमेव ही सर्वश्रेष्ठ ढग से उपयोग हो जाता है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधनो को जिस ढग से उत्पादन-कार्य मे लगाया जाता है, वहा से यदि उनको स्थानान्तरित कर दिया जाये, तब इसका परिणाम यह होगा कि उससे प्राप्त कुल सन्तुष्टि तथा कुल कल्याण का योग अपेक्षाकृत कम हो जायेगा। अत उद्योग-धन्धो म साधनो के कुशलतम उपयोग के लिये, औद्योगिक राष्ट्रीयकरण एक आवश्यक बुराई है। (iv) **श्रमिकों के सम्बन्ध** —उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की स्थिति मे एक महत्वपूर्ण कठिनाई श्रमिको के सम्बन्ध के बारे मे उत्पन्न हो जाती है। जहा तक व्यक्तिगत उद्योगो का प्रश्न है उनमे सरकार सदैव ही एक निष्पक्ष तीसरी पार्टी के रूप मे मध्यस्थ का कार्य कर सकती है, श्रमिको व मालिको के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने पर उनम बीच-बचाव करा सकती है और यदि आवश्यक हो, तब उन पर अपना निर्णय भी लागू कर सकती है। परन्तु सरकारी उद्योगो मे स्थिति एकदम विपरीत होती है। इसमे श्रमिको के झगडो म सरकार स्वय झगडे से सम्बन्धित एक पार्टी होती है। फलत इस स्थिति मे झगडो का सुलझाना बहुत कठिन हो जाता है। (v) **कीमत सम्बन्धी नीतियाँ** —उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के विपक्षियो का मत है कि जब व्यक्तिगत उद्यम के स्थान पर सरकारी उद्यम की स्थापना की जाती है, तब कीमतो की स्वय सचालित मूल्य पद्धति कार्य करना बन्द कर देती है अथवा उसका महत्व बहुत कम हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि औद्योगिक उत्पादन की मात्रा के विषय म तथा वस्तुओं की कीमत निर्धारित करने के विषय म सरकारी अधिकारियो द्वारा मनमाने निर्णय किये जाते हैं। (vi) **क्षतिपूर्ति की समस्या** —हमारे सविधान मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि सरकार व्यक्तिगत सम्पत्ति को केवल उसकी उचित क्षतिपूर्ति करने के पश्चात् ही हस्तगत कर सकेगी। अत यदि सभी उद्योगो को सरकारी स्वामित्व म लिया जाय, तब उद्योगपतियो को क्षतिपूर्ति (Compensation) के रूप मे बडी भारी रकम देने की समस्या उठ खडी होगी। यही नहीं एक ओर इस क्षतिपूर्ति के भार को वहन करने की क्षमता, जनता या सरकार या इन दोनो मे नही है और दूसरी ओर राष्ट्रीयकरण से समाज मे एक ऐसे वर्ग का जन्म हो जायेगा जो केवल सूदखोरी द्वारा ही अपना जीवन व्यतीत करेगा। अत भारत म उद्योगों का राष्ट्रीयकरण न तो वाछनीय है और न यह सम्भव ही है।

निष्कर्ष —भारत मे उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष मे दिये गये उपरोक्त वाद-विवाद से यह स्पष्ट है कि समस्या के समाधान के लिये पूर्णतया सिद्धान्तवादी या कट्टरतापूर्ण रुख नही अपनाना चाहिये। वस्तुत देश की वर्तमान परिस्थितियो म समस्त उद्योगो का राष्ट्रीयकरण न तो सम्भव है और न वाछनीय

ही है। अत जब कभी किसी उद्योग या उद्योगों के किसी एक वर्ग के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उत्पन्न हो, तब देश की समस्त प्रचलित परिस्थितियो को देखते हुये ही तत्सम्बन्धी निर्णय लिया जाना चाहिये। उद्योगो के राष्ट्रीयकरण का निर्णय करत समय उत्पादिता (Productivity), कार्य कुशलता (Efficiency), वित्त (Finance), तकनीक (Technique), कर्मचारी वर्ग (Personnel) तथा सामान्य सामाजिक हित (General Social Interest) आदि बातो को अवश्य दृष्टिगत रखना चाहिय। भारत सरकार की सन् १९४८ की औद्योगिक नीति म मिश्रित अर्थ व्यवस्था (Mixed Economy) अपनाई गई थी। यद्यपि सन् १९५६ की नवीन औद्योगिक नीति के अनुसार देश म समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना के लिये उद्योगो के सचालन म सार्वजनिक-क्षेत्र को अधिक महत्त्व दिया गया है, तथापि स्वतन्त्र उद्यमकर्त्ताओ को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी गई है। अत वर्तमान और निकट भविष्य मे भी, भारत सरकार की नीति देश के समस्त उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के पक्ष म नही है।

— o —

२३

कुछ बड़े पैमाने के उद्योग

(Some Large Scale Industries)

प्राक्कथन :—भारत मे प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के कारण, औद्योगिक उन्नति की पर्याप्त क्षमता है। भारत इस्पात, विद्युत, ईंधन और अन्य मूल-पदार्थ अपेक्षाकृत कम लागत मे पैदा करने की क्षमता और देश मे ही इनके लिय बढती हुई बडी माग होने के कारण, देश मे आवश्यक मशीनें और अनेक प्रकार का रासायनिक, विद्युत एव इंजीनियरी का माल तैयार किया जा सकता है। इनके फल-स्वरूप देश मे मध्यम व लघुस्तरीय उद्योगों के विकास को बल मिलने तथा शहरी और ग्रामीण क्षेत्रो में रोजगार की सुविधायें बढने की अपूर्व सम्भावनायें हैं। अत देश मे एक एकीकृत औद्योगिक संरचना (Integrated Industrial Structure) का निर्माण करने और तुलनात्मक दृष्टि से लाभपूर्ण औद्योगिक उत्पादन का विकास करने की परमावश्यकता है। इसलिय कम पूंजी और माध्यामिक वस्तुओं के उद्योगों को ध्यान मे रखते हुये इस्पात, कोयला, विद्युत, तेल और मशीन निर्माण जैसे उद्योगों को विशेष रूप मे प्राथमिकता देकर, देश को आत्म निर्भर एव आत्म-पर्याप्त बनाना अपेक्षित है। वस्तुत कृषि की प्रगति और मानवीय साधनों का विकास, ये दोनों ही उद्योग की प्रगति पर निर्भर करते हैं। इसलिये कृषि और उद्योग, विकास की प्रक्रिया के अभिन्न अग समझे जाने चाहिये तथा योजनाबद्ध विकास द्वारा वृहत्-स्तरीय उद्योगो का क्षेत्र-विस्तार किया जाना चाहिये।

(१) सूती वस्त्र उद्योग

(Cotton Textile Industry)

वर्तमान स्थिति एव महत्व —भारत के संगठित उद्योगो मे सूती वस्त्र उद्योग का स्थान सर्वप्रथम है। यह देश का सबसे बडा उद्योग है। कृषि के पश्चात्, सर्वाधिक व्यक्तियों को रोजगार देने की दृष्टि से, इस उद्योग का द्वितीय स्थान है। आज विश्व मे अमेरिका को छोडकर सूती वस्त्रोत्पादन मे भारत का द्वितीय स्थान है। सन् १९६० के प्रारम्भ मे देश भर मे कुल ४८३ सूती वस्त्र मिलें थी, इनमे मे १९१ कताई की मिलें और २९२ कताई-बुनाई दोनों कार्य करने वाली मिश्रित मिलें (Composite Mills) थी। वस्तुत पूंजी के विनियोग, रोजगार और राष्ट्रीय-आय

मे योग देने की दृष्टि से, सूती वस्त्र उद्योग देश का मुख्यतम उद्योग है। इस उद्योग मे लगभग १२२ करोड रुपये की पूजी लगी हुई है और लगभग ९ लाख व्यक्ति रोजगार पाते है। हमारे देश से सूती वस्त्र का निर्यात इन्डोनेशिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, फिनलैंड आदि देशो को किया जाता है। केन्द्रीय एव राज्य सरकारो को इस उद्योग से, विभिन्न करो के रूप मे लगभग ४० करोड रुपये की वार्षिक आय होती है।

सक्षिप्त इतिहास—भारत का सूती वस्त्र उद्योग अति प्राचीन काल से ही विश्व मे बहुत ख्याति प्राप्त कर चुका था। १७वी और १८वी शताब्दी म भारत से विदेशो को बडी मात्रा म सूती वस्त्र का निर्यात किया जाता था। देश मे आधुनिक ढग का प्रथम सूती वस्त्र का कारखाना सन् १८१८ मे कलकत्ते के पास घुसरी नामक स्थान पर स्थापित हुआ। परन्तु इस उद्योग का वास्तविक प्रारम्भ एव प्रगति सन १८५४ म बम्बई मे सूती वस्त्र की मिल स्थापित हो जाने के साथ हो हुई। तदपश्चात् बम्बई और उसके आस पास इस उद्योग का विकास होता चला गया तथा सूती कपडे की मिले अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर, मद्रास एव नागपुर आदि स्थानो मे चालू की गई। प्रथम महायुद्ध काल म सैनिक आवश्यकताओ की बढती हुई माग की पूर्ति के लिये सरकार ने इस उद्योग को अनेक प्रकार से सहायता देकर प्रोत्साहित किया। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् इस उद्योग के लिये सकट काल को आरम्भ हो गई। वस्त्र की माग, कपास के मूल्यो म भयानक घटा-बढी, श्रमिको की व्यापक हडतालें, जापानी माल से घातक प्रतिस्पर्धा, विदेशी विनिमय की दरा मे परिवर्तन आदि कारणो से इस उद्योग को पर्याप्त क्षति हुई। अत भारत सरकार ने सन् १९२७ मे सूतीवस्त्र उद्योग को सरक्षण प्रदान किया जिसके अनुसार विदेशी वस्त्र पर आयात-कर लगा दिया गया। द्वितीय महायुद्ध काल मे इस उद्योग को विकास का स्वर्णावसर प्राप्त हुआ। इस काल मे सूती वस्त्र की माग में अत्यधिक वृद्धि और मुद्रा-स्फीति (Inflation) के कारण वस्त्र का मूल्य बहुत बढ गया। अत भारत सरकार ने सन् १९४३ में सूती वस्त्र के मूल्य, उत्पादन एव उपभोग पर नियन्त्रण लगा दिया, जो जुलाई सन् १९५३ में हटाया गया। सन् १९४७ में सरकार ने इस उद्योग पर से सरक्षण भी हटा लिया। देश के विभाजन से भारतीय सूती वस्त्रोद्योग को तीव्र आघात पहुचा। विभाजन मे लम्बे रेशे वाली कपास के उत्पादन के दो प्रमुख क्षेत्र सिध और पश्चिमी पजाब, पाकिस्तान मे चले गये। फलत भारत लम्बे रेशे वाली कपास का आयातकर्ता बन गया।

पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सूती वस्त्रोद्योग का विकास

(१) **प्रथम पचवर्षीय योजना**—प्रथम योजना के प्रारम्भ में देश भर में कुल ३७८ सूती वस्त्र मिले थी। इनमें से १०३ कताई मिल और २७५ कताई-बुनाई की मिश्रित मिलें थी। इन समस्त मिलो में लगभग १०,९४२,२४१ तकुए और १९४,४११ करघे थे। सन् १९५०–५१ में सूती वस्त्र का उत्पादन ४६१ ७ करोड

गज था। योजना आयोग ने प्रथम योजना म सूती वस्त्र उद्योग के *विकास का कार्यक्रम* दो आधारो पर निर्धारित किया — (i) देश पर्याप्त मात्रा में सूती वस्त्र का निर्यात करता रहे तथा (ii) देश के आन्तरिक उपभोग के लिये पर्याप्त मात्रा में वस्त्र उपलब्ध होता रहे। इस योजना में सूती वस्त्रोद्योग के विकास का भार निजी-क्षेत्र (Private Sector) पर छोड दिया गया। योजना आयोग (Planning Commission) ने प्रथम योजना के अन्तर्गत ४,७०० मिलियन गज सूती वस्त्र के उत्पादन तथा १,७४० मिलियन पौंड सूतोत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया। भारत सरकार *ने सूती वस्त्र के निर्यात व्यापार को बढाने के लिये, सुझाव देने के उद्देश्य से, अक्तूबर* सन् १९५४ मे सूती-वस्त्र निर्यात प्रोत्साहन समिति (Cotton Textile Export Promotion Committee) की नियुक्ति की। सन् १९५२ में सरकार ने सूतीवस्त्र मिलो तथा शक्ति व हाथ करघो की विभिन्न समस्याओ पर विचार करने के लिये कार्वे कानूनगो समिति (Karve-Kanungo Textile Enquiry Committee) की नियुक्ति की। समिति ने आगामी वर्षों मे वस्त्र की माग की वृद्धि को दृष्टिगत करते हुये कुछ सुझाव इस प्रकार दिये —(i) सूती वस्त्र की माग मे वृद्धि की पूर्ति शक्ति-*चालित एव अच्छे ढग के हस्त चालित करघो द्वारा अधिक उत्पादन करके पूरी होनी* चाहिये। (ii) भविष्य म नई बुनाई मिलो को स्थापित करने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये। (iii) पाच हजार सादे करघो को स्वचालित (Automatic) करघो से प्रतिस्थापित करना चाहिये। (iv) वर्तमान १२ लाख हस्तचालित करघा को शक्ति-चालित करघो में बदल दना चाहिये तथा (v) सन १९६० तक वस्त्रोत्पादन के कुछ अ श को हाथ करघो एव शक्ति चालित करघो के लिये सुरक्षित कर दना चाहिये। प्रथम योजनावधि में सूती वस्त्र मिलो ने आशातीत प्रगति की। सन *१९५५–५६ में सूती वस्त्र का कुल उत्पादन ६८७ ५ करोड गज तथा सूत का कुल* उत्पादन १६७ करोड पौंड था। इस अवधि में प्रति व्यक्ति वस्त्र का औसतन उपभोग सन् १९५०–५१ में ९ ७ गज से बढकर सन् १९५५–५६ में १५·५ गज हो गया। योजनाकाल में सूती वस्त्रोत्पादन में मिल, हाथ करघा और शक्ति-करघा तीनो क्षेत्रो में वृद्धि हुई। सन् १९५५–५६ में हाथ-करघा का वस्त्रोत्पादन १५० करोड गज था जो सन १९५० के उत्पादन की तुलना में लगभग दुगुना था। इसी प्रकार शक्ति करघा का वस्त्रोत्पादन सन् १९५० मे १८ ८ करोड गज से बढकर सन् १९५५ म २७ ३ करोड गज हो गया। योजनावधि में कपास के उत्पादन म भी पर्याप्त वृद्धि हुई। कपास का उत्पादन सन् १९५०–५१ मे २९ ७ लाख गाँठ से *बढकर सन् १९५५–५६ मे ४३ लाख गाठ हो गया।* प्रथम योजना मे सूती वस्त्र के वार्षिक निर्यात का अनुमान १०० करोड गज लगाया गया था। सन् १९५०–५१ मे सूती वस्त्र के निर्यात की मात्रा १२७ करोड गज से बढकर सन् १९५५-५६ म ६८० करोड गज हो गई।

(२) द्वितीय पचवर्षीय योजना — इस योजना मे ८५० करोड गज सूती वस्त्र

एव १,६५० करोड पौंड सूत के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया। योजना आयोग ने सन् १६६०–६१ तक १८४ गज प्रति व्यक्ति औसत वस्त्र उपभोग का अनुमान लगाया तथा ५५ लाख गाँठ कपास के वार्षिक उत्पादन का लक्ष्य रक्खा। भारत सरकार ने सन् १६५८ म श्री डी० ए० रमन (D A Raman) की अध्यक्षता मे वस्त्र उद्योग की जाच के लिये सूती वस्त्र जाच समिति (Textile Enquiry Committee) की नियुक्ति की। समिति ने कुछ सुझाव इस प्रकार दिये –(i) वस्त्रोद्योग पर से उत्पादन-कर (Excise Duty) को और कम किया जाना चाहिये। (ii) सूती वस्त्रोद्योग के नवीनीकरण (Rationalization) करने के विषय पर राष्ट्रीय हित एव उद्योग के हित की दृष्टि से विचार करना अत्यावश्यक है। अत वस्त्रोद्योग की तीव्रगति से नवीनीकरण की नीति नही अपनानी चाहिये। (iii) वस्त्रोत्पादन म वृद्धि करने के लिए ३ हजार अतिरिक्त स्वचालित करघे स्थापित करने चाहिये। जाच समिति के सुझावों को मान्यता देने के लिये भारत सरकार ने जुलाई सन् १६५८ मे वस्त्रोद्योग पर उत्पादन-कर म पुन कमी कर दी जिससे उद्योग की समस्या सुलझने म पर्याप्त सहायता मिली। सन् १६५६ और १६६० मे क्रमश ७५०० और १,८०० स्वचालित करघे लगाने की अनुमति दी गई। सन् १६६०–६१ म सूती वस्त्र का उत्पादन ७४६ ७ करोड गज था। सन् १६५६ और १६६० मे क्रमश ७४८ मिलियन मीटर गज और ६३८ मिलियन मीटर गज वस्त्र का निर्यात किया गया। इस प्रकार नियोजन के १० वर्षों म सूती वस्त्र के उत्पादन म ६१ ६% वृद्धि हुई। द्वितीय योजनावधि मे कपास का उत्पादन सन् १६५५–५६ म ४३ लाख गाँठ से बढकर सन् १६६०–६१ म ५१ लाख गाँठ हो गया।

(३) **तृतीय पचवर्षीय योजना** –इस योजना म ६३० करोड गज सूती वस्त्र के उत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया है। इसमे से ८५ करोड गज वस्त्र निर्यात के लिये होगा। अमुक ६३० करोड गज के लक्ष्य मे से ३५० करोड गज वस्त्र हाथ करघा, विद्युत् करघा और खादी उद्योग द्वारा उत्पादन का अनुमान लगाया गया है। वस्त्र मिलों का उत्पादन बढाने के लिये, योजनावधि मे २५ हजार स्वचालित करघे लगाये जायगे। तीसरी योजनावधि के अन्त तक मिलो मे तकुवो की सख्या १६५ लाख कर दी जाएगी, जो कि दूसरी योजना के अन्त म १२७ लाख थी। तीसरी योजना मे प्रति व्यक्ति औसत वस्त्रोभाग का अनुमान सन् १६६०–६१ मे १५ ५ गज से बढाकर १७ ५ गज लगाया गया है। इस योजना मे कपास के उत्पादन का लक्ष्य सन् १६६०–६१ मे ५१ लाख गाँठ से बढाकर सन् १६६५–६६ म ७० लाख गाठ रक्खा गया है।

सूती वस्त्र उद्योग की मुख्य समस्याए एव उपचार –सूती वस्त्रोद्योग की प्रमुख समस्यायें (Problems) एव उनके उपचार (Remedies) इस प्रकार हैं —(i) **अभिनवीकरण की समस्या** —द्वितीय महायुद्ध काल मे सूती वस्त्र मिलो मे अत्यधिक मात्रा मे उत्पादन किये जाने से मशीनो की पर्याप्त घिसाई हुई परन्तु नई मशीनो की आयात की कठिनाई के कारण मशीनो का सामान्य प्रतिस्थापन नही हो पाया। उसी समय से

वस्त्रोद्योग मे पुरानी मशीनो के प्रतिस्थापन की समस्या बनी हुई है। अत सूती वस्त्र मिलो की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि लाने के लिये अभिनवीकरण (Rationalization) की नितान्त आवश्यकता है। परन्तु अभिनवीकरण के मार्ग मे दो कठिनाइयाँ हैं —(अ) देश मे पुरानी मशीनो को नई मशीनो से प्रतिस्थापित करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूजी का अभाव है। हर्ष का विषय है कि इस समय राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) की ओर से नई मशीनें लगाने के लिये पूजी की व्यवस्था की जा रही है। इसके अतिरिक्त सूती वस्त्र मिलो को भी अपने दीर्घकालीन कोषो एव लाभो से भी पूंजी प्राप्त करके नई मशीनो के लगाने की व्यवस्था करनी चाहिये। मई सन् १९६० के एक अनुमान के अनुसार सूती वस्त्र उद्योग के अभिनवीकरण के लिये कुल १८० करोड रु० की आवश्यकता है जिसमे से केवल ८० करोड रु० ही स्वय उद्योग द्वारा दिए जा सकते हैं। (आ) अभिनवीकरण से सम्बन्धित दूसरी समस्या इससे होने वाली श्रमिकों की बकारी है। इसलिये अभिनवीकरण का एक ऐसा क्रमिक कार्यक्रम बनाना चाहिए कि इस कार्यक्रम से जितने श्रमिक बेरोजगार हो उन्हे कोई दूसरा रोजगार दिया जा सके। इस सम्बन्ध मे सूती वस्त्र जाँच समिति ने भी यही सुझाव दिया है कि अभिनवीकरण से पूर्व, प्रत्येक विषय पर राष्ट्रीय हित एवं उद्योग के हित को दृष्टिगत करके विचार किया जाना चाहिये तथा नवीनीकरण का कदम तीव्रगति से नही उठाना चाहिये। (ii) **विदेशी प्रतियोगिता** —भारत के सूती वस्त्र उद्योग के द्रुतगति से विकास के मार्ग मे विदेशी प्रतियोगिता एक प्रधान बाधा है। विदेश-स्थित सूती वस्त्र मिलो मे आधुनिकतम मशीनें उपलब्ध हैं और लम्बे रेशे वाली कपास की प्रचुरता है। इसलिए चीन, जापान और पाकिस्तान आदि देश अपने न्यूनोत्पादन-व्यय के कारण भारत की वस्त्र मिलो की पुरानी मशीनो से निर्मित माल से प्रतियोगिता करने मे सफल हो जाते हैं। वस्तुत देश के सूती वस्त्रोद्योग को लाभदायक स्थिति मे रखने के लिए विदेशी निर्यात मे वृद्धि होनी अत्यावश्यक है। अत विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिये और अपने निर्यात बाजारो को बनाये रखने के लिये, देश की सूती वस्त्र मिलो की कार्यक्षमता बढाई जानी चाहिए। इसके लिए पुरानी मशीनो का प्रतिस्थापन तथा अभिनवीकरण और श्रमिकों की कार्यक्षमता मे वृद्धि अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त विदेशो मे पर्याप्त विज्ञापन एव प्रचार तथा विदेशी बाजारो का अध्ययन भी आवश्यक है। (iii) **कच्चा माल** —देश के विभाजन के पश्चात् भारत मे लम्बे रेशे वाली कपास की अपर्याप्तता हो गई है। विभाजन मे कपास उत्पादन के दो क्षेत्र सिंध और प० पजाब पाकिस्तान मे चले गय। अत मिलो को पूरे वर्ष चालू रखने के लिये, देश को ऊँचे भाव पर कपास का आयात करना पडता है जिससे वस्त्र की उत्पादन-लागत भी ऊँची हो जाती है। वस्तुत भारतीय सूती वस्त्रोद्योग की आशातीत प्रगति के लिये, लम्बे रेशे वाली कपास का उत्पादन बढाया जाना चाहिए। (iv) **अकुशल एव अलाभप्रद मिलो की समस्या** —भारत मे सूती वस्त्र के अनेक कारखाने अनार्थिक

आकार के हैं। इन कारखानो का आकार अत्यन्त छोटा है। फलत इनमे बडे पैमाने के उत्पादन की आभ्यान्तरिक (Internal) एव वाह्य (External) बचत (Surplus) प्राप्त नही होती जिससे इनका उत्पादन-व्यय अपेक्षाकृत अधिक होता है। वास्तव में अनार्थिक आकार की इन मिलो मे आवश्यक विस्तार एव सुधार करके उन्हे कुशल एव लाभप्रद बनाया जाना चाहिए। (v) **मिल, हाथ-करघा एव शक्ति-करघा के उत्पादन में सामन्जस्य की समस्या** — हमारे देश म सूती वस्त्र का उत्पादन मिल, हाथ-करघा एव शक्ति-करघा तीन साधनो द्वारा होता है। इन तीनो साधनो के उत्पादन मे समन्वय की अति आवश्यकता है। भारतीय सरकार, मुख्यत रोजगार की मात्रा की दृष्टि से, हाथ-करघा उद्योग के विकास एव प्रगति को प्रोत्साहित कर रही है। सरकार ने हाथ-करघा उद्योग के लिये कुछ क्षेत्र सीमित किये हैं। साथ ही, सरकार ने मिलो मे बनाये गये वस्त्र पर एक विशेष-कर (Cess) लगाया है, जिससे प्राप्त धनराशि को हाथ-करघा उद्योग के विकास पर व्यय किया जाता है। तीसरी पचवर्षीय योजना मे सूती वस्त्रोत्पादन के निर्धारित लक्ष्य मे से एक बडा भाग, हाथ करघा उद्योग के लिये सुरक्षित कर दिया गया है। यद्यपि वृहत्स्तरीय सूती मिलो एव लघुस्तरीय हाथ करघो की पारस्परिक प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए, भारत सरकार द्वारा उठाये गये ये कदम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि इनसे मिल उद्योग को हानि होती है और उसके प्रसार पर रोक लगती है। वस्तुत उत्पादन के उचित साझे-कार्यक्रम से हाथ-करघा एव मिल उद्योग की प्रतियोगिता को कम किया जाना चाहिए। अत सूती वस्त्र उद्योग के तीनो उत्पादन-साधनो मे पारस्परिक सामन्जस्य स्थापित करना चाहिए। (vi) **सरकार की कर नीति** —भारत सरकार की सूती वस्त्र मिलो पर ऊ चा उत्पादन-कर (Heavy Excise Duty) लगाने की नीति, सूती वस्त्र मिलो के विकास म एक बाधा रही है। ऊ चे-उत्पादन कर को चुकाने के पश्चात् उद्योगपतियो की लाभ की मात्रा बहुत कम हो जाती है और उनके पास मशीनो के प्रतिस्थापन आदि के लिये पर्याप्त धनराशि नही बच पाती है। अत सरकार द्वारा अपनी कर-नीति उद्योग के हितो को ध्यान मे रखकर बनाई जानी अत्यावश्यक है। फिर भी देश के तीव्र आर्थिक विकास म सरकार के बढते हुये सक्रिय यागदान के लिये, सूती वस्त्रोद्योग पर करा-भार (Burden of Taxes) की पूर्णतया उपेक्षा नही की जा सकती। (vii) **अनुसधान** —वस्तुत सूती वस्त्र जैसे सगठित एव प्रतियोगी उद्योग मे निरन्तर उन्नति एव सुधार की अति आवश्यकता है। अभी तक हमारा देश इस दिशा मे बहुत पिछडा हुआ है। अत सूती वस्त्र-उद्योग से सम्बन्धित अनुसन्धान की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

(२) पटसन उद्योग (Jute Industry)

वर्तमान स्थिति और महत्व—विश्व के आर्थिक इतिहास मे भारतीय जूट उद्योग को बहुत महत्वपूर्ण एव प्रथम स्थान दिया जाता है। भारत के बुनाई उद्योगो (Textile Industries) मे सूती वस्त्रोद्योग के पश्चात् जूट उद्योग का ही दूसरा

स्थान है। देश के सूती वस्त्र उद्योग और पटसन उद्योग की आधारभूत विशेषताओं मे मुख्य अन्तर इस प्रकार है—(i) यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध के समय से भारतीय सूती वस्त्र का निर्यात बहुत बढ गया है, तथापि सूती वस्त्रोद्योग मुख्यतः वस्त्र की घरेलू माग की पूर्ति करता है, परन्तु पटसन उद्योग घरेलू माग की पूर्ति के साथ ही साथ निर्यात व्यापार की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। (ii) सूती वस्त्र उद्योग मुख्यरूप से देशी पूजी और उपक्रम (Enterprise) से सगठित एव विकसित हुआ है, परन्तु पटसन उद्योग मुख्यतः विदेशी पूजी और साहस से स्थापित और विकसित हुआ है। (iii) सूती वस्त्र उद्योग अब भी भारतीयो के हाथो मे है, जबकि पटसन उद्योग अब भी मुख्यत विदेशियो के ही हाथो मे है। (iv) यद्यपि अहमदाबाद और बम्बई सूती वस्त्र उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं, फिर भी यह उद्योग देश के अन्य भागो मे भी विकेन्द्रित है। इसके विपरीत जूट उद्योग स्थानीयकरण का चरम उदाहरण है। देश की अधिकांश जूट मिलें कलकत्ता और इसके आस-पास केन्द्रित है। (v) जूट उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग की अपेक्षा, भली प्रकार से संगठित है। सन् १९५७ की भारतीय-उत्पादन-गणना (Census of Indian Manufactures) के अनुसार उस समय देश मे ११२ जूट की मिलें थी। इस उद्योग मे लगभग ९० करोड रु० की पूजी लगी हुई है, लगभग २,७०,३४२ श्रमिक रोजगार पाते हैं और लगभग १०३ लाख व्यक्ति इस उद्योग पर परोक्ष रूप से अपनी आजीविका के लिये निर्भर है। पश्चिमी बगाल की जूट मिलो मे, समस्त उद्योग के ९२·५ प्रतिशत श्रमिक कार्य करते है। इस उद्योग के समस्त श्रमिको मे से ८८ ८ प्रतिशत पुरुष १० ३ प्रतिशत स्त्री और ० ९ प्रतिशत बच्चे हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार की जूट मिलो मे स्त्री श्रमिको का अनुपात कम है, परन्तु मध्य प्रदेश और पश्चिमी बगाल मे स्त्री श्रमिको की सख्या क्रमश २१·४ प्रतिशत और १० ४ प्रतिशत है।

सक्षिप्त इतिहास—अति प्राचीन काल से भारत मे जूट उद्योग कुटीर उद्योग के रूप मे प्रचलित था। वास्तव मे सन् १८५५ मे जार्ज आक्लैंड द्वारा बगाल मे सिरामपुर के सन्निकट रिशरा मे प्रथम जूट की मिल स्थापित हो जाने के साथ इस उद्योग का देश मे सगठित स्थापन एव विकास हुआ। सन् १८५९ मे बोर्नियो जूट कम्पनी ने प्रथम शक्ति चालित करघा स्थापित किया। सन् १८७९–८० से सन् १८८३–८४ के बीच चालू जूट मिलो की औसत सख्या २१ थी। इनमे कुल ५·५ हजार शक्ति चालित करघे और ८८ हजार तकुए लगे हुये थे। सन् १८८६ मे भारतीय जूट मिल्स सघ (Indian Jute Mills Association) की स्थापना हुई। यह सस्था सकटकाल म उद्योग की रक्षा करने मे सदा ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। प्रथम महायुद्ध काल मे जूट उद्योग के विस्तार और विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इस अवधि मे जूट के बोरों, तम्बू, तिरपाल आदि की माग मे बहुत वृद्धि हुई। युद्ध-काल मे कच्चे-जूट के निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। इन सब कारणो से जूट उद्योग मे पर्याप्त प्रसार व वृद्धि हुई। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ मे देश मे ६०

आत्मनिर्भरता (Absolute Self-sufficiency) प्राप्त करने की अपेक्षा सापेक्ष आत्मनिर्भरता (Relative Self-sufficiency) प्राप्त करनी चाहिये अर्थात् भारत को कुछ कच्चे जूट का आयात करना चाहिये तथा शेष का उत्पादन देश मे ही करना चाहिये। (इ) देश मे अच्छी किस्म के जूट के उत्पादन मे वृद्धि होनी चाहिये और इसके लिये प्रादेशिक सरकारो को जूट बीज अधिनियम (Jute Seed Acts) पास करने चाहियें तथा कुछ क्षेत्रो को केवल अच्छी किस्म की जूट उत्पन्न करने के लिये ही निश्चित कर देने चाहियें। (ई) कच्चे जूट के निर्यात पर बिल्कुल प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये। (उ) जूट की विस्तृत खेती के स्थान पर गहरी खेती की जानी चाहिये। (ऊ) जूट की मिलो का अभिनवीकरण करना चाहिये। (ए) जूट उद्योग के विकास के लिये उचित निर्देशन, सुझाव एव सहायता देने के लिये एक विकास समिति (Development Council) नियुक्त की जानी चाहिये तथा (ऐ) कच्चे जूट का न्यूनतम मूल्य निर्धारित करना चाहिये तथा क्षेत्रीय वितरण प्रणाली प्रारम्भ करनी चाहिये। भारत सरकार ने जाच समिति की लगभग समस्त सिफारिशो को स्वीकार करके उन्हें व्यावहारिक स्वरूप दिया। फलत सन् १९५५-५६ मे जूट के सामान का उत्पादन ११ ५ लाख टन और कच्चे जूट का उत्पादन ४२ लाख गाठ हुआ। प्रथम योजना के पूर्व ६,५०,००० टन जूट का सामान निर्यात किया जाता था, परन्तु सन् १९५५-५६ मे निर्यात की मात्रा बढकर ८,७५,००० टन हो गई। इस योजनावधि मे जूट के माल का निर्यात बढाने के लिये चीन, रूस, पोलैण्ड, इटली, नार्वे आदि देशो से व्यापारिक समझौते किये गये। (ii) द्वितीय पंचवर्षीय योजना—सन् १९६० मे जूट के सामान का कुल उत्पादन १०,९७,००० टन हुआ। सन् १९६०-६१ मे कच्चे जूट का कुल उत्पादन केवल ४० लाख गाठ था। (iii) तीसरी पचवर्षीय योजना—इस योजना मे कच्चे जूट के उत्पादन का लक्ष्य ६२ लाख गाठ रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त योजनावधि मे मेस्ता (Mesta) से १३ लाख अतिरिक्त गाठ उपलब्ध होने का लक्ष्य रक्खा गया है। योजनावधि मे पटसन की फसल के लिये न्यूनतम लाभकारी मूल्य निश्चित किया जायेगा, जो देश मे पटसन के उत्पादन बढाने के रूप मे आवश्यक उद्दीपक होगा। इस प्रकार तीसरी योजना मे विकास के जो विभिन्न कार्यक्रम रक्खे गये हैं, वे और भी अधिक प्रभावशाली हो जायेंगे। योजनाकाल मे जूट की प्रति एकड उत्पत्ति मे १६ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

पटसन उद्योग की समस्यायें और उनके निवारणार्थ उपचार—हमारे देश मे पटसन उद्योग के विकास मार्ग मे मुख्य समस्यायें एव उनको दूर करने के लिये मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं—(i) **यन्त्रण के आधुनिकीकरण की समस्या** (Problem of Modernisation of Equipment) —हमारे देश मे जूट मिलो में लगी हुई मशीनें बहुत पुरानी, अप्रचलित एव दिनातीत (Outdated) हैं। फलत इस उद्योग की प्राविधिक कुशलता (Technical Efficiency बहुत कम है और उत्पादन-लागत भी अधिक है। इस स्थिति मे विदेशी प्रतिद्वन्दियो के साथ, जिनके पास पूजी व

असीमित साधन, शिल्प सम्बन्धी एव अन्वेषण के विशाल सगठन हैं, भारतीय जूट उद्योग की तुलना की कल्पना भी नही की जा सकती। अत देश मे जूट उद्योग के प्रति इकाई लागत-व्यय को न्यूनतम करने तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिये, मशीनो के नवीनीकरण की नितान्त आवश्यकता है। परन्तु मशीनो के नवीनीकरण मे भी दो प्रमुख समस्यायें सामने आती हैं —(अ) जूट उद्योग के अभिनवीकरण के लिये लगभग ५० करोड रुपये की पूजी की आवश्यकता है और (आ) अभिनवीकरण के पश्चात् लगभग ४,००० श्रमिको के बेरोजगार होने की समस्या है। अत इस स्थिति म जूट उद्योग के अभिनवीकरण के लिये क्रमिक कदम उठाने की आवश्यकता है। विगत वर्षों म भारत सरकार ने उन जूट मिलो को, जिनकी मशीनें उत्पादन के अयोग्य थी अथवा जिनका उत्पादन-व्यय बहुत ऊंचा था, आधुनिकीकरण करने का आदेश दिया तथा राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Devlopment Corporation) द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की। फलस्वरूप सन् १९६० तक देश की अधिकाश जूट मिलो का नवीनीकरण हो गया है। **(ii) निर्यात बढ़ाने की समस्या** —वस्तुत आधुनिकीकरण एव निर्यात प्रोत्साहन दोनो एक दूसरे से सम्बन्धित प्रश्न हैं। जूट उद्योग के आधुनिकीकरण से निर्यात बढाने का प्रश्न भी किसी सीमा तक हल हो सकेगा। यद्यपि जूट उद्योग भारत का प्रमुख निर्यात व्यापार है, तथापि अनेक कारणो, जैसे-कच्चे जूट का अभाव, जूट के सामान के उत्पादन मे कमी, जूट मिलो की अपेक्षाकृत नीची प्राविधिक कार्यक्षमता के कारण ऊचा उत्पादन-व्यय और परिणामस्वरूप जूट के सामान के ऊचे मूल्य, जूट वस्तुओ के विदेशी निर्माताओ—विशेषकर पाकिस्तान की बढती हुई प्रतियोगिता, विदेशो मे जूट के बोरो के स्थान पर मोटे कागज व कपडे के थैलो का उपयोग, सस्ती स्थानापन्न वस्तुओ का बढता हुआ प्रयोग, भारत सरकार द्वारा जूट के सामान पर लगाया जाने वाला ऊंचा निर्यात-कर, आदि से भारत के जूट के सामान का निर्यात कम हो रहा है और भविष्य मे इसके और भी कम होने की सम्भावना है। अत जूट उद्योग के निर्यात व्यापार को बढाने के लिये मशीनो का नवीनीकरण किया जाना चाहिये तथा निर्यात-कर की मात्रा घटाई जानी चाहिये ताकि भारतीय जूट का सामान विदेशी बाजारो मे अपेक्षाकृत सस्ते मूल्यो पर बेचा जा सके। **(iii) कच्चे जूट का अभाव** '—देश के विभाजन के फलस्वरूप भारत म कच्चे जूट का अभाव हो गया है तथा देश की जूट मिलें कच्ची सामग्री के लिये पाकिस्तानी आयात पर बहुत कुछ निर्भर हो गई हैं। अतः कच्ची-जूट के उत्पादन म देश को आत्मनिर्भर बनाने की आवश्यकता है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कदम उठाये जा रहे हैं।

(३) चीनी उद्योग (Sugar Industry)

वर्तमान स्थिति एवं महत्व —भारत के सगठित उद्योगो मे, सूती वस्त्रो-

द्योग को छोड़कर, चीनी उद्योग का द्वितीय स्थान है। सयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चात् भारत विश्व मे चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक है। इस उद्योग का देश की कृषि अर्थ-व्यवस्था (Agricultural Economy) मे महत्वपूर्ण स्थान है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कृषको की समृद्धि मे इस उद्योग का मुख्य हाथ है। इससे देश म व्यापारिक फसल के उत्पादन मे वृद्धि हुई है। वस्तुतः उत्तर प्रदेश और बिहार की अर्थ-व्यवस्था इस उद्योग के विकास एव समृद्धि से बहुत अधिक सम्बद्ध है क्योकि देश के समस्त चीनी-उत्पादन का लगभग ७० प्रतिशत भाग इन्ही दो प्रदेशो मे उत्पन्न किया जाता है। राष्ट्रीय आय, सरकारी आय और रोजगार की दृष्टि से भी चीनी उद्योग का स्थान भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चीनी उत्पादन-कर (Sugar Excise Duty) तथा गन्ना-कर (Cane Cess) से सरकार को प्रतिवर्ष बडी मात्रा मे आय प्राप्त होती है। भारतीय चीनी उद्योग मे लगभग १०२ करोड रुपये की पूजी लगी हुई है तथा इसमे लगभग १,३६,००० श्रमिक रोजगार पा रहे हैं। सन् १९६०-६१ मे देश मे १७८ चीनी के कारखाने थे। इसी वर्ष देश मे ३० चीनी के कारखाने सहकारी आधार पर चलाये जा रहे थे। तीसरी योजनावधि मे २५ चीनी के अतिरिक्त कारखाने सहकारी आधार पर सगठित किये जायेंगे। अन्य उद्योगो के सहायक के रूप मे भी चीनी उद्योग का विशेष महत्त्व है। यह उद्योग कागज, गत्ता सोख्ता, एल्कोहल आदि उद्योगो को खाई (Bagasses) तथा शीरा (Molasses) के रूप मे कच्चा माल प्रदान करता है।

सक्षिप्त इतिहास —हमारे देश मे शक्कर का उत्पादन आदिकाल से होता चला आया है। इस तथ्य का वास्तविक प्रमाण यह है कि कौटल्य (Kautilya) ने अपने 'अर्थशास्त्र' मे गन्ने के द्वारा चीनी बनाने तथा शीरे के द्वारा मद्यसार बनाने की विधियो का रोचक वर्णन किया है। १५वी शताब्दी से लेकर १९वी शताब्दी के अन्तिम चरण तक, देश मे चीनी उद्योग ने पर्याप्त प्रगति की। इस अवधि में पर्याप्त मात्रा मे चीनी का निर्यात विदेशो को किया गया। १९वी शताब्दी के अन्त मे भारत मे मारीशस (Mauritious) और जावा (Jawa) आदि देशो से भारी मात्रा मे चीनी का आयात होना आरम्भ हो गया जिससे भारतीय चीनी उद्योग की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई। भारत मे आधुनिक ढग का चीनी का कारखाना सर्वप्रथम १९०३ में स्थापित किया गया, परन्तु उद्योग द्वारा की गई सराहनीय, वास्तविक एव द्रुत उन्नति सन् १९३१-३२ से ही प्रारम्भ हुई जबकि इस उद्योग को सरकारी सरक्षण (Protection) प्राप्त हुआ। इसी समय विदेशो से आने वाली चीनी पर भारी आयात कर लगा दिया गया। सन् १९५० में इस उद्योग पर से सरक्षण हटा लिया गया। वस्तुत इस उद्योग का विकास अपनी द्रुतगति के लिये भारत के औद्योगिक इतिहास मे अद्वितीय है। सरक्षण प्राप्ति के पश्चात् चीनी उद्योग का द्रुतगति से दृढ विकास होने लगा और चीनी की आयात कम हो गई, जो सन् १९४१-४२ तक प्राय समाप्त सी हो गई। सरक्षण के प्रारम्भिक पाच वर्षों में इस उद्योग ने

तीव्र गति से विकास पाया और सन् १९३७-३८ में चीनी मिलों की संख्या १३७ तक पहुंच गई तथा चीनी का समस्त उत्पादन १२,३०,९०० टन था, जबकि सन् १९३१-३२ में कुल चीनी मिलो की संख्या ३२ थी और उस वर्ष चीनी का कुल उत्पादन केवल १ ६० लाख टन था। द्वितीय महायुद्ध के समय चीनी का उत्पादन कम होने तथा मूल्य ऊंचा हो जाने के कारण सरकार को चीनी का मूल्य नियन्त्रण करना पड़ा तथा राशनिंग भी किया गया। सन १९४४ में भारत सरकार ने गन्ने की स्थिति में सुधार करने के लिये एक केन्द्रीय गन्ना समिति (Central Cane Committee) नियुक्त की। इस समय कोयम्बटूर का गन्ना केन्द्र, करनाल का गन्ना उप केन्द्र तथा दिल्ली की भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद आदि गन्ने की उत्पत्ति, बीमारी, विपणन, निर्माण आदि विषयों पर अन्वेषण कर रहे हैं। कानपुर की Sugar Technological Institute तथा लखनऊ स पास गोल दूर मद्रक का Sugar Technology और Sugarcane Research Institute, चीनी मिलों का मशीनरी, निर्माण विधि, यान्त्रिक नियन्त्रण न सुधार आदि विषयों पर उचित सलाह एव निर्देशन करते हैं। अगस्त सन् १९४७ म देश के विभाजन के फलस्वरूप अविभाजित भारत के गन्ना उत्पादन का ९७ ६ प्रतिशत भाग हमारे देश को प्राप्त हुआ। गांधी जी (Gandhiji) के अनुरोध से १० दिसम्बर सन् १९४७ को भारत सरकार ने चीनी व गुड के मूल्यों, वितरण एव अन्तर्प्रदेशिक आयात निर्यात पर से नियन्त्रण हटा लिया। सन् १९४८ और १९४९ में चीनी का उत्पादन कम हो जाने से चीनी के मूल्यों में पुन वृद्धि हुई। अत बाध्य होकर सितम्बर सन् १९४९ मे सरकार ने चीनी के उत्पादन, मूल्य और वितरण पर नियन्त्रण लगा दिया। सन् १९५२ के अन्त म चीनी पर से पूर्ण रूप से नियन्त्रण हटा लिया गया।

पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत चीनी उद्योग का विकास—(१) प्रथम योजना:—सन् १९५०–५१ म चीनी मिलों की कुल उत्पादन-क्षमता १५ ४ लाख टन थी। योजना आयोग (Planning Commission) ने सन् १९५५–५६ तक देश मे चीनी की वार्षिक माग १५ लाख टन होने का अनुमान लगाया। अत प्रथम योजना में मिलो की बेकार उत्पादन-क्षमता को उपयोग मे लाने का लक्ष्य स्वीकार किया गया। परन्तु सन् १९५२ मे चीनी पर कन्ट्रोल हटा लेने से चीनी की माग म तीव्र गति से वृद्धि हुई और सरकार को सन् १९५३–५४ और १९५४–५५ मे क्रमश ७ १६ लाख टन और ५ ७ लाख टन चीनी का आयात करना पड़ा। इस स्थिति में चीनी-उत्पादन म आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिये योजना की पूर्वनिर्धारित नीति को सन् १९५४ म बदलना पड़ा। फलस्वरूप चीनी उद्योग की उत्पादन-क्षमता बढ़ाकर २० लाख करने का लक्ष्य रक्खा गया। तदानुसार, ४३ नई चीनी मिलों की स्थापना और ४२ पुरानी चीनी मिलो के व्यापक विस्तार के लिये लाइसेंस दिये गये। मार्च सन् १९५४ म चीनी उद्योग के विकास के लिये आवश्यक सुझाव देने के उद्देश्य स एक विकास समिति (Development Council) स्थापित की

गई। फलतः देश में चीनी का उत्पादन सन् १९५०–५१ में ११.२ लाख टन से बढ़ कर सन् १९५५–५६ में १८.६ लाख टन हो गया। (ii) द्वितीय योजना—इस योजना में योजना आयोग ने चीनी उद्योग के विकास की समस्त योजनाएं बनाने का कार्य चीनी विकास परिषद (The Development Council for Sugar Industry) को सौंप दिया था। द्वितीय योजना में चीनी के उत्पादन का लक्ष्य २२.५ लाख टन रक्खा गया था। योजनाकाल में चीनी उत्पादन की वृद्धि के लिये ऐसी मिलों को, जो पर्याप्त मात्रा में गन्ना न मिलने के कारण बन्द पड़ी थीं अथवा जो उचित स्थानों पर स्थित नहीं थीं, पुनर्गठित एवं पुनर्वासित करने का कार्यक्रम भी चलाया गया। योजनावधि में चीनी मिलों को सहकारिता के आधार पर स्थापित करने पर अधिक बल दिया गया। सन् १९६०–६१ तक देश में ३० सहकारी चीनी की मिलें स्थापित की गईं। सन् १९६०–६१ में चीनी का कुल उत्पादन ३० लाख टन था जो कि निर्धारित लक्ष्य से बहुत अधिक था। (iii) तृतीय योजना—इस योजना में ३५ लाख टन चीनी के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। योजनाकाल में सहकारी आधार पर २५ अतिरिक्त चीनी के कारखानें स्थापित किये जायेंगे। इस प्रकार तीसरी योजना के अन्त तक सहकारी चीनी मिलों का उत्पादन समस्त चीनी उत्पादन का एक-चौथाई भाग हो जायगा।

चीनी उद्योग की मुख्य समस्यायें एवं उपचार—हमारे देश में चीनी उद्योग की प्रमुख समस्या चीनी का ऊंचा उत्पादन-व्यय है जिसके कारण भारत में चीनी का मूल्य अन्य देशों की अपेक्षा अधिक ऊंचा रहता है। वस्तुतः चीनी का ऊंचा उत्पादन-व्यय और ऊंचा-मूल्य, उद्योग की कुछ मुख्य विशेषताओं और दुर्बलताओं से सम्बन्धित हैं। ये इस प्रकार हैं—(i) स्थिति सम्बन्धी कठिनाई—हमारे देश में चीनी उद्योग मुख्यतः बिहार और उत्तरप्रदेश में ही केन्द्रित है, परन्तु चीनी उद्योग की अनुकूलता की दृष्टि से उत्तरप्रदेश एवं बिहार की तुलना में भारत का प्रायद्वीप (Peninsula) अधिक उत्तम है। दक्षिणी प्रायद्वीप की उष्णकटिबन्धीय (Tropical) जलवायु, उत्तरी भारत की उप-उष्णकटिबन्धीय (Sub-tropical) जलवायु की अपेक्षा, गन्ने के उत्पादन के लिये अधिक श्रेष्ठ है। दक्षिणी-भारत में गन्ना पेरने का मौसम उत्तरी-भारत की अपेक्षा अधिक लम्बा रहता है। अतः चीनी उद्योग के उपयुक्त स्थापन (Location) की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिये तीन मुख्य सुझाव हैं—(अ) उत्तरी भारत में कुछ चीनी मिलों को हटाकर दक्षिणी-भारत में स्थापित करना चाहिये। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह सुझाव अधिक उपयुक्त नहीं है और इस प्रकार के स्थानान्तरण (Shifting) में अत्यधिक व्यय होने की सम्भावना है। (आ) भविष्य में नई चीनी मिलों की स्थापना के लाइसेंस केवल दक्षिणी-भारत के लिये ही दिये जायें तथा (इ) जिन चीनी मिलों में पुरानी व घिसी हुई मशीनों को नई मशीनों से प्रतिस्थापित करना है, उन्हें नवीनीकरण के समय पुराने स्थान से हटाकर सरलतापूर्वक अधिक उपयुक्त स्थान पर स्थापित

किया जाए। (ii) **अनार्थिक आकार की चीनी मिलें**—हमारे देश मे अधिकाश चीनी मिलें बहुत छोटे आकार की हैं। इनमे बडे पैमाने के उत्पादन की आन्तरिक एव वाह्य (Internal and External) बचत प्राप्त नही होती। फलत ऐमी मिलो मे चीनी का उत्पादन व्यय अपेक्षाकृत बहुत ऊचा रहता है। उत्पादन की आधुनिक दशाओ म लगभग ७०० टन गन्ना प्रतिदिन पेरने की क्षमता वाली मिलें ही आर्थिक आकार (Economic Size) की मानी जाती है। सन् १९५५-५६ में देश में ३१ चीनी मिलो का आकार अनार्थिक था अर्थात् इन मिलो की दैनिक क्षमता ७०० टन से कम गन्ने का रस निकालने की थी। अत चीनी के उत्पादन-व्यय एव मूल्य का न्यूनतम करने के लिये, अनार्थिक आकार की चीनी मिलो का आवश्यक विस्तार किया जाना चाहिए। (iii) **अभिनवीकरण की समस्या**—हमारे देश की अधिकाश चीनी मिलों मे पुरानी और घिसी हुई मशीनें लगी हुई हैं। इन मशीनो की कार्य-क्षमता अतिन्यून है। इसलिये इन मशीनों को नई एव आधुनिकतम मशीनो से प्रति स्थापित करने की अपूर्व आवश्यकता है। परन्तु चीनी मिलो के अभिनवीकरण से दो स्वाभाविक कठिनाइया प्रकट होने की सम्भावना है.— प्रथम, अभिनवीकरण के लिये उद्योगपतियो के पास पर्याप्त मात्रा मे पू जी का अभाव है तथा द्वितीय, अभिनवीकरण के पश्चात् श्रमिकों की छटनी के रूप मे अत्यधिक बेकारी फैलने की सम्भावना है। अत योजना आयोग के सुझावानुसार चीनी उद्योग के अभिनवीकरण का एक ऐसा क्रमिक कार्यक्रम कार्यान्वित किया जाना चाहिये कि एक ओर देश म बेकारी नही फैलने पाये तथा दूसरी ओर श्रमिको को अधिक मजदूरी के रूप मे अतिरिक्त लाभ भी प्राप्त हो सकें। अभिनवीकरण के लिये पू जी सम्बन्धी अभाव की पूर्ति के लिये सरकार को राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (N I D C) के माध्यम से उद्योगपतियों की आर्थिक सहायता करनी चाहिये। (iv) **गन्ने से सम्बन्धित समस्या**—भारत मे गन्ने की प्रति एकड उत्पत्ति केवल १४-१५ टन है, जबकि जावा और हवाई द्वीप समूह मे इसकी प्रति एकड उत्पत्ति क्रमश ५६ और ६२ टन है। इसी प्रकार हमारे देश मे गन्ने से केवल ९ ५० प्रतिशत चीनी उपलब्ध होती है, जबकि आस्ट्रेलिया मे १४ ३३ प्रतिशत फारमोसा मे १२ ९३ प्रतिशत, पेरु में १२ ३३ प्रतिशत, क्यूबा मे १२·२५ प्रतिशत, मारीशस मे १२ ०८ प्रतिशत और जावा मे ११·५० प्रतिशत चीनी उपलब्ध होती है। इसका परिणाम यह है कि भारत म प्रति एकड चीनी का औसत उत्पादन बहुत कम है। हमारे देश मे १ ३७ टन चीनी प्रति एकडके गन्ने से उत्पन्न होती है, परन्तु क्यूबा, हवाई द्वीप, दक्षिणी अफ्रीका, जावा और आस्ट्रेलिया म प्रति एकड गन्ने स चीनी का उत्पादन क्रमश २ ६५ टन, ६ ८६ टन, २ ४३ टन, ६·४४ टन और ३ ६० टन है। चू कि भारत में चीनी की उत्पादन-लागत में ६० प्रतिशत भाग गन्ने के मूल्य का होता है, इसलिये गन्ने की प्रति एकडकम उत्पत्ति और उसके फलस्वरूप गन्ने का ऊचा मूल्य, पर्याप्त सीमा तक चीनी की ऊची उत्पादन-लागत और ऊचे मूल्य क लिये उत्तरदायी है। अत चीनी की उत्पादन-

लागत एवं मूल्य को कम करने के लिये, गन्ने के मूल्य को कम करना अति आवश्यक है। इसके लिये गन्ने की प्रति एकड उत्पत्ति बढाई जानी चाहिये तथा गन्ने की किस्म में सुधार करना चाहिये। देश में गन्ने की प्रति एकड उपज बढाने के लिये सिंचाई की सुविधा, सस्ती खाद और अच्छे प्रकार के बीज की व्यवस्था द्वारा गन्ने की गहरी खेती की जानी चाहिये। (v) **उपोत्पाद की समस्या** —गन्ने से चीनी बनाते समय खोई (Bagasses) तथा शीरे (Molasses) के रूप में उपोत्पाद (By-products) प्राप्त होते है। इन उपोत्पादो का प्रयोग अनेक उपयोगों मे किया जा सकता है। हमारे देश में चीनी के कारखानो में खोई को सुखाकर ईंधन के रूप मे प्रयोग में लाया जाता है। यद्यपि शीरे से एल्कोहल (Alchohol) तैयार की जाने लगी है, परन्तु एल्कोहल उद्योग में अभी तक समस्त शीरे का प्रयोग नही होता है। अत चीनी उद्योग का उत्पादन-व्यय न्यूनातिन्यून करने के लिये गन्ने की खोई और शीरे जैसी उपोत्पत्ति को कागज, सोख्ता, खाद, गत्ता एव एल्कोहल आदि बनाने म आर्थिक उपयोग करना चाहिये। (vi) **पूर्ण क्षमता का प्रयोग न हो सकना** — हमारे देश मे स्थापित समस्त चीनी के कारखाने वर्ष भर में केवल ४–५ महीने ही कार्यशील रहते हैं। इसके मुख्य कारण गन्ने की अपर्याप्त पूर्ति एव मौसम सम्बन्धी कठिनाई है। गन्ने की अपर्याप्त पूर्ति के कारण, चीनी उत्पादन के ४-५ महीनो में भी मिल अपनी पूर्ण क्षमता के बराबर उत्पादन नही करती। यही नही, इससे चीनी उद्योग मे लगे हुए श्रमिको का रोजगार भी आंशिक और मौसमी ही रहता है। इसलिये देश की चीनी मिलों की उत्पादन-क्षमता के पूर्ण उपयोग एव इन मिलों को *अपेक्षाकृत अधिक समय तक काम देने के लिये, गन्ने की पैदावार बढाई जानी* चाहिए। (vii) **परिवहन सम्बन्धी असुविधा** —वास्तव मे परिवहन सम्बन्धी असुविधा देश मे चीनी उद्योग के स्वस्थ विकास म एक महत्वपूर्ण बाधा है। चूंकि चीनी की मिले कृषि-क्षेत्र से कुछ दूरी पर स्थित होती है, इसलिये इन क्षेत्रो से गन्ना मिलो तक पहुचाने के लिये परिवहन के सस्ते एव सुगम साधनों की नितान्त आवश्यकता होती है। दुर्भाग्यवश हमारे देश के ग्रामीण क्षेत्रों मे सडको की अपर्याप्तता है। इन क्षेत्रों म जो कुछ सडक उपलब्ध भी हैं उनकी दशा बहुत खराब है। फलत कृषकों को अपना गन्ना खेतो से कारखानो तक पहुचाने मे बहुत असुविधा रहती है तथा ऊंचा ढुलाई व्यय देना पडता है। अत ग्रामीण क्षेत्र मे परिवहन के सस्ते, सरल एव सुगम साधन उपलब्ध किए जाने चाहिये। (viii) **विविध समस्याए** — चीनी उद्योग के विकास मार्ग मे कुछ अन्य समस्याये इस प्रकार हैं—(अ) चीनी उद्योग पर कर का भार बहुत अधिक है। केन्द्र और प्रादेशिक सरकारो ने क्रमश *केन्द्रीय उत्पादन कर (Central Excise Duty) और गन्ना उप-कर (Cane Cess)* लगा रखे है। इन करो का भाग चीनी उत्पादन की समस्त लागत मे से लगभग १७ प्रतिशत होता है। अत चीनी उद्योग की आशातीत वृद्धि के लिये करभार का न्यूनतम किया जाना चाहिए। (आ) एक ओर गुड और खडसारी तथा दूसरी ओर

चीनी के सापेक्षिक मूल्य (Relative Price) का, चीनी की मिलो को मिलने वाली गन्ने की मात्रा पर पर्याप्त सीमा तक प्रभाव पड़ता है। अतः चीनी की मिलों को समुचित मात्रा मे गन्ना उपलब्ध होने के लिए चीनी, गुड़ और खण्डसारी के मूल्यों मे उचित सन्तुलन स्थापित करना चाहिये। (इ) चीनी उद्योग के सामने ईंधन की भी समस्या है। गन्ने की खोई जलाने पर भी कारखानो मे ईंधन की कमी रहती है। अतः चीनी मिलो मे उष्मा सन्तुलन (Heat Balance) स्थापित करने के लिए ईंधन के स्थान पर विद्युत का प्रयोग बढ़ाना चाहिए। (ई) अधिकांश चीनी मिलों मे गन्ने के रस को साफ करने के लिए गन्धक का अधिक प्रयोग किया जाता है। चूंकि हमारे देश मे गंधक का उत्पादन बहुत कम है, इसलिये वह बाहर से मंगाई जाती है जिससे इसका मूल्य बहुत अधिक होता है। अतः चीनी मिलो मे रस को साफ करने की ऐसी विधि अपनाई जानी चाहिये कि उसमे गन्धक का उपयोग न्यूनतम हो सके। (उ) हमारे देश मे चीनी उद्योग मे अनुसन्धान का अभाव है। वस्तुतः गन्ने की किस्म सुधारने और अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग करने के सम्बन्ध मे अनुसन्धान की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(४) लोहा और इस्पात उद्योग
(Iron and Steel Industry)

वर्तमान स्थिति एवं महत्व—लोहा एवं इस्पात उद्योग की गणना आधारभूत उद्योगो (Basic Industries) मे की जाती है। वास्तव मे किसी देश के औद्योगिक विकास के लिए, लोहा एवं इस्पात उद्योग का विकास परमावश्यक एवं प्रथम अनिवार्य दशा है। कृषि एवं उद्योग, परिवहन एवं सचार अस्त्र-शस्त्र एवं दैनिक उपयोग की हजारों वस्तुओ के निर्माण के लिए लोहा और इस्पात अत्यावश्यक है। इस प्रकार यह कहना कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि लोहा व इस्पात उद्योग केवल औद्योगिक संरचना (Industrial Structure) के लिए ही नही वरन् आधुनिक युग मे सम्पूर्ण आर्थिक ढांचे का मूलभूत आधार है। सौभाग्य से प्रकृति ने भारत मे इस उद्योग के लिए लगभग समस्त आवश्यक कच्चे पदार्थ (Raw Material) प्रदान किए हैं। हमारे देश मे कच्चे लोहे के विस्तृत भण्डार हैं। एक अनुमान के अनुसार, देश की खानो मे कुल मिलाकर २,१०० करोड़ टन कच्चा-लोहा उपलब्ध है जो विश्व मे सर्वाधिक तथा समस्त विश्व के कुल भण्डार का ⅓ भाग है। यद्यपि कोकिंग कोयले का भण्डार देश की आवश्यकताओ को देखते हुए कम है, तथापि उचित संरक्षण द्वारा इसका उपयोग पर्याप्त समय तक किया जा सकता है। यही नहीं, इस उद्योग के लिए अन्य आवश्यक कच्चे माल, जैसे— चूना पत्थर (Lime Stone), डोलोमाइट (Dolomite) और मैंगनीज (Manganese) आदि भी भारत मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं। यद्यपि देश मे जस्ता, टीन आदि मिलावट की धातुओ की अपर्याप्तता है, लेकिन इस अभाव की पूर्ति आयात द्वारा की जा सकती है। भारत मे लोहा एवं इस्पात उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल की खानें, लोहे की खानो से अधिक दूरी

पर नहीं है। फलत भारत विश्व मे लोहा व इस्पात का सबसे बड़ा उत्पादक बन सकता है। चूंकि देश मे इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है इसीलिए देश मे औद्योगीकरण के भविष्य की उज्ज्वलता की पूर्ण आशा है।

संक्षिप्त इतिहास —भारतीय इतिहास इस तथ्य का सूचक है कि प्राचीन भारत मे यहा के निवासी लोहा ढालने व गलाने की पद्धति से पूर्णतया परिचित थे। अशोक की लाट, जो ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व दिल्ली म स्थापित की गई थी, इस उद्योग के क्षेत्र म भारत की उन्नति का स्पष्ट प्रतीक है। अन्य उद्योगो की ही भाति यह उद्योग भी हिन्दू शासनकाल क पश्चात् शनै शनै लुप्त प्राय हो गया और आगे चलकर यह उद्योग प्राय समाप्त ही हो गया। सन् १८३० म श्री हीथ (Heath) नामक एक अग्रेज ने मद्रास के निकट आधुनिक ढग का प्रथम कारखाना स्थापित किया। तदुपरान्त पजाब और बगाल मे भी अनेक छोटे छोटे कारखाने खोले गये। परन्तु इन सबमे कोई सफलता नही मिल सकी। सन् १८७४ मे झरिया की कोयले की खान के समीप लोहा व इस्पात का एक कारखाना स्थापित किया गया, जिसे सन् १८८६ मे बगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी ने खरीद लिया। देश मे आधुनिक ढग के लोहा व इस्पात उद्योग का वास्तविक श्रीगणेश सन् १९०७ मे जमशेदपुर (Jamshedpur) मे टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (Tata Iron and Steel Co) की स्थापना के साथ हुआ। इस कारखाने मे सन् १९११ से कच्चा लोहा (Pig Iron) तथा सन् १९१३ से इस्पात का उत्पादन प्रारम्भ हो गया। प्रथम महायुद्धकाल मे इस कारखाने ने आश्चर्यजनक प्रगति की और सन् १९१८ तक इसका पर्याप्त विस्तार हो गया। सन् १९१८ मे आसनसाल के समीप हीरापुर नामक स्थान पर इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (Indian Iron and Steel Co) द्वारा एक अन्य कारखाना स्थापित किया गया। इस कारखाने ने भी तीव्रगति से प्रगति की और सन् १९०७ म बगाल आयरन कम्पनी और सन् १९५३ मे स्टील कार्पोरेशन ऑफ बगाल भी इसी कम्पनी मे सम्मिलित हो गये। इसके अतिरिक्त सन् १९२३ मे मैसूर सरकार ने भद्रावती नामक स्थान पर मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (Mysore Iron and Steel Works) की स्थापना की। यद्यपि प्रथम महायुद्धकाल मे भारतीय लोहा व इस्पात उद्योग ने आशातीत उन्नति की, तथापि युद्ध के समाप्त होते ही भारतीय कम्पनियो की दशा हीन होने लगी। अत टैरिफ बोर्ड (Tariff Board) की सिफारिश पर भारत सरकार ने सन् १९२४ मे इस उद्योग को सरक्षण (Protection) प्रदान किया, जो ३१ मार्च सन् १९४७ को हटा लिया गया। भारतीय उत्पादन-गणना (Census of Indian Manufactures) के अनुसार सन् १९३९ तक देश म इस्पात का उत्पादन ८ लाख टन से ऊपर पहुच चुका था। उस वर्ष देश मे १४७ छोटे-बड़े लोहे व इस्पात के कारखाने थे। इनमे लगभग १२० करोड रुपये की पूजी लगी हुई थी और लगभग ६०,१८४ व्यक्ति रोजगार प्राप्त कर रहे थे। द्वितीय महायुद्ध ने लोहा एव इस्पात उद्योग की सर्वाधिक प्रगति

का अवसर प्रदान किया । युद्धकाल मे लोहे एव इस्पात की वस्तुओ की माग मे असाधारण वृद्धि हुई । इस अवधि मे भारत सरकार ने भी उद्योग को वित्तीय (Financial) और प्राविधिक (Technical) सहायता प्रदान की । फलत इस्पात के उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि हुई । युद्धकाल मे अनेक विशिष्ट प्रकार का इस्पात, जो पहले देश मे तैयार नही किया जाता था, तैयार किया जाने लगा । युद्ध के पश्चात् लोहे व इस्पात के उत्पादन मे ह्रास होने लगा, जो सन् १९४८ तक क्रमश चलता रहा । सन् १९४९ से लोहा व इस्पात के उत्पादन मे पुन वृद्धि हुई और ब से यह वृद्धि निरन्तर जारी ही है । इस प्रकार आजकल निजी क्षत्र (Public Sector मे लोहा व इस्पात के तीन प्रमुख कारखाने हैं —(अ) **टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी** (Tata Iron and Steel Company) —यह कारखाना श्री जमशेद जी टाटा (Jamshed Ji Tata) द्वारा सन् १९०७ मे जमशेदपुर (बिहार) मे स्थापित किया गया । इस कारखाने मे सन् १९११ से कच्चा लोहा (Pig Iron) तथा सन् १९१३ से इस्पात बनाना प्रारम्भ हुआ । दूसरी योजनावधि मे लगभग ८५ करोड रुपये की पूजी से इस कम्पनी का विस्तार किया गया । फलत इस कारखाने की तैयार इस्पात उत्पादन करने की क्षमता ८ लाख टन से बढकर ३ लाख टन हो गई है । इस विस्तार योजना के कायक्रम को पूरा करने के लिए, भारत सरकार ने टाटा कम्पनी को १० करोड रुपये का ऋण दिया है तथा विश्व बैंक से दिये जाने वाले ७ करोड डालर के ऋण की गारन्टी प्रदान की है । (आ) **इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी** (Indian Iron and Steel Company) —सन् १९१८ मे आसनसोल (Asansol) के समीप हीरापुर मे इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी ने लाहे एव इस्पात का एक कारखाना स्थापित किया । सन् १९३७ मे बगाल आयरन कम्पनी (Bengal Iron Company) और सन् १९५३ मे स्टील कारपोरशन ऑफ बगाल (Steel Corporation of Bengal) भी इसी कम्पनी मे सम्मिलित हो गए । इस प्रकार इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के अन्तर्गत आजकल तीन कारखाने हैं जिनमे से दो कारखाने बर्नपुर मे और एक कुलटी मे स्थित हैं । द्वितीय पचवर्षीय योजनावधि मे इस कम्पनी का ४२ ५ करोड रुपये की पूजी से आधुनिकीकरण और विस्तार किया गया । फलत इस कम्पनी की तैयार इस्पात उत्पादन करने की क्षमता ३ लाख टन से बढकर ७ ५ लाख टन हो गई है । इस कम्पनी की विस्तार योजना कार्यक्रम के लिए भारत सरकार ने १० करोड रु० का ऋण दिया तथा विश्व बैंक द्वारा मिलने वाले इस कम्पनी को २० करोड रुपये के ऋण की गारन्टी प्रदान की है । (इ) **मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स** (Mysore Iron and Steel Works) — यह कारखाना मैसूर सरकार द्वारा सन् १९२३ मे भाद्रा नदी के किनारे भद्रावती (मैसूर) नामक स्थान पर स्थापित किया गया । सन १९३६ मे इसमे एक इस्पात-सयत्र (Steel Plant) और एक स्टील रोलिंग मिल (Steel Rolling Mill) और लगा दिए गए । इन तीन कारखानो के अतिरिक्त निजी क्षत्र मे बहुत सी छोटी बडी री रोलिंग

मिलें (Re rolling Mills) भी हैं, जो इस्पात पिण्डको (Steel Billets) को लपेटने के क्षेप्य पदार्थ (Scrap Material) से सलाखें (Rods and Bars) बनाने एव विशिष्ट इस्पात वस्तुए (Special Steel Products) बनाने का कार्य करती हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत लोहा और इस्पात उद्योग

(१) **प्रथम योजना** :—इस योजना के अन्तर्गत कृषि विकास कार्यक्रम को प्रधानता एव प्राथमिकता दी गई। फिर भी सन १९५३ मे हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड (Hindustan Steel Ltd) कम्पनी की स्थापना की गई तथा इस्पात के उत्पादन मे वृद्धि लाने के उद्देश्य से जमर्नी की 'क्रुप्स एण्ड डेमग कम्बाइन' से एक समझौता किया गया। सन् १९५०–५१ मे इस्पात के ढोके, तैयार इस्पात और बिक्री के लिए कच्चे लोहे का उत्पादन क्रमश १४ लाख टन, १० लाख टन और ३ ५ लाख टन था, जो सन् १९५५–५६ मे बढकर क्रमश. १७ लाख टन, १३ लाख टन और ३ ८ लाख टन हो गया। प्रथम योजना के अन्त तक यह विदित हो चुका था कि देश के औद्योगिक विकास के लिये भावी योजनाओ मे लोहा व इस्पात के आधारभूत उद्योग के विकास को विशेष महत्व देना होगा।

(२) **द्वितीय योजना** —द्वितीय पचवर्षीय योजना मे औद्योगिक विकास को प्राथमिकता दी गई। इस योजनावधि मे उद्योगो का बहुत तीव्र गति से विकास हुआ तथा अनेक प्रकार के नए उद्योग स्थापित किए गए। सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) मे लोहा व इस्पात के तीन बडे बडे कारखाने भिलाई (Bhilai), राऊरकेला (Rourkela) और दुर्गापुर (Durgapur) मे स्थापित किए गए तथा निजी क्षेत्र (Private Sector) के लोहा व इस्पात के कारखानो का आकार लगभग दुगुना कर दिया गया। सन् १९६०–६१ के अन्त तक लोहा गलाने के लिए ४ धमन भट्टी (Blast Furnaces) राऊरकेला (उडीसा) मे, ५ धमन भट्टी भिलाई (मध्य-प्रदेश) मे तथा ४ धमन भट्टी दुर्गापुर (पश्चिमी बगाल मे आरम्भ कर दी गई। सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थापित लोहा व इस्पात के इन तीनो कारखानो मे से राऊरकेला की स्थापना मे पश्चिमी जमर्नी (West Germany) से अर्थ-सहायता ली गई है, भिलाई की स्थापना मे सोवियत रूस (Soviet Russia) से पूंजीगत सहायता ली गई है तथा दुर्गापुर के कारखाने की स्थापना मे ब्रिटेन (Great Britain) से पूंजीगत एव प्राविधिक (Technical) सहायता ली गई है। इन तीनो कारखानो पर ६२० करोड रु० व्यय होने का अनुमान लगाया गया है। इन कारखानो का प्रबन्ध एव सचालन हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड (Hindustan Steel, Limited) के हाथ मे है। लोहा एव इस्पात के इन तीनो कारखानो मे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का निर्माण हो रहा है। राऊरकेला कारखाने मे चपटी वस्तुओ, जैसे—प्लेट, स्टील, स्ट्रिप्स आदि का, भिलाई कारखाने मे रेल्स, रेलवे सलीपर्स आदि का तथा दुर्गापुर कारखाने मे व्हील टायर्स, Axles, Heavy Foreign Blooms और बिलैट्स का उत्पादन विशेष रूप से हो रहा है। राऊरकेला के कारखाने में ½ इस्पात एल० डी० प्रक्रिया (L D Process) से

उत्पन्न किया जाएगा। यह प्रक्रिया एशिया मे जापान के अतिरिक्त भारत मे ही अपनाई जा रही है। इस प्रक्रिया मे कम पूंजी से ही अधिक मात्रा मे इस्पात का उत्पादन सम्भव होता है। इन तीनो कारखानो मे से प्रत्येक की उत्पादन क्षमता १० लाख टन की सिल्लियां (Ingot) निर्धारित की गई है। सार्वजनिक क्षेत्र के अतिरिक्त निजी क्षेत्र म भी लोहा व इस्पात उद्योग के विकासार्थ द्वितीय योजना काल मे भारत सरकार ने तीन उपाय अपनाये —(अ) निजी क्षेत्र के लोहा व इस्पात के कारखानो के विस्तार के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता प्रदान की। (आ) लोहा व इस्पात के मूल्यों को ऊंचा करके इससे उपलब्ध अतिरिक्त लाभ को कारखानो के विकास पर ही व्यय करने के लिए उद्योगपतियों को विवश किया गया तथा (इ) कारखानो को नई मशीनरी व विस्तार के लिए घिसाई-मद मे विशेष छूट दी गई। इन उपायो के फलस्वरूप टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की उत्पादन-क्षमता पूर्वापेक्षाकृत बढकर क्रमश १३ लाख टन, ७ ५ लाख टन और १ लाख टन हो गई। दूसरी योजनावधि म तैयार इस्पात के उत्पादन मे आशातीत वृद्धि नही हो सकी। इस योजना मे तैयार इस्पात के उत्पादन का निर्धारित लक्ष्य ४५ लाख टन था, जबकि सन् १९६०–६१ म इसका वास्तविक उत्पादन केवल २२ लाख टन ही हुआ। फिर भी सन् १९५५–५६ की अपेक्षा सन् १९६०–६१ मे इस्पात के ढोके का उत्पादन १७ लाख टन स ब.कर ३५ लाख टन, तैयार इस्पात का उत्पादन १३ लाख टन से बढकर २२ लाख टन और बिक्री के लिए कच्चे लोहे का उत्पादन ३ ८ लाख टन से बढकर ९ लाख टन हो गया। इसके अतिरिक्त सन् १९६०–६१ मे ४० हजार टन औजारो के निर्माण मे काम आने वाली मिश्रित धातु और बेदागी इस्पात का भी उत्पादन किया गया।

(३) **तीसरी योजना** — इस योजना मे इस्पात के ढोके, तैयार इस्पात तथा बिक्री के लिए कच्चे लोहे के उत्पादन का लक्ष्य क्रमश ९२ लाख टन, ६८ लाख टन और १५ लाख टन रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त योजना मे औजारो के निर्माण मे काम आने वाली २ लाख टन मिश्रित धातु व बेदागी इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस योजना म यह निश्चित किया गया है कि दूसरी योजनावधि मे सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थापित इस्पात के कारखानो मे पूरी क्षमता से उत्पादन किया जाएगा। तीसरी योजना मे भिलाई, दुर्गापुर, राऊरकेला और मैसूर लोहा व इस्पात के कारखानो के विस्तार एव बोकारो (बिहार) मे नया इस्पात का कारखाना स्थापित करने का कार्यक्रम रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त योजनावधि मे नेवेली के लिगनाइट (भूरा कोयला) से चलने वाला एक लोहे का कारखाना भी खोला जाएगा। योजनाकाल मे बोकारो के कारखाने मे २० लाख टन इस्पात के ढोके बनाने का लक्ष्य रक्खा गया है परन्तु प्रारम्भ मे १० लाख टन इस्पात के ढोके बनाने की मशीनें लगाने का कार्यक्रम है। इस योजनावधि मे सार्वजनिक क्षेत्र मे इस्पात बनाने के कार्यक्रमों पर कुल ५२८ करोड रु० व्यय होने का अनुमान है।

अनुमानत योजना के पाच वर्षों मे तैयार इस्पात का उत्पादन (Finished Steel Production) २४० लाख टन हो सकेगा जिसम से ३ लाख टन तैयार इस्पात सन् १९६५-६६ मे बोकारो के कारखाने मे बनने की आशा है। इस योजना मे दुर्गापुर मे प्रतिवर्ष ४८ हजार टन औजारों मे काम आने वाली मिश्रित धातु व वेदागी इस्पात बनाने वाला एक कारखाना स्थापित करने का कार्यक्रम सम्मिलित किया गया है। इसके अतिरिक्त सैनिक कारखानों से भी लगभग ५० हजार टन मिश्रित इस्पात तैयार हो सकेगा। योजनावधि मे निजी क्षेत्र के कारखानों म उत्पादन का हिस्सा पृथक् से निश्चित किया गया है। निजी उद्योग का हिस्सा ३० लाख टन इस्पात के ढोके और ३ लाख टन बिक्री के लिए लोहा बनाने का रक्खा गया है। निजी क्षेत्र मे कनवर्टों और पुराने लोहे को गलाने वाली विद्युत की भट्टियों म भी २ लाख टन तैयार स्पात बनेगा।

लोहा व इस्पात उद्योग की समस्यायें एव उपचार.—लोहा व इस्पात उद्योग सच्चे अर्थों म औद्योगीकरण एव राष्ट्रीय समुन्नति का आधार है। यद्यपि हमारे देश मे इस्पात बनाने के लिए लौह-धातु एव अन्य आवश्यक कच्चे-माल के विशाल भण्डार है तथापि यहां पर अभी तक इस उद्योग का आवश्यकता के अनुरूप विकास नही हो सका है। भारत म प्रति व्यक्ति इस्पात की खपत केवल २ पौंड है, जबकि अमेरिका, ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया मे प्रति व्यक्ति इस्पात की औसत खपत क्रमश १,८६० पौण्ड, ५२० पौण्ड और ४७० पौंड है। वस्तुत: भारत मे लोहा व इस्पात उद्योग के विकास मार्ग मे मुख्य समस्यायें एव उनके उपचार इस प्रकार हैं —(i) **धातुकार्मिक कोयले का अभाव** —भारत मे धातुकार्मिक कोयले (Metallurgical Coal) की माग उसकी पूर्ति से बहुत अधिक है। चूंकि लोहा गलाने के लिए इस्पात उद्योग मे धातु-कार्मिक कोयले की आवश्यकता होती है, इसलिए इस कोयले की अपर्याप्तता के कारण नए एव पुराने इस्पात के कारखानों मे उत्पादन पर्याप्त मात्रा म नहीं हो रहा है। अत धातुकार्मिक कोयले की पूर्ति बढाने के लिए, कोयला धोने की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। (ii) **परिवहन सम्बन्धी कठिनाई** —अभी तक भारत मे कच्चे लोहे को इस्पात के कारखानों तक भेजने के लिए पर्याप्त, सरल एव द्रुतगामी परि-वहन के साधन नही हैं। इसलिए खनिज-लौह की खानों को इस्पात के कारखानों से सम्बद्ध करने के लिए परिवहन के साधनों का व्यापक विस्तार परमावश्यक है। (iii) **इस्पात की कीमत निर्धारण का प्रश्न** —भारत म इस्पात का उत्पादन घरेलू आवश्यकता से कम होता है। अत: इस अभाव की पूर्ति के लिए विदेशों से इस्पात का आयात करना पडता है। विदेशों से आयात किया जाने वाला इस्पात स्वदेशी इस्पात से महगा होता है। *अब तक भारत सरकार १ जुलाई सन् १९५४ मे टाटा आयरन* एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी से ठहराये गए मूल्य (Retention Price) पर इस्पात खरीदती रही है तथा ऊंचे मूल्यों पर उपभो-क्ताओं को बेचती रही है। क्रय-मूल्य और विक्रय-मूल्य का अन्तर एक समीकरण

कोएा म जमा होता रहता है जिसका उपयोग इस्पात के आयात को आर्थिक सहायता देने तथा इस्पात के कारखानों के आधुनिकीकरण मे पूंजी लगाने मे होता है। चूंकि सरकार द्वारा ठहराया हुआ क्रय-मूल्य बदलता रहता है, इसलिये इस्पात का विक्रय-मूल्य निश्चित करने म भी कठिनाई होती है। यह आशा की जाती है कि भविष्य म, सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र मे स्थापित लोहा व इस्पात के कारखानो की उत्पादन-क्षमता का विस्तार हो जाने की स्थिति मे, इस्पात का विदेशी आयात बन्द हो जाएगा और उस समय मूल्य निर्धारण सम्बन्धी कठिनाई किसी सीमा तक दूर हो जायगी।

(५) कोयला उद्योग (Coal Industry)

वर्तमान स्थिति एव महत्त्व—भारत मे कोयला उद्योग भी एक आधारभूत (Basic) उद्योग है। देश के औद्योगिक विकास मे कोयले का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिवहन के साधनो एव उद्योगो के सचालन मे, विद्युत् शक्ति के निर्माण म तथा घरेलू कार्यों मे कोयले का बहुत अधिक प्रयोग होता है। विश्व म कोयला-उत्पादन म हमारे देश का आठवा स्थान है। भारत मे प्रमुख कोयला क्षेत्र दामोदर घाटी (Damodar Valley) है। इसमें देश की कुल कोयला-उत्पत्ति का लगभग ८८% भाग प्राप्त होता है। इस घाटी की दो प्रमुख खानें झरिया (बिहार) और रानीगंज (प० बगाल) मे हैं जिनसे देश की कुल उत्पत्ति का क्रमश ४०% व ३०% कोयला निकाला जाता है। बिहार मे झरिया की खान के अतिरिक्त बकारो, गिरिडीह और कर्णपुरा मे भी कोयले की खानें हैं। कोयले की अन्य छोटी-छोटी खाने मध्यप्रदेश, उडीसा, आन्ध्रप्रदेश, मद्रास, केरल, असम, गुजरात, राजस्थान और काश्मीर मे हैं। इस समय देश मे ८३२ कोयले की खानें है। इनमे ३-४ लाख श्रमिक रोजगार पा रहे हैं। हमारे देश मे भूगर्भ मे स्थित कोयले के भण्डार का अनुमान समय-समय पर लगाया गया है। सन् १६३७ की कोयला समिति (Coal Committee) के अनुमानानुसार भारत की खानो मे लगभग ६ हजार करोड़ टन कोयला है। भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण (The Geological Survey of India) के मतानुसार देश मे गैर-कोकिंग कोयले (Non-Coking Coal) का भण्डार लगभग ३,६६५ करोड टन है। सन् १६४६ की धातु शोधन कोयलासरक्षण समिति (The Metallurgical Coal Conservation Committee) के अनुसार भारत मे उत्तम कोटि के कोकिंग कोयले (High Grade Coking Coal) का भण्डार २०० करोड टन तथा कोक-इतर कोयले (Non-Coking Coal) का भण्डार ४,००० करोड टन है। तीसरी योजना के अन्तर्गत योजना आयोग (Planning Commission) ने २८० करोड टन कोकिंग कोयले का अनुमान लगाया है। सक्षेप मे, भारत में कोयले के सम्बन्ध मे मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) अन्य देशो की तुलना मे हमारे देश के कोयले के अनुमानित भण्डार बहुत कम हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत मे कोयले का अनुमानित भण्डार केवल ४,२०० करोड टन है, जबकि सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस मे कोयले के अनुमानित भण्डार क्रमश २,०४,००० करोड टन और १,४४,००० करोड़ टन हैं। (ii) भारत मे

...ार्ट के कोकिंग कोयले का भण्डार आवश्यकता से बहुत कम है। (iii) देश में ...ला निकालने के ढंग अवैज्ञानिक, दोषपूर्ण एवं अपव्ययपूर्ण हैं तथा (iv) देश में कोयला-क्षेत्र का वितरण बहुत असमान है। देश के कुल कोयला-उत्पादन का ८२% भाग केवल बिहार व पश्चिमी बंगाल की खानों से प्राप्त होता है तथा शेष कोयला दूसरे सभी क्षेत्रों से मिलता है।

संक्षिप्त इतिहास :—भारत में कोयला खनन उद्योग का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में हुआ था। सन् १८१४ में रानीगंज में कोयला निकालना आरम्भ हुआ। वस्तुतः इस उद्योग का विकास १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में रेलों के चलने तथा अन्य उद्योगों के स्थापित होने के साथ ही साथ हुआ। सन् १८६८ में देश में कुल कोयले का उत्पादन ५ लाख टन था, जो सन् १९०० में बढ़कर ६१ लाख टन और सन् १९१० में बढ़ कर १२० लाख टन हो गया था। प्रथम महायुद्धकाल में औद्योगिक विकास ने कोयला उद्योग के विकास को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। फलतः सन् १९२० में कोयले का उत्पादन बढ़कर १८० लाख टन हो गया। इसी वर्ष १२ लाख टन कोयला सर्वप्रथम विदेशों को निर्यात किया गया। सन् १९२५ में कोयला श्रेणीकरण मण्डल (Coal Grading Board) स्थापित किया गया। सन् १९३९ में भारत सरकार ने कोयले को जमा रखने का अधिनियम (Coal Storing Act) पास किया। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने से पूर्व सन् १९३८ में भारत में कोयले का उत्पादन २५० लाख टन था। युद्धकाल में औद्योगिक क्रियाओं में वृद्धि के फलस्वरूप कोयले की माँग और तदन्तर उत्पादन में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई। फलतः सन् १९४५ में कोयले का उत्पादन बढ़ कर २६० लाख टन हो गया था।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कोयला उद्योग का विकास

(१) प्रथम योजना :—इस योजना के प्रारम्भ में देश में कोयले का कुल उत्पादन ३२३ लाख टन था, परन्तु सन् १९५५–५६ में कोयले का उत्पादन बढ़कर ३८४ लाख टन हो गया। सन् १९५२ में कोयला खान (संरक्षण व सुरक्षा) अधिनियम [Coal Mines (Conservation and Safety) Act] पास किया गया। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय सरकार को जो अधिकार प्राप्त हुए वे इस प्रकार है— (i) कोयले की खानों की सुरक्षा एवं संरक्षण के लिए कार्यक्रम बनाना तथा उसे कार्यान्वित करना। (ii) कोयला परिषद (Coal Board) को कोयला उद्योग की समस्याओं को सुलझाने का अधिकार देना। (iii) कोयला और कोक के उत्पादन पर उत्पादन कर (Excise Duty) लगाना तथा (iv) कोयला उद्योग को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए आवश्यक नियमन व नियन्त्रण रखना। इस एक्ट के अन्तर्गत खानों में खुदाई के बाद पोली जगहें पर भरना अनिवार्य कर दिया गया तथा इस्पात बनाने के काम में आने वाले धातुकार्मिक कोयले (Metallurgical Coal) की बरबादी को रोकने के लिए इसकी खुदाई को नियन्त्रित कर दिया गया।

(२) द्वितीय योजना :—सन् १९५६ की नवीन औद्योगिक नीति (New

Industrial Policy) के अन्तर्गत भविष्य मे नई कोयले की खानो के विकास का दायित्व सार्वजनिक क्षेत्र पर तथा पुरानी खानो के विकास का दायित्व निजी क्षेत्र पर रक्खा गया। सार्वजनिक क्षेत्र की कोयले की खानो के सचालन एवं प्रवन्ध के लिये, ५० करोड रु० की अधिकृत पूजी से, भारत सरकार ने सितम्वर सन् १६५६ मे राष्ट्रीय कोयला विकास निगम (National Coal Development Corporation) की स्थापना की। दूसरी योजना मे ६ करोड कोयला खोदने का लक्ष्य रक्खा गया था, यह लक्ष्य सन् १६५५ के उत्पादन से २·२० करोड टन अधिक था। इसमे से १·२० करोड टन सार्वजनिक खानो तथा शेष १ करोड टन निजी खानो से निकाला जाना था। योजनावधि मे जो सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत खानें पहले से चल रही थी, उनके उत्पादन को बढाने मे कोई विशेष कठिनाई नही हुई, किन्तु नई खानो के विकास मे पर्याप्त कठिनाइयाँ सामने आई। नई खानो का पता लगाने और उनमे कोयला प्राप्त करने मे बहुत अधिक समय लगा। इसके अतिरिक्त विदेशी मुद्रा और खनन-कार्य मे दक्ष कर्मचारियों का भी अभाव रहा। फलतः सन १६६०—६१ मे ५ करोड ४६ लाख २० हजार टन कोयले का ही उत्पादन हो सका, जबकि निर्धारित लक्ष्य ६ करोड टन का था। घटिया कोयले को धोकर अच्छा बनाने के लिए योजनावधि मे ४ केन्द्रीय धुलाई के कारखाने (Coal Washeries) खोले गए और एक धुलाई केन्द्र दुर्गापुर के इस्पात कारखाने मे खोला गया। दूसरी योजना मे ६४ लाख टन कोयले की धुलाई (Coal Washing) का लक्ष्य था। इसमे से केवल २४ लाख टन की क्षमता से धुलाई केन्द्र दूसरी योजना के अन्त तक स्थापित हो सके। कोयले की बरवादी को रोकने के लिए अनावश्यक कार्यों मे कोकिंग अथवा अन्य अच्छे प्रकार के कोयले के प्रयोग पर रोक लगाई गई तथा ऐसी खानों को विशेष सहायता दी गई जिनमे खुदाई बहुत गहरी होती है या जिनमे गैस अधिक है। इसके अतिरिक्त छोटी-छोटी और घाटे पर चलने वाली खानो को मिलाकर एक प्रवन्ध मे लाने की कार्यवाही भी की गई। यद्यपि कोयला-उत्पादन मे दूसरी योजना का लक्ष्य पूरा नही हो सका, परन्तु योजना की समाप्ति तक लक्ष्यानुसार उत्पादन-क्षमता अवश्य उत्पन्न हो गई।

(३) **तीसरी योजना**—इस योजना मे ६७० लाख टन कोयले के उत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया है। तीसरी योजनावधि मे अधिक कोयले की आवश्यकता को पूरा करने के लिये, नई खानें खोदने का कार्यक्रम रक्खा गया है। सन् १६६० मे बढिया किस्म का कोकिंग कोयला १३० लाख टन निकाला गया था और २० लाख टन ऐसा था जो मिलाकर काम मे आ सकता था। धातु-उद्योग के लिये तीसरी योजना के अन्त तक कम से कम १०० लाख टन कोकिंग कोयला और २० लाख टन मिलवा कोयले को आवश्यकता होगी। रेलो के लिये और अन्य उद्योगो के लिये लगभग १०० लाख टन बढिया किस्म के गैर-कोकिंग कोयले की आवश्यकता होगी। इसलिये इस योजनावधि मे मुख्य कार्य यह होगा कि इस्पात कारखानो तथा रेलो आदि अन्य उद्योगो को उपयुक्त कोटि का कोयला यथेष्ठ मात्रा मे मिलता रहे। सार्व-

जनिक क्षेत्र मे आन्ध्र-प्रदेश की सिंगारेणी खानो का उत्पादन ३० लाख टन तक बढाया जायगा। इसके अतिरिक्त १७० लाख टन कोयले का उत्पादन राष्ट्रीय कोयला विकास निगम (National Coal Development Corporation) द्वारा अन्य खानो से निकाला जायगा। योजनाकाल मे कोकिंग कोयले की बरबादी को रोकने, खानो के सरक्षरण तथा घटिया कोयले की धुलाई अथवा बढिया किस्म के कोयले के साथ दूसरी किस्म का कोयला मिलाकर कोकिंग कोयले के भण्डार को बढाने के लिये आवश्यक कदम उठाये जायेंगे। बढिया कोयले की बरबादी को रोकने के लिये, कोयला-परिषद् की ईंधन कमेटी (Fuel Committee of the Coal Board) ने यह निश्चित कर दिया है कि किस उद्योग को किस किस्म का कोयला कितनी मात्रा मे दिया जायगा। तीसरी योजना मे खानों की पोली जगह को भरने पर अधिक बल दिया जायगा। योजनाकाल म कोयले की खान-क्षेत्रो मे २०० मील लम्बी नई रेलवे लाइनें बिछाई जायेंगी तथा परिवहन के दूसरे साधनो की भी व्यवस्था की जायगी। योजनावधि मे इस्पात के अधिक उत्पादन के लिये १२७ लाख टन और अधिक कोयले की धुलाई की व्यवस्था की जायगी। जो धुलाई केन्द्र अभी तक स्थापित हो चुके हैं अथवा जो स्थापित हो रहे हैं, उनमे ३२ लाख टन और कोयले की धुलाई हो सकेगी। शेष के लिये योजनावधि मे नये धुलाई केन्द्र खोले जायेंगे। दूसरी योजनावधि मे नैवेली मे लिगनाइट (भूरा कोयला) उद्योग की स्थापना की गई। दूसरी योजना के अन्तर्गत नैवेली लिगनाइट योजना मे ये कार्यक्रम सम्मिलित किये गये थे—(i) ३५० लाख टन भूरा कोयला निकाला जाये, जिससे (क) २५० मे० वा० विद्युत बनाने के कारखानो की आवश्यकता पूरी हो सके, (ख) यूरिया के रूप मे ७० हजार टन नत्रजनयुक्त खाद बनाने के कारखानो की आवश्यकता पूरी हो सके तथा (ग) भूरे कोयले को फूक कर ३८० लाख टन कोयले के पिण्ड तैयार हो सकें। (ii) एक मिट्टी-धुलाई का कारखाना स्थापित किया जाये जिसमे प्रतिवर्ष ६ हजार टन सफेद चीनी मिट्टी बन सके। तृतीय योजनावधि मे ये समस्त कार्यक्रम पूरे किये जायेंगे। विद्युत-गृह की क्षमता १५० मे० वा० और बढाई जायगी तथा लिगनाइट का उत्पादन ३५० लाख टन से बढाकर ४८० लाख टन किया जायगा।

कोयला उद्योग की समस्यायें एव उपचार—भारतीय कोयला उद्योग की प्रमुख समस्यायें एव उनके उपचार इस प्रकार हैं—

(१) **अभिनवीकरण की समस्या**—हमारे देश मे कोयला उद्योग की सर्वप्रमुख समस्या अभिनवीकरण (Rationalization) की आवश्यकता है। अनेक कारणों से भारत मे कोयले की उत्पादन-लागत बहुत अधिक है—(अ) देश मे कोयले की अनेक खाने छोटी एव अनार्थिक आकार की हैं। (आ) कोयले की खानो म मशीनो का प्रयोग बहुत कम होता है। अधिकाश कार्यों, जैसे—खानो मे कोयला काटना, कोयला खानो से बाहर निकालना तथा उसे नियत स्थान पर पहुचाना आदि मे मानव श्रम का ही अधिक प्रयोग होता है। (इ) कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों

की उत्पादक-क्षमता अपेक्षाकृत बहुत कम है। अत कोयला उद्योग में उत्पादन-व्यय को न्यूनातिन्यून करने के लिये खानों में मशीनो का अधिकतम प्रयोग होना अपेक्षित है। यही नहीं, छोटी-छोटी अनार्थिक आकार की खानो का सम्मेलन (Amalgamation) करके, उन्हे आर्थिक इकाई का रूप दिया जाना भी आवश्यक है। फिर भी, कोयले की खानो के यन्त्रीकरण के मार्ग में दो स्वाभाविक कठिनाइया आती हैं—प्रथम इसके लिये विशाल मात्रा मे पूजी चाहिये जिसका कि देश मे अभाव है और द्वितीय अभिनवीकरण के पश्चात् श्रमिको की एक विशाल सख्या बेकार हो जायगी। अत कोयला उद्योग म अभिनवीकरण का एक ऐसा क्रमिक कदम उठाया जाना चाहिये कि इस उद्योग म छटनी हुए बेकार श्रमिको को कोई दूसरा रोजगार दिलाया जा सके।

(२) **सरक्षण की समस्या**—हमारे देश म अनेक प्रकार से कोयले की बरबादी होती है—(अ) निजी क्षेत्र मे खानो के स्वामी पुरानी खानों मे कोयला छोडकर नई खानो से कोयला निकालना प्रारम्भ कर देते हैं, क्योकि पुरानी खानो की गहराई बढने के साथ ही साथ उनम उत्पादन भी कम होता जाता है और सीमान्त उत्पादन-लागत बढती जाती है। फलत बहुत सा कोयला पुरानी खानों मे पडा ही रह जाता है। (आ) चू कि हमारे देश मे *खानो म बालू पाटने (Sand Stowing) की रीति* प्रचलित नही हो पाई है, इसलिये यहा खानो मे बहुत-सा कोयला स्तम्भों के रूप मे छोड दिया जाता है। (इ) हमारे देश मे कोकिंग कोयले का भी उचित उपयोग न होने से इसका अपव्यय होता है तथा (ई) भारतीय कोयले उद्योग मे कोयला निकालने की रीति भी अवैज्ञानिक एव दोषपूर्ण है जिसमें बहुत सा कोयला व्यर्थ मे ही नष्ट हो जाता है। अत कोयला उद्योग की समुन्नति के लिये तथा इस समुन्नति से देश के औद्योगिक विकास को द्रुत गति प्रदान करने के लिये, कोयले का सदुपयोग आवश्यक है। भारत सरकार द्वारा पास किया गया सन् १९५२ का कोयला खान (सरक्षण व सुरक्षा) अधिनियम [Coal Mines (Conservation and Safety) Act] इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इस अधिनियम मे कोयला उद्योग उत्पादन, वितरण, मूल्य-निर्धारण आदि की दृष्टि से पूर्णतया केन्द्रीय सरकार द्वारा नियन्त्रित होता है। योजना आयोग (Planning Commission) ने कोयले के अपव्यय को रोकने के लिये कुछ सुझाव इस प्रकार दिये हैं—(अ) कोयला सम्बन्धी समस्त समस्याओं की जाच करने के लिये एक कोयला बोर्ड (Coal Board) की स्थापना की जानी चाहिये। (आ) कुछ चुने हुये क्षेत्रों मे कोयला निकालने के कार्य को पूर्णरूपेण बन्द कर देना चाहिये। (इ) कोकिंग कोयला के स्थान पर दूसरे प्रकार के कोयले का यथासम्भव प्रयोग करना चाहिये। (ई) कोयले से कोक बनाने की क्रिया को सीमित रखना चाहिये तथा (उ) कोयले को रखने, मिलाने और धोने के कार्य को अनिवार्य रूप से नियन्त्रित करने के लिये आवश्यक कानून बनाये जाने चाहियें।

(३) **कोयला-क्षेत्रों के असमान वितरण की समस्या**—हमारे देश मे कोयला-क्षेत्र का वितरण बहुत असमान है। देश की कुल कोयला-उत्पत्ति का लगभग ८२%

भाग केवल बिहार और पश्चिमी बंगाल से उपलब्ध होता है। कुछ कोयला मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, मद्रास और असम में भी प्राप्त होता है। अन्य राज्यों में कोयले का उत्पादन अति न्यून है। अत. देश के पूर्वी प्रदेशों की कोयला खानों से दूसरे राज्यों तक कोयला पहुँचाने में अत्यधिक ढुलाई-व्यय लगता है। इस समस्या के समाधान के लिये कोयला उद्योग के कार्यकारिणी मण्डल (Working Group of Coal Industry)ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि कोयले के वितरण में व्यय को कम से कम करने के लिये, कोयले के उत्पादन को प्रादेशिक आधार पर सगठित करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये (अ) असम प्रदेश में कोयले का उत्पादन बढ़ाकर उसे आत्मनिर्भर बनाना चाहिये, (आ) आन्ध्र प्रदेश में कोयले का उत्पादन बढ़ाकर दक्षिणी भारत को वहीं से कोयले की पूर्ति करनी चाहिये तथा (इ) मद्रास और उत्तर प्रदेश आदि प्रदेशों में भी कोयला क्षेत्रों का सर्वेक्षण एव विकास किया जाना चाहिए।

(४) परिवहन सम्बन्धी समस्याः—देश में कोयले के एक निश्चित क्षेत्र में केन्द्रित होने के कारण, कोयला उद्योग में परिवहन की रुकावट (Transport Bottleneck) एक स्थाई-सी समस्या हो गई है। फलस्वरूप, एक ओर उद्योगपतियों को आर्थिक हानि होती है और दूसरी ओर कोयले के अभाव में बहुत सी मिलें या तो कार्यावधि कम कर देती हैं अथवा बन्द हो जाती है। परिवहन सम्बन्धी असुविधाओं के कारण ही कोयले का निर्यात व्यापार पिछड़ा हुआ है। अतः कोयला उद्योग के अवाधगति से विकास के लिये, कोयला क्षेत्रों में परिवहन के सस्ते, सुगम एव द्रुतगामी साधनों की व्यवस्था की जानी चाहिये। तीसरी पचवर्षीय योजना में कोयले के खान-क्षेत्रों में २०० मील लम्बी नई रेलवे लाइन बिछाने का निश्चय किया गया है।

—:०.—

२४

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग और उनका प्रबन्ध

(Industries of the Public Sector and their Management)

प्राक्कथन:—भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की बुनियादी धारणा समाजवादी ढंग पर देश का विकास करना है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक, देश में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार केवल रेल, डाक-तार एवं वस्त्रादि तक ही सीमित था। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सार्वजनिक क्षेत्र में कई प्रमुख औद्योगिक उद्यमों की स्थापना हुई है और परिवहन, व्यापार एवं उद्योग अर्थात् प्रत्येक क्षेत्र में सरकार की आर्थिक क्रियाएं बढ़ रही हैं। तीसरी और भावी योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित होने वाले नये उद्यमों की संख्या में वृद्धि होती जायगी। अतः सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिये साधनों के एकत्रीकरण, परिवर्तित आवश्यकताओं की स्वीकृति, प्रत्येक चरण (Phase) में साधनों के समन्वय एवं एकत्रीकरण, आने वाली समस्याओं एवं कठिनाइयों के पूर्वाभास की क्षमता, विकास के लिये अनुकूल अवसरों से लाभ उठाने में तत्परता, कुशल कार्यकर्त्ताओं एवं योजना के उद्देश्यों के अनुरूप संगठनों की आवश्यकता है।

सार्वजनिक उद्योगों के संगठन का रूप:—सार्वजनिक उद्यमों के संगठन के तीन विभिन्न स्वरूप हैं:—(i) सरकारी विभाग द्वारा प्रशासित, (ii) कानून द्वारा स्थापित निगमों (Corporations) द्वारा प्रशासित तथा (iii) कम्पनी कानून के अन्तर्गत ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों द्वारा प्रशासित। इस समय रेल-तार-डाक, चितरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री व इन्टीग्रल कोच फैक्ट्री तथा इण्डियन आर्डिनेन्स फैक्ट्री का संचालन सरकारी विभागों द्वारा होता है। सार्वजनिक क्षेत्र में निगम प्रणाली का प्रयोग अभी तक परिवहन, वित्त, बीमा आदि क्षेत्रों में ही हो पाया है, जैसे—वायु परिवहन निगम, बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनायें, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, जीवन बीमा निगम तथा औद्योगिक वित्त निगम। वस्तुतः सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकतर उद्योगों को ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों के आधार पर संगठित किया गया है, जैसे—सिंदरी फर्टेलाइजर्स एण्ड कैमिकल्स लिमिटेड, हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड, हिन्दुस्तान केबल्स लिमिटेड, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड आदि। कुछ समय पूर्व तक हर एक उत्पादक इकाई के लिये एक स्वतन्त्र कम्पनी बनाने की प्रवृत्ति थी। जहां यह अनुभव किया जाता था कि कई उद्यमों में विशेष तालमेल की

आवश्यकता होगी, वहाँ कुछ ऐसे निर्देशक रख लिये जाते थे जो एक साथ कई उद्यमों के निर्देशक मण्डलो के सदस्य होते थे। परन्तु अब यह अनुभव किया जा रहा है कि जहाँ तक सम्भव हो सके यह प्रयत्न किया जाना चाहिये कि इतनी अधिक सख्या म और इतने प्रकार के अलग अलग सगठन न खोले जायें कि उनका प्रबन्ध भी दुष्कर हो जाए। अब मुख्यत एक ही क्षेत्र मे काम करने वाले उद्यमो को एक ही सूत्र म बाधने की प्रवृत्ति है। इस व्यवस्था म पृथक्-पृथक् इकाइयाँ मिली-जुली सयुक्त सुविधाओ से लाभ उठा सकती हैं। इससे बचत और कुशलता मे भी वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त कुछ समय पूर्व तक प्रारम्भ मे परियोजनाओ (Projects) की देख रेख का दायित्व सरकारी विभागो पर था। बाद मे यह निर्णय किया गया कि व्यापारिक ढग के सरकारी उद्यमो को कम्पनियो में सगठित किया जाना चाहिए। इस समय अधिकतर नई परियोजनाओ के लिए प्राय एक नई कम्पनी बनाई जाती है जो प्रारम्भ से ही परियोजना की, निर्माण के चरण सहित, देख-रेख करती है। वर्तमान कम्पनियों को अपने क्षेत्र में नई-नई इकाइयाँ स्थापित करने के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है तथा बडी-बडी कम्पनियो को डिजाइन और निर्माण (Construction) के लिये अलग से अपने विशिष्ट अभिकरण (Special Agents) नियुक्त करने को कहा जा रहा है।

सार्वजनिक क्षेत्र के प्रमुख उद्योग —भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र (Public-Sector) के प्रमुख उद्योग इस प्रकार हैं —(i) **दी सिन्दरी फर्टेलाइजर्स एण्ड केमिकल्स, लिमिटेड** —इस कारखाने की स्थापना २८ करोड रु० की लागत से सन् १९-५१ मे हुई। सन् १९५९–६० मे इसमे ३,८५,२४८ टन एमोनियम सल्फेट खाद का उत्पादन हुआ। रासायनिक खाद की बढती हुई माग को पूरा करने के लिये आगामी योजनाओ मे नांगल, नैंवेली, ट्राम्बे और राऊरकेला मे खाद के नये कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं। (ii) **दी हिन्दुस्तान केबल्स, लिमिटेड** —इस कारखाने की स्थापना सन् १९५४ मे रूपनरायनपुर (प० बगाल) मे की गई। सन् १९५९–६० मे इसमे ६९१ मील लम्बे तार बनाए गये। सन् १९६० से इस कारखाने मे टेलीफोन के तार भी बनने आरम्भ हो गये हैं। (iii) **दी हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, लिमिटेड** —यह फैक्ट्री बगलौर के पास जलाहली मे स्थापित है। सन् १९५६ से इस कम्पनी मे भारतीय द्रुत-गति चक्रयन्त्र (Lathes) बनाने आरम्भ हो गये। सन् १९५९–६० मे इस फैक्ट्री मे ७०२ मशीनो का उत्पादन हुआ। (iv) **दी हिन्दुस्तान शिपयार्ड, लिमिटेड** — मार्च सन् १९५२ मे भारत सरकार ने सिंदिया कम्पनी से विशाखापट्टनम शिपयार्ड लेकर इसका प्रबन्ध हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड को सौंप दिया। इस कम्पनी मे $\frac{2}{3}$ भाग पूँजी भारत सरकार की तथा १/३ भाग पूँजी सिंदिया कम्पनी की है। अब तक इस फैक्ट्री मे २४ समुद्री जहाज तथा २ छोटे-छोटे क्राफ्ट निर्मित हो चुके हैं। (v) **दी हिन्दुस्तान इन्सेक्टीसाइड्स, लिमिटेड** - सन् १९५५ मे भारत सरकार द्वारा दिल्ली में एक डी० डी० टी० (D D T) बनाने का कारखाना खोला गया। सन्

जानी चाहिये तथा सिंचाई व जल-विद्युत के कार्यक्रमों को चलाने के लिए, सार्वजनिक निगम स्थापित करने चाहियें। (v) सार्वजनिक उद्यमों के संचालक मण्डल में योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति नियुक्त किए जाने चाहियें। (vi) प्रत्येक उद्यम में दो मण्डलों की स्थापना की जानी चाहिये। इनमें से एक मण्डल द्वारा नीति निर्धारित की जाय तथा दूसरे मण्डल द्वारा निर्धारित नीति को कार्यान्वित किया जाय।

सितम्बर सन् १९५७ में केन्द्रीय उद्योग एवं वाणिज्य मन्त्रालय ने एक संयोजक समिति (Co ordinating Commi t e) नियुक्त की। इस समिति का कार्य सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की प्रगति एवं समस्याओं पर विचार करना तथा समस्याओं के समाधान के लिये उचित सुझाव प्रस्तुत करना है। संयोजक समिति की तीन उपसमितियां (Sub committees) हैं —(अ) श्रम व कर्मचारियों सम्बन्धी समिति (आ) वित्त व क्रय-विक्रय समिति तथा (इ) उत्पादन व ट्रेनिंग समिति। इन उप समितियों का मुख्य कार्य अपने अपने क्षेत्र की समस्याओं पर विचार करना है।

सार्वजनिक उद्यम और तृतीय पंचवर्षीय योजना

तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना आयोग ने सार्वजनिक उद्योगों के कुशल प्रबन्ध के लिये कुछ सुझाव इस प्रकार दिये हैं —(i) सार्वजनिक उत्तर-दायित्व —सार्वजनिक उद्यमों को सरकार और संसद से पर्याप्त सहायता मिलनी चाहिये। अतः संसद की एक विशेष समिति के आयोजन द्वारा, संसद की उचित आलोचना के प्रकाश में, सार्वजनिक उद्यमों के प्रबन्ध में सुधार किया जाना चाहिये। (ii) **निर्देशक मण्डल का गठन एवं कर्तव्य**—सार्वजनिक उद्यम के संचालक मण्डल का चुनाव योग्यता, अनुभव एवं प्रशासनिक दक्षता के आधार पर किया जाना चाहिये। *मण्डल का मुख्य उद्देश्य उद्यम की सामान्य नीति निर्धारित करना होना चाहिये।* निर्धारित नीति के अन्तर्गत प्रबन्ध निर्देशक अथवा जनरल मैनेजर को पूर्ण अधिकार होने चाहिये तथा आवश्यक परिणाम प्राप्त करने का दायित्व भी उसी पर होना चाहिये। (iii) **प्रबन्ध निर्देशक अथवा जनरल मैनेजर की नियुक्ति एवं कर्तव्य** — प्रबन्ध निर्देशक अथवा जनरल मैनेजर को नेतृत्व, निर्देशन एवं मुख्य प्रेरणा प्रदान करनी चाहिये। उनका चुनाव तकनीकी दक्षता, प्रशासनिक योग्यता एवं नेतृत्व करने के गुणों के आधार पर होनी चाहिये। सामान्य निर्देशन नियम निर्धारित करके, उसके ढांचे के अन्तर्गत प्रबन्ध निर्देशक अथवा जनरल मैनेजर का काम करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये तथा उद्यम को सफल बनाने का पूरा उत्तरदायित्व उसी पर सौंप देना चाहिये। जनरल मैनेजर की सहायतार्थ पर्याप्त संख्या में प्रबन्ध कर्मचारी होने चाहियें जो उद्यम के नियन्त्रण, निर्देशन एवं देख-रेख में उसके सहायक हो सकें। (iv) **वित्तीय सलाहकार का कार्य** —प्रत्येक सार्वजनिक कम्पनी में एक आन्तरिक वित्तीय सलाहकार नियुक्त होना चाहिये। वित्तीय सलाहकार का काम केवल व्यय-नियन्त्रण पर ध्यान देने की अपेक्षा वित्तीय प्रबन्ध की समस्याओं

पर भी ध्यान देना होना चाहिये। (v) **प्रबन्धक-वर्ग का विकास**—योजना आयोग के मतानुसार सार्वजनिक उद्यमो की दक्षता दो महत्वपूर्ण तत्वों पर निर्भर करेगी। ये दो तत्व हैं:—संस्था मे उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानो के लिये प्रशिक्षण और मुख्य नियुक्तियो के लिये अन्तत चुने जाने के लिये कर्मचारियो का विकास। अत कर्मचारियो म न केवल तकनीकी योग्यता होनी चाहिये वरन् उन्हे अपना दृष्टिकोण ऐसा बनाना चाहिये कि वे समस्त कारखाने के हित को ध्यान म रखना सीखें। (vi) **अग्रिम आयोजन**—किसी भी उद्यम की सफलता के लिये पूर्व आयोजन नितान्त आवश्यक है। सार्वजनिक उद्यम की योजनायें बहुस्तरीय होनी चाहियें। सतर्कता और वास्तविकतापूर्ण ढग से किये गये पूर्व-आयोजन से रुकावटें प्रकाश मे आती हैं। अत कोई घटना घटने से पूर्व ही उसका कुछ हल निकालने के लिये पर्याप्त समय रहता है। विशिष्ट लक्ष्य और उसके अन्तर्गत उप-लक्ष्य निर्धारित करना, सम्पूर्ण आयोजन क्रम का एक विभिन्न अग होना चाहिये। अधिक विस्तृत योजना के अपेक्षित परिणामो की व्याख्या के लिये, विभिन्न प्रकार के सचालन-स्तर और 'आदर्श' निर्धारित करने चाहिये। (vii) **प्रेरणायें**—सार्वजनिक उद्यमो मे उत्पादन के 'वास्तविकतापूर्ण आदर्श' निर्धारित करने पर, उनमे मजदूरी की प्रेरणा-प्रणाली (System of Wage Incentives) प्रारम्भ करना सरल हो जाएगा। चूंकि इस प्रणाली से श्रम-उत्पादकता बढाने, लागत घटाने और किस्म सुधारने मे अपूर्व सहायता मिलती है, इसलिए सार्वजनिक उद्योगों मे इस प्रणाली को अधिक से अधिक लागू करना चाहिए। (viii) **अनुसन्धान विभाग**—सार्वजनिक उद्यमो मे अनुसन्धान और विकास विभाग खोले जाने चाहियें। इन विभागों का कार्य वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा निरन्तर किस्म सुधार और सचालन सम्बन्धी व दक्षता मे सुधार करने के लिए प्रयत्न शील रहना होना चाहिए। (ix) **सेवि-वर्ग सम्बन्ध**—सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो का यह विशेष उत्तरदायित्व होना चाहिए कि वे ऐसी श्रम-नीति का अनुसरण करें कि उचित लागत पर योग्य कर्मचारी प्राप्त हो सकें और उन्हे उद्यम मे स्थाई रूप से रहने की प्रेरणा भी हो (x) **बचतें और उनका उपयोग**—सार्वजनिक उद्यमो द्वारा दक्षतापूर्वक उत्पादन किया जाना चाहिए। इस प्रकार उन्हे जो अतिरिक्त बचत प्राप्त हो, उनका उपयोग उद्यमो के भावी विकास कार्यों मे किया जाना चाहिए। साथ ही उन्हे निरन्तर पहले से अच्छे ढग से काम करने, अपने विकास और विस्तार की योजनायें बनाने और उनको कार्यान्वित करने तथा आवश्यक साधन प्राप्त करने का उत्तरदायित्व भी अपने उपर लेना चाहिए।

—:o:—

२५
भारत में औद्योगिक वित्त

(Industrial Finance in India)

प्राक्कथन—भारत म उपलब्ध प्राकृतिक साधनो का समुचित उपयोग एव विकास करने के लिए देश का औद्योगीकरण होना अत्यन्त आवश्यक है। किसी देश का औद्योगिक विकास उद्योगो की स्थिर एव चल पूजी (Fixed and Circulating Capital) की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपलब्ध वित्तीय साधनो (Financial Resources) पर निर्भर होता है। अत यदि यह कहा जाए कि "वित्त आधुनिक उद्योग का जीवन-रक्त है" (Finance is the life-blood of Modern Industry), तब इस कथन मे कोई अतिशयोक्ति नही होगी। औद्योगिक उद्यम (Industrial Enterprise) की स्थापना एव सफलतापूर्वक कार्यकरण के लिए आवश्यक मात्रा मे सरलतापूर्वक तथा उचित ब्याज की दर पर वित्त की पूर्ति सर्वथा अपेक्षित है। हमारे देश मे लघुस्तरीय एव वृहत्स्तरीय उद्योगो की मद प्रगति का मुख्य कारण वित्तीय साधनो की अपर्याप्तता ही रही है। भारत मे औद्योगिक वित्त सम्बन्धी अभाव की पूर्ति के लिए समय-समय पर विभिन्न आयोगो एव जाच समितियो ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किए हैं। सर्वप्रथम सन् १९१६-१८ के औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) ने और तत्पश्चात् सन् १९३१ की केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने औद्योगिक बैंको (Industrial Banks) तथा औद्योगिक वित्त प्रमण्डलो (Industrial Finance Corporations) की व्यवस्था करने की सिफारिश की।

औद्योगिक वित्त की आवश्यकता का स्वरूप—उद्योगो की वित्तीय आवश्यकतायें दो प्रकार की होती हैं—(i) स्थाई पूजी (Fixed or Block Capital)—स्थाई पूजी की आवश्यकता नये एव पुराने दोनो प्रकार के उद्योगो को होती है। नया उद्योग प्रारम्भ करते समय भूमि, मकान, मशीनें, यन्त्र एव अन्य प्रकार के स्थिर पूजीगत माल (Fixed Capital Goods) को खरीदने के लिए दीर्घकालीन पूजी की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार चालू उद्योगो को भी कल-कारखानो म आवश्यक परिवर्तन, सुधार एव विस्तार करने तथा नए यन्त्रो के खरीदने के लिए दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। (ii) चल अथवा कार्यशील पूजी (Circulating or Working Capital)—चल पूजी की आवश्यकता उद्योगो

को कच्चा माल खरीदने, मजदूरी देने, माल की बिक्री के सम्बन्ध म आवश्यक विज्ञापन करने तथा अन्य दैनिक आवश्यकता की वस्तुए खरीदने के लिए होती है। अल्पकालीन ऋणो की पूर्ति तीन प्रकार से होती है —(अ) कम्पनी के गोदामो एव मिलों के अन्दर भरे हुय माल की प्रतिभूति (Security) पर व्यापारिक बैंक्स (Commercial Banks) अल्पकालीन ऋण देते हैं। (आ) अल्पकालीन ऋणो की पूर्ति प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ (Managing Agents) से ऋण एव अग्रिम (Advances) के रूप में की जाती है तथा (इ) कुछ मिलो म साधारण जनता से जमा (Deposits) के रूप मे धन प्राप्त किया जाता है। हमारे देश मे बम्बई की सूती मिलो मे इस साधन का बहुत उपयोग किया जाता है। वस्तुत उद्योगो की दीर्घकालीन साख आवश्यकता की पूर्ति एक जटिल समस्या है। जहा तक पुराने वृहत एव सम्पन्न उद्योगों का सम्बन्ध है, व अपने दीर्घकालीन वित्त की पूर्ति या तो स्वय के ही सुरक्षित कोषो (Reserve Funds) से कर लेते हैं अथवा ऋण-पत्र (Debentures) निर्गमित (Issue) करके धन एकत्रित कर लेते हैं। परन्तु नये, छोटे स्तर के एव असम्पन्न उद्योगो को, जिनकी बाजार म कोई विशेष साख नही होती, ऋण-पत्रो को निर्गमित करके धन प्राप्त करने का कोई अवसर उपलब्ध नही होता। अत इन परिस्थितियो मे उद्योगों को दीर्घकालीन वित्त प्राप्त करने मे बहुत कठिनाई होती है और यही एक प्रमुख कारण है कि अभी तक भारत मे उद्योगो का समुचित विकास नही हो सका है।

उद्योगो की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन — आजकल भारत मे दीर्घकालीन औद्योगिक वित्त प्राप्त करने के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं —

(१) **हिस्सा पूजी** (Share Capital)—औद्योगिक कम्पनिया विभिन्न प्रकार के हिस्से (Shares) जारी करके पूंजी प्राप्त करती है। हिस्से मुख्यत तीन प्रकार के होते हैं —(अ) साधारण हिस्से (Ordinary Shares), (आ) पूर्वाधिकार हिस्से (Preference Shares) तथा (इ) अस्थगित हिस्से (Deferred Shares)। प्रत्येक कम्पनी विभिन्न प्रकार (Type) एव श्रेणी (Class) के विनियोगकर्त्ताओ (Investors) को अपनी पूजी का विनियोग करने के लिए, भिन्न-भिन्न प्रकार के हिस्से निर्गमित करती है। यद्यपि हमारे देश मे कम्पनियो की अधिकाश अचल पूजी हिस्सा पूजी के रूप में प्राप्त की जाती है तथा धीरे धीरे साधारण हिस्सा पूजी (Equities) के लिए देश म बाजार का विस्तार भी हुआ है, फिर भी पश्चिमी औद्योगिक देशो की तुलना म हमारे देश मे इस प्रकार की हिस्सा पूजी को एकत्रित करना अधिक कठिन रहा है।

(२) *ऋण पत्रों द्वारा प्राप्त पूजी (Debentures)* —एक औद्योगिक कम्पनी अपनी अधिकृत पूजी (Authorised Capital) से अधिक के शेयर निर्गमित नहीं कर सकती। यदि कम्पनी को अधिकृत पूजी की मात्रा से अधिक पूजी की आवश्यकता होती है, तब वह ऋण-पत्र (Debentures) निर्गमित करती है। ऋण पत्र किसी

नियो द्वारा मुख्यत कार्यशील पूजी (**Working Capital**) के रूप मे किया जाता है। कम्पनिया सावजनिक जमाओ को प्राप्त करने के लिये किसी भी प्रकार की प्रतिभूतिया नही देती। कम्पनी इस स्रोत द्वारा सुविधापूर्वक *तथा कम ब्याज* पर एव प्रचुर मात्रा मे पूजी प्राप्त कर लेती हैं। इस प्रणाली के कुछ मुख्य दोष इस प्रकार है —(i) मन्दी एव आर्थिक सकट के समय जमाकर्त्ताओ द्वारा अपनी पूजी निकालने की अधिक सम्भावना रहती है। इस स्थिति मे कम्पनी की कार्यविधि म गत्यावरोध उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहती है। (ii) कम्पनिया इन जमाओ को स्थिर पूजी (Fixed Capital) के रूप मे प्रयोग नही कर सकती क्योकि जमाकर्त्ताओ द्वारा इन को कभी भी निकालने की *सम्भावना बनी रहती है। (iii) चू कि कम्पनिया,* इस स्रोत द्वारा कम ब्याज पर तथा अधिक मात्रा मे पूजी प्राप्त कर सकने म सफल होती हैं, इसलिए उनके कार्यों मे सट्टे-व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। अत औद्योगिक कार्यों के लिए पूजी प्राप्त करने का यह साधन अधिक लाभदायक, सरल एव सुविधाजनक नही है।

(४) *वाणिज्य बैंक्स* (*Commercial Banks*) —*हमारे देश मे व्यापारिक* बैंक्स उद्योगो को वित्त प्रदान करने मे महत्वपूर्ण योग देते हैं। चू कि इन बैंको के पास अधिकाश जमाए (Deposits) अल्पकालीन होती हैं, इसलिए ये उद्योगो को केवल अल्पकालीन ऋण अथवा कार्यशील पूजी ही दे पाते हैं। व्यापारिक बैंक्स औद्योगिक कम्पनियो की सहायता उनके बिल्स (Bills) की कटौती करके, सुरक्षित अल्पकालीन ऋण देकर, नकद साख खाता (Cash Credit Account) खोलकर, अधिविकर्ष (Overdraft) की सुविधायें देकर और कभी-कभी व्यक्तिगत प्रतिभूति पर रुपया उधार देकर करते हैं। इसके अतिरिक्त ये बैंक्स कच्चा-माल व तैयार माल तथा प्रथम श्रणी की प्रतिभूतियो के आधार पर भी उद्योगो की वित्तीय सहायता करते हैं। सामान्यत *ऋण की अवधि १ वर्ष तथा ब्याज की दर ४ प्रतिशत स* ६ प्रतिशत तक होती है। एक अनुमान के अनुसार उद्योगो को प्रदत्त कुल वार्षिक *ऋण-पूजी मे व्यापारिक बैंको का हिस्सा लगभग* आधा रहता है। वाणिज्य बैंक्स औद्योगिक वित्त निगम, राज्यो के वित्त निगमो तथा अन्य वित्त निगमो के हिस्सो और ऋण-पत्रो मे विनियोग करके भी परोक्ष रूप से उद्योगो को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करते हैं।

(५) प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agents) —बडे स्तर के उद्योगो मे कारखानों के प्रबन्ध-कार्य के लिए हिस्सेदारो द्वारा जिन व्यक्तियो को ठेका दे दिया जाता है, उन्हे प्रबन्ध अभिकर्त्ता कहते हैं। यह प्रणाली भारत की अपनी अनोखी *प्रणाली है तथा विश्व के अन्य किसी भी देश मे यह पद्धति नही पाई जाती। हमारे* देश के बडे स्तर के अधिकाश उद्योगो का प्रबन्ध प्रबन्ध अभिकर्त्ता फर्म या (कम्पनी) द्वारा किया जाता है। *वास्तव म प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ ने देश मे औद्योगिक वित्त की* व्यवस्था करने म बहुत महत्वपूर्ण एव प्रत्यक्ष योग दिया है। इनके प्रमुख कार्य इस

प्रकार है —(i) ये नए उद्यमो का प्रवर्तन करते हैं। भूतकाल मे ये बडे स्तर के सभी उद्योगो, जैसे— सूती वस्त्र, लोहा और इस्पात और चाय आदि क्षेत्रो मे नए कारखानो के आरम्भकर्ता रहे हैं। (ii) भारत मे कम्पनियो की अधिकाश स्थिर एव कार्य-शील पू जी की पूर्ति इन्ही के द्वारा हुई है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता स्वय कम्पनियो के हिस्से खरीदते हैं या सकटकाल मे कम्पनी को ऋण देते हैं अथवा स्वय कम्पनी के ऋण-पत्र खरीदते हैं तथा कम्पनी को ऋण दिलवाते समय स्वय जमानती बन जाते हैं। विगत वर्षों म इन्होंने चाय, चीनी, कोयला तथा अन्य अल्प पू जी वाले (Under-capitalised) उद्योगो को मन्दी अथवा आर्थिक सकट के समय मे ऋण के रूप मे बहुत सहायता दी है। (iii) प्रबन्ध अभिकर्त्ता उद्योगो के दैनिक प्रबन्ध का कार्य करते हैं तथा (iv) ये अपनी कम्पनी के उत्पादो के विपणन एव कच्चा-माल व मशीनरी के खरीदने के कार्यो म एजेन्ट का कार्य करते है। **भारत के औद्योगिक विकास मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के योगदान का निरूपण राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission, 1949-50) ने इन शब्दों मे किया है, "विगत ७५ वर्षों मे प्रबन्ध अभिकरण प्रणाली ने भारतीय उद्योगों को महत्वपूर्ण सेवा की है। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनों मे, जब न तो उद्योग की ओर न पूंजी की ही बहुतायत थी, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने दोनों की व्यवस्था की। भारत के सूती वस्त्र, जूट तथा इस्पात आदि सुव्यवस्थित उद्योग अपनी वर्तमान स्थिति के लिए कई सुविख्यात प्रबन्ध अभिकरण गृहों के उत्साहपूर्ण नेतृत्व एव धात्रेयी अभिरक्षा (Fostering Care) के ऋणी हैं।"** प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली म अनेक दोष उत्पन्न हो जाने से, भारत सरकार ने इस पर कठोर नियत्रण लगा दिए हैं। सन् १९५६ के कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि अब भविष्य मे केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त किए जायेंगे।

(६) **बीमा कम्पनिया देशी बैंकर्स तथा व्यक्तिगत ऋणदाता.**—बीमा कम्प-निया निश्चित पू जी कम्पनियो के हिस्सो एव ऋण-पत्रो मे विनियोग करके औद्योगिक वित्त मे प्रत्यक्ष योग देती है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित पाश्चात्य देशो म औद्यो-गिक वित्त का यह एक महत्वपूर्ण स्रोत है। हमारे देश मे अभी तक बीमा-व्यापार का उचित प्रसार न हो सकने के कारण औद्योगिक वित्त के इस स्रोत का अधिक महत्व नही है। बीमा कम्पनियो के अतिरिक्त साहूकार, महाजन तथा स्वदेशी बैंकर्स भी औद्योगिक वित्त प्रदान करने मे थोडा बहुत योगदान करते हैं। परन्तु इनकी कार्य-पद्धति म अधिक दोषपूर्ण एव ब्याज की दर बहुत ऊची होने के कारण औद्योगिक वित्त की दृष्टि से इनका महत्व न्यूनातिन्यून है।

(७) विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts) :—विनियोग प्रन्यास सीमित दायित्व तथा विशाल पूंजी वाली कम्पनी होती है। ये अपने हिस्से अथवा ऋण-पत्र बेचकर जनता से धन एकत्रित करते हैं तथा इस एकत्रित कोष से औद्यो-गिक कम्पनियो के हिस्सो तथा ऋण-पत्रो को क्रय करते हैं। विनियोग प्रन्यास अपने

धन का विनियोग किसी एक उद्योग मे न करके विभिन्न उद्योगो अथवा विभिन्न कम्पनियो मे करते हैं। फलत इससे एक तो इनके विनियोग की जोखिम बहुत कम हो जाती है तथा साथ ही इन्हे लाभ भी अधिक प्राप्त हो जाता है। औद्योगिक वित्त की दृष्टि से यूरोप और अमेरिका मे विनियोग प्रन्यासो का महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे देश मे भी यद्यपि विगत २५ वर्षों मे विनियोग अनेक प्रन्यास जैसे—Industrial Investment Trust Ltd New India Investment Corporation Ltd Tata Investment Corporation of India Ltd आदि स्थापित हुए हैं तथापि अपने सीमित साधनो के कारण इनका औद्योगिक वित्त के प्रदायक क रूप मे अधिक महत्वपूर्ण स्थान नही है।

(८) **राज्य सरकारों द्वारा वित्तीय सहायता**—हमारे देश म विभिन्न प्रादेशिक सरकारो द्वारा भी औद्योगिक सस्थाओ को ऋण प्रदान किया जाता है। परन्तु उद्योगो को सरकार स मिलने वाल ऋण सुविधाजनक नही ह ते। इसके कारण इस प्रकार हैं—(अ) राज्यो से ऋण प्राप्त करने मे बहुत समय लगता है (आ) राजकीय अथ सहायता केवल लघु एव मध्यमस्तरीय उद्योगो के लिये ही दी जाती है तथा (इ) ये ऋण एक निश्चित मात्रा तक ही दिये जाते हैं। इसीलिये उद्योगो की वित्तीय आवश्यकताओ को देखते हुये ये अपर्याप्त होते है।

(६) **स्टाक एक्सचज बाजार (Stock Exchange Markets)**—स्टाक एक्सचजिज औद्योगिक वित्त की पूर्ति मे परोक्ष रूप से महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। स्टाक एक्सचज वे बाजार हैं जिनमे कम्पनियो के हिस्सो एव ऋण पत्रो के क्रय विक्रय सम्ब धी सुविधायें उपलब्ध होती हैं। इस बाजार मे केवल उन कम्पनियो के हिस्सो अथवा ऋण पत्रो का क्रय विक्रय सम्भव होता है जो स्टाक एक्सचज की शर्तों को पूरा करके एक्सचज के अधिकारियो से लिखित रूप मे अनुमति ले लेती हैं। हमारे देश मे बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के स्टाक एक्सचज बाजार इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

(१०) **औद्योगिक वित्त प्रमण्डलों द्वारा सहायता** (Loan Assistance from the Industrial Finance Corporations)—सन् १६३१ की केन्द्रीय बकिंग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) की सिफारिशो क आधार पर हमारे देश मे सन १६४८ म औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporations) तथा बाद मे दूसरे वित्त निगमो की स्थापना की गई। इन वित्त प्रमण्डलो के कोषो का एकत्रीकरण हिस्सो ऋण-पत्रो तथा सरकार से ऋण क द्वारा होता है। इनके हिस्सो एव ऋण पत्रो मे जनता का विश्वास उत्पन्न करने क लिए सरकार इनकी गारन्टी (Guarantee) कर देती है।

[अ] भारतीय औद्योगिक वित्त निगम

(The Industrial Finance Corporation of India)

भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की स्थापना—स्वतन्त्रता प्राप्ति स पूर्व

हमारे देश मे उद्योग-धन्धो को मध्यमकालीन एव दीर्घकालीन साख प्रदान करने वाली सस्थाओ का सर्वथा अभाव था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एक ओर तो देश मे उद्योगपतियों की पू जी की माँग मे अत्यधिक वृद्धि हुई और दूसरी ओर भारतीय द्रव्य-बाजार मे पूंजी का अभाव हो गया। इस स्थिति का भारत के औद्योगिक विकास पर बहुत हानिकर प्रभाव पडा। अत भारत सरकार ने औद्योगिक वित्त के अभाव को दूर करने के उद्देश्य से १ जुलाई सन् १९४८ को औद्योगिक वित्त प्रमडल (Industrial Finance Corporation) की स्थापना की। इस निगम का उद्देश्य देश मे औद्योगिक सस्थाओ को दीर्घकालीन तथा मध्यमकालीन साख पर्याप्त मात्रा मे तथा सरलतापूर्वक उपलब्ध कराना है और विशेषकर उस स्थिति मे, जबकि उन्हे जो भी सामान्य बैंकिंग सुविधायें प्राप्त हो रही हो, वे पर्याप्त एव समुचित नही हो अथवा जबकि उन्हे हिस्सो (Shares) व ऋण-पत्रो (Debentures) को निर्गमित करके पर्याप्त मात्रा मे पू जी प्राप्त नही हो रही हो अथवा जबकि वे हिस्सो व ऋण-पत्रो द्वारा पू जी प्राप्त करने मे असमर्थ हों। वस्तुतः निगम का ध्येय निजी वित्तीय सगठनो की क्रियाओ को समाप्त करना नही वरन् उनकी अनुपूर्ति (Supplement) करना है।

कार्य-क्षेत्र—भारतीय औद्योगिक वित्त निगम केवल औद्योगिक सस्थाओ को ही वित्त प्रदान कर सकता है। यह निगम उन सार्वजनिक कम्पनियो एव सहकारी सस्थाओ को, जो कि माल के परिनिर्माण (Processing) अथवा निर्माण (Manufacture), खान खादने अथवा विद्युत के उत्पादन और वितरण अथवा अन्य किसी प्रकार की शक्ति (Power) के उत्पन्न एव वितरण से सम्बन्धित हैं, दीर्घकालीन ऋण दे सकता है। सन् १९५२ मे इस निगम के अधिनियम मे किए गए सशोधन के अनुसार वित्त निगम के कार्य-क्षेत्र मे जहाजी कम्पनियो (Shipping Companies) को वित्तीय सहायता देना भी सम्मिलित कर दिया गया है। यह निगम निजी कम्पनियो (Private Companies), साझेदारी कम्पनियो, एकाकी उत्पादको (Sole Producers) तथा लघुस्तरीय उद्योगों को ऋण नही दे सकता। सन् १९५५ से पूर्व यह निगम केवल पुरानी एव चालू औद्योगिक सस्थाओ को ही ऋण दे सकता था। परन्तु १९५५ मे निगम के अधिनियम मे किये गये एक सशोधन के अनुसार अब यह निगम नई स्थापित औद्योगिक सस्थाओ को भी ऋण दे सकता है।

निगम के कार्य औद्योगिक वित्त निगम के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—(i) यह सीमित दायित्व वाली औद्योगिक कम्पनियो अथवा सहकारी सस्थाओ को २५ वर्ष की अधिकतम अवधि तक के लिये ऋण दे सकता है। (ii) औद्योगिक कम्पनियो द्वारा खुले बाजार मे २५ वर्ष की अधिकतम अवधि के लिये दिये गये ऋणो पर गारन्टी दे सकता है। (iii) प्रमण्डल कम्पनियो के हिस्सो (Shares), बन्धक-पत्रो (Bonds) तथा ऋण-पत्रो (Debentures) का अभिगोपन (Underwriting) कर सकता है। (iv) निगम कम्पनियो के ऋण-पत्रों के ब्याज अथवा मूलधन की भी

गारन्टी दे सकता है तथा इस तरह गारन्टी देकर कम्पनियो को धन-राशि प्राप्त कराने मे मदद कर सकता है। (v) निगम स्वय ऋण-पत्र जारी कर सकता है तथा विश्व बैंक से भी विदेशी ऋण ले सकता है। (vi) वित्त निगम जनता से १० करोड रु० तक ५ वर्ष की निश्चितकालीन जमाए (Deposits) भी प्राप्त कर सकता है। (vii) निगम को आयतकर्त्ताओ को विलम्बित भुगतान पद्धति (Deferred Payments) के *सम्बन्ध मे भी गारन्टी* देने का अधिकार है। अत निगम विदेशी उत्पादको को* गारन्टी देकर आयातकर्त्ताओ को उनसे वस्तुयें उधार दिलाने मे मदद कर सकता है। (viii) वित्त निगम अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) अथवा राज्य सहकारी बैंको (State Co-operative Banks) से औद्योगिक सस्थाओ द्वारा प्राप्त ऋण पर भी गारन्टी† दे सकता है। | (ix) यदि भारत सरकार की आज्ञा से किसी औद्योगिक *सस्था ने किसी विदेशी बैंक अथवा साख-सस्था से ऋण प्राप्त किया है, तब निगम उस* पर भी गारन्टी** दे सकता है तथा (x) भारत मे निर्मित पूजीगत वस्तुओ (Capital Goods) के क्रय के सम्बन्ध मे विलम्बित भुगतान पद्धति (Deferred Payments System) का प्रयोग किया जा सकता है तथा निगम औद्योगिक सस्थाओ द्वारा स्वदेशी पूंजीगत माल को उधार लेने के सम्बन्ध मे भी गारन्टी दे सकता है।

पूजी एव कार्यवाहक कोष (Capital and Working Funds) — (i) हिस्सा पूंजी (Share Capital) —औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की अधिकृत पूजी (*Authorised Capital*) *१० करोड रु० है तथा इसे —५ हजार रु० के बीस* हजार पूर्ण प्रदत्त (Fully Paid-up) हिस्सो मे विभाजित किया गया है। इस समय निगम की निर्गमित (Issued), प्रार्थिक Subscribed) तथा परिदत्त (Paid-up) पूजी केवल ५ करोड रु० है, जो दस हजार हिस्सो को बेचकर प्राप्त की गई है। शेष हिस्से आवश्यकता पडने पर जारी किए जा सकेंगे। वित्त निगम के हिस्से केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंको, बीमा कम्पनियो, सहकारी सस्थाओ, विनियोग ट्रस्टो तथा अन्य वित्तीय सस्थाओ द्वारा खरीदे गये हैं। इस प्रकार निगम का पूजी कलेवर (Capital Structure) न तो पूर्णतया राज्य के स्वामित्व एव नियन्त्रण मे है और न इससे पूर्णतया स्वतन्त्र ही है। (ii) बन्धक-पत्र व ऋण-*पत्र (Bonds and Debentures)— औद्योगिक वित्त निगम को अपनी परिदत्त पूजी* (Paid-up Capital) तथा सुरक्षित कोष (Reserve Fund) के १० गुने† तक बन्धक-पत्र व ऋण-पत्र निर्गमित करने का अधिकार है। (iii) रिजर्व बैंक से ऋण— वित्त प्रमण्डल रिजर्व बैंक से १८ माह तक के लिये ३ करोड रु० तक ऋण ले सकता है। मार्च सन् १९६१ मे वित्त निगम ने रिजर्व बैंक से ५१ लाख रु० ऋणस्वरूप

* Vide Amendment in 1957 of the Corporation's Act.

† Vide Amendment in 1960 of the Corporation's Act.

** Before the Corporation's Amendment Act of 1957, this lin it was five times of the Paid-up Capital and the Reserve Funds.

हैं और ये इसकी सफलता के द्योतक है। दिसम्बर सन् १९५२ मे भारत सरकार ने औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की कार्यविधि के दपो एव उसके मार्ग की सम्भावित बाधाओं के अध्ययन करने के लिए, श्रीमती सुचता कृपलानी की अध्यक्षता में एक जाच-समिति की नियुक्ति की थी। इस समिति की रिपोर्ट ७ मई १९५३ का प्रकाशित हुई। भारत सरकार ने जाच समिति की अनेक सिफारिशो को स्वीकार करके इनको व्यावहारिक रूप देने के लिए वित्त निगम का जो निर्देश दिये, वे इस प्रकार है —(i) निगम के सञ्चालक मण्डल को दिल्ली के अतिरिक्त, समय समय पर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास मे भी सभाए करनी चाहिए। (ii) निगम के सञ्चालकों को ऋण की स्वीकृति देते समय निष्पक्ष रूप से काम लेना चाहिए। (iii) निगम को अपनी वार्षिक रिपोर्ट म ऋण लेने वाली कम्पनियो का पूरा विवरण तथा इनके द्वारा ऋण लेने के उद्देश्य आदि को विस्तृत रूप म प्रकाशित करना चाहिए। (iv) निगम को ऋण की स्वीकृति देते समय ऋण के उद्देश्य एव उससे होने वाली आय का अनुमान लगा लेना चाहिए तथा (v) निगम द्वारा ऐसे सब स्वीकृत ऋणो की सूचना सरकार को देनी चाहिए जिनसे निगम का कोई भी सञ्चालक सम्बन्धित हो अथवा जो सर्वसम्मति से स्वीकृत न किया गया हो।

[आ] प्रादेशिक औद्योगिक वित्त प्रमण्डल

(The State Industrial Finance Corporations)

प्राक्कथन —भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल का कार्य क्षेत्र बहुत सीमित है। यह केवल सीमित दायित्व वाली सार्वजनिक कम्पनियो (Public Limited Companies) तथा उन सहकारी सस्थाओ को ऋण देता है जो खनिज व शक्ति के उत्पादन तथा इसके वितरण से सम्बन्धित उद्योगो म लगी हुई हैं। इस निगम द्वारा केवल दीर्घकालीन एव मध्यमकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। अत प्रमण्डल के कार्यों की कमी को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रादेशिक सरकारो ने प्रादेशिक वित्त निगमो (State Finance Corporations) की स्थापना की माग की जिससे कि व सस्थायें मध्यमस्तरीय एव लघुस्तरीय उद्योगो की आर्थिक सहायता कर सकें। इस आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने अक्टूबर सन् १९५१ को प्रादेशिक औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम (State Industrial Finance Corporations Act) पास किया। इस अधिनियम के अन्तगत सन् १९५९-६० के अन्त तक १३ राज्य वित्त निगम स्थापित हो चुके हैं, जो इन राज्यो से सम्बन्धित हैं —आन्ध्रप्रदेश, असम, बिहार, महाराष्ट्र, केरल, मध्यप्रदेश, मैसूर, उडीसा, पूर्वी पजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल और मद्रास।

प्रादेशिक औद्योगिक वित्त प्रमण्डलों की विशेषतायें —राज्यो मे स्थापित अर्थ प्रमण्डलो की मुख्य विशेषताए इस प्रकार हैं — (i) पू जी —राज्य वित्त निगमो की हिस्सा पू जी (Share Capital) कम से कम ५० लाख रु० और अधिक से अधिक ५ करोड रु० हो सकती है। इन निगमो की पू जी राज्य सरकारो, रिजर्व बैंक

वाणिज्य बैंक्स, अन्य वित्तीय संस्थाओं तथा साधारण जनता से प्राप्त की जाती है। राज्य वित्त निगमों की हिस्सा-पूंजी का केवल २५ प्रतिशत भाग केन्द्रीय सरकार की पूर्व आज्ञा से जनता को निर्गमित किया जा सकता है तथा शेष ७५ प्रतिशत पूंजी का हस्तान्तरण उक्त संस्थाओं तक ही सीमित रहेगा। राज्य वित्त निगम बन्धक-पत्र (Bonds) तथा ऋण-पत्रों (Debentures) को निर्गमित करके, अपनी प्रदत्त हिस्सा-पूंजी (Paid-up Share Capital) तथा रक्षित कोष (Reserve Fund) के ५ गुने तक पूंजी प्राप्त कर सकते है। (ii) जमायें (Deposits) — राज्य वित्त प्रमण्डल कम से कम ५ वर्ष की अवधि के लिए जनसाधारण से जमायें भी प्राप्त कर सकते हैं। किसी निगम द्वारा जनता से जमा के रूप में प्राप्त पूंजी उसकी प्रदत्त पूंजी (Paid-up Capital) से अधिक नहीं हो सकती। (iii) ऋण देना (Granting of Loans) — राज्य वित्त निगम लघु एवं मध्यमस्तरीय उद्योगों को मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन स्थाई-पूंजी प्रदान करते हैं। ये वैयक्तिक उद्यमकर्त्ताओं, साझेदारी फर्मों एवं सीमित दायित्व वाली प्राइवेट कम्पनियों को भी साख प्रदान करते हैं। राज्य वित्त प्रमण्डल अधिक से अधिक २० वर्षों के लिए ऋण दे सकते हैं, परन्तु किसी एक फर्म को १० लाख रु० से अधिक ऋण नहीं दे सकते। राज्य वित्त प्रमण्डल भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की भांति कम्पनियों के हिस्से नहीं खरीद सकते, परन्तु कम्पनियों द्वारा निर्गमित हिस्सों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन (Underwriting) कर सकते हैं, कम्पनियों को प्रत्यक्ष ऋण व अग्रिम (Direct Loans and Advances) दे सकते हैं, कम्पनियों के ऋण पत्रों (Debentures) की बिक्री पर गारन्टी दे सकते हैं तथा इनके ऋण-पत्र स्वयं भी क्रय कर सकते हैं। ये निगम किसी कम्पनी को सरकारी अथवा अन्य मान्यता प्राप्त प्रतिभूतियों (Governmental and other approved Securities) स्वर्ण (Gold) तथा चल व अचल सम्पत्ति (Fixed and Circulating Capital) की आड़ पर ही ऋण दे सकते हैं। सन् १९६०–६१ में राज्य वित्त निगमों ने ४.०९ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किये। (iv) प्रबन्ध (Management) — राज्य वित्त प्रमण्डल का प्रबन्ध १० सदस्यों के एक संचालक बोर्ड (Board of Directors) द्वारा होता है। प्रमण्डल की एक कार्यकारिणी समिति (Executive Committee) होती है जो संचालक बोर्ड के काम में सहायता करती है।

प्रगति की समीक्षा —आलोचकों का मत है कि राज्य वित्त निगमों द्वारा दी गई वित्तीय सहायता अपर्याप्त रही है। राज्य वित्त निगमों की कार्य पद्धति की आलोचना इन तर्कों के आधार पर की जाती है —(i) विगत वर्षों में राज्य वित्त प्रमण्डलों ने *सूती-वस्त्र, इन्जीनियरिंग, विद्युत्-पूर्ति, तेल पेरने का उद्योग तथा चाय व रबर के* उद्यान आदि मध्यम श्रेणी के उद्योगों को ही अधिक वित्तीय सहायता दी है। अतः लघुस्तरीय उद्योगों के विकास में इन प्रमण्डलों का विशेष सहयोग नहीं रहा है। (ii) राज्य वित्त प्रमण्डल उद्योगों को ऋण-पूंजी ही प्रदान करते हैं, कार्यशील पूंजी

प्रदान नही करते । अत. बहुत मे लघुस्तरीय उद्योग कार्यवाहक पू जी के अभाव मे कठिनाई मे पड जाते हैं । (iii) इन प्रमण्डलों द्वारा ऋण की स्वीकृति देने मे अनावश्यक रूप मे बहुत देरी हो जाती है । (iv) इन प्रमण्डलो द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दरें लघुस्तरीय उद्योगों की स्थिति को देखते हुये बहुत ऊची हैं । रजिस्ट्रेशन शुल्क तथा ऋण पर स्टाम्प-कर आदि लगाने से ऋण के कुल भार मे वृद्धि हो जाती है । अत. लघुस्तरीय उद्योगो को विकास आवश्यकताओ को देखते हुए, राज्य वित्त प्रमण्डल उन्हे सस्ती, सुविधाजनक, सरल एव पर्याप्त साख प्रदान नहीं करते हैं ।

(इ) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास प्रमण्डल लिमिटेड

(The National Industrial Development Corporation Ltd)

स्थापना —राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम एव विशुद्ध सरकारी संस्था है । भारत के द्रुतगति मे औद्योगिक विकास के एक प्रयत्न के रूप मे केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५४ मे राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना की । यह निगम एक सीमित दायित्व (Limited Liability) वाली कम्पनी है ।

राष्ट्रीय उद्योग विकास प्रमण्डल की विशेषतायें (Salient Features of the National Industrial Development Corporation).—इस प्रमण्डल की कुछ मुख्य विशेषताए इस प्रकार हैं — (i) **पूंजी:**—यह प्रमण्डल एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप मे पूंजीकृत हुआ है । इसकी अधिकृत पूजी (Authorised Capital) १ करोड रु० है और यह समस्त पूंजी केन्द्रीय सरकार द्वारा ही दी गई है । अपनी पूजी मे वृद्धि करने के लिए यह प्रमण्डल अपने हिस्से (Shares) तथा ऋण-पत्र (Debentures) भी निर्गमित कर सकता है । निगम को अतिरिक्त पूजी मिलने के तीन साधन हैं—(अ) यह निगम केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो, बैंको और व्यक्तियो से *ऋण व जमा (Loans and Deposits) के रूप मे धन प्राप्त कर सकता है ।* (आ) निगम द्वारा विभिन्न औद्योगिक प्रयोजनाओ (Industrial Projects) के अध्ययन व जाच के लिए सरकार इसे वार्षिक सहायता (Annual Assistance) देती है तथा (इ) जब कभी निगम किसी योजना को कार्यान्वित करता है, तब केन्द्रीय सरकार इसके लिए ऋण की व्यवस्था करती है । (ii) **उद्देश्य** :—प्रमण्डल का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector तथा व्यक्तिगत क्षेत्र (Private Sector) मे सतुलन स्थापित करके, इन दोनों क्षेत्रो का सतुलित औद्योगिक विकास (Balanced Industrial Development) करना है । (iii) **कार्य** :—(अ इस प्रमण्डल का मुख्य कार्य उन उद्योगो को वित्त प्रदान करना है जो नियोजित विकास की अवधि मे स्थापित होंगे । (आ) यह व्यक्तियो, फर्मों, कम्पनियों एव सरकारी उद्योगों की सहायता पू जी, माल, मशीनरी, पू जीगत माल तथा अन्य साज-सज्जा के रूप मे करता है । (इ) यह सार्वजनिक एव निजी क्षेत्रो मे सहयोग व सन्तुलन स्थापित करता है। जहा तक सम्भव होता है, यह प्रमण्डल निजी क्षेत्र मे उपलब्ध साज-सज्जा अनुभव व चतुराई का अधिकतम उपयोग करता है । (ई) इस निगम के कार्य केवल औद्योगिक

इकाइयो को सहायता देना ही नही है वरन् आवश्यकता पडने पर यह स्वय भी ऐसी औद्योगिक इकाइयो की स्थापना कर सकता है जो कि भविष्य में निजीक्षत्र मे सहायक उद्योगो की स्थापना मे सहायक होती है। इस तरह निगम देश मे सतुलित एव एकीकृत औद्योगिक विकास को सम्भव बनाता है। (उ) यह कम्पनियो द्वारा लिये जाने वाले ऋणो की गारन्टी देता है। (ऊ) निगम कम्पनियो के हिस्सो व ऋण-पत्रो का अभिगोपन (Underwriting) करता है। (ए) यह उद्योगो को कुशल विशेषज्ञो की सेवायें प्रदान कर सकता है। (ऐ) मण्डल व्यापारिक कम्पनियो के साथ साभेदारी भी कर सकता है। (ओ) उद्योगो के प्रवन्ध सचालन मे सहयोग देने के लिये, यह निगम कम्पनियो के सचालक बोर्ड मे सलाहकार भी नियुक्त कर सकता है। (औ) यह निगम कुछ प्रमुख औद्योगिक सामान, जैसे—कच्ची-फिल्म (Raw Films), अल्मूनियम, कृत्रिम रबड और दवा, रग व प्लास्टिक उद्योग का आवश्यक सामान आदि बनाने का प्रयत्न कर सकता है। (अ) निगम किसी भी उद्योग को सरकारी ऋण देने के सम्बन्ध मे सरकारी अभिकर्त्ता (Agent) का कार्य कर सकता है। (अ) इस निगम का कार्य औद्योगिक प्रयोजनाओ का अध्ययन व जाच करना तथा इन प्रयोजनाओ को व्यावहारिक रूप देना है। (iv) प्रबन्ध —इस उद्योग विकास प्रमण्डल का प्रवन्ध एक सचालक समिति (Board of D rectors) के द्वारा किया जाता है जिसम केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत (Nominated) २० सदस्य होते है। ये सदस्य बडे-बडे वैज्ञानिक, विशेषज्ञ उद्योगपति आदि होते हैं।

प्रगति —राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने सन् १९५५ से फाउन्ड्री, फोर्ज शाप्स (Forge Shops), स्ट्रक्चरल फैब्रीकेशन (Structural Fabrication) रिफ्रेक्टरीज (Refractories), अखबारी कागज, औषधि तथा रग बनाने का सामान तथा काला कार्बन आदि बनाने के उद्योगो के विकास से सम्बन्धित सर्वेक्षण (Investigation) कार्य प्रारम्भ कर दिया है। ३१ माच सन् १९६१ तक इस प्रमण्डल ने पटसन व सूती वस्त्र उद्योगो के नई मशीनें लगाने के लिये १९ ५९ करोड रु० के ऋण स्वीकार किए हैं।[1] प्रमण्डल द्वारा स्वीकृत ऋणो की भुगतान अवधि अधिकाधिक १५ वर्ष की होती है। इस प्रमण्डल ने ब्याज की दर ७ प्रतिशत वार्षिक रक्खी है परन्तु समय पर मूल न व ब्याज का भुगतान करने पर २ प्रतिशत की छूट दी जाती है। जून १९५९ से प्रमण्डल ने जूट व सूती कारखानो के आधुनिकीकरण, (Rationalisation) की गति को तीव्र करने के उद्देश्य से एक नया कदम उठाया है। अब यह निगम् किसी कारखाने द्वारा मशीन की कीमत का २५ प्रतिशत भाग इसके पास जमा करने पर उस कारखाने को आवश्यक मशीन उपलब्ध कराता है। मशीन की ७५ प्रतिशत कीमत, जो निगम द्वारा दी जायगी ६ प्रतिशत वार्षिक ब्याज मिलाकर ५ वार्षिक किस्तो मे चुकाई जाने की व्यवस्था की गई है। ११ माच सन् १९६१ तक निगम ने इस कार्यक्रम के अन्तगत ३० लाख रु० की सहायता प्रदान की है।[2]

---

1. *Report on Currency and Finance, 1960 61, Page 66.*
2. Ib P 66

[ई] श्रौद्योगिक साख तथा विनियोग प्रमण्डल लिमिटेड
(The Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd.)

स्थापना —श्रौद्योगिक साख एव विनियोग निगम की स्थापना ५ जनवरी सन् १९५५ को भारतीय कम्पनीज अधिनियम (Indian Companies Act) के अन्तगत की गई। यह प्रमण्डल व्यक्तिगत सदस्यो द्वारा निर्मित सस्था है। जिसका उद्देश्य निजी क्षेत्र (Private Sector) के उद्योगो के लिये साख प्रदान करना है। चूंकि भारतीय श्रौद्योगिक वित्त निगम (Indian Industrial Finance Corporation) व्यक्तिगत क्षेत्र की कम्पनियो की सहायता नही करता श्रौर नई व्यक्तिगत क्षत्र की कम्पनियो को अपने हिस्से बेचकर श्रथवा ऋण के रूप मे पू जी प्राप्त करन म बहुत कठिनाई होती है। इसलिये इस समस्या के समाधान के लिए ही श्रौद्योगिक साख एव विनियोग प्रमण्डल की स्थापना की गई है। यह निगम कम्पनियो के हिस्से (Shares) क्रय करने, हिस्सो एव ऋणपत्रो (Debentures) का अभिगोपन (Underwriting) करने तथा उन्हे प्रत्यक्ष ऋण देने का कार्य करता है। यदि यह कहा जाय कि इस निगम की स्थापना करके भारत सरकार ने निजी उद्यम (Private Enterprise) का महत्व स्वीकार किया है तथा सरकार उसे सहायता करने के लिये भी तत्पर रहती है, तब कोई अत्युक्ति नही होगी।

उद्देश्य एव कार्य —इस प्रमण्डल का मुख्य उद्देश्य निजी क्षत्र म उद्योगो के विकास को प्रोत्साहित करना है। इस निगम के कुछ मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—(i) निजी उद्यमो की स्थापना, प्रसार एवं आधुनिकीकरण मे सहायता देना, (ii) इन उद्यमों में देशी व विदेशी दोनों प्रकार की पू जी को भाग लेने (Participation) के लिए प्रोत्साहित करना तथा (iii) निजी क्षेत्र मे श्रौद्योगिक विनियोगो श्रौर इनसे सम्बन्धित विनियोग बाजार के प्रसार को प्रोत्साहन देना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निगम ये कार्य करता है—(i) यह निगम निजीक्षेत्र के उद्योगो को दीर्घकालीन व मध्यमकालीन साख के रूप मे श्रथवा जोखिम पू जी (Equity Participation) के रूप मे ऋण प्रदान करता है। (ii) निजी क्षेत्र के उद्योगो के हिस्सो व प्रतिभूतियो के नए निर्गमन को प्रतिभू (Sponsor) करता है तथा उनका अभिगोपन (Underwriting) करता है। (iii) निजी विनियोग के अन्य स्रोतों से प्राप्त ऋणो की गारन्टी करता है। (iv) विनियोगो का श्रावश्यकतानुसार तथा शीघ्रातिशीघ्र पुनर्मूल्याकन करके कोषो को पुन विनियोग के लिये उपलब्ध करता है। (v) प्रमण्डल निजी क्षत्र के उद्योगो को प्रबन्धकीय (Managerial), प्राविधिक (Technical) तथा प्रशासनिक (Administrative) परामर्श प्रदान करता है तथा उन्हे इन सेवाश्रो को प्राप्त करने मे सहयोग देता है। अत यह प्रमण्डल निजी क्षत्र मे उद्योगो के प्रसार एव आधुनिकीकरण को प्रोत्साहित करके उनके विकास को सम्भव बनाता है।

पूंजी कलेवर (Capital Structure) —यह निगम एक व्यक्तिगत स्वामित्व एव प्रबन्ध वाला निगम है। इसकी स्थापना भारतीय पू जीपतियो ने ब्रिटेन व सयुक्त राज्य अमेरिका के पू जीपतियो, भारत सरकार व विश्व बैंक की सहायता

मे की थी। प्रमण्डल की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) २५ करोड रु० रक्खी गई है जिस १००-१०० रुपये के ५ लाख साधारण हिस्सो (Ordinary Shares) मे तथा १००-१०० रु० के ३० लाख अवर्गीकृत हिस्सो (Unclassified Shares) मे विभक्त किया है। इस समय निगम की निर्गमित (Issued) और परिदत्त (Paid-up) पूंजी ५ करोड रुपये है। इस निगम की ५ करोड रुपये की परिदत्त पूंजी मे से ५ रु० की पूंजी भारतीय हितो (भारतीय बैंको, बीमा कम्पनियो, निजी सस्थाओ तथा जनता) द्वारा, १ करोड रुपये की पूंजी ब्रिटिश हितों (ब्रिटिश ईस्टर्न एक्सचेंज बैंक तथा बीमा कम्पनिया) द्वारा तथा शेष ०.५ करोड रु० *की पूंजी अमेरिकन हितो (सयुक्त राज्य की बीमा कम्पनियाँ व नागरिको) द्वारा दी* गई है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने प्राविधिक सहयोग प्रशासन (Technical Co-operation Administration) के द्रव्यकाप म से इस प्रमण्डल को ७.५ करोड रु० का ब्याज मुक्त अग्रिम (Advance) दिया है जिसका भुगतान १५ वर्ष बाद १५ समान वार्षिक किश्तो म किया जायगा। विश्व बैंक (I. B R D) ने इस निगम को भारत सरकार की गारण्टी पर विभिन्न विदेशी मुद्राओ मे ५ करोड रु० का ऋण *प्रदान किया है। इस ऋण की अवधि १५ वर्ष तथा इसपर ब्याज की दर ४$\frac{5}{8}$% है।* इस प्रकार इस निगम की प्रारम्भिक कार्यवाहक पूंजी (Working Capital) १७ करोड रु० थी। इस निगम को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह अपनी कार्यवाहक पूंजी मे वृद्धि करने के लिये अपनी परिदत्त पूंजी (Paid up Capital), रक्षित निधि (Reserve Fund) तथा भारत सरकार की ओर से मिली अग्रिम (Advance) की बाकी (Outstanding) की कुल रकम के अधिकाधिक तीन गुना तक ऋण प्राप्त कर सकता है। निगम की स्थापना के समय यह व्यवस्था कर दी गई थी कि स्थापना के ५ वर्ष के पश्चात् से निगम के लाभाश का २५ प्रतिशत भाग प्रतिवर्ष रक्षित कोष मे रक्खा जायगा।

प्रगति —मार्च सन् १९५५ से लेकर सन् १९६० के अन्त तक प्रमण्डल ने कुल ३१.६१ करोड रु० की वित्तीय सहायता स्वीकृत की जिसका विभाजन इस प्रकार है—१९.१८ करोड रु० ऋण के रूप म (विदेशी एव देशी मुद्रा के रूप म), ६.६७ करोड रु० हिस्सो (Shares) व ऋण-पत्रो (Debentures) के अभिगोपन (Underwriting) के रूप मे तथा शेष २.५६ करोड रु० कम्पनियो के हिस्से क्रय करने के रूप मे। सन् १९६० के अन्त तक इस निगम ने केवल १२.४६ करोड रु० के ऋण वितरित किये थे। विगत वर्षों मे इस प्रमण्डल की सहायता से कागज, रासायनिक उद्योग, इंजीनियरिंग, चीनी, रबड, वस्त्र उद्योग, सीमेंट एव विद्युत् का सामान बनाने वाले उद्योगो ने विशेष लाभ उठाया है। हाल ही म निगम के वित्तीय साधन बढाने के लिये कुछ महत्वपूर्ण कदम इस प्रकार उठाये गये हैं —(1) २१ मई सन् १९५९ को भारत सरकार द्वारा सयुक्त राज्य प्राविधिक सहयोग मिशन स किय गए समझौते के अन्तर्गत इस निगम को मिशन से नये पी० एल० कोष

४८० से १० करोड रुपये का ऋण प्राप्त होगा। (ii) जुलाई सन् १९५९ मे विश्व बैंक ने निगम को १ करोड डालर का दूसरा ऋण स्वीकार किया है। सन् १९५५ मे विश्व बैंक ने इस निगम को ५ करोड रु० का पहला ऋण दिया था। (iii) सन १९६० मे इस निगम का २ करोड डालर का ऋण प्राप्त हुआ है तथा (iv) D L के अन्तर्गत अमेरिका ने इस निगम को ५० लाख डालर का ऋण प्रदान किया है *

[उ] पुनर्वित्त निगम

(Re-finance Corporation for Industry Private Ltd.)

पुनर्वित्त निगम की स्थापना —सन् १९४७ मे औद्योगिक वित्त निगम, सन् १९५४ मे राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम तथा १९५५ मे औद्योगिक साख एव विनियोग निगम की स्थापना के पश्चात् भी मध्यमस्तरीय उद्योगो की मध्यमकालीन साख सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति की कोई समुचित व्यवस्था नही हो सकी, क्योकि इन समस्त निगमों का उद्देश्य उद्योगों की दीर्घकालीन साख आवश्यकताओ की पूर्ति करना ही है। यद्यपि हमारे देश के व्यापारिक बैंको (Commercial Banks) ने उद्योगों की मध्यमकालीन साख आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे कुछ योगदान अवश्य किया है, तथापि उनके द्वारा मध्यमकालीन ऋण देने की व्यवस्था अपर्याप्त, असुविधाजनक एव असन्तोषप्रद ही अधिक रही है। अत भारत सरकार ने निजी क्षेत्र मे मध्यम आकार की औद्योगिक इकाइयों के लिए, मध्यमकालीन साख आवश्यकताओ की पूर्ति करने के एक साधन के रूप मे, जून सन् १९५८ मे पुनर्वित्त निगम की स्थापना सीमित दायित्व वाली निजी कम्पनी (Re-finance Corporation for Industry Private Ltd) के रूप मे की। २८ मार्च सन् १९६१ को इस प्रमण्डल को सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनी (Public Limited Company) का रूप दे दिया गया।

उद्देश्य और कार्य —पुनर्वित्त निगम का उद्देश्य निजी क्षेत्र मे मध्यमस्तरीय उद्योगो के लिये वित्तीय साधनों मे वृद्धि करना है। यह प्रमण्डल प्रत्यक्ष रूप से उद्योगो को ऋण नही देता। वस्तुत, सामान्य नियम यह है कि सर्वप्रथम व्यापारिक बैंक मध्यम श्रेणी के उद्योगों को अपने कोष से मध्यमकालीन साख प्रदान करते हैं और तदपश्चात् यदि वे चाहे, तब वे उद्योगों को दिये जाने वाले ऋण के बदले पुनर्वित्त प्रमण्डल से ऋण प्राप्त कर लेते हैं। पुनर्वित्त प्रमण्डल व्यापारिक बैंको को पुनर्वित्त की यह सुविधा उनके द्वारा दिये जाने वाले ऋणों के साधनो मे वृद्धि करने के लिये देता है। पुन साख मिलने की आवश्यक शर्तें इस प्रकार हैं —प्रमण्डल व्यापारिक बैंको द्वारा दिये जाने वाले केवल उन्ही ऋणों को पुन. भुनाने (पुनवित्त प्राप्त करने) की सुविधा प्रदान करता है जो (अ) ऋण मध्यम आकार के हैं अर्थात् कोई एक ऋण ५० लाख रु० से अधिक का नही है, (आ) जो ऋण मध्यम अवधि

* Report on Currency and Finance, 1960-61, Page 64

(३ वर्ष से ५ वर्ष तक की अवधि) के हैं तथा (इ) जो मध्यम आकार की ऐसी औद्योगिक इकाइयो को दिये गये हैं जिनकी कुल परिदत्त हिस्सा-पूजी (Paid up Share Capital) व रक्षित कोष (Reserve Fund) की मात्रा ५ लाख रुपये से २ ५ करोड रु० के बीच मे है। प्रमण्डल द्वारा केवल उन्ही ऋणो को पुन भुनाया जाता है, जो व्यापारिक बैंको द्वारा केवल ऐसी औद्योगिक इकाइयो को दिये गये हैं जिन्हे आर्थिक नियोजन के कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

पूंजी—इस निगम की अधिकृत पूजी (Authorised Capital) २५ करोड रु० है। इस अधिकृत पूजी को १-१ लाख वाले २ ५०० हिस्सो मे विभाजित किया गया है। प्रारम्भ मे इस निगम द्वारा केवल १२ ५ करोड रु० के हिस्से निर्गमित किये गये थे और इनमे से ५ करोड रु० के हिस्से रिजर्व बैंक द्वारा, २ ५ करोड रु० के हिस्से जीवन बीमा निगम (*Life Insurance Corporation*) द्वारा, २ ५ करोड रु० के हिस्से स्टेट बैंक द्वारा तथा शेष २ ५ करोड रु० के हिस्से १४ बडे अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) द्वारा खरीदे गये थे। इस समय निगम की कुल परिदत्त पूजी (Paid-up Capital) २ ५ करोड रु० रक्खी गई है। २१ जून सन् १६५८ को भारत सरकार ने पुनर्वित्त निगम को पी० एल० ४८० कोष मे से २६ करोड रु० का ऋण स्वीकृत किया था जिसमे से मार्च सन् १६५६ तक निगम ने ५ करोड रु० के ऋण ले लिये थे। इस प्रकार निगम की प्रारम्भिक कार्यवाहक पूंजी ३८ ५ करोड रु० है।

प्रबन्ध—पुनर्वित्त प्रमण्डल का प्रबन्ध ७ सदस्यो के एक सचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा किया जाता है। रिजर्व बैंक का गवर्नर इस सचालक बोर्ड का अध्यक्ष तथा रिजर्व बैंक का उप गवर्नर, स्टेट बैंक का अध्यक्ष, जीवन बीमा निगम का अध्यक्ष तथा अनुसूचित बैंको के प्रतिनिधि इसके अन्य सचालक होते है।

प्रगति—जून सन् १६५८ से मार्च सन् १६६१ के अन्त तक पुनर्वित्त निगम ने ५४ आवेदन पत्रो पर ७ ६५ करोड रु० की राशि स्वीकृत की जिसम से ३ २२ करोड रु० के ऋण वितरित किये गये। पुनर्वित्त निगम औद्योगिक साख एव विनियोग निगम से घनिष्ट सम्पर्क रखता है। इस प्रकार इन दोनो निगमो के सम्मिलित साधनो का देश की अर्थ-व्यवस्था के हित मे सप्रभाविक प्रयोग सम्भव होता है। यह प्रमण्डल सदस्य बैंको से ५% ब्याज लेता है और अन्य बैंको से ६½ प्रतिशत ब्याज लेता है। पुनर्वित्त निगम ने अपनी कार्य पद्धति का अधिक उदार बनाने के उद्देश्य से अपनी नीति म सन् १६६०–६१ मे कुछ परिवर्तन इस प्रकार किये है—(i) पहले निगम द्वारा केवल १५ बैंको को पुनर्वित्त की सुविधा दी जाती थी, परन्तु अब यह सुविधा ४० और बैंको, १५ राज्य वित्त निगमो तथा ३ सहकारी बैंको को भी प्रदान की जाने लगी है। (ii) वित्तीय सुविधा के लिये उद्योगो की सूची म वृद्धि कर दी गई है। (iii) अब यह भी व्यवस्था की गई है कि विशेष परिस्थितियो मे उन उद्योगो के

प्रार्थना-पत्र भी स्वीकार किये जायेंगे जिनकी परिदत्त पूंजी व रक्षित-कोष २॥ करोड़ रु० से अधिक है। ऋण की अवधि विशेष परिस्थितियों में १० वर्ष तक की जा सकती है। (iv) यदि भारत सरकार द्वारा नियुक्त गारन्टी संगठन ऋणों को गारन्टी दे दे, तब विभिन्न वित्तीय संस्थाओं द्वारा लघु-स्तर के उद्योगों को दिये गये ऋणों पर भी पुनर्वित्त की सुविधा दी जा सकती है।

[ऊ] अन्तर्राष्ट्रीय वित्त प्रमण्डल
(The International Finance Corporation)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक (International Bank of Reconstruction and Development) से ही सम्बद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग संस्था है। इस निगम की स्थापना जुलाई सन् १९५६ में हुई थी। इस प्रमण्डल की अधिकृत पूंजी ६,००,६६,००० अमरिकन डालर है। इसमें ५७ देशों का हिस्सा है। भारत सरकार ने निगम के हिस्सों में ४४.३ लाख डालर का अभिदान (Contribation) किया है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय वित्त प्रमण्डल की वैधानिक सत्ता और कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से पूर्णतया पृथक् है, परन्तु इसका विश्व बैंक से इसलिए घनिष्ट सम्बन्ध है कि विश्व बैंक के सदस्य राष्ट्र ही इस प्रमण्डल के सदस्य हो सकते हैं। इस निगम का मुख्य ध्येय सदस्य देशों में सामान्यतया तथा अविकसित देशों में विशेषतया, उत्पादक निजी उद्यम को प्रोत्साहित करके आर्थिक विकास की गति को आगे बढ़ाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रमण्डल के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—(i) जिन सदस्य राष्ट्रों में निजी उद्यमों को उचित शर्तों पर पर्याप्त मात्रा में पूंजी उपलब्ध नहीं है वहां निगम निजी विनियोजकों (Private Investors) के साथ मिलकर, सरकार की गारन्टी के बिना ही, उत्पादक निजी उद्यमों को उचित शर्तों पर पर्याप्त मात्रा में पूंजी प्रदान करेगा। (ii) वित्त प्रमण्डल विनियोग अवसर (Investment Opportunities), व्यक्तिगत पूंजी और अनुभवी प्रबन्ध इन तीनों को एक साथ लाने के लिये निकासी-गृह (Clearing House) के रूप में कार्य करेगा तथा (iii) निगम सदस्य देशों में ऐसे पर्यावरण (Environment) को जन्म देने में सहायक होगा कि उसमें देशी और विदेशी व्यक्तिगत पूंजी को उत्पादक विनियोगों (Productive Investments) में लगाने की प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी।

[ए] राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम
(The National Small Industries Corporation)

राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम की स्थापना, भारत सरकार द्वारा फरवरी सन् १९५५ में की गई। इस निगम का प्रमुख उद्देश्य लघुस्तरीय एवं कुटीर उद्योगों को संरक्षण प्रोत्साहन एवं वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इस निगम की अधिकृत पूंजी १० लाख रु० है जिसे १००-१०० रु० के हिस्सों में विभाजित किया गया है। इस निगम के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—(i) निगम सरकारी आदेशों की पूर्ति तथा

उत्पादन की व्यवस्था करने के उद्देश्य से विभिन्न लघु उद्योगों की वित्तीय सहायता करता है। (ii) निगम लघु उद्योगों द्वारा माल सप्लाई करने के लिये सरकारी आदेश (Government Orders) प्राप्त करता है। (iii) लघु एव विशालस्तरीय उद्योगों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के निवारणार्थ प्रमण्डल इनके बीच समन्वय (Co ordination) स्थापित करता है। (iv) प्रमण्डल लघुस्तरीय उद्योगों को किराया क्रय रीति (Hire-purchase System) के आधार पर मशीनों को सप्लाई करने की व्यवस्था करता है। (v) प्रमण्डल लघुस्तरीय उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विपणन की व्यवस्था करता है। यह निगम केवल उन्हीं लघुस्तरीय उद्योगों की वित्तीय एव अन्य प्रकार की सहायता कर सकता है जिनकी अधिकृत पूंजी ५ लाख रु० से अधिक नहीं होती है तथा जिनमें अधिक से अधिक श्रमिकों की सख्या ५० हो और शक्ति (Power) का प्रयोग होता हो अथवा जिन उद्योगों में श्रमिकों की अधिकतम सख्या १०० हो और शक्ति का प्रयोग नहीं होता हो। सन् १९५६ (द्वितीय योजना का प्रारम्भ) से सितम्बर १९६० के अन्त तक, इस निगम ने १३ ४ करोड रु० की मशीनें किश्तों पर प्रदान करने के प्रार्थना-पत्र स्वीकार किए, परन्तु इनमें से वास्तविक रूप मे केवल ३ ६ करोड के मूल्य की मशीनें दी गई।

औद्योगिक वित्त के अभाव के कारण (Causes for the Deficiency of Industrial Finance) — देश की औद्योगिक वित्त-व्यवस्था मे कुछ मुख्य अभाव इस प्रकार हैं —(i) **औद्योगिक बैंकों का अभाव** —भारत में औद्योगिक बैंक्स का पूर्ण अभाव है। यद्यपि देश में समय-समय पर उद्योगों के लिए आवश्यक वित्तीय व्यवस्था करने के उद्देश्य से विभिन्न स्थानों पर औद्योगिक बैंकों की स्थापना की गई, परन्तु प्रबन्धकर्ताओं की स्वार्थपरता और अकुशलता के फलस्वरूप लगभग सभी बैंक्स फेल हो गये। इस समय भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Indian Industrial Finance Corporation) एक प्रकार का औद्योगिक बैंक ही है। परन्तु देश में औद्योगिक वित्त की विस्तृत आवश्यकता को देखते हुए, इस अकेली सस्था का होना पर्याप्त नहीं है। (ii) **विनियोग ट्रस्टों का अभाव** – हमारे देश में औद्योगिक वित्त-व्यवस्था सम्बन्धी विनियोग ट्रस्टों का भी अभाव है। विनियोग ट्रस्ट वे सस्थाएं होती हैं जो अपने हिस्से (Shares) तथा ऋण-पत्रों (Debentures) को बेचकर पूंजी एकत्रित करती हैं तथा इसका विनियोग (Investment) औद्योगिक कम्पनियों में करती हैं। चूंकि इन सस्थाओं से देश में पूंजी की बचत को प्रोत्साहन मिलता है तथा उद्योगों की वित्तीय सहायता होती है, इसलिये देश मे इनकी स्थापना की बहुत आवश्यकता है। हमारे देश की जनता की आय बहुत कम है अथवा बचत करने की शक्ति बहुत कम है, इसलिये देश मे विनियोग ट्रस्टों की स्थापना व इनके विकास में बहुत कठिनाई अनुभव होती है। परन्तु भविष्य में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति औसत आय में वृद्धि हो जाने पर इन विनियोग ट्रस्टों की स्थापना एव इनका विकास सुगम हो जाएगा तथा उद्यमों को भी उनसे समुचित मात्रा मे पूंजी मिल सकेगी। (iii) **अभिगोपन गृहों का अभाव**—

भारत मे कम्पनियो के हिस्सो व ऋण-पत्रो के अभिगोपन (*Underwriting*) की समुचित व्यवस्था करने के लिए अभिगोपन-गृहो (Underwriting Houses) का नितान्त अभाव है। फलत देश मे नई औद्योगिक इकाइयो को पू जी प्राप्त करने मे बहुत कठिनाई होती है। यही कारण है कि हमारे देश मे नवीन उद्योगो की आशातीत प्रगति नहीं हो सकी है। (iv) **व्यापारिक बैंकों द्वारा उद्योगों को बहुत कम वित्तीय सहायता करना**— हमारे देश म व्यापारिक बैंको ने अभी तक औद्योगिक संस्थाओ की केवल अल्पकालीन साख आवश्यकताओ की ही पूर्ति की है। यद्यपि पुनर्वित्त निगम की स्थापना के पश्चात् व्यापारिक बैंक्स ने उद्योगो को मध्यमकालीन ऋण देना प्रारम्भ कर दिया है परन्तु अभी तक इन्होने इस सुविधा से अधिक लाभ नही उठाया है। (v) **देश मे कुशल उद्यमियों व प्रबन्धकों का अभाव**—देश का औद्योगिक विकास अकेले वित्तीय साधनो की उपलब्धता से ही सम्भव नही होता। इसके लिये देश मे वित्त-पूर्ति के अतिरिक्त कुशल उद्यमकर्ताओ तथा प्रबन्धको की भी आवश्यकता होती है। देश म ऐसे *सुयोग्य एव प्रशिक्षित प्रबन्धकर्त्ता भी होने चाहियें कि वे वित्तीय* साधनों का सदुपयोग कर सकें। दुर्भाग्यवश हमारे देश मे ऐसे कुशल प्रबन्धको का सर्वथा अभाव है। इसलिये हमारे देश म अधिकाश कम्पनियाँ ऐसी हैं कि उनकी योजनाए अस्पष्ट, अधूरी एव असन्तोषप्रद हैं जिससे इन कम्पनियो को ऋण देना सम्भव नहीं होता।

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था मे सुधार के सुझाव (*Suggestions for the* Improvement of the Organisation of Industrial Finance)—सन् १६५३ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने श्री ए० डी० श्रॉफ (A D Shroff) की अध्यक्षता मे एक समिति का आयोजन किया। इस समिति ने भारत मे औद्योगिक वित्त के साधनो की वृद्धि के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये हैं— (i) देश मे निजी क्षेत्र के उद्यमकर्त्ताओ को इस बात का पूर्ण आश्वासन देना चाहिये कि उनकी औद्योगिक सस्थाओ का राष्ट्रीयकरण (Nationalization) नही किया जायेगा। इस आश्वासन के फलस्वरूप उद्योगपति बिना किसी हिचकिचाहट के अपनी पू जी नये उद्योगो मे विनियोग कर सकेंगे। (ii) व्यापारिक बैंकों द्वारा औद्योगिक इकाइयो को अधिकाधिक वित्त प्रदान करने की व्यवस्था करने के लिये, रिजर्व बैंक को इन बैंको को सस्ती स्थानान्तरण की सुविधायें (Cheap Remittance Facilities) प्रदान करनी चाहिये। (iii) व्यापारिक बैंको को अपना सघ बनाकर जर्मन पद्धति के अनुसार काम करना चाहिए तथा इन बैंकों द्वारा औद्योगिक कम्पनियो के हिस्से व ऋण-पत्र अधिकाधिक सख्या मे खरीदे जाने चाहियें। (iv) व्यापारिक बैंको को अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध हो सकनें के लिये, रिजर्व बैंक को अपेक्षाकृत अधिक उदार बिल बाजार योजना बनानी चाहिए। (v) *नागरिकों की बचत (Savings)* को एकत्रित करने के लिये, देश मे बैंकों की शाखायें तथा चलते फिरते बैंक (Mobile Banks) खोले जाने चाहियें। (vi) देश मे जमाकर्त्ताओ के हितो की रक्षा के उद्देश्य से जमा बीमा प्रमण्डल

(Deposit Insurance Corporation) की स्थापना करनी चाहिये। (vii) रिजर्व बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों के माध्यम से, सर्राफो के बिलो व हुण्डियो की पुन कटौती की सुविधा बढाई जानी चाहिये। (viii) देश म विनियोग ट्रस्टो (Investment Trusts) की स्थापना होनी चाहिये। (ix) राष्ट्रीय विकास निगम (National Development Corporation) तथा औद्योगिक साख व विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) की स्थापना करनी चाहिय। (x) लघु स्तरीय उद्योगो की वित्तीय सहायता के लिये एक पृथक् से विशेष विकास निगम (Special Development Corporation) की स्थापना करनी चाहिय तथा लघु स्तरीय उद्योगों को सहकारी आधार पर सगठित करना चाहिय।

श्रौफ कमेटी (Shroff Committee) के अनेक सुझावो को कार्यान्वित किया जा चुका है आशा है। कि कमेटी के अन्य सुझावो को भी शीघ्रातिशीघ्र व्यावहारिक रूप दिया जावेगा और इस तरह देश की औद्योगिक अर्थ व्यवस्था का अधिकाधिक लोचपूर्ण, सुनियोजित एव सुसगठित बनाया जा सकेगा।

भारत मे विदेशी पूंजी
(Foreign Capital in India)

प्राक्कथन —आजकल अविकसित (Undeveloped) एव अर्ध-विकसित (Under developed) देशो के आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूंजी का विशेष महत्व है। इन देशो मे आर्थिक प्रगति के लिए जितनी मात्रा म पू जी की आवश्यकता होती है, उतनी पू जी वहा के आन्तरिक साधनों (Internal Resources) से उपलब्ध नहीं हो पाती। अत ऐसे देशो को अपनी आर्थिक प्रगति के लिए विदेशी पू जी का सहारा लेना पडता है। विश्व का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि रूस, सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन और जापान आदि देश, जो कि विश्व म अग्रगण्य है, केवल विदेशी पू जी के सहारे ही आज की स्थिति को पहुँच सके हैं। अत. हमारे देश के आर्थिक एव औद्योगिक विकास के लिए, विदेशी पूंजी का सहारा लेना नितान्त आवश्यक है।

विदेशी पूंजी के गुण (Merits of Foreign Capital) —हमारे देश मे विदेशी पूंजी का विशेष महत्व इस प्रकार है – (i) प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग :—भारत मे प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता है। देश की वर्तमान अविकसित अवस्था का मूल कारण यह रहा है कि अभी तक इन प्राकृतिक साधनो का पूर्ण उपयोग नहीं हो सका है। अत प्राकृतिक साधनो के विदोहन के लिए विदेशी पू जी की नितान्त आवश्यकता है। (ii) तकनीकी ज्ञान :—आर्थिक विकास के लिए पू जी की पर्याप्तता के साथ ही साथ प्राविधिक ज्ञान (Technical Know How) का भी विशेष महत्व है। अत विदेशी पू जी के साथ ही साथ हम विदेशी तकनीकी ज्ञान एव प्रबन्ध-कौशल का भी आयात कर सकते हैं और इस तरह देश के औद्योगिक विकास को सम्भव और सरल बना सकते हैं। (iii) विदेशों से पूंजीगत वस्तुओं की आयात —

औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक दशाओं मे प्रत्येक देश को विदेशों से अनेक प्रकार की मशीनरें, उपकरण, पूंजी, कच्चे व अर्ध-निर्मित माल की अनिवार्य रूप से आयात करनी पड़ती है। चूंकि इन देशो के पास विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) प्राप्त करने के लिए अपने निजी साधन अपर्याप्त होते हैं तथा इसके द्वारा बड़ी मात्रा मे आयातो का अपने निजी साधनो से भुगतान नही किया जा सकता, इसलिए इस स्थिति म अविकसित देशों म विदेशी विनिमय की आवश्यकता, विदेशी पूंजी की आवश्यकता को और भी अधिक महत्वपूर्ण बना देती है। (iv) व्यवसायिक जोखिम—औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे व्यवसायिक जोखिम की सम्भावना अत्यधिक होती है तथा व्यवसायों की स्थापना मे प्रारम्भिक व्यय (Capital Expenditure) भी बहुत बड़ी मात्रा मे होता है। अत अविकसित देशो के उद्यमकर्त्ता नए व्यवसायो म अपनी पूंजी लगाने से हिचकिचाते हैं। इस स्थिति मे विदेशी पूंजी के विनियोग से ही यह सम्भव है कि व्यवसायो की प्रारम्भिक जोखिम विदेशियों द्वारा उठाई जाए और व्यवसायों की स्थापना व विकास के पश्चात् इन्हे देशवासियो द्वारा प्राप्त कर लिया जाए। (v) आर्थिक नियोजन —वस्तुत देश के आर्थिक नियोजन (Economic Planning) को सफल बनाने के लिए, विदेशी पूंजी नितान्त वांछनीय है। इस समय देश मे पूंजी का निर्माण, भरसक प्रयत्न करने पर भी, आवश्यकगति से नही हो रहा है। फलत योजनाओं के अन्तर्गत निर्धारित उत्पादन के लक्ष्यो को पूरा करने के लिए आन्तरिक एव वाह्य दोनो साधनो से पूंजी प्राप्त करना परमावश्यक है। अत देश मे उपलब्ध साधनो के अधिकतम उपयोग के लिए तथा राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाने के लिए, विदेशी पूंजी के आयात को अधिकाधिक प्रोत्साहन देना चाहिए। (vi) विदेशियों से प्रतियोगिता :—विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता करने के लिए स्वदेशीय उत्पादन मे उत्पादन की नई-नई विधियो को अपनाने की आवश्यकता होती है। अत औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत देशो की उत्पादन विधियो को अपना कर, अर्ध-विकसित राष्ट्र तीव्र गति से औद्योगीकरण कर सकते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी विदेशी पूंजी की आवश्यकता हुआ करती है। (vii) सम्पत्ति का सृजन:—विदेशी पूंजी के उपयोग से देश मे सम्पत्ति का सृजन किया जा सकता है। विदेशी पूंजी का उपयोग प्रायः ऐसी सम्पत्ति के सृजन मे किया जा सकता है कि भुगतान व ब्याज देने के बाद भी देश मे अनवरत लाभ प्राप्त होता रहे जैसे—रेलें, नहरें, नदी घाटी, विद्युत केन्द्र आदि।

विदेशी पूंजी के दोष (Demerits of Foreign Capital) —विदेशी पूंजी के मुख्य दोष इस प्रकार हैं :—(i) देश की आर्थिक नीति पर प्रभाव—भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री जे० जे० अन्जारिया का कहना है कि विदेशी पूंजी के रूप मे सहायता, अप्रत्यक्ष रूप से हमारी आर्थिक नीति को प्रभावित करती है। यद्यपि भारतीय सरकार ने अपनी आर्थिक नीति (Economic Policy) मे देश मे समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करने का लक्ष्य

निर्धारित किया है, परन्तु अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस आदि पूँजीवादी देशो से निरन्तर आर्थिक सहायता लेते रहने से, समाजवादी नीति पर दृढ रहने की कल्पना थोथी-सी प्रतीत होती है। पूँजीवादी देशो से आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए, भारत सरकार को अपनी कर नीति, औद्योगिक नीति, औद्योगिक क्षेत्र मे निजी उद्यम का स्थान, विदेशी नीति और विदेशी व्यापार नीति उन्ही देशो के साँचे मे ढालनी पडती है। अत भारत म समाजवादी नमूने के समाज की स्थापना मे विदेशी पूँजी एक भयकर गत्यावरोध है। (ii) **आर्थिक शोषण**—विदेशी पूँजी के उपयोग से देश पर ब्याज का बोझा निरन्तर बढता जाता है तथा समय पर मूलधन व ब्याज की अदायगी न होने से, राष्ट्रीय सम्मान को ठेस पहुँचती है। ब्रिटिश शासन काल म देश मे विदेशी पूँजी का विनियोग प्रतिरूप (Investment Pattern) उपनिवेशी (Colonial) प्रवृत्ति का रहा। उस समय हमारे देश का कच्चे माल के स्रोत तथा विदेशी वस्तुओं के बिक्री-केन्द्र के रूप मे शोषण किया गया। वस्तुत उस समय विदेशी पूँजी के विनियोग का उद्देश्य, देश का सतुलित आर्थिक विकास करना नही था वरन् इसका अधिकतम शोषण करना ही था। यही कारण है कि विदेशी शासनकाल मे भारत का जो थोडा-बहुत आर्थिक विकास हुआ भी, वह अत्यधिक असतुलित था और इसने हमारे देश की विदेशो पर निर्भरता को और भी अधिक बढा दिया। (iii) **विदेशी निर्भरता मे वृद्धि**—अत्यधिक मात्रा मे विदेशी मशीने, यत्र, औजार एव अन्य पूँजीगत सामान (Capital Goods) के उपयोग से विदेशी निर्भरता म वृद्धि होती है। चूँकि विदेशी वस्तुए उसी देश की औद्योगिक अवस्था के अनुसार निर्मित होती है, इसलिए अविकसित देशों के लिये इनकी उपयोगिता अपेक्षाकृत कम होती है। तथा इन्हे उनकी पूर्ति के लिये सदा विदशो पर ही निर्भर रहना पडता है। यही नहीं, विदेशी निभरता म वृद्धि के फलस्वरूप स्वदेशी आत्मनिर्भरता की प्रेरणा को भी तीव्र ठेस पहुँचती है। (iv) **औद्योगिक शक्ति का केन्द्रीयकरण**—हमारे दश मे कुछ बडे-बडे उद्यमो का स्वामित्व कुछ गिने-चुने व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित हो गया है। हमारे देश मे उद्योगो मे पाई जाने वाली प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति (Managing Agency System) विदेशी पूँजी की ही देन है। यह पद्धति औद्योगिक शक्ति के कुछ गिने-चुने हाथो मे केन्द्रीयकरण के दोषो को पूर्णतया परिलक्षित कर देती है। (v) **राजनैतिक स्वतन्त्रता को जोखिम**—विदेशी पूँजी का उपयोग अशक्त एव अविकसित राष्ट्रो की राजनैतिक स्वतन्त्रता के मार्ग मे जोखिम का कार्य करता है। विदेशी पूँजी से देश मे शक्तिशाली सम्पृक्त स्वार्थ (Vested Interest) जन्म लेते हैं, जो राजनैतिक क्षेत्र म अनेक प्रकार से दवाव डालते है। विदेशी ऋण के अदा न कर सकने की स्थिति मे राजनैतिक प्रभुत्व के हस्तगत होने की अधिक सम्भावना रहती है। इसीलिए आलोचकों ने कहा है कि विदेशी पूँजी का प्रमुख राजनैतिक दोष यह है कि इसमें "झण्डा व्यापार के पीछे पीछे चलता है।" (vi) **पूँजी निर्माण मे कठिनाई**—हमारे देश म विदेशी पूँजी की आयात बनी रहने से, देश म पूँजी का निर्माण

पर्याप्त गति से नही हो सका है। इससे देश के आर्थिक विकास को पर्याप्त क्षति पहुँची है। (vii) **व्यवसायों पर विदेशी नियन्त्रण**—जब किसी व्यवसाय में विदेशी पूंजी लगी होती है, तब प्राय. इस व्यवसाय पर विदेशियों का ही नियन्त्रण होता है। सुरक्षा (Defence) की दृष्टि से यह स्थिति देश को कभी भी सकट में डाल सकती है। (viii) **भारतीयों का व्यवसायिक शिक्षण**—विदेशी पूंजीपतियो ने अपनी भारतीय मिलो मे भारतीय श्रमिको के साथ बहुत ही भेद-भाव-पूर्ण व्यवहार किया है। इन्होने उच्च पदो पर विदेशियो तथा निम्न पदो पर भारतीयो को नौकर रक्खा है जिससे भारतवासी शिक्षण व अनुभव प्राप्त करने के लाभ से वचित रहे हैं। केन्द्रीय सरकार के द्वारा सन् १९५२ मे कराई गई एक जाँच से पता चला था कि उस समय देश मे १,२५७ विदेशी फर्में थी जिनम १ हजार रु० अथवा इससे अधिक वेतन पाने वाले भारतीयो की सख्या २२५८ थी, जबकि इसी श्रेणी के विदेशी कर्मचारियो की सख्या ६,९६४ थी। अत स्पष्ट है कि विदेशी पूंजी के भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर भयकर व घातक प्रभाव पड़े हैं।

निष्कर्ष—वस्तुत. विदेशी पूंजी के अधिकाश दोष पूंजी से सम्बन्धित न होकर विदेशी नियन्त्रण से सम्बन्धित हैं। देश के औद्योगिक विकास की दृष्टि से विदेशी पूंजी का विशेष महत्व है। विदेशी पूंजी के सम्बन्ध मे आवश्यक बात यह है कि इसका उपयोग अधिकतम उत्पादन बढाने मे किया जाना चाहिए, जिससे देश की राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो और साथ ही साथ देश मे मूलधन व ब्याज चुकाने की सामर्थ्य भी उत्पन्न हो सके। यदि विदेशी पूंजी की आयात के साथ विदेशी प्रबन्ध व नियन्त्रण न आए, तब समुचित नियन्त्रण द्वारा विदेशी पूंजी के उपयोग से पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है तथा देश के आर्थिक विकास मे इससे पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। अतः अविकसित व अर्ध-विकसित देशों मे विदेशी ऋण-पूंजी की आयात को प्रोत्साहित करना चाहिए।

भारत सरकार की विदेशी पूंजी सम्बन्धी वर्तमान नीतिः—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने अपनी सन् १९४८ की औद्योगिक नीति मे सर्वप्रथम विदेशी पूंजी के महत्व पर प्रकाश डाला तथा इसके सम्बन्ध में अनेक आश्वासन भी दिए। ६ अप्रैल सन् १९४९ को प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने संसद मे विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में सरकारी नीति की घोषणा की जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) भारत सरकार देशी व विदेशी पूंजी मे कोई भेद-भावपूर्ण व्यावहार नहीं करेगी तथा विदेशी हितो पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नही लगायेगी। (ii) भारत सरकार देश की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक्ता को दृष्टिगत रखते हुए, विदेशी विनियोजकों को अपने लाभो व अपनी पूंजी को वापिस स्वदेश भेजने मे उचित सुविधायें देगी। (iii) यदि भारत सरकार भविष्य मे उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाएगी तब विदेशी विनियोजको को इसके लिए उचित तथा न्यायोचित क्षतिपूर्ति (Compensation) देगी। (iv) विदेशी पूंजी तथा उद्यम का राष्ट्रीय हित मे नियमन किया जाएगा,

ताकि कुछ अपवादों को छोडकर, अन्य सभी दशाओं में स्वामित्व तथा प्रभावपूर्ण नियन्त्रण के प्रधान अधिकार (Majority Interests) सदैव भारतीयों के हाथ में रहे और उपयुक्त भारतीय सेवि वर्ग के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था हो सके। (v) जब तक विदेशी कम्पनियां भारतीय औद्योगिक नीति के अनुकूल रचनात्मक तथा सहयोगी कार्य करती रहेंगी, तब तक भारत सरकार उन्हें किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुंचायेगी।

भारत में विदेशी पूंजी की स्थिति—हमारे देश में पटसन, सूती वस्त्र उद्योग खनिज व्यवसाय, चाय-कहवा और रबर के उद्यान, रेल परिवहन, व्यापार, दियासलाई, साबुन आदि उद्योगों के विकास में विदेशी पूंजी का विशेष महत्व रहा है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) ने देश की विदेशी लेनदारी (Assets) तथा देनदारी (Liabilities) के सम्बन्ध में समय-समय पर सर्वेक्षण किए हैं। रिजर्व बैंक के इस सम्बन्ध में प्रकाशित तृतीय सर्वेक्षण के अनुसार सन् १९५५ के अन्त में भारत की कुल लेनदारी १,२५१ ८ करोड रु० तथा कुल देनदारी ७६६ ३ करोड रु० थी। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यवसाय विनियोगों (Foreign Business Investments) की मात्रा ३१ दिसम्बर सन् १९५५ को लगभग ४८१ करोड रु० थी जो तीन वर्ष पश्चात् ३१ दिसम्बर सन् १९५८ को ५७० ६ करोड रु० हो गई। देश में विदेशी व्यवसाय विनियोगों की मात्रा सरकारी क्षेत्र में सन १९५५ के अन्त में २०१ करोड रु० थी, जो सन् १९५७, १९५८ और १९५९ के अन्त में बढकर क्रमशः ४६३ करोड रु०, ६६८ करोड रु० और ९२५ करोड रु० हो गई थी। विदेशी व्यवसाय विनियोगों के विस्तृत सर्वेक्षण से चार महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते है—(i) विदेशी विनियोग सर्वाधिक निर्माणउद्योगों में हुए है। सन् १९५८ के अन्त में कुल विदेशी विनियोगों का लगभग ७६% भाग निर्माण (Manufactures), पैट्रोलियम उद्योग और उद्यान (Plantation) में लगा हुआ था तथा शेष भाग जनोपयोगी सेवाओं (Public Utilities) परिवहन, व्यापार, वित्तीय कम्पनियों, खानों आदि में लगा हुआ था। (ii) *विदेशी व्यवसाय विनियोगों में सबसे पहला स्थान ग्रेटब्रिटेन का है तथा दूसरा स्थान अमेरिका का है।* सन् १९५८ के अन्त में ५७० ६ करोड रु० के कुल विदेशी विनियोगों में से ३९८ करोड रु० के विनियोग (अर्थात् कुल के लगभग ७०%) ब्रिटेन के और ९० करोड रु० के विनियोग अमेरिका के थे। शेष विनियोग स्विटजरलैंड, पश्चिमी जर्मनी, पाकिस्तान, कनाडा, मलाया, जापान और आस्ट्रेलिया आदि देशों के थे। (iii) विदेशी विनियोगों में प्रत्यक्ष-विनियोग (Direct Investment) की मात्रा पोर्टफोलियो विनियोग (Portfolio Investment) से बहुत अधिक है। प्रत्यक्ष विनियोग का अर्थ यह है कि इसमें विदेशी स्वामित्व (Foreign Ownership) के साथ ही साथ विदेशी नियन्त्रण (Foreign Control) भी होता है। परन्तु पोर्टफोलियो विनियोग में ऐसा नहीं होता वरन् इस प्रकार के विनियोगों में विदेशी ऋणदाता का स्वार्थ केवल अपना मूलधन व ब्याज कमाने तक ही सीमित रहता है।

तुलनात्मक दृष्टि मे प्रत्यक्ष विनियोग मे पोर्टफोलियो विनियोग (ऋण-पू जी) देश के हित म अधिक होता है (iv) सन् १९५३ के अन्त तक लगभग सभी विदेशी विनियोग विदेशी निजी स्रोतों स प्राप्त हुए थे। परन्तु इसके बाद से विदेशी विनियोगो म विदेशी सरकारो द्वारा दी गई पू जी का स्थान बढा है। सन् १९५५ के अन्त म विदेशी सरकारो के विनियोग केवल २ ७ करोड रु० के थे, जो सन् १९५८ के अन्त म बढकर ७२ २ करोड रु० के हो गए। कुछ समय पूर्व तक केवल विश्व बैंक (International Bank for Re onstruction and Development) ही इन विनियोगो का सरकारी (Official) स्रोत था, परन्तु अब यू० एम० निर्यात-आयात बैंक (U S Export Import Bank) तथा अन्तराष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corp ration) आदि स्रोतो से भी विनियोग प्राप्त होने लगे हैं।

भारत की पचवर्षीय योजनाओं मे विदेशी पू जी—योजना आयोग (Planning Commission) ने पचवर्षीय योजनाओ के अन्तगत विदेशी पूजी को विशेष महत्व दिया है। योजना आयोग के शब्दो मे, "भौतिक एवं वित्तीय दोनों रूपों में आर्थिक नियोजन का लक्ष्य अन्तत एक ही है। हमारा लक्ष्य स्वीकृत भौतिक कार्यक्रमों को पूरा करना है और इन पर होने वाले व्यय मे किसी प्रकार की कमी से विकास की गति पर बुरा प्रभाव न पड़े, इसलिये हमें आन्तरिक एवं विदेशी आवश्यक साधन जुटाने के लिये पूर्ण प्रयास करना है।" (i) प्रथम योजना :—प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्त तक ४२० ५ करोड रु० की विदेशी सहायता भारत को स्वीकृत हुई। इसम से २२७ ६ करोड रु० की राशि योजनावधि मे प्रयोग मे लाई गई तथा शेष १९२ ६ करोड रु० की राशि का उपयोग द्वितीय योजनाकाल म हुआ था। (ii) द्वितीय योजना —दूसरी योजना के प्रथम दो वर्षों मे ही विदेशी विनिमय सकट (Foreign Exchange Crisis) उत्पादन हो गया था। योजनाकाल मे स्वेज-दुर्घटना, विदेशों मे वस्तुओ के ऊचे मूल्य स्तर, सुरक्षा के सामान पर अधिक व्यय की आवश्यकता, खाद्यान्न का अप्रत्याशित आयात एव व्यक्तिगत क्षेत्र के अनियन्त्रित आयातो ने देश के सामने विदेशी विनिमय सकट को अत्यधिक भयकर बना दिया। फलत योजनाकाल म २,१०० करोड रु० का प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन रहा। यह राशि प्रारम्भिक अनुमान से लगभग दुगनी थी। इस योजनावधि म पी० एल० ४८० के अन्तर्गत ५३४ करोड रुपए की तथा अन्य स्रोतो से ९२७ करोड रु० की विदेशी सहायता प्राप्त हुई। (iii) तीसरी योजना —तीसरी योजना के प्रारम्भ होते समय तक भारत का विदेशी विनिमय कोष इतना कम रह गया कि उसमे से अधिक राशि नही निकाली जा सकती थी। इसलिए इस योजना म यह नीति रक्खी गई है कि योजनावधि म निर्यात-आय बढाने के हर सम्भव प्रयत्न किये जायेंगे तथा आयातों के लिए विदेशी विनिमय की मात्रा निर्धारित करने की नीति जारी की जाएगी। योजना आयोग ने यह स्वीकार किया है कि 'भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी जिन कठिनाइयों का देश को सामना करना पड रहा है, वे विकास

* Report on Currency and Finance, 1960—61, Statement 90

श्रम का एक अङ्ग हैं और आने वाले कुछ वर्षों तक देश को उनका सामना करना पड़ता रहेगा। इस अवधि के लिये विदेशी सहायता आवश्यक है, परन्तु हमारा लक्ष्य अर्थ-व्यवस्था को अधिक से अधिक स्वावलम्बी बनाना होना चाहिये।" पी० एल० ४८० के अतिरिक्त तीसरी योजना मे कुल विदेशी सहायता लगभग २,६०० करोड रु० आकी गई (प्राप्त होने की आशा है)। पी० एल० ४८० के अन्तर्गत इस योजना-वधि मे ६६० करोड रु० की विदेशी सहायता उपलब्ध होगी। इस तरह तृतीय योजनावधि मे कुल मिलाकर विदेशी सहायता मिलने के अच्छे लक्षण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के तत्वाधान मे मई सन् १९६१ मे मित्र-राष्ट्रो के सघ की जो बैठक हुई थी, उसमे भारत की तात्कालिक भुगतान-सतुलन सम्बन्धी समस्याओ और सन् १९६१–६२ और १९६२–६३ के आयात की आवश्यकताओं के लिये कुल १,०८९ करोड रु० की सहायता देने का आश्वासन दिया गया है। सोवियत रूस ने पहले के २३८ करोड रु० के दो ऋणो को तीसरी योजना की परियोजनाओ के लिए प्रयोग करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। विदेशी सहायता के क्षेत्र म जो हाल मे प्रगति हुई है वह पर्याप्त उत्साहवर्धक है। ससार के अविकसित भागो के विकास के लिए मिलजुलकर सहायता देने की दिशा मे यह एक महत्वपूर्ण कदम है। अत मित्र राष्ट्रो की इस सद्भावनापूर्ण प्रवृत्ति को देखते हुये, भारत को अपने आन्तरिक साधन जुटाने के लिये अत्यधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। साथ ही इस पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि उपलब्ध विदेशी सहायता का भारतीय अर्थ-व्यवस्था के सर्वाधिक हित मे ही उपयोग किया जाए।

२६

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली

(Managing Agency System)

प्राक्कथन – व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक क्षेत्र में औद्योगिक उद्यमों (Industrial Enterprises) के सफल सचालन के लिए, वित्तीय साधनों की पर्याप्तता के साथ ही साथ इनके सुप्रबन्ध की भी नितान्त आवश्यकता होती है। वस्तुतः उद्योग की परियोजना (Project) की रूप-रेखा चाहे कितनी ही अच्छी हो और कारखाना चाहे कितने ही अच्छे ढंग से खड़ा किया जाये, अन्तत इसकी सफलता अथवा असफलता प्रबन्धकों की योग्यता पर निर्भर रहती है। अत औद्योगिक उत्पादन अथवा औद्योगिक विकास की दृष्टि से भूमि, श्रम, पूंजी व साहस (Land, Labour, Capital and Enterprise) के अतिरिक्त "प्रबन्ध" अथवा "संगठन" (Management or organisation) का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है।

औद्योगिक प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली (Managing Agency System)—भारत में निजी क्षेत्र (Private Sector) में औद्योगिक विकास का श्रेय प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को रहा है। वस्तुत यह भारतीय उद्योगों की "धन-व्यवस्था" तथा "प्रबन्ध-व्यवस्था" की एक अद्वितीय पद्धति है, जो अन्यत्र किसी भी देश में नहीं पाई जाती। यह पद्धति पूंजी के सुसगठित बाजार, प्रमाणित कर्त्ताओं (Underwriters) अथवा निकासी-गृहों (Issue Houses) जैसी पूंजी संस्थाओं, औद्योगिक बैंकिंग पद्धति तथा अनुभवी प्रबन्धकीय व साहसी वृद्धि का प्रतिहस्त (Representative) है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता कोई व्यक्ति, साझेदार अथवा निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी (Private Limited Company) हो सकती है, जो अन्य कम्पनियों का प्रबन्ध करती है। डा० पनन्दीकर (Dr. Panandikar) के अनुसार "प्रबन्ध अभिकर्त्ता व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के दल होते हैं जिनके पास प्रचुर वित्तीय साधन होते हैं, जो नई संस्थाओं को प्रारम्भ करने से पूर्व अनुसंधान व प्रयोग का प्रारम्भिक कार्य करते हैं, ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनियों का प्रवर्तन (Promotion) करते हैं, उनको वित्तीय साधन या गारन्टी प्रदान करते हैं और सामान्यतया उनका प्रबन्ध-कार्य करते हैं। वे उनके लिये कच्चा-माल खरीदते हैं और प्रबन्धित संस्थाओं का तैयार माल बेचने और वितरित करने का कार्य भी करते हैं।" हमारे देश के प्रमुख उद्योग, जैसे-लोहा व

इस्पात जूट, चीनी, सूती वस्त्र एव जल-विद्युत उत्पादन आदि की स्थापना व विकास इसी प्रणाली के अन्तर्गत हुआ है। इस प्रकार भारत के औद्योगिक जीवन मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली ने केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का जन्म व विकास (Growth and Development of Managing Agency System):–डा० वीराएन्सटे (Veera Anstey) के मतानुसार इस पद्धति का जन्म सन् १८८३ मे हुआ था। वस्तुत इस पद्धति का जन्म उस समय हुआ जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने व्यापार-कार्य को समाप्त करके, उद्योगों की स्थापना मे रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। आरम्भ मे यह पद्धति ब्रिटिश व्यापारियो ने अपनाई। उन्होंने भारत मे नये उद्योगों की स्थापना प्रारम्भ की, उद्योगों के लिये पूजी जुटाई और उद्योगों के प्रबन्ध का कार्य भार सम्भाला। इस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का क्रमश विकास होता गया और आगे चलकर भारतीय कम्पनियों ने भी इसी पद्धति को क्रियान्वित रक्खा। ३१ मार्च सन् १९५५ को भारत मे लगभग ३,९०० फर्में व कम्पनिया प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की थी, जो लगभग ४,६०० कम्पनियो का प्रबन्ध कार्य करती थी। उस वर्ष अमुक ३,९०० प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनियों मे से लगभग २,५०० प्रबन्ध अभिकर्त्ता स्वत्वाधिकारी (Proprietory) तथा साझेदारी (Partnership) फर्में थी, १,२०० निजी कम्पनिया तथा २०० सार्वजनिक कम्पनिया थी। उस समय पश्चिमी बगाल महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास, उत्तर प्रदेश दिल्ली, मध्य प्रदेश तथा पूर्वी पजाब राज्यो मे समस्त देश की ८०% मैनेजिंग एजेन्सिया कार्य कर रही थी।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के कार्य एव लाभ (Functions and Advantages of the Managing Agency System)—प्रबन्ध अभिकर्त्ता किसी कम्पनी के प्रवर्तन (Promotion), वित्तीय व्यवस्था (Financing) एव प्रबन्ध (Management) तीनो कार्यों से समान रूप से सम्बन्ध रखते हैं। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के प्रमुख कार्य एव लाभ इस प्रकार हैं —(i) प्रवर्तन कार्य—भारत मे १० कम्पनियों मे से ९ कम्पनिया प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा स्थापित की हुई हैं। औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था मे, जबकि देश में पूजी तथा व्यवसायिक साहस (Enterprise) की अपर्याप्तता थी, प्रबन्धक प्रतिनिधियो ने दोनों अभावो की पूर्ति करके उद्योगों की स्थापना की। देश के सूती वस्त्र और पटसन जैसे सुव्यवस्थित उद्योगों की वर्तमान स्थिति का श्रेय सुविख्यात प्रबन्धक प्रतिनिधियो के पथ-प्रदर्शन, उत्साह एव सवर्धनीय देख भाल को ही है। सन् १९४३—४४ से सन् १९५४—५५ की अवधि म प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा स्थापित कम्पनियो की संख्या दुगुनी हो गई। (ii) वित्त-व्यवस्था—हमारे देश मे सगठित पूजी बाजार का सदा से अभाव रहा है। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने जिन तरीकों से औद्योगिक वित्त की व्यवस्था की है वे इस प्रकार हैं —(अ) प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनियों के हिस्से (Shares) तथा ऋण-पत्र (Debentures) खरीदकर, उनकी प्रत्यक्ष रूप से वित्त-सहायता करते हैं। (आ) ये कम्पनियो को

अपनी गारन्टी पर बैंकों से ऋण दिलवाते हैं। (इ) प्रबन्ध अभिकर्त्ता साधारण जनता को कम्पनियो के हिस्से खरीदने के लिये आकर्षित करते हैं तथा उनसे सार्वजनिक जमा (Public Deposits) के रूप में वित्त प्राप्त करते हैं। (ई) ये कम्पनियों के हिस्सों एवं ऋण-पत्रों का अभिगोपन (Underwriting) करते हैं। इस प्रकार देश में अभिगोपन-गृहों के अभाव की पूर्ति प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने ही की है तथा (उ) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपने आधीन पूजी आधिक्य (Surplus Capital) वाली कम्पनी में से पूजी निकाल कर पूजी के अभाव (Deficit Capital) वाली कम्पनी में लगाकर, सतुलन केन्द्र (Balancing Centre) का कार्य भी करते हैं। इस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्त्ता उद्योगों की स्थाई पूजी की व्यवस्था के अतिरिक्त इनकी चल अथवा कार्य-वाहक पूजी (Circulating or Working Capital) की भी व्यवस्था करते हैं। यही नहीं, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने उद्योगों के पुनर्संगठन (Reorganisation), आधुनिकीकरण (Rationalization) तथा विस्तार कार्यों (Extension Works) के लिये भी पूजी की व्यवस्था की है। राष्ट्रीय आयोजन समिति (National Planning Committee) की जाच के अनुसार लगभग २५ प्रतिशत औद्योगिक वित्त की व्यवस्था प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने प्रत्यक्ष रूप से की है तथा अप्रत्यक्ष रूप में अन्य स्रोतों से पूजी की व्यवस्था कराने में भी इनका विशेष हाथ रहा है। (iii) प्रबन्ध—उद्योगों की स्थापना तथा औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने के अतिरिक्त उद्योगों के "प्रबन्ध" की व्यवस्था करना प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का मुख्य कार्य रहा है। सुप्रसिद्ध प्रबन्धक प्रतिनिधि अपनी प्रसिद्धि को सुरक्षित रखने का अधिक ध्यान रखते हैं तथा व्यवसाय का प्रबन्ध योग्यतापूर्वक करते हैं। चूकि इनका सहायक व्यवसायों एव उद्योगों पर अधिकार होता है, इसलिये इन्हें ऊर्ध्व-गुट (Vertical Combination) के लाभ प्राप्त होते हैं।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के दोष (Defects of the Managing Agency System) —इस पद्धति के मुख्य दोष इस प्रकार हैं — (i) उद्योग एव बैंकिंग पद्धति के बीच सम्बन्ध विच्छेद —प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के कारण हमारे देश में उद्योग एव बैंकिंग प्रणाली के मध्य सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। चूकि विनियोजकों (Investors) को औद्योगिक इकाइयों की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता और वे केवल प्रबन्धक प्रतिनिधि की ख्याति के आधार पर ही विनियोग करने के लिये विवश होते है, इसलिये विनियोजकों में बैंकिंग प्रवृति का प्रादुर्भाव नहीं होता। (ii) आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण —इस पद्धति के अन्तर्गत औद्योगिक इकाइया कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित (Centralized) हो जाती हैं। चूकि देश में सुयोग्य प्रबन्धकों के अभाव में कुछ प्रबन्ध अभिकर्त्ता अनेक कम्पनियों पर नियन्त्रण रखते हैं, इसलिये "प्रबन्ध" के नाम पर "आर्थिक कुचालें" ही अधिक चलाई जाती हैं तथा हिस्सेधारकों (Shareholders) के हितों का बलिदान कर दिया जाता है। (iii) वित्तीय दुर्व्यवस्था —इस पद्धति के कारण उद्यमों में अनेक प्रकार से वित्तीय दुर्व्यवस्था (Financial Mismanagement) की स्थिति उत्पन्न हो

जाती है — (अ) प्रबन्धक प्रतिनिधि अपनी इच्छानुसार एक कम्पनी की पूंजी का उपयोग दूसरी कम्पनी मे कर देते हैं। इस प्रकार यदि दूसरी कम्पनी फेल हो जाती है, तब पहली कम्पनी को भी अत्यधिक क्षति पहुचती है। (आ) कभी कभी अभिकर्त्ता स्वय भी कम्पनी से उधार लेकर कम्पनी की वित्तीय-स्थिति को दुर्बल बना देते हैं। (इ) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कभी-कभी कम्पनी की पूंजी का सट्टा-व्यापार मे उपयोग करके उसम वित्तीय-दुर्व्यवस्था उत्पन्न कर देते हैं और (ई) ये कम्पनी की वित्तीय व्यवस्था करने के लिये पर्याप्त कमीशन लेते हैं जिससे कम्पनी मे पूंजी की लागत बढ जाती है। (iv) योग्य निर्देशक परिषद के प्रादुर्भाव मे अवरोधक —चूकि इस पद्धति मे कम्पनी के निर्देशक (Directors) केवल प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के आदेशानुसार ही कार्य कर सकते हैं, उन्हे अपनी स्वतन्त्र योग्यता दिखाने का कोई अधिकार नही होता, इसलिये इस पद्धति मे एक स्वतन्त्र एव योग्य निर्देशक परिषद (Directorate) का प्रादुर्भाव सम्भव नही होता। यही कारण है कि हमारे देश मे कुशल प्रबन्धको और योग्य निर्देशको दोनो का ही अभाव है। (v) **अत्यधिक प्रतिफल, कमीशन, भत्ता आदि** —प्राय प्रबन्ध अभिकर्त्ता व्यवस्था कार्य की अपेक्षा पूंजी जुटाने पर अधिक ध्यान देते हैं जिसके कारण व्यवसाय की उचित व्यवस्था नही हो पाती। ये कम्पनियो के माल के क्रय-विक्रय मे से कमीशन लेते हैं तथा कम्पनी की आर्थिक स्थिति की कुछ भी परवाह न करते हुए ये उसके लाभ (Profit) मे से अपना हिस्सा लेते है। कर जाच आयोग (Taxation Enquiry Commission) के अनुसार सन् १६४६-५१ की अवधि मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ का औसत प्रतिफल कम्पनियो के लाभ का लगभग १४ प्रतिशत भाग था (vi) पद का हस्तान्तरण —इस प्रणाली मे मैनेजिंग एजेन्सी के अधिकार कभी-कभी अयोग्य व्यक्तियो को बेच दिये जाते है जिसके फलस्वरूप उद्योगो के विकास की गति को अत्यधिक ठेस पहुँचती है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली पर नियन्त्रण (Control on the Managing Agency System) —भारत मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के दोषो का दूर करने के लिये सर्वप्रथम सन् १६३६ म कम्पनी अधिनियम (Companies Act) मे एक सशोधन किया गया। इस सशोधन द्वारा प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली पर कुछ प्रतिबन्ध इस प्रकार लगाये गये थे — (अ) कोई अभिकर्त्ता २० वर्ष से अधिक अपने पद पर नही रह सकता, (आ) कम्पनी के निर्देशन बोर्ड (Board of Directors) मे अभिकर्त्ता ३ से अधिक सदस्य नियुक्त नही कर सकता, (इ) अभिकर्त्ता एक कम्पनी के कोष को दूसरी कम्पनी मे विनियोजित नही कर सकता, (ई) वह किसी ऐसे अन्य व्यवसाय के कार्य नही कर सकता जो उनके द्वारा प्रबन्धित व्यवसाय से प्रतियोगिता करता हो तथा (उ) वह अपने द्वारा प्रबन्धित कम्पनी स ऋण नही ले सकता।

व्यवहार मे इन सशोधनो का कोई प्रतिफल नही हुआ क्योकि अधिनियम की ये शर्तें कभी भी लागू नही की गई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने इस पद्धति मे व्यावहारिक परिवर्तन लाने के लिये कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाये। सरकार ने सन् १६५० मे एक कम्पनी कानून समिति (Company Law Commi-

ttee) नियुक्त की। इस समिति की रिपोर्ट सन् १९५२ मे प्रकाशित हुई। इस समिति की सिफारिशों को व्यावहारिक रूप देने के लिये भारत सरकार ने सन् १९५६ मे एक नया कम्पनी अधिनियम (Companies Act) पास किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली पर कई प्रतिबन्ध लगाये गये है। इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं —(अ) कम्पनियों की कुशलता म वृद्धि लाना (आ) कम्पनियों के विनियोजको के अधिकारो को सुरक्षित रखना, (इ) कम्पनी के उत्पादन व विपणन म ऋणदाता तथा अन्य सम्बन्धियों के हितों की रक्षा करना तथा (ई) सामाजिक नीति के उद्देश्य व अन्य श्रम-सम्बन्धी उद्देश्यो की पूर्ति करना आदि।

सन् १९५६ के कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली पर लगाये गये प्रतिबन्धो की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) भारत सरकार किसी भी श्रेणी विशेष के उद्योग अथवा व्यापार की समस्त कम्पनियों म से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त कर सकती है। केन्द्रीय सरकार ने एक कम्पनी-कानून प्रशासन विभाग (Company Law Administration Department) स्थापित किया है जिसका कार्य एक्ट के विभिन्न पहलुओं की देख-भाल करना है। एक सलाहकार आयोग (Advisory Commission) भी नियुक्त किया गया है जो सरकार को प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के विषय मे उचित सलाह देगा। (ii) कम्पनी प्रबन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति सरकार की पूर्व-स्वीकृति पर १५ वर्ष के लिये कर सकेगी तथा उसकी पुनर्नियुक्ति १० वर्ष के लिये कर सकेगी। (iii) एक अभिकर्त्ता एक समय म १० कम्पनियों से अधिक का प्रबन्ध नही कर सकेगा। (iv) प्रबन्धित कम्पनी अभिकर्त्ता की बेईमानी, लापरवाही, विश्वासघात तथा दोषपूर्ण प्रबन्ध की अवस्था मे, एक प्रस्ताव के द्वारा उसे पद से हटा सकेगी। (v) एक प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के वास्तविक लाभ के १०% भाग तक प्रतिफल ले सकेगा, परन्तु कम्पनी के विशेष प्रस्ताव तथा केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से वह अतिरिक्त प्रतिफल भी ले सकेगा। (vi) यदि कम्पनी के सचालक बोर्ड (Board of Directors) की सख्या ५ से अधिक होगी, तब प्रबन्ध अभिकर्त्ता दो सदस्यों की नियुक्ति कर सकेगा तथा सचालक बोर्ड की सख्या ५ से कम होने पर वह केवल १ सदस्य की नियुक्ति ही कर सकेगा। (vii) प्रबन्ध अभिकर्त्ता ऐसा व्यापार नही कर सकेगा जो प्रबन्धित कम्पनी से प्रतिस्पर्धा रखता हो तथा (viii) प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के सचालक-मण्डल के नियन्त्रण, निर्देशन व देख-रेख मे ही कार्य करेगा।

निष्कर्ष—यद्यपि सन् १९५६ का कम्पनी अधिनियम पूर्णतया दोषमुक्त नही है, फिर भी यह प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के दोषो को दूर करने मे बहुत कुछ सहायक सिद्ध हुआ है। चू कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति देश के औद्योगिक विकास मे महत्त्वपूर्ण अभिदानकर्त्ता रही है, इसलिये इस पद्धति को पूर्णत समाप्त नही करना चाहिए वरन् इसके दोषो को ही दूर करने के प्रयत्न किये जाने चाहिएँ।

२७

औद्योगिक नीति

(Industrial Policy)

प्राक्कथन—किसी देश के समुचित औद्योगिक विकास के लिये एक सुनिश्चित, सुनियोजित एवं प्रगतिशील औद्योगिक नीति का होना अत्यन्त वाछनीय है। भारत जैसे औद्योगिक दृष्टि से अविकसित देश में, द्रुत औद्योगिक विकास के लिये राज्य का सक्रिय सहयोग अनिवार्य एवं सर्वोपरि है। स्वतन्त्र पूंजीवादी पद्धति में औद्योगिक विकास की गति अपने आप आवश्यक दिशा में नहीं जाती। अत राजकीय हस्तक्षेप एवं राज्य द्वारा सक्रिय भाग लेने पर ही देश में आयोजित ढंग से औद्योगिक विकास सम्भव है। किसी देश में सुनिश्चित औद्योगिक नीति के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं— (i) औद्योगिक नीति के द्वारा देश के समस्त क्षेत्रों में सन्तुलित औद्योगिक विकास सम्भव होता है। (ii) सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र के पृथक्करण से औद्योगिक उत्पादन में तीव्र-गति से वृद्धि होती है तथा औद्योगिक-क्षेत्र में अनिश्चितता समाप्त हो जाती है। (iii) देश में कृषि एवं उद्योग दोनों के सन्तुलित विकास के लिये भी सुनिश्चित औद्योगिक नीति अपेक्षित है। (iv) औद्योगिक नीति के फलस्वरूप देश में औद्योगीकरण की गति तीव्रतर हो जाती है तथा (v) एक सुनिश्चित औद्योगिक नीति को अपनाकर देश में एक ओर, उपभोग्य एवं उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों में सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है और दूसरी ओर विशालस्तरीय, मध्यमस्तरीय एवं लघुस्तरीय व कुटीर उद्योगों में उचित समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति (The Industrial Policy of 1948)—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ब्रिटिश सरकार की औद्योगिक नीति प्रारम्भ में न केवल यथेच्छाकारिता (Laissez Faire) वरन् उदासीनता (Apathy) और उपेक्षा (Indifference) की थी तथा प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से सीमित सहायता (Limited Assistance) की थी। ६ अप्रैल सन् १९४८ को भारत सरकार ने अपनी प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा की। सरकार ने देश में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) को अपनाया और उद्योगों के सुनियोजित विकास का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर ले लिया। औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) तथा व्यक्तिगत क्षेत्र (Private Sector) का क्षेत्र विभाजन किया गया, परन्तु सरकार

को यह अधिकार दिया गया कि वह सार्वजनिक हित की दृष्टि से किसी भी उद्योग का सचालन स्वय कर सकती है। विशालस्तरीय उद्योगों को ४ वर्गों (Classes) में विभाजित किया गया :—(अ) प्रथम वर्ग में अस्त्र-शस्त्र व गोला बारूद का उत्पादन, अणुशक्ति का उत्पादन व नियन्त्रण तथा रेलो का स्वामित्व व प्रबन्ध, ये तीन उद्योग रखे गये। इन उद्योगो के सचालन का एक मात्र अधिकार भारत सरकार को दिया गया। (आ) द्वितीय वर्ग में कोयला, लोहा व इस्पात, जलयान निर्माण व वायुयान निर्माण उद्योग, खनिज तैलतथा लौपान, तार व बेतार के तार सम्बन्धी यन्त्र-निर्माण का उद्योग सम्मिलित किए गए। औद्योगिक नीति म यह उल्लेख किया गया कि भविष्य में इस वर्ग के किसी भी नये उद्योग की स्थापना केवल सरकार द्वारा ही की जाएगी। परन्तु यदि सरकार राष्ट्रीय हित की दृष्टि से वाञ्छनीय समझे तब इनम भी निजी-क्षेत्र म सहयोग ले सकती है। इस वर्ग म आने वाले जो उद्योग निजी क्षेत्र म सचालित किये जा रहे थे, उनके विषय म यह घोषणा की गई कि १० वर्ष तक उनको इसी रूप म चलने दिया जाएगा तथा १० वर्ष पश्चात् सरकार, यदि आवश्यक समझेगी तब, इन उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा। (इ) तृतीय वर्ग में तकनीकी कुशलता एव पूजी के निवेश (Investment) की दृष्टि से विशेष महत्व वाले १८ उद्योग सम्मिलित किए गए, जैसे—नमक, मोटर व ट्रैक्टर यन्त्र व उपकरण, विद्युत् इजीनियरिंग, भारी रसायन तथा खाद, औषधियां, विद्युत् व रसायनिक पदार्थों के उद्योग तथा सूती व ऊनी वस्त्र, सीमेंट व चीनी उद्योग आदि। इस वर्ग के उद्योगो के सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया कि ये निजी क्षेत्र में खोले जायेंगे, लेकिन इन पर भी सरकारी नियन्त्रण रहेगा। (ई) चतुर्थ वर्ग मे शेष सभी उद्योग, जो उपरोक्त तीनों वर्गों म से किसी भी वर्ग में नहीं आते, रक्खे गए। इस वर्ग के उद्योगों को चलाने की निजी उद्यमकर्त्ताओं को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई।

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति से स्पष्ट है कि भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति मे अबन्ध व्यापार (Laissez Faire) अथवा पूर्ण समूहवाद (Collectivism) की दोनों अन्तिम सीमाओ से बचकर 'मध्यमार्ग' अपनाया और इस तरह देश में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) की नींव डाली। सरकार की औद्योगिक नीति की कुछ अन्य विशेषतायें इस प्रकार थीं :—(i) कुटीर व लघु-उद्योग :—औद्योगिक नीति म सरकार ने कुटीर एव लघुस्तरीय उद्योगो के महत्व को स्वीकार किया तथा इन उद्योगो के सहकारिता के आधार पर विकास करने तथा बडे पैमाने के उद्योगो के साथ समन्वयकारी गठबन्धन (Integration) स्थापित करने पर बल डाला। (ii) औद्योगिक सम्बन्ध :—औद्योगिक नीति में श्रम व प्रबन्ध के बीच शातिपूर्ण सम्बन्धो का बनाये रखने तथा इसके लिए उचित मजदूरी विनियोग की गई पूजी पर उचित प्रतिफल तथा श्रमिकों को उत्पादन-वृद्धि के अनुपातानुसार (Sliding Scale) लाभों म भाग मिलने और उन्हे प्रबन्ध मे भाग लेने आदि महत्व-पूर्ण तथ्यों पर बल डाला गया। औद्योगिक श्रमिकों के निवास की समस्या के निवा-

रणार्थ नीति मे आगामी १० वर्षों मे १० लाख मकान बनाने का लक्ष्य रक्खा गया। (iii) **विदेशी पूंजी** —औद्योगिक नीति में यह उल्लेख किया गया कि सरकार देशी व विदेशी पूंजी मे कोई भेद भाव नही करेगी। कुछ अपवादो को छोडकर विदेशी पूंजी पर प्रधान स्वामित्व व नियन्त्रण भारतवासियो के हाथो मे रहेगा। अन्तत विदेशी विशेषज्ञो के स्थान पर स्वदेशी विशेषज्ञो को रखने के लिए, प्रत्येक दशा मे भारतीय कर्मचारियों की उपयुक्त प्रशिक्षा की व्यवस्था की जायेगी। (iv) **कर-प्रणाली** —कर-प्रणाली के सम्बन्ध मे यह उल्लेख किया गया कि सरकार कर-पद्धति का इस ढग से समायोजन करेगी कि देश मे बचत और उत्पादन दोनो को प्रोत्साहन मिले तथा देश की सम्पत्ति का अधिकाधिक न्यायपूर्ण वितरण हो सके तथा (v) **शुल्क दर नीति** . – औद्योगिक नीति म यह आश्वासन दिया गया कि सरकार ऐसी शुल्क दर नीति (Tariff Policy) अपनायेगी कि उसके फलस्वरूप, उपभोक्ताओ पर अनुचित भार डाले बिना ही, देश के साधनो के प्रयोग को प्रोत्साहन मिल सके तथा अनुचित प्रतियागिता का अन्त हो सके।

उद्योग (विकास तथा नियन्त्रण) अधिनियम, १९५१ [Industries (Development and Control) Act, 1951] —भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए सन् १९५१ मे उद्योग (विकास व नियन्त्रण) अधिनियम पास किया। इस अधिनियम के पास करने का भारत सरकार का उद्देश्य निजी क्षेत्र के उद्योगो का उचित दिशा मे विस्तार करना तथा उन पर आवश्यक नियन्त्रण रखना था। प्रारम्भ मे इस अधिनियम को ३७ उद्योगो पर लागू किया गया। सन् १९५३ म इस एक्ट मे सशोधन करके इसे ४५ अन्य उद्योगो पर लागू कर दिया गया। मार्च सन् १९५७ मे इसे ३४ अन्य उद्योगो पर लागू कर दिया गया। इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार हैं – i) इस अधिनियम के क्षेत्र मे आने वाले उद्योगो को सरकार से पजीकरण (Registration) करवाना अनिवाय है। नए उद्यमो को स्थापित करने से पूर्व, इनके लिये सरकारी आज्ञा पत्र (License) लेना आवश्यक है। इन नये उद्यमों को आज्ञा-पत्र देते समय सरकार उनके स्थापन (Location) और उनके निम्नतम आकार सम्बन्धी शर्तें लगा सकती है। (ii) यदि किसी उद्योग का उत्पादन घटता जाता है अथवा उसमे माल घटिया किस्म का बनने लगता है अथवा उद्योग अपनी उत्पादित वस्तुओ का मूल्य बढा दे तब सरकार इस स्थिति मे उस उद्योग की जाच कराके सुधार के लिए आदेश दे सकती है। यदि उद्योग इन सरकारी आदेशो की अवहेलना करता है, तब सरकार उस उद्योग का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले सकती है। सन् १९५३ के सशोधन के अनुसार अब सरकार बिना जाच कराये भी उद्यमो का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले सकती है। (iii) अनुसूचित उद्योगों के विकास तथा नियमन सम्बन्धी विषयो पर केन्द्रीय सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (Central Advisory Council) की नियुक्ति की जाएगी। इस परिषद् के सदस्य मिल-मालिको, श्रमिको, उपभोक्ताओ प्रारम्भिक उत्पादको तथा राज्य के प्रतिनिधि होगे। मई सन् १९५२ म केन्द्रीय

सलाहकार परिषद् की नियुक्ति कर दी गई। (iv) नए उद्यमों को आज्ञा-पत्र (License) देने के लिये, अधिनियम में एक आज्ञा पत्र दाता समिति (Licensing Committee) की नियुक्ति करने का प्रावधान रक्खा गया। फलत देश में एक लाइसेंसिंग-समिति भी नियुक्त की जा चुकी है जो उद्योगों की स्थापना के क्षेत्र का निर्धारण तथा उनके आकार (Size) का प्रभावित करती है। इस समिति के कार्यों की जाँच के लिये केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की एक उप-परिषद् (Sub-council) नियुक्त की गई है। (v) अधिनियम में निजीक्षेत्र के अनुसूचित उद्योगों के लिए पृथक-पृथक से विकास-परिषदों (Development Councils) की स्थापना का भी प्रावधान रक्खा गया है। इन परिषदों में उद्योगपतियों, श्रमिकों, यन्त्र विशेषज्ञों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होंगे। इन परिषदों का कार्य अपने अपने उद्योग को उत्पादन वस्तु के गुण वस्तु के प्रमाणीकरण वस्तु के श्रेणीकरण विपणन, कच्चे माल की प्राप्ति और उद्योग के प्रबन्ध में सलाह देना होगा। हमारे देश के अनेक उद्योगों जैसे — चीनी, ऊनी वस्त्र कृत्रिम रेशमी वस्त्र, विद्युत एवं साइकिल उद्योग, में विकास समितियों की स्थापना कर दी गई है।

आलोचना निजीक्षेत्र के कुछ समर्थकों ने दो आधारों पर इस अधिनियम की आलोचना की है — (अ) अधिनियम में वर्तमान उद्योगों के पंजीकरण कराने की अनिवार्यता तथा नए उद्योगों की स्थापना से पूर्व लाइसेंस लेने की अनिवार्यता, निजी क्षेत्र में सरकार के अनावश्यक हस्तक्षेप को प्रकट करती है। (आ) अधिनियम में उद्योगों की सरकारी जाँच और सरकारी प्रबन्ध में लेने की व्यवस्था, तानाशाही मनोवृत्ति का द्योतक है। इन दोनों आलोचनाओं के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उद्योगों के नियोजित विकास के लिये लाइसेन्स की व्यवस्था अत्यावश्यक है तथा किसी उद्योग के ठीक प्रकार से कार्य न करने पर सरकारी जाँच व सरकारी प्रबन्ध की व्यवस्था नितान्त वाछनीय है। अधिनियम के समर्थकों का मत है। कि सरकार निजी उद्यमों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहती वरन् उनको अपनी आर्थिक एवं सामाजिक नीति के क्षेत्र सूत्र में पिरोना चाहती है। इस अधिनियम का नामकरण 'विकास व नियमन' भी सरकार के इसी उद्देश्य का द्योतक है उसके अनावश्यक हस्तक्षेप अथवा नियन्त्रण का नहीं। अत अधिनियम की आलोचनायें अधिक तर्कसंगत नहीं कही जा सकती हैं।

सन १९५६ की नई औद्योगिक नीति —(The New Industrial Policy of 1956) —प्रथम योजनावधि में प्राप्त अनुभवों के आधार पर तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्रस्तावित विकास कार्यक्रमों को दृष्टिगत रखते हुये यह आवश्यक समझा गया कि औद्योगिक नीति का निर्धारण नए सिरे से किया जाय। वस्तुत सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता ४ कारणों से हुई —(1) भारत सरकार के नवीन संविधान में जो २६ मई सन १९५० को लागू किया गया नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार (Fundamental Rights) प्रदान किये गये तथा संविधान

के नीति-निर्देशक तत्व निर्धारित किये गए। अतः संविधान की इन विशेषताओं के अनुरूप औद्योगिक नीति का निर्धारण आवश्यक हो गया। (ii) प्रथम योजनावधि के प्राप्त अनुभवों के आधार पर, देश में तीव्रगति से औद्योगिक विकास आवश्यक समझा गया। अत. देश के द्रुत गति से औद्योगीकरण के लिये, औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया। (iii) भारत सरकार ने दिसम्बर सन १९५४ में अपनी आर्थिक नीति का उद्देश्य देश में समाजवादी नमूने का समाज (Socialistic Pattern of Society) स्थापित करना निश्चित किया। अतः सरकारी कार्य क्षेत्र को विस्तृत करने के लिये, औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया तथा (iv) द्वितीय योजना के प्रस्तावित कार्यक्रमों को दृष्टिगत रखते हुये भी, औद्योगिक नीति के पुनर्निर्धारण की आवश्यकता हुई।

प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने ३० अप्रैल सन १९५६ को एक नई औद्योगिक नीति लोक सभा के समक्ष प्रस्तुत की। इस नई नीति में सरकार ने अपना उद्देश्य देश में समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करना निश्चित किया है। इस नई औद्योगिक नीति के संकल्प में यह कहा गया है कि, "समाजवादी नमूने के समाज को राष्ट्रीय उद्देश्य के रूप में अपनाना तथा योजनाबद्ध एवं द्रुत विकास की आवश्यकता इस तथ्य की माँग करते हैं कि आधारभूत (Basic) एवं सामरिक (Strategic) महत्व के उद्योगों और जनोपयोगी सेवाओं (Public Utility Services) से सम्बन्धित सभी उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में ही रहने चाहियें। अन्य आवश्यक उद्योग भी जिनमें इतनी बड़ी मात्रा में विनियोग की आवश्यकता है कि जिसे वर्तमान परिस्थितियों में केवल राज्य ही पूरा कर सकता है, सार्वजनिक क्षेत्र में होने आवश्यक हैं। इसलिये राज्य को अधिक विस्तृत क्षेत्र में उद्योगों के भावी विकास का प्रत्यक्ष दायित्व सम्भालना है।" भारत सरकार ने अपनी नई औद्योगिक नीति में विशालस्तरीय उद्योगों को ३ वर्गों में विभाजित किया है। वस्तुतः इस विभाजन का मूलाधार, प्रत्येक वर्ग के उद्योगों के विषय में, सरकारी दायित्व का क्षेत्र-निर्धारण करना है। (i) प्रथम वर्ग में वे उद्योग रक्खे गए हैं जिनके भावी विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य पर होगा। (ii) द्वितीय वर्ग में वे उद्योग सम्मिलित किए गए हैं जिन पर धीरे धीरे राज्य का स्वामित्व स्थापित होता जाएगा। (iii) शेष बचे हुये समस्त उद्योग तीसरे वर्ग में रक्खे गये हैं। इस वर्ग के उद्योगों के आरम्भ करने तथा भावी विकास करने का दायित्व साधारणतया निजी-क्षेत्र के उद्यमों पर रहेगा।

प्रथम वर्ग के उद्योगों की तालिका प्रस्ताव की अनुसूचि "अ" में दी गई है। इस वर्ग के जिन उद्योगों की स्थापना की अनुमति निजी उद्यमकर्त्ताओं को पहले से ही मिल चुकी है, उनके अतिरिक्त शेष सभी नई इकाइयों की स्थापना केवल सरकार ही कर सकेगी। इस अनुसूचि के रेल व वायु परिवहन, अस्त्र-शस्त्र व गोला-बारूद तथा अणु-शक्ति का उत्पादन तथा विकास आदि उद्योगों का संचालन केन्द्रीय सरकार द्वारा

एकाधिकारी के रूप में किया जायगा। परन्तु जब कभी सरकार निजी उद्यमों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक समझेगी, वह प्राप्त कर सकेगी। द्वितीय वर्ग के उद्योगों की तालिका प्रस्ताव की अनुसूचि "ब" में दी गई है। इस वर्ग के उद्योगों के भावी विकास की गति तीव्र करने के विचार से, सरकार इनकी नई इकाइयों की स्थापना शीघ्रातिशीघ्र करेगी। परन्तु साथ ही साथ निजी उद्यमकर्त्ताओं को भी यह अधिकार होगा कि वे इस वर्ग से सम्बन्धित उद्योगों की स्थापना स्वयं अकेले अथवा सरकार की साझेदारी में कर सकें। अनुसूचि "अ" और "ब" से बचे हुये शेष समस्त उद्योग तीसरे वर्ग में रक्खे गए हैं। इस वर्ग के उद्योगों का प्रारम्भ व विकास साधारणतया निजीक्षेत्र में ही किया जाएगा, परन्तु सरकार को भी इस वर्ग के किसी भी उद्योग का संचालन स्वयं कर सकने का अधिकार होगा।

इस नई औद्योगिक नीति में उद्योगों को पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित करते हुये भी, उनको परस्पर सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः सरकार को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई है कि वह राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अथवा अन्य कारणों से, जब भी आवश्यक समझे तभी, ऐसे किसी भी उद्योग का संचालन कर सकती है जो अनुसूचि "अ" और "ब" दोनों में ही सम्मिलित नहीं हैं। यही नहीं सरकार निजीक्षेत्र में उद्यमों को, उपयुक्त विषयों में एक गौण-उत्पादन के रूप में, ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करने की भी आज्ञा दे सकती है जो अनुसूचि "अ" के अन्तर्गत आती हैं। निजी क्षेत्र के उद्योगों द्वारा हल्के प्रकार के जहाजों तथा नावों का निर्माण, स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विद्युत् का उत्पादन तथा छोटे पैमाने पर खानें खोदना आदि कार्यों को करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त सरकारीक्षेत्र के भारी उद्योग अपनी आवश्यकता की हल्की वस्तुयें तथा उपकरण आदि निजीक्षेत्र के उद्योगों से ले सकते हैं तथा निजीक्षेत्र के उद्योग भी, आवश्यकता की अनेक वस्तुओं के लिए, सरकारीक्षेत्र के उद्योगों पर निर्भर रह सकते हैं।

नई औद्योगिक नीति में उद्योगों का वर्गीकरण इस प्रकार है —

(१) अनुसूचि 'अ' (Schedule A)—इस अनुसूचि में जो उद्योग सम्मिलित किये गये हैं वे इस प्रकार हैं—(अ) अस्त्र-शस्त्र व गोला-बारूद तथा प्रतिरक्षा से सम्बन्धित अन्य सामान, (आ) अणु-शक्ति का उत्पादन, (इ) लोहा व इस्पात उद्योग, (ई) लोहे व इस्पात के भारी सामान की ढलाई व गढ़ाई, (उ) भारी मशीनरी व यन्त्र, (ऊ) भारी विद्युत-यन्त्र जिनमें जल-शक्ति और भाप से चलने वाले विशाल टरबाइन इंजिन भी सम्मिलित हैं, (ए) कोयला व लिगनाइट, (ऐ) खनिज तेल, (ओ) खनिज लोहा, खनिज मैंगनीज, क्रोमियम, जिप्सम, गन्धक, हीरा और सोना, (औ) ताँबा, सीसा, जस्ता, टिन, मोलिबडिनम तथा वोलफ्राम, (अं) वे खनिज जो सन् १९५३ के आणविक शक्ति (प्रयोग व उत्पादन पर नियन्त्रण) आदेश की अनुसूचि में दिये गये हैं, (अः) वायुयान निर्माण, (क) वायु परिवहन, (ख) रेल परिवहन, (ग)

जलयान निर्माण, (घ) टेलीफोन, टेलीफोन के तार तथा बेतार के तार सम्बन्धी यन्त्र (रेडियो सेट को छोडकर), (ड) विद्युत का उत्पादन व वितरण।

(२) अनुसूचि 'ब' (Schedule B)— इस अनुसूचि के उद्योग इस प्रकार है—(अ) केवल उन गौण खनिज पदार्थों को छोडकर जिनकी खनिज रियायत नियम, १९४९ (*Minerals Concession Rules, 1949*) की धारा ३ मे परिभाषा की गई है, अन्य समस्त खनिज पदार्थ, (आ) अलम्यूनियम तथा लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुयें जो अनुसूचि 'अ' म सम्मिलित नही की गई हैं, (इ) मशीनो के उपकरण, (ई) लौह मिश्रित धातु तथा उपकरणो के लिये उपयोगी स्पात, (उ) मूल (Basic) तथा ऐसे मध्यवर्ती रासायनिक पदार्थ जिनका रासायनिक उद्योगो मे, जैसे—दवाइयो, रगो और प्लास्टिक के निर्माण मे उपयोग हो सके, (ऊ) जीवाणु निरोधक (Antibiotics) तथा अन्य आवश्यक औषधिया, (ए) रासायनिक खाद, (ऐ) रासायनिक रबर (ओ) कोयले का कोक बनाना, (औ) रासायनिक लुगदी, (अ) सडक परिवहन, (अ) जहाजरानी।

(३) अनुसूचि 'स' (Schedule C)—अनुसूचि 'अ' और 'ब' के अन्तर्गत उल्लिखित उद्योगो को छोडकर शेष सभी उद्योग इस तृतीय अनुसूचि 'स' मे रक्खे गय हैं।

सन १९५६ की नई औद्योगिक नीति की अन्य विशेषतायें इस प्रकार है— (।) **कुटीर एव लघुस्तरीय उद्योग**—इस औद्योगिक नीति मे देश मे रोजगार बढाने, राष्ट्रीय आय का अधिक समान वितरण करने तथा पूजी एव कौशल का अधिक उपयोग करने के साधन के रूप मे कुटीर एव लघुस्तरीय उद्योगो का महत्व स्वीकार किया गया है। यह उल्लेख किया गया है कि सरकार बडे उद्योगो की सहायता करने क साथ ही साथ लघु एव कुटीर उद्योगो की भी सहायता करेगी तथा दोनो स्तर के उद्योगो की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके, उनम समन्वय स्थापित करने के लिए सक्रिय कदम उठायगी। ( ) **सन्तुलित क्षेत्रीय विकास** - नई औद्योगिक नीति मे देश के पिछडे हुये क्षत्रो के औद्योगीकरण पर विशेष महत्व देकर, देश के सतुलित क्षेत्रीय विकास (Balanced Regional Development) पर बल डाला गया है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक नीति म कृषि एव उद्योग के सन्तुलित विकास के महत्व का भी स्वीकार किया गया है। (ııı) **औद्योगिक श्रम**—इस नीति म यह उल्लेख किया गया है कि औद्योगिक श्रमिको को सभी उचित सुविधायें एव प्रोत्साहन मिलने, उनके काम करने की दशाओ मे सुधार करने तथा उनकी कार्यक्षमता म वृद्धि लाने के प्रयत्न किये जाने चाहिये। श्रमिको को प्रबन्ध मे भाग लेने तथा उत्तरोत्तर बढते हुऐ उत्पादन के अनुपात मे उनको लाभ मे से हिस्सा देने की व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार औद्योगिक अशान्ति (*Industrial Disputes*) का निवारण स्वय ही हो सकेगा। (ıv) **कर्मचारियो का प्रशिक्षण**—सन् १९५६ की नई नीति म प्राविधिक एव प्रबन्ध तदथ सवो वग (Technical and Managerial Personnel) बनाने तथा प्रशिक्षित कर्मचारियो की सख्या बढान के लिय, प्रशिक्षण केन्द्रो की

स्थापना करने पर बल डाला गया है। (v) सार्वजनिक उद्यम—सार्वजनिक उद्यमो की सफलता के लिये, उद्यम की निर्धारित नीति म अधिकार के विकेन्द्रीयकरण, इनके कार्यकरण म अधिकतम सम्भव स्वतन्त्रता तथा इनके प्रबन्ध को व्यापारिक आधार पर चलाने का महत्व सुझाया गया है। (vi) विदेशी पूजी—नई औद्योगिक नीति म विदेशी पूजी के सम्बन्ध मे सन् १६४८ की औद्योगिक नीति के सिद्धान्त को ही स्वीकार कर लिया गया है। अत भारत सरकार ने विदेशी पूजी को स्वदेशी पूजी के समान ही मानकर, देश के आर्थिक विकास म भाग लेने का आमन्त्रण दिया है।

सन् १६४८ और १६५६ की औद्योगिक नीतियों की तुलना—सन् १६४८ की औद्योगिक नीति और सन् १६५६ की औद्योगिक नीति मे मुख्य समान तत्व इस प्रकार हैं—(i) दोनो प्रस्तावो का आधार देश म मिश्रित अर्थ व्यवस्था स्थापित करना ही है। परन्तु नई नीति म सरकारी क्षेत्र को अधिक महत्व दिया गया है। (ii) सन् १६४८ के प्रस्ताव के समान ही नय प्रस्ताव म भी उद्योगो को तीन वर्गों मे बाटा गया है। प्रथम वर्ग म जो उद्योग रक्खे गये हैं वे लगभग पूर्णत सार्वजनिक-क्षेत्र के लिये सुरक्षित हैं, दूसरे वर्ग के उद्योग सार्वजनिक एव निजी दोनो क्षेत्रों के लिये खुले हुये हैं, परन्तु ये उद्योग भी शनै शनै सरकारी आधिपत्य म आ जायेंगे। तीसरे वर्ग के उद्योग व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये छोड दिये गये हैं, किन्तु यदि सरकार आवश्यक समझे, तब इनम भी भाग ले सकती है। परन्तु उपयुक्त दोनों नीतियों मे मुख्य अन्तर इस प्रकार है—(i) पहले प्रस्ताव की अपेक्षा नये प्रस्ताव मे सार्वजनिक-क्षेत्र को अधिक विस्तृत बना दिया गया है। (ii) नई नीति मे निजी क्षेत्र के उद्योगों को को कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता दी गई है। यही नही, सरकार इन उद्यमो को वित्तीय सहायता भी प्रदान करेगी तथा उन्हे सहकारी सगठन अपनाने के लिये प्रोत्साहन देगी। अत नई औद्योगिक नीति पुरानी नीति की अपेक्षा अधिक सोचपूर्ण, व्यावहारिक एव रचनात्मक है, जबकि पुरानी नीति नकारात्मक तथा सिद्धान्तवादिता की ओर अधिक झुकी हुई थी। (iii) नई औद्योगिक नीति म निजी एव सार्वजनिक दोनो क्षेत्रो को मिलकर सहयोग से कार्य करने पर अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है। (iv) पुरानी औद्योगिक नीति की अपेक्षा नई औद्योगिक नीति में लघुस्तरीय एव कुटीर उद्योगों के विकास करने, देश के विभिन्न क्षेत्रों मे सन्तुलित औद्योगिक विकास करने तथा प्राविधिक (Technical) प्रशिक्षा की व्यवस्था करने आदि तत्वों पर अधिक बल डाला गया है।

सन् १६५६ की औद्योगिक नीति की समालोचना—नई औद्योगिक नीति की आलोचना स्वतन्त्र उद्यम तथा सार्वजनिक उद्यम दोनो ही के पक्षपातियों ने की है। आलोचना के मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—(i) डा० जान मथाई (Dr John Mathai) का कहना है कि आर्थिक उद्यमो के क्षेत्र मे सरकार को केवल आंशिक रूप से ही भाग लेना चाहिये तथा व्यावहारुप मे सामान्यत स्वतन्त्र उद्यम को ही बढ़ावा देना चाहिये। अत डा० मथाई के अनुसार सन् १६५६ की औद्योगिक नीति

मे सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक विस्तृत करने का अर्थ देश की अर्थ-व्यवस्था के विकास मे एक दायपूर्ण कदम उठाना है। (ii) आलोचको के अनुसार उद्योगो का सरकारी सचालन समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना का कोई लक्षण नही है। वस्तुत समस्त मूलभूत उद्योगो (Basic Industries) तथा सेवाओ पर राज्य का स्वामित्व, आगे चलकर प्रजातन्त्रीय समाजवाद के मार्ग मे तो हानिकारक सिद्ध होगा ही, साथ ही सविधान मे उल्लिखित नीति-निर्देशक तत्वो एव मौलिक अधिकारो के भी विरुद्ध है। (iii) चूंकि नई औद्योगिक नीति मे सरकार ने केवल कुछ उद्योगो को ही अपने लिये सुरक्षित नही किया है वरन् यह उन उद्योगो का भी स्वय सचालन कर सकती है जो कि निजी क्षेत्र के लिये छोड दिये गये हैं, इसलिये इस प्रावधान से व्यवसायियो एव व्यापारियो के मस्तिष्क मे अनिश्चितता उत्पन्न होगी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि निजी उद्यमकर्ता न केवल उन उद्योगो मे ही आगे आने मे हिचकिचायेंगे जिनमे सरकार उनसे सहयोग चाहती है वरन् अन्य उद्योगो को प्रारम्भ करने मे भी वे झिझक अनुभव करेंगे। अत देश के तीव्रगति से औद्योगीकरण के लिये यह नीति अधिक सफल सिद्ध नही होगी। (iv) सार्वजनिक-उद्यम के पक्षपाती इस औद्योगिक नीति की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि यह समाजवादी व्यवस्था के निर्माण का वास्तव मे कोई प्रोत्साहन नही देती क्योकि इसमे निजी क्षेत्र को बहुत अधिक स्वतन्त्रता दी गई है। (v) चूंकि नई औद्योगिक नीति मे निजी क्षेत्र के उद्यमो को सरकारी सहायता एव सरकारी प्रोत्साहन देने का उल्लेख किया गया है, इसीलिये स्वतन्त्र उद्यम के विरोधियो का मत है कि यह नीति समाजवादी व्यवस्था के निर्धारण के लिये अधिक रचनात्मक अथवा व्यावहारिक नही है। इन विचारको के अनुसार ऐसी औद्योगिक नीति का अर्थ तो यह है कि निजी क्षेत्र से बाये हाथ से जो कुछ लिया जाता है, दाये हाथ से सहायता के रूप मे वह सब वापिस कर दिया जाता है। अत नई औद्योगिक नीति एक स्पष्ट नीति की घोषणा की अपेक्षा राजनैतिक प्रचार का नारा ही अधिक है।

नई औद्योगिक नीति की व्यावहारिक सफलता—भारत की नई औद्योगिक नीति की व्यावहारिक सफलतायें इस प्रकार हैं—(i) **सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक विकास की तीव्रगति**—विगत वर्षों मे, देश मे निजी क्षेत्र की तुलना मे, सार्वजनिक क्षेत्र म औद्योगिक विकास तीव्र गति से हुआ है। सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में औद्योगिक कार्यक्रम पर प्रथम और द्वितीय योजनावधि मे क्रमश ६० करोड रु०, ३०० करोड रु० तथा ७७० करोड रु० ८५० करोड रु० व्यय किये गये। तीसरी योजना मे औद्योगिक विकास कार्यक्रम पर सार्वजनिक क्षेत्र मे १,५२० करोड रु० तथा निजी-क्षेत्र म १,२५० करोड रु० विनियोग किये जायेंगे। प्रथम और दूसरी योजनावधियो में सार्वजनिक क्षेत्र मे शक्ति के साधनो के विकास पर क्रमश २६० करोड रु० और ४६० करोड रु० व्यय किये गये। तीसरी योजना म शक्ति के

का जो ढाचा निर्धारित किया गया है, उससे केवल यही आशा नही की जाती कि सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रो का सहअस्तित्व रहेगा वरन् उनसे परस्पर सहयोग से कार्य करने की भी आशा की जाती है। भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति तथा नागरिकों की आवश्यकताओं को देखते हुये यह दृष्टिकोण पूर्णतया व्यावहारिक है तथा यह देश के तीव्रगति से औद्योगिक विकास करने मे अवश्य सफल सिद्ध होगा।

———

२८

श्रमिक संघ आन्दोलन

(Trade Union Movement)

श्रमिक संघ का अर्थ (Meaning of Trade Unions) —सिडनी (Sidney) और बीट्रिस वेब (Beatrice Webb) के अनुसार, "श्रमिक संघ श्रमिकों के ऐसे स्थायी सङ्गठन को कहते हैं जिसका उद्देश्य काम की दशाओं को बनाए रखना और सुधारना होता है *।" श्री वी० वी० गिरि (V V Giri) के शब्दों में, "श्रमिक संघ श्रमिकों द्वारा अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए बनाये गये ऐच्छिक संगठन हैं †।" इस प्रकार श्रमिक संघ श्रमिकों का वह अनवरत संगठन है जिसके द्वारा श्रमिक वर्ग एकता (Unity) एवं सामूहिक सौदा करने की शक्ति (Collective Bargaining Capacity) प्राप्त करके उद्योगपतियों से अपने आर्थिक शोषण (Economic Exploitation) की रक्षा करता है तथा अपने जीवन-स्तर को ऊंचा उठा कर जीवन को अधिक सुखी एवं समृद्धशाली बनाने में सफल होता है। वस्तुतः श्रमिक संघ का अभ्युदय श्रमिकों की समस्याओं से प्रतिक्रियास्वरूप होता है और यह संगठन उतना ही अधिक सुदृढ बनता जाता है जितना कि श्रमिकों की पारस्परिक समस्याएं सामूहिक-समस्याओं का रूप धारण करती जाती हैं।

श्रमिक संघ के कार्य (Functions of Trade Unions).—श्रमिक संघ के कार्यों को तीन वर्गों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है —(i) आन्तरिक अथवा सामरिक कार्य (Intra-mural or Militant Activities) —आन्तरिक कार्यों के अन्तर्गत श्रमिक संघों के उन कार्यों की गणना की जाती है जिन्हें वे श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये कारखाने के अन्दर करते हैं। श्रमिकों को उचित मजदूरी दिलवाने, उनके काम के घण्टे कम करवाने, उनकी काम करने की दशाओं में सुधार करवाने, कारखाने में लाभ (Profit) तथा प्रबन्ध (Management) में श्रमिकों को भाग दिलवाने आदि कार्यों के लिये श्रमिक संघ उद्योगपतियों को विवश तथा बाध्य करते हैं श्रमिक संघ इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये

* A Trade Union is a "Continuous association of wage-earners for the purpose of maintaining or improving the conditions of their working lives."
—Sidney and Beatrice Webb

† "Trade Unions are voluntary form of organisations of workers formed to promote and protect their economic interests by collective action."
—V. V. Giri.

सामूहिक सौदा करने की शक्ति का प्रयोग करते हैं, सरकार से इस सम्बन्ध मे आवश्यक अधिनियम पास कराते हैं तथा आवश्यकता पडने पर हडताल कर देते हैं। (ii) **वाह्य अथवा कल्याणकारी कार्य** (Extra-mural or Beneficient Fraternal Activities)—श्रमिक सघो द्वारा जो कार्य श्रमिको की सुरक्षा और कल्याण की दृष्टि से कारखाने के बाहर किए जाते हैं, उन्हे वाह्य, कल्याणकारी तथा रचनात्मक कार्य कहते हैं। श्रमिक सघ श्रमिको मे एकता अनुशासन, आत्मविश्वास, आत्मसम्मान, ईमानदारी और सुरक्षा की भावना उत्पन्न करते हैं। वस्तुत इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए श्रमिक सघ पारस्परिक बीमा (Mutual Insuran e) का काम करते हैं। श्रमिक सघ अपने सदस्यो से चन्दे (Contribution) के रूप मे धन एकत्रित करके तथा वाह्य सस्थाओ से अनुदान प्राप्त करके, श्रमिको की कार्यक्षमता तथा आर्थिक व सामाजिक दशा को सुधारने के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। श्रमिक सघो द्वारा किए जाने वाले मुख्य रचनात्मक कार्यों मे श्रमिको की दुर्घटना, अस्थाई बेकारी, हडताल व तालाबन्दी के समय उनकी अर्थ-सहायता करना, श्रमिको के बच्चो के लिये शिक्षा, पार्क वाचनालय एव पुस्तकालय की व्यवस्था करना, श्रमिको की बीमारी के समय चिकित्सा व अर्थ सम्बन्धी सहायता करना तथा श्रमिकों के लिये खेल-कूद व मनोरजन की अन्य सुविधायें उपलब्ध करना आदि सम्मिलित हैं। यद्यपि कार्ल मार्क्स (Karl Marks) और ऐंजिल (Engle) श्रमिक सघो के ध्वसात्मक कार्य का अधिक महत्व दिया है तथा उन्होंने श्रमिक सघ को पूजीवाद को उखाड-फेंकने और वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन माना है, तथापि श्रमिक सघो का रचनात्मक पहलू अथवा उनके कल्याणकारी कार्य ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। (iii) **राजनैतिक कार्य** (Political Activities)—बीट्रिस वैब (Beatrice Webb) के अनुसार श्रमिक सघ लोकतन्त्र को उद्योगो मे फैलाने का एक महत्वपूर्ण साधन है। श्रमिक सघ अपने सदस्यो को अधिकार (Rights) एव कर्तव्यो के प्रति जागरूक करते हैं, उनमे स्वतन्त्रता और समानता की भावना का विकास करते हैं तथा उन्हें पारस्परिक सहायता द्वारा आत्म सहायता (Self-help through Mutual-help) करने के लिये समान धरातल पर लाते हैं। इस प्रकार श्रमिक सघ अपने सदस्यों मे लोकतन्त्रवाद की भावना जागृत करके उनमे राजनैतिक चेतना (Political Conscious) उत्पन्न करते हैं। बहुत से श्रमिक सघ सामान्य निर्वाचन (General Election) मे भाग लेकर अपने प्रतिनिधि व्यवस्थापिका (Assembly) मे भेजने मे सफल होते हैं। इगलैंड मे श्रम-दल (Labour Party) एक शक्ति शाली राजनैतिक दल है। राजनैतिक क्षेत्र मे प्रत्यक्ष भाग लेकर, श्रमिक सघ अपने सदस्यो की सुरक्षा और कल्याण के लिये आवश्यक अधिनियम पास कराने मे सफल होते हैं। अत स्पष्ट है कि आज के उद्योग-प्रधान युग मे श्रमिक सघ श्रमिकों के हितो की सुरक्षा के लिये तथा उनके कल्याण की अभिवृद्धि के लिये आवश्यक संगठन हैं। देश मे औद्योगिक शान्ति को स्थाई रखने के लिये तथा औद्योगिक परियोजनाओ के सफल

कार्यकरण के लिए, सुदृढ़ एवं स्वस्थ आधारों पर संगठित श्रमिक संघों का होना बहुत सहायक सिद्ध होता है।

सुदृढ़ श्रमिक संघों के विकास के लिए आवश्यक कारक (Essential Factors for the Growth of Healthy Trade Unions) :—किसी देश में सुदृढ़ एवं स्वस्थ श्रमिक संघों के विकास के लिये चार बातें आवश्यक होती हैं—(i) श्रम-संघों के जन्म तथा विकास के लिये देश में औद्योगिक विकास होना अति आवश्यक है। (ii) औद्योगिक श्रमिक-वर्ग में असन्तुष्टता (Unrestiness) पाई जानी चाहिये अर्थात् श्रमिक उद्योगपतियों के शोषण से असन्तुष्ट होने चाहियें। वस्तुतः श्रमिक संघों का जन्म और विकास श्रमिकों की सामूहिक समस्याओं से प्रतिक्रियात्मक (Reactionary) रूप में होता है तथा जैसे-जैसे श्रमिकों की सामूहिक समस्यायें जटिल रूप धारण करती जाती है, वैसे ही वैसे श्रमिक संघों की सुदृढ़ता में स्थायित्व आता जाता है। (iii) श्रमिक-वर्ग उद्योगपतियों का दास (Slave) न होकर स्वतन्त्र होना चाहिये और समस्त श्रमिक सुसंगठित समाज के सदस्य होने चाहियें। स्पष्ट है कि जब श्रमिक स्वतन्त्र विचारों के होंगे तथा उनमें संगठन की भावना ओत-प्रोत होगी, तब श्रमिक संघों का जन्म स्वतः ही हो जायेगा तथा (iv) श्रमिक संघों के स्वस्थ विकास के लिये यह अनिवार्य है कि श्रमिक संघों का नेता स्वयं भी श्रमिक ही होना चाहिये अर्थात् उक्त नेता बाह्य राजनैतिक क्षेत्र का नेता न होकर श्रमिकों के अपने समूह का ही व्यक्ति होना चाहिये। इसके अतिरिक्त श्रमिकों में कल्याण कार्यों को करने के प्रति जागरूकता का होना भी स्वस्थ श्रम-संघों के विकास के लिये वांछनीय है।

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास (Brief History of Trade Union Movement in India)—भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं - (i) देश में सर्वप्रथम बम्बई में सन् १८७५ में श्री सोराबजी शाहपुरी के नेतृत्व में श्रमिकों की दुर्दशा के विरोध में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उस समय इस आन्दोलन को विशेष सफलता नहीं मिली। वस्तुतः सन् १८६० में श्री नारायण मेघा जी लोखन्डे ने "बम्बई मिल मजदूर संघ" की स्थापना करके, श्रमिक संघ आन्दोलन का श्री गणेश किया। (ii) सन् १६०५ में बंगाल का विभाजन हो जाने पर, श्रमिक संघ आन्दोलन ने क्रान्तिकारी रूप धारण किया तथा अनेक स्थानों पर हड़तालें हुईं। साथ ही साथ देश के विभिन्न भागों में अनेक श्रमिक संघ स्थापित हुये। (iii) प्रथम महायुद्ध के पश्चात् देश में श्रमिक संघ आन्दोलन का तीव्र गति से विकास हुआ। सन् १६२० में मजदूर संघों का प्रथम अखिल भारतीय संगठन आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress) के नाम से स्थापित हुआ। (iv) सन् १६२६ में एक श्रम-संघ अधिनियम पास किया गया और इसके अन्तर्गत श्रमिक संघों को वैधानिक मान्यता स्वीकार की गई और उनका हड़ताल करने का अधिकार भी स्वीकृत हुआ। (v) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् श्रमिक

संघ आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा। युद्धोत्तरकाल में महगाई के कारण श्रमिकों में असन्तोष बढ़ता ही गया। फलत. सन् १९४५—४७ के बीच अनेक हड़तालें हुईं। मई सन् १९४७ में श्री सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में एक दूसरे केन्द्रीय सगठन की इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress) के नाम से स्थापना हुई। (iii) दिसम्बर सन् १९४८ में समाजवादियों के प्रयत्नों से तीसरे अखिल भारतीय सगठन हिन्द मजदूर सभा (Hind Mazdoor Sabha) की स्थापना हुई तथा मई सन् १९४९ में श्री के० टी० शाह के नेतृत्व में यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (United Trade Union Congress) के नाम से एक चौथे केन्द्रीय सगठन की स्थापना हुई।

वर्तमान स्थिति (Present Position)—सन् १९५७-५८ में देश में कुल १०,०४५ श्रमिक सघ थे। इनकी कुल सदस्य सख्या लगभग ३०·१५ लाख थी। इस समय हमारे देश में चार अखिल भारतीय श्रमिक सघ हैं। सन् १९५९ में इन अखिल भारतीय श्रमिक सघो से सम्बद्ध श्रमिक सघो तथा इनके सदस्यो की सख्या इस प्रकार थी :—

केन्द्रीय सगठन का नाम	सम्बद्ध श्रमिक सघो की सख्या	सदस्य-सख्या
(१) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस	८१४	५०७, ६५४
(२) इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस	८८६	१०,२३,३७१
(३) हिन्द मजदूर सभा	१८५	२,४१,६३६
(४) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस	१७२	९०,६२९
योग	२,०५७	१८,६३,२९०

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन की कठिनाइयां व दोष—(Difficulties and Defects of the Trade Union Movement in India)— द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से लेकर अब तक हमारे देश में श्रमिक सघ आन्दोलन ने तीव्रगति से प्रगति की है। इस अवधि में श्रमिक सघो की सख्या एव उनकी सदस्य-सख्या दोनों में ही अपूर्व वृद्धि हुई है। कुछ श्रमिक सघ अपने सदस्यो को उद्योगपतियों से अनेक लाभ व सुविधायें दिलाने में भी सफल हुए हैं। यही नहीं, कुछ श्रमिक सघो ने अपने सदस्यो के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य भी किये हैं। फिर भी, यह मानना ही पड़ेगा कि हमारे देश में श्रम-सघ आन्दोलन का अभी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। श्री रोबर्ट्स (Roberts) के शब्दों में, "भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन इतना सुदृढ़ नहीं है जितना कि इसे होना चाहिये था।" वस्तुत. अभी तक देश में श्रमिक संघों के कार्यों का पहलू रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक ही अधिक रहा है। श्री वी० वी० गिरी (V. V. Giri) के अनुसार 'भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन अभी अपने शैशव काल में है। इसके कार्यकाल का विकास विगत तीन दशाब्दियों (Decades) से ही हुआ है।" अत देश में सही अर्थों में औद्योगिक प्रजा-

श्रमिक सघ के प्रति अपने अधिकारो (Rights) एव कर्तव्यो (Duties) के प्रति भी अनभिज्ञ एव उदासीन रहते हैं। (vi) **श्रमिक सघों की विध्वंसात्मक प्रवृत्ति (Destructive Nature of the Trade Unions)** —भारत मे श्रमिक सघो की मूल प्रवृति रचनात्मक (Constructive) न होकर विध्वसात्मक (Destructive) ही अधिक रही है। प्राय श्रमिक सघ अपना मूल उद्देश्य केवल हडताल कर देने तक ही सीमित रखते हैं। यद्यपि कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और एन्जिल (Engle) ने *श्रम सगठनो के विध्वसात्मक पहलू को ही अधिक महत्वपूर्ण बताया* है तथापि आधुनिक परिस्थितियो मे श्रमिक-सघवाद की सफलता और उद्देश्य वतमान समाज की व्यवस्था मे सुधार करने मे ही निहित है। (vii) **बाह्य नेतृत्व (External Leadership)** —*भारतीय श्रमिक सघो के अधिकाश नेता श्रम समूह के* सदस्य नही हैं। प्राय श्रम-सघो के नेता वकील डाक्टर और विशेषकर राजनतिक नेता होते हैं। चू कि इन नेताओ को श्रमिको की समस्याओ का पूरा ज्ञान नही होता और न ही श्रमिको के प्रति कोई सहानुभूति होती है इसीलिये ये नेता *श्रमिक सघो के हित मे कोई सक्रिय कदम न उठाकर इन सघो की आड मे अपने राजनतिक* स्वार्थों को पूरा करते हैं। चू कि ये नेता उद्योग के तकनीकी ज्ञान से भी अनभिज्ञ होते है इसलिये वे मिल मालिको से बातचीत करने मे ज्ञान के समान स्तर पर नही मिल पाते *वस्तुत श्रमिक सघ आन्दोलन के स्वस्थ विकास के लिये निर्देशक सहायक* पथ प्रदर्शक एव कायतत्पर नेता का होना अत्यावश्यक है। चू कि हमारे देश मे श्रमिक वर्ग मे ऐसे नेताओ का अभाव है इसीलिये श्रम सघ आन्दोलन का सुदृढ विकास नही हो सका है। (viii) **मध्यस्थों का विरोध (Opposition of the Jobbers)** —हमारे देश के प्रमुख औद्योगिक केन्द्रो मे श्रमिको की भर्ती मध्यस्थों (Jobbers) द्वारा होती है। ये मध्यस्थ श्रमिको की विवशता तथा अज्ञानता का लाभ उठाकर उनसे नौकरी दिलाने के लिये रिश्वत के रूप मे पर्याप्त रकम प्राप्त करते हैं। भारतीय श्रमिको का प्रवासी स्वभाव इन मध्यस्थो की आवश्यकता मे और भी अधिक वृद्धि कर देता है। चू कि श्रम-सघो द्वारा प्रत्यक्ष श्रमिक भर्ती (Recruitment) की व्यवस्था मे मध्यस्थो का काय व्यापार समाप्त हो जाता है इसलिए मध्यस्थो ने अपनी स्वार्थवृत्ति से प्रेरित होकर *श्रम सघ आन्दोलन की गति को अवरुद्ध* करने का प्रयत्न किया है। (ix) **श्रम सघ आन्दोलन मे एकता का अभाव (Lack of Unity in the Trade Union Movement)** —भारतीय श्रम सघ आन्दोलन मे एकता का अभाव इसका सर्वाधिक घातक दोष है। देश के अधिकाश उद्योगो मे केवल एक श्रमिक सघ के स्थान पर छोटे छोटे अनेक श्रमिक सघ पाये जाते हैं। इन श्रम सगठनो मे पारस्परिक सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्धा (Competition) और द्वेषभाव (Jealousy) ही अधिक पाया जाता है। फलत उद्योगपति *श्रम सगठनों की इस फूट का पूरा-पूरा लाभ उठाने मे सफल होते हैं। यही कारण है कि* श्रम-सघों को अपनी हडतालो मे समय-समय पर असफलता मिली है। भारत मे

श्रमिक संघों के चार केन्द्रीय संगठन इस आन्दोलन की फूट का स्पष्ट उदाहरण हैं। (x) सीमित सदस्यता —भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन अधिकांशत औद्योगिक नगरों तक ही सीमित है। देश के ग्रामीण-क्षेत्र के श्रमिकों में इस आन्दोलन का प्रचार लगभग नहीं के बराबर है। इसके अतिरिक्त, देश में श्रम संघों का आकार बहुत छोटा है तथा उनकी सदस्यता श्रमिकों की कुल संख्या के अनुपात में बहुत कम है। श्रम संगठनों का आकार छोटा होने से इनका वित्तीय आधार भी बहुत कमजोर होता है। फलत श्रमिक संघ पूर्णकालिक सवैतनिक कर्मचारियों (Whole time Paid Employees) तथा तकनीकी विशेषज्ञों (Technical Experts) को नौकर रखने में असमर्थ होते हैं और अपने काम को चलाने के लिये मुख्यत अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं (Honorary Workers) की सेवाओं पर ही निर्भर रहते हैं। चूंकि अवैतनिक कार्यकर्त्ता अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के स्थान पर पदलोलुपता के लिये अधिक आकृष्ट होते हैं इसलिये श्रमिक संघ नियोक्ताओं (Employers) तथा शासन को प्रभावित नहीं कर पाते। (xi) राजनैतिक प्रभाव (Political Effect) —श्रमिक संघ आन्दोलन पर राजनैतिक दलों का व्यापक प्रभाव पाया जाना आन्दोलन के विकास में मुख्य बाधा रही है। भारत में चार केन्द्रीय श्रम संगठनों का निर्माण भी राजनैतिक दलों की स्वार्थवृत्ति एवं प्रभाव के कारण ही हुआ है। चूंकि श्रमिक संघों की एकता को विनष्ट करने में राजनैतिक दलों का प्रभाव महत्वपूर्ण रहा है इसलिये ये राजनैतिक दल भी श्रम-संघ आन्दोलन की विफलता के मूल कारण हैं।

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के उपाय (Remedies for the Healthy Development of the Trade Union Movement in India)—शाही श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) के अनुसार भारत में स्वस्थ श्रम-संघ आन्दोलन के विकास के लिये दो तत्वों की आवश्यकता है—(अ) श्रमिकों में जनतन्त्रीय भावना (Democratic Spirit in Labourers) तथा (आ) श्रमिकों में शिक्षा का प्रसार (Literacy of the Labourers)। देश में श्रमिक संघ आन्दोलन के स्वस्थ विकास के लिये समय-समय पर कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये गये हैं—(i) एकता (Unity)—वस्तुत श्रमिक संघ आन्दोलन की सफलता के लिये, आन्दोलन की एकता प्रथम आवश्यक दशा है। श्री वी० वी० गिरी (V V Giri) ने सुझाव दिया है कि श्रमिक संघ आन्दोलन के स्वस्थ विकास के लिये एक उद्योग में एक संगठन (One Union in One Industry) का सिद्धान्त अपनाना चाहिये तथा समस्त भारत में केवल एक ही केन्द्रीय संगठन (Central Organisation) होना चाहिये। इंगलैंड में श्रम-संघ आन्दोलन की सफलता का मूल कारण यह है कि वहाँ केवल एक ही केन्द्रीय संगठन है। अत श्रमिक संघों की छोटी छोटी इकाइयों को बड़ी इकाइयों में मिलाकर उनकी सामूहिक सौदा शक्ति को बढ़ाया जाना चाहिये। (ii) उचित नेतृत्व—श्रमिकों में आत्मविश्वास, उत्तरदायित्व एवं अधिकारनिष्ठा की भावना जागृत करने के लिये, श्रम-संगठनों का उचित नेतृत्व नितान्त आवश्यक

है । इन सघो के नेता राजनैतिक दलो के व्यक्ति न होकर श्रमिक वर्ग के ही व्यक्ति होने चाहियें । श्रमिक वर्ग के नेता श्रमिको की समस्याओ को समझने मे अधिक सफल होंगे तथा सघो को उचित निर्देशन, सहायता एव प्रोत्साहन देकर उनकी समस्याओं के समाधान के लिये सक्रिय कदम उठा सकेंगे । (iii) **राजनैतिक प्रभाव से दूर रखना**—श्रमिक सघ आन्दोलन की सफलता के लिये आवश्यकता इस बात की है कि इसे राजनैतिक प्रभाव से पूर्णत अछूता रखा जाए। अतः श्रमिक सघो को अपना कार्य-क्षेत्र केवल श्रमिको के लिये कल्याणकारी कार्यों तक ही सीमित रखना चाहिये और उन्हे अपने को राजनैतिक कार्यों से सर्वथा पृथक् रखना चाहिए। वस्तुत राजनैतिक दलबन्दी के विषैले चक्र से आन्दोलन को पृथक् रखकर ही इसका स्वस्थ विकास सम्भव है । (iv) **रचनात्मक कार्यों पर अधिक बल देना**—श्रमिक सघों को विध्वसात्मक कार्यों (Destructive Functions) की अपेक्षा रचनात्मक कार्यों (Constructive Functions) पर अधिक महत्व डालना चाहिये । उन्हें विध्वसात्मक कार्यों को केवल एक आखिरी अस्त्र के रूप मे ही प्रयोग मे लाना चाहिये । वस्तुत श्रमिक सघो को हड़ताल करने से पूर्व उद्योगपतियो के सामने अपने सदस्यो की समस्यायें रखनी चाहियें और यदि मिल मालिक उन समस्याओं के निवारणार्थ कोई आवश्यक कदम उठाने के लिये तैयार नहीं हो, केवल तब ही उन्हें हड़ताल करनी चाहिये । व्यवहार मे श्रम-सघो के कार्यों का रचनात्मक पहलू ही श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊचा उठाने तथा उनके जीवन को सुरक्षा प्रदान करने मे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है । अत श्रम सघो को श्रमिकों के कल्याण सम्बन्धी कार्यों, जैसे—श्रमिकों की शिक्षा, चिकित्सा व मनोरंजन की व्यवस्था करना तथा श्रमिको को बीमारी व बेकारी के समय मे अर्थ-सहायता देना और श्रमिकों के निवास की व्यवस्था करना आदि, पर अधिक बल देना चाहिये । (v) **श्रमिक सघों की वित्तीय सुदृढता**—हमारे देश मे श्रमिक सघ आन्दोलन की असफलता का मूल कारण उनकी वित्तीय (Financial) अस्वस्थता है । कम मजदूरी पाने वाले श्रमिक, अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए, समय-समय पर ऋण लेने के लिये बाध्य होते हैं । इस स्थिति मे उनसे श्रम-सघो मे नियमितता से चन्दा देते रहने की आशा करना, उनका परिहास बनाने से और अधिक कुछ भी नहीं है । चूंकि श्रम-सगठनो के पास पर्याप्त वित्त का अभाव होता है, इसलिए वे श्रमिकों के लिए कल्याणकारी साधन जुटाने मे असमर्थ रहते हैं । अत श्रम सघ आन्दोलन को सफल बनाने के लिये, श्रमिको को उचित मजदूरी देने की व्यवस्था होनी वाछनीय है क्योंकि तब ही श्रमिकों से निरन्तरता एव नियमितता से सघ के चन्दे देने की आशा की जा सकती है । (vi) **कल्याण कोषों एव हडताल कोषों की स्थापना**—श्री वी० वी० गिरी ने सुझाव दिया है कि हडतालो को सफल बनाने के उद्देश्य से श्रम-सघों को कल्याण कोषों (Benefit Funds) एव हडताल कोष (Strike Funds) की स्थापना करनी चाहिये और हडताल के दिनों मे उन्हें इन कोषो मे से श्रमिकों की सहायता करनी चाहिये ।

इसके फलस्वरूप श्रमिकों मे अपने सगठनो के प्रति अधिक जागरूकता और दायित्व की भावना उत्पन्न होगी, श्रम सघो को अपने कार्य मे उत्साह मिलेगा तथा मिल-मालिको व सरकार की आखो मे भी इन सघो के प्रति सम्मान की भावना जन्म लेगी। (vii) **कार्यकर्त्ताओ का प्रशिक्षण**—श्रमिक सघो को अपना कार्य नियमितता-पूर्वक एव कुशलतापूर्वक चलाने के लिए, पूर्णकालिक सवेतनिक एव प्रशिक्षित कर्म-चारी और तकनीकी विशेषज्ञ (Whole-time paid Workers and Technical Experts) नियुक्त करने चाहियें। श्रमिकों मे से श्रम सघो के नेता बनाने तथा उनको कुशल कार्यकर्त्ता बनाने के लिये यह आवश्यक है कि श्रमिको की प्रशिक्षा की व्यवस्था की जाए। श्रमिक सघो एव श्रमिको के सामान्य ज्ञान एव शिक्षा की वृद्धि के लिए सरल भाषा मे रुचिपूर्ण पत्रिकाय प्रकाशित की जानी चाहियें। ये श्रम सघो के हाथों मे शिक्षा और प्रचार के लिये उत्तम यन्त्र होंगे। इन पत्रिकाओ मे श्रमिकों की समस्याओ और इनके हल पर विचार किया जाना चाहिए। (viii) **श्रमिकों मे दायित्व की भावना उत्पन्न करना**—हमारे देश मे श्रमिक सघों के अस्वस्थ सगठन के दो प्रधान कारण रहे हैं—(अ) श्रमिको मे उत्तरदायित्व की भावना का अभाव (Lack of Responsive Spirit among the Workers) तथा (आ) श्रमिको मे एकता का अभाव (Lack of Unity among the Workers)। अत देश मे श्रम सगठनों के स्वस्थ एव सुदृढ विकास के लिए, श्रमिको को शिक्षित बनाना तथा उनमे एकता व दायित्व की भावना उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है। शिक्षा के प्रसार से श्रमिको की मानसिक चेतना मे जागरूकता उत्पन्न होगी उनमे वर्ग भेद एव जाति भेद की सकीर्ण भावना का अन्त होगा और इस प्रकार उनमे अपने कर्त्तव्यो एव अधिकारो के प्रति दायित्व की भावना घर कर लेगी। (ix) **उद्योगपतियों और सरकार का श्रम सघों के प्रति सहयोगी दृष्टिकोण**—अब तक हमारे देश मे उद्योग-पति श्रम सघो को अपना शत्रु समझते रहे हैं और श्रम-सगठनों को असफल बनाने के लिए प्रतिक्रियात्मक कदम भी उठाते रहे हैं जिसके फलस्वरूप देश का श्रम सघ आन्दोलन स्वस्थ नही बन सका। वस्तुत मिलमालिको को यह समझ लेना चाहिए कि देश मे औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने के लिए तथा औद्योगिक उत्पादन मे *वृद्धि लाने के लिए, सशक्त एव स्वस्थ श्रम सगठनो का होना नितान्त आवश्यक है।* अत उद्योगपतियों को श्रम-सघो के प्रति अपनी पुरानी विद्वेषात्मक भावना का परित्याग करना चाहिये और इन्हे अपने सहयोगी समझना चाहिए तथा उन्हे, श्रम-सघो को सम्मान व मान्यता देनी चाहिये। देश मे समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना के उद्देश्य को पूरा करने के लिये भी, सरकार को श्रमिक सघो के प्रति उदारता एव सहायता की नीति व्यव-हरित करनी चाहिये।

उपसहार—उद्योग, श्रमिक वर्ग तथा आयोजित अर्थ-व्यवस्था की विशेष आवश्यकताओ को देखते हुए, एक सुदृढ एव स्वस्थ श्रम-सघ आन्दोलन का विकास

अपेक्षित है। इसीलिए प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत श्रमिक संघो के कार्यों को महत्ता दी गई थी। तीसरी योजना मे भी यह स्वीकार किया गया है कि औद्योगीकरण की बढती हुई गति को देखते हुए, योजनावधि मे श्रमिको को महत्वपूर्ण योग देना चाहिये तथा अपने उत्तरदायित्वो को निभाना चाहिये। सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के फलस्वरूप श्रम-संघ आन्दोलन के कर्त्तव्यो मे गुणगत अन्तर आजाएगा, जिसके विस्तार से देश की सामाजिक व्यवस्था को समाजवाद की ओर ले जाने मे अधिक सुविधा होगी। योजना आयोग (Planning Commission) के मतानुसार, "श्रमिक संघों को आर्थिक एवं औद्योगिक प्रशासन के एक अनिवार्य ढाचे के रूप मे माना जाना चाहिये तथा उन्हें अपने उत्तरदायित्वों को सम्भालने के लिये जागरूक किया जाना चाहिये। श्रमिकों मे शिक्षा के कार्यक्रम को आगे बढाकर अधिकाधिक संख्या मे श्रमिकों में से ही श्रम-संघ के नेता बनाये जाने चाहियें तथा अनुशासन-संहिता मे श्रम संघों को मान्यता देने के लिये जो नियम निर्धारित किये गये हैं उनका समुचित रूप से पालन होना चाहिये। देश मे सशक्त एवं स्वस्थ श्रम-संघ आन्दोलन के विकास के लिये यही आवश्यक है।"

———

२६
औद्योगिक संघर्ष

(Industrial Disputes)

प्राक्कथन — औद्योगिक सघर्ष आधुनिक औद्योगिक प्रणाली की ही देन है। औद्योगिक उत्पादन की प्रारम्भिक प्रणाली म शिल्पी स्वय ही उत्पादक और स्वय ही समस्त उत्पादक-साधनो का स्वामी होता है। कुटीर उद्योगो म शिल्पी और अन्य श्रमिक प्राय एक ही परिवार के व्यक्ति होते हैं जिससे श्रमिकों और मालिकों में घनिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं। फलत श्रमिको एव मालिको मे हित सघर्ष उत्पन्न नही होने पाता। परन्तु विशालस्तरीय उद्योगो मे, उत्पादन के भौतिक साधनो का स्वामित्व कुछ गिने-चुने पू जीपतियो के हाथों मे केन्द्रित होता है और श्रमिक केवल मजदूरी के बदले मे कार्य करते हैं। इसीलिये औद्योगिक उत्पादन की विशाल-स्तरीय प्रणाली मे, श्रमिको एव उद्योगपतियो के सम्बन्ध बहुत दूर के एव अप्रत्यक्ष होते हैं। पू जीपति अपने उद्योग मे, अपनी स्थिति से अनुचित लाभ उठाकर, श्रमिकों का अधिकाधिक शोषण करने का प्रयत्न करते हैं। फलत श्रमिक अपने कष्टो के निवारण के लिए हड़ताल तक कर देते हैं। श्रमिको एव उद्योगपतियो मे झगड़ा होने पर, उद्योगपति श्रमिको से अपनी बात मनवाने के लिए कभी-कभी तालाबन्दी (Lock Out) कर देते हैं अर्थात कारखाने को कुछ समय के लिये चलाना बन्द कर देते हैं। इस प्रकार हड़ताल और तालाबन्दी 'औद्योगिक सघर्ष' के इन दोनो रूपो से उत्पादक, उपभोक्ता श्रमिक और सम्पूर्ण राष्ट्र को हानि होती है।

औद्योगिक संघर्ष की आधुनिक प्रवृत्तिया (Present Trends of Industrial Disputes) —भारत मे औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था मे औद्योगिक-सघर्षों की समस्या नही थी। सन् १६०० तक देश में कोई भी हड़ताल अथवा ताला-बन्दी की घटना नही हुई। वस्तुत देश मे औद्यागिक सघर्षों का जन्म और विकास बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से हुआ। तब से आज तक हड़तालों और तालाबन्दियों के रूप मे औद्योगिक सघर्ष अनवरत जारी है। द्वितीय महायुद्धकाल मे भारत सरकार ने भारत सुरक्षा अधिनियम की धारा ८१–ए के अन्तर्गत हड़तालो और तालाबन्दियो को अवैधानिक घोषित कर दिया। फलत इस अवधि मे औद्योगिक सघर्ष का भयकर रूप देखने को नही मिला। परन्तु युद्ध समाप्त होते ही श्रमिको ने अपनी मजदूरी बढवाने के लिए हड़तालें आरम्भ कर दी। दिसम्बर सन् १६४७ मे भारत सरकार ने

औद्योगिक झगडो के निवारणार्थ श्रमिको और श्रम-स्वामियो के एक मिले जुले सम्मेलन मे औद्योगिक शाति प्रस्ताव (Industrial Truce Resolution पास करवाया। परन्तु यह प्रस्ताव श्रमिकों को सन्तुष्ट न कर सका तथा कानपुर, नागपुर, बम्बई, कोयम्बूटर व बगाल की सूती वस्त्र मिलो मे भीषण हडतालें हुई। सन् १९५० मे बम्बई के सूती वस्त्र उद्योग के कर्मचारियो ने बोनस (Bonus) के प्रश्न को लेकर हडताल करदी, जो ६३ दिन तक चलती रही और जिसम लगभग २ लाख श्रमिको ने भाग लिया। मई सन् १९५५ मे कानपुर के सूती वस्त्र मिलो के श्रमिको ने उद्योगों के आधुनीकीकरण (Rationalization) के विरोध मे भीषण हडताल की, जो ८० दिन तक चलती रही और जिसमे ४५ हजार श्रमिको ने भाग लिया। सन् १९५५ मे ही कानपुर की जूट मिल मे ७ मास तक तालाबन्दी रही। सन् १९५६ म हडतालो व ताला बन्दियो की कुल सख्या १,२०३ थी। यद्यपि सन् १९५७, १९५८ और १९५९ मे औद्योगिक सघर्षों की सख्या मे ह्रास हुआ, परन्तु उनकी भीषणता बढती ही गई और इन तीन वर्षो मे हडतालो और तालाबन्दियो के फलस्वरूप समस्त औद्योगिक इकाइयो मे क्रमश ६४ लाख, ७८ लाख और ८० लाख दिनो की क्षति हुई।

औद्योगिक संघर्ष के कारण (Causes of Industrial Disputes)—पूजीवादी अर्थ व्यवस्था मे, श्रमिको और उद्योगपतियो के पारस्परिक हितो मे अन्तर्निहित विरोध होने के फलस्वरूप, सघर्ष का होना स्वाभाविक ही है। एक ओर यदि उद्योगपति अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर श्रमिको को कम से कम मजदूरी देना चाहते हैं, तब दूसरी ओर श्रमिक अधिक से अधिक मजदूरी की माँग करते हैं। प्राय उद्योगपतियो का दृष्टिकोण श्रमिको के प्रति मानवीय न होकर आर्थिक ही अधिक होना है। अत इस परिस्थिति म औद्योगिक सघर्ष का पनपना स्वाभाविक हो जाता है। सक्षेप मे, औद्योगिक सघर्षों के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—(i) **मजदूरी, बोनस व महगाई भत्ता** —भारत मे अधिकाश औद्योगिक सघर्षों का मूल कारण श्रमिको द्वारा अधिक मजदूरी, बोनस अथवा महगाई भत्ता की माग रही है। एक अनुमान के अनुसार देश म ७५ प्रतिशत आर्थिक सघर्षों का कारण आर्थिक (Economic) रहा है। शाही श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) के मतानुसार "उद्योग से असम्बन्धित कारणों का हडतालों मे हाथ, जितना प्राय सोचा जाता है, उससे बहुत कम होता है "यद्यपि श्रमिक ऐसे व्यक्तियों से प्रभावित होते हैं जो अपने राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता अथवा व्यवसायिक हितों की पूर्ति करना चाहते हैं, तथापि सम्भवत ही कोई महत्वपूर्ण हडताल कभी हुई हो जिसके पीछे पूर्णतया अथवा प्रमुखतया आर्थिक कारण नहीं रहे हों।" (ii) **काम करने के घन्टे तथा काम करने के स्थान का वातावरण**—हमारे देश के अधिकाश उद्योगों म श्रमिको को दोषपूर्ण एव अस्वस्थकर वातावरण मे काम करना पडता है। देश मे फैक्ट्री एक्ट लागू न होने वाले कारखानो मे, श्रमिको स लम्बी अवधि तक काम

कराया जाता है तथा इन उद्योगों में काम करने की दशायें तो और भी अधिक भयकर होती हैं। फलतः कभी-कभी काम करने के घन्टों की अधिकता के विरोध में अथवा काम करने की दशाओं से असन्तुष्ट होकर, श्रमिक हड़तालें कर देते हैं। (iii) उद्योगों का अभिनवीकरण. – उद्योगपति अपने उत्पादन की लागत को न्यूनातिन्यून करने के लिए, अपने उद्योगों में मानव-श्रम को मशीनों से प्रतिस्थापित (Substitue) करते हैं। आर्थिक मन्दी के काल में उद्योगपतियों की यह प्रवृत्ति और भी अधिक व्यावहारिक रूप धारण कर लेती है। फलत, श्रमिकों की छटनी की जाती है जिसके विरोध में हड़ताल ही श्रमिकों के पास एक अन्तिम अस्त्र रह जाता है। मई सन् १९५५ में कानपुर की सूती वस्त्र मिलों में ८० दिनों तक चलती रहने वाली जो हड़ताल की गई थी, वह अभिनवीकरण के विरोध के कारण ही हुई थी। (iv) भर्ती-प्रणाली :— भारत के अधिकांश उद्योगों में भर्ती की मध्यस्थता-प्रणाली (J bbers' System) प्रचलित है। प्राय मध्यस्थ श्रमिकों से उनकी भर्ती कराने के बदले में, घूस के रूप में काफी रकम ले लेते हैं। यदि श्रमिक किसी मास में मध्यस्थ को भेंट या नजराना नहीं देता, तब मध्यस्थ उस पर अयोग्यता का दोषारोपण करके उसे काम से हटा देता है। अतः इस प्रकार की दोषपूर्ण व्यवस्था जब श्रमिकों को असहनीय हो जाती है, तब वे हड़ताल का आयोजन करने के लिए विवश हो जाते हैं। (v) निरीक्षकों का दुर्व्यवहार —निरीक्षकों (Supervisors) के श्रमिकों के साथ अनुचित व्यवहार के फलस्वरूप, श्रमिकों को मानसिक ठेस पहुँचती है। अत इस अपमान के प्रतिशोध के लिये श्रमिक-वर्ग संघर्ष कर देता है। सन् १९२९ में शाही श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) ने बताया था कि सन् १९२१ से सन् १९२८ के समस्त ९७६ औद्योगिक संघर्षों में से ४२५ संघर्ष निरीक्षकों के दुर्व्यवहार के ही कारण हुये थे। (vi) भारतीय श्रमिक संघों की विध्वंसात्मक प्रवृत्ति—श्रमिक संघ हड़तालों का मुख्य माध्यम हैं। हमारे देश में हड़तालों की अधिकता का प्रमुख कारण श्रमिक संघों की विध्वंसात्मक प्रवृत्ति (Destructive Nature) रही है। देश के अधिकांश श्रमिक संघ, श्रमिकों की दशाओं को सुधारने के लिये कल्याणकारी कार्यों के आयोजन को कोई महत्व न देकर, हड़ताल कर देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। (vii) स्वार्थपूर्ण नेतृत्व :—हमारे देश में श्रमिक संघों का नेतृत्व स्वार्थपूर्ण राजनैतिक नेताओं के हाथ में रहा है। चूंकि भारतीय श्रमिक अशिक्षित एवं अज्ञानी है, इसलिये वे अपने हित अहित का विचार किये बिना ही श्रमिक नेताओं का अन्धानुकरण करते हैं। श्रमिक संघों के नेता अपने स्वार्थों की सिद्धी के लिये हड़तालों का आयोजन कराते हैं जिनकी विफलता पर श्रमिकों को घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। (viii) प्रबन्ध सम्बन्धी कारण—श्रमिकों को कारखानों के प्रबन्ध में कोई भाग न देना भी हड़तालों का एक प्रमुख कारण रहा है। यही नहीं, उद्योगों के प्रबन्धक, श्रमिकों को सुविधा के साधन जुटाने के स्थान पर उन्हें प्राय बहुत परेशान करते हैं। फलत श्रमिक हड़ताल का आयोजन करते हैं। एक अनुमान के अनुसार देश में

कुल औद्योगिक संघर्षों में से २०% संघर्षों का मूल कारण प्रबन्धकों का दुर्व्यवहार रहा है। (ix) **अवकाश एवं रोजगार से सम्बन्धित अन्य अनुचित व्यवस्थायें**—कभी-कभी श्रमिक सवेतनिक अवकाश न मिलने पर भी हडताल कर देते हैं अथवा जब कभी मिल-मालिक पूर्व सूचना के बिना ही श्रमिकों की छटनी करते हैं या उनकी मजदूरी में से अनुचित कटौतिया कर लेते है, तब सेवायोजकों (Employers) के इस दुर्व्यवहार से असन्तुष्ट होकर श्रमिक हडताल कर देते हैं। (x) **श्रमिकों में सामूहिक सौदेबाजी का अभाव**:—श्रमिको में एकता के अभाव के कारण उनकी सामूहिक सौदा करने की शक्ति (*Collective Bargaining Capacity*), उद्योगपतियों की सौदा करने की शक्ति से बहुत कम होती है। अत श्रमिक थोडी-सी कठिनाई अनुभव करने पर भी हडताल कर देते हैं और अमुक कठिनाई शान्तिपूर्ण समाधान के लिये मिल मालिकों से समझौता करने का प्राय कोई प्रयत्न नही करते।

औद्योगिक संघर्ष के परिणाम—(*Effects of Industrial Disputes*)—हडताल और तालाबन्दी, औद्योगिक संघर्ष के इन दोनो रूपों से देश की आर्थिक सामाजिक एव राजनैतिक स्थिति बहुत भयानक एव हानिप्रद सिद्ध हो सकती है। औद्योगिक संघर्षों के मुख्य भयकर परिणाम प्राय इस प्रकार होते हैं—(i) **देश के उत्पादन मे कमी**—हडताल अथवा तालाबन्दी की अवस्था म, औद्योगिक संस्था का उत्पादन कार्य बन्द हो जाता है। फलस्वरूप देश म उत्पादन की मात्रा म कमी आती है। कभी-कभी एक उद्योग मे हडताल व तालाबन्दी दूसरे उद्योगों को भी प्रभावित करता है। यदि हडताल कच्चे माल के उत्पादक उद्योग मे होती है, तब इसके फलस्वरूप इस कच्चे-माल से पक्का माल तैयार करने वाली मिल भी बन्द हो जाती हैं। प्रो० पीगू (Pigou) के मतानुसार औद्योगिक संघर्ष के फलस्वरूप देश के उत्पादन में कमी होने का परिणाम यह होता है कि देश के राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) की मात्रा म भी कमी हो जाती है। अत औद्योगिक संघर्ष राष्ट्रीय आय को कम करके प्रति व्यक्ति औसत आय को प्रभावित करता है। (ii) **उपभोक्ताओं को कष्ट**—औद्योगिक संघर्ष सम्पूर्ण उपभोक्ता वर्ग के लिए कष्टदायक होता है। चूंकि किसी उद्योग में हडताल अथवा तालाबन्दी के कारण वस्तुओं का उत्पादन बन्द हो जाता है, इसलिए उस उद्योग म उत्पादित वस्तु की बाजार म पूर्ति कम हो जाती है। फलत विक्रेता इस स्थिति से अनुचित लाभ उठाकर, वस्तुओं को मनमाने व ऊंचे मूल्यों पर बचते हैं। अत औद्योगिक संघर्ष के फलस्वरूप उपभोक्ताओं को न केवल वस्तुओं को खरीदने के लिय अधिक त्याग करना पडता है वरन् उन्हे तीव्र मानसिक वेदना भी अनुभव होती है। (iii) **श्रमिक वर्ग की हानि**—हडताल अथवा तालाबन्दी का सर्वाधिक क्रूर प्रभाव श्रमिकों पर पडता है। हडताल के समय उद्योग में कार्य न करने पर उद्योगपति उन्हे उतने समय की मजदूरी नही देते। चूंकि हमारे देश के श्रमिकों की मजदूरी का स्तर बहुत नीचा है, इसलिय हडताल के समय उनके सामने प्राय भूखे मरने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। फलत इस स्थिति से श्रमिक वर्ग मे अनैतिकता आ जाती है। उनके हृदय म

नैराश्य (Frustration) एव अन्धकार की भावना घर कर जाती है और उन्हें उद्योग पतियो की बात मानने के लिये झुकने को विवश होना पड़ता है। औद्योगिक सघर्ष का श्रमिकों पर सबसे बुरा प्रभाव उस स्थिति मे पडता है जबकि उन्हें अपनी हड़ताल मे असफलता प्राप्त होती है। हड़तालो की असफलता श्रमिक वर्ग की समस्त भावी योजनाओ को अन्धकार के गर्त मे धकेलकर उनके मस्तिष्क मे तीव्र विप्लव मचा देती है तथा इससे उनके मन मे अपने सगठन के प्रति विश्वास एव सम्मान की भावना बहुत कम हो जाती है। (iv) सेवायोजकों की हानि —औद्योगिक सघर्ष की स्थिति मे उत्पादन कार्य बन्द रहने के कारण, उद्योगपतियो (सेवायोजकों) को प्राप्त होने वाले सम्भावित लाभ से वचित रहना पडता है। इसके अतिरिक्त उद्योगपतियो का कारखाने की इमारत का किराया, पूजी का ब्याज तथा ऊचे पदो पर कार्य करने वाले कर्मचारियों का वेतन अपने पास से देना पडता है। (v) श्रम व पूजी मे घनिष्ठता का अभाव —वस्तुत श्रम व पूजी मे पारस्परिक घनिष्ठता का अभाव औद्योगिक सघर्ष का कारण (Cause) और परिणाम (Effect) दोनों ही हैं। श्रम व पूजी के पारस्परिक हितो के टकराने के कारण ही हड़ताल अथवा तालाबन्दी की समस्या जन्म लेती है तथा हड़तालें और तालाबन्दियाँ इस मतभेद की खाई को और भी अधिक गहरा कर देती हैं। (vi) सामाजिक अव्यवस्था —हड़तालें सामाजिक वातावरण को दूषित कर देती हैं जिसके फलस्वरूप चारों ओर अनिश्चितता और असुरक्षा के चिन्ह ही देखने को मिलते हैं। औद्योगिक सघर्ष के परिणामस्वरूप देश की सम्पूर्ण व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाती है। हड़तालों की असफलता श्रमिक वर्ग मे अनैतिकता उत्पन्न करती है और उनका जीवन नैराश्य एव अन्धकार से परिपूर्ण हो जाता है। श्री खन्डूभाई देसाई (Sri Khandubhai Desai) के शब्दों मे, "व्यस्क मताधिकार पर आधारभूत जनतन्त्र में हड़तालें और तालाबन्दियाँ न केवल कालातीत हो गई हैं वरन् वे जिन उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त की जाती हैं उनके लिये भी हानिप्रद हैं।" *

श्रमिकों को हड़ताल करने का अधिकार (Workers' Right to Strike) – श्रमिको द्वारा हड़ताल करने के अधिकार के औचित्य पर दो विभिन्न मत हैं। एक ओर यदि कुछ विचारक श्रमिको के हड़ताल करने के अधिकार को वांछनीय ठहराते हैं, तब दूसरी ओर अन्य विद्वान इस मत का विरोध करते हैं —

(अ) श्रमिकों द्वारा हड़ताल करने के पक्ष का समर्थन —श्रमिको द्वारा हड़ताल करने के अधिकार का औचित्य सिद्ध करने वाले विद्वानो का मत है कि हड़ताल का अधिकार श्रमिक वर्ग की सुरक्षा का अन्तिम अस्त्र है। उद्योगपति का उद्योग के समस्त पूंजीगत साधनो पर स्वामित्व होता है जिससे उसकी स्थिति सुदृढ होती है। परन्तु श्रमिको के पास केवल मात्र श्रम होता है। उनके पास साधन सीमित होते हैं

* "In a democracy based on adult franchise, strikes and lockouts have not only become outdated but are positively harmful for the very purpose for which they are used" —Sri Khandubhai Desai.

और उनमे एकता का अभाव होता है। अत इस स्थिति मे उद्योगपति श्रमिको की दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाकर उनका शोषण करते हैं। उद्योगपति श्रमिकों से अधिक घन्टो तक काम लेते हैं, उन्हे उचित मजदूरी नही देते और न ही उन्हे जीवन सम्बन्धी अन्य कोई सुविधा प्रदान करते हैं। विवश होकर श्रमिक उद्योगपतियो के शोषण से छुटकारा पाने के लिये, एक सगठन का निर्माण करते हैं। वस्तुतः श्रमिक सघ का जन्म श्रमिको की समस्याओ के निवारणार्थ ही होता है। श्रम सगठन द्वारा श्रमिको की सौदा करने की शक्ति (*Bargaining Capacity*) सामूहिकता का रूप धारण कर लेती है। श्रमिक अपने इन सगठनो द्वारा उद्योगपतियो को अपनी कठिनाइयो और समस्याओ से अवगत कराते हैं। परन्तु जब उद्योगपति उनकी समस्याओ एव कठिनाइयो के प्रति उपेक्षा की नीति अपनाते है तथा श्रमिको की मांगो को पूरा करने के प्रति उदासीनता दिखलाते हैं, तब श्रमिक सघ विवश होकर हडताल का आयोजन करते हैं। श्रमिको के हडताल करने के अधिकार का पक्ष-पोषण करने वाले विद्वानो का मत है कि उस स्थिति मे जबकि उद्योगपतियो द्वारा श्रमिको की कठिनाइयो की सुनवाई नही होती, श्रमिको द्वारा हडताल करना सर्वथा उचित है। यदि श्रमिको के इस अधिकार का अपहरण कर लिया जाए तब इसका स्पष्ट अर्थ यह होगा कि उद्योग पतियो को श्रमिको का अधिकाधिक शोषण करने का अधिकार दिया जा रहा है। वस्तुत उद्योगपतियो द्वारा श्रमिको का शोषण करने का ही प्रतिक्रियात्मक (Reactionary) स्वरूप हडताल है। हडताल श्रमिको की सुरक्षा का अन्तिम और निष्क्रिय साधन है। इस अस्त्र को प्रयोग मे लाने से पूर्व वे उद्योगपतियो को अपनी मांग स्वीकार करने के लिये प्रार्थना करते हैं, परन्तु जब उद्योगपति श्रमिको की मांगो के प्रति उपेक्षणीय प्रवृत्ति दिखाते हैं तब वे हडताल करने के लिये विवश हो जाते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण समाज के लिये हडताल का प्रभाव घातक सिद्ध होता है, परन्तु श्रमिको से इस अधिकार को छीनकर उनका गला नही घोटा जा सकता। चूंकि समाज श्रमिको की समस्याओ और कठिनाइयो को दूर करने के लिए अन्य कोई दूसरी व्यवस्था नही करता, इसलिए उसे हडतालो के दुष्परिणामो को सहन करना ही होगा। इस सम्बन्ध मे श्री के० एन० श्रीवास्तव (K. N Shriwastav) के विचार उल्लेखनीय हैं "यदि जनता की सरकार, जो जनता के लिए हो और जनता द्वारा शासित होती हो, श्रमिको के हितो की उपेक्षा करती है तब उसे जनता की सरकार कहलाने का कोई अधिकार नही है। वस्तुत भूखे मरने वालो से यह कहना कि तुम अपना मुंह बन्द करलो और अपने प्रति होने वाले अन्याय का विरोध न करो, केवल इसलिये कि इससे दूसरों को पीडा पहुचती है, धनी और समृद्धिशाली व्यक्तियो के सुख चैन मे बाधा पडती है, सरासर अन्याय होगा। यदि कोई रोगी तीव्र पीडा से कराह रहा है, तब उसको यह कहकर चुप नहीं किया जा सकता कि उसके कराहने से दूसरो की गाढी नींद मे बाधा पडती है। औद्योगिक शांति की स्थापना के लिये श्रमिक वर्ग की पीडा का कारण ढूंढना होगा और उसे दूर करना होगा। श्रमिक वर्ग को चुप करने से अथवा दबाने से काम नही चलेगा *।"

* Industrial Peace and Labour in India, Page 111

(आ) श्रमिकों द्वारा हड़ताल करने के अधिकार का विरोध—यह सर्वविदित है कि हड़तालों से न केवल उद्योगपति और श्रमिक ही प्रभावित होते हैं वरन् इनका प्रभाव सम्पूर्ण समाज के लिये भी घातक होता है। औद्योगिक संघर्ष की स्थिति में एक ओर श्रमिक वर्ग उद्योगपतियों के विरुद्ध हड़ताल के निष्क्रिय अस्त्र का प्रयोग करते हैं तथा दूसरी ओर उद्योगपति श्रमिक वर्ग की हड़ताल को विफल करने के लिये विनाशकारी कदम उठाते हैं। इस प्रकार हड़ताल का रूप धीरे-धीरे घेरे-बन्दी (Blockade) हो जाता है। इस घेरे-बन्दी का दुष्प्रभाव न केवल श्रमिकों और उद्योगपतियों पर पड़ता है। वरन् इससे सम्पूर्ण समाज में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। अतः कुछ विचारकों का मत है कि श्रमिक वर्ग, जो कि सम्पूर्ण समाज का एक छोटा सा भाग होता है, को हड़ताल करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिये क्योंकि उन्हें अपने हितों की सुरक्षा के लिये, सम्पूर्ण समाज के हितों का बलिदान करने का कोई अधिकार नहीं है। यही नहीं, यह बात श्रमिकों के अपने हित में भी है कि वे हड़ताल के अस्त्र का उपयोग नहीं करें क्योंकि हड़ताल से अन्ततः श्रमिकों को ही सर्वाधिक आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है। यदि हड़ताल सफल भी हो जाए, तब भी श्रमिकों को हड़ताल की अवधि में जो हानि सहनी होती है, वह बहुत समय बाद तक भी पूरी नहीं हो पाती। अतः श्रमिकों के हड़ताल करने के अधिकार के विरोधियों का मत है कि चूँकि हड़ताल का प्रभाव सम्पूर्ण समाज के लिये घातक होता है तथा श्रमिकों पर भी इसका प्रभाव सर्वाधिक भयंकर पड़ता है, इसलिये श्रमिकों तथा सम्पूर्ण समाज की भलाई की दृष्टि से श्रमिकों के हड़ताल करने के अधिकार को निषिद्ध कर देना चाहिये। श्री जे० ए० हाबसन (J A Hobson) ने इस मत की पुष्टि इन शब्दों में की है, "हड़ताल अथवा तालाबन्दी करने का अधिकार पूर्णरूपेण खत्म कर देना चाहिए। यह अन्यायपूर्ण है क्योंकि औद्योगिक संघर्ष की स्थिति में यह शक्ति के प्रयोग पर आधारित है। जब हम श्रमिकों की दुर्दशा को देखते हैं, तब यह अमानवीय है। यह श्रम और पूँजी के साधनों का व्यर्थ होना है। चूँकि यह घृणा को जन्म देता है, इसलिए यह घृणित है। चूँकि यह सम्पूर्ण समुदाय की दृढ़ता को छिन्न भिन्न कर देता है, इसलिये यह असामाजिक है।" *

निष्कर्ष—वस्तुतः उपरोक्त दोनों मत एकपक्षीय (One-sided) हैं। श्रमिकों द्वारा हड़ताल करने के अधिकार की न तो पूर्णतः उपेक्षा की जा सकती है और न ही इस अधिकार का निरंकुश रूप स्वीकार किया जा सकता है। चूँकि हड़ताल समस्त समाज की अर्थ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देती है, इसलिये श्रमिकों द्वारा इसका प्रयोग न्यूनातिन्यून होना चाहिये। औद्योगिक संघर्षों के निबटारे के लिये हड़ताल का अस्त्र प्रथम न होकर अन्तिम होना चाहिये। श्रमिकों के संगठन को सुदृढ़ बनाकर, श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति को बढ़ाया जा सकता है जिसके फलस्वरूप उद्योगपति भी उनके अधिकारों की सरलता से उपेक्षा नहीं कर सकते।

---

* The Conditions of Industrial Peace, P. 30

वस्तुत श्रमिकों के निष्क्रिय अस्त्र 'हड़ताल' की सम्भावना को दूर करने के लिये, श्रम कल्याण कार्यों की व्यापक योजना अपनाई जानी चाहिये। सरकार और उद्योगपतियों को श्रमिकों के जीवन की सुरक्षा से सम्बन्धित आवश्यक सुविधाओं को समुचित रूप से जुटाना चाहिये। श्रमिक भी देश के स्वतन्त्र नागरिक हैं, इसलिये उन्हें भी सुखी एवं सम्पन्न जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। उद्योगपतियों और सरकार द्वारा की गई सुरक्षा एवं *कल्याणकारी व्यवस्था से प्रेरित होकर*, श्रमिक वर्ग में भी उत्तरदायित्व की भावना का जन्म होगा। वस्तुत उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि लाने के लिये औद्योगिक संघर्ष का निबटारा आवश्यक है और औद्योगिक संघर्ष के निबटारे के लिए उद्योगपतियों एवं श्रमिकों में सहयोगी भावना का पाया जाना आवश्यक है। एक विद्वान के शब्दों में "यदि भारतीय श्रमिक उद्योगपतियों से मिलकर उत्पादन में वृद्धि नहीं करेंगे, तब इससे न केवल उनके अपने हितों को वरन् सम्पूर्ण समाज के हितों को धक्का पहुंचेगा।"

औद्योगिक झगड़ों को रोकने व निबटाने की प्रणाली

(Prevention and Settlement of Industrial Disputes in India)

वैधानिक स्थिति—किसी देश के औद्योगिक विकास के लिये, औद्योगिक *संघर्षों के निवारणार्थ उपयुक्त वैधानिक व्यवस्था एवं मशीनरी का होना नितान्त* वाञ्छनीय है। सन् १९२९ में 'भारतीय ट्रेड डिस्प्यूटस एक्ट' (Indian Trade Disputes Act) पास करके, भारत सरकार ने औद्योगिक संघर्षों के निबटारे के लिये प्रथम कदम उठाया। इस अधिनियम के अन्तर्गत औद्योगिक झगड़ों के निबटारे के लिये, अस्थाई जाँच अदालतों (Adhoc Courts of Enquiry) और समझौता बोर्डों (Boards of Conciliation) की स्थापना की गई। जाँच अदालत का कार्य औद्योगिक झगड़े से सम्बन्धित बातों की जाँच करके, अपनी रिपोर्ट समझौता बोर्ड के सामने प्रस्तुत करना था। समझौता बोर्ड का काम दोनों पक्षों को सन्निकट लाकर परस्पर समझौता कराना होता था। समझौता बोर्ड अपने कार्य में असफलता पाने पर तत्सम्बन्धी संघर्ष की सूचना और अपनी रिपोर्ट सरकार को भेज देता था। इस अधिनियम में सार्वजनिक हित सम्बन्धी सेवाओं (*Public Utility Services*), जैसे—रेल-तार-डाक, विद्युत् व जलपूर्ति आदि, में हड़ताल करने के पूर्व १४ दिन की अग्रिम सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया। इस अधिनियम के द्वारा सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह ऐसे किसी भी औद्योगिक झगड़े को अवैधानिक घोषित कर सकती है जो सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त हानिप्रद हो। चूंकि इस अधिनियम के अन्तर्गत ऐच्छिक जाँच तथा ऐच्छिक पंचनिर्णय (Optional Arbitration) की व्यवस्था की गई थी तथा स्थाई औद्योगिक अदालत का कोई प्रावधान नहीं रखा गया था, इसलिये व्यावहार में यह अधिनियम अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं हुआ।

औद्योगिक संघर्ष के निबटारे के लिये सर्वाधिक व्यावहारिक कदम सर्वप्रथम

महाराष्ट्र सरकार ने उठाया। इस राज्य मे सन् १९३४ मे इस सम्बन्ध मे एक कानून पास किया गया जिसके अन्तर्गत मालिको द्वारा श्रम सघो को मान्यता देने की व्यवस्था की गई। प्रारम्भ मे इस कानून के अन्तर्गत समझौतो (Conciliations) पर अधिक महत्त्व दिया गया, परन्तु सन् १९४६ मे इस अधिनियम को सशोधित करके अनिवार्य पचनिर्णय (Compulsory Arbitration) की व्यवस्था की गई। इस प्रकार समझौता बोर्ड के निर्णय को दोनों पक्षो द्वारा मानना अनिवार्य कर दिया गया। द्वितीय महायुद्धकाल मे भारत सरकार ने औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने के लिये, भारत सुरक्षा अधिनियम की धारा ८१-ए (Defence of India Rules, 81-A) के द्वारा हड़तालो और तालाबन्दियो को अवैधानिक घोषित कर दिया। फरवरी सन् १९४७ मे भारत सरकार ने एक औद्योगिक सघर्ष अधिनियम (Industrial Disputes Act of 1947) पास किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत सरकार ने औद्योगिक सघर्षों के निबटारे के लिये दो प्रकार की मशीनरी की व्यवस्था की—(अ) औद्योगिक सस्थाओ म झगडो को रोकने के लिये आन्तरिक यन्त्र के रूप मे कार्य-समितियो (Works Committees) की स्थापना करना और (आ) जब कभी झगडे उत्पन्न हो जायें, तब उनके निबटारे के लिये वाह्य-यन्त्र के रूप म (i) स्थाई समझौता अधिकारियो (Permanent Conciliation Officers), (ii) समझौता मण्डलो (Conciliation Boards) (iii) जाच न्यायालयो (Courts of Enquiries) और स्थाई औद्योगिक न्यायालयो (Permanent Industrial Tribunals) की स्थापना करना।

आन्तरिक यन्त्र (Internal Machinery)—(i) कार्य समितियां (Works Committees)—सन् १९४७ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक ऐसे कारखाने मे जिसमे १०० या १०० से अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, कार्य समिति की स्थापना करना अनिवार्य कर दिया गया। कार्य-समिति मे सेवायोजको (Employers) एव कार्यकर्त्ताओ (Employees) के बराबर-बराबर प्रतिनिधि होते हैं। कार्य समितियों का मुख्य कार्य उद्योगपतियो एव श्रमिको मे पारस्परिक हित विरोध एव मतभेद को दूर करके, मतैक्य उत्पन्न करना है। इस प्रकार ये समितियां औद्योगिक सघर्ष की स्थिति को उत्पन्न होने से रोकने के लिये हर सम्भव प्रयत्न करती हैं। यद्यपि हमारे देश के विभिन्न उद्योगो मे कार्य समितियां स्थापित कर दी गई हैं, परन्तु इन्हे अपने उद्देश्य मे विशेष सफलता नही मिली है। सेवायोजक, कार्यकर्ता और श्रम सघ अभी तक इन समितियों को शका की दृष्टि से देखते हैं। प्रत्येक दल कार्य समितियो को अपनी प्रतिस्पर्धी सस्था समझता है। फिर भी, कार्य समितियों की स्थापना ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि जब तक उद्योगपति और श्रमिक एक धरातल पर नही आयेंगे, तब तक आपसी समझौते का कोई भी ऊपर से लादा गया यन्त्र विशेष औद्योगिक सघर्षों के समाधान के लिये लाभकारी सिद्ध नही होगा। (ii) श्रम कल्याण अधिकारी (Labour Welfare Officers) सन् १९४८ के फैक्ट्री अधिनियम (Factory Act, 1948) के अन्तर्गत ऐसे प्रत्येक कारखाने मे, जहां

५०० अथवा अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, एक श्रम-कल्याण अधिकारी की स्थापना अनिवार्य कर दी गई है। औद्योगिक संघर्षों को रोकने में तथा श्रमिकों के परिवादों (Complaints) के आन्तरिक निवारण में, श्रम-कल्याण अधिकारियों का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय रहा है। (iii) श्रम संघ—जनतन्त्रात्मक आधार पर चलाया जाने वाला एक स्वस्थ एवं सशक्त श्रमिक संघ तथा उद्योगपति द्वारा ऐसे श्रमिक संघ की आवश्यकता एवं महत्व को स्वेच्छा से स्वीकार किया जाना, औद्योगिक संघर्षों को रोकने व इनका निवटारा करने के आन्तरिक यन्त्र की सफलता के लिये प्रथम अनिवार्य दशा है। दुर्भाग्य से हमारे देश के श्रम-पक्षों की विध्वंसात्मक नीति (Destructive Policy) औद्योगिक संघर्षों को रोकने व इनके निपटाने के विपरीत कार्य करती है।

बाह्य यन्त्र (External Machinery)—सन् १९४७ के औद्योगिक संघर्ष अधिनियम के अन्तर्गत औद्योगिक झगड़ों के निवटारे के लिये बाह्य यन्त्र के रूप में मुख्य व्यवस्थायें इस प्रकार की गई – ( ) समझौता अधिकारी (Conciliation Officers)—औद्योगिक झगड़ा उत्पन्न होने की स्थिति में, सर्वप्रथम झगड़ा एक समझौता अधिकारी को सौंपा जाता है। समझौता अधिकारी संघर्ष के दोनों पक्षों को समझौता कराने के लिये एक धरातल पर लाता है। यदि समझौता अधिकारी समझौता कराने में सफल हो जाता है, तब वह समझौता दोनों दलों को अनिवार्यतः मानना पड़ता है। यदि समझौता अधिकारी समझौता कराने में असफल रहता है, तब वह अपने प्रयत्नों की पूरी रिपोर्ट और सिफारिश सरकार को देता है। तद्-पश्चात् सरकार इस झगड़े को समझौता मण्डल अथवा जाँच न्यायालय को सौंप देती है। (ii समझौता मण्डल (Board of Conciliation)—समझौता मण्डल, अधिक से अधिक दो माह की अवधि के अन्त तक, दोनों पक्षों में समझौता कराने के लिये प्रयत्न करता है। इस अवधि में यदि समझौता मण्डल को सफलता मिल जाती है, तब उसके द्वारा कराया गया समझौता ६ माह अथवा दोनों पक्षों के मानने पर अधिक काल के लिये लागू रहता है। असफलता की दशा में समझौता बोर्ड अपने कार्य की पूरी रिपोर्ट सरकार को भेज देता है। (iii) जाँच न्यायालय (Court of Enquiry) जाँच न्यायालय औद्योगिक संघर्ष से सम्बन्धित आवश्यक तथ्य एकत्रित करके ६ माह के अन्दर अपनी रिपोर्ट सरकार को देता है। (iv) औद्योगिक न्यायालय (Industrial Tribunal)—औद्योगिक न्यायालय औद्योगिक संघर्ष का फैसला करने का सर्वोच्च अधिकारी होता है। जब संघर्ष से सम्बन्धित दोनों पक्ष, सरकार से इस बात के लिये प्रार्थना करते हैं कि उनका झगड़ा निर्णय के लिये औद्योगिक न्यायालय को सौंप दिया जाये, तब सरकार उस झगड़े को औद्योगिक न्यायालय के सुपुर्द कर देती है। यदि सरकार स्वयं ही किसी झगड़े को औद्योगिक न्यायालय में भेजना अधिक उपयुक्त समझती है, तब भी वह उस झगड़े को औद्योगिक न्यायालय को सौंप सकती है। इस न्यायालय का निर्णय झगड़े से सम्बन्धित दोनों पक्षों को माननीय

होता है।

सन् १९५० में भारत सरकार ने औद्योगिक संघर्ष (श्रम अपील न्यायालय) अधिनियम [Industrial Disputes (Labour Appelate Tribunal) Act] पास किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत अपीलय अदालत (Appelate Tribunal) की स्थापना की व्यवस्था की गई है। अपीलीय अदालत औद्योगिक अदालतों (Industrial Tribunals) तथा मजदूरी बोर्डों (Wage Boards) के फैसलों पर अपीलें सुनती है। इसके अतिरिक्त इस अदालत को मजदूरी, बोनस, ग्रेच्यूटी भुगतान तथा छटनी आदि के विषयों में भी अपील सुनने का अधिकार है।

औद्योगिक संघर्ष (संशोधन एवं मिश्रित प्रावधान) अधिनियम, १९५६ [Industrial Disputes (Amendment and Miscellaneous Provisions) Act, 1956] —इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—(i) इस एक्ट में ५०० रु० प्रति माह तक पाने वाले समस्त व्यक्ति 'श्रमिक' माने गए हैं। तकनीकी (Technical) कर्मचारी और प्रबन्धकर्ता (Supervisors) भी इस परिभाषा के अनुसार 'श्रमिक' ही माने गए हैं। (ii) कोई भी मिल-मालिक श्रमिकों को २१ दिन की पूर्वसूचना दिए बिना, कुछ निर्दिष्ट विषयों, जैसे—मजदूरी पूर्वोपायनिधि (Provident Fund) में अंशदान (Contribution), काम के घन्टे आदि, में परिवर्तन नहीं कर सकेगा। (iii) इस एक्ट के अन्तर्गत औद्योगिक संघर्ष (पुनर्विचार न्यायालय) अधिनियम १९५० [Industrialdisputes (Appelate Tribunal) Act 1950] के आधीन स्थापित अपीलीय अदालत को समाप्त करके तीन अन्य प्रकार की अदालतों की स्थापना की व्यवस्था की गई है—(अ) श्रम न्यायालय (Labour Tribunals)—इन न्यायालयों को श्रमिकों को हटाने से सम्बन्धित उद्योगपतियों की आज्ञाओं के औचित्य व अनौचित्य के बारे में निर्णय देने तथा हड़तालों की वैधानिकता पर फैसला देने का अधिकार है। (आ) राष्ट्रीय न्यायालय (National Tribunals)—राष्ट्रीय अदालतों के कार्य-क्षेत्र में राष्ट्रीय महत्व के प्रश्न अथवा एक से अधिक राज्यों से सम्बन्धित प्रश्न आते है। (इ) औद्योगिक न्यायालय (Industrial Tribunals) —इन न्यायालयों का मजदूरी, काम के घण्ट, बोनस, छटनी व अभिनवीकरण (Rationalization) से सम्बन्धित प्रश्नों पर निर्णय देने का अधिकार है। (iv) औद्योगिक संघर्ष से सम्बन्धित दोनों पक्ष एक लिखित संविदा (Written Agreement) के द्वारा स्वेच्छापूर्वक अपना झगड़ा मध्यस्थता के लिए सौंप सकते है। इस प्रकार समझौते के क्रम से बाहर किया गया संविदा भी दोनों पक्षों पर लागू होगा।

• औद्योगिक अनुशासन संहिता (Code of Industrial Discipline)—सन् १९५७ में भारतीय श्रम सम्मेलन की स्थाई समिति (Standing committee of Indian Labour Conference) ने एक औद्योगिक अनुशासन संहिता तैयार की। इस संहिता को सन् १९५८ से लागू किया गया है। इस संहिता में उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों के भाग लेने के सिद्धान्त का स्वीकार किया गया है तथा सामूहिक विचार-

विमर्श एवं समझौते की नीति के प्रचार से, औद्योगिक संघर्षों के निबटाने पर बल डाला गया है।

उपसंहार :– औद्योगीकरण की गति को तीव्रतर करने के उद्देश्य से तीसरी योजना मे योजना आयोग (Planning Commission) ने औद्योगिक सम्बन्धों को शान्तिपूर्ण बनाए रखने के लिए, इन शब्दो मे सुझाव प्रस्तुत किये हैं, "सभी मालिकों और श्रमिको को अनुशासन सहिता के अन्तर्गत अपने उत्तरदायित्वो को पूरी तरह समझना चाहिए। औद्योगिक सम्बन्धो के दिन-प्रतिदिन के संचालन मे, इस संहिता को एक जीवित शक्ति बनाना है। स्वयसेवी पंच निर्णय के सिद्धान्त को अधिक से अधिक लागू करने के मार्गों की खोज आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि कारखानो मे कार्य समितियो को सशक्त बनाया जाए जिससे वे श्रम सम्बन्धी विषयों के जनतान्त्रिक प्रशासन का सक्रिय अभिकरण बन जाएं। संयुक्त प्रबन्ध परिषद योजना को धीरे-धीरे नए उद्योगो और औद्योगिक इकाइयो पर लागू करने की आवश्यकता है जिससे कि वे औद्योगिक व्यवस्था का एक सामान्य अङ्ग बन जाएं।"

—:o.—

२०

श्रम-कल्याण और सामाजिक सुरक्षा

(Labour Welfare and Social Security)

श्रम-कल्याण का अर्थ—श्रम-कल्याण कार्यों का अर्थ श्रम के सुख, स्वास्थ्य एवं समृद्धि के लिये उपलब्ध की जाने वाली दशाओं से लगाया जाता है। श्री एम० एम० जोशी (M M Joshi) के शब्दों में, "श्रम-कल्याण के अन्तर्गत श्रमिकों के लाभ के लिये उद्योगपतियों द्वारा किये गये प्रयत्नों तथा फैक्ट्री एक्ट के अन्तर्गत काम करने की न्यूनतम दशाओं के आदर्श तथा दुर्घटना, वृद्धावस्था, बीमारी और बेकारी के लिये पास किये गये सामाजिक विधान को सम्मिलित किया जाता है।"[1] श्रम-कल्याण की एक व्यापक, विस्तृत एवं सर्वमान्य परिभाषा श्री एच० एस० किर्काल्डी (H S Kiarkaldy) ने इन शब्दों में दी है—"श्रम-कल्याण का सम्पूर्ण क्षेत्र ऐसा है जिसमें औद्योगिक श्रमिक में नैराश्य की भावना को दूर करने के लिये, उसे वैयक्तिक और पारिवारिक चिन्ताओं से विमुक्त करने के लिये, उसके स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिये, उसे आत्माभिव्यक्ति का साधन प्रदान करने के लिये, उसे दूसरों की अपेक्षा आगे बढ़ने का क्षेत्र प्रदान करने के लिये तथा उसे जीवन की विस्तृत धारणा में सहायता प्रदान करने के लिये बहुत कुछ किया जा सकता है।"[2] अतः श्रम-कल्याण के सम्बन्ध मे तीन सामान्य निष्कर्ष निकलते हैं—(1) श्रम-कल्याण कार्य उद्योगपतियो द्वारा अपने औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने तथा अपनी विद्यमान औद्योगिक व्यवस्था को समुन्नत करने की दृष्टि से कुछ सुविधाओं के रूप मे किये

---

1. "The welfare work covers all the efforts which the employers make for the benefit of their employees over and above the minimum standards of working conditions fixed by the factory act and over and above the provisions of the social legislations providing against accident, old ages, unemployment and sickness" —M M. Joshi, Trade Union Movement in India, P 26.

2 "The whole field of welfare is one in which much can be done to combat the sense of frustration of the industrial worker, to relieve him of personal and family worries, to improve his health, to afford him a means of self-expression, to offer him some sphere in which he can excell all others, to help him to a wider conception of life."

—H. S Kiarkaldy, The Spirit of Industrial Relations, P, 77—78.

जाते हैं। (ii) *इस प्रकार की सुविधायें प्रदान करने का उद्देश्य श्रमिकों के शारीरिक,* नैतिक, मानसिक, बौद्धिक एवं सामाजिक जीवन को स्वस्थ रूप में विकसित एवं समुन्नत करना होता है तथा (iii) श्रम-कल्याण कार्य केवल उद्योगपतियों तक ही सीमित नहीं होते वरन् ये राष्ट्रीय हित में सरकार एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं द्वारा भी किये जा सकते हैं।

श्रम-कल्याण कार्यों की आवश्यकता एवं महत्व (Need and Importance of Labour Welfare Works)— किसी देश में तीव्र औद्योगिक विकास के लिये, श्रम-कल्याण का अपना विशेष महत्व है। वस्तुतः औद्योगिक विकास के लिये कुशल एवं कार्यक्षम्य श्रम शक्ति अपेक्षित है और श्रम शक्ति को स्वस्थ, कुशल एवं कार्यक्षम्य बनाने के लिये *श्रम-कल्याण कार्यों की अपूर्व आवश्यकता है। सारांशत श्रम-कल्याण कार्य, श्रम-शक्ति को सशक्त बनाकर, औद्योगिक उत्पादन में आशातीत वृद्धि लाने का अनुपम साधन* (Means) *है। संक्षेप में, श्रम-कल्याण कार्यों की आवश्यकता* एवं महत्व इस प्रकार हैं—(i) श्रम-कल्याण कार्य औद्योगिक क्षेत्र में स्थाई श्रम-शक्ति का निर्माण करने का अपूर्व अस्त्र है। वास्तव में औद्योगिक क्षेत्रों में स्थाई श्रम-शक्ति का उस समय तक निर्माण असम्भव है, जब तक कि श्रमिकों को इन क्षेत्रों में आकर्षित करने के लिये विशेष सुविधायें उपलब्ध नहीं की जातीं। बम्बई सूती वस्त्र श्रम जाँच समिति (Bombay Textile Labour Enquiry Committee) के मतानुसार, "यह एक सैद्धान्तिक तथ्य है कि प्रत्येक कार्य में कार्यक्षमता का उच्च-स्तर पाने की केवल उन्हीं व्यक्तियों से आशा की जा सकती है जो शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं मानसिक रूप से ,सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हों अर्थात् केवल उन्हीं व्यक्तियों से जिन्हें उचित प्रशिक्षण मिला हो, जो उचित मकानों में रहते हों, उचित रूप से खाते हों और उचित रूप से वस्त्र पहिनते हों।" * (ii) श्रम-कल्याण कार्य श्रमिकों की चेतना (Sentiment) को प्रभावित करके, औद्योगिक शान्ति स्थापित करने में सहायक होते हैं। इन कार्यों से श्रमिकों के मन में मालिकों के प्रति सहयोग एवं उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है। इस स्थिति में वे अधिक परिश्रम से कार्य करते हैं जिससे अन्ततः उत्पादकों को अधिक लाभ प्राप्त होता है। (iii) श्रम-कल्याण कार्य श्रमिकों की प्रवासी (Migratory), हेर-फेर (Turnover) एवं अनुपस्थितता (Absenteeism) की प्रवृत्ति को न्यूनातिन्यून करके, उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि लाने में प्रत्यक्ष रूप से सहायक होते हैं। बम्बई सूती वस्त्र श्रम-जाँच समिति (Bombay Textile Labour Enquiry Committee) के अनुसार, *"जो कुछ भी श्रमिकों के काम करने एवं जीवन की दशाओं को उन्नत करता है, जो कुछ भी श्रमिकों*

* "It is axiomatic that in all pursuits a high standard of efficiency *can be expected only from the persons who are physically fit and free from* mental worries, that is, only from persons who are properly trained properly housed, properly fed and properly clothed."

—Report of the Bombay Textile Enquiry Committee, P. 269

द्वारा किये गये कार्य, (आ) उद्योगपतियो द्वारा किये गये कार्य तथा (इ) श्रम-सघों द्वारा किये गये कार्य ।

(अ) केन्द्र एव राज्य सरकारों द्वारा किए गए श्रम-कल्याण कार्य —सर्वप्रथम सन् १६३४ के फैक्ट्री एक्ट के द्वारा भारत सरकार ने श्रम कल्याण की व्यवस्था की । सन् १६४८ के फैक्ट्री के एक्ट के अन्तर्गत उद्योगपतियो को अपने कारखानो मे श्रमिको के लिये कैन्टीन, शिशु-गृह, आराम-गृह, नहाने धोने और स्वच्छ जल पीने की सुविधाए तथा उनके लिये प्रारम्भिक सहायता (First Aid) के सामान आदि की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया । इस अधिनियम के अन्तर्गत ५०० अथवा अधिक श्रमिको के कारखानो मे, श्रम-कल्याण अधिकारियो (Labour Welfare Officers) की नियुक्ति की गई । सन् १६४४ मे भारत सरकार ने कोयला-खान श्रम-कल्याण कोष (Coal Mines Labour Welfare Fund) का निर्माण किया । इस समय इस कोष की सहायता से २ केन्द्रीय अस्पताल, ६ प्रादेशिक अस्पताल और शिशु कल्याण केन्द्र, २ दवाखाने और २ टी० बी० के क्लिनिक (Clinic) चल रहे हैं । सन् १६६०-६१ तक इस कोष की कुल आय १ ८१ करोड रु० और कुल व्यय १·६० करोड रुपये हुआ है । सन् १६४६ मे अभ्रक की खानो के श्रमिको के लाभार्थ अभ्रक-खान श्रम-कल्याण कोष (Mica Mines Labour Welfare Fund) का निर्माण किया गया । इस समय कोष की ओर से करमा (बिहार), कालीछेदु (आन्ध्र प्रदेश) तथा तिसरी (बिहार) मे तीन प्रादेशिक अस्पताल चलाये जा रहे हैं । सन् १६६०-६१ म इस कोष से आन्ध्र प्रदेश, बिहार और राजस्थान सरकारो को अभ्रक की खानो के श्रमिकों के कल्याण-कार्यों पर व्यय करने के लिये क्रमश ४ लाख रु०, १२ २ लाख रु० और ८ ५ लाख रु० दिये गये । बागान श्रम अधिनियम, १६५१ (Plantation Labour Act, 1951) के अन्तर्गत बागान के मालिको का अपने श्रमिको के लिये मकान, अस्पताल, शिक्षा व मनोरजन की सुविधायें उपलब्ध करनी अनिवार्य कर दी गई हैं । केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त राज्य सरकारो मे उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल और महाराष्ट्र की सरकारो ने महत्वपूर्ण श्रम-कल्याण कार्यों की व्यवस्था की है । महाराष्ट्र सरकार ने सन् १६५३ मे श्रम-कल्याण कोष अधिनियम (Labour Welfare Fund Act) पास करके, एक कल्याण कोष की स्थापना की है । उत्तर-प्रदेश सरकार ने भी सन् १६५६ मे श्रम-कल्याण कोष अधिनियम पास करके एक श्रम-कल्याण कोष की व्यवस्था की है । पश्चिमी बगाल मे इस समय ३० श्रम-कल्याण केन्द्र हैं । इन केन्द्रो पर प्रचार, पुस्तकालय, रेडियो, खेल, चिकित्सालय, शिशु गृह, नाटक व फिल्मो के प्रदर्शन आदि की सुविधायें उपलब्ध की गई हैं । इसके अतिरिक्त अन्य राज्यो मे भी श्रम-कल्याण कार्यों के लिये आवश्यक दम उठाए गये हैं केन्द्र एव राज्य सरकारो द्वारा श्रम-कल्याण कार्यक्रम पर प्रथम और दूसरी योजनावधि म क्रमश ७ करोड रु० और १६ ८१ करोड रु० व्यय किये गये । तीसरी योजना मे इस कार्यक्रम पर केन्द्र एवं राज्यो द्वारा ७१ ०८ करोड रु० व्यय किए जायेंगे ।

(आ) उद्योगपतियों द्वारा किये गये श्रम-कल्याण कार्य—हमारे देश मे मिल-

मालिकों द्वारा श्रम-कल्याण कार्य किये जाने की प्रगति अत्यन्त धीमी रही है। वस्तुतः अभी तक अधिकांश उद्योगपति इन कार्यों में किये जाने वाले व्यय को एक उचित विनियोग समझने की अपेक्षा व्यर्थ का उत्तरदायित्व समझते रहे हैं। फिर भी विभिन्न उद्योगों में श्रम-कल्याण के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये गये हैं-(i) सूती वस्त्र उद्योग-श्रम-कल्याण कार्य की दृष्टि से नागपुर के ऐम्प्रेस मिल्स, देहली क्लाथ एण्ड जनरल मिल्स, बिरला काटन मिल्स (देहली), जयाजी राव काटन मिल्स (ग्वालियर), बकिंघम एवं कर्नाटक मिल्स (मद्रास), बंगलोर वूलन काटन एण्ड सिल्क मिल्स तथा मदुरा मिल्स कम्पनी ने प्रशंसनीय कार्य किये हैं। इन मिलों में विश्रामालयों, शिशु-गृहों एवं कैन्टीनों की समुचित व्यवस्था है। (ii) जूट उद्योग— भारतीय जूट मिल्स संघ (Indian Jute Mills Association) ने हजारी बाग, कनकीनाडा, सीरामपुर, टीटागढ़ एवं भद्रेश्वर नामक स्थानों पर ५ श्रम-कल्याण केन्द्र खोले हैं। इस समय देश की ६७ जूट मिलों में चिकित्सालयों, १३ मिलों में मातृत्व गृहों, ६५ मिलों में कैन्टीनों, ५३ मिलों में शिशु-गृहों, ३२ मिलों में स्कूलों और २२ मिलों में मनोरंजन की सुविधाओं की व्यवस्था है। (iii) ऊनी वस्त्र उद्योग—इस उद्योग की दी न्यू ऐगर्टन वूलन मिल्स (धारीवाल), कानपुर वूलन मिल्स, रेयमन्ड वूलन मिल्स और महालक्ष्मी वूलन मिल्स (बम्बई) में कुशल डाक्टरों के निरीक्षण में सुसज्जित चिकित्सालयों, मातृत्व गृहों एवं शिशु-गृहों की सुविधायें उपलब्ध हैं। (iv) इन्जीनियरिंग उद्योग—प्रायः १ हजार अथवा इससे अधिक श्रमिक वाले सभी कारखानों में चिकित्सालयों, शिक्षण संस्थाओं और कैन्टीनों की व्यवस्था है। श्रम-कल्याण कार्यों की दृष्टि से जमशेदपुर की टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी ने महत्वपूर्ण कदम उठाया है। (v) चीनी उद्योग—अधिकांश चीनी मिलों में चिकित्सालयों, कैन्टीनों पाठशालाओं एवं मनोरंजन की सुविधायें उपलब्ध हैं। (vi) बागानों में—असम और पश्चिमी बंगाल के लगभग सभी चाय बागानों में अस्पतालों, कैन्टीनों एवं प्राथमिक स्कूलों की व्यवस्था है। अधिकांश बागानों में मातृत्व एवं चिकित्सा की सुविधायें उपलब्ध हैं। (vii) खानों में—कोयले की खानों में कोयला खान श्रम-कल्याण कोष से ४ प्रादेशिक अस्पताल तथा धनबाद में एक केन्द्रीय अस्पताल चलाया जा रहा है। कोलार की सोना खान-क्षेत्र में श्रमिकों के लिये ४६ स्कूल तथा १३ मनोरंजन क्लब चल रहे हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिकों को निवास व चिकित्सा सम्बन्धी अनेक सुविधायें भी प्रदान की जाती हैं।

(ड) श्रम-संगठनों द्वारा किए गए श्रम-कल्याण कार्यः—हमारे देश में श्रम-संघों द्वारा किए गये श्रम-कल्याण कार्यों की संख्या नगण्य है। वस्तुतः अपनी सीमित वित्तीय स्थिति के कारण, श्रमिक संघ अपने सदस्यों के लिये कल्याण सुविधायें उपलब्ध करने में असमर्थ हैं। फिर भी, इस सम्बन्ध में अहमदाबाद के वस्त्र उद्योग श्रम-संघ (Textile Labour Association) के कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। यह संघ अपनी ६०% से ७०% तक आय श्रम-कल्याण कार्यों पर व्यय करता है। इस संघ द्वारा २५ सांस्कृतिक एवं सामाजिक केन्द्र, १ मातृत्व-गृह तथा ३ प्राथमिक स्कूल चलाए जा रहे

हैं। उत्तर प्रदेश में भारतीय श्रम संघ (Federation of Indian Labour) ने विभिन्न प्रकार के श्रम कल्याण कार्यों के लिये ४८ कल्याण-केन्द्र स्थापित किये हैं। इसके अतिरिक्त अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress) की असम शाखा ने एक सामाजिक कल्याण संस्था (Social Welfare Institute) तथा इन्दौर की मिल मजदूर यूनियन ने एक श्रम कल्याण केन्द्र का आयोजन किया है।

भारत में श्रम कल्याण कार्यों की असफलता के कारण (Causes of the Failure of Labour Welfare Activities in India)—भारत में श्रम-कल्याण कार्यों की असन्तोषजनक प्रगति के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(i) भारतीय मिल मालिकों अथवा सरकारों द्वारा संगठित किए गए कल्याण कार्यों में नियोजन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है। इसीलिये अनेक बार श्रम-कल्याण कार्य केवल श्रम-संघों के विकास को रोकने अथवा श्रमिकों के विद्रोह को शांत करने की दृष्टि से किए गये हैं। (ii) भारतीय उद्योगपति श्रम-कल्याण कार्यों के दायित्व को अपने ऊपर एक विशेष प्रकार का भार समझते हैं। (iii) श्रमिक वर्ग भी अपने आत्मसम्मान की भावना से प्रेरित होकर, मालिकों की इस दान-प्रवृत्ति को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। (iv) हमारे देश में श्रम-कल्याण कार्यों को वैज्ञानिक ढंग पर संगठित करने के लिये प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं का अभाव है तथा (v) देश में श्रम-कल्याण सम्बन्धी अधिनियम भी अनियोजित एवं अवैज्ञानिक ढंग से पास हुए हैं। यही नहीं, सरकार द्वारा श्रम कल्याण कार्यों की देख-भाल के लिये नियुक्त अधिकारी भी अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक नहीं हैं।

भारत में श्रम कल्याण कार्यों की सफलता के लिये सुझाव (Suggestions for the Success of Labour Welfare Works in India)—देश में श्रम-कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम को सफलता पूर्वक आगे बढ़ाने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं—(i) फैक्ट्री अधिनियम, १९४८ (Factory Act of 1948) में उल्लिखित श्रम-कल्याण सम्बन्धी धाराओं का उद्योगपतियों द्वारा पूरा-पूरा पालन किया जाना चाहिये। (ii) विभिन्न प्रकार के उद्योगों में विभिन्न श्रेणी के कल्याण कार्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। बागान में श्रमिकों के लिये निवास-व्यवस्था, खानों के श्रमिकों को मकान, शिक्षा एवं दवा की सुविधा तथा जिन उद्योगों में स्त्रियां कार्य करती हैं, उनमें मातृत्व एवं शिशु-गृहों की व्यवस्था को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। (iii) कल्याण कार्यक्रम में तीव्र गति से प्रगति लाने के लिये, श्रमिकों को कल्याण समितियों (Welfare Committees) में अधिकाधिक भाग लेने का अवसर देना चाहिये। (iv) श्रम कल्याण अधिकारियों (Labour Welfare Officers) को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति अधिक जागरूक रहने की आवश्यकता है। इनको श्रमिकों के कल्याण में वास्तविक रुचि एवं उत्साह दिखाना चाहिये। (v) कोयला एवं अभ्रक खानों के श्रम-कल्याण कोषों में अधिकाधिक वित्त जुटाने की आवश्यकता है।

खतरे उन पर कभी भी आक्रमण कर सकते हैं।"* सामान्य रूप से सामाजिक सुरक्षा की योजना में इन आपत्तियों को सम्मिलित किया जाता है—(i) बीमारी के समय चिकित्सा का प्रबन्ध, (ii) काम करने की अवधि मे चोट लग जाने की स्थिति में चिकित्सा का प्रबन्ध एवं द्रव्य लाभ (Cash Benefits), (iii) बीमारी के समय द्रव्य लाभ, (iv) बच्चा पैदा होने से पूर्व तक बच्चा पैदा होने के पश्चात् चिकित्सा एवं द्रव्य लाभ, (v) अपगता के समय पेंशन, (vi) वृद्धावस्था पेन्शन, (vii) दाह-संस्कार का व्यय, (viii) उत्तरजीवियों (Survivors) की पेन्शन, (ix) बेकारी हितलाभ तथा (x) परिवार के प्रत्येक बच्चे के लिये द्रव्य हितलाभ जिससे कि बच्चों का उचित ढंग से लालन-पालन किया जा सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक सुरक्षा एक विस्तृत एवं समग्र दृष्टिकोण है जो चोट या बीमारी को रोकने, आय का समान वितरण करने तथा प्रत्येक प्रकार की आवश्यकता से स्वतन्त्रता दिलाने मे सहायक होता है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम (Social Security Programme in India) :—हमारे देश मे सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम का प्रारम्भ सन् १९२३ के श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) पास होने के साथ हुआ। स्वतन्त्र भारत के संविधान मे, सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के आदर्शों को राज्य द्वारा क्रियान्वित किये जाने के उत्तरदायित्व का उल्लेख इन शब्दों मे किया गया है, "राज्य नागरिकों को सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान करने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करेगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय के द्वारा राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में सुधार होगा। विशेष रूप से राज्य की यह नीति होगी कि सभी नागरिकों को, स्त्रियों और पुरुषों को समान रूप से जीवन-निर्वाह के उचित साधन पाने का अधिकार होगा, कि समाज के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण का इस प्रकार वितरण होगा कि अधिक से अधिक सामान्य कल्याण सम्भव हो सके, कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार क्रियान्वित की जायेगी कि सामान्य-हित मे सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण न हो; कि राज्य अपनी आर्थिक क्षमता और विकास की सीमाओं के भीतर बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी, अपगता और वाछनीय अभाव की अन्य स्थितियों में प्रभावपूर्ण व्यवस्था करेगा।" वस्तुत देश मे सामाजिक सुरक्षा का विकास सन् १९४८ मे कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employees State Insurance Act) पास होने के साथ हुआ। इसके अतिरिक्त सन् १९४८ मे कोयले की खानों का प्राविडेन्ट फण्ड और बोनस योजना अधिनियम (Coal Mines Provident Fund and Bonus Schemes Act) तथा सन् १९५२ मे कर्मचारी प्राविडेन्ट फण्ड एक्ट

---

* "Social Security is the security that society furnishes through appropriate organisation against certain risks to which its members are exposed" —I.L.O.

(Employees Provident Fund Act) पास हुए। सन् १९५४ के औद्योगिक संघर्ष (संशोधन) अधिनियम [Industrial Disputes (Amendment) Act] को भी सामाजिक सुरक्षा की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम माना जा सकता है। इन अधिनियमों का संक्षिप्त विवरण एव प्रगति का उल्लेख निम्नलिखित है—

(अ) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act)–यह अधिनियम सर्वप्रथम सन् १९२३ मे पास हुआ। तब से इस अधिनियम मे अनेक बार संशोधन किये गये हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत औद्योगिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होने वाली दुर्घटनाओं के फलस्वरूप श्रमिकों को उनकी स्थाई अथवा अस्थाई अपगता की स्थिति मे अथवा उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके पराश्रितो को क्षतिपूर्ति के रूप मे, आवश्यक सहायता प्रदान की जाती है। यह अधिनियम उन सभी श्रमिको पर लागू होता है जिनका रोजगार आकस्मिक नहीं है और जिनका मासिक पारिश्रमिक ४०० रु० से अधिक नहीं है। श्रमिको को मिलने वाली क्षतिपूर्ति की रकम, श्रमिक की औसत मासिक मजदूरी तथा औद्योगिक दुर्घटना के फलस्वरुप उत्पन्न चोट की प्रकृति के अनुसार निर्धारित होती है। दुर्घटना के फलस्वरुप श्रमिको की मृत्यु हो जाने पर उनके आश्रितों को ५०० रु० से लेकर ४,५०० रु० तक क्षतिपूर्ति मिलती है। ५०० रु० की क्षतिपूर्ति १० रु० मासिक से कम पाने वाले श्रमिकों के लिये और ४,५०० रु० की क्षतिपूर्ति ३०० रु० मासिक से अधिक पाने वाले श्रमिकों के लिये है। औद्योगिक दुर्घटना के फलस्वरूप उत्पन्न स्थाई पूर्ण अपगता की स्थिति मे क्षतिपूर्ति की दर ७०० रु० से लेकर ६,३०० रु० तक है तथा अस्थाई अपगता की स्थिति मे क्षतिपूर्ति की अधिकतम दर ३० रु० है। श्रमिको की मृत्यु हो जाने पर उनकी क्षतिपूर्ति की रकम उनके पराश्रितो को दी जाती है। क्षतिपूर्ति करने का एकमात्र दायित्व उद्योगपतियो पर रक्खा गया है। सन् १९४८ मे कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employees State Insurance Act) पास होने से क्षतिपूर्ति अधिनियम पर बहुत प्रभाव पड़ा है। अब जिन स्थानो मे राज्य कर्मचारी बीमा अधिनियम को लागू किया गया है, उन क्षेत्रो से क्षतिपूर्ति अधिनियम को हटा दिया गया है।

(आ) मातृत्व हितलाभ अधिनियम (Maternity Benefit Acts)– हमारे देश मे मातृत्व हितलाभ सम्बन्धी कोई केन्द्रीय अधिनियम पास नहीं किया गया है। सन् १९२९ मे महाराष्ट्र सरकार ने सर्वप्रथम मातृत्व हितलाभ अधिनियम पास किया। तदपश्चात् सन् १९३० मे मध्यप्रदेश, सन् १९३४ मे मद्रास, सन् १९३८ मे उत्तर प्रदेश, सन् १९३९ मे बगाल, सन् १९४३ मे पजाब, सन् १९४४ म बिहार, सन् १९५२ मे केरल और सन् १९५३ मे उड़ीसा व राजस्थान राज्य सरकारों ने अपने राज्यो मे मातृत्व हितलाभ अधिनियम पास किये। केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४१ मे खानों मे काम करने वाली स्त्रियो के लिये मातृत्व हितलाभ का केन्द्रीय अधिनियम पास किया। इसके पश्चात् सन् १९४८ मे कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पास करके भी केन्द्रीय सरकार ने मातृत्व हितलाभ प्रदान करने की केन्द्रीय व्यवस्था की है। ये अधिनियम

कुछ राज्यो म सभी नियन्त्रित उद्योगो मे लागू होते हैं और कुछ राज्यो मे केवल गैर-मोसमी कारखानो मे ही लागू होते हैं। केन्द्रीय मातृत्व हितलाभ अधिनियम खानो में काम करने वाली स्त्रियो पर और आसाम व केरल के मातृत्व हितलाभ अधिनियम बागानो मे काम करने वाली स्त्रियो पर लागू होते हैं। हितलाभ मिलने की अवधि मध्यप्रदेश, केरल, असम और पश्चिमी बगाल मे १२ सप्ताह, आन्ध्रप्रदेश, मद्रास और उडीसा मे ७ सप्ताह, पजाब मे १२ सप्ताह तथा अन्य दूसरे राज्यो मे बच्चा होने के ४ सप्ताह पूर्व और ४ सप्ताह बाद तक रक्खी गई है। कर्मचारी राज्य बीमा नियम मे यह अवधि १२ सप्ताह है। प्राय सभी प्रदेशो मे इन अधिनियमो के अन्तर्गत नि शुल्क चिकित्सा सुविधाओ, शिशु-गृहो एव अतिरिक्त अवकाश के घन्टो की व्यवस्था की गई है। हितलाभ की रकम विभिन्न राज्यो म ८ आने प्रतिदिन से लेकर १२ आने प्रति दिन तक है। लगभग सभी प्रदेशों के अधिनियमो मे स्त्री श्रमिको को मातृत्व के समय काम से हटा दिए जाने के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की गई है। सभी राज्यो मे मातृत्व हित लाभ प्रदान करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मालिकों पर रक्खा गया है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम मे यह दायित्व सामाजिक बीमे के सिद्धातानुसार श्रमिक, मालिक और सरकार तीनो पक्षो मे बाँट दिया गया है।

(इ) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employees State Insurance Act) — यह अधिनियम केन्द्रीय सरकार द्वारा सन् १६४८ मे पास किया गया। यह अधिनियम जम्मू और काश्मीर को छोडकर समस्त भारत को उन सभी गैर-मौसमी फैक्ट्रियो पर लागू होता है जिनमे २० या इससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं और जिनम शक्ति का प्रयोग होता है। इसके अन्तर्गत वे सभी कर्मचारी आ जाते हैं जिनको सीधे तरीके भर्ती किया गया हो या ठेकेदार के द्वारा फैक्ट्री के किसी काम पर लगाया गया हो, परन्तु उनका मासिक पारिश्रमिक ४०० रु० से अधिक नही होना चाहिए। इस अधिनियम मे प्रस्तावित सुविधाओ मे बीमारी हितलाभ, प्रसूति हितलाभ, अपगता हितलाभ तथा पराश्रितो को हितलाभ एव दवा की सुविधा को सम्मिलित किया गया है। इन प्रस्तावित सुविधाओ को मुख्यत मालिकों व श्रमिको के चन्दो (Contributions) से प्रदान किया जाता है। राज्य सरकारों का दायित्व चिकित्सा व्यय को उठाना तथा चिकित्सा प्रदान करने की आवश्यक सुविधायें उपलब्ध करना है। श्रमिको के चन्दे की दर कुल मजदूरी का २ से २½ प्रतिशत तक रखी गई है। मालिकों का चन्दा कर्मचारियों के हिस्से का दुगना होता है। सन् १६६० के अन्त तक कर्मचारी राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत ११२ औद्योगिक केन्द्र आते थे और इसका लाभ १५ ७६८ लाख कर्मचारियो को प्राप्त था। सन् १६६१ के अन्तर्गत *इस योजना को ११ अन्य औद्योगिक केन्द्रो मे लागू किया गया। जनवरी सन् १६६२* के अन्त तक इस योजना मे १७ १६ लाख श्रमिक सम्मिलित किए जा चुके हैं। तीसरी योजनावधि मे ५०० या इससे अधिक औद्योगिक कर्मचारी वाले सभी केन्द्रों मे कर्मचारी राज्य बीमा योजना लागू की जाएगी। इसके फलस्वरूप कुल मिलाकर

लगभग ३० लाख श्रमिक इस योजना के अन्तर्गत आ जायेंगे।

(ई) कोयला खान प्रोविडेण्ट फण्ड और बोनस योजना अधिनियम, १९४८ (Coal Mines Provident Fund and Bonus Scheme Act, 1948) —यह अधिनियम असम, रीवा तालचर, कारिया, आन्ध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार तथा पश्चिमी बंगाल के कुछ क्षेत्रों में लागू होता है। यह अधिनियम उन श्रमिकों पर लागू नहीं होता जिनकी मौलिक मजदूरी (Basic Wages) ३०० रु० मासिक से अधिक है। इस फण्ड में मालिकों और श्रमिकों का चन्दा बराबर होता है। चन्दे की दर १० रुपये महावार से कम पाने वाले श्रमिकों से १० आने प्रतिमास तथा २४० रु० महावार से अधिक पाने वाले श्रमिकों से उनकी बेसिक मजदूरी का $\frac{1}{8}$ वा भाग रक्खा गया है। इस फण्ड की पूरी रकम श्रमक को नौकरी से स्थायी रूप से रिटायर होने पर मिलती है। कोयले उद्योग में ५० वर्ष की आयु होने पर अथवा स्थाई और पूर्ण अपंगता के कारण रिटायर होने पर भी श्रमिक को फण्ड की पूरी रकम मिल सकती है। यदि कोई श्रमिक ५० वर्ष की आयु पूरी होने से पूर्व ही विदेश में स्थाई रूप से जाकर बस जाता है अथवा किसी ऐसे उद्योग में चला जाता है जिसमें यह योजना नहीं चल रही है तब वहां १ वर्ष काम करने के बाद फण्ड की पूरी रकम ले सकता है। यदि श्रमिक को फण्ड का सदस्य हुए ३ वर्ष पूरे न हुए हों और वह फण्ड की रकम लेना चाहता है, तब उसे मालिक के भाग का ३/४ और उस पर ब्याज की रकम नहीं मिलेगी। यदि तीन वर्ष पूरे हो चुके हैं, परन्तु ५ वर्ष पूरे नहीं हुए हैं तब श्रमिक को मालिक के चन्दे का $\frac{1}{2}$ भाग और उस पर ब्याज की रकम नहीं मिलेगी। यदि ५ वर्ष पूरे हो चुके हों परन्तु १० वर्ष पूरे नहीं हुए हों तब श्रमिक को मालिक के चन्दे का $\frac{1}{4}$ भाग और उस पर ब्याज की रकम नहीं मिलेगी। यदि १० वर्ष पूरे हो गए हैं परन्तु १५ वर्ष पूरे नहीं हुए हैं, तब श्रमिक को मालिक के चन्दे का १५ प्रतिशत और उस पर ब्याज की रकम नहीं मिलेगी। १५ वर्ष पूरे हो जाने पर श्रमिक को मालिक के चन्दे का पूरा भाग और उस पर ब्याज की पूरी रकम मिलेगी। इस योजना का प्रशासन कोयला खान प्रोविडेन्ट फण्ड कमिश्नर के हाथ में। इसका केन्द्रीय दफ्तर धनबाद में है।

(उ) कर्मचारी प्रोविडेण्ट फण्ड अधिनियम, १९५२ (Emplopees Provident Fund Act of 1952) – प्रारम्भ में यह अधिनियम सीमेंट, सिगरेट, इंजिनियरिंग, आयरन और स्टील, कागज और वस्त्र उद्योगों में लागू किया गया था। परन्तु इस समय यह अधिनियम ५८ उद्योगों पर लागू है। यह अधिनियम उन कारखानों में लागू होता है जो ३ वर्ष से चालू हैं और जिनमें २० या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हैं। जो श्रमिक १ वर्ष तक लगातार काम कर चुकते हैं और जिनकी मासिक मजदूरी ५०० रुपये से अधिक नहीं है, वे सब इस योजना के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते हैं। इस फण्ड में कर्मचारियों से उनकी बेसिक मजदूरी और महगाई भत्ता का ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत चन्दे के रूप में लिया जाता है। मालिकों को भी इतनी ही

रकम चन्दे के रूप मे देनी होती है। नवम्बर सन् १६६० के अन्त मे ८ हजार औद्योगिक सस्थानो मे प्रोविडन्ट फण्ड थे जिनमे २८ लाख व्यक्ति चन्दा देने वाले थे। फण्डो मे कुल जमा की रकम २५० ३५ करोड रुपये थी। इस फण्ड की पूरी रकम श्रमिकों को ५५ वर्ष की आयु के बाद रिटायरमेंट की स्थिति मे मिलती है। स्थाई या अस्थाई असमर्थता अथवा शारीरिक एव मानसिक असमर्थता के कारण रिटायर होने पर भी श्रमिक को फण्ड की पूरी रकम मिलती है। यदि कोई सदस्य श्रमिक विदेश मे स्थाई रूप से बस जाता है अथवा एक उद्योग को छोडकर किसी दूसरे ऐसे उद्योग मे चला जाता है जहाँ इस प्रकार की योजना लागू नही है, तब उस उद्योग मे १ वर्ष नौकरी करने के बाद श्रमिक फण्ड की पूरी रकम लेने का अधिकारी हो जाता है। यदि श्रमिक ५ वर्ष नौकरी करने के पश्चात फण्ड की रकम लेना चाहता है, तब उसे मालिक के चन्दे का ½ और उस पर ब्याज की रकम नही मिलेगी। १० वर्ष नौकरी करने के बाद श्रमिक मालिक के चन्दे के ६० प्रतिशत भाग का अधिकारी हो सकेगा, १५ वर्ष नौकरी करने के बाद श्रमिक मालिक के ७५ प्रतिशत चन्दे का तथा २० वर्ष नौकरी करने के बाद मालिक के १०० प्रतिशत चन्दे का अधिकारी हो सकेगा। कर्मचारी की मृत्यु हो जाने पर फण्ड की समस्त रकम उसके द्वारा प्रस्तावित व्यक्ति अथवा उसके कानूनी हकदार को मिल सकेगी। ३१ मई १६६१ से इस अधिनियम का स्टार्च उद्योग मे, ३० जून १६६१ से हाटल रेस्ट्रां, पैट्रोलियम अथवा प्राकृतिक गैसों के सस्थानों मे तथा ३१ अगस्त १६६१ से इस अधिनियम को चमडा तथा चमड़े के बने माल वाले सस्थानो मे लागू कर दिया गया है। तीसरी पचवर्षीय योजना मे कर्मचारी प्रोविडेन्ट फण्ड योजना का और अधिक विस्तार किया जायगा।

तीसरी पंचवर्षीय योजना तथा श्रम कल्याण व सुरक्षा.— विगत १० वर्षों मे पहली व दूसरी योजना के अनिवार्य अग के रूप मे समाज कल्याण कार्यक्रमों का जो विकास हुआ है उसका महत्व पहले से आरम्भ हुई सेवाओ अथवा अब तक प्रयुक्त सभी साधनो की अपेक्षा कही अधिक है। इन कार्यक्रमो मे जनता के पीडित वर्गों के सम्बन्ध मे समाज की चिन्ता सूचित होती है और इन कार्यों मे राष्ट्रीय विकास के एक महत्वपूर्ण अ ग पर बल दिया जाता है। सृजनात्मक सामाजिक सेवा के क्षेत्र मे स्वयसेवी कार्यकर्त्ताओ, विशेषकर स्त्रियो को लाने से स्वय समाज ही उन्नत एव बलशाली बनता है। वस्तुत कल्याण सेवाओ के विकास मे अब एक ऐसा सोपान आ गया है जब उपलब्ध साधनो का पूर्वापेक्षाकृत अच्छा उपयोग किया जा सकता है तथा सेवाओ को भी अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। अत यह आवश्यक है कि केन्द्रीय एव प्रादेशिक स्तरो पर काम करने वाली विभिन्न सरकारी सस्थायें परस्पर अधिक सहयोग से कार्य करें। प्रथम और द्वितीय योजनाओ मे श्रम-कल्याण कार्यक्रम पर क्रमश ७ करोड रु० और १६ ८१ करोड रु० व्यय किये गये थे। तीसरी योजना के अन्तर्गत इस कार्यक्रम पर ७१·०८ करोड़ रु० व्यय करने का प्रावधान रक्खा गया है। तीसरी योजना की अवधि में श्रम-शिक्षा को

व्यापक स्तर पर फैलाने की व्यवस्था की गई है। इस कार्यक्रम को विविध बनाने और इसे चलाने मे श्रमिको के प्रतिनिधियो का पूरा सहयोग प्राप्त करने का आयोजन है। अब तक केवल सगठित उद्योगो के श्रमिको को ही सामाजिक सुरक्षा के दृष्टिकोण से लाभ पहुँचा है। तीसरी योजना मे विशेष रूप से विकलाग व्यक्ति, काम के अयोग्य वृद्ध व्यक्ति, जिनकी आय का कोई उपयुक्त साधन नही है, को सुरक्षा-साधन जुटाने पर अधिक बल दिया गया है। इस योजना में स्वयसेवी और धर्मार्थ सस्थाओ, नगरपालिकाओ, पचायतो और पचायत समितियो को स्थानीय समुदायो की सहायता से अपनी कार्यवाहियाँ चलाने योग्य बनाने और उन्हे सहायता देने के लिये एक सहायता कोष स्थापित करने का सुझाव रक्खा गया है। योजनावधि मे श्रमिको के काम करने की स्थिति सुरक्षा व कल्याण सम्बन्धी जो कानूनी व्यवस्थायें हैं, उनको और अच्छे ढग से कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक कदम उठाये जायेंगे। इस सम्बन्ध मे आयोजन का लक्ष्य काम करने की व्यवस्था और दक्षता सुधारने मे केन्द्रीय श्रम सस्थान और क्षेत्रीय श्रम सस्थानों को विशेष योग देना है। कारखानो मे दुर्घटनायें कम करने के लिये आवश्यक कदम के रूप मे एक स्थाई सलाहकार समिति की नियुक्ति की जायगी। योजनाकाल मे कोयला और अभ्रक श्रम-कल्याण कोषो की तरह मेगनीज और कच्चा लोहा खान उद्योगो के श्रमिको के लिये भी कल्याण कोषो की स्थापना की जायगी। सहकारी ऋण और उपभोक्ता समितियो के कार्यों तथा सहकारिता के सिद्धान्त पर आधारित अन्य कार्यवाहियो मे श्रम-सघो एव स्वय-सेवी सस्थाओ को और अधिक रुचि लेने के लिये प्रोत्साहित किया जाएगा। श्रमिकों के आवास और मनोरन्जन पर और अधिक ध्यान दिया जायगा। कृषि और असगठित उद्योगो मे काम करने वाले श्रमिको की समस्याओ पर विशेष ध्यान दिया जायगा। श्रम-अनुसन्धान का समन्वय करने के लिये एक छोटी केन्द्रीय समिति की नियुक्ति की जायगी तथा सरकारी क्षेत्र के बाहर श्रम सम्बन्धी विषयो पर अनुसन्धान करने वाली सस्थाओ को अनेक प्रकार से सुविधायें प्रदान की जाएगी।

भारत मे श्रम–विधान

(Labour Legislation in India)

प्राक्कथन :—किसी देश मे औद्योगिक विकास की गति एव दिशा को निर्धारित करने में वहा के श्रम विधान का महत्वपूर्ण भाग होता है। व्यावहारिक रूप मे श्रम-विधान का सम्बन्ध श्रमिको व मालिको के पारस्परिक सम्बन्धो को नियमित करने तथा उद्योग के लाभो को वितरित करने से होता है। वस्तुत श्रम विधानो का मूलभाव उत्पादन के दो महत्वपूर्ण साधनो के बीच सुदृढ एव सौहार्दपूर्ण सम्बन्धो को विकसित करना है जिससे कि उपलब्ध साधनो का देश के अधिकतम कल्याण मे शोषण एव विनियोग किया जा सके। श्रम विधानो का महत्व उनके प्रभावोत्पादक ढग से लागू करने मे अन्तर्निहित है। श्री ए० जी० गिलो (A. G Glow) के

शब्दों मे "श्रमिक वर्ग के लिये प्रदान की गई सुरक्षा की मात्रा श्रम विधानों की सख्या पर निर्भर नहीं करती वरन् ऐसे विधानों के प्रभावपूर्ण ढग से लागू होने पर तथा उनके उचित प्रशासन पर निर्भर करती है।"

भारत मे श्रम विधान का सक्षिप्त इतिहास:—हमारे देश मे प्रथम महायुद्ध से पूर्व श्रम-विधान की स्थिति अस्त-व्यस्त एव अनियोजित थी। सन् १८५६ में श्रमिको का सविदा की शर्तों को भग करने का अधिनियम तथा सन् १८६० मे मालिक व श्रमिक (विवाद) अधिनियम पास हुये। सन् १८८१ और सन् १९०१ म कारखानो तथा खानो मे काम करने वाले श्रमिकों के काम के घण्टो को नियन्त्रित करने से सम्बन्धित अधिनियम पास हुये। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९२३ मे खान अधिनियम और श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम पास हुये। सन् १९२६ मे भारतीय श्रमिक सघ अधिनियम और सन् १९२९ मे ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट पास हुये। सन् १९ ६ मे मजदूरी भुगतान अधिनियम पास किया गया। सन् १९४२ मे भारत सरकार ने प्रथम त्रिदलीय श्रम-सम्मेलन आयोजित किया जिसमे प्रादेशिक सरकारो मालिको एव श्रमिकों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन मे एक स्थाई श्रम-सगठन बना जिसके तीन उद्देश्य रक्खे गये :— (i) श्रम विधान मे एकरूपता लाना, (ii) औद्योगिक सघर्षों को निवटाने की पद्धति निर्धारित करना तथा (iii) समस्त देश को प्रभावित करने वाले औद्योगिक हित के विषयो पर विचार-विमर्श करना। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद केन्द्रीय एवं प्रादेशिक सरकारो ने श्रमिकों की सुरक्षा एव कल्याण को ध्यान मे रखते हुये अनेक श्रम विधान पास किये हैं जिनमे से मुख्य-मुख्य अधिनियम इस प्रकार हैं —(i) फैक्ट्री अधिनियम १९४८, (ii) कोयला खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम, १९४७, (iii) अभ्रक खान श्रमिक कल्याण निधि एक्ट, १९४६, (iv) उत्तरप्रदेश चीनी एव शक्ति चालित मद्यसार उद्योग श्रम-कल्याण एव विकास निधि एक्ट, १९५०, (v) बम्बई श्रमिक कल्याण कोष एक्ट, १९५३, (vi) उत्तरप्रदेश श्रमिक कल्याण कोष एक्ट, १९५६, (vii) न्यूनतम मजदूरी एक्ट, १९४८, (viii) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १९४८, (ix) कोयला खान प्रोविडेन्ट फण्ड तथा बोनस योजना एक्ट, १९४८, (x) औद्योगिक विवाद (अपील अधिकरण) एक्ट, १९५०, (xi) बागान-श्रमिक एक्ट, १९५१, (xii) कर्मचारी प्रोविडेण्ट फण्ड ऐक्ट, १९५२, (xiii) भारतीय खान अधिनियम, १९५२, तथा (xiv) रोजगार दफ्तर अधिनियम १९५९ आदि।

(१) **फैक्ट्री अधिनियम १९४८**—इस एक्ट की उल्लेखनीय बातें इस प्रकार हैं —(i) क्षेत्र—यह अधिनियम उन समस्त कारखानो पर लागू होता है जहा १० या अधिक श्रमिक कार्य करते हैं तथा शक्ति (Electric Power) का प्रयाग होता है अथवा जिन कारखानों मे शक्ति का प्रयाग नहीं होता परन्तु २० या अधिक श्रमिक कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारो को यह अधिकार दे दिया गया है कि वे इस अधिनियम को श्रमिकों की सख्या व शक्ति के प्रयोग का बिना ध्यान किये ही

किसी भी कारखाने पर लागू कर सकती हैं। यह अधिनियम कुटीर उद्योगों पर लागू नही किया जा सकता। (ii) श्रम-कल्याण प्रावधान—इस अधिनियम मे श्रमिको के स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण के विषय मे व्यापक व्यवस्थायें की गई हैं। श्रमिकों के स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिये कारखाने में सफाई, गन्दगी को बाहर फेंकने, साफ हवा अन्दर आने, तापमान, धूल और दूषित गैस कारखानो से बाहर निकालने, अधिक भीड से बचाव, प्रकाश, पीने के पानी, पीकदान, शौचालय, मूत्रालय, प्राथमिक चिकित्सा आदि के विषय म विस्तृत व्यवस्था की गई है। अधिनियम मे प्रत्येक श्रमिक के लिये ५०० घन फीट स्थान निश्चित किया गया है। जिन कारखानो मे २५० से अधिक श्रमिक काम करते हो वहां ग्रीष्मकाल मे पानी को ठण्डा करने की व्यवस्था की गई है। ५०० से अधिक श्रमिको वाले कारखानो मे एम्बूलेन्स रखना अनिवार्य कर दिया गया है। श्रमिको की सुरक्षा की दृष्टि से मशीनो के चारो ओर तार लगाने, चलती हुई मशीनो की देखभाल करने तथा जहरीली गैसो से बचाव करने के लिये अधिनियम मे स्पष्ट उल्लेख किया गया है। श्रमिको के कल्याण सम्बन्धी प्रावधान म इन बातो का सम्मिलित किया गया है—(अ) उपयुक्त एव पर्याप्त धुलाई सुविधायें, (आ) २५० या अधिक श्रमिको वाले कारखानो मे कैन्टीन की व्यवस्था, (इ) ५० या अधिक स्त्री श्रमिको वाले कारखानो मे बाल-गृहो (Creaches) की व्यवस्था, (ई) १५० या अधिक श्रमिको वाले कारखानों मे विश्राम-गृह और जलपान-गृह की व्यवस्था तथा (उ) ५०० या अधिक श्रमिकों वाले कारखानो मे श्रम-कल्याण अधिकारियो (Laboure Welfare Officers) की नियुक्ति आदि। (iii) रोजगार—अधिनियम मे १४ वर्ष से कम आयु के बच्चो को कारखानो मे लगाने पर रोक लगा दी गई है। ७ बजे साय से लेकर प्रात. ६ बजे तक के समय मे स्त्री एव बाल-श्रमिको को काम पर लगाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। (iv) काम के घण्टे—एक्ट मे व्यस्को के लिये काम के घण्टे प्रति सप्ताह ४८ तथा प्रतिदिन ६ निश्चित किये गये हैं। श्रमिको को ५ घण्टे लगातार काम करने के बाद आध घण्टे का अवकाश देना आवश्यक कर दिया गया है। १८ वर्ष से कम आयु के श्रमिको के लिये काम के घण्टे ४½ प्रतिदिन नियत किये गये हैं। (v) मजदूरी सहित अवकाश—साप्ताहिक अवकाश के अतिरिक्त अधिनियम मे श्रमिको के अवकाश के नियम भी बना दिये गये हैं। व्यस्क श्रमिको को १ वर्ष तक निरन्तर काम करने के पश्चात् प्रति २० दिन काम करने पर १ दिन का सवैतनिक अवकाश और वर्ष मे कम से कम १० दिन का सवैतनिक अवकाश की व्यवस्था की गई है। १८ वर्ष से कम आयु वाले किशोर श्रमिको के लिये प्रति १५ दिन काम करने के बाद १ दिन का सवैतनिक अवकाश तथा वर्ष मे कम से कम १४ दिन के सवैतनिक अवकाश की व्यवस्था की गई है। एक्ट मे श्रमिको से अधिसमय (Overtime) काम लेने पर साधारण वेतन से दुगना देने का उल्लेख किया गया है। (vi) अन्य—(अ) अधिनियम मे प्रबन्धको के लिये मिल मे होने वाली प्रत्येक दुर्घटना तथा श्रमिक की बीमारी की सूचना मुख्य

फैक्ट्री निरीक्षक को देना अनिवार्य कर दिया गया है। (आ) नये कारखानों के निर्माण तथा पुराने कारखानों के विस्तार के लिये लाइसेंस प्राप्त करना तथा पंजीकरण कराना अनिवार्य कर दिया गया है और इनकी पूर्व स्वीकृति एवं अनुमति भी आवश्यक कर दी गई है। (इ) इस अधिनियम की धाराओं की अवज्ञा करने वाले प्रबंधकों को उचित दण्ड देने की व्यवस्था की गई है।

अधिनियम की समीक्षा—*श्री अलक घोष (Alak Ghose)* के अनुसार सन् १९४८ के फैक्ट्री एक्ट ने श्रमिकों के लिये स्वास्थ्य एवं सुरक्षा और श्रम कल्याण की सुविधायें बढ़ाकर भारतीय कारखानों से सम्बन्धित विधान के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है। यद्यपि इस एक्ट का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है, तथापि अब भी विस्तृत संख्या में कारखाने इस एक्ट के क्षेत्र से बाहर हैं। इन कारखानों में श्रमिकों का बुरी तरह से शोषण किया जाता है तथा उन्हें किसी भी प्रकार की सुविधायें नहीं दी जातीं। यही नहीं, जिन कारखानों में यह एक्ट लागू होना है उनमें भी अधिनियम की धाराओं का पूरा-पूरा पालन नहीं किया जाता और इस प्रकार श्रमिकों का शोषण किया जाता है। चूँकि फैक्ट्री एक्ट के अन्तर्गत नियुक्त फैक्ट्री इन्सपैक्टरों की व्यवस्था अपर्याप्त है और *दोषी मालिकों के लिये हल्की सजा दी जाती है*, इसलिये *मिल मालिक* इस एक्ट की अवहेलना करने से नहीं घबराते। अतः फैक्ट्रियों में काम करने वाले श्रमिकों के शोषण को दूर करने के लिये फैक्ट्री एक्ट के क्षेत्र को व्यापक बनाना तथा निरीक्षण की सुव्यवस्था करना नितान्त आवश्यक है।

(२) भारतीय खान अधिनियम १९५२ (Indian Mines Act of 1952)—इस अधिनियम की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) क्षेत्र—जम्मू और काश्मीर को छोड़कर यह अधिनियम देश की समस्त खानों पर लागू होता है। (ii) काम के घण्टे—एक्ट में खान के भीतर या बाहर काम करने वाले दोनों प्रकार के व्यस्क श्रमिकों के लिये काम के घण्टे प्रति सप्ताह ४८ नियत किये गये हैं। एक श्रमिक से खान के भीतर एक दिन में ८ घण्टे व खान के बाहर ९ घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। १५ वर्ष से १८ वर्ष तक की किशोरावस्था आयु के श्रमिकों से ४½ घंटे प्रतिदिन *से अधिक काम नहीं लिया जा सकता।* (iii) *रोजगार—अधिनियम के अन्तर्गत* १५ वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम पर लगाने से रोक लगा दी गई है। १५ वर्ष से १८ वर्ष की आयु के किशोर श्रमिकों से खान के भीतर काम करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। एक्ट के अन्तर्गत स्त्री श्रमिकों को भूमि के नीचे काम पर लगाने तथा ७ बजे सायं से ६ बजे प्रातः तक काम पर लगाने को अवैध घोषित कर दिया गया है। (iv) अधिसमय (Overtime) खान अधिनियम में भूमितल पर काम करने वाले श्रमिकों का अधिसमय के लिये साधारण मजदूरी से डेढ़ गुनी और भूमि के नीचे काम करने वाले श्रमिकों का साधारण मजदूरी में दुगनी मजदूरी देने का उल्लेख किया गया है। (v) अवकाश—इस अधिनियम में साप्ताहिक अवकाश के अतिरिक्त मासिक मजदूरी पर काम करने वालों को १ वर्ष तक निरन्तर काम

करने पर वर्ष मे १४ दिन का सवैतनिक अवकाश तथा साप्ताहिक मजदूरी पर काम करने वालों अथवा कार्यानुसार मजदूरी पाने वाले श्रमिको को १ वर्ष तक लगातार काम करने पर वर्ष मे ७ दिन का सवैतनिक अवकाश देने की व्यवस्था की गई है। (vi) स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं श्रम-कल्याण—इस अधिनियम मे श्रमिको के स्वास्थ्य, सुरक्षा एव कल्याण की व्यवस्था सन् १६४८ के फैक्ट्री एक्ट के अनुसार की गई है। खानो मे काम करने वाले श्रमिको के लिये ठण्डा पानी, शौचालय एव प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था की गई है। ५०० से अधिक श्रमिकों वाली खानों मे मालिको द्वारा एम्बूलेन्स गाडियो तथा स्ट्रेचरो का रखना अनिवार्य कर दिया गया है। खान के अन्दर खतरे के समय काम बन्द करने तथा नये श्रमिको को भर्ती करने का अधिकार मुख्य निरीक्षक को दे दिया गया है। प्रबन्धको को खानो मे होने वाली दुर्घटनाओ की सूचना सरकार को देना अनिवार्य कर दिया गया है। खान अधिनियम के उल्लंघनकर्त्ता प्रबन्धको को कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई है।

(३) उद्यान श्रम-अधिनियम, १६५१ (Plantation Labour Act, 1951)—इस एक्ट की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) क्षेत्र—जम्मू और काश्मीर को छोडकर यह अधिनियम देश के चाय, कहवा, रबर और सिनकोनो के उन सभी उद्यानो पर लागू होता है जहा कम से कम ३० श्रमिक काम करते हैं और जिनका क्षेत्रफल कम से कम २५ एकड है। (ii) स्वास्थ्य सुरक्षा व श्रम-कल्याण—इस अधिनियम मे भी श्रमिको के स्वास्थ्य, सुरक्षा एव कल्याण सम्बन्धी प्रावधान सन् १६४८ के फैक्ट्री एक्ट के ही अनुरूप हैं। उद्यानो के मालिको को श्रमिको के लिये ठण्डा जल, शौचालय, मूत्रालय, प्राथमिक चिकित्सा आदि का प्रबन्ध अनिवार्य कर दिया गया है। १५० से अधिक श्रमिको वाले उद्यानो मे जलपान-गृह एव ५० से अधिक स्त्री श्रमिको वाले उद्यानों मे शिशु-गृह की व्यवस्था की गई है। ३६० से अधिक श्रमिको वाले उद्यानो मे श्रम-कल्याण अधिकारी (Labour Welfare Officers) की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। अधिनियम मे मालिको द्वारा श्रमिको के लिये निवास की व्यवस्था करने का प्रावधान है। (iii) रोजगार—इस अधिनियम मे १२ वर्ष से कम आयु के बच्चो को काम पर लगाने से रोक लगा दी गई है। स्त्रियो एव किशोरो से सायं ७ बजे से प्रात. ६ बजे तक काम पर लगाने से प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। (iv) काम के घण्टे—इस अधिनियम के अन्तर्गत व्यस्क श्रमिको के लिये काम के घण्टे प्रति सप्ताह ५४ और १५ वर्ष से १८ वर्ष तक की आयु वाले किशोरावस्थी श्रमिको के लिये काम के घण्टे प्रति सप्ताह ४० नियत किये गये हैं। ५ घण्टे लगातार काम करने के बाद श्रमिको को आधा घण्टे का विश्राम देना अनिवार्य कर दिया गया है। (v) अवकाश—अधिनियम मे साप्ताहिक अवकाश के अतिरिक्त व्यस्क श्रमिको को प्रति २० दिन काम करने पर १ दिन का तथा किशोर श्रमिको को प्रति १५ दिन काम करने पर १ दिन का सवैतनिक अवकाश देने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त बीमारी के समय डाक्टरी प्रमाण-पत्र देने पर श्रमिकों को भत्ता देने तथा स्त्रियो को मातृत्व

हितलाभ देने की व्यवस्था की गई है।

(४) **न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८** (Minimum Wage Act, 1948)—इस अधिनियम की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) क्षेत्र—जम्मू और काश्मीर को छोडकर यह अधिनियम समस्त राज्यो के उन उद्योगो मे लागू होता है जिनमे श्रमिको का अधिक शोषण होता है। ये उद्योग इस प्रकार हैं तम्बाकू, चावल की मिलें, आटा पीसने की मिलें, दाल की मिलें, तेल के कारखाने, उद्यान, किसी स्थानीय प्राधिकारी के आधीन रोजगार, सडक व भवन निर्माण, पत्थर तोडना, लाख बनाने के कारखाने, अभ्रक का काम, सार्वजनिक मोटर परिवहन, चमडा रगने व चमडे का सामान बनाने का काम और कृषि आदि। इस एक्ट के अन्तगत सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह इस अधिनियम को किसी भी ऐसे उद्योग या रोजगार मे लागू कर सकती है जिसमे १,००० से अधिक श्रमिक न हो। (ii) **मजदूरी की व्यवस्था**—इस अधिनियम मे (अ) समयानुसार न्यूनतम मजदूरी की दर, (आ) कार्यानुसार न्यूनतम मजदूरी की दर, (इ) समयानुसार गारन्टी की हुई मजदूरी की दर तथा (ई) अधिक समय (Overtime) तक काम करने की दर निश्चित करने की व्यवस्था की गई है। (iii) **मजदूरी देने की व्यवस्था**—इस एक्ट मे द्रव्य के रूप मे मजदूरी देने की व्यवस्था की गई है। परन्तु प्रादेशिक सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे न्यूनतम मजदूरी का कुछ भाग द्रव्य म और कुछ किस्म मे भी दे सकती हैं। (iv) **प्रशासनिक व्यवस्था**—एक्ट मे प्रदेशो मे न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित करने के लिये सलाहकार समितियो व सलाहकार बोर्डों की व्यवस्था की गई है। प्रादेशिक सरकारो की समितियो और सलाहकार बोर्डों के कार्यों को समन्वित करने तथा केन्द्रीय सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की स्थापना की व्यवस्था की गई है। (v) **सशोधन**—प्रादेशिक सरकारो द्वारा न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित करने की अवधि को बढाने के लिए इस अधिनियम मे अनेक बार सशोधन किए गए हैं। सन् १९५६ के सशोधन के अनुसार न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अवधि ३१ दिसम्बर सन् १९५९ कर दी गई थी। परन्तु अनुसूचित उद्योगो मे इस अवधि तक भी न्यूनतम मजदूरी निश्चित नहीं की जा सकी। अत ९ मार्च सन् १९६१ को राज्य सभा मे प्रस्तावित न्यूनतम मजदूरी (सशोधित) विधेयक के अनुसार न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अवधि को समाप्त कर दिया गया है। (vi) **अधिनियम का व्यवहारिक रूप**—अधिनियम की अनुसूचि मे दिए गए रोजगारों मे आसम उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल तथा आन्ध्र प्रदेश राज्यो मे न्यूनतम मजदूरी की दरें निश्चित कर दी गई हैं, मद्रास, मध्य प्रदेश और केरल राज्यो ने कृषि रोजगार के अतिरिक्त अन्य राजगारो मे न्यूनतम मजदूरी की दरें निश्चित कर दी हैं। तीसरी योजना मे न्यूनतम मजदूरी विधेयक को पूर्वापेक्षाकृत अच्छी तरह लागू करने के लिए निरीक्षण व्यवस्था को कठोर बनाने का प्रस्ताव रक्खा गया है। इस योजनावधि मे श्रमिको के बोनस सम्बन्धी दावों और बोनस की अदायगी के लिए निर्देशक

सिद्धान्त और आदर्श निर्धारित करने की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए एक आयोग (Commission) की नियुक्ति की जाएगी।

उपसंहार—वस्तुत हमारे देश म श्रम-सम्बन्धी अधिनियम आवश्यकता एव महत्व दोनो दृष्टिकोण से अपूर्ण एव अपर्याप्त हैं। देश के शासन-यन्त्र की ढीली नीति, भ्रष्टाचारिता एव लालफीताशाही के फलस्वरूप श्रम-विधानो के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक रूप में आकाश-पाताल का अन्तर रहता है। फलत भारतीय श्रमिकों की दशा अन्य देशो के श्रमिको की तुलना मे अत्यन्त दयनीय है। सन् १६२६ मे श्री एन० एम० जोशी (N M Joshi ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference) मे स्पष्ट शब्दों मे कहा था, "न्यायपुक्त एवं मानवीय मूल्यों का भारत मे सवथा अभाव है और यदि उन्नति की गति इसी प्रकार रही, तब क्रांति (Revolution) ही एकमात्र अवलम्ब रह जाएगा।" जनवरी सन् १६५६ में आगरे के अखिल भारतीय श्रम सम्मेलन (All India Labour Conference) मे डा० ज्ञान चन्द्र (Dr Gyan Chandra) ने भारतीय श्रमिकों की दशा को सुधारने के लिये इन शब्दों मे सुझाव रक्खा था, "हमको अपनी नवीन सामाजिक व्यवस्था के अनुसार ही नवीन मजदूरी-नीति ग्रहण करनी चाहिए। यदि हम वास्तव मे समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करना चाहते हैं, तब हमको श्रमिकों की दशा में सुधार करना ही होगा। अत मजदूरी-स्तर एव वेतन-क्रम को सोच समझकर निर्धारित करना चाहिये।"

—०—

३१

परिवहन का महत्व

(Importance of Transport)

परिवहन का अर्थ व महत्व (Meaning and Importance of Transport) कर्ल वेडनफील्ड (Kurl Weidenfeld) के शब्दों में, "परिवहन वह रीति है जिसमे विभिन्न यन्त्रो व सगठन के द्वारा व्यक्ति, वस्तुयें एव सूचनायें आदि विभिन्न स्थानों की दूरी पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं ।*" दूसरे शब्दों मे परिवहन वस्तुओं, मनुष्यों एव सूचनाओ को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुचाने का माध्यम (Means) है। वास्तव मे मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवहन का विशेष महत्व है। किसी देश का आर्थिक एव औद्योगिक विकास तथा देश मे कृषि एव व्यापार की उन्नति परिवहन के सुगम, सस्ते एव द्रुतगामी साधनो पर निर्भर है। एक विद्वान के शब्दों में, "यदि कृषि और उद्योग राष्ट्रीय आकार के शरीर एवं अस्थियां हैं, तब परिवहन के साधन स्नायु प्रणाली हैं।" प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल (Marshall) के अनुसार, "हमारे आज के युग का प्रमुख आर्थिक तथ्य उत्पादक उद्योगों के स्थान पर यातायात उद्योग का विकास करना है।" किपलिंग (Kipling) के मतानुसार किसी देश की सभ्यता का स्तर केवल वहा पर उपलब्ध परिवहन के साधनो द्वारा मापा जा सकता है। उनके शब्दों मे "परिवहन ही सभ्यता है" (Transportation is Civilization)।

भारत मे कृषि एव उद्योगों का तीव्रगति से विकास करने के लिये परिवहन के साधनो का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। भारत एक अविकसित (Undeveloped) अथवा अर्धविकसित (Under developed) देश है। भारतीय अर्थ व्यवस्था विकासोन्मुख है और इसका द्रुतगति से विकास करना है। अत इस स्थिति मे अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों मे विकास लाने के लिये परिवहन के सस्ते, सुगम एव सरल साधनों का होना विशेष रूप से आवश्यक है। देश में आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत चल रहे विभिन्न विकास कार्यों की पूर्ण सफलता के लिये यातायात की

* "Transportation system is the sum of all technical instruments and organisation designed to enable persons, commodities and news to master space."

—Kurl Weidenfeld Encyclopedia of Social Sciences, Vol. II, P 80.

सुविधाओ का महत्व और अधिक बढ गया है। वस्तुत नियोजन के विगत वर्षों मे विकास की मन्द गति रहने का मुख्य कारण यह रहा है कि देश मे परिवहन सेवाओ को व्यापक स्तर पर नही फैलाया जा सका है। अत भारत मे आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए व्यापक स्तर पर परिवहन सुविधाओ का विकास करना अपेक्षित है। सक्षप मे भारत के आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक एकीकरण (Integration) के लिए परिवहन का विशेष महत्व है।

परिवहन के साधन (Means of Transportation) — किसी वस्तु का परिवहन (Transportation) मार्ग (Route) व वाहक (Vehicle) के ऊपर निर्भर करता है। माग के चुनाव से वाहक का रूप भी सरलता से निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार मार्ग के आधार पर परिवहन के साधनो को दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है—(i) प्राकृतिक मार्ग वाले साधन, जैसे-समुद्र, नदी और वायु तथा (ii) कृत्रिम माग वाले साधन, जैसे-रेलें, सडकें और नहरें। वाहन (Vehicle) के दृष्टिकोण से परिवहन के साधनो को ४ वर्गों मे विभाजित किया जाता है-(अ) रेल यातायात, (आ) सडक यातायात, (इ) जल यातायात और (ई) वायु यातायात।

आधुनिक परिवहन के कार्य (Functions of Modern Transportation) —आधुनिक युग मे परिवहन के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं — (१) **आर्थिक जीवन पर प्रभाव—(i) आर्थिक उत्पादन** (Economic Production) —वस्तुतः उत्पादन क्रिया की तीन अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था मे भूमि से वस्तुओ का उत्पादन किया जाता है द्वितीय अवस्था मे उन वस्तुओ को रूप परिवर्तन द्वारा अधिक उपयोगी बनाया जाता है और तीसरी अवस्था मे उन्हे उपभोक्ता तक पहुचाया जाता है। उत्पादन की इन तीनो क्रियाओ मे से अन्तिम अवस्था के लिये परिवहन ही उत्तरदाई है। परिवहन का मुख्य कार्य वस्तुओ को उस स्थान से, जहा उनकी सीमांत उपयोगिता (Marginal Utility) कम है, उस स्थान पर पहुचाना है जहाँ उनकी सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक होती है। (ii) **विशिष्टीकरण** (Specialization):—विशेषीकरण अथवा श्रम-विभाजन (Division of Labour) के लिये भूमि,श्रम और पूंजी का विभाजन नितान्त आवश्यक है और इस प्रकार का विभाजन केवल परिवहन द्वारा ही सम्भव है। विशेषीकरण के सिद्धान्त को अपनाकर उत्पादन क्रिया अनेक उपक्रियाओ मे विभाजित हो जाती है। प्रत्येक उपक्रिया द्वारा निर्मित माल दूसरी उपक्रिया के लिये कच्चा माल होता है। इस प्रकार एक औद्योगिक कार्यालय के माल को दूसरे औद्योगिक कार्यालय मे भजने के लिये परिवहन के साधनो का विशेष महत्व होता है। (iii) **महामात्रोत्पादन** (Large Scale Production):—कच्चे-माल के सग्रह और पक्के माल के वितरण के दायित्व को अपनाकर परिवहन की सुविधायें महामात्रोत्पादन की सम्भावना को साकार रूप देती हैं। (iv) **प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग** —देश मे उपलब्ध विभिन्न प्राकृतिक साधनो, जैसे—खनिज, वन सम्पत्ति, पर्वत के पत्थर और औषधियाँ आदि का पूर्ण उपयोग परिवहन

के साधनो की सहायता से ही सम्भव है। (v) **विविध वस्तुओं का उपभोग**—परिवहन के साधनो की सहायता से ही आज हमे देश-देशान्तर की विविध वस्तुयें उपभोग के लिए उपलब्ध हैं। इस प्रकार परिवहन की सुविधाओ ने मानव की आवश्यकताओ मे वृद्धि करके उसे अधिक से अधिक सभ्य बनाया है। (vi) **समान वितरण**—परिवहन के सस्ते साधनो ने विश्व म वस्तुओं के वितरण को समान बना दिया है। अतिरेक उत्पादन (Surplus Production) वाले क्षेत्रो से अभाव वाले क्षेत्रो को उपज पहुचाकर परिवहन सुविधाओ ने *अकाल की स्थिति को सदैव के लिये दूर कर दिया* है। एक विद्वान के शब्दों मे, "**यातायात के प्रगतिशील साधनों ने अकालों को स्थाई रूप से दरिद्र बना दिया है।**" आजकल हमारा देश परिवहन के माध्यम से ही अर्जेन्टाइना, आस्ट्रेलिया, रूस, अमेरिका, कनाडा आदि सुदूर देशो से अपनी खाद्यान्न की कमी पूरी करता है। (vii) **मूल्यों की स्थिरता व समता** (Stabilization and Equilization of Prices) आवश्यकता से अधिक और कम उत्पादन वाले दो क्षेत्रो के मूल्यो मे भारी अन्तर का एक मात्र कारण सस्ती परिवहन सेवा का अभाव ही है। सुविकसित एव सस्ते परिवहन के साधन किसी वस्तु के बाजार को विश्व व्यापी बनाकर मूल्यो मे समता लाते हैं। परिवहन के साधनो द्वारा किसी स्थान के अतिरेक उत्पादन को अन्यत्र भेजकर मूल्यो को गिराने से बचाया जाता है (viii) **बड़े नगरों की वृद्धि**—आधुनिक परिवहन के साधनो ने ही बडे बडे नगरो का बसना सम्भव बनाया है। नगरो की विशाल जनसख्या के लिये इतनी अधिक मात्रा मे विविध खाद्य वस्तुओ का पहुचाना शीघ्रगामी परिवहन सुविधाओ का ही कार्य है। (ix) **उद्योग धन्धों का स्थानीयकरण** (Localization of Industries): उद्योगो के स्थानीयकरण को प्रेरित करने वाले मुख्य कारक कच्चा माल, श्रम पू जी और बाजार हैं। इन चारो के बीच म समुचित सम्बन्ध स्थापित करने का श्रेय परिवहन को ही है। वस्तुत परिवहन ही एक मात्र वह कडी (Link) है जो उत्पादन के विभिन्न साधनो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके उद्योगो के स्थानीयकरण मे केन्द्र बिन्दू का कार्य करती है। (x) *श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)*—सुविकसित परिवहन द्वारा उपस्थित की हुई सुविधाओ ने श्रम को अपूर्व गतिशीलता प्रदान की है जिसके कारण विभिन्न उद्योगो म श्रम का वितरण समान हो सका है। परिवहन के साधनो से जीवन निर्वाह के साधनो का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। फलत श्रमिको का जीवन-स्तर (Standard of Living) अपेक्षाकृत ऊँचा हो गया है जिसके फलस्वरूप *श्रम की गतिशीलता पर बहुत प्रभाव पडा है।* (xi) **औद्योगिक विकास**—उच्चकोटि का औद्योगिक विकास परिवहन सुविधाओ से ही सम्बद्ध है। कच्चे माल को कारखानों तक पहुचाने और बने हुए माल को उपभोक्ता तक आवश्यकतानुसार लगातार पहुचाने का कार्य परिवहन का ही है। यही नही, उद्योग धन्धो के विकेन्द्रीयकरण (Decentralization) के लिये भी परिवहन के साधन उपयुक्त वातावरण उपस्थित करते हैं। परिवहन के विकास द्वारा उद्योग धन्धो को अपने उत्पादन क्षेत्र में परि[illegible]

सुविधायें ही उपलब्ध नही होती वरन् अनेक ऐसे सहायक साधन उपलब्ध हो जाते हैं जो उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि एव विकास के लिये उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न करने मे सहायक होते हैं। परिवहन के साधनो के माध्यम से उद्योगपति विस्तृत क्षेत्र मे बसे हुए उपभोक्ता वर्ग के साथ सीधा सम्पर्क रखकर उसकी इच्छानुसार आवश्यकता की वस्तुओ का उत्पादन कर सकता है। (xii) **बचत और पूजी का सचय**—पूजी का सचय किसी सीमा तक परिवहन की सुविधाओ पर निर्भर होता है। हमारे देश मे विभिन्न प्रादेशिक सरकारो की सडक विकास सम्बन्धी योजनाओ के सफल होने के साथ-साथ गाँवो म सचय बैंको (Saving Banks) और सहकारी साख समितियो (Co-operative Credit Societies) की सख्या बढती जा रही है। फलत ग्रामीण बचत देश के आर्थिक विकास के लिये सुलभ होती जा रही है। (xiii) **कृषि** – (अ) ग्रामीण क्षेत्र म अधिक सडकें बनाने से कृषि उत्पादन की मात्रा बढाई जा सकती है। परिवहन के सस्ते साधनो के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो मे सुदूर स्थानो मे उत्तम रासायनिक उर्वरक, बीज, यन्त्र आदि की पूर्ति की जा सकती है। (आ) परिवहन के साधनो का भूमि की उत्पादन क्षमता पर प्रभाव पडता है जिसके फलस्वरूप भूमि का मूल्य बढ़ जाता है। (इ) *परिवहन के साधन यदि हमारी खाद्य समस्या का वाहक नहीं,* तब सहायक अवश्य होते हैं। (ई) खाद्यान्न के वितरण म परिवहन का विशेष महत्त्व है। (उ) परिवहन के साधनो के विस्तार ने कृषि उपज मे व्यापारीकरण (Commercialization) को व्यावहारिक रूप दिया है। (ऊ) परिवहन के सस्ते और द्रुतगामी साधनो ने शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया है क्योकि इनके द्वारा उन वस्तुओ को शीघ्रता से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुचाया जा सकता है। (ए) कृषि-उपज की बिक्री पर परिवहन का उल्लेखनीय प्रभाव पडता है। एक अनुमान के अनुसार परिवहन-व्यय का हिस्सा कृषि-उपज के कुल मूल्य का २५% भाग होता है। (xiv) **रोजगार**—बेकारी दूर करने मे परिवहन का विशेष महत्त्व है। परिवहन के साधनो ने जीवन-निर्वाह के साधनो का क्षेत्र व्यापक बना दिया है। इसके साथ ही साथ परिवहन सेवाओ के अन्तर्गत लाखो व्यक्तियो को रोजगार मिलता है। (xv) **सरकार की आय**—परिवहन सेवाओ से सरकार को प्रत्यक्ष आय भी प्राप्त होती है तथा अप्रत्यक्ष भी। राष्ट्राधिकृत (Nationalized) परिवहन के साधनो से प्राप्त समस्त आय राजकीय कोष मे जाती है तथा प्राइवेट परिवहन के साधनो से भी विभिन्न प्रकार के शुल्क (Duties) एव कर (Taxes) आदि के रूप मे सरकार को पर्याप्त आय प्राप्त होती है। चूकि परिवहन के साधनों से कृषि, व्यापार एव उद्योग मे उन्नति होती है, इसलिये सरकार को इन स्रोतो से भी अधिक आय मिलने लगती है।

(२) **सामाजिक जीवन पर प्रभाव**—(i) परिवहन के साधनो ने मानव सम्पर्क मे वृद्धि करके एक दूसरे को अधिक निकट ला दिया है। (ii) देश और काल की सीमाओ को लाँघ कर मानव द्वारा विश्वव्यापी भ्रमण एव उसके फलस्वरूप व्यापक

मानवीय दृष्टिकोण का श्रेय भी परिवहन को ही है। (iii) परिवहन ने मनुष्य के जीवन यापन के साधनो और सक्रिय शक्तियो मे वृद्धि करके प्रत्यक्ष रूप से मानव के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाया है। (iv) परिवहन ने मानव जगत मे ऊंच नीच व छूआ-छूत की भावना को दूर करके उसमे समता और भ्रातृत्व की भावना उत्पन्न की है। (v) नगरो की स्थिति (Location) निर्धारित करने मे तथा जनसख्या के वितरण मे परिवहन का महत्वपूर्ण योग रहा है। सस्ते एव द्रुतगामी परिवहन के साधनो के फलस्वरूप आज के नगरो की जनसख्या उद्योगो के निकट ही केन्द्रीभूत नहीं होती वरन् निकटवर्ती क्षेत्र मे शहर से मीलो दूर जाकर बस जाती है। इस प्रकार नगर की घनी आबादी के कारण उत्पन्न होने वाली सामाजिक कुरीतियां बहुत कम हो गई हैं।

(३) राजनैतिक जीवन पर प्रभाव (i) :—भारत जैसे विस्तृत आकार वाले देश के सुयोग्य प्रशासन एव सफल सुरक्षा के लिये सुविकसित परिवहन के साधनो का विशेष महत्व है। (ii) राजनैतिक क्षेत्रो अथवा राज्यो की सीमा निर्धारित करने का श्रेय भी परिवहन को ही है। विगत काल मे साम्राज्यो के आविर्भाव मे परिवहन के साधनो का मुख्य हाथ रहा है। (iii) देश की सीमा को सुरक्षित रखने के लिये परिवहन की सुविधाओ का होना नितान्त आवश्यक है जिससे कि आवश्यकता पडने पर तुरन्त सैन्य-बल और युद्ध-सामग्री वहां भेजी जा सके। (iv) अन्त मे परिवहन के साधन सरकार की आय मे प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनो रूप से वृद्धि करते हैं।

—:०—

३२

रेल परिवहन

(Railway Transport)

भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर रेलों का प्रभाव (Effects of Railways on Indian Economy) — रेलो के निर्माण और विस्तार ने देश की समस्त अर्थ-व्यवस्था को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया है। भारत के आर्थिक जीवन पर रेलो का अमिट प्रभाव इस प्रकार है — (i) **विदेशी व्यापार** —रेलो के निर्माण और विस्तार से पूर्व भारत का विदेशी व्यापार (Foreign Trade) केवल महीन वस्त्र, मसाले, जड़ाऊ वस्तुओं आदि तक ही सीमित था। रेलों के आगमन से भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा (Quantity) और दिशा (Direction) दोनो मे महान परिवर्तन हुआ। भारत से कच्चे-पदार्थ जूट, रूई, तिलहन आदि विदेशी मण्डियो को जाने लगे तथा इंगलैण्ड फ्रांस, जर्मनी, जापान चीन आदि नवीन देशो के साथ भारत का व्यापारिक सम्पर्क बढ गया। इस प्रकार हमारा देश स्वावलम्बन की अवस्था से ऊपर उठकर विश्वव्यापी व्यापारिक परिधि मे आ गया है। (ii) **आन्तरिक व्यापार** —भारत के आन्तरिक व्यापार (Internal Trade) को रेलो के विस्तार से अपूर्व प्रोत्साहन मिला है। अब अन्तर्देशीय व्यापारिक क्षेत्र विस्तृत हो गया है। जिसके फलस्वरूप स्थानीय मण्डियो और मेलो का वैभव समाप्त हो गया है तथा बडे-बडे थोक विक्रेताओ (Wholesalers) के स्थान पर छोटे छोटे फुटकर विक्रेताओ (Retailers) की सख्या अत्यन्त बढ गई है। (iii) **व्यापारिक प्रतियोगिता** - रेल परिवहन की तीव्र गति से व्यापारिक प्रतियोगिता (Trade Competition) मे अपूर्व वृद्धि हुई है। दूरी (Distance) और अन्य प्राकृतिक बाधाओं के हट जाने से वस्तुओ का आवागमन अल्पकाल म होने लगा है तथा उधार-व्यापार (Credit Trade) की मात्रा बढ गई है। व्यापार-क्षेत्र मे साख पत्रो (Credit Instruments) का अधिक प्रचार हो गया है। इन सब प्रवृत्तियों के सामूहिक परिणाम स्वरूप व्यापारिक प्रतियोगिता म अत्यधिक वृद्धि हुई है। (iv) **कृषि** —रेलों के विकास ने कृषि अर्थ-व्यवस्था (Agricultural Economy) को इस प्रकार प्रभावित किया है — (अ) कृषि-उपज को दूरस्थ मण्डियो तक ले जाना सम्भव हुआ है। फलत खाद्यान्न के स्थानीय अभाव (Local Scarcity) और अधिकता (Surplus) की समस्या को पर्याप्त सीमा तक दूर किया जा सका है। (आ) रेल परिवहन

के विस्तार से भारतीय कृषि का व्यापारीकरण (Commercialization) और फसलो का विशिष्टीकरण (Specialization of Crops) एव स्थानीयकरण (Localization) हो गया है। (इ) भारतीय *कृषि अर्थ-व्यवस्था* पर विश्वव्यापी तेजी-मन्दी के प्रभाव पडने लगे हैं। (ई) रेलो के चलने से शाक-सब्जी, घी-दूध, फल-अन्डे आदि नाशवान वस्तुग्रो (Perishable Goods) की उत्पत्ति मे वृद्धि हुई है क्योकि रेलो के माध्यम से अब इन वस्तुग्रो को शीघ्रतापूर्वक मण्डी-केन्द्रो (Mandi Centres) और उपभोक्ताग्रो तक पहुचाया जा सकता है। (उ) भारतीय सडक एव परिवहन विकास सघ (Indian Roads and Transport Development Association) के मतानुसार ग्रामीण क्षेत्रो मे रेलो और सडको के विकास से कृषि भूमि के क्षेत्र मे २५% वृद्धि की जा सकती है। (ऊ) रेलो के माध्यम से अब भारतीय कृषक के ज्ञान का क्षितिज विकसित होता जा रहा है। अब कृषक कृषि-मेले, कृषि-प्रदर्शिनी अथवा पशु-प्रदर्शिनी देखने के लिये रेलो द्वारा सुदूर स्थानो को जाने लगा है। (ए) रेलो ने हमारी खाद्य समस्या के निवारण मे अपूर्व सहायता दी है। खाद्यान्न के वितरण मे सहायक होकर रेलो द्वारा दुर्भिक्ष (Famines) की सम्भावना बहुत कम हो गई है। (ऐ) रेलो द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो मे उन्नत कृषि के लिये उन्नतिशील उर्वरक, बीज, कृषि-यन्त्र आदि की पूर्ति होने से प्रति एकड कृषि-उपज मे अपूर्व वृद्धि हुई है। (ओ) रेलो के माध्यम से अब ग्रामीण श्रमिक दूर स्थित औद्योगिक केन्द्रो मे रोजगार की तलाश मे जाने लगे है। फलत कृषि-भूमि पर जनसख्या का भार अपेक्षाकृत कम होकर कृषक परिवार को आर्थिक समुन्नति को अच्छा अवसर मिला है। (v) **औद्योगिक विकास** — (अ) रेलो के डिब्बे और स्लीपर बनाने के लिये लकडी की माग मे वृद्धि हुई है। फलत वन उद्योग के विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। (आ) विगत वर्षों मे देश के तीव्रगति से औद्योगीकरण (Industrialisation) का सर्वाधिक श्रेय भी रेल परिवहन को ही है। *कच्चे माल को कारखानो तक पहुचाने* तथा बने हुये माल को उपभोक्ताग्रो तक पहुँचाने मे रेलें महत्वपूर्ण योगदान करती हैं। (इ) रेलो ने उद्योग धन्धो के विकेन्द्रीयकरण (Decentralization) के लिये उपयुक्त वातावरण उपस्थित किया है। (ई) रेलो के विकास से खनिज उद्योग और इन्जिनियरिंग उद्योग के विकास को पर्याप्त अवसर मिला है। रेल परिवहन के उपयोग मे आने वाली वस्तुग्रो, जैसे— स्लीपर, पटरिया, डिब्बे इ जिन, सिगनल आदि का निर्माण करने के लिये सहायक उद्योगो के विकास को अच्छा अवसर मिला है। (ई) यद्यपि रेलयुग के प्रारम्भ म बडे पैमाने के उद्योगो (Large Scale Industries) के विकास के कारण देश के लघुस्तरीय एव कुटीर उद्योगो (Small Scale and Cottage Industries) का वैभव समाप्त हो गया था परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इन उद्योगो को पुनर्जीवित करने मे रेलो ने बहुत सहयोग दिया है। अनुमानत भारतीय रेलें प्रतिवर्ष ३—४ करोड रु० का माल कुटीर एव लघुस्तरीय उद्योगो से खरीद कर इन उद्योगों को प्रोत्साहन देती हैं।। (vi) **नगरों की वृद्धि**—

रेलो के आगमन से पूर्व भारत पूर्णतः एक ग्रामीण देश था। रेलो द्वारा औद्योगिक केन्द्रीयकरण (Industrial Centralization) मे वृद्धि होने से देश मे बडे बडे नगरो का प्रादुर्भाव हुआ है। नगरों मे निवासित विशाल जनसमूह के भरण पोषण के लिये रेलें प्रतिदिन घी-दूध, मास-मक्खन, मछलिया-फल आदि उपभोग की वस्तुओ की नियमित पूर्ति करती हैं। (vii) नूतन कार्य-प्रणाली —रेलो के निर्माण और विस्तार के फलस्वरूप भारत में नए ज्ञान और नूतन कार्य-प्रणाली (New Technique) का आगमन और प्रसार हुआ है। (viii) गवेषणा – रेल परिवहन के विकास ने रेल निर्माण और सचालन विषयो पर गवेषणा (Research) को प्रोत्साहन मिला है। भारतीय रेलो का गवेषणा, रूपाकरण और प्रतिमानीकरण सगठन (Research, Design and Standardiza ion Organization) का कार्य इस क्षेत्र मे प्रशसनीय है। (ix) डाक-सेवा —सस्ती, नियमित और कुशल डाक-सेवा का श्रेय भी भारतीय रेलो को ही है। यद्यपि आज भी देश के कुछ भागो मे ऊंट, घोडा, घोडा-गाडी, नावें आदि डाक ले जाने के साधन हैं, परन्तु देश की आधुनिक डाक व्यवस्था का आधार-स्तम्भ रेलें ही है। (x) अन्य आर्थिक लाभ :—(अ) रेलों के विकास से आवश्यकता से अधिक व कम उत्पादन वाले दो स्थानों के मूल्य मे भारी अन्तर को कम करके मूल्य-समरूपता (Price Equilization) को प्रोत्साहन मिला है। (आ) बेकारी (Unemployment) दूर करने मे रेलों का कार्य श्लाघनीय है। एक अनुमान के अनुसार भारतीय रेलो मे लगभग ११ लाख व्यक्ति रोजगार पर लगे हुये हैं। (इ) भारत मे व्यापारिक विस्तार, बैंकों की व्यवस्था और बीमा विकास मे रेलो का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। (ई) रेलो द्वारा माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने मे मितव्ययिता आई है। (उ) रेलो के विकास से श्रमिकों की गतिशीलता (Mobility) श्रमिकों की कार्यक्षमता (Efficiency) एव श्रमिको के रोजगार मे वृद्धि हुई है। (ऊ) भारत मे औद्योगिक उद्यम प्रवृत्ति (Instinct of Industrial Enterprise) को प्रोत्साहित करने मे रेलो का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। फलत विदेशी पूंजी के आगमन को भारत मे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। (ए) रेलों के विकास से देश के प्राकृतिक साधनो के पूर्ण उपयोग की सम्भावना बढती जा रही है। (ऐ) देश मे ब्याज व लगान की दरो मे समानता एव एक रूपता लाने मे तथा इनकी दरो को नीचा करने मे रेलो का महत्वपूर्ण योगदान है। (ओ) रेल परिवहन के विकास से नागरिको मे बचत करने तथा पूंजी के संचय करने की प्रवृति एव शक्ति मे अपूर्व वृद्धि हुई है। (औ) सहकारिता के सिद्धान्त को व्यावहारिक स्वरूप देने मे भारतीय रेलो का सहयोग प्रशंसनीय है।

भारतीय रेलों का सक्षिप्त इतिहास—भारत मे सबसे पहली रेलवे लाइन बम्बई और थाना के बीच २० अप्रैल सन् १८५३ को ग्रेट इण्डिया पैनिन्सुला रेलवे कम्पनी द्वारा चालू की गई। भारतीय रेलो का वास्तविक निर्माण कार्य लार्ड डलहौजी के शासनकाल मे प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम रेल निर्माण का कार्य दो निजी

कम्पनियो, 'ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी' और 'ग्रेट इण्डियन पैनिन्सुला रेलवे कम्पनी' को सौंपा गया। सन् १८५३ से १८६६ तक देश मे केवल ४,२८७ मील लम्बी रलवे लाइन बिछाई गई। सन् १८६६ मे आर्थिक हानियो के कारण भारत सरकार ने रेल निर्माण तथा व्यवस्था का कार्य स्वय अपने हाथो मे ले लिया। परन्तु सरकारी पूंजी की अपर्याप्तता के कारण रेल निर्माण का कार्य पुन: सन् १८७६ म कम्पनियो को ठेके पर दे दिया। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होते ही रेलो का विस्तार अत्यन्त तीव्र गति से हुआ। सन् १६०० के बाद से भारतीय रेलो को लाभ प्राप्त होने लगा तथा देश की जनता की मनोवृत्ति भी रेलो के पक्ष मे हो गई। सन् १६१४ तक भारतीय रेलो की कुल लम्बाई लगभग ३५,२८५ मील हो गई जिसम लगभग ५१६ करोड रु० की पूंजी लगी हुई थी। प्रथम महायुद्ध के समय रेलो को सैनिक आवश्यकताओ की वस्तुओं को ढोने मे लगा दिया गया। इस अवधि म सरकार को रेलो पर पूंजी लगाने के कार्यक्रम मे कमी करनी पडी। फलत रेलो का विस्तार रुक गया। भारत सरकार ने सन् १६२० मे सर विलियम एक्वर्थ (Sir William Acworth) की अध्यक्षता मे रेलो की जाच करने के लिये एक समिति नियुक्त की। इस समिति की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी—(i) रेलो का प्रबन्ध सरकार को अपने हाथो मे ले लेना चाहिये। (ii) निजी कम्पनियो के ठेके अपनी अवधि पर ही समाप्त हो जाने चाहियें। (iii) रेलवे बोर्ड (Railway Board) के स्थान पर ५ सदस्यो का एक रेलवे आयोग (Railway Commission) स्थापित करना चाहिये। (iv) रेलवे वित्त (Railway Finance) का सामान्य वित्त (General Finance) व्यवस्था से पृथक्करण करना चाहिये तथा (v) रेलवे भाडा न्यायाधिकरण (Railway Rates Tribunal) की स्थापना करनी चाहिये। भारत सरकार ने एकवर्थ समिति के लगभग सभी सुझावो को मान्यता देकर उन्हे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। सर्वप्रथम सन् १६२४ मे ई० आई० आर० और सन् १६२५ म जी० आई० पी० आर० को सरकार ने अपने प्रबन्ध (Management) मे ले लिया। इसी प्रकार दूसरी रेलो को भी कम्पनियो के साथ समझौते की अवधि पूरी होने पर उन्ह सरकार ने अपने प्रबन्ध मे ले लिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्यो के एकीकरण के साथ रेलो का स्वामित्व (Ownership) भी केन्द्रीय सरकार के हाथो मे आ गया। २० सितम्बर सन् १६२४ को भारत सरकार ने रेलवे वित्त व्यवस्था को सामान्य वित्त व्यवस्था से पृथक् करने के सम्बन्ध मे आवश्यक कन्वेंशन पास कर दिया। सन् १६४८ म Indian Railways Act के अन्तर्गत रेलवे भाडा न्यायाधिकरण की स्थापना की गई।

सन् १६३० की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रभाव रेलो के लिये बहुत घातक सिद्ध हुआ। इस अवधि मे रेलों की आय मे तीव्र ह्रास हुआ तथा उन्ह अपना सचालन व्यय (Working Expenditure) पूरा करने के लिये विभिन्न कोषो मे ऋण लेना पडा। सन् १६३६ मे भारत सरकार ने सर वेजवुड (Sir Wedgwood)

की अध्यक्षता में रेलो की वस्तु स्थिति की जाच करके, उनकी आय बढाने और आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने के लिये, सुझाव देने के उद्देश्य से एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने रेलो के व्यय मे मितव्ययिता लाने और उनकी आय बढाने के लिये अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये तथा रेल-सडक प्रतियोगिता (Rail-Road Competition) को समाप्त करने के लिये सूत्रीकरण की योजनाओ पर बल दिया। द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव भारतीय रेलो के लिये बहुत घातक सिद्ध हुआ। युद्धकाल मे ४०० मील लम्बी रेलवे लाइन को उखाड कर रणक्षेत्र पर भेज दिया गया। छोटी लाइन की रेलो के लगभग ८% इन्जिन, १४% डिब्बे, ४० लाख स्लीपर और ४ हजार मील रेल की पटरी मध्यपूर्वी देशो को भेज दिये गये। युद्धकाल मे रेलो के नवीनीकरण (Renewals) और प्रतिस्थापन (Replacement) की ओर कोई ध्यान नही दिया गया। सन् १९४७ मे देश के विभाजन के फलस्वरूप उत्तर-पश्चिमी रेलवे के ६,८८१ मीलो मे से ५,०२६ मील, बगाल-आसाम रेलवे के ३,५५५ मीलो मे से, १,६१३ मील और जोधपुर, हैदराबाद रेलवे के ३०६ मील पाकिस्तान में चले गये। इस प्रकार लगभग ६,९'८ मील लम्बी रेलें पाकिस्तान मे चली गईं और शेष ३४,०८६ मील लम्बी रेलें भारत मे रही। विभाजन में मुगलपुरा और सैयदपुर की शिल्पशालाओ (Workshops) के पाकिस्तान मे चले जाने से पूर्वी पजाब रेलवे तथा असम रेलवे के पास अपनी कोई शिल्पशाला नही रही। विभाजन के फलस्वरूप भारत से जाने वाले अधिकाश रेलवे कर्मचारी दक्षकर्मी (Technicians) थे और भारत को आने वाले बहुधा लिपिक् (Clerks) थे। फलत. भारतीय रेलो की कार्यक्षमता (Efficiency) बहुत कम हो गई।

भारतीय रेलों का पुनर्वर्गीकरण
(Regrouping of Indian Railways)

प्राक्कथन:—भारतीय रेलवे सयोजन का प्रश्न अत्यन्त पूर्वकालीन था। सन् १९२१ मे एकवर्थ समिति (Acworth Committee) ने भारतीय रेलो को पश्चिमी (Western), पूर्वी (Eastern) और दक्षिणी (Southern) ३ क्षेत्रो (Zones) मे बाटने का सुझाव दिया था। सन् १९३६–३७ मे वेजवुड समिति (Wedgwood Committee) ने भारतीय रेलो को ८ क्षेत्रो मे वर्गीकृत करने का सुझाव रक्खा था। जून सन् १९५० को रेलवे बोर्ड (Railway Board) ने देश की ३४ हजार मील लम्बी रेलो को ६ क्षेत्रों मे विभाजित करने की सिफारिश की। इस योजना को बनाते हुए रेलवे अधिकारियो ने इस बात का ध्यान रक्खा कि प्रत्येक क्षेत्र पर्याप्त बडा होना चाहिये जिससे कि संगठन के लिए एक मुख्य कार्यालय (Headquarter) और रेलवे तकनीक मे आधुनिकतम सुधार (Upto date Improvements in Railway Technique) अपनाकर शिल्पशाला (Workshop), सांख्यिकी प्रशिक्षण (Statistical Training) और अन्वेषण सस्था (Research Institute) आदि की सुविधायें उपलब्ध की जा सकें।

योजना का व्यावहारिक स्वरूप :—रेलवे बोर्ड के उपरोक्त सुझावो के आधार पर व्यापार, उद्योग और श्रम के प्रतिनिधियों ने रेलवे पुनर्वर्गीकरण की योजना तैयार की। सर्वप्रथम अप्रैल सन् १६५१ मे दक्षिणी रेलवे क्षेत्र (Southern Railway Zone) और नवम्बर सन् १६५१ मे मध्य रेलवे क्षेत्र (Central Railway Zone) तथा पश्चिमी रेलवे क्षेत्र (Western Railway Zone) प्रारम्भ किये गये। तद्पश्चात् अप्रैल सन् १६५२ मे उत्तरी रेलवे क्षेत्र (Northern Railway Zone) उत्तर-पूर्वी रेलवे क्षत्र (North-Eastern Railway Zone) तथा पूर्वी रेलवे क्षेत्र (Eastern Railway Zone) आरम्भ किये गये। १ अगस्त सन १६५५ को कार्य क्षमता मे वृद्धि लाने के उद्देश्य से पूर्वी रेलवे क्षेत्र को दो भागो मे विभाजित कर दिया गया जो पूर्वी रेलवे क्षेत्र तथा दक्षिणी-पूर्वी रेलवे क्षेत्र (South-Eastern Railway Zone) कहलाये। इसी प्रकार १५ जनवरी सन् ६५८ को उत्तर-पूर्वी रेलवे क्षेत्र को दो भागो म विभक्त किया गया। जो नया क्षेत्र बना वह उत्तर-पूर्वी सीमान्त रेलवे क्षेत्र (North-East Frontier Railway Zone) कहलाया। इस प्रकार आजकल भारतीय रेलें ८ क्षेत्रो मे विभाजित हैं। इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है —(i) **दक्षिणी रेलवे क्षेत्र** :—इस क्षेत्र के अन्तर्गत मद्रास और दक्षिणी मरहटा, दक्षिणी भारत और मैसूर की रेलें सम्मिलित की गई। इसके प्रारम्भ होने की तिथि १४ अप्रैल सन् १६५१ है। मद्रास इस क्षेत्र का मुख्यालय (Head Quarter) है। ३१ मार्च सन् १६६० को इस क्षेत्र की रेलो की लम्बाई ६,१६२ मील थी। (ii) **मध्यवर्ती रेलवे क्षेत्र** :—इसमे ग्रेट इण्डिया पेनिन्सुला तथा निजाम, सिंधिया व धौलपुर राज्यो की रेलें सम्मिलित की गई। इसका मुख्यालय बम्बई है। इसकी आरम्भ होने की तिथि ५ नवम्बर सन् १६५१ है। ३१ मार्च सन् १६६० को इस क्षेत्र की रेलों की लम्बाई ५४०१ मील थी। (iii) **पश्चिमी रेलवे क्षेत्र** :—इस क्षेत्र मे बम्बई, बडौदा, मध्यभारत, सौराष्ट, कच्छ, जैपुर और राजस्थान आदि राज्यो की रेलें सम्मिलित की गई। इस क्षेत्र की आरम्भ होने की तिथि ५ नवम्बर सन् १६५१ है। इसका मुख्यालय बम्बई है। ३१ मार्च सन् १६६० को इसकी कुल लम्बाई ६,०६४ मील थी। (iv) **उत्तरी रेलवे क्षेत्र** :—यह क्षेत्र १४ अप्रैल सन् १६५२ को आरम्भ किया गया। इसके अन्तर्गत पूर्वी पजाब, जोधपुर, दिल्ली का कुछ भाग, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश के कुछ भाग सम्मिलित हैं। इसका मुख्यालय दिल्ली है। ३१ मार्च सन् १६६० को इस क्षेत्र की रेलों की लम्बाई ६,४२६ मील थी। (v) **उत्तर-पूर्वी रेलवे क्षेत्र** :—इसका मुख्यालय गोरखपुर है तथा आरम्भ होने की तिथि १४ अप्रैल सन् १६५२ है। इसमे अवध तिरहुत रेलवे तथा बम्बई-बडौदा और सेंट्रल इण्डियन रेलवे का फतेहपुर ट्रैफिक क्षेत्र सम्मिलित किये गये। ३१ मार्च सन् १६६० को इसकी रेलो की कुल लम्बाई ३,०७८ मील थी। (vi) **उत्तर-पूर्वी सीमात रेलवे क्षेत्र** :—यह क्षेत्र १५ जनवरी सन् १६५८ को आरम्भ किया गया। इसका मुख्यालय पाण्डु (Pandu) में है। यह क्षेत्र असम के

उद्योगों को Serve करता है। (vii) पूर्वी रेलवे क्षेत्र :—इसका मुख्यालय कलकत्ता में है तथा इसके प्रारम्भ होने की तिथि १४ अप्रैल सन् १९५२ है। इस क्षेत्र में पूर्वी बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश के कुछ भाग सम्मिलित हैं। ३१ मार्च सन् १९६० को इस क्षेत्र के अन्तर्गत रेलों की कुल लम्बाई २,३८१ मील थी। (vi) दक्षिणी-पूर्वी रेलवे क्षेत्र :—इसका मुख्यालय कलकत्ता में है। इसमें पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, बिहार व आन्ध्र प्रदेश के क्षेत्र सम्मिलित हैं। इसकी प्रारम्भ होने की तिथि १ अगस्त सन् १९५५ है। ३१ मार्च सन् १९६० को इस क्षेत्र के अन्तर्गत रेलों की कुल लम्बाई ३,४९५ मील थी।

रेलवे पुनर्वर्गीकरण के लाभ (Advantages of Railways Re grouping) .—भारत में रेलवे पुनर्वर्गीकरण की योजना को लागू हुए पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका है। अभी तक इस योजना के फलस्वरूप रेलवे कार्यकौशल में वृद्धि होने अथवा जनता को विशेष सुविधायें उपलब्ध होने की मात्रा अथवा परिमाण के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट अनुमान नहीं लगाया जा सका है। तथापि यह निश्चित है कि विगत वर्षों में इस योजना के मुख्य लाभकारी प्रभाव इस प्रकार रहे हैं :—(i) गत वर्षों में योजनाजनित बढ़ते हुये यातायात को ले जाने में रेलें पूर्णतः सफल हुई हैं। (ii) पुनर्वर्गीकरण के कारण बड़ी-बड़ी रेलवे इकाइयां बन सकी हैं। फलतः रेलों के प्रबन्ध, प्रशासन एवं संचालन में एकरूपता (Uniformity) आ गई है। (iii) रेलों की अनेक इकाइयां होने से जनता को जो कठिनाइयां होती थीं, उनका अब अन्त हो गया है। (iv) रेलवे सेवा का स्तर अब देश में समान और उच्च कोटि का हो गया है। रीति-नीति प्रथाओं एवं किराये भाड़े की विषमता दूर हो गई है। इस प्रकार सार्वदेशिक साम्य (Countrywide Equilibrium) स्थापित हो गया है। (v) रेलवे पुनर्गठन के फलस्वरूप प्रबन्ध-प्रशासन, साज-सज्जा एवं क्रय-विक्रय में मितव्ययिता (Economy) आई है। रेलों के पारस्परिक लेन-देन तथा हिसाब-किताब में पर्याप्त सुविधा हो गई है (vi) पुनर्वर्गीकरण के कारण बड़ी-बड़ी रेलवे इकाइयां अपनी आवश्यकता की साधन-सामग्री और भण्डार सस्ते मूल्यों पर और उच्च कोटि के निर्माताओं से लेने में समर्थ हो गई हैं। अब समस्त माल रेलवे बोर्ड (Railway Board) द्वारा क्रय किया जाता है। फलतः रेलवे सेवा का स्तर ऊंचा होता जा रहा है। (vii) रेलवे की बड़ी इकाइयों के अवश्यम्भावी परिणामस्वरूप इंजिनों, डिब्बों एवं अन्य साज-सज्जा का सदुपयोग हो सका है। कम इकाइयां होने से प्रतियोगिता (Competition), एवं विज्ञापन (Advertisement) के व्यय में भी स्वाभाविक कमी आई है। (viii) पुनर्वर्गीकरण के पश्चात् कार्य के दोहरापन के अनावश्यक व्यय तथा रेलों के अन्तर्सम्बन्ध समायोजित करने की समस्या पर्याप्त सीमा तक समाप्त हो गई है। (ix) इससे व्यापारी वर्ग भी लाभान्वित हुआ है क्योंकि अब उन्हें केवल एक प्रशासन (Administration) से ही व्यवहार करना पड़ता है। (x) रेलवे शिल्पशालाओं (Railway Workshops) का अधिक आधुनिकीकरण (Moder-

nisation) हो सका है तथा रेलवे अनुसन्धान को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। (xi) प्राय पुनवर्गीकरण के विरुद्ध यह आरोप लगाया जाता है कि इसमे मुख्यालयों (Head Quarters) द्वारा उचित निरीक्षण नही हो पाता। परन्तु यह आलोचना अधिक ठोस नही है। वस्तुत इसमे छोटी छोटी इकाइयो द्वारा प्रवन्ध होता है तथा Post Office, Telegraph तथा Wireless आदि की सुविधाओ द्वारा प्रशासन मे अधिक सुव्यवस्था लाई गई है।

पुनर्वर्गीकरण से हानिया (Disadvantage of Re group ng) —रेलवे पुनगठन के स्वाभाविक दोष इस प्रकार रहे हैं— (i) पुनवर्गीकरण के पश्चात् भारतीय रलें सुप्रवन्ध और सचालन व्यय मे मितव्ययिता लाने में सफन नही हो सकी हैं। (ii) रेलो के सचालन अनुपात Management Proportion) मे पूर्वापेक्षाकृत अधिक वृद्धि हो गई है। सन १९५४-५५ मे श्री बी० सी० घोष (B C Ghose) ने लोकसभा में बजट पेश करते हुए बताया था कि, 'पुनर्वर्गीकरण के पश्चात भारतीय रेलों में स्थाई आय, बढ़ते व्यय घटते लाभ तथा रेलवे बोड के कम अनुदान की स्थिति हो गई है"। (iii) रेलो मे दुर्घटनाओ की भरमार भी यही सिद्ध करती है कि पुनर्वर्गीकरण के बाद रेलवे प्रवन्ध-व्यवस्था मे अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है (iv) पुनर्वर्गीकरण के पश्चात् रेलो की कार्यक्षमता दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। (v) यद्यपि रेलो के समन्वय (Co-ordination) से रेलो के किराये भाडे का दर कम हो जाती है, रेलें अधिक सेवा कर पाती हैं तथा अविकसित क्षत्रो का अधिक विकास हो पाता है तथापि भारतीय रेलो के समन्वय से स्थिति एकदम विपरीत रही। जामनगर द्वारका रेलवे को सौराष्ट्र रेलवे मे तथा सौराष्ट्र रेलवे को पश्चिमी रेलवे मे समन्वित करने पर भाडे की दर कम करने के स्थान पर वढा दी गई। फलत सीमेंट कम्पनी को भारी धक्का पहुँचा है। (vi) पुनर्वर्गीकरण के पश्चात् भारतीय रेलो की आर्थिक दशा गिरती ही जा रही है। इसके अतिरिक्त प्रवन्ध मे ढीलापन और कार्यकुशलता मे हीनता के दोष उत्पन्न हो गये हैं।

उपसहार –वस्तुत अभी रेलवे-पुनर्वर्गीकरण के परिणामो का निश्चय करना पूर्वकालिक (Too-Early) है। पुनर्वर्गीकरण एक महान परिवर्तन है। इसके सही परिणामो का ज्ञान भविष्य मे ही हो सकेगा। परन्तु जैसा कि (Ex Financial Commissioner Mr I S Puri) का कथन है— पुनवर्गीकरण की बहुत सी योजनायें अभी तक क्रियान्वित नही की जा सकी हैं। अत पुनवर्गीकरण की सभी योजनाओ को व्यवहरित करना तथा इनमे सुधार एव अनुसधान करने की अपूर्व आवश्यकता है।

भारतीय रेलवे वित्त व्यवस्था का प्रथक्करण

(Separation of Indian Railways Finance)

प्राक्कथन प्रारम्भिक काल से ही रेलवे वित्त (Railway Finance) सामान्य वित्त (General Finance) का एक अग रहा। सन् १९०८ मे मैके समिति

(Macay Committee) ने रेलवे विकास पर १८ करोड़ रु० वार्षिक व्यय के आयोजन करने की सिफारिश की थी। फलत सन् १६०८ से सन १६१३ तक रेलवे पर ६२ करोड रु० व्यय किये गये। प्रथम महायुद्धकाल मे रेलो पर होने वाले वार्षिक व्यय मे बहुत कमी कर दी गई है। रेलवे समस्याओ के अध्ययन के लिए विलियम एकवर्थ (William Acworth) की अध्यक्षता मे एक जाच समिति बैठाई गई। इस समिति ने रेलवे वित्त के पृथक्करण के सम्बन्ध मे ये सिफारिशें प्रस्तुत की थी.—(i) एक व्यापारिक सस्था होने के कारण रेलवे की व्यय-पद्धति मे पूर्ण लोच (Flexiblity) होना चाहिये। उसमे अवधि अथवा तिथि सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नही होना चाहिये। (ii) पृथक्करण की दशा मे रेलवे बजट पर सामान्य बजट का कोई प्रभाव नही रह सकेगा। (iii) जब रेलो का व्यय आय की अपेक्षा कम होता है तब उस वर्ष का आधिक्य साधारण बजट की अन्य मदो पर व्यय कर दिया जाता है। इस स्थिति मे रेलें अपनी पू जी सम्पत्तियो के पुर्नस्थापन के लिये कोई कोष नही बना सकती। परन्तु रेलवे वित्त के पृथक्करण की दशा मे रेले अपनी पू जी-सम्पत्तियो के पुर्नस्थापन (Replacement) के लिये आवश्यक कोष जुटा सकती हैं। (iv) रेलो की अनिश्चित आय का परिणाम सामान्य बजट मे भी अस्थिरता लाना होता है। परन्तु पृथक्करण की अवस्था मे यह समस्या नही उठती। अत इन सब कारणो को ध्यान मे रखते हुये रेलवे वित्त का सामान्य वित्त से पृथक्करण आवश्यक है।

रेलवे वित्त पृथक्करण प्रस्ताव सन १६२४ (Railway Finance Separation Convention of 1924) —एकवर्थ कमेटी की सिफारिशो की जाच करने के लिए भारत सरकार ने एक उप-समिति (Sub-committee) नियुक्त की। इस उप-समिति ने रेलवे वित्त का सामान्य वित्त से तत्कालीन पृथक्करण करने को अनुपयुक्त बताया। उप-समिति की इस सलाह को मानते हुये भारत सरकार ने पृथक्करण का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया तथा ५ वर्ष के लिए ३० करोड रु० वार्षिक रेलवे व्यय के लिये देना स्वीकार किया। २० सितम्बर सन् १६२४ को पृथक्करण की नीति को स्वीकार करते हुये विधानमण्डल द्वारा एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसकी मुख्य प्रतिज्ञाए इस प्रकार थी —(i) रेलो का आय-व्यय सरकारी आय-व्यय से पृथक् रक्खा जाये। प्रतिवर्ष रेलें राजकीय कोष मे अपनी आय का एक निश्चित अ श दान दिया करेंगी। (ii) अ शदान उत्पादक रेलो मे लगी हुई पू जी का १ प्रतिशत और शेष अतिरिक्त लाभ का ⅕ भाग होगा। यदि किसी वर्ष रेलो की आय इस १ प्रतिशत धनराशि को देने के लिए कम पडे, तब इस कमी को पूरा किये बिना आगामी वर्षों मे अतिरिक्त लाभ अर्जित नही समझा जाएगा। परन्तु अनुत्पादक रेलो मे लगी हुई पू जी का ब्याज और हानि सरकार को भुगतान करनी होगी। (iii) राजकीय कोष मे उक्त धनराशि जमा करने के बाद शेष लाभ रेलवे सचित निधि (Railway Reserve Fund) मे जमा होगा। (iv) सचित निधि का उपयोग इन उद्देश्यो के लिये किया जा सकेगा —(अ) सामान्य कोष मे वार्षिक अ शदान

देने के लिए। (आ) अवमूल्यन निधि (Depreciation Fund) की व्यवस्था करने के लिए (इ) रेलो द्वारा किराये-भाडे की दर कम करने से होने वाली हानि की पूर्ति के लिए तथा (ई) रेलो की आर्थिक स्थिति सुदृढ करने के लिये। (v) रेलों को अपनी सचित निधि से ऋण लेने का अधिकार भी होगा। (vi) १२ सदस्यो की एक स्थाई वित्त समिति (Standing Finance Committee) बनाई जाए। इस समिति का कार्य रेलो के व्यय सम्बन्धी अनुदानो का विधान-मण्डल मे जाने से पूर्व निरीक्षण करना होगा।

नवीन अभिसमय प्रस्ताव १९४९ (New Convention Resolution of 1949)—सन् १९४०-४१ तक भारतीय रेलो को कोई विशेष लाभ नही हुआ। परन्तु द्वितीय महायुद्धकाल मे रेलों की आर्थिक दशा म क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। फलत रेलो ने अपना पिछला सब ऋण चुका दिया। सन् १९४३ म वित्त मन्त्री ने सन् १९२४ के पृथक्करण प्रस्ताव को अव्यावहारिक घोषित किया। उस समय यह निश्चय किया गया कि उत्पादक रेलो के समस्त लाभ म से कुछ भाग घिसावट कोष म, कुछ भाग ऋण चुकाने मे तथा शेष का २५ प्रतिशत सचित कोष म और ७५% सामान्य कोष मे दिया जायेगा। १२ दिसम्बर सन् १९४९ को विधान सभा म रेलवे वित्त पृथक्करण सम्बन्धी नया प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रतिज्ञा की मुख्य बातें इस प्रकार थी —(i) रेलवे वित्त मे स प्रतिवर्ष लाभांश प्राप्तिकर्त्ता के रूप म सामान्य बजट एकमात्र अ शधारी (Sole Shareholder) रहगा। प्रतिवर्ष सामान्य वित्त को रेलो म लगी हुई ऋण-पू जी पर ४ प्रतिशत की दर से लाभांश (Dividend) दिया जायेगा। (ii) रेलवे पू जी सम्पत्ति के नवीनीकरण तथा प्रतिस्थापन (Renewal and Replacement) व्यय के निमित्त अवक्षयण सचित निधि (Depreciation Reserve Fund) मे आगामी पाच वर्षों तक प्रतिवर्ष १५ करोड रु० जमा किए जायेंगे। (iii) रेलवे सचित निधि (Railway Reserve Fund) अब रेलवे आगम सचित निधि (Railway Revenue Reserve Fund) कहलाएगा। इस कोष का उद्देश्य प्राथमिक रूप से सामान्य कोष के प्रति लाभांश देयता तथा सहायक रूप से रेलव कमकरण म अर्थ की कमी को दूर करना होगा। (iv) एक विकास निधि (Development Fund) की स्थापना की जायगी। इसका प्रयोग श्रम-कल्याण कार्यों (Labour Welfare Activities), यात्रियो एव अन्य रेल प्रयोक्ताओ को सुख-सुविधाए प्रदान करने तथा आवश्यक लाभकारी योजनाओ पर व्यय की व्यवस्था करने के लिये होगा। (v) रेलों के लिय एक स्थाई वित्त समिति (Standing Finance Committee) तथा एक केन्द्रीय मन्त्रणा परिषद् (Central Advisory Council) की स्थापना की जायगी।

सन् १९५४ का पृथक्करण सम्बन्धी सशोधित प्रस्ताव—सन् १९४९ का प्रतिज्ञा प्रस्ताव केवल ३१ मार्च सन् १९५५ तक के लिए ही था। अत ससद न इसकी पुन जाँच करने के लिए एक अभिसमय समिति (Convention Committee) नियुक्त की। इस समिति की सिफारिशो का स्वीकार करके भारतीय ससद ने २१

दिसम्बर सन् १९५४ का मन १९४९ के प्रस्ताव को संशोधित करके नया रूप दिया। इस संशोधित प्रस्ताव की मुख्य बातें इस प्रकार थीं :—(i) रेलो द्वारा सामान्य-वित्त की पूंजीगत-व्यय (Capital Expenditure) पर आगामी ५ वर्षों में ४ प्रतिशत लाभांश दिया जायगा। (ii) रेलवे पूंजी पर साधारण वित्त उसी दर से लाभांश प्राप्त करेगा जो सामान्यत दूसरे व्यापारिक विभागों से सरकारी ऋण पूंजी पर लिया जाता है। (iii) नये रेलवे मार्गों की पूंजी लागत पर लाभांश कम लिया जायेगा तथा नए रेलवे मार्ग चालू होने से आगामी ५ वर्षों तक यह लाभांश स्थगित रक्खा जाएगा। आगामी वर्षों में इनकी आय में से स्थगित राशि चालू वर्ष के लाभांश सहित वसूल की जायेगी। (iv) मूल्यह्रास निधि (Depreciation Fund) में आगामी ५ वर्षों तक प्रतिवर्ष ३५ करोड रु० जमा किये जायेंगे। (v) विकास निधि (Development Fund) का कार्यक्षेत्र सभी रेल प्रयोक्ताओं के लिये बढ़ा दिया गया तथा इसके लिये ३ करोड रु० वार्षिक पूर्ववत ही व्यय किये जाने का निश्चय किया गया। (vi) अलाभकर रेल मार्गों का निर्माण व्यय सीधा पूंजी-व्यय में सम्मिलित किया जायगा। (vii) रेलों की आय-क्षमता को अबाधित रखने के लिये, रेलों के लाभ-हानि की ओर ध्यान देते हुये सम्पत्ति की घिसावट तथा पुनः स्थापन का प्रबन्ध वास्तविक स्थिति के अनुसार एवं सम्पत्ति के जीवनकाल में ही किया जाएगा।

रेल अभिसमय प्रस्ताव सन् १९६० :—सन् १९५४ के अभिसमय प्रस्ताव की अवधि ३१ मार्च सन् १९६० तक थी। अत ससद ने इसकी पुन जाच के लिये एक रेल अभिसमय-समिति नियुक्त की। इस समिति के सुझावों को भारतीय संसद ने सन् १९६० में स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :— (i) तृतीय पचवर्षीय योजनावधि के सामान्य राजस्व को दी जाने वाली लाभांश की दर ४½ प्रतिशत निश्चित की गई है। (ii) सन् १९५४ के प्रस्ताव के अन्तर्गत स्वीकृत लाभांश सम्बन्धी दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है :—(क) सभी नई रेलों में लगी पूंजी का लाभांश आगामी ५ वर्ष के लिये स्थगित रक्खा जायगा तथा (ख) रेलों के पूंजी विनियोग खाते में अतिपूंजीकरण पर कम दर से लाभांश दिया जायगा जो ब्याज की औसत दर के बराबर होगा। (iii) सामरिक महत्व की रेलों की पूंजी पर कोई लाभांश नहीं लगाया जायगा वरन् इनका घाटा केन्द्रीय राजस्व द्वारा उठाया जायगा। (iv) आगामी वर्षों मे रेलवे मूल्यह्रास निधि में प्रतिवर्ष ७० करोड रु० जमा किये जायेंगे। (v) रेलवे उपयोक्ताओं के निमित्त लगाई जाने वाली ३ करोड रु० की वार्षिक धनराशि को यथाशक्ति और अधिक बढ़ाया जायगा।

नई व्यवस्था के दोष :—(i) अभी तक रेलवे वित्त-व्यवस्था सरकारी प्रभाव से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं है। रेलवे की संचित निधि (Reserve Fund) अब भी सरकारी वित्त के बैंक के पास जमा है। इसका परिणाम यह होता है कि रेलो

के पास अपना सक्रिय शेष (Working Balance) सदैव नही रहता। अत आवश्यकता इस बात की है कि रेलो का अपना पृथक् खाता हो जिसमे उनके सब कोष सचित रहे। रेलें अपने कोषो के उपयोग मे सदैव स्वतन्त्र रहे। (ii) सामान्य वित्त को रेलवे वित्त में एकमात्र अ शधारी (Sole Shareholder) का रूप दिया गया है। वास्तव मे अ शधारक को तभी लाभाश मिलना चाहिये जबकि रेलवे को लाभ हो। परन्तु अभिसमय प्रस्ताव मे यह कठोर नियम है कि चाहे रेलवे को लाभ हो अथवा हानि उसे सामान्य वित्त को लाभाश देना ही होगा। अत आर० डी० तिवारी (R D Tiwari) के मतानुसार 'यद्यपि रेलवे वित्त का पृथक्करण इसलिये किया गया था कि इससे रेलों का विकास होगा, तथापि साधारण बजट मे अनिवार्य अ शदान देने के कारण रेलों के ऊपर इतना बोझ रहा है कि रेलों को विशेष लाभ नहीं हो सका है। (iii) सन् १६५७-५८ का रेलवे बजट प्रस्तुत करते समय रेलवे मन्त्री के भाषण मे यह कहा गया था कि रेलवे वित्त सामान्य वित्त पर निर्भर है। वस्तुत इस प्रकार के दृष्टिकोण रेलवे-वित्त की स्वतन्त्रता मे बाधक है जिनका निवारण अति आवश्यक है।

विगत नियोजनकाल मे रेलों का विकास—(i) विगत दशाब्दी (Decade) में भारतीय अर्थ-व्यवस्था के द्रुत विकास के कारण परिवहन की माग बहुत बढ गई है। यद्यपि पहली दोनो योजनाओ मे परिवहन-क्षमता मे पर्याप्त विस्तार किया गया, फिर भी बडी कठिनाई से दिनो-दिन बढती हुई माग पूरी हो पा रही है। विशेषकर रेलो को इस अवधि मे परिवहन की माग को पूरा करने मे बडी कठिनाई रही। (ii) विगत नियोजनकाल मे भारतीय रेलो के माल यातायात (Freight Fraffic) मे १०० प्रतिशत तथा यात्री यातायात (Passenger Traffic) म २७ प्रतिशत वृद्धि हुई है। (iii) प्रथम और द्वितीय योजनाओ मे रेलवे विकास कार्यक्रम पर क्रमश २५८·५ करोड रु० और ८६० करोड रु० व्यय किये गये। (iv) प्रथम योजनाकाल मे परिवहन के क्षेत्र मे सबसे बडा काम उन पुराने साधनो को बदलना या सुधारना था जो उससे पहले की दशाब्दी मे भारी काम करने के कारण गिरी हुई हालत मे पहुँच चुके थे। इस योजनावधि मे रेलो के डिब्बे और इ जिनो की मरम्मत, पुरानी लाइनों के स्थान पर नई लाइनें बिछाने, साज सज्जा की मरम्मत एव नवीकरण (Renewal) के लिये बहुत बडी राशि की व्यवस्था करनी पडी। (v) दूसरी योजनावधि मे भी इस काम के लिये, विशेषकर रेलो के पुराने सामान को बदलने के लिये, बहुत बडी राशि लगाई गई। परन्तु दूसरी योजना के अन्तर्गत नई लाइनें बिछाने तथा नये इ जिन व नये डिब्बे बनाने पर अत्यधिक बल दिया गया, ताकि अर्थव्यवस्था के कृषि और औद्योगिक क्षेत्रो के उत्पादन मे होने वाली वृद्धि को ढोने का बढा हुआ कार्य रेलें निभा सकें। (vi) नियोजन की विगत दशाब्दी मे रेलवे इ जिनो की सख्या ८,४६१ स बढाकर ०,५५४,, मालगाडी के डिब्बों की सख्या २२२,४४१ स बढाकर ३४१,०४१ तथा सवारी गाडी के डिब्बो की सख्या

२०,५०२ से बढ़ाकर २८,१७१ कर दी गई। (vii) इस अवधि में बड़ी मात्रा में नई लाइन बिछाने का कार्य अत्यन्त तीव्रता से हुआ। लगभग १,३०० मील लम्बी रेलवे लाइन को दोहरा (Doubling) किया गया और ८०० मील लाइन पर विद्युत से रेल चलाने (Electrification) की व्यवस्था की गई। इस अवधि में लगभग १,२०० मील लम्बी नई रेलवे लाइनें बिछाई गई तथा विगत महायुद्ध में उखाडी गई (Dismantled) ४०० मील लम्बी लाइन को पुन बिछाया गया। (viii) भारतीय रेलों ने सन १९५०–५१ में ६१५ लाख टन माल ढोया था। सन् १९६०–६१ में रेलों ने १,५४० लाख टन माल ढोया। इस अवधि में रेलों में माल के लदान की औसत दूरी २९२ मील से बढ़कर ३५४ मील हो गई। इस प्रकार मात्रा के हिसाब से माल की ढुलाई में ६६ प्रतिशत वृद्धि हुई, जबकि टन-मीलों (Ton Miles) के हिसाब से इसमें शत प्रतिशत की वृद्धि हुई है। (ix) द्वितीय योजनाकाल में लगभग ८,००० मील लम्बी रेलवे लाइनों के पूरे सामान का नवीनीकृत (Complete Track Renewal) किया गया। प्रथम योजनाकाल में ४६ मील संकुचित लाइन (Narrow Gauge) को बड़ी लाइन (Broad Gauge) में परिवर्तित किया गया। योजना के अन्त में ४४३ मील नई रेलों पर निर्माण कार्य जारी था तथा ५२ मील मीटर लाइन (Metre Gauge) को बड़ी लाइन (Broad Gauge) में परिवर्तित किया जा रहा था। ये दोनों कार्यक्रम द्वितीय योजनावधि में पूरे किये गये (x) द्वितीय योजनावधि में ७० यार्डों का पुनर्निर्माण किया गया तथा छोटे-बड़े ६,००० नये पुल बनाये गये जिनमें असम में ब्रह्मपुत्र नदी पर पुल तथा देहली में जमुना नदी पर पुल तथा रूरकेला दुर्ग (Rourkela Durg) व गोदरा रतलाम (Godra Ratlam) के पुल अर्थात् ४ बड़े पुल सम्मिलित हैं। इस योजनाकाल में २० शिल्पशालाओं की कार्यक्षमता बढ़ाई गई तथा ६ नई शिल्पशालाओं की स्थापना की गई। (xi) इसी प्रकार दूसरी योजनावधि में १०० नये स्टेशनों पर आधुनिक सिगनलिंग व्यवस्था की गई, २०० नये स्टेशनों का निर्माण किया गया, ३४ नये इंजिन शेड बनाये गये तथा ६०० स्टेशनों पर बिजली लगाई गई। (xii) कर्मचारियों की सुख-सुविधाओं के लिये द्वितीय योजनाकाल में ६६,००० नये मकान बनाये गये तथा १३ अस्पताल और ८५ औषधालय और ९ प्रशिक्षण शालाएं खोली गई। इस अवधि में १५ करोड़ रु० यात्रियों की सुख-सुविधाओं को बढ़ाने पर व्यय किये गये। (xiii) रेलवे इंजिनों एवं अन्य साज सज्जा के उत्पादन में देश को आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से विगत वर्षों में महत्वपूर्ण कदम उठाए गये हैं — (क) सन् १९५२ में आसनसोल के निकट मिहीजाम नामक स्थान पर चितरंजन लोकोमोटिव फैक्ट्री स्थापित की गई। द्वितीय योजनावधि के अन्त तक इस कारखाने में १८० इंजिन तथा ५० बाइलर (Spare Boiler) प्रतिवर्ष बनने लगे हैं। (ख) रेलवे इंजिन और बाइलर बनाने के उद्देश्य से प्रथम योजनाकाल में टाटा लोकोमोटिव व इंजिनीयरिंग कम्पनी को २ करोड़ रु० की आर्थिक सहायता दी गई।

प्रथम योजनाकाल में इस कम्पनी ने १६० इंजिन बनाए। द्वितीय योजनावधि में इसकी उत्पादन क्षमता १०० इंजिन प्रतिवर्ष हो गई है। (ग) भारत सरकार ने १० करोड़ रु० की पूंजी से मद्रास के निकट पेरम्बूर नामक स्थान पर सवारी डिब्बे बनाने का एक कारखाना खोला जिसकी उत्पादन क्षमता ३५० डिब्बे वार्षिक आकी गई है। इस कारखाने में उत्पादन कार्य अक्टूबर सन् १९५५ से प्रारम्भ हुआ है। हमारे देश ने द्वितीय योजना के अन्त तक रेलवे के वाष्प इंजिनों और सवारी डिब्बों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भरता (Self sufficiency) प्राप्त करली है। (घ) २३ अप्रैल सन् १९५६ को बनारस के निकट रेलवे इंजिन के पुर्जे बनाने का कारखाना खोला गया है। (ङ) द्वितीय योजनाकाल में मीटर लाइन के सवारी डिब्बे बनाने का एक कारखाना बरेली में खोला गया है।

तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेलवे विकास कार्यक्रम—तीसरी पंचवर्षीय योजना में रेलवे विकास कार्यक्रम पर ८१० करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त योजनावधि में रेलें अपनी मूल्य-ह्रास निधि (Depreciation Fund) से ३५० करोड़ रु० तथा स्टोर सस्पेंस एकाउन्ट (Store Suspense Account) से ३५ करोड़ रु० विकास कार्यक्रम पर व्यय करेंगी। इस योजना के अन्तर्गत रेलवे विकास के विभिन्न कार्यक्रम इस प्रकार हैं (i) यातायात का लक्ष्य (Traffic Targets)—तीसरी योजना में रेलों के विकास का कार्यक्रम यह मानकर बनाया गया है कि सन् १९६५—६६ तक रेलों द्वारा माल यातायात (Freight Traffic) की ढुलाई २,४५० लाख टन वार्षिक तक पहुंच जाएगी। इस प्रकार योजनावधि में ९१० लाख टन माल यातायात की अतिरिक्त वृद्धि की आशा है। इसमें से ७९५ लाख टन कोयला, इस्पात और इस्पात का कच्चा माल (Iron Ore), सीमेन्ट, निर्यात किया जाने वाला लोहा और रेलों का अपना माल होगा और शेष ११५ लाख टन सामान्य जनता के माल की ढुलाई में वृद्धि होगी। जहां तक यात्री यातायात (Passenger Traffic) की वृद्धि का सम्बन्ध है, योजनाकाल में गैर-शाखा नगर यातायात (Non-suburban Traffic) में ३ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का अनुमान लगाया गया है। (ii) रेलवे विकास कार्यक्रम (Railway Development Programme)—यद्यपि तीसरी योजना के अन्तर्गत रेलवे विकास कार्यक्रम पर ८९० करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है, तथापि यह आशा की गई है कि वास्तविक व्यय अनुमानित व्यय से अधिक रहेगा इस प्रकार रेलों के विकास कार्यक्रमों पर स्टोर सस्पेंस एकाउन्ट सहित लगभग १,३२५ करोड़ रु० व्यय होने की आशा है। (iii) चलयनादि कार्यक्रम (*Rolling Stock Programme*)—योजनाकाल में ९०,४४७ नये मालगाडी के डिब्बे, ५,०२५ नए सवारी गाडी के डिब्बे तथा १,१५० नए इंजिन प्राप्त करने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त योजनावधि में ६१४ पुराने इंजिनों, २,८५४ पुराने सवारी डिब्बों तथा १,१७,१४८ पुराने *मालगाडी के डिब्बों को पुर्नस्थापित (Replacement) किया जाएगा।*

कारखानो के कार्यक्रम मे अन्य कामो के अतिरिक्त, चितरन्जन के कारखाने मे भोपाल के विद्युत की भारी मशीनो के कारखाने के सहयोग से विद्युत इंजिन (Electric Locomotives) तैयार करने का कार्यक्रम भी सम्मिलित है। इसके साथ ही डीजल इंजिनो (Disell Locomotives) के निर्माण के लिए भी व्यवस्था की जाएगी। (iv) लाइन-क्षमता कार्य (Line Capacity Work)—योजनाकाल में १,६०० मील लम्बी लाइनो को दोहरा (Doubling) किया जाएगा तथा यार्डो का आधुनिकीकरण (Modernization) किया जाएगा। इस कार्य मे इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाएगा कि प्रमुख लाइनो की क्षमता बढाई जाए तथा जिन क्षेत्रो मे कोयला व लोहा आदि भारी माल की ढुलाई म वृद्धि होने की आशा है, वहा अतिरिक्त लाइनें बिछाई जायें। (v) विद्युतीयकरण (Electrification)—तीसरी योजना मे १, ०० मील लम्बी लाइन का विद्युतीयकरण करने का लक्ष्य रक्खा गया है। इस सम्बन्ध मे द्वितीय योजना से चले आ रहे कार्यक्रमो को पूरा किया जाएगा तथा मुगलसराय से कानपुर तक विद्युतीयकरण करने का केवल एक नया कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाएगा। (vi) ट्रैक का नवीकरण (Track Renewal)—अभी तक पुरानी लाइनो पर सामान बदलने का जो कार्य शेष है वह तीसरी योजनावधि मे पूरा किया जाएगा। योजनाकाल मे ५,००० मील लम्बी लाइनो का पूरा सामान नवीनीकृत (Complete Track Renewal) किया जाएगा २ ५०० मील लम्बी लाइनो की केवल पटरियो को नवीनीकृत (Rail Renewal) किया जाएगा तथा २,२५० मील लाइनो के केवल शहतीरो का नवीनीकरण (Sleepers Renewal) किया जाएगा। (vii) नई लाइनों का कार्यक्रम (New Lines Programme)—इस योजना के अन्तर्गत १,२०० मील नई रेलवे लाइनें बिछाने की व्यवस्था की गई है। द्वितीय योजनाकाल मे प्रारम्भ की गई नई रेलवे लाइनो अर्थात् गढवा रोड-राबर्ट्सगज, सम्भलपुर-तितलागढ और विमलगढ-किरीबरू को पूरा करने के अतिरिक्त तीसरी योजना मे ये नई लाइनें और बिछाने का कार्यक्रम है—झड-काडला, माधोपुर-कथुआ, उदयपुर- हिम्मतनगर, दिल्ली को बचाकर चलने वाली लाइनें दिवा-पानवेल-खारपाडा-उरन, पायरकण्डी-धर्मनगर, गुना-मकसी, राची-लोहामुण्ड, हिन्दूमलकोट-श्री गगानगर, गाजियाबाद तुगलकाबाद, बैलामिला-कोटवालसा तथा हालदा बन्दरगाह के लिए नई लाइन। इनके अतिरिक्त योजना मे कोयला उद्योग के विकास के सम्बन्ध मे २०० मील लम्बी नई लाइनों के बनाने की भी व्यवस्था की गई है। (viii) पुल निर्माण (Bridge Works)—तीसरी योजनावधि मे रेलवे लाइनो पर अनेक पुराने पुलो को पुन. संस्थापित किया जाएगा तथा आवश्यक स्थानो पर नए पुल बनाए जायेंगे। (ix) कर्मचारी कल्याण-कार्य (Employees Welfare Activities)—समस्त व्यय मे से ५० करोड रु० रेलवे कर्मचारियो के मकान निर्माण तथा उन्हे अन्य सुख-सुविधायें जुटाने मे व्यय किए जायेंगे। योजनाकाल मे रेलवे कर्मचारियो के लिये ५४,००० नए मकान बनाए जायेंगे। कर्मचारियो के कल्याण

Distance) का होता है तथा प्रत्येक यात्रा एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं असम्बद्ध होती है। फलत इनके प्रबन्धक यातायात (Traffic) की नियमितता (Punctuality) पर कोई ध्यान नहीं देते। (vii) **समय का बचत** (Saving of Time) :—थोडी दूर की यात्रा मे सडक परिवहन से समय की बचत होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे दो स्थान जिनके बीच मे माल आता जाता है, बहुधा रेल की अपेक्षा सडक द्वारा सीधे सम्बन्धित होते है और उनके बीच की दूरी अपेक्षाकृत कम होती है। एक अनुमान के अनुसार थोडे माल को (जिससे डिब्बा पूरा नहीं भरता) रेल से ले जाने मे लगभग ८ बार बदली व हस्तान्तरण करना पडता है, परन्तु उसी माल को मोटर ठेले से ले जाने म केवल तीन बार बदली करनी पडती है। (viii) **सवेष्टन** (Packing) —सडक परिवहन द्वारा भेजे जाने वाले माल के सवेष्टन म विशेष चातुर्य की आवश्यकता नही होती तथा अनेक प्रकार की वस्तुओ को बिना सवेष्टन के भी एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलतापूर्वक भेजा जा सकता है। (ix) **बहुमुखी सेवा** (Multipurpose Character) —सडकों का निर्माण किसी वाहन (Vehicle) विशेष के उपयोग के लिये नही होता वरन् सार्वजनिक हितार्थ होता है। सडको पर अनेक प्रकार के वाहन चल सकते हैं। (x) **अधिकतम सामाजिक हित** (Maximum Social Benefit) —परिवहन के अन्य साधनो से लाभ उठाने के लिये द्रव्य की आवश्यकता होती है परन्तु सडक का उपयोग निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी कर सकता है। (xi) **विरोधी हित** (Diversity of Interests) —सडक परिवहन म सडक निर्माता और उसके उपयोगकर्त्ताओ के हित समान नहीं होते। सडक निर्माण करने एव उसकी सुरक्षा का दायित्व सरकार पर होता है जो सडक निर्माण के समय विभिन्न वाहनो के लिये सडक की उपयुक्तता न देखकर व्यय मे मितव्ययता की ओर देखती है। सडक परिवहन मे वाहनों के स्वामियो का अपना सगठन नही होता। उन्हें राष्ट्रीय-मार्ग (National Highways), प्रादेशिक मार्ग (State Highways), जनपदीय सडक (District Roads) तथा ग्राम्य सडक (Village Highways) आदि विभिन्न सत्ताओ के आधीन कार्य करना पडता है। रेलवे की भाति सडक परिवहन और उसके वाहन यातायात प्रबन्ध (Traffic Management) मे स्वतन्त्र नही होते। प्राय उनकी चाल और यातायात नियम (Traffic Regulation) ट्रैफिक पुलिस (Traffic Police) के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इसके अतिरिक्त सडक वाहनो के स्वामी लाइसेंस फीस, पैट्रोल कर तथा दूसरे छोटे शुल्को (Miner Fees) के रूप म जो व्यय देते हैं, (जो अनुमानत कुल व्यय मे से ३' प्रतिशत होता है) उसके व्यय करने के सम्बन्ध मे कोई अधिकार नहीं रखते। (xii) **कम पूजीगत व्यय** (Law Capital Investment) :—रेल मार्ग की अपेक्षा सडको के निर्माण एव मरम्मत आदि पर बहुत कम व्यय होता है।

भारत में सड़कों का विकास —भारत के प्राचीन इतिहास तथा हड़प्पा व मोहनजोदडा की खुदाई से यह ज्ञात है कि ३५०० ई० पू० देश मे बडी-बडी सडकें

थीं। हिन्दू और मुस्लिम शासनकाल मे भी देश मे थोडा-बहुत सडको का निर्माण कार्य चलता रहा। ब्रिटिश शासनकाल मे सडको की वास्तविक प्रगति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुई। सन् १६२० मे मोटर गाडियो की सख्या मे वृद्धि होने से सरकार का ध्यान सडक-निर्माण की ओर आकर्षित हुआ। सन् १६२७ मे भारत सरकार ने सडको के विकास एव उनकी वित्तीय स्थिति की जाच करने के लिए डा० जयकर की अध्यक्षता म एक समिति नियुक्त की। "जयकर समिति" ने अपनी रिपोर्ट मे भारत के आर्थिक एव सामाजिक विकास के लिए सडको के विकास करने पर अत्यधिक बल दिया। अत समिति की सिफारिशो के आधार पर भारत सरकार ने सन् १६२६ मे केन्द्रीय सडक विकास कोष (Central Road Development Fund) की स्थापना की। इस कोष मे पैट्रोल पर आयात कर (Import Duty) व उत्पादन कर (Excise Duty) से प्राप्त आय जमा की जाती थी। वस्तुत सन् १६४ तक किसी निश्चित योजना एव लक्ष्य के अभाव मे तथा वित्तीय कमी के कारण सडक विकास की गति बहुत ही धीमी और अनियमित रही। सन् १६४३ मे नागपुर योजना के रूप मे देश मे योजनाबद्ध ढग से सडको का विकास करने का प्रथम प्रयास किया गया।

नागपुर योजना (Nagpur Plan): सन् १६४३ मे भारत सरकार ने देश मे सडक निर्माण की भावी नीति निर्धारित करने के लिए नागपुर मे विभिन्न प्रदेशो के प्रमुख इजीनियरो (Chief Engineers) का एक सम्मेलन (Conference) बुलाया। इस सम्मेलन मे सडको के विकास की एक २० वर्षीय योजना बनाई गई जिसे 'नागपुर योजना' कहते हैं। इस योजना मे देश की न्यूनतम आवश्यकताओ के आधार पर सभी प्रकार की सडको के सन्तुलित विकास की व्यवस्था की गई। योजना मे सडको को राष्ट्रीय मार्ग (National Highways) प्रादेशिक मार्ग (Provincial Highways), बडी जनपदीय सडको (Major District Roads), छोटी जनपदीय, सडको (Minor District Roads) तथा ग्राम्य सडको (Village Roads) मे वर्गीकृत किया गया। इस योजना मे यह लक्ष्य रखा गया था कि भविष्य में कोई भी विकसित कृषि क्षेत्र मे स्थित गाव मुख्य सडक (Main Road) से ५ मील से अधिक दूर न हो तथा अकृषि क्षेत्र का कोई भी गाव मुख्य सडक से २० मील से अधिक दूर न हो। राष्ट्रीय मार्ग वर्तमानकालीन मुख्य सडकें हैं जो प्रादेशिक राजधानियो, बन्दरगाहो और बडे नगरो को परस्पर मिलाती हैं। सामरिक महत्व (Strategic Importance) की सडकें भी इसी श्रेणी मे सम्मिलित हैं। इनके निर्माण व देख-रेख का दायित्व केन्द्रीय सरकार का है। प्रादेशिक मार्ग राज्य की मुख्य सडकें हैं। ये राज्य के प्रमुख स्थानो एव महत्वपूर्ण नगरो को राष्ट्रीय मार्ग से मिलाती हैं। इनके निर्माण और देख रेख का दायित्व प्रादेशिक सरकारो का है। जनपदीय सडकें उत्पादन क्षेत्रो तथा बाजारो को परस्पर और राज्य मार्गों व रेलो से मिलाती हैं। इनके निर्माण एव देख रेख का दायित्व जिला परिषद (District Board) का है। ग्राम्य सडकें गावो

को परस्पर तथा जिलो की सड़को व राजमार्गों से सम्बद्ध करती हैं। इनके निर्माण और देख रेख का दायित्व स्थानीय निकायो (Local Bodies) का है। नागपुर योजना म अविभाजित भारत के लिए ४३० हजार मील लम्बी सडको के निर्माण का लक्ष्य रखा गया जिन पर ४४८ करोड रु० के व्यय का अनुमान लगाया गया था। विभाजन के कारण भारतीय सघ मे नागपुर योजना के लक्ष्यानुसार कुल ३३१ हजार मील लम्बी सडको का निर्माण होना था जिन पर ३७३ करोड रु० की लागत का अनुमान लगाया गया था। नागपुर योजना के अनुसार भारतीय सघ मे पक्की सडकें (Surface Roads) ८८,००० मील से बढाकर १,२३,००० मील और कच्ची सडकें (Unsurface Roads) १,३२ ००० मील से बढाकर २,०८,००० मील करने का लक्ष्य रखा गया था। केन्द्रीय सरकार ने योजना के कुछ सुझावो को कार्यान्वित करना स्वीकार किया और राष्ट्रीय मार्गों का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर ले लिया। राज्य सरकारो ने भी अप्रैल सन् १६४७ से कार्यारम्भ करके सडको के निर्माण एव सुधार के लक्ष्य निश्चित किए। परन्तु प्रथम पचवर्षीय योजना की आरम्भना तक इस ओर वास्तविक प्रगति बहुत सतोषप्रद नही रही। प्रथम योजना के प्रारम्भ तक राष्ट्रीय मार्गों पर केवल ६·२ करोड रु० और अन्य प्रकार की सडको पर २७ ११ करोड रु० व्यय किए गए। इस अवधि मे सडक विकास योजना के कार्यों म ५ प्रतिशत से भी कम प्रगति हुई। सन् १६४७ से लेकर सन् १६५०-५१ तक देश म पक्की सडको की लम्बाई ८८,००० मील से बढाकर ६७,५०० मील तथा कच्ची सडका की लम्बाई १,३२,००० मील से बढाकर १,५१,००० मील कर दी गई। इस मन्द प्रगति के प्रमुख कारण इस प्रकार थे— (i) भारत सरकार की मुद्रा प्रसार विरोधी नीति (Anti inflationary Policy), (ii) देश के विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई अनेक सामाजिक व आर्थिक समस्यायें, (iii) सडको के लिए भूमि प्राप्त होने मे विलम्ब (iv) सडक निर्माण मे प्रयोग होने वाली सामग्री का अभाव (v) सडक निर्माण सम्बन्धी विशिष्ट तकनीकी ज्ञान (Technical Know how) का अभाव तथा (vi) सडको के विकास के प्रति अनेक प्रादेशिक सरकारो की उदासीन प्रवृत्ति। सन् १६५०-५१ म प्रथम योजना के आरम्भ होने पर नागपुर योजना के कार्यक्रम को नियोजन के कार्यक्रम मे ही सम्मिलित कर लिया गया।

प्रथम और द्वितीय योजनाकाल मे सडक विकास कार्यक्रम (Road Development Programme in First and Second Five Year Plan Period) — (i) प्रथम पचवर्षीय योजना की आरम्भना के समय देश मे पक्की, सडको की कुल लम्बाई ६७ ५०० मील और कच्ची सडको की कुल लम्बाई १,५१,००० मील थी। (ii) प्रथम और द्वितीय योजनाओ के अन्तर्गत सडक विकास कार्यक्रम पर क्रमश १४७ करोड रुपये और २४२ करोड रुपये व्यय किए गए। (iii) प्रथम योजनाकाल म २४ हजार मील लम्बी नई पक्की सडक और ४७ हजार मील लम्बी नई कच्ची सडकें बनाई गई। इस अवधि मे १० हजार मील पुरानी सडको की मरम्मत की

गई। केन्द्रीय सरकार के सड़क विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम योजनाकाल में ६४० मील लम्बी विभिन्न स्थानों को मिलाने वाली सड़कों (Link Roads) का निर्माण किया गया तथा २,५०० मील सड़कों को सुधारा गया। (iv) द्वितीय योजनाकाल म सड़क विकास कार्यक्रम की तीव्र गति से प्रगति हुई। सन् १९६०–६१ तक देश में पक्की सड़कों (Surfaced Roads) की कुल लम्बाई १४४ हजार मील और कच्ची सड़कों (Unsurfaced Roads) की कुल लम्बाई २५० हजार मील हो गई। इस प्रकार देश म ६० प्रतिशत कच्ची सड़कें (Earth Roads) हैं। (v) इस समय देश में १५ हजार मील राष्ट्रीय मार्ग (National Highways) हैं जिनमे से केवल २,३०० मील लम्बी सड़कें ही Two lane Carriage way हैं। कुल राष्ट्रीय मार्गों म से १ हजार मील लम्बी सड़कें सीमेंट-कानक्रीट की हैं जिन्हे पूर्णतया पक्की सड़कें (Surfaced Roads) नही कहा जा सकता। देश के समस्त राष्ट्रीय मार्गों और प्रादेशिक मार्गों (State Highways) की मोटाई (Thicness) केवल ६–१० इन्च है जोकि तकनीकी विशेषज्ञों (Technical Experts) के अनुसार वर्तमान याता यात (Traffic) की मात्रा (Volume) और गहराई (Intensity) का देखते हुए अपर्याप्त है (vi) द्वितीय योजना के अन्त म राष्ट्रीय मार्गों पर लगभग ८० बड़े पुल निर्माण के लिए शेष थे जिनम से ४५ पुलों पर कार्यारम्भ था। द्वितीय योजनाकाल म राज्य सड़क कार्यक्रमों (State Road Programmes) के अन्तर्गत २२,००० मील लम्बी सड़कों का निर्माण किया गया। द्वितीय योजना म राष्ट्रीय मार्ग कार्य-क्रम (National Highways Programme) के अन्तर्गत ७०० मील लम्बी विभिन्न स्थानों को मिलाने वाली सड़कों (Missing Link Roads) का निर्माण करने, १५०० मील सड़कों के सुधारने, ६०० मील लम्बी सड़कों को चौड़ा करके Two lane Carriage way बनाने तथा ४० बड़े पुलों के निर्माण करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। योजना के अन्त तक राष्ट्रीय मार्ग के कार्यक्रम सम्बन्धी सभी लक्ष्य पूरे हो गए। (vii) द्वितीय योजनाकाल में केन्द्रीय सड़क विकास कार्य-क्रम के ३ कार्य बहुत महत्वपूर्ण थे —(i) जम्मू-श्रीनगर मार्ग पर जवाहर सुरंग (Jawahar Tunnels) के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ओर दोनों सुरंगों (Tubes) का निर्माण, (ii) पश्चिमी बंगाल में रायगंज (Raiganj) से बिहार म दालखोला (Dalkhola) तक राष्ट्रीय मार्ग का निर्माण तथा (iii) देहली आगरा राष्ट्रीय मार्ग को चौड़ा करना (Widening)। (viii) सन् १९६० ६१ तक अन्तर प्रदेशीय सड़ एव आर्थिक महत्व की सड़कों के कार्यक्रम (Programme of Inter State R and Roads of Economic Importance) के अन्तर्गत लगभग १ हजार मील सड़कों का निर्माण किया गया। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्त तक देश विकास का कार्य नागपुर योजना के लक्ष्य से अधिक हो गया।

तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सड़क विकास कार्य (Road Development Programme Under Third Five Year ...n) :—

(i) तीसरी योजना मे सडक विकास कार्यक्रम को एक बीस वर्षीय योजना (Twenty Years Plan-1961 to 1981) के एक चरण (Phase) के रूप मे अपनाया गया है। यह योजना केन्द्रीय एव प्रादेशिक सरकारो के मुख्य इजीनियरों द्वारा भावी-सडक विकास कार्यक्रम को दृष्टिगत करके बनाई गई है। (ii) २० वर्षीय योजना के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार हैं :—(अ) विकसित (Developed) एव कृषित क्षेत्र (Agricult ral Area) म काई भी गाव पक्की सडक से ४ मील और किसी भी प्रकार की सडक से १½ मील से अधिक दूर नहीं हो। (आ) अर्ध-विकसित क्षेत्र (Under-developed Area) मे कोई भी गाव पक्की सडक से ८ मील और किसी भी प्रकार की सडक से ३ मील से अधिक दूर नहीं हो तथा (इ) अविकसित एव अकृषित क्षेत्र (Undeveloped and Non-agricutural Area) मे कोई भी गाव पक्की सडक से १२ मील व अन्य प्रकार की सडक से ५ मील से अधिक दूरी पर नहीं हो। इस योजना के अन्तर्गत सन् १९८१ तक देश मे पक्की सडको की लम्बाई २५,२,००० मील और कच्ची सडको की लम्बाई ४,०५,००० मील करने का लक्ष्य रक्खा गया है। (iii) २० वर्षीय योजना म सडक-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत इन कार्यों को प्राथमिकता दी गई है : (अ) समस्त एक दूसरे से सम्बन्धित मार्गों (All Arterial Routers) पर सयुक्त पुलो (Missing Bridgers) का निर्माण किया जाना चाहिये तथा तारकोल की पक्की सडकें कम से कम One Lane Carriage way अवश्य होनी चाहियें। (आ) बडे नगरो मे मुख्य सडकें Two lane Carriage-way अवश्य होनी चाहियें तथा (इ) बडो एक दूसरे से सम्बन्धित मार्गों (Major Arterial Routes) की कम से कम चौडाई Two lane Carriage wav तक अवश्य होनी चाहिये। (vi) तीसरी पचवर्षीय योजना म केन्द्रीय एव प्रादेशिक सडक विकास कार्यक्रमो के अन्तर्गत क्रमश ८० करोड रु० और २४४ करोड रु० व्यय किये जायेंगे। तृतीय वित्त आयोग (Third Finance Commission) की सिफारिश के अनुसार तृतीय योजनाकाल मे केन्द्रीय सरकार सडकों के विकास के लिए १० राज्यो को ९ कराड रु० देगी। (v) योजनावधि मे प्रादेशिक सडक विकास कार्यक्रमो के अन्तर्गत २५,००० मील लम्बी पक्की सडकों के निर्माण का आयोजन रक्खा गया है। राष्ट्रीय माग कार्यक्रम (National Highways Programme) के अन्तर्गत तीसरी योजनावधि मे उत्तरी सलामारा (North Salamara) से ब्रह्मपुत्र नदी के पुल तक लगभग १०० मील लम्बी सडक का निर्माण किया जायगा। इस योजनाकाल म द्वितीय योजनाकाल से चल रह सडको एव पुलो के निर्माण कार्यों को पूरा किया जायगा। (vi) द्वितीय पचवर्षीय योजना के सदृश्य ही तीसरी योजना म भी देश के अविकसित क्षेत्रो म सडक विकास की आवश्यकता एव महत्व को स्वीकार किया गया है। अत अन्डमान व निकाबार द्वीपसमूह, हिमाचल प्रदेश, मनीपुर, त्रिपुरा और नागा प्रदश NEFA and NHTA) की योजनाओं मे कुल व्यय (Total Plan Outlay) का ¼ से ⅓ भाग तक सडक विकास कार्यक्रम के

लिये निर्धारित किया गया है। असम, जम्मू और काश्मीर, मध्यप्रदेश और राजस्थान में सड़क विकास कार्यक्रम को ऊँची प्राथमिकता (Highly Priority) दी गई है। राज्यों के सड़क विकास के अपने कार्यक्रमों के अन्तर्गत भी अपेक्षाकृत कम विकसित क्षेत्रों को प्राथमिकता दी गई है। इस प्रकार तीसरी योजनावधि में पंजाब के पहाड़ी भाग, उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड उत्तराखण्ड और अन्य पहाड़ी क्षेत्र, महाराष्ट्र के विदर्भ और मराठवाड़ा, आन्ध्रप्रदेश के तेलंगाना, केरल व मैसूर के उत्तरी जनपद तथा जम्मू व काश्मीर के लद्दाख व सोनावारी क्षेत्रों में सड़क विकास कार्यों को अधिक महत्व दिया जायगा। (vii) तीसरी योजना में सड़क अनुसंधान कार्यक्रम (Road Research Programme) पर २ करोड़ रु० व्यय किये जायेंगे।

भारत में सड़क यातायात (Road Transport in India) —(i) विगत १० वर्षीय नियोजनकाल में देश में मोटर ट्रकों (Goods Vehicles) की संख्या सन् १६५०–५१ में ८२,००० से बढ़ाकर सन् १६६०–६१ में १,६०,००० कर दी गई। (ii) द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भिक समय में सवारी गाड़ियों (Passenger Vehicles) की संख्या कम हो गई थी परन्तु शीघ्र ही इनकी संख्या में वृद्धि हुई। इस प्रकार मोटर बसों की संख्या सन् १६४६–७ में भी वही थी जो कि सन् १६३८–३६ में थी। सन् १६५०–५१ में भारत में सवारी गाड़ियों की संख्या ३४ हजार थी जो सन् १६६०–६१ तक बढ़ाकर ५० हजार कर दी गई। (iii) द्वितीय योजना में ४० हजार वाहनों (Vehicles) के उत्पादन का लक्ष्य रक्खा गया था। परन्तु यह लक्ष्य पूरा न हो सका। तथा सन् १६६०–६१ में केवल ३० हजार ही वाहनों का उत्पादन हो सका। विगत वर्षों में विदेशी पूँजी का अभाव (Lack of Foreign Capital) मोटर यातायात के विस्तार में मन्द गति का मुख्य कारण (Factor) रहा है। इन वर्षों में मोटरों की लाइसेंसिंग नीतियों (Licensing Policies) को उदार बनाने (Liberalise) के लिये अनेक कदम उठाए गये। इसके अतिरिक्त सड़क परिवहन उद्योग को अनेक प्रकार से सहायता दी गई जिससे कि यह उद्योग अपने ऊपर लगाये गये विभिन्न करों को सरलीकृत (Simplification) कर सकें। (iv) तीसरी योजनावधि में व्यापारिक सड़क परिवहन (Commercial Road Transport) का विस्तार मोटर उद्योग (Automobile Industry) की निर्माण-क्षमता (Manufacturing Capacity) पर निर्भर करेगा। सन् १६६० की मोटर उद्योग पर तदर्थ समिति (Adhoc Committee on the Automobile Industry) की सिफारिश के अनुसार तीसरी योजना में ६० हजार व्यापारिक वाहनों के निर्माण का लक्ष्य रक्खा गया है। (v) यह अनुमान लगाया गया है कि तीसरी योजना के अन्त तक व्यापारिक वाहनों (Commercial Vehicles), माल वाहनों (Goods Vehicles) और सवारी वाहनों (Passengero Vehicles) की संख्या सन् १६६०–६१ में क्रमश २ लाख, १ लाख ६ हजार और ५० हजार से बढ़ाकर सन् १६६५–६६ तक क्रमश ३ लाख ६५ हजार, २ लाख ८५ हजार और ८० हजार कर दी जाएगी। (vi) परिवहन नीति एवं समन्वय समिति (Co-

mmittee on Transport Policy and Co-ordination) के मतानुसार तीसरी योजनावधि मे सडक परिवहन के माल यातायात (Freight Traffic) मे १२० प्रतिशत वृद्धि होगी अर्थात् इस अवधि मे माल यातायात सन् १९६०–६१ मे १०,६०० मिलियन टन मील (Ton Miles) से बढकर २३,३५० मिलियन टन मील हो जायगा।

भारत मे ग्रामीण एवं नगर यातायात

(Rural and Urban Transport in India)

भारत मे ग्रामीण परिवहन—हमारे देश मे लगभग ५,५८,०८८ गाव हैं। देश की लगभग ८२·३% जनसख्या गावो मे रहती है। देश की ७२ प्रतिशत जनसख्या कृषि पर आश्रित है जो देश के ३,०१८ शहरो के लिये खाद्यान्न एव कच्चा माल उत्पन्न करती है। ग्रामीण कृषि-उपज उपभोक्ताओ तक प्रत्यक्षत न भेजी जाकर मण्डियो के माध्यम से भेजी जाती है। इस प्रकार कृषि-उपज को मण्डी तक पहुचाने के लिये गावो मे सुविकसित परिवहन के साधनो का होना अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण व्यक्तियो को शहरो से अपनी आवश्यकता की वस्तुयें लाने, शहरी अदालतो मे उपस्थित होने तथा मेलो आदि मे जाने के लिये भी ग्रामीण क्षेत्र म परिवहन के विकसित साधनो का महत्व है। ग्रामीण यातायात की मुख्य विशेपतायें दो हैं—(i) सीमित दूरी (Limited Distance) तथा (ii) सीमित सेवा (Limited Service)। तुलनात्मक दृष्टि से ग्रामीण क्षेत्रो के लिये सडक परिवहन ही अधिक उपयुक्त है, क्योकि रेलवे परिवहन केवल उपज को निर्यात करने के लिये अधिक लाभदायक होता है तथा अन्तर्देशीय जल परिवहन (Inland Water Transport) की सुविधायें केवल नदी के किनारे पर स्थित गावो तक ही सीमित रहती हैं। ग्रामीण क्षेत्र की सडकें मुख्यत कच्ची होती हैं तथा वर्षाकाल मे वे सेवा के योग्य नही (*Unservicable*) रह जाती। ग्रीष्मकाल मे ग्रामीण कच्ची सडकें धूल से भरपूर हो जाती हैं। अत इन सडको पर मोटर-बसो अथवा मोटर ठेलो की सेवा सीमित मात्रा मे ही ली जा सकती है।

वस्तुत ग्रामीण क्षेत्रो मे परिवहन के मुख्य साधन पशु परिवहन (Animal Transport) एव बैल गाडिया (Bullock Carts) हैं। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश मे लगभग १ करोड बैल गाडिया हैं जिनमे लगभग ३०० करोड रु० की पू जी लगी हुई है। एक बैलगाडी की वाहन क्षमता (Carrying Capacity) १० से ५० मन तक होती है जो मुख्यत बैलगाडी मे जाते जाने वाले बैलो के प्रकार (Types of Bullocks) तथा सडक की दशा (Condition of Road) पर निर्भर होती है। बैलगाडी के मुख्य लाभ दो हैं—(अ) यह गावों मे परिवहन का सस्ता साधन है तथा इसका निर्माण व मरम्मत गावो मे ही हो जाती है। (आ) इसको अनेक उपयोगो मे प्रयुक्त किया ज ता है *और इस प्रकार ग्रामीण अर्थ व्यवस्था (Village* Economy) का यह एक मुख्य भाग है। वास्तव मे समाज का यह कर्तव्य है कि

वह बैलगाडी मे आवश्यक सुधार करे जिससे कि वह अधिक सेवा योग्य (Serviceables) बन सके तथा माल की प्रति इकाई सेवा लागत कम हो सके। बैल गाडियो मे सुधार लाने के लिये प्रमुख सुझाव इस प्रकार है—(1) बैलगाडियो के पहियो पर लोहे के टायरो (Iron Tyres) की अपेक्षा रबर के टायरो (Penumatic Tyres) का उपयोग करना चाहिये। (11) दलदली मार्गों (Muddy Tracks) को पक्के मार्गों (Concreate Tracks) मे बदल देना चाहिये तथा (111) ग्राम्य सडकों का निर्माण सर्वमौसमी सडक (All Weather Roads) के रूप मे होना चाहिये जिससे कि इन सडको पर मोटर, घोडे ताँगे तथा मोटर ठेले वर्षभर चल सके। यही नही, इससे व्यापारिक एव सवारी सेवाओ मे वृद्धि होगी और बैलगाडियो पर ट्रैफिक का भार कम हो जायेगा। वास्तव मे ग्रामीण क्षेत्रो मे परिवहन सुविधाओं की वृद्धि से शिक्षा और ज्ञान का प्रसार होगा, कुटीर उद्योगो का विकास होगा, सामाजिक सम्पर्क मे वृद्धि होगी, ग्रामीण जनता का जीवन-स्तर ऊंचा उठेगा और गावो मे फैलने वाली बीमारियो को शीघ्रतम रोका जा सकेगा। हाल ही मे बनाई गई सडक विकास कार्य-क्रम की २० वर्षीय योजना के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्र मे परिवहन सुविधाओ के विकास को पर्याप्त महत्व दिया गया है। इस योजना मे यह लक्ष्य रक्खा गया है कि आगामी २० वर्षो मे देश मे विकसित एव कृषित क्षेत्र का कोई भी गाव पक्की सडक से ४ मील और अन्य किसी भी प्रकार की सडक से १½ मील से अधिक दूरी पर नही रह जायेगा। आशा है कि भविष्य मे भारत के ग्रामीण क्षेत्रो मे परिवहन की उपयुक्त सेवायें सुलभ हो सकेंगी।

भारत मे शहरी यातायात—हमारे देश मे छोटे-बडे लगभग ३,०१८ शहर हैं। इनमे से कुछ नगर जैसे—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास व देहली बहुत बडे हैं जिनमे मिलियनो की सख्या मे व्यक्ति रहते हैं। नगर निवासियों को सामाजिक, धार्मिक, शिक्षात्मक एव आर्थिक कार्यकलापो को पूरा करने के लिये सस्ते एव कुशल परिवहन के साधनो की आवश्यकता होती है। परिवहन के सुविकसित एव द्रुतगामी साधनो के फलस्वरूप अब औद्योगिक केन्द्रो मे श्रमिको को स्थाई रूप से रहना आवश्यक नही रह गया है। श्रमिक परिवहन के माध्यम से दूर स्थित क्षेत्रो से कार्य करने के लिये प्रतिदिन आते जाते हैं। इस प्रकार परिवहन ने नगरो मे घनी आबादी के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले सामाजिक, आर्थिक एव नैतिक दोषो को किसी सीमा तक दूर कर दिया है। परिवहन सुविधाओ ने नगरो की निवास, स्वास्थ्य एव स्वच्छता सम्बन्धी समस्याओ को दूर भगा दिया है।

शहरो मे विभिन्न प्रकार के परिवहन के साधन उपलब्ध हैं—(1) विद्युत रेलें (Electric Trains)—कलकत्ता, बम्बई और मद्रास जैसे बडे नगरो के लिये विद्युत रेलें सर्वाधिक सस्ता और द्रुतगामी परिवहन का साधन है। द्वितीय योजनाकाल मे इस साधन का ५०० मील मे विस्तार किया गया। तीसरी योजना मे इसका और अधिक विस्तार करने का आयोजन है। (ii) ट्रामवे (Tramways)—ट्रामवे बडे

शहरो की सडको के लिये सबसे सस्ता और सर्वोत्तम ढग का परिवहन का साधन है। मोटर बस की अपेक्षा ट्रामवे अनेक प्रकार से उपयुक्त साधन है – (अ) एक ट्रामवे मे १०० यात्रियो को ले जाया जा सकता है, परन्तु एक मोटर बस मे अधिकाधिक ५० यात्रियो को ही ले जाया जा सकता है। (आ) ट्रामवे मे मोटर की अपेक्षा ह्रास (Depreciation) कम होता है। इस प्रकार ट्रामवे का जीवन मोटर की तुलना मे अधिक होता है। (इ) ट्रामवे का सचालन व्यय (Working Expenses) भी अपेक्षाकृत कम होता है। ट्रामवे का सचालन सस्ती विद्युत से होता है, परन्तु मोटरो का सचालन पेट्रोल या डीजल से होता है जो विद्युत की अपेक्षा कही अधिक महगा होता है। ट्रामवे का सर्वाधिक मुख्य दोष यह होता है कि यह लचकदार (Flexible) साधन नही होता है तथा इसका पूंजीगत व्यय (Capital Expenditure) बहुत अधिक होता है, लेकिन मोटर परिवहन मे लचक और कम पूजीगत व्यय दोनो गुण होते हैं। (iii) मोटर बस (Motor Bus)–आजकल ट्रामवे के स्थान पर मोटर बसो का उपयोग बढता चला जा रहा है क्योंकि मोटर परिवहन का लचीला साधन है और यह दूरी पर शीघ्रतम अधिकार कर लेता है। (iv) मोटर टैक्सी और मोटर रिक्शा (Motor Taxi and Motor Riksha)—परिवहन के ये दोनो साधन सभी बडे नगरो में उपलब्ध हैं। ये सीमित मात्रा मे यात्रियों को ढोने के द्रुतगामी एव सस्ते साधन हैं। (v) साइकिल रिक्शा, बाईसिकल तथा घोडा गाडियां (Cycle Rikshas Bycycles and Horse Carriages)—ये १० मील से कम की दूरी के उपयाग के लिए परिवहन के सुगम व सस्ते साधन हैं। परिवहन के इन साधनो का ग्रामीण क्षेत्रों सेशहरो को सवारी व माल यातायात के ढोने मे निरन्तर उपयोग बढता चला जा रहा है। (vi) Motor Thela and Push Thela—मोटर ठेले का प्रयोग ५० मील की दूरी तक माल भेजने के लिये बहुत सस्ता व उपयोगी होता है। इसकी वाहन-क्षमता (Carrying Capacity) २०० से ३०० मन तक होती हैं। कम मूल्य वाली वस्तुओ को ढोने के लिये मोटर ठेला एक सस्ता साधन है। Push Thela का प्रयोग छोटी एव हल्की वस्तुयें एक स्थान से दूसरे स्थान तक (From Door to Door) तक पहुचाने मे बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। बडे बडे शहरों में एक ही समय पर अनेक प्रकार के परिवहन के साधन कार्यशील होने के कारण प्राय दुर्घटनायें (Accidents) हो जाती है। इनके मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(अ) लापरवाह और अप्रशिक्षित चालक, (आ) अधिक तीव्र गति, (इ) गाडियो के दोषपूर्ण ब्रेक, (ई) ड्राइवरो का आवश्यकता से अधिक कार्य करना, (उ) उवड-खाबड सडकें, (ऊ) सडक-चिन्हो का अभाव तथा (ए) सडक चेतना (Road Consciou ness) का अभाव।

भारत मे सडक परिवहन के मन्द विकास के कारण (Causes of Slow Progress of Ro d Transport in India).—सन् १६५८ की सडक परिवहन पुनर्गठन समिति (Road Transport Re-organisation Committee) के

मतानुसार भारत मे सडक परिवहन अभी तक अपनी अर्ध-विकसित अवस्था मे ही है। इस समय समस्त भारत म, जिसका क्षेत्रफल १२७०,००० वर्ग मील है और जिसकी जनसख्या ४३ ८० करोड है, केवल ३६८,००० मील लम्बी सडकें हैं। इनमे से लगभग ६०% सडकें कच्ची (Earth Roads) है। देश की इन सडको पर अगणित पैदल यात्री, १ करोड पशुवाहन, १ लाख ६० हजार मोटर ठेले, ५० हजार मोटर बसें, दो लाख निजी मोटरकार तथा सवा लाख के लगभग अन्य मोटर गाडियाँ चलती हैं। देश म अकेली बैलगाडियाँ ही वर्ष भर मे उतना माल ढोती हैं जितना कि रेलें ढोती हैं। मोटर बसो के वार्षिक यातायात (Annual Traffic) का परिमाण ३,७७० करोड यात्री मील (Passenger Mile) और मोटर ठेलो के वार्षिक यातायात का परिमाण १ १४४ करोड टन मील (Ton Mile) आँका गया है। भारतीय सडको एव सडक परिवहन मे लगभग १,४०० करोड रु० की पूजी लगी हुई है जो देश की रेलो मे लगी पूजी के समान ही है। अन्य देशो की अपेक्षा हमारे देश मे प्रति व्यक्ति एव प्रति वग मील सडक विस्तार एव मोटरो की सख्या बहुत कम है। जबकि अमेरिका, इगलैंड और जापान मे प्रति वग मील सडक विस्तार क्रमश. १ मील २ ०२ मील और ४ मील है, तब हमारे देश मे यह केवल ० १५ मील ही है। इसी प्रकार हमारे देश म प्रति १ लाख जनसख्या के पीछे सडक विस्तार केवल ७३ मील है, जबकि अमेरिका, इगलैंड और जापान मे यह क्रमश २,११४ मील, ३८१ मील और ७२८ मील है। इसके अतिरिक्त हमारे देश मे सडको का ३०% भाग रेलो का पोषक (Feeder) नही है और ४८% सडकें रेल की पटरी के समानान्तर (Parallel) और उससे १० मील की दूरी तक हैं। फलत इन क्षत्रो मे सडको से वह उद्देश्य पूरा नही हो सका जिससे वे बनाई गई थीं। इनसे केवल यातायात का द्विगुणीकरण (Duplication) होता है और रेल सडक प्रतिस्पर्धा (Rail-Road Competition) की समस्या उत्पन्न हुई है। हमारे देश मे मोटर वाहनो की सख्या भी अपेक्षाकृत बहुत कम है। जबकि अमेरिका, आस्ट्रेलिया और कनाडा मे प्रति १ लाख जनसख्या के पीछे क्रमश ३८ हजार, २३ हजार व २५ हजार मोटर गाडिया हैं, तब हमारे देश मे केवल ८६ मोटर गाडिया ही हैं। इसी प्रकार प्रतिमील सडक पथ के लिये ब्रिटेन मे २५, अमेरिका मे २१ और कनाडा मे ७ मोटर गाडियो की व्यवस्था है, जबकि हमारे देश मे केवल १ मोटरगाडी है। यदि बैलगाडियो को भी इन्ही मे सम्मिलित कर लिया जाए, तब हमारे देश में प्रतिमील सडक के लिये १ ५६ गाडियाँ होती हैं।

भारत मे सडक परिवहन की अविकसित अवस्था के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—(i) देश मे सडको की व्यवस्था अपर्याप्त है और लगभग ६०% कच्ची सडकें हैं जो वर्ष भर सेवा योग्य नही रहती। (ii) मोटरगाडियो की सख्या अपर्याप्त है। फलत इस समय मोटर चलाने योग्य सडको की २०प्रतिशत से ४० प्रतिशत तक क्षमता प्रयोग मे नही लाई जाती है। (iii) मोटरगाडियो पर कराभार असहनीय है।

एक ओर मोटरगाडी, टायर-ट्यूब, उपकरण एव मोटर स्प्रिट पर केन्द्रीय सरकार सीमा शुल्क (Custom Duty) और उत्पादन कर (Excise Duty), लगाती है और दूसरी ओर प्रादेशिक सरकारें वाहन कर (Vehicle Tax), माल व यात्री कर (Freight and Passenger Tax), प्रमाणपत्र फीस (License Fees), मोटर स्प्रिट मोटर गाडी एव उनके कलपुर्जों पर बिक्री-कर (Sale Tax) और धुरी शुल्क (Wheel Tax), चु गी, प्रवेश शुल्क आदि स्थानीय कर लगाती हैं। अनुमानत ये समस्त कर मिलाकर मोटर के सचालन-व्यय का २० प्रतिशत से ३५ प्रतिशत तक होते हैं। (iv) पजाब, दिल्ली पश्चिमी बगाल और महाराष्ट्र को छोडकर अन्य प्रदेशो मे मोटर ठेलो की भार सम्बन्धी सीमा इतनी कम है कि उनका सचालन-व्यय एव भाडे की दरें आवश्यकता से अधिक ऊ ची हो जाती हैं। (v) देश मे मोटर मालिको की एक बडी सख्या के पास केवल १ या दो मोटरें हैं। इन स्वतन्त्र इकाइयो मे परस्पर प्रतिस्पर्धा होती है तथा सीमित साधन होने के कारण उनके पास शिल्पशालाओ (Workshops) और अनुरक्षण सुविधाओ का भी अभाव रहता है। (vi) देश मे साख सुविधाओं का अभाव मोटर परिवहन के विकास मे सबसे बडी बाधा है। (vii) विगत वर्षों मे प्रादेशिक सरकारो की राष्ट्रीयकरण की अनिश्चित नीति भी मोटर परिवहन के विकास मे एक अवरोधक रही है। (viii) प्रत्येक राज्य की अन्य राज्यो की मोटरो पर कर लगाने की अपनी पृथक् नीति और पृथक् नियम सीधे यातायात (Through Traffic) के विकास मे भारी बाधा रही है। (ix) यद्यपि सन् १६५६ मे सन् १६-३६ के मोटर वाहन अधिनियम (Motor Vehicle Act, 1939) को सशोधित करके उसके अनेक दोषो को दूर कर दिया गया है, फिर भी अधिनियम की कुछ धारायें ऐसी हैं जो सन्देहात्मक भाव उत्पन्न करती हैं। अनुज्ञा-पत्र (License) देने की कार्यविधि अत्यन्त लम्बी व दोषपूर्ण है। (x) अन्त मे वर्तमान प्रादेशिक प्रशासनीय सगठन Provincial Administrative Organisation) मोटर व्यवसाय की विकासोन्मुख प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है।

भारत मे सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण की समस्या (The Problem of Nationalisation of Road Transport in India)—रेल-सडक समन्वय के दृष्टिकोण से हमारे देश म सन् १६४७ के पश्चात् से अनेक बस सेवाओ का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। सडक परिवहन का राष्ट्रीयकरण भारत म आज भी वाद-विवाद का विषय बना हुआ है। सडक परिवहन के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे मुख्य तर्क इस प्रकार हैं —(i) सुविधाजनक सेवा —चूकि सरकारी मोटरें चलाने का मुख्य उद्देश्य समाज सेवा होता है, इसलिये सरकारी मोटरें यात्रियो की अच्छी सेवा कर सकती हैं और उन्हे अधिक सुविधायें जुटा सकती हैं। इसके विपरीत व्यक्तिगत मोटर मालिको का मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। अत वे यात्रियों की सुख-सुविधा की ओर कोई ध्यान नहीं देते। (ii) सस्ती सेवा —राष्ट्रीयकृत मोटर सेवा (Nationalized Bus Service) अपेक्षाकृत अधिक सस्ती होती है। सरकारी मोटरों

शासन व्यवस्था के दृष्टिकोण से एक राजनैतिक (Political Unit) बनाने मे सफलता मिल सकती ।

सडक परिवन के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—(i) **लचक का अभाव**—मोटर परिवहन के लचीलापन (Flexibility) का स्वाधिक उपयोग वैयक्तिक स्वामित्व मे ही सम्भव है। चू कि सरकारी मोटरें पहले से निदिष्ट स्थानो पर ही नियमानुसार माल या सवारी ले सकती हैं और उतार सकती हैं, इसलिए सरकारी सेवा मे लचक का सर्वथा लोप हो जाता है। (ii) **अक्षमता**—राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत मोटर सेवा अनेक कारणो से अधिक अक्षम सिद्ध होती है—(अ) सरकारी सेवा म पर्याप्त समय व शक्ति व्यर्थ मे ही नष्ट किया जाता है। (आ) कर्मचारियो मे कोई चेतना (Conscious) नहीं होती और वे दास (Slave) की तरह कार्य करते है। (इ) सरकारी सेवा मे व्यावहारिक कार्य की अपेक्षा लालफीताशाही (Red Tape) और झूठ प्रचार को अधिक महत्व दिया जाता है। (ई) सरकारी कर्मचारियो मे आवश्यक व्यापारिक बुद्धि, दूरदर्शिता एव अचूक निर्णयशक्ति का सर्वथा अभाव होता है। (उ) व्यक्तिगत सेवा की तरह कर्मचारी वग को प्रेरित करने वाली लाभ की प्रवृत्ति (Profit Motive) भी इस योजना म नहीं हाती। (ऊ) निजी वस सेवा म कर्मचारियो की पदोन्नति अधिक अच्छे परिणाम दिखाने पर निर्भर होती है परन्तु राजकीय सेवा मे पदोन्नति वरिष्ठता पर निर्भर होती है। (iii) **राजनैतिक भ्रष्टाचार**—राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत राजनैतिक भ्रष्टाचार को अधिक अवसर मिलता है। सरकारी बस कर्मचारियो की नियुक्ति एव पदोन्नति किराये भाडे का निर्धारण तथा कर्मचारियों को सुविधा प्रदान करने में राजनैतिक दलो (Political Parties) का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। अधिकाशत दैनिक कार्यों पर काई विशेष महत्व न देकर जनता मे झूठा प्रचार अधिक किया जाता है। (iv) **सरकार तथा कर्मचारियों के बीच तनावपूर्ण स्थिति**—सरकारी सेवा मे सरकार और कर्मचारियों के बीच अच्छे सम्बन्ध नही रहते तथा हर समय हडताल की समस्या सामने रहती है। परन्तु वैयक्तिक प्रवन्ध म, जहा पर स्वामी व कर्मचारी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है, अधिक तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न होने का अवसर नही होता। (v) **किराये भाडे को दरों में बेलोचता**—सरकारी स्वामित्व के अन्तगत किराय भाडे के निर्धारण म माग की दशाओ पर काई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता वरन दूरी के घटक को अधिक महत्व दिया जाता है। फलत किरायेभाडे की दरो म लोच (Elasticity) का अभाव रहता है। (vi) **राज्य का अनुचित हस्तक्षेप**—सडक परिवहन के राष्ट्रीयकरण की स्थिति म सरकार का हस्तक्षेप बढता चला जाता है। फलत व्यक्तिगत चेतना एव व्यक्तिगत गुणो पर कुठाराघात होता है और शासन व्यवस्था एक यत्र के रूप मे कार्य करती है। (vii) **विकास की समता**—व्यक्तिगत नियत्रण म प्रतियोगिता की स्थिति रहने के कारण मोटर सवा म सुखसुविधा एव विकास की सम्भावना अधिक रहती है। परन्तु सरकारी नियत्रण में

एकाधिकारी स्थिति अपने सर्वदोषों के सहित व्यावहारिक जगह में आती है। अत. जो विकास, उन्नति और कार्यपटुता वैयक्तिक नियन्त्रण में सम्भव है, सरकारी स्वामित्व मे कदापि सम्भव नहीं। (viii) असामयिकता—कुछ विचारकों के अनुसार भारत की वर्तमान परिस्थितियों मे सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण अनावश्यक एवं असामयिक है। इस समय सरकार को राष्ट्र-निर्माण योजनाओं के लिए अपार पूंजी की आवश्यकता है। अत इस स्थिति मे सरकार का मोटर सेवा में पूंजी विनियोग करना उचित नहीं प्रतीत होता।

वर्तमान स्थिति (Present Position)—रेल-सड़क प्रतियागिता की समस्या के निवारणार्थ सन् १६४७ से कुछ प्रादेशिक सरकारों ने सड़क परिवहन के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई है। वस्तुत सन् १६४७ से पूर्व भी कुछ राज्यों मे सरकारी मोटर सेवा चालू थी। केरल म सन् १६३८ से और मध्य प्रदेश म सन् १६४५ से सीमित क्षेत्र मे सरकारी सेवायें चालू थी। सन् १६४७ से उत्तर प्रदेश और मद्रास मे, सन् १६४८ से आसाम, बिहार, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पजाब, बगाल, मैसूर और दिल्ली म, सन् १६१६ से हिमाचल प्रदेश मे और सन् १६६० से राजस्थान मे सरकारी बस सेवायें चालू की गई हैं। इस समय त्रिपुरा को छोड़कर अन्य सभी प्रदेशों और केन्द्रीय प्रशासित क्षत्रो मे यात्री यातायात का आंशिक राष्ट्रीयकरण हो गया है। महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश मे यात्री यातायात का एक बड़ा भाग सरकारों के आधीन है। इस समय यात्री यातायात का लगभग ३० प्रतिशत राष्ट्रीयकृत (Nationalized) सड़क सेवायें हैं और शेष ७० प्रतिशत व्यक्तिगत मोटर मालिकों के अधिकार मे है। माल परिवहन का समस्त कार्य व्यक्तिगत मोटर मालिकों के आधीन है, केवल हिमाचल प्रदेश और मणीपुर मे इसका राष्ट्रीयकरण हुआ है। प्रथम योजना के अन्त में सार्वजनिक सड़क परिवहन क्षेत्र में ११ हजार से भी अधिक मोटर गाड़ियाँ थी। इनमे से लगभग ३ हजार मोटरें प्रथम योजनाकाल मे १२ करोड़ रु० की लागत से खरीदी गई थी। प्रथम योजना के अन्त तक यात्री यातायात का केवल $\frac{1}{2}$ भाग ही सार्वजनिक क्षेत्र मे था। दूसरी योजनावधि मे सड़क परिवहन की राष्ट्राधिकृत सेवा के प्रसार के लिए १३ करोड़ रु० व्यय किए गए तथा लगभग ५,००० मोटर गाड़िया खरीदी गईं। तीसरी योजना में इस कार्यक्रम के लिए २ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। योजनाकाल मे लगभग ७,५०० अतिरिक्त मोटर गाड़ियां खरीदी जायेंगी। इस योजनावधि मे भी यात्री यातायात मे सरकारी मोटरों का भाग ३० प्रतिशत ही रहेगा। योजना आयोग (Planning Commission) ने राज्य सरकारों को यह आदेश दिया है कि वे भविष्य मे मोटर सेवा के राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रम को क्रमबद्ध एवं नियोजित रूप म अपनायें। यह भी आदेश दिया गया है कि तीसरी योजना के अन्त तक माल यातायात सम्बन्धी मोटर सेवाओं का राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहिये। सड़क परिवहन पुनर्गठन समिति (Road Transport Reorganisation Committee) ने इस अवधि को तीसरी योजना के उपरान्त भी

और १० वर्ष आगे तक बढाने का सुझाव दिया है।

रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा एवं समन्वय

(Rail-Road Competition and Co-ordination)

रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा का अर्थ व कारण—जब परिवहन के विभिन्न साधन अपने क्षेत्र से आगे बढकर एक दूसरे साधन के यातायात (Traffic) को अपनी ओर खीचने लगते है, तब इस प्रकार परिवहन के विभिन्न साधनों के बीच प्रतिस्पर्धा की समस्या उत्पन्न होती है। रेल-सडक प्रतिस्पर्धा के मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(i) *रेलो का पू जीगत व्यय (Capital Expenditure) और सचालन व्यय (Working Expenditure)* मोटर यातायात की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। अत मोटरें अपनी किराये भाडे की दरें रेलो की अपेक्षा कम रखने मे सफल होती हैं। (ii) रेलें लम्बी दूरी और भारी सामान को ढोने के लिये परिवहन का सस्ता साधन है, परन्तु थोडी दूरी और हल्के सामान को ढोने के लिये मोटरें परिवहन का सस्ता साधन है। अत रेल-मोटरो की इस विशेष प्रवृत्तियो मे प्रतिस्पर्धा के बीज विद्यमान होते हैं। *(iii) रेले अपने निश्चित मार्ग से सम्बद्ध रहती हैं। इनमे लचक नही होती।* परन्तु सडक परिवहन मे लचक (Flexibility) का मुख्य गुण होता है। अत सडक परिवहन उपभोक्ताओ को अधिक सुविधा जुटा कर रेलो का प्रतियोगी बन जाता है। (iv) रेलवे कम्पनियो को अपना मार्ग स्वय बनाना पडता है और उसके सरक्षण व मरम्मत पर भारी रकम व्यय करनी पडती है। परन्तु सड़को का निर्माण व मरम्मत का दायित्व सरकार पर होता है तथा इनके प्रयोक्ता इस व्यय से स्वतन्त्र रहते है। अत मोटर सचालको की लागत व्यय बहुत कम बैठती है। यद्यपि मोटरो के स्वामियो को अनेक प्रकार के कर के रूप मे सरकार को भारी रकम देनी होती है, फिर भी *मार्ग का खर्चा मोटर गाडियो पर अपेक्षाकृत कम पडता है।*

रेल-सडक परिवहन समन्वय का अर्थ, महत्व एव उद्देश्य—परिवहन समन्वय का अर्थ प्रत्येक परिवहन सेवा को केवल वह कार्य सौपना है जिसे वह दूसरो की अपेक्षा कुशलतापूर्वक करने मे *समर्थ हो और जिसके करने से उस साधन का अपने* क्षेत्र म पूर्णतम विकास सम्भव हो सके। वस्तुत प्रत्येक देश का हित सस्ती से सस्ती एव कुशलतम सेवा जुटाने मे है तथा समन्वय का ध्येय अकुशल सेवाओ को हटाकर अधिकतम कुशल सेवा निम्नतम व्यय द्वारा प्रदान करना है। विगत दशाब्दी (Decade) म भारतीय अर्थ व्यवस्था मे तीव्र गति से वृद्धि के फलस्वरूप परिवहन की माँग मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। परिवहन सेवा की माग म वृद्धि राष्ट्रीय आय व अन्य उत्पादन क्षत्रो की अपेक्षा सर्वाधिक हुई है। विगत नियोजन काल म, जबकि राष्ट्रीय आय मे ८२ प्रतिशत, कृषि उत्पादन म ४१ प्रतिशत और औद्योगिक उत्पादन मे ६४ प्रतिशत वृद्धि हुई है, तब रेल यातायात (Railway Traffic) लगभग दुगना और मोटर यातायात (Motor Traffic) दुगने से भी अधिक बढा है। यह आशा की जाती है कि भावी वर्षो मे भी परिवहन सेवा की माग की वृद्धि की यह दर आगे

ही बढती जायेगी। अतः परिवहन के विभिन्न साधनो मे समन्वय की नितान्त आवश्यकता है। परिवहन समन्वय के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—(i) प्रतिस्पर्धी साधनो की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अन्त करना अथवा सीमित करना, (ii) प्रयोक्ताओ को सस्ती एव अच्छी सेवा प्रदान करना, (iii) उपलब्ध परिवहन सुविधाओ के अधिकतम उपयोग द्वारा उनका सचालन व्यय न्यूनतम करना तथा (iv) परिवहन के विभिन्न साधनो का सतुलित एव समायोजित विकास (Balanced and Planned Development) करना।

भारत मे रेल-सडक समन्वय—सन् १९२६-२७ से देश मे मोटर व्यवसाय की तीव्र प्रगति के फलस्वरूप मोटर परिवहन रेलो का प्रतियोगी बन गया। सन् १९४७ तक देश मे केवल रेल-मोटर समन्वय का ही प्रश्न था। स्वतन्त्र भारत मे रेल अन्तर्देशीय जल मार्ग समन्वय और रेल-समुद्रतटीय जहाज समन्वय के प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो गये हैं। रेल-सडक प्रतियोगिता पर विचार करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने सन् १९३२ मे मिचेल किर्कनेस समिति (Mitchell Kirkness Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने तात्कालिक रेल मोटर प्रतिस्पर्धा से रेलों को १९० लाख रु० की वार्षिक क्षति का अनुमान लगाया। इस समिति ने रेल-सडक समन्वय के लिये मुख्य सुझाव इस प्रकार दिये थे—(i) मोटर व्यवसाय को नियन्त्रित करना चाहिये। (ii) मोटर गाडियो के लिये ५० मील का क्षेत्र निर्धारित करके उनकी सेवा उसी क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित रहनी चाहिये। (iii) रेलो के समानान्तर (Parallel) सडको पर मोटर चलाने का अधिकार केवल रेलो को मिलना चाहिये। (iv) ग्रामीण क्षेत्रो मे अथवा उन क्षेत्रो मे जहा पर रेल सेवा उपलब्ध नही है, वहा मोटरो को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। (v) परिवहन के प्रबन्ध प्रशासन के लिए एक केन्द्रीय परिवहन बोर्ड (Central Transport Board) की स्थापना करनी चाहिए तथा (vi) मोटर गाडियो के स्वामियो के लिए कर देना तथा भाडे एव समय की सारणियाँ रखनी अनिवार्य कर दनी चाहियें। मिचैल किर्कनेस समिति के सुझावो के अनुसार भारत सरकार ने सन् १९३३ के रेलवे अधिनियम के अन्तर्गत रेलवे कम्पनियो को रेलो की समानान्तर सडकों पर अपनी मोटरें चलाने का अधिकार दे दिया तथा सन् १९३५ मे एक केन्द्रीय परिवहन बोर्ड की स्थापना की। इतने प्रयोजन के पश्चात् भी रेल सडक प्रतिस्पर्धा की समस्या उग्रस्वरूप धारण करती ही गई। अत भारत सरकार ने सन १९३९ मे रेल सडक समन्वय की व्यावहारिक नीति प्रस्तुत करने के लिए वैजवुड समिति (Wedgwood Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने तात्कालिक रेल मोटर प्रतियोगिता से रेलो को ४५ करोड रु० की वार्षिक हानि का अनुमान लगाया। समिति ने समन्वय के लिये कुछ सुझाव इस प्रकार दिये थे—(i) मोटर परिवहन के नियमन नियन्त्रण की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। (ii) मोटर गाडियो के सचालन से पूर्व लाइसेंस लेना अनिवार्य होना चाहिये। (iii) मोटर वाहनो का क्षेत्र सीमित कर देना चाहिए। (iv) मोटर चालको

के काम के घण्टे निश्चित होने चाहियें। (v) रेलो की समानान्तर सडकों पर रेलवे कम्पनियो द्वारा अधिक सख्या मे मोटरें चलाई जानी चाहियें। (vi) मोटर गाडियो पर कर की मात्रा सभी राज्यों मे समान होनी चाहिये। वेंजवुड समिति के सुझावो को मान्यता देने के लिये भारत सरकार ने सन् १६३६ मे मोटर वाहन अधिनियम (Motor Vehicle Act) पास किया। इस एक्ट के अन्तर्गत (अ) प्रादेशिक सरकारो को मोटर गाडियों के पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार दे दिया गया, (आ) प्रादेशिक व क्षेत्रीय परिवहन अधिकारियो की नियुक्ति की गई तथा (इ) मोटर वाहनो का सचालन क्षेत्र सीमित कर दिया गया।

सन् १६४५ मे परिवहन परामर्श परिषद (Transport Advisory Council) ने सिद्धान्तो एव व्यवहारो की एक नियमावलि (Code of Principles and Practices) बनाई जिसमे मोटर व्यवसाय का क्षेत्र सामान्यत ७५ मील निश्चित किया गया तथा प्रादेशिक सरकारो को रेल हितो की सुरक्षा की ओर अधिक ध्यान देने के लिए आग्रह किया गया। सन् १६४७ से अनेक प्रादेशिक सरकारो ने रेल-सडक प्रतिस्पर्धा की समस्या के निवारणार्थ मोटर परिवहन के राष्ट्रीयकरण (Nationalization) का महत्वपूर्ण कदम उठाया। सन् १६५३ मे भारत सरकार ने एक परिवहन आयोजन अध्ययन समुदाय (Study Group on Transport Planning) की नियुक्ति की। अध्ययन समुदाय ने परिवहन के समस्त साधनो के अनुपूरक (Supplement) और समुचित विकास के लिए एक दीर्घकालीन परिवहन नीति निर्धारित करने का सुझाव दिया।

परिवहन नीति एव समन्वय समिति १६५६ (Transport Policy and Co-ordination Committee 1959)—सन् १६५८ मे परिवहन के विभिन्न साधनो के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए परिवहन परामर्श परिषद (Transport Advisoy Council) तथा केन्द्रीय परिवहन बोर्ड (Central Transport Board) के स्थान पर तीन अन्य सस्थाओ की स्थापना की गई —(अ) परिवहन विकास परिषद (Transport Development Council), (आ) सडक एव अन्तर्देशीय जल परिवहन सलाहकार समिति (Coad and Inland water Transport Advisory Committee) तथा (इ) केन्द्रीय परिवहन समन्वय समिति (Central Transport Coordination Committee)। परिवहन विकास परिषद एक उच्चस्तरीय सस्था है जो केन्द्रीय सरकार को सडको, सडक परिवहन एव अन्तर्देशीय जल मार्गों से सम्बन्धित नीति विषयो पर सलाह देती है। सडक एव अन्तर्देशीय जल परिवहन सलाहकार समिति सडको, सडक परिवहन एव अन्तर्देशीय जल यातायात से सम्बंधित प्रश्नो पर विचार करके इस विषय मे परिवहन विकास परिषद को आवश्यक सुझाव देती है। केन्द्रीय परिवहन समन्वय समिति का कार्य भारत सरकार के विभिन्न मत्रालयो की दिन प्रतिदिन उपस्थित होने वाली परिवहन सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाना है। मई सन् १६५६ म केन्द्रीय सरकार ने श्री के०

सी० नियोगी (K C Neogy) की अध्यक्षता मे एक परिवहन नीति एव समन्वय समिति (The Committee on Transport Policy and Coordination) की नियुक्ति की। इस समिति ने सन १९६१ के प्रारम्भ मे अपना प्रारम्भिक प्रतिवेदन प्रकाशित किया है। इस प्रतिवेदन मे अभी किसी समन्वय नीति की ओर सकेत करके केवल वतमान स्थिति का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। समिति का काय पूरा होने पर ही परिवहन के साधनो का पूर्ण समन्वय सम्भव हो सकेगा।

३४

जल यातायात

(Water Transport)

प्राक्कथन—अति प्राचीनकाल से ही परिवहन के साधन के रूप मे जलमार्ग का विशेष महत्व रहा है। सडको एव रेलो के विकास से पूर्व विश्व म जलमार्ग ही परिवहन के मुख्य साधन थे। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे जलमार्गों का महत्व-पूर्ण स्थान है। *क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से जल परिवहन को दो भागो मे बांटा जा* सकता है—(1) अन्तर्देशीय जलमार्ग तथा (11) समुद्री जलमार्ग। समुद्री जल माग को भी दो विभागो मे बाटा जाता है अ) तटीय जलमार्ग (Coastal Transport) तथा (आ) समुद्र के बीच मे से जाने वाले जलमार्ग (Oceanic water ways)।

अन्तर्देशीय जल मार्ग

(Inland Water Ways)

आन्तरिक जल परिवहन की मुख्य विशषतायें व मितव्ययितायें (Main Characteristic and Economies of Inland Water Transport)—अन्तर्देशीय जल यातायात की मुख्य विशेषताए और मितव्ययिताए इस प्रकार हैं—(1) आन्तरिक जल परिवहन रेल और सडक परिवहन से अधिक सस्ता होता है। नदियो और नहरो मे जलमार्ग पर स्थाई व्यय (Capital Expenditure) अपेक्षाकृत कम होता है। ये मार्ग बहुधा प्रकृत्ति दत्त होते हैं। (11) अन्तर्देशीय जल परिवहन मे रेलवे की भाति टूट फूट (Wear and Tear) का व्यय बिल्कुल नही होता। (111) नावें अपने भार से ५ या ६ गुना अधिक भार ढो सकती हैं। परन्तु रेलें अपने भार के $\frac{1}{2}$ या $\frac{3}{4}$ तक ही ले जा सकती है। (1v) रेलवे मे इजिन को Non-paying Load अधिक लेजाना पडता है। फलत रेलवे का सचालन व्यय (Working Expenditure) बहुत अधिक होता है। रलवे और जल परिवहन के सचालन व्यय मे ५ १ का अनुपात रहता है। (v) रेलवे की अपेक्षा आन्तरिक जल परिवहन का सगठन भी छोटा होना है। रेल परिवहन मे रिक्त-स्थान रहना एव साधारण घटना होती है। परन्तु नावों में यह स्थिति उत्पन्न नहीं होती। (v1) जल परिवहन के सचालन व्यय अस्थिर होते हैं। बहुधा ईधन, आवश्यक सामग्री, वेतन और मजदूरी मूल्य ह्रास (Depreciation) आदि मदो मे होने वाला व्यय भी अस्थिर होता है। यद्यपि

सीमा व्यय (Terminal Expenses) स्थिर होता है, परन्तु यह कुल व्यय का एक छोटा सा भाग होता है। इसके अतिरिक्त वाहन (Vehicle) में लगी हुई पूंजी पर ब्याज भी स्थिर व्यय होता है। परन्तु रेलों के तत्सम्बन्धी व्यय को देखते हुए यह बहुत कम होता है। (vii) अन्तर्देशीय जल परिवहन में एकाधिकार (Monopoly) का सर्वथा लोप हो जाता है। (viii) चूंकि आन्तरिक जल परिवहन में अधिकतर व्यय अस्थिर होते हैं तथा एकाधिकार का अभाव होता है, इसलिए इसमें विभेदात्मक नीति (Differencial Policy) इतनी भयानक सिद्ध नहीं हो पाती, जितनी रेलों में होती है। इसी प्रकार आन्तरिक जल परिवहन में परिवहन के अन्य साधनों की अपेक्षा प्रतियोगिता भी अधिक हानिकर सिद्ध नहीं हो पाती। इन तुलनात्मक लाभों के अतिरिक्त अन्तर्देशीय जल यातायात के कुछ विशिष्ट लाभ इस प्रकार हैं — 1) पहाड़ी ढालों, सघन वनों तथा वर्फीले स्थानों में यही एक मात्र उपयुक्त परिवहन का साधन होता है। (ii) एक कहावत प्रसिद्ध है "Mountain Divides But Rivers Unite" वस्तुतः यूरोप और एशिया में सांस्कृतिक प्रसरण में नदियों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है (iii) देश के आर्थिक नियोजन एवं सन्तुलित विकास के लिए परिवहन के प्रत्येक साधन का समुन्नत होना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से भी आन्तरिक जल परिवहन का महत्व विशेष उल्लेखनीय है। (iv) युद्ध अथवा अन्य राष्ट्रीय संकट के दिनों में जल परिवहन के लिए उतना भय नहीं रहता जितना रेल व सड़क परिवहन के लिए रहता है। (v) रेल एवं सड़क परिवहन की वृद्धि वर्तमान यातायात (Traffic) की वृद्धि के अनुरूप नहीं की जा सकती, क्योंकि उनके लिए जितनी पूंजी की आवश्यकता है उतनी पूंजी देश में उपलब्ध नहीं है। परन्तु अन्तर्देशीय जल परिवहन का विकास कम पूंजीगत व्यय पर किया जा सकता है। vi यद्यपि नावों और स्टीमर्स की चाल प्रति घंटा अपेक्षाकृत बहुत कम होती है परन्तु एक साथ अधिक परिमाण में जाने वाले माल के नदी में भेजने में समय की बचत होती है क्योंकि बहुत सा माल एक साथ बिना मार्ग में रुके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। (vii) उत्तर-पूर्वी भारत में प्रतिवर्ष बाढ़ आती रहती हैं। फलतः कभी-कभी कई महीने तक रेल व सड़क पथ से यातायात बन्द हो जाता है। ऐसे अवसरों पर आन्तरिक जलमार्गों का उपयोग एक महान राष्ट्रीय सेवा समझी जाएगी।

अन्तर्देशीय जल परिवहन की सीमायें (Limitations of Inland Water Transport) –आन्तरिक जल यातायात की मुख्य सीमायें इस प्रकार हैं —(1) अन्तर्देशीय जल परिवहन की चाल बहुत धीमी होती है। नदियां बहुधा टेढ़ी मेढ़ी होती हैं और नहरों में बाधों से वाहन (Vehicle) निकालने में बहुत समय लगता है। (ii) इस परिवहन का सामयिक रूप दूसरी प्रमुख सीमा है। ठंडे देशों में जलमार्ग बर्फ के ढक जाने से आवागमन अवरुद्ध हो जाता है। वर्षाकाल में नदी में बाढ़ आ जाने से उनका प्रयोग सम्भव नहीं होता। गर्मियों में नदियों के सूखने का भय रहता है। (iii) पथरीली और पहाड़ी भूमि (Rocky and Hilly Lands) में नहरें बनाना

यदि कठिन नही, तब अतिव्ययी (Costly) अवश्य होता है। (ii) जल परिवहन का सीमित विस्तार होता है। जलमार्ग देश के कुछ ही भागों मे उपलब्ध हैं। (v) स्थलमार्ग की अपेक्षा जलमार्ग अधिक भयावह होता है। (vi) नाव और स्टीमर चलाने के लिये नदियों मे न्यूनतम गहराई (Minimum Depth) ४ फीट तथा अधिकतम बहाव (Maximum Fall) एक मील मे १० इंच होना चाहिये। परन्तु सभी नदियो अथवा नहरों मे ये दशाएं नही पाई जाती। (vii) कभी-कभी बीच मे Shallow Rivers आ जाने से भी नावो के चलाने मे कठिनाई होती है।

भारत मे अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास के लिए उपलब्ध सुविधायें — हमारे देश मे आन्तरिक जल परिवहन के विकासार्थ प्रमुख क्षेत्र इस प्रकार हैं :— (i) हमारे देश की नदिया शाश्वत प्रवाहिनी हैं। वे न तो गर्मियों मे सूखती हैं और न सर्दियो म ही बर्फ से आच्छादित होती हैं। इसलिये भारतीय नदियो मे बर्फ व कोहरा हटाने एव मिट्टी निकालने के लिये मूल्यवान यन्त्रो की आवश्यकता नहीं होती। (ii) भारत की नदिया समतल भूमि से बहती हैं। अत इनमे अन्य देशों की नदियों की तुलना मे बहुत कम जलावरोधो (Locks) की आवश्यकता पडती है। (iii) भारतीय नदियों की गहराई (Depth) तथा बहाव (Fall) जल परिवहन के सर्वथानुकूल है। इस दृष्टि से गगा नदी बहुत महत्वपूर्ण है जिसम कहीं पर भी ४–६ इच से अधिक *प्रतिमील बहाव (Fall in a Mile) नही है।* (iv) हमारे देश मे नहरो का निर्माण सिचाई के लिये हुआ है। फलत नौकाकरण (Navigation) के लिये नहरो का व्यय नही के बराबर है।

अन्तर्देशीय जल परिवहन का संक्षिप्त इतिहास — आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व हमारे देश का आन्तरिक जल यातायात अपनी समुन्नत अवस्था म था। उस काल मे ब्रह्मपुत्र नदी में डिबरूगढ तक, गगा नदी म पटना से ७०० मील ऊपर गढमुक्तेश्वर तक और यमुना नदी मे आगरे तक बडे बडे स्टीमर चला करते थे। कानपुर मे नावो और स्टीमर्स की इतनी भीड लगी रहती थी कि वह एक छोटासा बन्दरगाह प्रतीत होता था। परन्तु सन् १८५ से रेल निर्माण युग के प्रारम्भ होने के साथ प्रतियोगिता होने के कारण आन्तरिक जल यातायात का पतन होना चला गया। रेल निर्माण कार्य मे भारत सरकार ने समस्त शक्ति व साधन जुटा दिए तथा जलमार्गों की सर्वथा उपेक्षा की। आन्तरिक जल परिवहन अभी यान्त्रीकरण की प्रारम्भिक अवस्था मे था और वह उतना सुरक्षित, सुविधाजनक एव वेगवान न था जितना कि रेलें। चू कि अन्तर्देशीय जल परिवहन सदैव से प्रान्तीय विषय समझा जाता रहा इसलिये इसके *विकास के लिये कभी कोई एकरूप नीति* (Uniform Policy) नही अपनाई गई। वस्तुत सर आर्थर कॉटन (Sir Arther Cotton) ही प्रथम व्यक्ति था जिसने अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास के लिये सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। परन्तु सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नही दिया और अपनी पू जी रेलवे पर व्यय करती रही। यद्यपि इस अवधि

मे वाष्प-नौकाकरण (Steam Navigation) अपनी गति को बढा सकती थी, परन्तु व्यापारी वर्ग को रेलो की तीव्रगति से अत्यधिक प्रभावित किया। अतः वाष्प नौकाकरण के विकास के लिये भी कोई क्षेत्र शेष नही रह गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय संविधान म आन्तरिक जल परिवहन को केन्द्रीय विषय बनाकर विकास-क्षेत्र मे एक नया अध्याय प्रारम्भ किया गया।

वर्तमान स्थिति और योजनाओं के अन्तर्गत विकास —(i) हमारे देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र अर्थात् असम पश्चिमी बगाल और बिहार राज्यो मे अन्तर्देशीय जलमार्ग एक महत्वपूर्ण भाग अदा करते है। अनुमानत असम और कलकत्ता के बीच प्रतिवर्ष २५ लाख टन माल (Traffic) मे से लगभग आधा भाग केवल अकेले जलमार्गों द्वारा ढोया जाता है तथा शेष आधा भाग परिवहन के समस्त दूसरे साधनो द्वारा ढोया जाता है। (ii) दक्षिणी भारत मे केरल प्रदेश मे आन्तरिक जल परिवहन का महत्वपूर्ण स्थान है। (iii) एक अनुमान के अनुसार हमारे देश मे आधुनिक शक्ति-चालित नौकाओ (Steamers) के चलने योग्य ५ हजार मील से अधिक लम्बा जलमार्ग है। जल परिवहन की दृष्टि से देश के उत्तर-पूर्वी तथा दक्षिणी क्षेत्र मे विशेष प्राकृतिक सुविधायें उपलब्ध है। उत्तरी भारत मे गगा और उसकी सहायक नदियां, जैसे—यमना गोमती, घाघरा, गण्डक कोसी व सोन आदि मिलकर एक विस्तृत जलमार्ग बनाती हैं। दक्षिणी भारत की महानदी गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्वदा, ताप्ति और साबरमती मे भी पर्याप्त सीमा तक जल परिवहन का विकास सम्भव है। इसी प्रकार बगाल, बिहार, आसाम व बगाल की अनेक छोटी-छोटी नदियां भी आन्तरिक जल यातायात के दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं (iv) भारत के आन्तरिक जल परिवहन की समस्याओं का विस्तृत अध्ययन अन्तर्देशीय जल परिवहन समिति (Inland Water Transport Committee) द्वारा किया गया है जिसकी रिपोर्ट यातायात व संचार मन्त्रालय के सामने सन् १९५९ मे प्रस्तुत की गई। इस समिति ने समस्त भारत मे आन्तरिक जल परिवहन के विकासार्थ दीर्घकालीन सुझाव प्रस्तुत किये हैं। तीसरी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास का कार्यक्रम समिति की सिफारिशो को ध्यान मे रखते हुए बनाया गया है। (v) प्रथम और द्वितीय योजनाकाल मे आन्तरिक जल परिवहन के क्षेत्र मे विकास की गति अत्यन्त मद रही। विगत १० वर्षीय नियोजनकाल मे आन्तरिक जल यातायात के विकास कार्यक्रम पर कठिनाई से १ करोड रु० व्यय किया गया। तीसरी योजना मे इस कार्यक्रम पर ७.५ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इसमे से ६ करोड रु० केन्द्रीय-क्षेत्र (Central Sector) मे तथा १.५ करोड रु० राज्यो की योजनाओ मे व्यय किये जायेंगे। (vi) प्रथम योजनाकाल मे अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकासार्थ गगा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन मण्डल (Ganga Brahmputra Water Transport Board) की स्थापना करके एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। इस बोर्ड की स्थापना सन् १९५२ म की गई।

इसके सदस्य केन्द्रीय सरकार और उत्तर प्रदेश, असम, बिहार व प० बंगाल प्रदेशों के प्रतिनिधि हैं। इस बोर्ड की स्थापना का उद्देश्य गंगा-ब्रह्मपुत्र व्यवस्था (Ganga-Brahmputra System) में सहभागी राज्य सरकारों के विभिन्न जल परिवहन विकास कार्यों का समन्वय करना है। इसके अतिरिक्त इस मण्डल का उद्देश्य उथले जलमार्गों में आधुनिक स्टीमर्स के चलाने की सम्भावना को ज्ञात करना है। इस समय बोर्ड तीन स्थानों तक नावें चलाता है :—(अ) छपरा से बुरहज तक ९४ मील की दूरी में (The Country Boat Towing Service Between Chapra and Burhaj, A Distance of 94 Miles)। (आ) पटना से बक्सर तक ९३ मील की दूरी में साप्ताहिक पर्वहन सेवा (A Weekly Service Between Patna and Buxar, 93 Miles) तथा (इ) पटना से राजमहल तक २०३ मील की दूरी में साप्ताहिक सेवा (Weekly Service Between Patna and Rajmahal, 203 Miles) (vii) द्वितीय योजनावधि में भारत सरकार ने संयुक्त स्टीमर कम्पनियों (Joint Steamer Companies) के लिये नदी संरक्षण-अनुदान (River Conservancy Grants) प्रदान किये तथा नावों के बेड़ों को पुनः सम्थापित करने के लिये २ करोड रु० का ऋण देने का वचन दिया। दूसरी योजना के अन्तर्गत केरल में पश्चिमी तटवर्ती नहर को बडागरा (Badagra) में माही (Mahe) तक विस्तृत करने का कार्यक्रम अपनाया गया तथा अप्रैल सन् १९५८ में केरल की सरकार ने एक निगम स्थापित किया जो क्विलन (Quilon) से एर्नाक्युलम (Ernaqulam) तक चलने वाले सवारी-मोटर-नावों (Passenger Motor Boats) को प्राइवेट सचालकों से अपने हाथ में लेगा। (viii) तीसरी योजना के अन्तर्गत संयुक्त स्टीमर कम्पनियों को पूर्वस्वीकृत ऋण प्रदान करने, पाण्डू (Pandu) में आन्तरिक बन्दरगाह को पूरा करने तथा दामोदर घाटी निगम नहर (D. V. C. Canal) में द्वितीय योजना से चल रहे नौकाकरण कार्यों को पूरा करने की व्यवस्था की गई है। (ix) तीसरी योजनावधि में अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास से सम्बन्धित नई योजनायें इस प्रकार होंगी :— (क) गंगा-ब्रह्मपुत्र बोर्ड द्वारा सुन्दरवन में एक मार्गदर्शी प्रयोजना (Pilot Towing Project) कार्यान्वित की जायगी। (ख) आन्तरिक जल परिवहन से सम्बन्धित विषयों पर परामर्श देने के लिये एक केन्द्रीय संगठन (Central Organization) बनाया जायगा। (ग) गोहाटी (Gauhati) के तटीय प्रदेश का सुधार किया जायगा। (घ) सुन्दरवन और ब्रह्मपुत्र के लिये ड्रैजर्स और लन्चिज (Dredgers and Lunches) खरीदे जायेंगे (ङ) प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जायगी। (x) तीसरी योजना में प्रादेशिक क्षेत्र (State Sector) के अन्तर्गत केरल में पश्चिमी तटवर्ती नहर (West Coast Canal का विस्तार व सुधार, उड़ीसा में तालदण्ड (Taldanda) और केन्द्रपाड़ा (Kendrapara) नहरों का सुधार तथा राजस्थानी नहर में परिवहन की सुविधाओं का विकास सम्मिलित है।

सामुद्रिक जलमार्ग (Oceanic Water Ways)

भारत में सामुद्रिक परिवहन का संक्षिप्त इतिहास—(i) सामुद्रिक जलमार्ग की दृष्टि से भारत की भौगोलिक स्थिति सर्वथा अनुकूल है। भारत पूर्वी गोलार्द्ध के मध्य में स्थित है। फलतः इसका व्यापारिक सम्बन्ध पश्चिमी और पूर्वी सभी देशों से सम्भव हुआ है। देश का ३,५०० मील लम्बा समुद्र-तट भी सामुद्रिक जल परिवहन के विकास-क्षेत्र का सूचक है। (ii) वस्तुतः पोत चालन भारत का प्राचीनतम व्यवसाय रहा है। डा० राधा कमल मुकर्जी (Dr. Radha Kamal Mukerjee) के शब्दों में 'प्राचीन काल में भारत का प्रभाव इतना अधिक था कि देश को इतिहासकारों ने 'पूर्वी सागरों की रानी' की संज्ञा दी है।" (iii) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में भारत में पोत-निर्माण उद्योग समुन्नत अवस्था में था। भारतीय पोत-चालन व पोत निर्माण कला के पतन का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की भारत विरोधी नीति थी। सन् १९१९ में सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की स्थापना के साथ ही यह उद्योग भविष्य में साहस के साथ विषम परिस्थितियों का सामना करता हुआ पुनर्जीवन प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा। (iv) ब्रिटिश सरकार की राष्ट्र-विरोधी नीति का परिणाम यह हुआ कि द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक भारतीय जहाजरानी क्षमता समस्त विश्व की जहाजरानी क्षमता के ०·२४ प्रतिशत के बराबर थी। सन् १९३५ में ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति का स्पष्टीकरण इन्हीं प्राचीन शब्दों में किया। फलतः भारतीय पोत चालन को न किसी प्रकार का संरक्षण दिया गया, न किसी प्रकार की सहायता दी गई और न ही कोई प्रोत्साहन दिया गया। वस्तुतः भारतीय पोत चालन की उन्नति और विकास में सबसे बड़ी बाधा विदेशी कम्पनियों की अपार शक्ति और उनका एकाधिकार तथा भारतीय कम्पनियों के प्रति उनकी असहयोगी भावना थी। (v) सन् १९४० में भारतीय जहाजरानी की क्षमता केवल १,२७,००० टन थी। सन् १९४४ में ब्रिटिश सरकार ने पोत चालन पुनर्निर्माण नीति समिति (Reconstruction Policy Committee) की नियुक्ति करके परिवर्तित परिस्थितियों में परिवर्तित नीति के अनुसार भारतीय पोत चालन के विकास के लिए प्रथम कदम उठाया। (vi) तदुपरान्त, नवम्बर सन् १९४५ में सर श्री० पी० रामास्वामी अय्यर के नेतृत्व में पोत चालन पुनर्निर्माण नीति उपसमिति (Reconstruction Policy Sub-committee on Shipping) नियुक्त की गई। इस उप-समिति के मुख्य सुझाव इस प्रकार थे – (क) भारतीय व्यापार के सुचारु रूप से सचालन के लिये २० लाख क्षमता के जहाजों की आवश्यकता है। अतः इसी लक्ष्य को सामने रखकर पोत चालन की उन्नति के लिये अग्रसर होना चाहिये। (ख) भारत के समस्त तटवर्ती व्यापार को देशी जहाजों के लिए सुरक्षित कर देना चाहिये। विदेशी व्यापार में भी भारतीय जहाजों को उपयुक्त भाग मिलना चाहिये। (ग) आगामी ५—७ वर्षों में भारतीय जहाजों के लिये (अ) भारतीय तटवर्ती व्यापार में शत-प्रतिशत, (आ) निकटवर्ती पड़ोसी देशों के साथ व्यापार में ७५ प्रतिशत, (इ)

दूरवर्ती देशों के साथ व्यापार में ५० प्रतिशत तथा (ई) पूर्वी देशों के साथ व्यापार में ३० प्रतिशत भाग प्राप्त करना चाहिये। (उ) भारत के विदेशी व्यापार में भाग लेने वाली जहाजी कम्पनियों को सरकार की ओर से अर्थ-सहायता मिलनी चाहिये। (ऊ) उपरोक्त सुझावों को कार्यान्वित करने के लिये एक जहाज-चालन मण्डल (Shipping Board) की स्थापना करनी चाहिये। इस बोर्ड को तटीय व्यापार के लिये जहाजों को लाइसेंस देने, सरकारी सहायता का स्वरूप और सीमा निर्धारित करने तथा एकाधिकारी शोषण-जनित दोषों को दूर करने का अधिकार मिलना चाहिए। भाड़ा-द्वन्द (Rate-cutting) और आस्थगित फिरौती प्रथा (Deferred Rebate System) आदि प्रमुख दोषों के नियन्त्रण का पूर्ण अधिकार बोर्ड को दिया जाना चाहिये। (vii) भारत सरकार ने उप-समिति के उपर्युक्त सुझावों को स्वीकार कर लिया और भारतीय पोतचालन के विकास के लिए समिति के ये सुझाव देश की भावी नीति एवं भावी योजनाओं के आधारभूत केन्द्र-बिन्दु बन गये। हमारी वर्तमान नीति इसी नीति पर आधारित है तथा पंचवर्षीय योजनाओं में भी इसी नीति को अपना लिया गया है। (viii) ३ नवम्बर सन् १९४७ को भारत सरकार ने बम्बई में एक पोतचालन सम्मेलन (Shipping Conference) बुलाया। इस सम्मेलन ने भारतीय पोतचालन की मूल समस्याओं की ओर संकेत करते हुए यह निर्णय किया कि भारत सरकार इन समस्याओं को हल करने में पोतचालकों को पूर्ण सहयोग और यथाशक्ति अर्थ-सहायता देगी। (ix) इस नीति के अन्तर्गत मार्च सन् १९५० में १० करोड़ रु० की अधिकृत पूंजी से पूर्वी पोत चालन निगम (Eastern Shipping Corporation) की स्थापना की गई। अगस्त सन् १९५६ से भारत सरकार ने इस निगम का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया है। भारत, ईरान की खाड़ी, लाल सागर, मिस्र, चीन, जापान एवं आस्ट्रेलिया आदि मार्ग इस निगम के सेवा-क्षेत्र हैं। (x) २२ जून सन् १९५६ को पश्चिमी पोतचालन निगम (Western Shipping Corporation) की स्थापना की गई। इसकी अधिकृत-पूंजी (Authorised Capital) १० करोड़ रु० तथा प्रदत्त-पूंजी (Paid-up Capital) ३·५ करोड रु० है। भारत-फारस की खाड़ी, लाल सागर, भारत-पोलैंड व भारत-रूस व्यापार मार्ग इस निगम के से क्षेत्र हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सामुद्रिक जल परिवहन का विकास:—(1) **प्रथम व द्वितीय योजना**:—प्रथम और दूसरी योजना के अन्तर्गत जहाजरानी विकास कार्यक्रम पर क्रमशः १८·७ करोड़ रु० और ५२·७ करोड रु० व्यय किए गए। इस अवधि में भारतीय जहाजों की क्षमता ३ ६ लाख जी० आर० टी० कर दी गई। इस अवधि में बड़े-बड़े बन्दरगाहों की क्षमता भी २ करोड टन से बढ़कर ३ करोड ७० लाख टन कर दी गई। (ii) *तृतीय योजना*—इस योजना में जहाजरानी के विकास कार्यक्रम पर ५५ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त जहाजरानी विकास निधि (Shipping Development Fund) से ४

करोड़ रु० तथा जहाजरानी कम्पनियों के अपने साधनों से ७ करोड़ रु० इस कार्यक्रम पर और व्यय किये जायेंगे। इस समस्त राशि में से आधे से कुछ अधिक राशि निजी क्षेत्र (Private Sector) में और शेष सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) के दो निगमों के कार्यक्रमों में व्यय की जायेगी। आशा है कि इस योजनावधि में ५७ नये जहाज खरीदे जायेंगे जिनकी क्षमता २,७२,००० टन होगी। इसमें से १,६४,००० टन क्षमता पुराने जहाजों को बदलने में लगेगी और शेष १,८१,००० टन क्षमता की वृद्धि होगी। इस योजना के अन्त तक जहाजरानी की कुल क्षमता ११ लाख टन (G R T) हो जाएगी। योजनाकाल में लगभग २१६,००० टन क्षमता के जहाज निजी कम्पनियों द्वारा तथा शेष १,५६,००० टन क्षमता के जहाज सार्वजनिक-क्षेत्र में खरीदे जायेंगे। इसमें से १,२ ,५०० टन क्षमता के जहाज तटवर्ती व्यापार (Coastal Trade) के लिए तथा शेष २,४२ ००० टन क्षमता के जहाज विदेशी व्यापार के काम में आयेंगे। तटवर्ती व्यापार के लिए, योजनाकाल में अधिकांशतः पुराने जहाजों को काम में लाया जायेगा। तीसरी योजना में वर्तमान बड़े बन्दरगाहों के लिये जो कार्यक्रम बनाये गये हैं उनका प्रमुख ध्येय यहां उपलब्ध सुविधाओं का विस्तार करना है। यह अनुमान है कि तीसरी योजना के अन्त तक बड़े बन्दरगाहों की क्षमता ४·६ करोड़ टन हो जाएगी। इस योजना में कलकत्ता बन्दरगाह की सुरक्षा की दृष्टि से दो महत्वपूर्ण कार्यक्रम सम्मिलित किये गये हैं। इनमें से प्रथम कार्यक्रम हल्दिया में सहायक बन्दरगाह बनाने का और द्वितीय कार्यक्रम फरक्का पर गंगा नदी पर एक बांध बनाने का है। हल्दिया बन्दरगाह कलकत्ते से ५६ मील नीचे की तरफ होगा। वहां कोयला, लोहा, खाद्यान्न आदि बड़ी मात्रा वाला माल उतारा-चढ़ाया जाएगा। गंगा नदी पर बाँध बनाना हुगली नदी की स्थिति में सुधार के लिये आवश्यक समझा गया है। कलकत्ता बन्दरगाह के कार्यक्रम में अन्य कार्यक्रमों के साथ ही बेनारी चैनल के सुधारने का काम भी सम्मिलित है। बम्बई बन्दरगाह के कार्यक्रम में मुख्य बन्दरगाह के समीपवर्ती समुद्र को गहरा करने, प्रिंसेस और विक्टोरिया गोदियों के आधुनिकीकरण और बेलार्ड पायर के विस्तार के कार्यक्रम सम्मिलित हैं। मद्रास में कोयला व लोहा आदि सामान बनाने के लिये घाट बनाने और इन्हें उतारने-चढ़ाने के लिये मशीनें आदि खरीदी जायेंगी। विशाखापत्तनम् के कार्यक्रम में कच्चा-धातु लादने की मशीनें लगाने तथा कांडला में अन्य कार्यों के अतिरिक्त दो दर्थ पूरा करने का कार्यक्रम है। इस योजना में बड़े बन्दरगाहों के कार्यक्रमों में तूतीकोरन और मंगलोर के छोटे बन्दरगाहों को सब मौसमों में काम आने वाला बनाना भी सम्मिलित है। योजनावधि में बन्दरगाह विकास कार्यक्रम पर कुल ११५ करोड़ रु० व्यय किए जायेंगे। इसमें से ८० करोड़ रु० बड़े बन्दरगाहों पर, २५ करोड़ रु० फरक्का के बांध पर और १० करोड़ रु० मंगलोर और तूतीकोरन के नए बन्दरगाहों के विकास पर व्यय किये जायेंगे। योजना में छोटे बन्दरगाहों के विकास कार्यक्रमों पर १५ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। यह कार्यक्रम विचौलिया बन्दरगाह विकास समिति की सिफारिशों के आधार पर बनाया गया है। तीसरी योजना के अन्त तक

सम्मिलित कार्यक्रमो के पूरा हो जाने पर छोटे बन्दरगाहो की क्षमता सन् १९६०–६१ मे ६० लाख टन से बढकर सन् १९६५–६६ मे ९० लाख टन कर दी जायेगी। इस योजना मे प्रकाश-स्तम्भो और प्रकाश जहाजो के विकास के लिए ६ करोड रु० की व्यवस्था की गई है। नये कार्यक्रमो मे १४० लाख रु० के व्यय से एक प्रकाश-स्तम्भ खरीदा जायेगा।

भारतीय पोतचालन की प्रमुख समस्यायें एव उनके उपचार (Main Problems and Remedies of Indian Shipping).—भारतीय पोतचालन की मुख्य समस्याए एव उनके निवारणार्थ तत्सम्बन्धी सुझाव इस प्रकार हैं :—(i) **विदेशी प्रतियोगिता व भेद भाव**:—हमारे देश के समुद्र-पार व्यापार (Oceanic Water Trade) मे आज भी विदेशी जहाजो की प्रधानता है। उनकी बढती हुई क्रिया भारतीय पोतचालन के लिए एक कठिन समस्या बन गई है। यही नही, विदेशी जहाजी कम्पनियो ने अपने शक्तिशाली सगठन बना लिए हैं। इन सम्मेलनो मे भारतीय पोतचालन कम्पनियो का सदस्यता से वचित रखने का प्रयत्न किया जाता है। फलत विदेशी जहाजी कम्पनियो की प्रतियोगिता व भेदभाव के कारण स्वदेशी जहाजी कम्पनिया अधिक प्रगति नही कर पाई हैं। अत भारत सरकार द्वारा स्वदेशी जहाजी कम्पनियो को इस घातक प्रतियोगिता से बचाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय पोत सम्मेलनों मे उन्हे सदस्यता प्राप्त करने मे सक्रिय कदम उठाया जाना चाहिये। (ii) **जहाजों के मूल्य मे वृद्धि**:—हमारे देश के जहाजी बेडे के विस्तार मे सर्वाधिक प्रमुख बाधा जहाजो के मूल्य मे अनियमित वृद्धि का होना है। एक अनुमान के अनुसार *भारत मे जहाजरानी का मूल्य ब्रिटेन से लगभग २० प्रतिशत अधिक ऊचा है।* इसके अतिरिक्त भारत को विदेशों से जहाज खरीदने मे विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) की कठिनाई का सामना करना पडता है। अत सस्ते मूल्य पर स्वदेश में ही जहाजो का निर्माण किया जाना अपेक्षित है। (iii) **सवारी जहाजों और तेल ले जाने वाले जहाजों की न्यूनता**:—आज भी स्वदेशी कम्पनियो के पास सवारी जहाजो और तेल ल जाने वाले जहाजो की अपर्याप्तता है। सवारी जहाजो के अभाव मे स्वदेशी यात्रियो और भारत मे आने वाले विदेशी पर्यटकों को असुविधाए रहती हैं तथा तेल ले जाने वाले जहाजो के अभाव मे विदेशों से तेल मगाने म विदेशी जहाजी कम्पनियो पर निर्भर रहना पडता है। अत सवारी जहाजो और तेल ले जाने वाले जहाजों का स्वदेश मे निर्माण करके अथवा दूसरे देशो से क्रय करके इस अभाव की पूर्ति करनी चाहिये। (iv) **रेल और समुद्र तटीय जहाज प्रतियोगिता**:—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से समुद्रतटीय जहाज (Coastal Sihippng) के विकास मार्ग मे एक प्रमुख कठिनाई रेलो की प्रतिस्पर्धा से हुई है। साधारणत जहाजों से माल भेजने का ढुलाई-व्यय रेलों की अपेक्षा बहुत कम होता है। परन्तु कभी-कभी रेलें यातायात (Traffic) को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अपने भाडे की दर को कम कर देती हैं। फलत जहाजी कम्पनियों को हानि होती है। इसलिये समुद्रतटीय

जहाज परिवहन के विकास के लिये रेल-समुद्रतटीय जहाज यातायात समन्वय (Rail Coastal Shipping Transport Co-ordination) की अपूर्व आवश्यकता है। (v) **आधुनिक जहाज-निर्माण उद्योग की अविकसितता** —वस्तुत पोतचालन व्यवसाय की समुन्नति सुविकसित पोत निर्माण उद्योग पर पराश्रित होती है। ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व भारत का पोत-निर्माण उद्योग अपनी चरम् विकसित अवस्था मे था। परन्तु ब्रिटिश सरकार की असहयोगी नीति एव देश मे लाहा व इस्पात उद्योग के अभाव मे देश का पोत-निर्माण उद्योग शनै शनै पतन को प्राप्त हो गया। इस समय हमारे देश मे जहाज निर्माण की केवल कम्पनी "हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड" है। सन् १९६० तक इस कम्पनी द्वारा १ थूरिंग जहाज, दो छोटे जहाज और २५ समुद्रगामी जहाज बनाये गये जिनकी कुल क्षमता १,१९,९४३ टन है। आगामी वर्षों मे कोचीन मे एक दूसरा शिपयार्ड बनाने की योजना है। भारतीय पोतनिर्माण उद्योग की अपनी दो विशेष समस्यायें हैं :—(अ) अन्य देशों की अपेक्षाकृत यहा जहाजो की लागत-व्यय बहुत अधिक होती है तथा (आ) भारत मे जहाज निर्माण मे अपेक्षाकृत समय भी अधिक लगता है। इसका प्रमुख कारण देश मे सुयोग्य एव तकनीकी कर्मचारियो का अभाव है। अत भारतीय पोतचालन की समुन्नति के लिये पोत-निर्माण उद्योग का विकास करना चाहिये। (vi) **बन्दरगाहों की अपर्याप्तता** :—यद्यपि हमारे देश का समुद्रतट पर्याप्त लम्बा (३,५०० मील) है, परन्तु पर्याप्त कटा-फटा न होने के कारण प्राकृतिक बन्दरगाहों की अपर्याप्तता है। भारत के समुद्रतट पर केवल ६ बडे बन्दरगाह १८ मध्यम श्रेणी के बन्दरगाह तथा २२६ छोटे छोटे बन्दरगाह हैं। बडे बन्दरगाहो मे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कोचीन, विशाखापत्तनम् और कान्दला के बन्दरगाह गिने जाते हैं। सन् १९४७ मे भारत के बडे बन्दरगाहो की माल लादने और उतारने की क्षमता २०० लाख टन थी। सन् १९५५–५६ मे यह क्षमता बढकर २५० लाख टन तथा सन १९६०-६१ मे बढाकर ३७० लाख टन कर दी गई। वस्तुत. देश मे तीव्र गति से आर्थिक विकास एव यातायात की मात्रा में वृद्धि को देखते हुये यह क्षमता अपर्याप्त है। तीसरी योजना के अन्त तक इन बन्दरगाहो की क्षमता बढकर ४९० लाख टन होने की प्रत्याशा है। भारत के सामुद्रिक जल परिवहन से सम्बन्धित एक प्रमुख समस्या यह भी है कि जहा एक ओर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के बन्दरगाहो पर अत्यधिक भीड-भाड रहती है, वहा दूसरी ओर कोचीन, कान्दला व अन्य दूसरे बन्दरगाहो की क्षमता का पूर्ण उपयोग नही हो पाता है। वस्तुत बडे-बडे बन्दरगाहो पर भीड-भाड को कम करने के लिये तथा देश मे सतुलित विकास की दृष्टि से छोटे व मध्यम श्रेणी के बन्दरगाहो का विकास अत्यावश्यक है। सन् १९६०–६१ मे देश के छोटे व मझले बन्दरगाहों की क्षमता ६० लाख टन थी। तीसरी योजना के अन्त तक इन बन्दरगाहों की क्षमता बढकर ९० लाख टन हो जाने की प्रत्याशा है। वस्तुत अभी छोटे, मझले व बडे बन्दरगाहो की क्षमता के विकास के लिये अधिक व्यापक कदम उठाना चाहिये। (vii) **श्रमिकों की समस्या** :—

भारतीय बन्दरगाहों पर कार्य करने वाले श्रमिक भी जहाजी कम्पनियों के विकास मार्ग मे एक प्रमुख समस्या बन गए हैं। श्रमिकों की अवरोधात्मक चालों और हड़तालों के परिणामस्वरूप भारतीय जहाजी कम्पनियों को बहुत हानि उठानी पड़ती है। वस्तुत यह एक घातक समस्या है। अत इसका प्रभावशाली हल ढूढ निकालना चाहिए। (viii) उदार राजकीय सहायता का अभाव—व्यावहारिक रूप मे पोतनिर्माण और पोतचालन के सैनिक एव आर्थिक महत्व को दृष्टिगत रखते हुये प्रत्येक देश की सरकार अपनी जहाजरानी शक्ति को विकसित करने के लिये इस उद्योग को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार की सहायता देती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ब्रिटिश सरकार की असहयोगी एव उदासीनतापूर्ण नीति के फलस्वरूप भारतीय सामुद्रिक जल यातायात का पर्याप्त विकास नही हो पाया। परन्तु स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इस ओर महत्वपूर्ण कदम उठाया है। भारत सरकार शिपयार्ड कम्पनी को ब्रिटेन और भारत के पोतनिर्माण मूल्य के अन्तर के अनुसार २० प्रतिशत सहायता देती है। प्रथम योजना के प्रारम्भ से केन्द्रीय सरकार ने जहाज निर्माण के लिये ऋण देना भी आरम्भ किया है। इस प्रकार अन्य देशों की तरह विगत वर्षों मे भारत सरकार ने भी पोतनिर्माण कम्पनियो की यथेष्ट सहायता की है। सरकार ने सिंधिया कम्पनी की असमर्थता प्रकट करने पर १ मार्च सन् १९५२ से विशाखापत्तनम् की जहाज निर्माणशाला को अपने हाथ मे ले लिया है। आगामी वर्षों मे सरकार ने एक नवीन पोतनिर्माण का कारखाना कोचीन मे खोलने की योजना बनाई है। सन् १९५० से देश का समस्त तटीय व्यापार स्वदेशी कम्पनियों के लिये सुरक्षित कर दिया है। परन्तु अभी विदेशी व्यापार मे सरकार द्वारा स्वदेशी कम्पनियो को और अधिक सहयोग एव संरक्षण देने की आवश्यकता है।

३५

वायु यातायात

(Air Transport)

वायु परिवहन की सामान्य विशेषतायें (General Characteristics of Air Transport) —विमान परिवहन की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं —(i) **तीव्र गति** — वायुयान की तीव्र गति इसकी सर्वप्रमुख विशेषता है। आजकल वायुयान की सामान्य चाल ७०० मील प्रति घंटा मानी जाती है। इस प्रकार विमान अपनी तीव्र गति द्वारा मानव का बहुमूल्य समय बचाकर एक महान उपकार करता है। (ii) **भौगोलिक बाधाओं का उल्लघन** —वायुयान के मार्ग मे वन, पर्वत, रेगिस्तान, खाई, बर्फीले स्थान, दलदली भूमि, नदी-नाले आदि कोई रुकावट उपस्थित नही करते। वायुयान वायु के विश्वव्यापी राजमार्ग पर जल-थल, वन-पर्वत, कन्दरा-खाई नदी-नाले आदि की उपेक्षा करता हुआ निरन्तर आगे बढता चला जाता है। इसके लिये किसी विशेष मार्ग बनाने की आवश्यकता नहीं होती। (iii) **बहुमूल्य वस्तुओं का परिवहन** वायुयान ने बहुमूल्य वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्रता से पहुचाकर मार्ग की जोखिम को समाप्त कर दिया गया है। (iv) **सैनिक महत्व** — आधुनिककाल के युद्धो मे वायुयान का अपना विशेष महत्व है। युद्ध-क्षेत्र मे गोला-बारूद, अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिकों का सत्वर परिवहन वायुयान द्वारा ही सम्भव है। (v) **यात्रियों को आराम** —परिवहन के अन्य साधनो की अपेक्षा वायुयान यात्रियो को अधिक सुख सुविधा प्रदान करते हैं। (vi) **सकटकालीन सहायता** —सक्रामक रोगों के फैलने, बाढ अथवा भूकम्प आने, अकाल की स्थिति उत्पन्न होने अथवा परिवहन के अन्य साधनो के विछिन्न होने की सकटकालीन परिस्थितियो मे वायुयान अपूर्व सहायता करते हैं। (vii) **आन्तरिक शांति** —देश के अन्तर्गत गृहयुद्ध छिडने साम्प्रदायिक झगडे होने अथवा अन्य कारणो से अराजकता फैलने पर विमान द्वारा पुलिस अथवा सैना भेजकर तुरन्त शान्ति स्थापित की जा सकती है। (viii) **औद्योगिक विकेन्द्रीयकरण की सम्भावना** —विमानो की सहायता द्वारा उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण (Decentralization) की नीति को सरलता से व्यावहारिकस्वरूप दिया जाना सम्भव है। इस प्रकार नगरो की अत्यधिक जनसख्या के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले आर्थिक

सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दोषो से छुटकारा पाया जा सकता है। (ix) वाणिज्य-विस्तारः—वायुयान द्वारा वाणिज्य व्यवसाय की तीव्र प्रगति हुई है तथा शीघ्रनाशक वस्तुओं (Perishable Goods) के बाजार का व्यापक विस्तार सम्भव हुआ है। विमान की सहायता से डेनमार्क मे उत्पादित अण्डे, मक्खन, दूध आदि वस्तुयें प्रतिदिन इगलैण्ड पहुचाई जाती हैं (x) कृषि सुधार व वन रक्षा —कृषि सम्बन्धी रोगो से फसलो की रक्षा करने, कृमि-कीटो को विनष्ट करने तथा टिड्डियो को मारने मे वायुयान द्वारा खेतो पर विषैला चूर्ण छिड़कर अपूर्व सहायता ली जाती है। इसी प्रकार वनो मे आग लग जाने पर वायुयानो की सहायता से तुरन्त बुझा दिया जाता है। (xi) वायु-फोटोग्राफी—युद्धकाल मे विमानो की सहायता से शत्रुओ के सुरक्षित स्थानों और गुप्त सैनिक अड्डो की फोटोग्राफी द्वारा शत्रुओ के छिपने के स्थानो, सैनिक शक्ति एव अस्त्र-शस्त्र के भण्डारो के विषय मे पूरा पता लगाया जाता है।

वायु परिवहन की सीमायें (Limitations of Air Transport) :—वायु परिवहन की मुख्य सीमायें अथवा दोष इस प्रकार हैं :—(i) **महगाई** —परिवहन के अन्य साधनो की अपेक्षा वायुयान के किराये भाडे की दरें अत्यधिक ऊँची होती हैं। अत वायुयान का उपयोग केवल धनी व्यक्तियो एव मूल्यवान वस्तुओ के लिये ही सम्भव है। वायु परिवहन की महगाई के कारण ही अभी तक भारतीय जनसख्या का केवल ·०२% ही इसका उपयोग कर सका है। (ii) **सीमित-क्षेत्र** —वायु परिवहन का कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित है। इसका प्रयोग धनी व्यक्तियो तथा बहुमूल्य एव हल्की वस्तुओं के लिये ही सम्भव है। (iii) **मौसम का प्रभाव** —वायुयान मौसम सम्बन्धी घटनाओ से प्रभावित होता है। फलत उसका कार्य निर्विघ्न चालू नही रहता। घोर वर्षा, तेज आन्धी, कुहरा पडने, बर्फ जमने पर वायुयान को अपना कार्यक्रम बद- लना पडता है। (iv) **विश्व के कानून** —एक देश के वायुयान स्वतन्त्रतापूर्वक दूसरे देशो के ऊपर नहीं उड सकते। इसके लिये दूसरे देश की सरकार से आज्ञा लेनी पडती है तथा उस देश के कानून व नियम मानने को बाध्य होना पडता है। (v) **दुर्घटनायें**-रेल, मोटर अथवा सामुद्रिक जहाज की यात्रा की तुलना मे वायुयान द्वारा यात्रा करना अधिक असुरक्षित समझा जाता है। वायुयान की दुर्घटनाओ की भयकरता की आशका से अनेक व्यक्ति वायुयान द्वारा यात्रा करने से घबराते हैं। (vi) **घोर शब्द**—विमान के चलने पर घोर शब्द का होना भी अनेक व्यक्तियो के लिये वायु-यात्रा की असुविधाजनकता का कारण बनता है। भविष्य मे वायुयान के घोर शब्द को कम किये जाने की पूर्ण सम्भावना है।

भारत मे विमान परिवहन के विकास का सक्षिप्त इतिहास (प्रथमयुग सन् १९२७–५४) —हमारे देश मे यद्यपि प्रयोगात्मक उडानें सन् १९११ मे प्रारम्भ हो गई थी, परन्तु आधुनिक विमान परिवहन का वास्तविक प्रारम्भ सन् १९२७ से हुआ जबकि भारत सरकार ने नागरिक उड्डयन विभाग (Civil Air Transport Department) की स्थापना की। सन् १९२९ मे ब्रिटेन, फ्रास व हालैण्ड की साम्राज्य वायु सेवा (Empire Air Service का देश मे आगमन होने पर अनुसूचित वायु-

यान सेवा का यहा प्रथम बार आविर्भाव हुआ। भारत सरकार की अनुमति से इम्पीरियल एयरवेज (Imperial Airways) नामक ब्रिटिश कम्पनी के जहाज, जो क्रायडन से कराची तक आया करते थे, अब दिल्ली तक आने लगे। सन् १९३३ में भारत सरकार ने अपनी वायु सेवा सिंगापुर तक बढ़ाई। सन् १९३२ मे श्री जमशेद टाटा के प्रयत्न से विमान परिवहन क्षेत्र मे सर्वप्रथम भारतीय पूंजी (Indian Capital) एव भारतीय साहस (Indian Enterprise) का पदार्पण हुआ। टाटा ने १५ अक्टूबर सन् १९३२ का करांची और मद्रास के बीच विमान सेवा आरम्भ की। भारतीय डाक व तार विभाग से इस कम्पनी को डाक ले जाने का अधिकार प्राप्त हो गया जो इसकी आय का प्रमुख साधन रहा। टाटा कम्पनी की सफलता से प्रेरित होकर सन् १९३३ मे Indian National Airways Ltd नामक एक नई कम्पनी दिल्ली मे बनी। इस कम्पनी ने कराची से लाहौर तक अपनी सेवा आरम्भ की। सन् १९३८ म ब्रिटेन की सरकार ने अपने साम्राज्य के समस्त देशो के बीच सुसगठित वायु सेवा डाक ले जाने के लिए चालू की। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने टाटा कम्पनी से करांची मद्रास मार्ग पर तथा इडियन नेशनल ऐयरवेज कम्पनी से कराची-लाहौर मार्ग पर डाक ले जाने के लिए १५ वर्षीय समझौता किया। इससे भारतीय कम्पनियो को अपार लाभ हुआ। द्वितीय महायुद्धकाल मे साम्राज्य वायु सेवा बन्द कर दी गई तथा ब्रिटेन का समस्त वायुबल युद्ध-कार्य मे सलग्न हो गया। भारत की दोनो कम्पनियाँ भी देश रक्षा मे सलग्न हो गई। युद्ध की अवधि की वृद्धि के साथ साथ भारतीय कम्पनियो के जहाज लगभग १६ मार्गों पर चलने लगे। इस प्रकार युद्धकाल म इन कम्पनियों ने पर्याप्त प्रगति की।

द्वितीय युग, सन् १९४५-५३ — युद्ध समाप्त होने से पूर्व ही ब्रिटिश सरकार ने युद्धोपरान्त काल के लिए विमान परिवहन की विकास योजनाओ पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया। नागरिक उडडयन के तत्कालीन महासचालक सर फ्रैड्रिक टिम्स Sir Frederick Tigmms) ने अपने लेख में सरकार को तीन सुझाव दिए.—(i) भारत की आन्तरिक एव वाह्य आवश्यकताओ को देखते हुए वायु सेवा का सचालन-कार्य चार से कम व्यक्तिगत कम्पनियों को सौंपना चाहिए। (ii) कम्पनियों को अनिवार्यत लाइसेंस लेने की व्यवस्था करनी चाहिए तथा (iii) लाइसेंस की व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय बोर्ड (Central Board) की स्थापना करनी चाहिए। सर फ्रैड्रिक टिम्म के इन सुझावो को मान्यता देने के लिए सरकार ने भारतीय विमान अधिनियम (Indian Aircraft Act) मे सशोधन करके कम्पनियो के लिए लाइसेंस (Licence) लेना अनिवार्य कर दिया तथा जुलाई सन् १९४६ मे विमान परिवहन लाइसेंसिंग बोर्ड (Air Transport Licensing Board) की स्थापना की। विमान कम्पनियों के युद्धकालीन लाभ को देखकर उद्योगपतियो मे उड्डयन कम्पनी स्थापित करने की होड सी लग गई। फलत सन् १९४७ के आरम्भ तक देश मे २१ विमान कम्पनियाँ बन गई। देश के विभाजन के समय शरणार्थी समस्या ने इन कम्पनियो को कुछ

समय के लिए कार्य देकर इनका सचालन सफल बनाया। विभाजन सम्बन्धी क्षणिक वृद्धिकाल मे अनेक नई कम्पनियाँ स्थापित हो गई। इसके फलस्वरूप उनमे पारस्परिक प्रतियोगिता में वृद्धि हुई और उनका कार्यक्षेत्र सीमित हो गया। अतः इस अवधि मे अनेक कम्पनियों को अपना विघटन (Disorganisation) करना पड़ा। इस सकट-कालीन समय म कम्पनियो को काम दिलाने के लिए भारत सरकार ने १ अप्रैल सन् १९४९ से डाक का वायु महसूल बन्द कर दिया तथा समस्त डाक, जो विमान द्वारा शीघ्रतापूर्वक ले जाई जा सकती थी, उसको विमान द्वारा ले जाने की व्यवस्था की। पैट्रोल के बढते हुए मूल्य से मुक्ति दिलाने के लिए सरकार ने १ मार्च सन् १९४९ से उसके आयात कर (Import Duty) मे ६ आने प्रति गैलन की फिरौती (Rebate) देना आरम्भ कर दिया। कालान्तर मे यह फिरौती ६ आने प्रति गैलन कर दी गई।

वस्तुत· सरकारी सहायता एव परिस्थितियो के सामयिक सहारे से भी भारतीय विमान परिवहन की स्थिति मे कोई सुधार नहीं हुआ। अत भारत सरकार ने इस सम्बन्ध मे आवश्यक सुझाव प्रस्तुत करने के लिए एक विमान परिवहन जाच समिति (Air Transport Enquiry Committee) नियुक्त की। इस समिति की रिपोर्ट सितम्बर सन् १९५० में प्रकाशित हुई। जाच समिति ने प्रत्येक विमान कम्पनी की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि केवल एयरवेज इण्डिया (Airways India) को छोड़कर सभी विमान कम्पनियों का सचालन हानिप्रद था। यदि सरकार द्वारा पैट्रोल पर दी हुई फिरौती को घटा दिया जाए, तब ए.रवेज इण्डिया का सचालन भी अलाभकर होता था। अत. समिति ने वायु परिवहन की स्थिति को सुधारने के लिए इस प्रकार सुझाव दिए -(i) देश की तत्कालीन आवश्यकता को देखते हुए केवल ४ विमान कम्पनिया ही होनी चाहियें। इन कम्पनियों के मुख्य कार्यालय चार प्रमुख स्थानों– बम्बई, कलकत्ता, हैदराबाद व दिल्ली म होने चाहियें। (ii) जिन विमान कम्पनियों को अस्थाई लाइसेंस दिए गए हैं, उन्हें अवधि समाप्त हो जाने पर समाप्त कर देना चाहिए। (iii) नागरिक उड्डयन विभाग के महासचालक को भाड़े की न्यूनतम दरें (Minimum Rate of Rates and Fares) तै करनी चाहियें। (iv) भारत सरकार वायुयान कम्पनियो को जो आर्थिक सहायता पहले से देती आई है, वह कम से कम दिसम्बर १९५२ तक अवश्य दी जानी चाहिए। (v) वायुयान कम्पनियों के लाभ पर केन्द्रीय सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहना चाहिए तथा (vi) कम से कम आगामी ५ वर्षों तक वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण (Nationalization) नहीं करना चाहिए।

वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Air Transport)– वायु परिवहन जाँच समिति ने वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष-विपक्ष मे भारत सरकार को ये तर्क प्रस्तुत किए – (अ) **पक्ष में तर्क** – (i) कार्य-केन्द्रों, साज सज्जा एव कर्मचारी वर्ग का अधिकतम उपयोग करने के लिए विमान परिवहन का सगठन

एक इकाई में ही होना आवश्यक है। (ii) राष्ट्रीय सुरक्षा के दृष्टिकोण से भी विमान की राष्ट्रीय सेवा सर्वोत्तम। (iii) राष्ट्रीयकरण की स्थिति में राष्ट्रीय कार्य-केन्द्रों (National Workshops) का प्रयोग देश के विमानों की मरम्मत के लिये तथा प्रशिक्षण सुविधाओं को एक सूत्रीय कार्यक्रम के लिये प्रयोग में लाया जा सकेगा। (iv) राष्ट्रीय विमान जनता को अच्छी व सस्ती सेवा प्रदान कर सकता है। (v) एक राष्ट्रीय इकाई देश के लिये दूरदर्शिता के साथ व्यापक योजनायें बनाने में सफल हो सकती है। वास्तव में विमान चालन-क्रिया एवं साज-सज्जा से सम्बन्धित जो नये आविष्कार प्रचलित हैं, उनसे पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिये विमान सेवा का एक ही राष्ट्रीय इकाई में संगठित होना आवश्यक है। (vi) विमान सेवा के एक सूत्रीय प्रशासन से स्थाई व्यय में ८२ प्रतिशत की कमी सम्भव है। अतः प्रशासन में मितव्ययिता लाने की दृष्टि से वायुयान सेवा का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। (vii) अब तक अपनी पूर्ण सफलता के लिये यह उद्योग सदैव सरकारी सहायता की माँग करता रहा है। इसलिये व्यक्तिगत पूँजीपतियों को अर्थ-सहायता देने की अपेक्षा विमान सेवा का राष्ट्रीयकरण ही उत्तम है। विपक्ष में तर्क—(i) विमान परिवहन उद्योग में नित्य नये आविष्कारों और विकास क्रियाओं से लाभ प्राप्त करने के लिये ग्राहकों के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित करना तथा तत्परता के साथ निर्णय करना अत्यावश्यक है। सरकारी सेवा इस प्रकार के निकट सम्पर्क एवं शीघ्र निर्णयों के लिये सर्वथा अयोग्य सिद्ध होती है। (ii) इस समय भारत सरकार के सामने अनेक महत्वपूर्ण समस्यायें हैं। अतः उनकी उपेक्षा करके सरकार को विमान परिवहन जैसी विलासी आवश्यकता पर धन व्यय नहीं करना चाहिये। (iii) विमान परिवहन जैसे विशाल सगठन एवं विशिष्टीकृत (Specialized) उद्योग के लिये सरकारी क्षेत्र में पर्याप्त संख्या में योग्य प्रबन्धकों का मिलना अत्यन्त दूभर है। (iv) सन् १९४८ की औद्योगिक नीति (Industrial Policy) सम्बन्धी घोषणा में वायु यातायात को उन उद्योगों में स्थान दिया गया था जो निजी साहस के लिये छोड़ दिये जायेंगे, परन्तु आधारभूत उद्योग होने के कारण उन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण आवश्यक रहेगा। अतः जाँच समिति ने यह मत प्रस्तुत किया कि सन् १९४८ की औद्योगिक नीति के विरुद्ध विमान परिवहन के राष्ट्रीयकरण करने का तुरन्त निर्णय करना देश के औद्योगिक विकास के लिये घातक सिद्ध होगा।

जनवरी सन् १९५१ में नागरिक उड्डयन के महासंचालक (Director General of Civil Aviation) ने विमान चालकों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन (Conference) आयोजित किया। इस सम्मेलन में यह निर्णय हुआ कि विदेशी विमान कम्पनियों से प्रतियोगिता में टक्कर लेने के लिये भारतीय कम्पनियों द्वारा डकोटा के स्थान पर नवीनतम विमानों का प्रयोग किया जाना चाहिये। इन नए विमानों को लेने के लिये १० करोड़ रु० के व्यय का अनुमान लगाया गया। भारतीय विमान कम्पनियों ने सरकार से प्रार्थना की कि उन्हें ७ करोड़ रुपए ऋणस्वरूप दिये

जायें। इस प्रार्थना पर योजना आयोग (Planning Commission) ने विचार करके कहा कि तत्कालीन परिवहन और सेवा सुविधाओं को देखते हुये विमान कम्पनियों का सचालन लाभदायक होना सम्भव नहीं है और नये विमानों के आने पर उनकी आर्थिक स्थिति और भी अधिक गिरने की सम्भावना है। योजना आयोग ने यह मत भी व्यक्त किया कि विमान सेवा के राष्ट्रीयकरण की स्थिति मे २० के स्थान पर केवल १३ नए विमानों से ही काम चल सकेगा और इस प्रकार ३½ करोड रु० की बचत होगी। अतः भारत सरकार द्वारा मार्च सन् १९५३ म विमान परिवहन निगम बिल (Air Transport Corporation Bill) रक्खा गया जो स्वीकृत हो गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत जून सन् १९५३ को दो निगमो की स्थापना की गई—(अ) भारतीय विमान निगम (Indian Air lines Corporation) तथा (आ) अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय विमान निगम (Air India International Corporation)। भारतीय विमान निगम का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली तथा अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय विमान निगम का मुख्य कार्यालय बम्बई है। एक अगस्त सन् १९५३ से दोनो निगमो ने अपनी सेवा प्रारम्भ की। भारतीय विमान निगम देश के लगभग सभी महत्वपूर्ण केन्द्रो को परस्पर जोडता है। इसका अनुसूचित मार्ग २३ हजार मील लम्बा है। इसके विमान वर्षभर मे लगभग ७ लाख यात्री ले जाते हैं। सन् १९५९—६० मे इस निगम के विमानो ने लगभग १९४ मील लम्बी उडानें भरी। इस समय इस निगम के पास ५४ डकोटा, ५ स्काईमास्टर और १० विस्काउन्ट है। अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय विमान निगम भारत का २१ देशो से सम्बन्ध स्थापित करता है। इसका मार्ग २१,००० मील लम्बा है। इसके विमान वर्षभर मे लगभग ६० हजार यात्री ले जाते हैं। सन् १९५९—६० में इस निगम के वायुयानों ने लगभग ७४ लाख मील की यात्रा की। इस समय इस निगम के पास ३ बोइंग और ९ सुपर कांस्टलेशन विमान हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विमान परिवहन का विकास—(1) प्रथम व द्वितीय योजना—देश के विभाजन के पश्चात् से नागरिक उड्डयन ने पर्याप्त प्रगति की है। सन् १९४७ से लेकर प्रथम पचवर्षीय योजना की आरम्भना तक विमान परिवहन के विकास कार्यक्रम पर लगभग ६·६ करोड रु० व्यय किये गये। प्रथम और द्वितीय योजनावधि मे इस कार्यक्रम पर कुल २४ करोड रु० व्यय किये गये। सन् १९५३ मे हवाई सेवाओ के राष्ट्रीयकरण होने के बाद नागरिक वायु परिवहन ने तीव्रगति से प्रगति की है। इ डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन की क्षमता टन मीलो मे सन् १९५३—५४ मे ४६ मिलियन टन से बढाकर सन् १९६०—६१ मे ६९ मिलियन टन कर दी गई। इस अवधि मे एयर इण्डिया इन्टरनेशनल की क्षमता १७ मिलियन टन से बढाकर १०३ मिलियन टन कर दी गई। वर्तमान समय मे नागरिक उड्डयन विभाग (Civil Avitation Department) के पास ८१ हवाई जहाज हैं जिनमे से ४ हवाई जहाज द्वितीय योजनाकाल मे सम्मिलित किये गये थे।

(ii) **तीसरी योजना**–तीसरी योजना मे नागरिक वायु परिवहन के विकास कार्यक्रम पर २५.५ करोड रु० व्यय किये जायेंगे। दूसरी योजना मे बम्बई (सान्ताक्रुज), कलकत्ता (दमदम) और दिल्ली (पालम) हवाई अड्डो पर जैट विमानो के आवागमन की सुविधायें उपलब्ध करने के लिये अनेक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये थे। तीसरी योजनावधि मे इन सब कार्यक्रमो को पूरा किया जाएगा। इस योजनावधि म आवश्यक स्थानो पर हवाई पट्टियों को बढाने के लिये कार्यक्रम को प्राथमिकता दी जायगी। तृतीय योजना मे मद्रास मे जैट वायुयानो के आवागमन के लिये हवाई अड्डो के विस्तार तथा लखनऊ, गया और अहमदाबाद हवाई अड्डों की हवाई पटिटयो के विस्तार के कार्यक्रम सम्मिलित हैं। योजनाकाल मे अन्य अनेक नये हवाई अड्डे और हवाई पट्टिया बनाई जायेंगी जिनसे पर्यटक यातायात के विकास मे बहुत सहायता मिलेगी। तीसरी योजना मे भारतीय विमान निगम के विकास कार्यक्रम पर १५ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था है। योजनावधि मे इस निगम के द्वारा ४ विस्काउण्ट तथा डकोटा जहाजो को प्रतिस्थापित करने के लिये २५ आधुनिक जहाज खरीदे जायेंगे। योजना मे यह प्रस्ताव रक्खा गया है कि इस निगम के पास सन् १९६५–६६ के अन्त मे केवल १० डकोटा रक्खे जायें जो माल ढोने के काम में लाये जायें। अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय विमान निगम के विकास कार्यक्रम पर तीसरी योजना मे १४.५ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। योजनावधि मे इस निगम द्वारा चार जैट हवाई जहाज खरीदे जायेंगे। पर्यटन के विकास के लिए तीसरी योजना मे ८ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। दूसरी योजना की तरह तीसरी योजना मे भी पर्यटको के लिये यातायात और ठहरने की सुविधाओ पर अधिक बल दिया जायेगा। पर्यटको की सुविधा के लिये योजनावधि मे नये होटलो का निर्माण किया जायेगा तथा पुराने होटलो के सुधार व विस्तार के लिए ऋण प्रदान किया जायेगा।

—:०:—

३६

बेरोजगारी की समस्या

(The Problem of Unemployment)

प्राक्कथन—भारत की सर्वाधिक विकट आर्थिक एवं सामाजिक समस्या बेरोजगारी की समस्या है। प्रथम विश्व युद्धोपरान्तकाल से तथा विशेषकर सन् १९२९—३३ की विश्वव्यापी महामन्दी के आरम्भ से देश मे इस समस्या की गहनता (Intensity) और आकार (Extension) मे विशेष वृद्धि हुई है। यद्यपि द्वितीय महायुद्धकाल मे सभी दिशाओं मे श्रम सेवाओं की माग बढ़ने से यह समस्या अस्थाई रूप से समाप्त हो गई थी, परन्तु युद्धोपरान्तकाल से यह समस्या निरन्तर विकट रूप धारण करती गई। डा० के० एन० राज (Dr. K. N. Raj) के मतानुसार, "भारत मे श्रम-शक्ति तीव्रगति से बढ़ रही है। मध्यम श्रेणी मे जो स्त्रियां पहले नौकरी की तलाश मे नहीं रहती थीं, अब शिक्षा प्राप्त करके काम करना चाहती हैं। पहले के जमींदारों और अन्य रईस परिवारों के लडके अपनी सम्पत्ति पर जीते थे और कोई काम नहीं करते थे, परन्तु आज बदलती हुई परिस्थितियों मे उनका भी काम किये बिना काम नहीं चलता है। अतः आर्थिक दृष्टि से निष्क्रिय वर्ग के सक्रिय हो जाने से भी भारत में श्रम-शक्ति (रोजगार चाहने वाले व्यक्तियों की संख्या) तीव्रता से बढ़ने लगी है।"

समस्या की प्रकृति एवं आकार (Nature and Extent of the Problem)—हमारे देश मे बेरोजगारी सर्वत्र व्यापक रूप से फैली हुई है। इस समस्या के अनेक पहलू हैं। भारत मे इस समस्या के दो पहलू मुख्य हैं। सर्वप्रथम वे व्यक्ति जो पूर्णरूपेण बेरोजगार हैं तथा वर्ष के अधिकांश भाग में उनके पास कोई उत्पादन कार्य नहीं होता है। द्वितीय वे व्यक्ति जिन्हे कृषि एव घरेलू व्यवसायों में अपूर्ण रोजगार प्राप्त है। इसे अदृश्य रोजगारी (Hidden or Disguised Unemployment) भी कहा जाता है। हमारे देश में ऐसे ही व्यक्तियों की संख्या अधिक है। सन् १९६०—६१ मे देश मे बेरोजगार व्यक्तियों की सख्या का अनुमान लगभग ९० लाख लगाया गया इसी वर्ष में अर्ध-रोजगार वाले व्यक्तियों की संख्या का अनुमान १५० लाख से १८० लाख तक लगाया गया। तीसरी योजना मे १७० लाख नए रोजगार चाहने वाले व्यक्तियों की सख्या वृद्धि का अनुमान लगाया गया है।

यद्यपि नियोजन की विगत दशाब्दी (Decade) में देश में रोजगार में पर्याप्त वृद्धि हुई है, परन्तु साथ ही साथ जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि के फलस्वरूप बेरोजगारी भी द्रुतगति से बढ़ी है। इसीलिये प्रत्येक योजना के अन्त में बेकार व्यक्तियों की संख्या योजना की प्रारम्भता में इनकी संख्या से अधिक पाई गई। द्वितीय योजना के प्रारम्भ में ५३ लाख व्यक्ति बेकार थे। इस योजनावधि में श्रम-शक्ति में १७ लाख की अतिरिक्त वृद्धि हुई तथा योजना में निर्धारित लक्ष्य की तुलना में २० लाख व्यक्तियों को कम रोजगार प्राप्त हुआ। फलतः द्वितीय योजना के अन्त में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढ़कर ६० लाख हो गई।

बेरोजगारी के प्रकार (Types of Unemployment)—बेरोजगारी के मुख्य प्रकार इस प्रकार हैं—प्रथम चक्रीय बेरोजगारी (Cyclical Unemployment) होती है। यह व्यापक बेरोजगारी है जो मन्दी के दिनों में उत्पन्न होती है। दूसरे प्रकार की घर्षित बेरोजगारी (Frictional Unemployment) होती है जो श्रम-बाजार की त्रुटियों के कारण उत्पन्न होती है। साधारणतया श्रमिकों में पूर्ण गतिशीलता (Mobility) तथा परस्पर परिवर्तनशीलता का अभाव पाया जाता है जिस के परिणामस्वरूप श्रम की माग बनी रहने पर भी श्रमिक बेकार रहते हैं, क्योंकि या तो श्रमिक मांगी हुई किस्मों के अनुसार नहीं मिलते अथवा अपेक्षित स्थानों पर नहीं मिलते। जब कभी उत्पादन की तकनीकों (Techniques) एवं विधियों में अथवा उपभोक्ताओं की आदतों में परिवर्तन हो जाता है, तब भी ऐसी ही बेरोजगारी उत्पन्न होती है। इसी बेरोजगारी का एक तीसरा रूप है—व्यावसायिक परिवर्तन सम्बन्धी बेरोजगारी। अर्थ-व्यवस्था में समय समय पर अनेक परिवर्तन होते रहते है। पुराने उद्योगों का पतन होता है, नये-नये उद्योगों का विकास होता है तथा उत्पादन की तकनीकों एवं विधियों में परिवर्तन होते हैं। फलतः श्रमिकों में, जो कि पुरानी उत्पादन विधियों में दक्ष होते हैं, बेकारी फैलती है। चौथे प्रकार की बेरोजगारी को मौसमी बेरोजगारी (Seasonal Unemployment) कहा जाता है। यह बेरोजगारी मौसमी विभिन्नताओं अथवा विविधताओं के कारण उत्पन्न होती है। पाँचवे प्रकार की बेकारी को आकस्मिक बेरोजगारी (Casual Unemployment) कहते हैं जो अनेक अस्थाई तथा आकस्मिक कारणों से उत्पन्न होती है। प्रगतिशील समाज में व्यावसायिक परिवर्तनों से उत्पन्न बेरोजगारी (Frictional Unemployment) को पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु सरकारी हस्तक्षेप एवं कार्यवाहियों के द्वारा उसकी व्यापकता घटाई जा सकती है और उसके हानिकारक प्रभाव को समाप्त किया जा सकता है। चक्रीय बेरोजगारी (Cyclical Unemployment) पर किसी सीमा तक सरकारी नीति के द्वारा काबू पाया जा सकता है।

भारत में बेरोजगारी के कारण—हमारे देश में बेरोजगारी की समस्या के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—(i) जनसंख्या में वृद्धि—भारत में बेरोजगारी का सर्वाधिक प्रमुख कारण जनसंख्या की तीव्रगति से होने वाली वृद्धि है। विगत ४०

वर्षों मे देश की जनसख्या मे होने वाली द्रुतगति से वृद्धि के कारण श्रम बाजार अपेक्षा रोजगार के साधन मन्द गति से बढे हैं। विगत दशाब्दी (Decade) मे जनसख्या की वृद्धि की दर प्रत्याशा से भी अधिक (२ २ प्रतिशत) रही जिसके परिणाम-स्वरूप प्रत्येक योजना के अन्त मे बेरोजगार व्यक्तियो की सख्या योजना की आरम्भना की सख्या की अपेक्षा अधिक होती गई है। (ii) **आर्थिक साधनों का अपूर्ण उपयोग**—हमारे देश मे *प्राकृतिक साधनो की सम्पन्नता और विपुलता है।* परन्तु *अभी तक* इन साधनो का समुचित उपयोग नही किया जा सका है जिसके परिणामस्वरूप देश की बढती हुई जनसख्या का रोजगार जुटाने मे इन साधनो का पूर्ण सहयोग प्राप्त नही किया जा सका है। (iii) **कुटीर उद्योगों का पतन**—*ब्रिटिश सरकार की विरोधी एव* अबन्ध व्यापार नीति (Laissez Faire Policy) के फलस्वरूप भारत के कुटीर *उद्योगो (Cottage Industries) का अधःपतन हो गया।* फलत शिल्पकार वर्ग मे व्यापक रूप से बेकारी उत्पन्न हुई। (iv) **औद्योगीकरण का अभाव**—यद्यपि विगत दोनो योजनाओ मे देश के औद्योगिक विकासार्थ प्रशसनीय कदम उठाये गये हैं, परन्तु अभी तक सही अ र्थों मे देश का औद्योगीकरण (Industrialisation) नही किया जा सका है। फलत देश मे बेरोजगारी की समस्या जटिल रूप धारण करती जा रही है। (v) **कृषि का पिछड़ापन**—हमारे देश की ७२ प्रतिशत जनसख्या अपनी आजी-विका के लिये कृषि व्यवसाय पर आश्रित है। परन्तु कृषि व्यवसाय की अविकसित अवस्था के फलस्वरूप कृषक वर्ग मे अर्ध बरोजगारी (Underemployment) की समस्या सर्वत्र व्यापक है। अनुमानत. हमारे देश के कृषक वर्ष मे ४ से ६ महीने तक बेकार रहते हैं। (vi) **कृषि का वर्षा पर निश्चित होना**—भारतीय कृषि वर्षा पर आश्रित होने के कारण मानसून का जुआ (Gamble in Monsoon) बनी हुई है। यद्यपि विगत वर्षों मे कृषि सिंचित-क्षेत्र मे पर्याप्त वृद्धि की गई है, परन्तु अभी तक *यह कुल कृषित भूमि का केवल २१ ४ प्रतिशत ही है।* अत इस स्थिति मे असिंचित कृषि-क्षेत्र म अधिक समय तक काम करने का कोई अवसर शेष नही रह जाता है। (vii) **पूजी का अभाव**—हमारे देश मे घरेलू बचत एव घरेलू विनियोग की मात्रा अतिन्यून है। सन् १६६०–६१ के अन्त मे घरेलू बचत की दर राष्ट्रीय आय (National Income) की ८ ५ प्रतिशत तथा घरेलू विनियोग की दर राष्ट्रीय *आय की ११ प्रतिशत थी।* फलत श्रमिको को काम पर लगाने के लिये पूजी के अभाव के कारण देश म बेकारी की समस्या व्यापक रूप से फैली हुई है। (viii) **वर्तमान शिक्षा प्रणाली**—यद्यपि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य नागरिको के जीवन-स्तर को ऊचा उठाकर उन्हे उत्पादन कार्यों मे नवीनतम विधि अपनाने के योग्य बनाना है परन्तु हमारे देश की शिक्षा पद्धति पढे-लिखे व्यक्तियो मे बकारी फैलाने म साधन रूप म सहायक बन गई है। *अब विद्यार्थियो का शिक्षा पाने का उद्देश्य केवल* दफ्तरी-नौकरी रह गया है। परन्तु इतनी बडी सख्या म व्यक्तियो को सरकारी नौकरी पर नही लगाया जा सकता। चू कि शिक्षित व्यक्ति शारीरिक श्रम से घृणा

करते हैं, इसलिये इस वर्ग में बेरोजगारी की समस्या उग्र रूप धारण करती जा रही है। (ix) अकुशल एवं अप्रशिक्षित श्रमिकों का आधिक्य—हमारे देश में कुशल एवं प्रशिक्षित श्रमिकों का सर्वत्र अभाव है। अतः सरकार को उद्योगों के संचालन के लिये विदेशों से प्रशिक्षित कर्मचारी बुलाने पड़ते हैं। यही कारण है कि देश में अकुशल एवं अप्रशिक्षित श्रमिकों में बेकारी पाई जाती है। (x) अविकसित सामाजिक दशा—हमारे देश की अविकसित सामाजिक दशायें, जैसे—जाति प्रथा, शीघ्र विवाह, संयुक्त परिवार प्रथा एवं सामाजिक असमानतायें आदि बेकारी की समस्या को अधिक उग्र बनाने में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होती हैं। हमारे देश में जनसंख्या का असन्तुलित व्यावसायिक वितरण (Unbalanced Occupational Distribution of Population) भी बेकारी की समस्या का एक प्रमुख कारण है।

बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिये आवश्यक सुझाव—देश में बेकारी की समस्या को सुलझाने के लिये समय-समय पर कुछ सुझाव इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं :—(i) जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण—जनसंख्या की वृद्धि बेकारी की समस्या का मूलभूत आधार है। अतः अधिकतम ग्राम के स्तर पर अधिकतम रोजगार की स्थिति तक पहुँचने के लिये जनसंख्या की वृद्धि पर पूर्ण नियन्त्रण की आवश्यकता है। इसके लिये नियोजन कार्यक्रम में परिवार नियोजन (Family Planning) को व्यापक विस्तार देना चाहिये। (ii) नवीन एवं वैज्ञानिक कृषि-पद्धति—यद्यपि यन्त्रीकृत कृषि (Mechanised Agriculte) से देश में प्रति व्यक्ति उपज में वृद्धि सम्भव है, परन्तु इससे बेकारी की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। अतः कृषि-क्षेत्र में अधिकाधिक व्यक्तियों को रोजगार देने के लिये छोटे पैमाने पर गहरी खेती (Intensive Agriculture) अथवा सहकारी खेती (Co-operative Farming) करनी चाहिए। (iii) सहायक उद्योगों का विकास—कृषि-क्षेत्र में कृषकों की अर्ध-बेकारी की समस्या को दूर करने के लिये लघुस्तरीय एवं कुटीर उद्योगों का व्यापक विस्तार करना चाहिये। इसके अतिरिक्त मिश्रित-कृषि पद्धति (Mixed Farming) अपनानी चाहिए जिसके अन्तर्गत कृषि के साथ ही साथ पशु-पालन व मुर्गी पालन आदि के द्वारा कृषक वर्ग की आय बढ़ानी चाहिए। (iv) औद्योगीकरण—बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए देश का व्यापक स्तर पर औद्योगीकरण अपेक्षित है। यद्यपि विशालस्तरीय उद्योग बेरोजगारी की समस्या को पर्याप्त सीमा तक हल करते हैं, परन्तु इस समस्या के समाधान के लिए विकेन्द्रित (Decentralized) एवं आधुनिक लघु उद्योगों की अधिक आवश्यकता है। (v) सामाजिक सेवाओं का विस्तार—हमारा देश शिक्षा, चिकित्सा एवं अन्य सामाजिक सेवाओं की दृष्टि से अभी तक पिछड़ा हुआ है। अतः इन सेवाओं के विस्तार द्वारा देश में रोजगार के साधनों में वृद्धि करनी चाहिए। (vi) राष्ट्र निर्माण के विविध कार्य—भारत में रोजगार के साधन जुटाने के लिये राष्ट्र-निर्माण के विविध कार्यों, जैसे—सड़कें बनाना,

रेल परिवहन का विकास, पुल-निर्माण, बाध-निर्माण, भू-संरक्षण, वृक्षारोपण, भवन-निर्माण आदि का विस्तार करना चाहिए। (vii) **सामाजिक ढाचे मे परिवर्तन** — श्रमिक वर्ग मे गतिशीलता (Mobility) लाकर, व्यवसाय परिवर्तन सम्बन्धी बेकारी (Frictional Unemployment) को दूर करने के लिये, जाति-प्रथा, सयुक्त परिवार प्रथा तथा छूत-छात की भीषण बुराइयो को समाज से दूर करना चाहिए। (viii) **शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन** —देश मे *व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन (Vocational Guidance)* तथा तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधायें बढाकर रोजगार की व्यवस्था करनी चाहिए। भारतीय शिक्षा प्रणाली का रूप इस प्रकार समायोजित करना अपेक्षित है कि शिक्षा पढे-लिखे व्यक्तियो मे शारीरिक श्रम के प्रति उत्साह उत्पन्न कर सके। (ix) **देश मे बचत व विनियोग की दर बढाना** :—प्रो० कीन्स *(Prof Keynes)* के *मतानुसार पूर्ण रोजगार की समस्या देश म बचत की दर एव विनियोग की दर से* परस्पर सम्बद्ध है। अत· भारत मे बेकारी की समस्या को दूर करने के लिए घरेलू बचत की दर तथा घरेलू विनियोग की दर बढाई जानी अत्यावश्यक हैं। (x) **रोजगार विनिमालयों का विस्तार** —देश मे बेकार व्यक्तियो के सम्बन्ध मे पूर्ण आँकडे प्रस्तुत *करने के लिये तथा मालिको एवं मजदूरो को परस्पर सम्बन्धित करने के लिए रोज*गार विनिमालयों (Employment Exchanges) का विस्तार करना अपेक्षित है। यद्यपि इस साधन से कुल रोजगार मे कोई वृद्धि नही होगी, परन्तु रोजगार मिलने की सुविधाओ मे अवश्य वृद्धि हो जाएगी तथा देश मे श्रमिको की भर्ती के अनुपयुक्त *तरीको से उत्पन बुराइयाँ दूर हो जायेंगी।*

विगत पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिये उठाये गये कदम -(1) प्रथम योजना भारत के आयोजन का एक मुख्य उद्देश्य *व्यक्तियो को रोजगार दिलाना रहा है। विकास की पर्याप्त लम्बी अवधि के बाद ही जनशक्ति के साधनो का पूरा उपयोग किया जा सकता है। प्रथम पचवर्षीय योजना* मे बेरोजगारी के प्रश्न पर प्रारम्भ मे गम्भीरता से ध्यान नही दिया गया, क्योकि उस समय खाद्यान्नो व कच्चे माल का अभाव, मुद्रा-स्फीति के तनाव व दबाव आदि प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण थे। परन्तु सन् १९५३ के प्रारम्भ से देश मे बेकारी की समस्या *अधिक स्पष्ट होने लगी। अत योजना आयोग (Planning Commission) नेदेश में रोजगार के साधन बढाने के लिए प्रथम योजना के आकार मे वृद्धि की तथा ३०६ करोड* रु० अतिरिक्त व्यय करने की व्यवस्था की। सन् १९५३ के अन्त मे रोजगार के अवसर बढाने के लिए एक ११ सूत्रीय कार्यक्रम (Eleven Point Programme) घोषित किया गया जिसकी मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थी –(अ) सिंचाई व विद्युत् योजना *केन्द्रो के पास ट्रेनिंग कैम्प स्थापित करना, (आ) छोटे उद्योगों के लिये व्यक्तियो व* छोटे समूहों को विशेष सहायता देना, (इ) जिन कामो मे श्रमिको का अभाव है उनमे प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, (ई) सरकारी विभागो द्वारा लघु उद्योगो का बना हुआ सामान स्टोर क्रय-नीति के अन्तर्गत खरीदना, (उ) शहरो व गावो में शिक्षको की

नियुक्ति करना, (ऊ) राष्ट्रीय विस्तार सेवा को प्रसारित करना (ए गन्दी बस्तियो की सफाई के कार्यक्रम तथा शहरो मे थोडी आय वाले व्यक्तियों के लिये भवन निर्माण कार्यक्रम को व्यावहारिक स्वरूप देना, (ऐ) सडकें बनाना, (ओ) व्यक्तिगत भवन निर्माण को प्रोत्साहन देना, (औ) शरणार्थी नगर-निर्माण तथा (अ) रोजगार वृद्धि के कार्यों को प्राथमिकता देना। वास्तव मे इस महत्वाकाक्षी कार्यक्रम की घोषणा के पश्चात् भी बेकारी की समस्या के समाधान मे कोई विशेष सहायता नही मिली। प्रथम योजनावधि मे लगभग ५४ लाख व्यक्तियो को प्रत्यक्ष रोजगार प्राप्त हुआ। फिर भी इस योजना के अन्त मे भारत म बेकार व्यक्तियो की सख्या का अनुमान ५३ लाख लगाया गया। (ii) द्वितीय योजना —इस योजना के अन्तगत देश के सीमित साधनो को आधारभूत उद्योगो के विकास मे लगाने, उपभोग्य वस्तुओ का उत्पादन बढाने तथा रोजगार वृद्धि के लिये कुटीर एव लघु उद्योगो के विकास करने के कार्य-क्रम को स्वीकार किया गया। द्वितीय योजना मे ८० लाख व्यक्तियो को गैर-कृषि क्षेत्र म तथा १६ लाख व्यक्तियो को कृषि क्षेत्र मे अतिरिक्त रोजगार दिलाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। परन्तु इस योजनावधि मे केवल ८० लाख व्यक्तियो को ही अतिरिक्त रोजगार की सुविधायें दिलाई जा सकी जिसमे से ६५ लाख व्यक्तियो को गैर-कृषित क्षेत्र मे तथा १५ लाख व्यक्तियो को कृषि क्षेत्र मे अतिरिक्त रोजगार मिला। इस योजना के अन्त मे ५३ लाख व्यक्तियों के बेरोजगार रह जाने का अनु-मान था। परन्तु वास्तव मे इस योजना के अन्त तक जिन व्यक्तियो को रोजगार नही दिलाया जा सका उनकी सख्या लगभग ९० लाख हो गई। इस प्रकार यद्यपि रोज-गार की समस्या पर आयोजन का प्रभाव पडा, परन्तु श्रमिक वर्ग मे नए सम्मिलित होने वाले व्यक्तियो की सख्या मे जो निरन्तर वृद्धि हुई, उस हिसाब से व्यक्तियो को रोजगार नही दिलाया जा सका। पूर्ण बेरोजगारी के अतिरिक्त, सन् १९६०–६१ मे अर्द्ध-रोजगार वाले व्यक्तियो की सख्या का अनुमान १५० लाख से १८० लाख तक लगाया गया।

तीसरी योजना और बेरोजगारी की समस्या—तीसरी योजना के मुख्य उद्देश्यो मे से एक उद्देश्य यह रक्खा गया है कि योजना की अवधि मे श्रमिक वर्ग मे जितनी वृद्धि हो उतनी ही वृद्धि रोजगार के अवसरो मे भी होनी चाहिए। सख्या की दृष्टि से रोजगार के पर्याप्त अवसर प्रदान करना उन अत्यन्त कठिन कार्यों म से है जिन्हे आगामी पाच वर्षों मे करना है। ग्रामीण क्षेत्र मे बेकारी और अर्ध-बेकारी ये दोनों साथ ही साथ दिखाई पडती हैं और उनके बीच कोई स्पष्ट अन्तर प्रतीत नही होता। ग्रामो म साधारणतया बेरोजगारी का स्वरूप अर्द्ध-बेरोजगारी ही है। जो मन्दी *के दिनों मे और अधिक भयकर हो जाती है। शहरी क्षेत्रा म व्यापार, यातायात और* उद्योग की स्थिति मे जो उतार-चढाव होता है, उसी के अनुसार रोजगार मे भी उतार चढाव आता है। इस प्रकार परिस्थितियो मे जो अन्तर होता है उसका रोजगार के आंकडों म होने वाली वृद्धि या कमी से पता चलता है। सामान्यत गावो म अर्द्ध-

बेरोजगारी की जो समस्या है वही शहरो मे भी कुछ मात्रा मे है। सन् १९६१ की जनगणना से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह अनुमान है कि तीसरी योजना की अवधि मे श्रमिक वर्ग मे लगभग १७० व्यक्तियो की वृद्धि होगी। इस वृद्धि की एक तिहाई शहरी क्षेत्रो मे होगी। इसके विपरीत यह अनुमान है इस योजनावधि मे १४० लाख व्यक्तियो को अतिरिक्त रोजगार दिलाया जाएगा। इसमे से १०५ लाख व्यक्तियो को गैर-कृषि कार्यों मे अतिरिक्त रोजगार दिलाया जा सकेगा तथा ३५ लाख व्यक्तियों को कृषि-क्षेत्र मे अतिरिक्त रोजगार दिलाया जा सकेगा। निम्न तालिका मे कृषि-भिन्न-कार्यों मे रोजगार का विवरण दिया गया है—

अतिरिक्त कृषि-भिन्न रोजगार

(लाखो मे)

क्षेत्र	तीसरी योजना मे अतिरिक्त रोजगार
१. निर्माण कार्य	२३ ००
२. सिचाई और विद्युत	१·००
३. रेल परिवहन	१ ४०
४. अन्य यातायात व सम्वादवाहन	८ ८०
५. उद्योग और खनिज	७ ५०
६. लघुस्तरीय उद्योग	९·००
७. वन, मछली-पालन और सम्बद्ध सेवायें	७ २०
८. शिक्षा	५·९०
९ स्वास्थ्य	१·४०
१०. अन्य सामाजिक सेवायें	०·८०
११. सरकारी सेवा	१·५०
१२. 'अन्य' जिनमे उद्योग और व्यापार सम्मिलित हैं	३७·८०
	कुल योग १०५ ३०

तीसरी योजना मे रोजगार की समस्या को तीन मुख्य रूपो मे सुलझाने का विचार है। पहला, योजना के ढाचे के अन्तर्गत ऐसे प्रयत्न करने होंगे जिनसे पहले की अपेक्षा रोजगार के प्रभावो का फैलाव अधिक व्यापक एव सन्तुलित रूप से हो। दूसरा, ग्रामीण क्षेत्रो के औद्योगीकरण का एक पर्याप्त बडा कार्यक्रम हाथ मे लेना चाहिए जिसमें इन बातों पर विशेष बल दिया जाए, जैसे— ग्रामीण क्षेत्रो मे बिजली लगाना, ग्रामीण औद्योगिक सम्पदाओ का विकास, ग्रामीण उद्योगों की उन्नति तथा जनशक्ति को पुन प्रभावशाली रूप से काम मे लगाना आदि। तीसरा, लघु उद्योगो द्वारा रोजगार बढाने के अन्य उपायो के अतिरिक्त ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमो को

सगठित करने का विचार है जिससे लगभग २५ लाख और सम्भवत इससे भी अधिक व्यक्तियो को वर्ष मे औसतन १०० दिन तक काम मिलेगा।

वस्तुत समूचे देश अथवा बडे-बडे प्रदेशो की दृष्टि से बेरोजगारी की समस्या का विश्लेषण करना पर्याप्त नही है। तीसरी योजना मे प्रत्येक जिले के विकास कार्यक्रम हैं जिनका सम्बन्ध कृषि, सिचाई, विद्युत्, ग्राम व लघु उद्योग, सचार और सामाजिक सेवाओ से है और जिनका उद्देश्य अपने क्षेत्र मे आर्थिक क्रिया-कलाप के स्तर को ऊचा उठाना है। इसलिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य मे बेरोजगारी की समस्या को प्रत्येक स्तर पर अर्थात् जिला, ग्राम व खण्ड (Block) स्तर पर अधिक से अधिक रूप मे सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिये। स्थानीय रोजगार के इस प्रकार के विश्लेषण से अधिकारियों को इस बात मे सहायता मिलेगी कि वे विशिष्ट वर्ग के बेरोजगार व्यक्तियो को रोजगार दिलाने के लिये साधन जुटा सकें और स्थानीय परिस्थितियो एव साधनो को ध्यान मे रखते हुये प्रत्येक क्षेत्र मे इस समस्या को जैसी परिस्थिति हो, उसके अनुसार सुलझा सकें। बहुत बडे पैमाने पर बेरोजगारी और अर्ध बेरोजगारी तथा तीसरी योजना की अवधि मे श्रमिक वर्ग मे सम्मिलित होने वाले व्यक्तियो की विशाल सख्या को ध्यान मे रखते हुये, इस बात की बडी आवश्यकता है कि निर्माण-क्षेत्र मे हाथ से काम करने वाले व्यक्तियो को कितना और अधिक रोजगार दिया जा सकता है, इस बात की पुन: जाच की जाय। श्रम-उद्दीपक उपाय बरते जाने चाहिये, किन्तु जहा इनकी आवश्यकता न हो, वहा इन्हे नही बरतना चाहिये। यदि पूर्वायोजन और आवश्यक सगठन किया जाय, तब हाल ही के वर्षों की अपेक्षा जनशक्ति का और बडी सीमा तक उपयोग करना सम्भव है।

यद्यपि हाल के वर्षों मे कुटीर एव लघु उद्योगो की उन्नति के लिये बहुत कुछ किया गया है, तथापि इस क्षेत्र मे और अधिक बडी सख्या मे व्यक्तियो को रोजगार दिलाने की सम्भावनायें निकालनी हैं। यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है, जबकि वर्तमान उद्योगो को कच्चे-माल की यथेष्ट पूर्ति, प्रोसेसिंग तथा अन्य सुविधाओ की व्यवस्था की जाये। इन सुविधाओ में ऋण तथा हाट-व्यवस्था भी सम्मिलित हैं। इस बात के लिये विशेष प्रयत्न किये जाने चाहियें कि छोटे एककों (चाहे वे कारीगरो की सहकारी समितियों द्वारा अथवा वैयक्तिक उपक्रमियो द्वारा चलाए जा रहे हों) को अपना अधिकतम उत्पादन-सामर्थ्य प्राप्त करने मे सहायता की जाये। ग्रामीण औद्योगीकरण तथा गावो मे बिजली लगाना, ये दोनो सम्बद्ध कार्यक्रम हैं और ग्रामीण क्षेत्रों मे स्थिर रोजगार के अवसर बढाने के लिये इनका सर्वाधिक महत्व है। प्रत्येक क्षेत्र में और छोटे-छोटे कस्बो में औद्योगिक विकास के केन्द्र स्थापित करना आवश्यक है और ये सुधरे हुए यातायात एव अन्य सुविधाओं के द्वारा एक दूसरे से जुडे होने चाहियें। प्रत्येक जिले मे अग्रिम आयोजन के द्वारा कृषि सम्बन्धी और औद्योगिक विकास का कार्यक्रम बिजली की पूर्ति के साथ समन्वित होना

चाहिए।

अर्द्ध-रोजगारी की समस्या के स्थाई समाधान के लिये यह आवश्यक है कि न केवल सभी व्यक्ति कृषि-कार्य मे विज्ञान का प्रयोग करें वरन् ग्रामीण आर्थिक ढाचे को विभिन्न क्षेत्रों मे विस्तृत करना और उसे सुदृढ बनाना भी आवश्यक है। अत: तीसरी योजनावधि मे ग्राम व लघु उद्योगो तथा प्रासंगिक उद्योगो के विकासार्थ कार्यक्रमो को और अधिक बढाना होगा और ग्रामीण क्षेत्रो मे नए उद्योग स्थापित करने होंगे। इस प्रकार जहा ग्रामीण अर्थव्यवस्था का निर्माण किया जा रहा है, वहां समस्त ग्रामीण क्षेत्रो मे व्यापक निर्माण कार्यक्रमो की आवश्यकता है और विशेषतया उन क्षेत्रों मे ऐसा होना चाहिये जहा अधिकाश व्यक्ति भूमि पर निर्भर हैं तथा जहा पर्याप्त बेरोजगारी एव अर्ध-बेरोजगारी है। इस कार्यक्रम मे तीसरी योजनावधि मे खण्ड और ग्राम स्तर पर मुख्यत स्थानीय निर्माण-कार्य किए जायेंगे। विशेषत कृषि के मन्दे मौसम मे कार्यान्वित करने के लिये निर्माण कार्यक्रम बनाये जायेंगे। गावो मे जो निर्माण कार्य होंगे उन सभी मे ग्राम की दरो पर मजदूरियां दी जायेंगी। ऊपर जो बातें बताई गई हैं, मोटे तौर पर उनका अनुसरण करते हुये हाल ही मे ३४ प्रारम्भिक परियोजनायें चालू की गई हैं। इनमे सिंचाई, वन लगाना, भूमि सरक्षण, नालिया बनाना, भूमि का पुनरुद्धार सचार साधनो मे सुधार आदि की पूरक योजनायें (Supplement Schemes) सम्मिलित हैं। प्रारम्भिक परियोजनाओ के आधार पर योजनाकाल मे अन्य क्षेत्रो मे एक बड़े पैमाने पर इस कार्यक्रम को विस्तृत करने का विचार है। अस्थाई तौर पर यह अनुमान है कि तीसरी योजना के प्रथम वर्ष मे १ लाख व्यक्तियो को रोजगार दिया जाना चाहिये, दूसरे वर्ष मे ४ लाख से ५ लाख तक व्यक्तियों को और तीसरे वर्ष में लगभग १ लाख व्यक्तियो को रोजगार दिया जाना चाहिये तथा इस प्रकार बढते-बढते योजना के अन्तिम वर्ष मे लगभग २५ लाख व्यक्तियों को रोजगार मिल जाना चाहिये। योजना की अवधि मे इस समूचे कार्यक्रम पर १५० करोड रु० व्यय हो सकता है। कार्यक्रम के आगे बढाने के साथ ही साथ इस बात पर भी विचार किया जा रहा है कि मजदूरी की अदायगी आंशिक रूप मे खाद्यान्नों के रूप मे हो। निर्माण कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये मुख्यत: राज्यों मे और जहां तक आवश्यक हो वहा तक केन्द्र म पर्याप्त सगठन सस्थापित करने की आवश्यकता होगी।

शीघ्रता से औद्योगीकरण किए जाने के परिणामस्वरूप तीसरी योजनावधि में पढ़े-लिखे व्यक्तियो के लिये रोजगार के अवसर और अधिक बढाये जायेंगे। इसलिये उद्योगों के लिये जिस प्रकार के कर्मचारियों की आवश्यकता होगी, उसको पूरा करने के लिए शिक्षा पद्धति मे भी परिवर्तन किये जायेंगे। माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के विस्तार के कारण इस बात की ओर अधिक ध्यान दिया जाएगा कि शिक्षित व्यक्ति लाभदायक रोजगार मे लगाये जायें। अनुमान है कि इस समय लगभग १० लाख शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार हैं। तीसरी योजना की अवधि में हाई स्कूल तथा इससे

ऊपर की शिक्षा प्राप्त व्यक्तियो की सख्या लगभग ३० लाख हो जाने का अनुमान है। कृषि उद्योग और यातायात की उन्नति होने से कुशल और व्यावसायिक अथवा प्राविधिक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियो की माग अधिक होगी और उनके लिए रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध होगे। हाल ही के वर्षों मे हाथ के काम के प्रति शिक्षित व्यक्तियो के रुख मे परिवर्तन हुआ है और उन्हें विकासशील अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओ के अनुकुल बनाने के लिए बड़े पैमाने पर कार्यक्रम हाथ मे लेने का विचार है। तीसरी योजनावधि में सहकारी समितियों तथा वैज्ञानिक खेती और लोकतान्त्रिक सस्थाओ की स्थापना हो जाने से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के अन्तगत शिक्षित व्यक्तियों के लिए नियमित और निरन्तर रोजगार के क्षेत्र मे पर्याप्त वृद्धि हो सकेगी। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे प्राप्त रोजगार से उन्हें सही अर्थों मे उतनी ही आय प्राप्त होगी जितनी कि शहरो मे होती है। योजनाकाल मे यह भी सम्भव हो जाएगा कि पर्याप्त बडी सख्या में शिक्षित नवयुवकों को ग्रामीण केन्द्रो मे, जहा विद्युत् उपलब्ध की जा सके, छोटे छोट उद्योग स्थापित करने मे सहायता दी जाये।

— ० —

३७

भारत में आर्थिक नियोजन

(Economic Planning in India)

प्राक्कथन —स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धात्मक समाज (Free Competitive Society) मे समाज का प्रत्येक सदस्य, दूसरे सदस्यो से अधिक साधन-सम्पन्न बनने की इच्छा से अधिकाधिक आर्थिक प्रयत्न करता है। इस प्रतियोगिता मे धनी और शक्तिशाली वर्ग, निर्धन अथवा अशक्त वर्ग पर हावी हो जाता है। आर्थिक-उत्पादन के क्षेत्र मे केवल कुछ व्यक्ति ही एकाधिकार प्राप्त कर लेते हैं। फलत अत्युत्पादन (Over-production), अथवा 'न्यूनोत्पादन' (Under production), वस्तुओ के ऊचे और अस्थिर मूल्य, श्रमिको मे बेरोजगारी तथा समाज मे धनी व निधन वर्ग के बीच विशाल खाई के नग्न चित्र हमारे हृदय-पटल पर अकित होते हैं। इन परिस्थितियो मे सामाजिक वर्ग भेद एव सामाजिक शोषण को समाप्त करके देश की सतुलित एव आयोजित प्रगति करने के लिए 'आर्थिक नियोजन' एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

आर्थिक नियोजन का अर्थ (Meaning of Economic Planning)—डिकिन्सन (Dickinson) के शब्दो मे, "आर्थिक नियोजन का अर्थ निर्धारित सत्ता द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था के एक विस्तृत सर्वेक्षण (Survey) के आधार पर जानबूझ कर आर्थिक निर्णय करना है।" राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) के मतानुसार, "हर एक योजना मे प्राचीन काल का लेखा-जोखा होता है और भविष्य के लिए आह्वान भी। इसमे देश के करोड़ों व्यक्तियों की आशाओं एव आकाक्षाओं को क्रियात्मक रूप दिया जाता है तथा निर्धनता का विनाश करने एव जीवन-स्तर को ऊचा उठाने के कार्य मे सबको सेवा करने का समान अवसर प्रदान किया जाता है।" आर्थिक नियोजन का मुख्य लक्ष्य राष्ट्र के समस्त उपलब्ध साधनों को सगठित करके, एक निर्धारित सत्ता द्वारा इन साधनों का इस प्रयोग म लाना होता है जिससे कि देश का उत्पादन अधिकतम हो सके, राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि हो सके तथा निर्धनता व बेकारी की समस्या दूर होकर समाज का अधिकतम कल्याण सम्भव हो सके।

आर्थिक नियोजन के उद्देश्य (Object of Economic Planning)—

आर्थिक नियोजन वांछित लक्ष्यों की ओर एक निरन्तर जारी रहने वाला आन्दोलन है। अन्ततोगत्वा "आर्थिक विकास एक साध्य (Ends) का साधन (Means) मात्र है" और साध्य है—"प्रयत्न और व्यापक रूप से सम्मिलित होकर किए गये त्याग और बलिदानों द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना, जिसमें कोई जाति (Caste), श्रेणी (Class) या विशेषाधिकार न हों और जिसमें समाज के प्रत्येक वर्ग तथा देश के समस्त भागों को विकसित होने एवं राष्ट्रीय कल्याण में योगदान करने के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त हो।" वस्तुत: **"मानव और मानवीय व्यक्तित्व का विकास" आर्थिक नियोजन का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है।** आयोजन के लिये भौतिक रूप में पूंजी लगाई जाती है, परन्तु इसमें भी महत्वपूर्ण बात यह है कि मानव की समृद्धि के लिये मानव शक्ति लगाई जानी चाहिये। हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं की मूल-धारणा यही है कि समाजवादी ढंग से देश का विकास किया जाये। वस्तुत: निर्धनता के अभिशाप एवं उससे उत्पन्न होने वाली सभी बुराइयों का सामना करना, भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं का तात्कालिक उद्देश्य है। यह कार्य सामाजिक और आर्थिक प्रगति द्वारा ही किया जा सकता है जिससे कि औद्योगिक दृष्टि से परिपक्व समाज का निर्माण किया जा सके और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके जिसमें सभी नागरिकों को समान अवसर प्राप्त हो।

भारत में आर्थिक नियोजन की आवश्यकता व महत्व (Need and Importance of Economic Planning in India)—भारतीय अर्थ-व्यवस्था एक अर्ध विकसित अर्थ-व्यवस्था है। हमारे देश में भुखमरी, निर्धनता, शोषण, बीमारी, बेकारी, अशिक्षा, अज्ञानता एवं अन्धविश्वास अपने व्यापक रूप में उपस्थित हैं। अत: भारतीय अर्थ व्यवस्था का सतुलित एवं समायोजित विकास करने के लिये आर्थिक नियोजन का विशेष महत्व है। हमारे देश में आर्थिक नियोजन की आवश्यकता एवं महत्व इस प्रकार हैं—(i) नियोजित विकास के द्वारा देश के प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सर्वोत्तम ढंग से उपयोग में लाया जा सकेगा। फलत: देश के आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक कल्याण में वृद्धि हो सकेगी। (ii) भारतीय कृषि व्यवसाय की प्राकृतिक निर्भरता न्यूनतम करके कृषि-उत्पादन में वृद्धि लाई जा सकेगी। इस प्रकार देश में से भुखमरी एवं दुर्भिक्ष की स्थिति दूर हो जायेगी तथा कृषकों की आय में वृद्धि होकर उनका रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो सकेगा। (iii) आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत देश की अर्थ-व्यवस्था का सतुलित विकास सम्भव हो सकेगा तथा विकास की गति को तीव्रता से अधिकाधिक बल मिल सकेगा। (iv) नियोजन द्वारा देश के कुटीर एवं लघुस्तरीय उद्योग तथा बड़े पैमाने के उद्योगों का समन्वयकारी एवं पूरक विकास हो सकेगा। (v) आर्थिक नियोजन से देश के पिछड़े हुये क्षेत्र तथा पिछड़े हुये वर्ग समुन्नत हो सकेंगे। देश में अवसर की असमानता तथा धन के वितरण की विषमता को यथासम्भव दूर किया जा सकेगा। (vi) आर्थिक नियोजन के माध्यम से आर्थिक उतार-चढ़ाव की दुष्प्रवृत्तियों से

छुटकारा मिल जायगा तथा देश की अर्थ-व्यवस्था म पर्याप्त स्थिरता एव सुनिश्चितता लाई जा सकेगी। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्विता एव सघर्ष की भावनाओ का स्वत अन्त हो जायगा। (vii) देश मे व्यवसायिक सुलभता एव रोजगार के साधनो मे वृद्धि करके, देश की वेरोजगारी एव अर्द्ध-वेरोजगारी को समाप्त किया जा सकेगा। निर्धन व्यक्तियो के लिय चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध करके बीमारी की समस्या का निवारण किया जा सकेगा तथा औद्योगिक केन्द्रो मे मकानो की व्यवस्था करके श्रमिको के निवास की समस्या का समाधान किया जा सकेगा। (viii) देश मे व्यापक स्तर पर तथा चहुमुखी विकास से राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति औसत आय मे अभिवृद्धि होगी। फलत देश के नागरिको का जीवन-स्तर ऊ चा हो सकेगा। (ix) आर्थिक नियोजन से देश की निर्धनता, बीमारी, बेकारी, अशिक्षा एव अन्ध-विश्वास को दूर किया जा सकेगा तथा देश का प्रत्येक नागरिक अधिक स्वस्थपूर्ण, अधिक सुखी-समृद्ध एव हसी खुशी से अपना जीवन निर्वाह कर सकेगा।

आर्थिक नियोजन का मूल्यांकन—भारतीय आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध म प्राय दो प्रश्न किये जाते है--प्रथम, क्या नियोजन के द्वारा भारत का आर्थिक विकास सम्भव है ? द्वितीय, क्या भारत में जनतन्त्र (Democracy) और आर्थिक नियोजन (Economic Planning) साथ ही साथ चल सकते हैं ? कुछ विद्वानो का मत है कि देश का सामाजिक व आर्थिक विकास केवल स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा (Free Competition मे ही सम्भव है। इनके मतानुसार चू कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत उत्पादन की क्रिया को नियन्त्रित कर दिया जाता है, इसलिये इस व्यवस्था मे देश का समुचित आर्थिक विकास सम्भव नही है। अत स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा की अर्थ-व्यवस्था का समर्थन करते हुये उक्त विद्वानो ने कहा है कि चू कि इस व्यवस्था मे उत्पादन, मूल्य-निर्धारण मजदूरी-व्याज व लाभ का निर्धारण सभी माग और पूर्ति के सामान्य नियम द्वारा होता है, इसलिये इस व्यवस्था म समाज के किसी भी वर्ग को हानि नही उठानी पड़ती। इसके विपरीत नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन, मूल्य निर्धारण तथा वितरण आदि सभी आर्थिक क्रियाओ पर राज्य का एकाधिकार होता है। अत देश मे नागरिको की आर्थिक स्वतन्त्रता केवल नाम मात्र को रह जाती है। आर्थिक नियोजन के पक्षपातियो ने इस तर्क के प्रत्युत्तर मे कहा है कि स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा प्राय पूर्ण एकाधिकार अथवा सामूहिक एकाधिकार म परिणित हो जाया करती है और इससे देश मे बकारी, शोषण, न्यूनोत्पादन अथवा अत्युत्पादन के दोष समाज म दृष्टिगोचर होने लगते हैं। चू कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे ये दोष नही पाये जाते, इसलिये केवल इस व्यवस्था द्वारा ही मानव-सुख एव मानव-कल्याण मे अधिकतम वृद्धि की जा सकती है। अत वर्तमान भारतीय परिस्थितियो म देश का समुचित आर्थिक विकास आर्थिक नियोजन की पद्धति का अपनाकर ही किया जा सकता है।

कुछ विद्वानो का मत है चू कि आर्थिक नियोजन एव जनतन्त्र साथ-साथ नहीं चल सकते, इसलिये जनतन्त्रवाद की पोषक भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे नियोजन सफल

नहीं हो सकता। परन्तु इन विद्वानो का यह मत ठीक नही है। वस्तुत जनतन्त्रात्मक व्यवस्था मे आर्थिक-नियोजन को क्रियान्वित करना, भारत का विश्व के सामने एक महत्वपूर्ण प्रयोग (Experiment) है। विश्व के अन्य जनतान्त्रिक देश भारतीय नियोजन के भविष्य के सम्बन्ध मे इस बात पर विचार करते हैं कि क्या भारत मे जनतन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन सफल होगा अथवा नही ? विगत दोनों योजनाओ के अनुभव से यह स्पष्ट है कि यद्यपि नियोजन के मार्ग मे कुछ स्वाभाविक कठिनाइया अवश्य आई हैं, परन्तु इन कठिनाइयो ने नियोजन की गति को रोका नही है। अत भारत मे जनतन्त्र और आर्थिक नियोजन साथ ही साथ चल सकते है।

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना (First Five Year Plan)

प्राक्कथन—मार्च सन् १९५० मे भारत सरकार ने प० जवाहरलाल नेहरु की अध्यक्षता मे एक योजना आयोग (Planning Commission) की नियुक्ति की। योजना आयोग ने अप्रैल सन् १९५१ से लेकर मार्च सन् १९५६ तक के लिये एक पचवर्षीय योजना प्रस्तुत की। प्रारम्भ मे इस योजना की विभिन्न मदो पर २,०६९ करोड रु० व्यय करने का निश्चय किया गया था, परन्तु कुछ समय बाद देश की आवश्यकताओ को देखते हुए, व्यय की राशि बढाकर २,३७८ करोड रु० कर दी गई। इस आयोजित राशि को योजना की विभिन्न मदो पर इस प्रकार बाटा गया था —

मद	व्यय (करोड रु०)	कुल व्यय का प्रतिशत
१. कृषि एव सामुदायिक विकास	३५४	१४·९
२ सिंचाई एव विद्युत्-शक्ति	६४७	२७ २
३ परिवहन एव सचार	५७१	२४ ०
४ उद्योग एव खनिज पदार्थ	१८८	७ ९
५. सामाजिक सेवायें	५३२	२२ ४
६ विविध	८६	३ ६
	कुल २,३७८	१००%

प्रथम योजना की वित्त-व्यवस्था—इस योजना मे केवल १९६० करोड रु० ही व्यय हुये जिनकी व्यवस्था इस प्रकार की गई थी—

वित्त-प्राप्ति के स्रोत	वास्तविक-प्राप्ति (करोड रु० मे)
१. करों व रेलो से	७५२
२ बाजार ऋण	२०५
३ अन्य बचत व अन्य ऋण	३०४
४. अन्य पूंजीगत आय	९१
५ विदेशी साधन	१८८
६ घाटे की वित्त-व्यवस्था	४२०
	कुल १,९६०

प्रथम योजना के लक्ष्य—इस योजना के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार थे—(i) प्रथम योजना का लक्ष्य पाच वर्ष की अवधि के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय (National Income) म १८ प्रतिशत वृद्धि करना था। (ii) इस योजना के अन्तर्गत खाद्यान्न-उत्पादन मे १४ प्रतिशत वृद्धि, कपास-उत्पादन मे ४२ प्रतिशत वृद्धि तथा जूट उत्पादन मे ६३ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य रक्खा गया। (iii) इस अवधि मे १६६ लाख एकड भूमि की अतिरिक्त सिचाई करने तथा १४६ लाख किलोवाट अतिरिक्त विद्युत उत्पन्न करने का निश्चय किया गया। (iv) योजनाकाल म ५५ लाख व्यक्तियो को पूर्ण रोजगार तथा ३५ लाख व्यक्तियो को आशिक-रोजगार दिलाने का निश्चिय किया गया। (v) योजना के अन्त तक ६०० गौ सदन, ६,४०० पशु-चिकित्सालय तथा २,०६२ अस्पताल खोलने का निश्चिय किया गया तथा (vi) योजनावधि मे शुद्ध लोहे के उत्पादन का लक्ष्य २७ ६ लाख मीट्रिक टन (२७ ३५ लाख टन) तथा इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य २५ ५ लाख मीट्रिक टन (२५,००,००० टन) निर्धारित किया गया।

प्रथम पचवर्षीय योजना के उद्देश्य—इस योजना का मुख्य उद्देश्य भारत के नागरिको के जीवन-स्तर का ऊचा उठाकर, उनके जीवन को अधिक सुखमय एव श्रेष्ठ बनाकर, राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति औसत आय मे वृद्धि करना था। इस प्रकार आर्थिक कल्याण और सामाजिक न्याय की व्यवस्था उत्पन्न करके, सच्चे अर्थ में एक लोकहितकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना करना ही प्रथम योजना का उद्देश्य था। इन उद्देश्य की पूर्ति के लिये योजना म कृषि एव सामुदायिक विकास कार्यों को सर्वोच्च स्थान दिया गया। कृषि एव उद्योग की समुन्नति के दृष्टि-कोण स जल-विद्युत एव परिवहन के साधनों को विकसित करने को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। इस योजना के अन्तर्गत उपभोक्ता स सम्बन्धित नवीन कारखाने स्थापित न करके तत्कालीन कारखानो की उत्पादन क्षमता को ही बढ़ाने का लक्ष्य रक्खा गया। सक्षेप मे, प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे चहुँमुखी क्रातिकारी परिवर्तन लाना था।

प्रथम पचवर्षीय योजना की प्रगति—इस योजना के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था क विभिन्न क्षेत्रो मे इस प्रकार प्रगति हुई—(i) *कृषि-उत्पादन*—सन् १९४९-५० मे कृषि उत्पादन का सूचनाक १०० मान लेने पर, यह सन् १९५५-५६ मे बढकर ११६ ८ हो गया। योजनाकाल मे खाद्यान्न के उत्पादन मे २० प्रतिशत, कपास के उत्पादन मे ४५ प्रतिशत तथा तिलहन के उत्पादन मे ८० प्रतिशत वृद्धि हुई। (ii) **विद्युत व सिचाई**—इस योजना के अन्तर्गत भारत की कृषि-भूमि का कुल सिंचित क्षेत्र सन् १९५०-५१ मे २११ १५ लाख हैक्टर्स (५१५ लाख एकड) से बढाकर सन् १९५५ ५६ म २३० ४२ लाख हैक्टर्स (५६२ लाख एकड) कर दिया गया और विद्युत शक्ति के कारखानो की उत्पादन-क्षमता २३ लाख किलोवाट से बढ कर ३४ लाख किलोवाट कर दी गई। (iii) **औद्योगिक-उत्पादन**—सन् १९५०-५१ म औद्योगिक-

उत्पादन का सूचनाक १०० मान लेने पर, यह सन् १९५५–५६ में बढ़कर १३९ हो गया। (iv) राष्ट्रीय आय व पूंजी निर्माण:— योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में १८ प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति औसत आय में १०.५ प्रतिशत वृद्धि हुई। योजना के प्रारम्भ में पूंजी निर्माण राष्ट्रीय आय का लगभग ५० प्रतिशत था, जो योजना के अन्त में ६३ प्रतिशत हो गया। (v) शिक्षा—इस योजना में ६१ लाख प्राइमरी पाठशालाएं खोली गईं तथा इंजीनियरिंग शिक्षा और उच्चस्तरीय शिक्षा में भी पर्याप्त प्रगति हुई। (vi) परिवहन—प्रथम योजना काल में १,०१७.६ किलोमीटर्स (६३६ मील) लम्बी सड़कों का निर्माण किया गया तथा ६,४०० किलोमीटर्स (४,००० मील) लम्बी सड़कों की मरम्मत की गई। इसी अवधि में ६०८ किलोमीटर्स (३८० मील) नई रेलवे लाइन बिछाई गई तथा ३० बड़े पुलों का निर्माण किया गया। (vii) सहकारी आन्दोलन—प्राथमिक कृषि-साख सहकारी समितियों द्वारा १९५५–५६ में कृषकों को ४६.६ करोड़ रु० के ऋण प्रदान किये, जबकि सन् १९५०–५१ में इन समितियों द्वारा केवल २२.६ करोड़ रु० के ही ऋण प्रदान किये गये। योजनाकाल में लगभग १ हजार सहकारी कृषि समितियां सगठित की गईं। (viii) मूल्य-वृद्धि की प्रवृत्ति में ह्रास—योजना के अन्त में सन् १९५०–५१ की तुलना में मूल्य-तल (Price Level) १५ प्रतिशत कम हो गया। (ix) व्यापार-भुगतान सन्तुलन—योजना आयोग (Planning Commission) का अनुमान था कि प्रथम योजना में भुगतान-सन्तुलन में १८० से २०० करोड़ रुपय तक का औसत वार्षिक घाटा रहेगा, परन्तु वस्तु स्थिति यह रही कि योजना की अवधि में भुगतान सन्तुलन में वार्षिक-घाटे का औसत केवल ३० करोड़ रुपये ही रहा।

प्रगति की समीक्षा—प्रथम पचवर्षीय योजना की प्रगति की सबसे महत्वपूर्ण बात यह रही कि यह योजना बिना मुद्रा-स्फीति की नीति अपनाये ही पर्याप्त मात्रा में पूर्ण हो गई। वस्तुत प्रथम योजना एक कृषिगत योजना थी और उसका उद्देश्य औद्योगीकरण का सुदृढ़ आधार तैयार करना तथा तत्कालीन कारखानों की उत्पादन-क्षमता का अधिकतम उपयोग करना था। इन सब उद्देश्यों में प्रथम योजना पर्याप्त सफल रही। परन्तु प्रथम योजना को कुछ क्षेत्रों में अधिक सफलता नहीं मिल सकी। जैसे—(i) देश के नागरिकों में योजना के प्रति कोई लगाव, कोई उत्साह अथवा समझ पैदा नहीं की जा सकी। (ii) देश के सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं लाया जा सका। (iii) बेरोजगारी के क्षेत्र में कमी होने की अपेक्षा पर्याप्त वृद्धि हुई। (iv) उद्योग-धन्धों, शिक्षा एवं सामुदायिक विकास के कार्यों में आशातीत सफलता नहीं प्राप्त हुई। (v) योजना में वास्तविक-व्यय अनुमानित व्यय से बहुत कम रहा तथा (vi) कृषि-व्यवसाय के क्षेत्र में भी भूमि-सुधार, सहकारी खेती, सिंचाई और फसल-योजना (Crop Planning) आदि कार्यों में कोई प्रभावशाली प्रगति न हो सकी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना
(Second Five Year Plan)

प्राक्कथन—दूसरी पचवर्षीय योजना की रूप रेखा भारतीय-ससद द्वारा १५ मई सन् १९५५ को पास कर दी गई और १ अप्रैल सन् १९५६ से इस योजना को कार्यान्वित कर दिया गया। इस योजना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये योजना आयोग' (Planning Commission) ने कहा था कि *"हमारी द्वितीय पचवर्षीय योजना का उद्देश्य ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण करना, भारत की औद्योगिक प्रगति की सुदृढ़ नींव रखना जनता के शक्ति शून्य एव अधिकारहीन वर्ग को समुन्नति के अवसर प्रदान करना तथा देश के समस्त भागों का सन्तुलित विकास करना है।"*

द्वितीय योजना के उद्देश्य—इस योजना के, मुख्यत चार उद्देश्य थे — (i) जनता के जीवन स्तर को ऊचा उठाने के लिये राष्ट्रीय आय मे २५% तथा प्रति व्यक्ति औसतन आय मे १८% वृद्धि करना, (ii) योजनावधि मे खनिज-उद्योग के उत्पादन मे ५८ प्रतिशत तथा कारखानो के उत्पादन मे ६४ प्रतिशत वृद्धि लाना, (iii) योजनाकाल मे १ करोड २० लाख व्यक्तियो को अतिरिक्त रोजगार के अवसर प्रदान करना तथा (iv) देश की जनता मे सम्पत्ति और आय की विषमता को न्यूनतम करके समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) के आदर्श को प्राप्त करना।

योजना मे विनियोग का ढाचा—दूसरी योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) के अन्तर्गत ४,८०० करोड रुपये तथा व्यक्तिगत क्षेत्र (Private Sector) मे २,४०० करोड रुपये व्यय करने का लक्ष्य रखा गया। सार्वजनिक क्षेत्र मे योजना की विभिन्न मदो पर व्यय का वितरण इस प्रकार निश्चित किया गया —

मद	द्वितीय पचवर्षीय योजना		प्रथम पचवर्षीय योजना	
	कुल व्यय (करोड रु० मे)	कुल व्यय का प्रतिशत	कुल व्यय (करोड रु० मे)	कुल व्यय का प्रतिशत
१ कृषि एव सामुदायिक विकास	५६८	११ ८	३५४	१४ ९
२ सिचाई एव विद्युत शक्ति	९१३	१९ ०	६४७	२७ ९
३ परिवहन एव सचार	१,३८५	२८ ९	५७१	२४ ०
४ उद्योग एव खनिज पदार्थ	८९०	१८ ५	१८८	७ ९
५ सामाजिक सेवाए	९४५	१९ ६	५३२	२२ ४
६ विविध	९९	२ १	८६	३ ६
	४,८००	१०० ०	२,३७८	१०० ०

निजी विनियोग का ढाचा—व्यक्तिगत क्षेत्र मे २,४०० करोड रु० के अनुमानित व्यय को निम्न मदो पर इस प्रकार वितरित किया गया —

मद	कुल व्यय (करोड रु० मे)
१ सगठित उद्योग व खनिज	५७५
२ उद्यान-विद्युत्,व यातायात (रैलो को छोडकर)	१२५
३ निर्माण-कार्य	१,०००
४ कृषि, कुटीर व लघुस्तरीय उद्योग	३००
५ स्टॉक	४००
कुल व्यय	२,४००

योजना मे वित्त व्यवस्था—द्वितीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र मे ४,८०० करोड रु० के अनुमानित व्यय को पूरा करने के लिए इन साधनो पर विचार किया गया —

वित्त के स्रोत	सम्भावित आय (करोड रु० म)
१ चालू आय से बचत (करो की तत्कालीन दरो से तथा अतिरिक्त करो से)	८००
२ जनता से ऋण के रूप मे (बाजार ऋण तथा अल्प बचत द्वारा)	१,२००
३ बजट के अन्य साधनो (रैलो का अश दान तथा प्रोविडेण्ट फण्ड)	४००
४ विदेशी साधन	८००
५ घाटे की वित्त-व्यवस्था	१,२००
६ शेष कमी, जो स्वदेशी साधनो से पूरी करनी होगी।	४००
कुल योग	४,८००

योजना में उत्पादन व विकास के निर्धारित लक्ष्य द्वितीय योजना आर्थिक विकास के लिये एक महत्वपूर्ण सोपान था। इस योजना मे विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो मे विकास के जो लक्ष्य निर्धारित किये गये, उनमे से कुछ महत्वपूर्ण उत्पादन व विकास के लक्ष्य इस प्रकार थे —

विभिन्न आर्थिक-क्षेत्र	सन् १९५५–५६ (वास्तविक उत्पादन अथवा विकास)	सन् १९६०–६१ (निर्धारित उत्पादन अथवा विकास)
१ खाद्यान्न	६६ (मिलियन टन)	८० ५ (मिलियन टन)
२ कपास	४२ (लाख गाठ)	६५ (लाख गाठ)
३ पटसन	५० (लाख गाठ)	५० (लाख गाठ)

४ तिलहन	५.५ (मिलियन टन)	७.६ (मिलियन टन)
५. गन्ना (गुड)	५.८ (मिलियन टन)	७.८ (मिलियन टन)
६. चाय	६४४ (मिलियन पौंड)	७०० (मिलियन पौंड)
७ सिंचाई का क्षेत्र	६.७ (मिलियन एकड)	८.८ (मिलियन एकड)
८ विद्युत्-उत्पादन क्षमता	३४ (लाख किलोवाट)	६९ (लाख किलोवाट)
९. तैयार इस्पात	१३ (लाख टन)	४३ (लाख टन)
१०. राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड	५००	३,८००
११. सामुदायिक विकास खण्ड	६२२	१,१२०
१२. राष्ट्रीय-मार्ग	१२,६०० मील	१३,८०० मील
१३. बन्दरगाहो की ढोने की क्षमता	२५ मिलियन टन	३२.५ मिलियन टन
१४. राष्ट्रीय आय	१२,१३० करोड रु०	२५% वृद्धि
१५. रोजगार		१२० लाख व्यक्तियो को अतिरिक्त रोजगार
१६. प्रति व्यक्ति आय	३०६ रुपये	१८% वृद्धि

दूसरी योजना मे आर्थिक कठिनाइयां — द्वितीय पचवर्षीय योजना मे और विशेषकर योजना के प्रथम दो-तीन वर्षों मे अनेक आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पडा, जिनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार रही—(I) **कृषि के उत्पादन मे कमी** — कृषि के उत्पादन मे वृद्धि होने की अपेक्षा ह्रास ही होता गया। जबकि सन् १९५५–५६ मे कृषि उपज का सूचनाक (सन् १९५०–५१ को आधार वर्ष मानकर) ११७ था, तब सन् १९५७–५८ मे यह घटकर ११३ ४ ही रह गया। कृषि की अन्य उपजो की अपेक्षा खाद्यान्न के उत्पादन अनुपात मे अधिक ह्रास हुआ तथा जनसख्या मे तीव्रगति से होने वाली वृद्धि ने इस कठिनाई को और भी अधिक विकराल बना दिया। जबकि सन् १९५५–५६ में खाद्यान्न के उत्पादन का सूचनाक (सन् १९५०–५१ को आधार वर्ष मानकर) ११५ ३ था, तब सन् १९५७ ५८ मे यह घटकर केवल १०८ ३ ही रह गया। (II) **मूल्यों मे वृद्धि** —इस योजना के प्रारम्भिक वर्षों मे वस्तुओ के मूल्यो मे सामान्यतया और खाद्यान्न के मूल्यो मे विशेषकर निरन्तर वृद्धि हुई। जबकि मार्च सन् १९५६ मे सामान्य मूल्य स्तर का सूचनाक (सन् १९५०–५१ को आधार वर्ष मानकर) ९९ था, अगस्त १९५७ मे यह बढकर ११२, सितम्बर १९५८ मे ११७ तथा मार्च सन् १९६१ मे १२७ हो गया। मूल्यो की इस निरन्तर वृद्धि से योजना के प्रवाह मे बाधा पहुची और देश के आर्थिक जीवन मे अनिश्चितता उत्पन्न हो गई। (III) **विदेशी विनिमय मे आशा से अधिक घाटा** —द्वितीय योजना के प्रारम्भिक दो वर्षों मे देश का विदेशी व्यापार-अवशेष (Balance of Trade) तीव्रगति से प्रति-

कूल रहा। देश के विदेशी व्यापार मे सन् १९५६–५७ मे ४६० करोड रु० का तथा सन् १९५७–५८ मे ५६६ करोड रु० का घाटा रहा। इस योजना मे यह अनुमान लगाया गया था कि पाच वर्षों की अवधि मे विदेशी व्यापार म केवल १,१०० करोड रु० का घाटा रहेगा। परन्तु वस्तु स्थिति यह रही कि योजना के प्रारम्भिक दो वर्षों मे १,०२९ करोड रु० का घाटा रहा तथा योजना की पूरी अवधिमे १,८५६ करोड रु० का घाटा रहा।

दूसरी योजना की प्रगति—राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) तथा योजना आयोग (Planning Commission) की सिफारिशो के आधार पर इस योजना को दो भागो म विभक्त कर दिया गया। योजना के प्रथम भाग म विकास की प्रमुख योजनाए सम्मिलित की गई। इन योजनाओं को पूरा करने के लिए ४,५०० करोड रु० निर्धारित किये गये तथा यह आवश्यक शर्त रक्खी गई कि योजना के इस भाग के कार्यक्रम को अनिवार्य रूप से पूरा करना होगा। योजना के द्वितीय भाग मे ०० करोड रु० व्यय करने के लिय निर्धारित किये गये। योजना म यह उल्लेख किया गया कि पर्याप्त मात्रा म वित्तीय-साधन उपलब्ध होने पर ही, योजना के द्वितीय भाग के कार्यक्रम को पूरा किया जायगा। इस प्रकार योजना का न्यूनतम आकार ४,५०० करोड रु० का व्यय (योजना के प्रथम भाग का व्यय) निर्धारित किया गया था। परन्तु द्वितीय योजना का वास्तविक व्यय लगभग ४,६०१ करोड रु० था। योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रो मे होने वाली प्रगति इस प्रकार रही (i) राष्ट्रीय आय—सन् १९६०–६१ के मूल्यों के आधार पर भारत की राष्ट्रीय आय सन् १९६०–६१ मे १४,५०० करोड रु० थी और प्रति-व्यक्ति औसत आय ३३० रु० थी, जबकि सन् १९५०–५१ और सन् १९५५–५६ मे देश की राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति औसत-आय क्रमश. १०,२४० करोड रु० व २८४ रु० तथा १२,१३० करोड रु० व ३०६ रु० थी। इस प्रकार विगत १० वर्षों मे राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति औसत आय मे क्रमश ४१ ६% और १६ २% वृद्धि हुई। (ii) कृषि-उत्पादन:—यद्यपि द्वितीय योजना के प्रारम्भिक दो वर्षो में कृषि उत्पादन म वृद्धि होने की अपेक्षा तीव्र ह्रास हुआ, परन्तु योजना के अन्तिम ३ वर्षों मे कृषि-उत्पादन के क्षेत्र मे कुछ वृद्धि हुई। सन् १९४९–५० को आधार वर्ष मानकर सन् १९५५–५६ मे कृषि-उत्पादन का सूचनांक ११७ था, जो सन् १९५७–५८ मे घटकर ११३ ४ रह गया था, परन्तु सन् १९६०–६१ मे यह बढकर १३५ हो गया। योजनाकाल मे जूट का उत्पादन ४२ लाख गाठ से घटकर ४० लाख गाठ, कपास का उत्पादन ४० लाख गाठ से बढकर ५१ लाख गाठ, खाद्यान्न का उत्पादन ६७१·१६ लाख मीट्रिक टन (६५८ लाख टन) से बढकर ७७५·२ लाख मीट्रिक टन (७६० लाख टन), तिलहन का उत्पादन ५७·१२ लाख मीट्रिक टन (५६ लाख टन) से बढकर ७२ ४२ लाख मीट्रिक टन (७१ लाख टन) तथा गन्ना गुड का उत्पादन ६१२ लाख मीट्रिक टन (६० लाख टन) से बढकर ८१ ६

लाख मीट्रिक टन (८० लाख टन) हो गया था। (iii) सामुदायिक विकास परियोजनाएं —दूसरी योजनावधि मे ३,११० विकास-खण्डो का विस्तार किया गया। इनके अन्तर्गत ३८६ हजार गाव तथा २४ ४ करोड जनसख्या आ चुकी है। इस प्रकार दूसरी योजना मे भारत की आधी से अधिक जनसख्या मे सामुदायिक विकास आन्दोलन का विस्तार किया जा सका। (iv) सिंचाई —योजनाकाल म कुल सिंचित-क्षेत्र २५५·०२ लाख हैक्टर्स (५६२ लाख एकड) से बढाकर लगभग २८७ लाख हैक्टर्स (७०० लाख एकड) हो गया। (v) खाद, उत्तम बीज तथा भूमि सुधारः—इस योजना मे नत्रजनयुक्त उर्वरक (Nitrogenous Fertilisers) का उत्पादन १०७ १ हजार मीट्रिक टन (१०५ हजार टन) से बढाकर २३४ ६ हजार मीट्रिक टन (२३० हजार टन) तथा फॉस्फेटयुक्त उर्वरक (Phospheric Fertilisers) का उत्पादन १३ २६ हजार मीट्रिक टन (१३ हजार टन) से बढाकर ७१·४ हजार मीट्रिक टन (७० हजार टन) कर दिया गया। योजनाकाल मे उत्तम कोटि के बीजो की पूर्ति के लिये ४ हजार फार्म खोले गये तथा ४ ६२ लाख हैक्टर्स (१२ लाख एकड) अतिरिक्त भूमि-क्षेत्र मे सुधार करके इसको कृषि योग्य बनाया गया। (vi) औद्योगिक-उत्पादन —इस योजना के अन्तर्गत पू जीगत तथा उत्पादक सामान तैयार करने वाले उद्योगों ने, जिनमें से मशीनरी-उद्योग व इ जीनियरिंग उद्योग विशेष उल्लेखनीय है, अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रगति की तथा औद्योगिक-उत्पादन म भी पर्याप्त वृद्धि सम्भव हो सकी। सन् १९५०–५१ को आधार वर्ष मानकर औद्योगिक उत्पादन का सूचनाक सन् १९५५–५६ मे १३९ से बढकर सन् १९६०–६१ मे १९४ हो गया। (vii) विद्युत् शक्ति की उत्पादन क्षमता —विद्युत् शक्ति की उत्पादन-क्षमता सन् १९५५–५६ म ३४ लाख किलोवाट से बढाकर सन् १९६०–६१ मे ५७ लाख किलोवाट कर दी गई। (viii) परिवहन —योजनाकाल में ३५ २ हजार किलोमीटर्स (२ हजार मील) लम्बी सडको का निर्माण किया गया तथा जहाजरानी मे लगभग ४ लाख ग्रास टन (G R T) की वृद्धि हुई। सन १९६०–६१ मे रेलो द्वारा ढोये जाने वाले माल-यातायात की मात्रा, सन १९५५–५६ के ११६ २८ मिलियन मीट्रिक टन (११४ मिलियन टन) से बढाकर १५७ ०८ मिलियन मीट्रिक टन (१५४ मिलियन टन) हो गई। (ix) चिकित्सा साधन —इस योजना की अवधि मे चिकित्सा-कालिजो, अस्पतालों, अस्पतालो मे बिस्तरों, डाक्टरो एव नर्सों की सख्या का लक्ष्य क्रमश १२,०००; १,५५,०००, ४२,५०० और ३१,००० था और इनकी सख्या योजना के अन्त मे योजना के लक्ष्यो से भी अधिक क्रमश १२ ६००, १,६०,०००; ८४,००० और ३६,५०० तक पहुँच गई। (x) तकनीकी शिक्षा —इस योजना म तकनीकी शिक्षा के विकास पर पर्याप्त बल डाला गया। योजनाकाल मे इजीनियरिंग एव प्राविधिक शिक्षा देने वाली सस्थाओ मे प्रवेश क्षमता बढकर लगभग ७,२०० हो गई। (xi) पू जी-विनियोग —जबकि प्रथम योजना के अन्तर्गत विनियोजित पू जी की राशि केवल ३,३६० करोड रु०

ही थी, तब दूसरी योजना मे पू जी के विनियोग की यह राशि बढ़कर ६,७५० करोड रु० हो गई । (xii) रोजगार —यद्यपि इस योजना म ८० लाख व्यक्तियो को रोजगार दिलाने का लक्ष्य, रक्खा गया था, परन्तु वास्तविक रूप म केवल ६६ लाख व्यक्तियों को ही रोजगार दिलाया जा सका । इस विषय म दु खदपूर्ण स्थिति यह रही कि जबकि द्वितीय योजना के पूर्व बकार व्यक्तियो की सख्या ५३ लाख थी तब योजना के अन्त म यह सख्या बढकर ६० लाख हो गई । बेकारी मे तीव्रगति से वृद्धि होने का मूल कारण योजनावधि म जनसख्या की तीव्रगति से वृद्धि होना था । (xiii) खनिज उत्पादन —योजनावधि में कोयले का उत्पादन सन् १९५५-५६ मे ३८७ ६ लाख मीट्रिक टन (३८० लाख टन) से बढ़ाकर सन् १९६०–६१ मे ५४० ६ लाख मीट्रिक टन (५३० लाख टन) और तैयार इस्पात का उत्पादन १३ २६ लाख मीट्रिक टन (१३ लाख टन) से बढाकर २६ ५२ लाख मीट्रिक टन (२६ लाख टन) कर दिया गया । (xiv) शिक्षा –द्वितीय योजना म प्रारम्भिक, मिडिल एव हायर सैकन्डरी स्कूल खोलने का लक्ष्य क्रमश. ३३,०६,०००, २५,२०० और १,२४,००० रक्खा गया था तथा योजना के अन्त मे इनकी सख्या क्रमशः ३,५४,६००, ३०,००० तथा १४,००० तक पहुच गई ।

योजना की समीक्षा — दूसरी योजनाकाल मे मूल्यो की निरन्तर वृद्धि तथा विदेशी विनिमय सक्ट के कारण विभिन्न लक्ष्यो के प्राप्त करने मे बाधा पहुची, जैसे– (i) खाद्यान्न, कपास व जूट के निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नही किए जा सके । (ii) सिंचित क्षेत्र का लक्ष्य ३६ ०८ मिलियन हैक्टर्स (८८ मिलियन एकड) था, जबकि वास्तविक सिद्धि केवल २८ ७ मिलियन हैक्टर्स (७० मिलियन एकड) की ही रही । (iii) विद्युत् शक्ति की प्रतिस्थापित क्षमता (Installed Capacity) भी ५७ लाख किलोवाट ही हो सकी, जबकि निर्धारित लक्ष्य ६४ लाख किलोवाट था तथा (iv) उद्योग एव परिवहन के क्षेत्र मे भी आशातीत प्रगति नहीं हो सकी ।

भारत मे नियोजन के दस वर्ष

(Ten Years of Planning in India)

प्राक्कथन–१ अप्रैल सन् १९५१ से लेकर ३१ मार्च सन् १९६१ तक भारत मे नियोजित आर्थिक विकास के दस वर्ष व्यतीत हो गये । इन वर्षो मे देश की अर्थ व्यवस्था का तीव्रगति से विकास हुआ है । इस प्रगति ने भावी योजनाओ मे आधारभूत उद्देश्यो की पूर्ति के लिये देश की आर्थिक सरचना (Economic Structure) को सुदृढ बनाया है । प्रथम पचवर्षीय योजना मे कृषि एव सिंचाई, शक्ति एव परिवहन, उद्योग एव खनिज, सामुदायिक विकास कार्यक्रम एव सहकारी आन्दोलन, देश के प्रशासकीय ढाँचे मे सुधार एव पददलित जातियों के पुनरुत्थान आदि कार्यक्रमों पर विशेष महत्व डाला गया । द्वितीय योजना मे इन सब कार्यक्रमो को आगे बढ़ाया गया तथा भावी विकास के लिये स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत की गई । सन् १९६०-६१ के मूल्यो के आधार पर, योजना के इन दस वर्षों म कुल विनियोग १०,११० करोड रु० हुआ,

जिसमे से ५,२१० करोड रु० सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा शेष ४,६०० करोड रु० निजी क्षेत्र मे हुआ।

नियोजन के दस वर्षों की प्रगति :—नियोजन के विगत दस वर्षों मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे *आधारभूत परिवर्तन हुये हैं।* (i) **कृषि-उपज**-सन् १६४६–५० मे कृषि-उपज का सूचनाक १०० मान लेने पर सन् १६६०–६१ मे यह १३५ हो गया था। सन् १६५०–५१ की तुलना मे सन् १६६०–६१ मे खाद्यान्न के उत्पादन मे ४६% वृद्धि हुई। जबकि सन् १६५०–५१ मे चावल की प्रति ०·४०५ हैक्टर्स एकड उपज ३१४·७६ किलोग्राम (६६४ पौंड) थी, तब सन् १६६०–६१ मे यह बढाकर ३६६·०४६ किलोग्राम (८०७ पौंड) कर दी गई। नियोजन के १० वर्षों मे तिलहन की उपज ५२·०२ लाख मीट्रिक टन (५१ लाख टन) से बढाकर ७२·४२ लाख मीट्रिक टन, (७१ लाख टन), गन्ना गुड की उपज ५७·१२ लाख मीट्रिक टन (५६ लाख टन) से बढाकर ८१·६ लाख मीट्रिक टन (८० लाख टन) कपास की उपज २६ लाख गाँठ से बढाकर ५१ लाख गाँठ, जूट की उपज ३३ लाख गाँठ से बढाकर ४० लाख गाँठ और खाद्यान्न की उपज ५६३·०४ लाख मीट्रिक टन (५५२ लाख टन) से बढाकर ७७५·२ लाख मीट्रिक टन (७६० लाख टन) कर दी गई। (ii) **सिंचाई, भूसरक्षण एवं भूमि सुधार :**— इस दसवर्षीय अवधि मे सिंचाई का क्षेत्र २११·१५ लाख हैक्टर्स (५१५ लाख एकड) से बढाकर २८७ लाख हैक्टर्स (७०० *लाख एकड) कर दिया गया। सन् १६६०-६१ तक १६·४० लाख हैक्टर्स (४० लाख एकड)* भूमि मे नई खेती चालू की गई, २·०५ लाख हैक्टर्स (५ लाख एकड) भूमि मे यांत्रिक खेती की गई तथा ६·१५ लाख हैक्टर्स (१५ लाख एकड) भूमि मे सुधार किया गया। भूमि सरक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत इस अवधि मे ११·०७ लाख हैक्टर्स (२७ लाख एकड) भूमि को लाया गया। (iii) **वन विकास, खाद, बीज** :—सन् १६५०–५१ से लेकर सन् १६६०–६१ तक ४००० बीज के फार्म स्थापित किए गए। इस अवधि मे नाइट्रोजनयुक्त उर्वरक की खपत ५६·१ हजार मीट्रिक टन (५५ हजार टन) से बढाकर २३४·६ हजार मीट्रिक टन (२३० हजार टन) तथा फॉस्फेट युक्त उर्वरक की खपत ७·१४ हजार मीटर टन (७ हजार टन) से बढाकर ७१·४ हजार मीट्रिक टन (७० हजार टन) कर दी गई। इस दशाब्दी मे २·०५ लाख हैक्टर्स (५ लाख एकड) भूमि पर वृक्षारोपण किया गया। (iv) **उद्योग :**— विगत दशाब्दी मे औद्योगिक-उत्पादन का सूचनाक (सन् १६५०–५१ मे १०० मान लेने पर) सन् १६६०–६१ मे १६४ हो गया। इस अवधि मे सूती वस्त्र के उत्पादन मे ३३ प्रतिशत लोहा और इस्पात के उत्पादन मे १३८%, सभी प्रकार की मशीनरी के उत्पादन मे ४०३ प्रतिशत तथा रासायनिक पदार्थों के उत्पादन मे १८८ प्रतिशत वृद्धि हुई। सार्वजनिक क्षेत्र मे सन् १६५०–५१ से सन् १६६०–६१ तक उद्योग एव खनिज विकास कार्यक्रम पर कुल ६७४ करोड रु० व्यय किया गया। (v) **विद्युत्-शक्ति :**—इस अवधि मे विद्युत-शक्ति कीप्रतिस्थापित-क्षमता सन् १६५०-५१ मे २३ लाख किलोवाट से बढाकर सन् १६६०-६१

गे ५७ लाख किलोवाट कर दी गई। सन् १९५०–५१ में ३,६८७ नगरों व गाँवो मे विद्युत्-शक्ति उपलब्ध थी परन्तु सन् १९६०–६१ मे ऐसे नगरो व गावो की सख्या बढकर २३,००० हो गई। (vi) लघुस्तरीय एव कुटीर उद्योग .—इस अवधि मे कुटीर एव लघुस्तरीय उद्योगो के विकास कार्यक्रम पर सार्वजनिक क्षेत्र म २१८ करोड रुपये व्यय किये गये। नियोजन की १० वर्षीय अवधि मे ५३ विस्तार केन्द्र तथा ६० औद्योगिक बस्तियाँ बनाई गईं। सन् १९५०–५१ से लेकर सन् १९६०-६१ तक खादी का उत्पादन ६३ ७० लाख मीटर्स, ७० लाख गज से बढाकर ४३६ ८ लाख मीटर्स (४८० लाख गज), हाथ कर्घे के वस्त्र का उत्पादन ६७ ५ करोड मीटर्स (७४ २ करोड गज) से बढाकर १७२ ९ करोड मीटर्स (१९० करोड गज) तथा कच्चे रेशम का उत्पादन ११ ३ लाख किलो० (२५ लाख पौंड) से बढकर १६ ३ लाख किलो० (३६ लाख पौंड) कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विद्युत्-पखे, सिलाई की मशीने व मशीनो के उपकरणों आदि के उत्पादन मे २५ प्रतिशत से लेकर ५० प्रतिशत तक वृद्धि हुई। (vii) परिवहन एव सचार —नियोजन के १० वर्षों मे १,६२० किलोमीटर्स (१,२०० मील) लम्बी नई रेलवे लाइनें बिछाई गईं, २,०८० किलोमीटर्स (१,३०० मील लम्बी) रेलवे लाइन को दोहरा (Doubling) किया गया तथा १,२८० किलोमीटर्स (८०० मील लम्बी) रेलवे लाइन का विद्युतीकरण (Electrification) किया गया। सन् १९५०–५१ म पक्की सडको (Surface Roads) की लम्बाई १·५६ लाख किलो० (९७,५०० मील) से सन् १९६० ६१ तक यह बढाकर २ ३ लाख किलोमीटर्स (१ ४४ लाख मील) कर दी गई। इसी अवधि मे कच्ची सडको (Unsurface Roads) की लम्बाई २·४ लाख किलोमीटर्स (१५१ लाख मील) से बढाकर ४ लाख किलोमीटर्स (२ ५० लाख मील) कर दी गई। भारतीय जहाजरानी की क्षमता सन् १९५०–५१ मे ३ ९ लाख जी० आर० टी० मे बढाकर सन् १९६०–६१ मे ९ लाख जी० आर० टी० तथा बडे-बडे बन्दरगाहो की माल लादने व उतारने की क्षमता २०४ लाख मी० टन (२०० लाख टन) से बढाकर ३७७·४ लाख मी० टन (३७० लाख टन) कर दी गई। इस दस वर्षीय अवधि म डाकघरों की सख्या ३६ हजार से बढाकर ७७ हजार और टेलीफोन की सख्या १६८ हजार से बढाकर ४६० हजार कर दी गई। (viii) रोजगार .—सन् १९५१ से सन् १९६१ तक भारतीय जनसख्या मे ७ ७ करोड की वृद्धि हुई। जनसख्या की इस तीव्रगति से वृद्धि के फलस्वरूप बेरोजगारी की समस्या अधिक उग्र होती चली गई। द्वितीय योजना मे ६६ लाख व्यक्तियो को रोजगार की सुविधा दिलाई गई, फिर भी देश मे बेरोजगार व्यक्तियो की सख्या सन् १९५५–५६ मे ५३ लाख से बढकर सन् १९६०–६१ मे ९० लाख हो गई। (ix) शिक्षा और चिकित्सा सुविधायें :—इस अवधि में स्कूलों व कालिजो की प्रवेश सख्या मे ८५ प्रतिशत वृद्धि हुई। प्राथमिक स्कूलो की सख्या सन् १९५० ५१ मे २१० हजार से बढाकर सन् १९६०-६१ मे ३४२ हजार, हायर सैकेण्डरी स्कूलो की सख्या ७,३०० से बढाकर १७ हजार, कालिजों की सख्या ५४२ से बढाकर १,०५० और विश्वविद्यालयों की सख्या २७ से

बढाकर ४६ कर दी गई। तकनीकी-शिक्षा के क्षेत्र म भी इस अवधि मे उल्लेखनीय प्रगति हुई। सन् १९५०–५१ मे चिकित्सा-संस्थाओ की संख्या ८,६०० से बढकर सन् १९६०–६१ मे १२,६००, मेडीकल कालिजो की संख्या ३० से बढाकर ५७, डाक्टरो की संख्या ५६००० से बढकर ७०,००० और अस्पतालो मे बिस्तरों की संख्या १,१३,००० से बढाकर १,८५,६०० कर दीगई। (x) परिवार नियोजन – इस दशाब्दी मे शहरो मे ५४९ परिवार नियोजन केन्द्र तथा गावो मे १,१०० परिवार नियोजन केन्द्र स्थापित किये गये। इन सब प्रयत्नो के फलस्वरूप भारतीय नागरिक की औसत आयु ३२ वर्ष से बढकर ४२ वर्ष हो गई। (xi) राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय :— नियोजन के इन दस वर्षों मे राष्ट्रीय आय मे ४२ प्रतिशत तथा प्रतिव्यक्ति औसत आय मे १६ प्रतिशत वृद्धि हुई।

नियोजन के १० वर्षों की आर्थिक प्रगति की समीक्षा :—योजना-आयोग (Planning Commission) के शब्दो मे "विगत दशाब्दी मे प्रत्येक दिशा मे नवीन आरम्भना हुई और मूल्यवान अनुभव प्राप्त हुये हैं। निस्सन्देह ऐसी असफलतायें एव त्रुटियां भी हुई हैं जिन्हे टाला जा सकता था। आर्थिक व सामाजिक सरचना मे अनेक दुर्बलतायें आज भी विद्यमान हैं। शेष के विकास की क्षमता का उपयोग होना अभी शेष है। फिर भी ये सब एक प्रेरणादायक अवधि के अ ग हैं, जिनका राष्ट्र के उस इतिहास एव कहानी से सम्बन्ध है जिसमे देश के सुदूर कोनों तक पहुचने वाले प्रयत्न हैं और जिसमें नागरिकों के समस्त समूहो को अपनी परिधि मे लिया गया है।" प्रो० डी० आर० गॉडगिल (D R. Gadgill) ने नियोजन की दस वर्षीय प्रगति पर अपने विचार प्रकट करते हुए इस प्रगति की कटु आलोचना इन शब्दों में की है, "इन योजनाओं मे रोजगार और रहन सहन के स्तर के पहलुओं को लगभग पूर्णतः भुला दिया गया। इन योजनाओं मे इन समस्याओं के समाधान करने का न तो कोई झुकाव ही रहा और न विगत १० वर्षों मे इन उद्देश्यों के सम्बन्ध मे कोई प्रगति ही दृष्टिगत हुई।" प्रो० गॉडगिल ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है कि विगत दस वर्षों मे निजी क्षेत्र (Private Sector) को बडे स्तर के उद्योगों मे विकास करने का पूर्ण अवसर दिया गया जिससे देश के पू जीगत साधनो एव आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण (Centralization) केवल कुछ गिने चुने व्यक्तियो के हाथ मे हो गया। अत भारत मे आर्थिक नियोजन की प्रवृत्ति समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pettern of Society) की ओर न रहकर पू जीवादी नमूने के समाज (Capitalistic Pattern of Society) की ओर ही अधिक रही है।

विगत दसवर्षीय नियोजन के दोष —विगत दशाब्दी मे भारतीय योजनाओं में मुख्य दोष इस प्रकार रहे :—(i) **मूल्यों मे वृद्धि** :—सन् १९५५-५६ मे थोक-मूल्यो का सामान्य मूल्य-स्तर मार्च सन् १९५१ की तुलना मे २२ प्रतिशत कम था। द्वितीय योजना म सामान्य मूल्य-स्तर में निरन्तर वृद्धि हुई और इस योजना के पाच वर्षो मे सामान्य मूल्यो के स्तर म ३० प्रतिशत वृद्धि हुई। इस अवधि म खाद्यान्न

के मूल्य-स्तर मे २७ प्रतिशत वृद्धि, पक्के माल के मूल्य-स्तर मे १५ प्रतिशत वृद्धि तथा कच्चे-माल के मूल्य-स्तर म ४५ प्रतिशत वृद्धि हुई। भारत जैसे एक अर्ध विकसित देश मे मूल्यो का निरन्तरता एव तीव्रता से बढते रहना, अर्थ-व्यवस्था के लिये भारी सकट का सूचक है। (ii) बचत मे कम वृद्धि —सन् १९५०–५१ से लेकर सन् १९६०–६१ तक की अवधि म भारत की देशीय बचत समस्त राष्ट्रीय आय के ५ प्रतिशत से बढकर ८ ५ प्रतिशत ही हुई है। देशी वित्तीय साधनो के अभाव मे सरकार को योजनाओ की पूर्ति के लिये विदेशी सहायता का सहारा लेना पडा है जो प्रत्येक दृष्टिकोण से वाछनीय नही ठहराया जा सकता। वस्तुत योजनाओ की प्रगति के लिए देशीय वित्त-साधनो को अधिक महत्व देना अपेक्षित है। अत भावी योजनाओ की सफलता के लिये देश म बचत की दर म वृद्धि लाना नितान्त आवश्यक है। (iii) कृषि उपज की वृद्धि पर कम महत्व '—प्रथम योजना की तुलना मे दूसरी पचवर्षीय योजना म, कृषि उत्पादन की वृद्धि पर कम महत्व डाला गया। आर्थिक नियोजन मे पूर्ण सफलता पाने के लिये हम पहले कृषि-उत्पादन के क्षेत्र मे स्वावलम्बी बनना पडेगा। परन्तु दूसरी योजना मे औद्योगिक-विकास कार्य-क्रम को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देकर इस तथ्य को भुला दिया गया। फलत दूसरी योजना के प्रथम दो वर्षों मे कृषि उपज मे वृद्धि होने के स्थान पर ह्रास हुआ तथा शेष वर्षों मे भी आशातीत सफलता प्राप्त नही हो सकी। (iv) परिवार नियोजन का अभाव —नियोजन की विगत दशाब्दी में, योजना आयोग ने परिवार नियोजन को एक नीति के रूप मे स्वीकार तो अवश्य किया, परन्तु इस नीति की सफलता के लिये कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। अत जहाँ एक ओर नियोजन के विभिन्न क्षेत्रो मे आर्थिक प्रगति के लम्बे-चौड़े अनुमान लगाये गये, वहाँ जनसख्या में होने वाली तीव्रगति से वृद्धि ने, इन सब अनुमानो को विफल कर दिया। फलत नियोजन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपेक्षाकृत कम सफलता मिली। वस्तु स्थिति यह है कि जनसख्या मे तीव्रगति से वृद्धि के परिणामस्वरूप आर्थिक नियोजन के १० वर्ष बीत जाने पर भी जनता के रहन सहन के स्तर मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ सका है तथा बेकारी की समस्या समाप्त होने की अपेक्षा बढती ही जा रही है।

३८

भारत में तृतीय पंचवर्षीय योजना

(Third Five Year Plan in India)

प्राक्कथन —तृतीय योजना दीर्घकालीन विकास के कार्यक्रम का प्रथम सोपान है। यह कार्यक्रम अगले १५ वर्ष या उससे अधिक अवधि का होगा। इस अवधि मे भारतीय अर्थ व्यवस्था का तीव्रता से विस्तार करना ही नहीं है वरन् साथ ही साथ उसे आत्मनिर्भर एव आत्मवाहक भी बनाना है। देश की यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र गति से प्रगति करने, आर्थिक एव सामाजिक जीवन की संस्थाओं का पुनर्निर्माण करने तथा राष्ट्रीय विकास-कार्य के लिये जनता की शक्ति का सचय करने के लिये, तृतीय योजना एक व्यापक भूमिका प्रस्तुत करती है।

तृतीय पचवर्षीय योजना के मुख्य उद्देश्य (Main Aims and Objects of the Third Five Year Plan) —तीसरी पचवर्षीय योजना के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं —(i) राष्ट्रीय आय मे प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि करना तथा पूंजी विनियोग का ऐसा स्वरूप बनाना कि वृद्धि का यह क्रम निरंतर अग्रसर रहे। (ii) खाद्यान्न के सम्बन्ध मे देश को स्वावलम्बी बनाना तथा कृषि-उत्पादन म इतनी वृद्धि करना कि निर्यात व्यापार एव उद्योग दोनो की आवश्यकताए पूरी हो सकें। (iii) देश की जनशक्ति का यथासम्भव पूर्ण उपयोग करना तथा रोजगार के अवसरों मे पर्याप्त वृद्धि करना। (iv) इस्पात, रासायनिक उद्योग और विद्युत् निर्माण आदि मूल उद्योगो (Basic Industries) के सम्बन्ध मे देश को आत्मनिर्भर तथा आत्म वाहक बनाना। (v) आय और सम्पत्ति की विषमता को कम करने, अवसर की समानता तथा आर्थिक क्षमता के वितरण म अधिक न्यायोचितता लाना। (vi) योजना की अवधि के पाच वर्षों म इतनी सफलता प्राप्त करना, जितनी सफलता प्रथम एव द्वितीय योजना के दस वर्षों म प्राप्त की गई है। (vii) सक्षेप मे, तीसरी योजना विशेषकर कृषि अर्थ व्यवस्था को सुदृढ बनाने, उद्योग, विद्युत् एव परिवहन का विकास करने, औद्योगिक एव प्राविधिक परिवर्तन को तीव्र करने, अवसर की समानता एव समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा मे प्रगति करने तथा रोजगार चाहने वाले व्यक्तियों को रोजगार देने का उद्देश्य लेकर चलेगी।

तृतीय योजना में व्यय का वितरण —तृतीय पचवर्षीय योजना को १

अप्रैल सन् १९६१ से क्रियान्वित कर दिया गया है। तीसरी योजना मे सार्वजनिक व निजी क्षेत्रो (Public and Private Sectors) मे कुल विनियोग १०,४०० करोड रुपये रक्खा गया है। इसमे से ६,३०० करोड रुपये का विनियोग सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा ४,१०० करोड रुपये का विनियोग निजी क्षेत्र में होगा। सार्वजनिक क्षेत्र मे चालू व्यय की राशि १,२०० करोड रुपये रक्खी गई है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र मे कुल व्यय की राशि ७,५०० करोड रुपये रक्खी गई है। अतः तीसरी योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र मे ७,५०० करोड रुपये तथा निजी क्षेत्र मे ४,१०० करोड रुपये (कुल मिला कर ११,६०० करोड़ रुपये) व्यय करने की व्यवस्था की गई है। सार्वजनिक क्षेत्र में ७,५०० करोड रुपये के व्यय को विभिन्न मदों पर इस प्रकार वितरित किया गया है —

मद	कुल व्यय (करोड रु० मे)	व्यय का प्रतिशत
(१) कृषि एव सामुदायिक विकास	१,०८६	१४
(२) सिंचाई की बड़ी एव मध्यम योजनाएं	६५०	६
(३) विद्युत्	१,०१२	१३
(४) ग्रामोद्योग एव लघु-उद्योग	२६४	४
(५) बडे उद्योग एव खनिज विकास	१,५२०	२०
(६) परिवहन एव सचार	१,४८६	२०
(७) सामाजिक सेवाएं	१,३००	१७
(८) कच्चा और अर्ध-तैयार माल (इनवेन्टरी)	२००	३
योग	७,५००	१००%

निजी क्षेत्र का पूंजी विनियोग —तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निजी क्षेत्र मे ४,१०० करोड रु० की पूंजी के विनियोग का अनुमान है। विनियोग की यह राशि विभिन्न मदो पर इस प्रकार वितरित की गई है —

मद	कुल व्यय (करोड रुपयो मे)
१. कृषि एव सिंचाई-विकास	८००
२ विद्युत् शक्ति	५०
३. परिवहन एव सचार	२५०
४. ग्रामीण एव लघु-उद्योग	२७५
५ बडे एव मध्यमस्तरीय-उद्योग एव खनिज विकास	१,०५०
६. आवास व अन्य इमारती कार्य	१,०७५
७ इन्वेन्टरियां	६००
योग	४,१००

योजना की वित्तीय व्यवस्था :—तृतीय योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में होने वाले विनियोग को पूरा करने के लिये इन साधनो पर विचार किया गया है —

आय के साधन	सम्भावित आय (करोड रु० मे)		
	योग	केन्द्र	राज्य
१ वर्तमान राजस्व मे बची हुई राशि (अतिरिक्त करो को छोड कर)	५५०	४१०	१४०
२ रेलो से प्राप्ति	१००	१००	—
३ अन्य सार्वजनिक उद्यमो से बचत	४५०	३००	१५०
४ जनता से ऋण (शुद्ध)	८००	४७५	३२५
५ छोटी बचतें (शुद्ध)	६००	२१३	३८७
६. प्राविडेण्ट फण्ड (शुद्ध)	२६५	१८३	८२
७ इस्पात समीकरण कोष (शुद्ध)	१०५	१०५	—
८ पूजी खाते म जमा विविध रकमें (गैर-योजना व्यय के अतिरिक्त)	१७०	—	—
९ अतिरिक्त कर, जिनमे सार्वजनिक उद्यमो मे अधिक बचत करने के लिये किये जाने वाले उपाय भी सम्मिलित हैं	१,७१०	१,१००	६१०
१० विदेशी सहायता के रूप मे बजट मे दिखाई गई रकमें	२,२००	२,२००	—
११ घाटे की अर्थ-व्यवस्था	५५०	५२४	२६
योग	७,५००	६,०३८	१,४६२

तृतीय योजना एव विदेशी विनिमय साधन—द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत २,१०० करोड रुपये का प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन था। यह राशि प्रारम्भिक अनुमान से लगभग दुगुनी थी। तृतीय योजना मे ३,७०० करोड रुपये के मूल्य का निर्यात-लक्ष्य रक्खा गया है, जबकि द्वितीय योजना मे केवल ३,०५३ करोड रुपये का निर्यात हुआ था। पी एल. ४८० सहायता के अतिरिक्त तृतीय योजना मे कुल विदेशी सहायता लगभग २,६०० करोड रुपये आकी ग है। इस समय योजना कार्यों के लिये विदेशी सहायता मिलने के आशाजनक लक्षण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के तत्वाधान में मई सन् १९६१ मे मित्र-राष्ट्रो के सघ की जो बैठक हुई थी उसमे भारत की तात्कालिक भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी समस्याओ तथा सन् १९६१-६२ एव सन् १९६२-६३ की आयात की आवश्यकताओं के लिये कुल १,०८९ करोड रुपये की सहायता देने का आश्वासन दिया गया है। सोवियत रूस ने अपने पूर्व के २३८ करोड रु० के दो ऋणो को तृतीय योजना की परियोजनाओं के लिय प्रयोग करने की स्वीकृति दे दी है। इसके अतिरिक्त जैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया पौलैण्ड और स्वीटजरलैण्ड जैसे कुछ अन्य मित्र राष्ट्रो ने भी कुल मिलाकर ६७ करोड रुपये के ऋण देना स्वीकार कर लिया है। वस्तुत विदेशी सहायता के क्षेत्र मे जो प्रगति हुई है वह उत्साहवर्धक है। विश्व

के अविकसित भागों के विकास के लिये मिल-जुलकर सहायता देने की दिशा में यह एक साहसपूर्ण कदम है। अत मित्र-राष्ट्रों की इस सद्भावनापूर्ण मनोवृत्ति को देखते हुये हमें भी अपने आन्तरिक साधन जुटाने के लिये अत्यधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। साथ ही हमें इस तथ्य पर भी ध्यान रखना है कि इस उपलब्ध विदेशी सहायता को अर्थ-व्यवस्था के सर्वाधिक हित में उपयोग किया जाना चाहिये। जहाँ तक आन्तरिक और विदेशी साधनो का प्रश्न है, हमें उत्पादन और बचत म निरन्तर वृद्धि करनी होगी।

तृतीय पचवर्षीय योजना के लक्ष्य—तृतीय योजना के अन्तर्गत, विगत दोनों योजनाओं की तुलना में, लगभग ५४ प्रतिशत कुल नियोजन बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया है। तीसरी पचवर्षीय योजना के मुख्य लक्ष्य इस प्रकार हैं —

(१) राष्ट्रीय आय—सन् १९६०–६१ के मूल्यों के आधार पर, द्वितीय योजना के अन्त में भारत की राष्ट्रीय आय लगभग १४,५०० करोड रुपये आकी गई है तथा वर्तमान जनसख्या के आधार पर प्रतिव्यक्ति आय ३३० रुपये आकी गई है। तीसरी योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय बढ़कर १९,००० करोड हो जाने तथा प्रति-व्यक्ति आय बढ़कर ३८५ रुपये होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस प्रकार अगले ५ वर्षों में राष्ट्रीय आय में कम से कम ३० प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति आय में कम से कम १७ प्रतिशत वृद्धि लाने का निश्चय किया गया है। एक अनुमान के अनुसार यदि हमारी तीसरी योजना के समस्त कार्यक्रम समय पर पूरे हो गये, तब सन् १९६०–६१ के मूल्यों के आधार पर, हमारी राष्ट्रीय आय में लगभग ३४ प्रतिशत वृद्धि होगी, कृषि एव उससे सबन्धित धन्धों का शुद्ध उत्पादन २५ प्रतिशत बढ़ेगा, खानों एव कारखानों के उत्पादन म लगभग ८५ प्रतिशत वृद्धि होगी तथा शेष क्षेत्रों में लगभग ३२ प्रतिशत वृद्धि होगी।

(२) कृषि-उत्पादन—तीसरी योजना में खाद्यान्नों की पूर्ति में स्वावलम्बी बनने का निश्चय किया गया है। योजना के अन्तर्गत खाद्यान्न, तिलहन और गन्ने (गुड) का उत्पादन सन् १९६०-६१ के क्रमश ७७५ २० लाख मी० टन, ७२ ४२ लाख मी० टन और ८१ ६० लाख मी० टन से बढ़ाकर सन् १९६५–६६ में १०,२० लाख मी० टन ९९ ९६ लाख मी० टन तथा १०२ लाख मी० टन (७६० लाख टन, ७१ लाख टन तथा ८० लाख टन से बढ़ाकर सन् १९६५–६६ में क्रमश १,००० लाख टन, ९८ लाख टन तथा १०० लाख टन) कर देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार कपास और जूट का उत्पादन सन् १९६०–६१ म क्रमशः ५१ लाख गाठें तथा ४० लाख गाठें में बढ़ाकर सन् १९६५–६६ में क्रमश ७० लाख गाठें तथा ६२ लाख गांठ का लक्ष्य रक्खा गया है। इस प्रकार योजनाकाल में कृषि-उत्पादन का सूचनाक सन् १९६०–६१ में १३५ से बढ़कर सन् १९६५–६६ तक १७६ हो जाना चाहिये अर्थात् योजनावधि में ३०% वृद्धि होनी चाहिये। तीसरी योजना के अन्तर्गत खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति दैनिक उपलब्धि सन् १९६०-६१ में १६ औंस से बढ़कर १९६५-६६ में

१७·५ औंस होने, कपड़े की वार्षिक खपत १४·१ मीटर्स (१५.५ गज) से बढ़कर १५·६५ मीटर्स (१७.२ गज) होने तथा प्रतिदिन खाद्य-तेलों की खपत ०·४ औंस से बढ़कर ०·५ औंस होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

(३) **कृषि-भूमि की सिंचाई, खादों की उपलब्धि तथा भूमि-संरक्षण**—तीसरी योजना के अन्तर्गत सिंचित क्षेत्र को २८७ लाख हैक्टर्स से (७०० लाख एकड़) से बढ़ाकर ३६६ लाख हैक्टर्स (९०० लाख एकड़) करने (२९ प्रतिशत वृद्धि) का निश्चय किया गया है। योजनाकाल में १४.७६ लाख हैक्टर्स (३६ लाख एकड़) भूमि को कृषि-योग्य बनाया जायेगा तथा ४५·१ लाख हैक्टर्स (११० लाख एकड़) भूमि को क्षरण से रोका जायेगा। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में १०.२ लाख मी० टन (१० लाख टन) नत्रजनयुक्त खाद और ४·०८ लाख मी० टन (४ लाख टन) फार्स्फेटयुक्त खाद के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। योजनाकाल में १·२३ लाख हैक्टर्स (३ लाख एकड़) भूमि पर चकबन्दी की जायेगी।

(४) **सहकारी आन्दोलन**—तीसरी योजना के अन्तर्गत कृषि-साख समितियों की संख्या बढ़कर लगभग २.३० लाख हो जायेगी, उनकी सदस्य संख्या लगभग ३.७० करोड़ हो जायेगी तथा,उनके अल्पकालीन और मध्यकालीन ऋण देने का वार्षिक स्तर ५३० करोड़ रु० हो जायेगा। तीसरी योजना में दीर्घकालीन साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये २६५ अतिरिक्त प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक खोले जायेंगे, जबकि सन् १९६० में देशभर में इन बैंकों की संख्या ४०८ थी। योजनावधि में भूमि बन्धक बैंक्स द्वारा १५० करोड़ रु० के दीर्घकालीन ऋण दिये जायेंगे। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में ६०० अतिरिक्त प्रारम्भिक सहकारी क्रय-विक्रय समितियों की स्थापना की जायेगी। इन समितियों की स्थापना के पश्चात् भारत की २५०० मण्डियों में से प्रत्येक मण्डी में एक सहकारी क्रय-विक्रय समिति हो सकेगी। योजनाकाल में २५ चीनी के सहकारी कारखाने, ३७८ सहकारी प्रोसेसिंग एकक (Processing Units), ३,२०० सहकारी कृषि समितियाँ तथा ५० थोक और २,२०० प्राथमिक उपभोक्ता समितियों को संगठित करने का आयोजन है। योजनाकाल में औद्योगिक सहकारिताओं (Industrial Co-operatives) की संख्या सन् १९६०–६१ में ३० हजार से बढ़कर सन् १९६५–६६ तक ४० हजार, उनकी सदस्य संख्या २० लाख से बढ़कर ३० लाख और उनकी हिस्सा-पूँजी १० करोड़ रु० से बढ़कर २० करोड़ रु० हो जायेगी।

(५) **विद्युत् विकास**—द्वितीय योजना में विद्युत्-उत्पादन की स्थापित क्षमता ५७ लाख किलोवाट थी। तीसरी योजना में प्रतिवर्ष औसतन १४ लाख किलोवाट की विद्युत्-उत्पादन क्षमता स्थापित करके योजना के अन्त तक १२७ लाख किलोवाट विद्युत्-उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। विद्युत् का कुल उत्पादन द्वितीय योजना के अन्त में २० अरब किलोवाट घंटे से बढ़कर तीसरी योजना के अन्त तक ४५ अरब किलोवाट घंटे होने का निश्चय किया गया है।

मी० टन (६० लाख टन) होने तथा छोटे बन्दरगाहों की क्षमता ६१·२ लाख से बढ़कर ६१·८ लाख (६० लाख से बढ़कर ९० लाख टन) होने तथा जहाजरानी की क्षमता ९ लाख जी० आर० टन से बढ़कर ११ लाख जी० आर० टन होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। तीसरी योजना के अन्त तक देश मे तार घरों की सख्या बढ़कर ८,४५० तथा डाकघरों की सख्या बढ़कर ९४,००० हो जायेगी तथा योजना-काल मे सामुदायिक केन्द्रों को लगभग ३२,००० नये रेडियो दिये जायेंगे।

(९) शिक्षा—सामान्य शिक्षा के अन्तर्गत तीसरी योजना मे ६ से ११ वर्ष की आयु के सभी बच्चों के लिए शिक्षा सुविधाओं की व्यवस्था करने, विश्वविद्यालय एवं माध्यमिक स्तर पर विज्ञान की शिक्षा मे विस्तार और सुधार करने, प्रत्येक स्तर पर व्यवसायिक एवं तकनीकी शिक्षा का विस्तार करने, शिक्षा के हर स्तर पर शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधाओं मे सुधार एवं विस्तार करने तथा छात्रवृत्तियों, फ्री-शिपो और अन्य सहायताओं मे वृद्धि करने पर बल डाला गया है। तीसरी योजना मे कुल स्कूलों की सख्या मे २४ प्रतिशत वृद्धि लाने का निश्चय किया गया है। योजना के अन्तर्गत ६ से ११ वर्ष की आयु के कुल बच्चों का लगभग ७६ प्रतिशत भाग प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर सकेगा। योजनाकाल मे प्रशिक्षण कॉलिजो की सख्या १९६०-६१ मे २२६ से बढ़ाकर सन् १९६५-६६ तक ३१२ कर दी जायेगी। इसके अतिरिक्त तीसरी योजना मे तकनीकी शिक्षा पर भी आवश्यक बल डाला गया है। योजनाकाल मे ७ क्षेत्रीय इन्जीनियरिंग कॉलिज खोलने का निश्चय किया गया है। इनमे से प्रत्येक मे २५० छात्र दाखिल किये जा सकेंगे। तीसरी योजना मे दस्तकारी प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये तीन नई सस्थायें स्थापित की जायेंगी तथा इस अवधि मे इन सस्थाओं से उत्तीर्ण होने वाले व्यक्तियों की सख्या लगभग ७,५०० होगी तथा विभिन्न व्यवसायों के प्रशिक्षकों की सख्या लगभग १,८०० होगी।

(१०) रोजगार—तीसरी पचवर्षीय योजना मे १ करोड़ ४० लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाने का निश्चय किया गया है। इनमे से १ करोड़ ५ लाख व्यक्तियों को कृषि भिन्न कार्यों (Non agricultural Activities) मे तथा ३५ लाख व्यक्तियों को कृषि कार्यों (Agricultural Activities) मे अतिरिक्त रोजगार दिलाया जायेगा। योजनाकाल मे श्रम-शक्ति मे १७० लाख व्यक्तियों की वृद्धि का अनुमान लगाया गया है। दूसरी योजना के अन्त तक भी लगभग ९० लाख व्यक्ति बिना रोजगार के थे। इस प्रकार तीसरी योजना के अन्तर्गत भी बेरोजगारी की समस्या का पूर्णरूपेण हल नही हो सकेगा। फिर भी रोजगार की समस्या को तीन मुख्य रूपों मे सुलझाया जायेगा—(i) योजना के ढाचे के अन्तर्गत ऐसे प्रयत्न किये जायेंगे कि जिनसे पहले की अपेक्षा रोजगार के प्रभावों का फैलाव अधिक व्यापक और सन्तुलित होगा। (ii) ग्रामीण क्षेत्रों के औद्योगीकरण का कार्यक्रम एक विस्तृत रूप मे अपनाया जायेगा तथा (iii) लघु-उद्योगों द्वारा रोजगार बढ़ाने के उपाय के अतिरिक्त ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों को सगठित किया जाएगा, जिनमे लगभग २५

लाख व्यक्तियों को वर्ष में औसतन १०० दिन तक का काम मिल सकेगा।

(११) समाज कल्याण कार्य—तीसरी योजना में समाज कल्याण कार्यक्रम (Social Welfare Programme) के लिए २५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है, जिसमें से १६ करोड रु० केन्द्र में तथा ६ करोड़ रु० राज्यों में व्यय किये जायेंगे। समाज कल्याण कार्यक्रमों की व्यवस्था करने के अतिरिक्त शिशु-कल्याण योजनाओं के लिये 'शिक्षा' के अन्तर्गत ३ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई।

(१२) अनुसूचित जातियों की भलाई—तीसरी योजना के अन्तर्गत पिछड़ी जातियों (Backward Castes) की भलाई के लिये ११४ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इसमें से ४२ करोड़ रु० शिक्षा कार्यक्रमों पर ४७ करोड़ रु० आर्थिक विकास कार्यक्रमों पर तथा २५ करोड़ रु० स्वास्थ्य, मकान तथा अन्य कार्यक्रमों पर व्यय करने का निश्चय किया गया है। सामुदायिक विकास के ढगों पर आदिम जातियों की सब दिशाओं में प्रगति करने के लिये योजनाकाल में ३०० आदिम-जाति विकास-खण्ड (Tribal Development Blocks) खोलने का लक्ष्य रक्खा गया है।

(१३) आवास कार्यक्रम तीसरी योजना में आवास और शहरी विकास कार्यक्रमों के लिए १४२ करोड़ रु० व्यय करने का निश्चय किया गया है। योजना-काल में मन्त्रालयों के आवास कार्यक्रमों के अन्तर्गत ६ लाख मकान बनायें जायेंगे। आवास और अन्य निर्माण कार्यों पर योजनाकाल में लगभग १,१२५ करोड़ रु० निजी पूंजी के रूप में लगाने का अनुमान है।

(१४) स्वास्थ्य और परिवार नियोजन—तीसरी योजना में २,००० अतिरिक्त अस्पतालों और औषधालयों तथा ५४,५०० अतिरिक्त रोगी-शय्याओं (Beds for the Patients) की व्यवस्था की परिकल्पना की गई है। संक्रामक रोगों (Infectious Diseases) के नियन्त्रण के लिये योजना के अन्तर्गत ७० करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। परिवार नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत तीसरी योजना में लगभग ६,३०० परिवार नियोजन केन्द्र स्थापित किए जायेंगे।

तीसरी योजना की आलोचनात्मक समीक्षा —तीसरी पंचवर्षीय योजना में भी आर्थिक विकास की आधारभूत नीति वही रक्खी गई है जो कि दूसरी योजना में अपनाई गई थी। इस योजना में भी दूसरी योजना की ही तरह भारी एवं उत्पादक वस्तुओं के कारखानों का विस्तार किया जाएगा, रोजगार बढ़ाने के लिए श्रम-गहन (Labour Intensive) पद्धतियों का अधिक प्रयोग किया जाएगा, ग्रामीण एवं कुटीर उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया जायगा तथा निर्यात-व्यापार में वृद्धि की जाएगी। इस प्रकार तीसरी योजना का मुख्य दृष्टिकोण सर्वथा उपयुक्त है। फिर भी कुछ विद्वानों ने निम्न आधारों पर इस योजना की तीव्र आलोचना की है :—

(1) बेरोजगारी की समस्या का अन्त नहीं होगा —कुछ विचारकों का मत है कि तीसरी योजना के अन्त में देश में बेकारी की समस्या समाप्त होने की अपेक्षा

और अधिक उग्र रूप धारण कर लेगी। इस योजना के प्रारम्भ मे देश भर मे बेकार व्यक्तियो की सख्या ९० लाख थी और इस योजना की अवधि मे रोजगार चाहने वालो की सख्या मे १७० लाख व्यक्तियो की वृद्धि होगी। इस प्रकार योजनाकाल मे कुल रोजगार चाहने वाले व्यक्तियो की सख्या २६० लाख हो जायेगी। परन्तु तीसरी योजना मे केवल १४० लाख व्यक्तियो को ही पूर्णकाल रोजगार दिलाया जा सकेगा तथा लगभग २५ लाख व्यक्तियों को ग्रामीण-कार्यों पर वर्ष मे १०० दिन के लिये आंशिक-रोजगार (Part-time Employment) दिलाया जा सकेगा। अत. तीसरी योजना के अन्त मे भी बेकारी और अर्ध-बेकारी समाप्त नही हो सकेगी। (ii) *योजना मे निजी क्षेत्र को कम महत्व दिया गया है* :—कुछ विद्वानो का कहना है कि तीसरी योजना मे निजी क्षेत्र (Private Sector) को आवश्यक एवं पर्याप्त महत्व नही दिया गया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री पी० सी० जैन (P. C. Jain) ने तीसरी योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्व दिये जाने की आलोचना करते हुए कहा है कि इसके फलस्वरूप देश मे मुद्रा-स्फीति होगी, क्योकि सरकार को योजना का कार्यक्रम पूरा करने के लिये या तो अधिक मात्रा मे कर लगाने पडेंगे अथवा अधिक नोट छापने पडेंगे। अत. कुछ आलोचको के मतानुसार तीसरी योजना मे निजी क्षेत्र को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जाना चाहिये था। परन्तु हमे यह भी नही भूल जाना चाहिए कि यदि नियोजन के कार्यक्रम मे निजी क्षेत्र को अधिक महत्व दिया गया, तब देश मे धनी और निर्धन वर्ग के बीच की खाई और अधिक बढ जाएगी। इसका परिणाम यह होगा कि देश मे समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना के विपरीत पूँजीवादी नमूने के समाज (Capitalistic Pattern of Society) की स्थापना हो जाएगी। अत भारत के योजनाबद्ध आर्थिक विकास मे सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार नितान्त अनिवार्य है। इसीलिए देश का भावी आर्थिक विकास पूर्णतया निजी क्षेत्र पर नही छोडा जा सकता है। (iii) *जनता पर कर-भार मे अत्यधिक वृद्धि होगी* :—तीसरी योजना के अन्तर्गत नियोजन के कार्यक्रम को पूरा करने के लिये १,१०० करोड रु० के नये कर (*Taxes*) केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा ६१० करोड रु० के नये कर (Taxes) राज्य सरकारों द्वारा लगाए जायेंगे। इस प्रकार देश की जनता पर अगले पाच वर्षों मे १,७१० करोड रु० के नये कराभार (Burden of Taxation) की वृद्धि होगी। चूंकि भारत के नागरिको की करदान क्षमता (Taxable Capacity) बहुत कम है, इसलिये आलोचको का मत है कि इस अतिरिक्त कराधान (Additional Taxation) से भारतीय जनता पर अत्यधिक कर-भार पडेगा। फलत देश की जनता का रहन-सहन का स्तर और भी अधिक गिर जाएगा। परन्तु इस आलोचना के प्रत्युत्तर मे यह कहा जाता है कि सरकार द्वारा करो के रूप मे ली गई रकम अन्तत देश के आर्थिक विकास अथवा जन-कल्याण पर ही व्यय होगी जिसके परिणामस्वरूप देश की राष्ट्रीय आय और

प्रति व्यक्ति प्राय मे वृद्धि होगी तथा जनता का उपभोग-स्तर ऊचा उठेगा और प्रन्तत देशवासियो के रहन सहन का स्तर प्रब मे और भी अधिक ऊचा हो सकेगा। (iv) मुद्रा-स्फीति होगी —योजना के अन्तर्गत केवल ५५० करोड़ रु० की घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) की परिकल्पना की गई है। आलोचकों का मत है कि वास्तव म इसम अधिक राशि म घाटे की वित्त व्यवस्था की जाएगी क्योकि अतिरिक्त करो (Additional Taxes), जनता से उधार (Public Debts) तथा सावजनिक क्षेत्र के उद्योगो स अनुमानित प्राय जिस सीमा तक कम रहेंगी, उसी सीमा तक घाटे की वित्त व्यवस्था बढानी होगी। फलत देश मे मुद्रा-स्फीति की समस्या अपने भयकर दुष्परिणामो के सहित प्रकट होगी। (v) विदेशी विनिमय की कठिनाई रहेगी — चू कि हमारे देश का नियात व्यापार अनेक प्रयत्नो के पश्चात् भी नही बढ सका है, इसलिय कुछ आलोचको का मत है कि भारत के विदेशी व्यापार म भुगतान असमतुलन निर्धारित सीमा से अधिक रहेगा और योजना म निर्धारित ३ ७०० करोड रु० क निर्यात का लक्ष्य प्राप्त नही किया जा सकेगा। फलत देश को विदेशी विनिमय क सकट का पुन सामना करना पडेगा। (vi) जनता का पूर्ण सहयोग सम्भव नहीं —आलोचको का मत है कि इस योजना मे देश क नागरिको द्वारा सहयोग देने के लिय विशेष आकर्षण नही है क्योकि इस योजना म उनकी समस्याओ को सुलभाने के विपरीत उनसे और अधिक त्याग करने को कहा गया है। चू कि भारतीय जनता में और अधिक त्याग करने की चेतना व शक्ति नही है, इसलिय जनता का योजना कि पूर्ति के लिये पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं हो सकेगा। फलत योजना की पूर्ण सफलता की सम्भावना भी नही की जा सकती।

उपसहार —वस्तुत तृतीय योजना की भावी सफलता अथवा असफलता का अनुमान अभी पूर्वकालिक (Too Early) है। प्रजातांत्रिक पद्धति से देश में समाजवादी लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये तथा धन व आय के वितरण में समानता स्थापित करने के लिय सक्रिय प्रयत्न किय ही जाने चाहियें। सर्वसाधारण म योजना की प्राप्ति के प्रति अधिक सहयोगी भावना उत्पन्न करने के लिये, देश की जनता के मानस को भकभोरना होगा तथा उनकी अन्त प्रेरणा को जाग्रत करके, योजना को सफल बनाने क लिय अभिप्ररित करना होगा। यदि देश की जनता ने सरकार का पूरा सहयोग दिया, तब तीसरी योजना की पूर्ण सफलता अवश्यभावी है। वस्तुत इस कार्य की विशालता और इसकी बहुमुखी चुनौती को कम नहीं मानना चाहिए। योजना में सबसे अधिक बल इस कार्यान्वित करने, शीघ्रगति एव सम्पूर्ण रूप मे व्यावहारिक परिणामो पर पहुचने, अधिकाधिक उत्पादन और रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने और मानवीय साधनों का विकास करने पर दिया गया है। सामाजिक व आर्थिक उन्नति तथा समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति के लिय अनुशासन और राष्ट्रीय [illegible] है। तीसरी योजना में सम्मि-

लित विभिन्न कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये निष्ठापूर्ण नेतृत्व, सार्वजनिक सेवाओं की अधिकतम कर्त्तव्यपरायणता और कार्यकुशलता जनता के व्यापक सहयोग और सहानुभूति तथा अपने उत्तरदायित्व को पूर्णत निभाने और भविष्य में और अधिक भार वहन करने की तत्परता की आवश्यकता है। निर्धनता के अभिशाप और उससे उत्पन्न होने वाली सभी बुराइयों का सामना करना, यही तात्कालिक समस्या है। यह कार्य सामाजिक और आर्थिक प्रगति के द्वारा ही किया जा सकता है जिससे कि प्रौद्योगिक (Technical) दृष्टि से परिपक्व समाज का निर्माण किया जा सके और एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके, जिसमें सभी नागरिको को समान अवसर प्राप्त हो। इस प्रक्रिया (Process) के बीच सामाजिक प्रथाओं और सस्थाओं में दूरगामी परिवर्तन करने होंगे और पुरानी परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर, एक नए गतिशील समाज की स्थापना करनी होगी तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी में विज्ञान का दृष्टिकोण व प्रयोग स्वीकार करना होगा।

तीसरी योजना मे विकास के जिस स्वरूप की कल्पना की गई है उसका मूल उद्देश्य यह है कि निरन्तर आर्थिक उन्नति की दृढ नींव रखी जाय, लाभदायक रोजगार के अवसरो मे निरन्तर वृद्धि की जाए और जनता के जीवन-स्तर तथा कार्य करने की परिस्थितियों में सुधार किया जाए। यह आशा है कि योजनाकाल मे विकास की परियोजनाओं में सहकारिता आर्थिक जीवन की कई शाखाओं मे और विशेषकर कृषि, लघु-उद्योग, वितरण, निर्माण और स्थानीय समाजों के लिए आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए, संगठन का अधिकाधिक मात्रा मे मुख्य आधार बन जायेगी। योजनाबद्ध विकास करने के लिये स्वय और शीघ्र प्रगति तथा समाज के समाजवादी ढाचे के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये बुनियादी कसौटी यह है कि समूचे समाज का हित हो और विशेषकर अशक्त वर्गों का। सफलता और गतिशीलता के कारण ही तेजी से विकसित होने वाली अर्थ-व्यवस्था में सगठन और प्रबन्ध तथा सामाजिक नीति की नई समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए राष्ट्र के विकास मे वर्तमान सामाजिक और आर्थिक सस्थाओं का क्या भाग हो, इसको ध्यान मे रखते हुये समय-समय पर उनका मूल्याकन करना आवश्यक है। योजनावधि मे आर्थिक कार्यों का सगठन इस प्रकार किया जाना चाहिये कि उत्पादन और उन्नति तथा न्याय और वितरण की कसौटियां समान रूप से ठीक उतरें। समाजवाद की ओर प्रगति की अनेक दिशायें हैं जिनमे से प्रत्येक के द्वारा अन्यों का महत्व बढता है।

तीसरी योजना की अवधि के पांच वर्षों मे हमारा राष्ट्र उतनी सफलता प्राप्त करने की इच्छा रखता है जितनी सफलता पहली और दूसरी योजनाओं के दस वर्षों मे प्राप्त की गई थी। यद्यपि कार्य बहुत बडा है, तथापि अत्यन्त आवश्यक है और वर्तमान तथा भविष्य के लिये इसका बहुत बडा महत्व है। इसके प्रशासनिक प्रभाव

और सम्भावनायें अत्यन्त विस्तृत हैं और इनके लिये हरएक क्षेत्र मे कार्यकुशलता के अत्यधिक उच्च-स्तर की आवश्यकता है। प्रभावी कार्यान्वियन के लिए साधनों के एकत्रीकरण, वदलती हुई आवश्यकताओ की स्वीकृति, हर चरण मे साधनों के समन्वय और एकीकरण, आने वाली कठिनाइयों और समस्याओ के पूर्वाभास की क्षमता, विकास के लिए अनुकूल अवसरो के लाभ उठाने मे तत्परता और सबसे अधिक विद्वान एव कुशल कार्यकर्त्ताओ तथा योजना के अनुरूप सगठनो की आवश्यकता है। विकास की योजना चाहे वह कितनी ही विस्तृत हो अथवा सक्षिप्त, अन्ततः कार्यक्रम का मोटा ढाचा-भर दर्शाती है। इसकी सफलता अनेक घटको पर निर्भर करती है, जैसे— विकास के भार और चुनौती के प्रति नागरिको मे चेतना, नई उत्पादक शक्तियो का प्रकट होना और आधुनिक विज्ञान एव टैक्नालाजी का अधिक उपयोग, दृष्टिकोण और प्रेरणा मे परिवर्तन और अन्त मे विश्वास का ऐसा वातावरण जिसमे यह समझा जाए कि तीव्र आर्थिक विकास सामाजिक न्यय (Social Justice) और विस्तृत आर्थिक अवसर (Wide Economic Opportunities) इन दोनो का उपाय है। वास्तव मे जनतन्त्रीय आदर्शों और रचनात्मक कार्यों की परम्परा वाले विकासोन्मुख देश मे, सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये, जनता के सहयोग का सर्वोच्च महत्व है। अत तीसरी योजना के महत्व, उद्देश्यो और प्राथमिकताओ की जानकारी को जनता मे सर्वाधिक लोकप्रिय बनाने के लिये तथा जनसहयोग की भावना को प्रोत्साहित करने के लिये वर्तमान प्रबन्धो में सुधार करना चाहिये तथा योजना का सन्देश देश के कोने कोने और घर-घर मे पहुचाना चाहिये।

—:o:—

३९

राज-वित्त की विशेषतायें, प्रवृत्तियां तथा प्रबन्ध

(Characteristics, Trends and Administration of Public Finance)

राज वित्त का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Public Finance) —लोकतन्त्रवाद एवं कल्याणकारी भावना से प्रेरित होकर आजकल प्रत्येक राज्य, जनता के प्रतिनिधि के रूप में, इस बात का प्रयत्न करता है कि अधिक से अधिक कार्य अधिकाधिक मनुष्यों के लिये करे जिससे अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो। 'सर्व हिताय एवं सर्व सुखाय' की प्राप्ती अथवा 'मानवीय हित' की वृद्धि इसका अन्तिम और एकमात्र उद्देश्य है। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये समुचित वित्त-व्यवस्था होनी चाहिये। राज्य के कार्यों की सीमा राज्य-कोष से निर्धारित होनी है। '**सुदृढ़ राजस्व और सुदृढ़ शासन परस्पर एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। राष्ट्र के कार्यों की सीमा तथा उसकी कार्यक्षमता मुख्यत उसके कोष की शक्ति पर निर्भर करती है।**'* राजस्व अथवा राज वित्त से हमारा अभिप्राय किसी भी सरकारी संस्था अथवा सरकारी सत्ता की वित्तीय व्यवस्था से है। देश की अर्थ व्यवस्था में समस्त सरकारी संस्थायें सम्मिलित रूप से सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) के नाम से पुकारी जाती है, जबकि गैर सरकारी क्षेत्र अथवा निजी क्षेत्र (Private Sector) में व्यक्तियों तथा उनके समूहों द्वारा प्राइवेट रूप से की जाने वाली आर्थिक गतिविधियां सम्मिलित रहती हैं। इसलिये सरकारी क्षेत्र के वित्त से सम्बन्धित सिद्धान्तों समस्याओं और नीतियों के अध्ययन को भी राज वित्त कहा जा सकता है। वास्तव में 'राजस्व' एक विस्तृत शब्द है जिसमें समस्त राजकीय संस्थाओं एवं पदाधिकारियों की वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन सम्मिलित है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने राज वित्त की भिन्न भिन्न परिभाषायें दी हैं। प्रो० फिंडले शिराज (Findlay Shirras) के मतानुसार '**राजस्व उन सिद्धान्तों का अध्ययन है जिसके अनुसार राजकीय पदाधिकारियों के कोषों का एकत्रीकरण एवं व्यय होता है। एक वास्तविक विज्ञान के रूप में इनका सम्बन्ध उन तथ्यों से है जैसा कि वे होते हैं। यह उन वित्तीय घटनाओं के जटिल प्रवाह में खोज करता है जिनमें एकरूपता के कार्यों को नियमों की भांति बनाया**

---

* *'Sound Finance and Good Government are interdependent. The extent of State activity and its efficiency are primarily dependent upon the length of its purse."*

जाना है।" डा० डाल्टन (Dr Dalton) के शब्दों में 'यह राजकीय पदाधिकारियों की आय और व्यय तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध से सम्बन्धित है। राजस्व के सिद्धान्त सामान्य सिद्धान्त हैं जो राजकीय आय-व्यय के विषय में प्रतिपादित किये जाते हैं।" श्री बस्टेबिल (Bastable) के शब्दों में, "राजस्व सार्वजनिक राज्य-अधिकारियों के आय-व्यय, उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा आर्थिक शासन व नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है।',* इस प्रकार स्पष्ट है कि राज वित्त राजकीय संस्थाओं के आय और व्यय का एक अध्ययन है।

राज वित्त का महत्व (Importance of Public Finance) :— प्रत्येक देश की अर्थ व्यवस्था में राज वित्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं —प्रथम, दिन प्रतिदिन राज्य के बढ़ते हुये कार्य तथा द्वितीय, आर्थिक जीवन पर राजकोषीय कार्यवाहियों का प्रभाव। (i) राज्य के बढ़ते हुये कार्य — वर्तमान समय में गहनता और विस्तार दोनों ही दृष्टिकोण से राज्य के कार्य पर्याप्त बढ़ गये हैं। गहनता में वृद्धि (Intensive Increase) राज्य के इन कार्यों में देखी जा सकती है जो राज्य द्वारा प्राचीन समय में भी सम्पन्न किये जाते थे, जैसे—प्रतिरक्षा, कानून व व्यवस्था की स्थापना आदि। अन्तर केवल यह है कि परिवर्तित तकनीकों एवं विधियों के कारण अब ये कार्य पूर्वापेक्षाकृत अधिक गहन और व्यापी हो गये हैं। विस्तार में वृद्धि (Extensive Increase) उन नये कार्यों में देखी जा सकती है जो कि राज्य ने धीरे धीरे अपनाये हैं, उदाहरणार्थ कुछ आवश्यकतायें, जैसे '—यातायात की व्यवस्था आदि। राज्य के कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें पहले वैकल्पिक समझा जाता था, परन्तु अब उन कार्यों को प्रायः अनिवार्य ही माना जाता है, जैसे—जनता के कल्याण के लिये सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्था, कृषि एवं उद्योगों को सरकारी सहायता प्रदान करना आदि। इस प्रकार राज्य तथा राजकीय संस्थाओं के कार्यों में अधिकाधिक वृद्धि के फलस्वरूप उनके व्यय में भी दिन-प्रतिदिन वृद्धि हुई है। यही नहीं, इन कार्यों को पूरा करने के लिये अधिकाधिक धन प्राप्त करने की आवश्यकता एवं तत्सम्बन्धित समस्याओं ने भी जन्म लिया है। अतः इन्हीं सब कारणों से राज-वित्त के अध्ययन का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। (ii) आर्थिक जीवन पर राजकोषीय कार्यवाहियों का प्रभाव :—अनेक प्राचीन अर्थशास्त्रियों तथा प्रो० डी मार्को (De Marco) ने अपनी पुस्तक (First Principles of Public Finance) में इस बात का उल्लेख किया है कि आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि ही राज-वित्त की कार्यवाहियों का एकमात्र कारण है। परन्तु वर्तमान समय में इनकी यह विचारधारा स्वीकार नहीं की जाती। आजकल राज-वित्त की कार्यवाहियाँ केवल आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि के लिये ही नहीं

* "Public Finance deals with expenditure and income of Public Authorities of the State and their mutual relation as also with the financial administration and control" (Bastable)

वरन् अनेक प्रकार से आर्थिक जीवन को प्रभावित करने के लिये भी की जाती हैं। प्रो० ए० पी० लर्नर (A. P Larner) के मतानुसार राज-वित्त के उपायों का मुख्य ध्येय आर्थिक जीवन को वांछित तरीको से एक निश्चित साचे मे ढालना है। राज-वित्त (Public Finance) क्रियोचित वित्त (Functional Finance) का ही दूसरा रूप है अर्थात् राज वित्त के उपायो का महत्व उन कार्यों के कारण ही है जो कि वे अर्थ-व्यवस्था मे सम्पन्न करते हैं। वास्तव मे राज-वित्त की सुविचार पूर्ण कार्यवाहियो तथा उपायों द्वारा किसी भी देश के उत्पादन तथा उपभोग को प्रभावित किया जा सकता है तथा उसके स्तर मे सुधार किया जा सकता है। किसी भी देश के आर्थिक साधनो का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है, यह बहुत कुछ सरकार की राजकोषीय नीतियो से प्रभावित होती है। यही नही, राज-वित्त के उपायो का उपयोग देश मे धन के वितरण की असमानता को परिवर्तित करने मे किया जा सकता है। राज-वित्त की सभी कार्यवाहियो का एक परिणाम यह होता है कि धन *अथवा क्रय शक्ति का हस्तान्तरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग की ओर हो जाता है।* इसके अतिरिक्त राज-वित्त की कार्यवाहियो का उपयोग देश मे आर्थिक स्थिरता बनाये रखने के लिए भी किया जा सकता है। इस प्रकार कुछ तो दिन प्रतिदिन *राज्य के कार्यों म वृद्धि होने के कारण और कुछ इस तथ्य के कारण कि करारोपण* (Taxation), सरकारी व्यय (Governmental Expenditure) तथा इसी प्रकार की अन्य राजकोषीय कार्यवाहियो द्वारा उत्पादन, उपभोग, धन के वितरण तथा *आर्थिक व व्यावसायिक क्रियाओ के स्तर को प्रभावित किया जा सकता है, वर्तमान* समय मे राज-वित्त के अध्ययन का महत्व बहुत अधिक बढ गया है।

भारत मे राज वित्त की विशेषतायें (Characteristics of Public Finance in India) —*हमारे देश मे राज वित्त की प्रमुख विशेषतायें तीन हैं— (1)* **सघीय वित्त व्यवस्था**—सन् १९३५ के सघीय सविधान के अन्तर्गत केन्द्र एव प्रदेशो को कर लगाने के पृथक् पृथक् अधिकार दे दिये गये तथा जिन प्रदेशो की आय, व्यय से कम होती थी उन्हे केन्द्र से *अनुदान देने की व्यवस्था की गई। स्वतन्त्र भारत के* नवीन सविधान मे भी मूलत यही ढाचा अपनाया गया है। इनमे वित्तीय साधनो के विभाजन के तीन मुख्य लक्षण है—(अ) सघ तथा प्रदेशो के बीच आय के साधनो मे *यथासम्भव अधिक से अधिक स्पष्ट भेद कर दिया गया है। (आ) दूसरी विशेषता* यह है कि कुछ कर लगाये और उगाहे तो सघ सरकार द्वारा जाते है परन्तु उनकी रकमें राज्यो के लिए उपलब्ध होती हैं। (इ) इसी प्रकार कुछ कर सघ द्वारा लगाए *और उगाहे जाते है, परन्तु उनकी प्राप्तियाँ* सघ और प्रादेशिक सरकारो के बीच बट जाती हैं। सविधान मे सघ और प्रादेशिक सरकारो के बीच वित्तीय स्थिति मे सन्तुलन करने वाले तीन तत्वो का उल्लेख किया *गया है—(क) कृषि के अतिरिक्त अन्य आय* पर लगने वाले करों *(Income Taxes) तथा सघीय उत्पादन करों* (Union Excise Duties) का सघ और राज्यो के बीच विभाजन की व्यवस्था की गई है। (ख) सघ

सरकार की ओर से राज्यों को सहायक अनुदानों (Grant-in-aids) की व्यवस्था की गई है। ये अनुदान भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) में से उन राज्यों को दिए जाते हैं, जिन्हें सहायता की आवश्यकता होती है। राज्यों को सहायक अनुदान इसलिए भी दिये जाते हैं कि वे परिगणित जातियों (Scheduled Castes) के कल्याण की योजनाओं को कार्यान्वित कर सकें। (ग) संघ सरकार उन करों पर अधिभार (Surcharges) भी लगा सकती है जो राज्य सूची (State List) में होते हैं अथवा जो संघ और राज्यों के बीच बांटे जाने होते हैं। इन अधिकारों से होने वाली प्राप्तियां पूर्णतया संघीय सरकार को ही उपलब्ध होती हैं। (ii) अविकसित राज वित्त व्यवस्था—आर्थिक दृष्टिकोण से अविकसित होने के कारण हमारे देश की राज-वित्त व्यवस्था अपेक्षाकृत बहुत पिछड़ी हुई है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में संघ सरकार, प्रादेशिक सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं की कुल आय देश की राष्ट्रीय आय (National Income) का केवल ११ प्रतिशत होती है, जबकि ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और अमेरिका में सार्वजनिक आय, राष्ट्रीय आय का क्रमश: ३५ प्रतिशत, ३० प्रतिशत और २५ प्रतिशत होती है। वस्तुतः सरकार के कार्यों की सीमा तथा उसकी कार्यक्षमता मुख्यतः उसके कोष पर निर्भर होती है। इसीलिये हमारे देश में राजकोष की सीमितता के कारण संघ सरकार, राज्य सरकारें और स्थानीय संस्थायें अपने कार्यों का सीमित मात्रा में ही पूरा कर पाती हैं। देश की पंचवर्षीय योजनाओं को पूरा करने के लिए हमें विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। हमारे देश की कर प्रणाली (Tax System) बहुत पिछड़ी हुई है। देश में परोक्ष करों (Indirect Taxes) का भार अत्यधिक है। अनुमानतः करों से प्राप्त होने वाली कुछ आय में ८० प्रतिशत भाग परोक्ष करों का है, जबकि अमेरिका आदि देशों में परोक्ष व प्रत्यक्ष दोनों करों द्वारा प्राप्त होने वाली आय लगभग समान ही है। देश में परोक्ष करों की अधिकता सुदृढ़ राज वित्त व्यवस्था के लिये एक अभिशाप के सदृश्य है। विगत नियोजनकाल (Planning Period) में संघ सरकार ने आस्ति कर (Estate Duty), धन कर (Wealth Tax), उपहार कर (Gift Tax), तथा व्यय कर (Expenditure Tax) (यह कर सन् १९६२–६३ के बजट में हटा दिया गया है) आदि प्रत्यक्ष कर लगाये तथा आय कर (Income Tax) की दरों में परिवर्तन किया। इस प्रकार अब देश की कर प्रणाली में परोक्ष करों की प्रधानता कुछ कम हो गई है, परन्तु करों की भारी चोरी (Evasion) को देखते हुये कर पद्धति में कुशलता की अब भी कमी है। (iii) आय के कर-इतर साधनों का अभाव—हमारे देश में राजकोष आय के कर-इतर साधन (Non-tax Resources) अविकसित हैं। भारत में राजकोष आय का केवल १० प्रतिशत भाग कर-इतर साधनों, जैसे—रेल, डाक-तार, सिंचाई के साधनों, सरकारी बैंकों और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से प्राप्त होता है, पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में जिन उद्योगों का विकास किया जा रहा है, उनसे भविष्य में पूर्वापेक्षाकृत अधिक आय होने

की आशा है।

भारत में राज वित्त की प्रवृत्तियां (Trends of Public Finance in India).—**(अ) सन् १९३९ तक राज वित्त की प्रवृत्तियाँ** —(i) ब्रिटिश सरकार की सामान्य अहस्तक्षेपवादी नीति (Laissez Faire Policy) के फलस्वरूप उसकी वित्तीय नीति का मुख्य उद्देश्य भी सुरक्षा के लिये साधन जुटाना रहा। अत बजट का बड़ा भाग प्रतिरक्षा (Defence) और नागरिक प्रशासन (Civil Administration) पर व्यय कर दिया जाता था तथा आर्थिक विकास एव सामाजिक सेवा सबधी कार्यों पर व्यय का प्रतिशत अति-न्यून था। (ii) सरकारी आय के सीमित साधन होने के कारण छोटा व सन्तुलित बजट बनाया जाता था। (iii) प्रत्यक्ष करो म आय कर और मालगुजारी ही मुख्य थे और य भी अधिक प्रगतिशील (Progrssive) नहीं थे। (iv) राज्य को अधिकाँश आय सीमा करा (Custom Duties), उत्पादन कर (Excise Duty) तथा नमक कर (Salt Tax) आदि परोक्ष करो से प्राप्त हाती थी जिनका भार निर्धन जनता पर अधिक पडता था। (v) इस समय राजकीय आय के कर-इतर साधन अविकसित थे। **(आ) द्वितीय महायुद्धकाल मे राज वित्त की प्रवृत्तियाँ** —(i) युद्धकाल म प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय मे अत्यधिक वृद्धि हुई। प्रतिरक्षा का व्यय सन् १९३९-४० म ४९ ५४ करोड रु० से बढकर सन् १९४४-४५ म ४५६ २२ करोड रु० हो गया। इस व्यय की व्यवस्था करारोपण या ऋणो द्वारा न करके मुख्यत मुद्रा प्रसार (Inflation) द्वारा की गई। फलत देश म महगाई बढ गई। (ii) युद्ध सम्बधी व्यय की पूर्ति के लिए आय कर की दरें बढा दी गई तथा अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profit Tax) लगाया गया। फलत कर प्रणाली पहले से अधिक आरोही (Progressive) बन गई। (iii) इस अवधि म कर-इतर स्रोतो म विशेषकर रेलो से प्राप्त राजकीय आय म वृद्धि हुई। (iv) युद्धकाल मे सरकारी ऋण की मात्रा मे भी वृद्धि हुई। सार्वजनिक ऋण की मात्रा सन १९३९-४० मे १,२०५ ७६ करोड रु० से बढकर सन् १९४४-४५ म २,९८२ ३८ करोड रु० हो गई। (v) इस अवधि मे भारत ने अपना समस्त स्टर्लिंग ऋण चुका दिया और भारत, ब्रिटेन का एक ऋणी देश से 'साहूकार देश' बनगया। **(इ) युद्धोत्तरकाल मे राज वित्त की प्रवृत्तियाँ** —(i) सन् १९४७ म स्वतन्त्रता प्राप्ति और देश के विभाजन के कारण एक ओर, भारत सरकार का लोकतन्त्रीय प्रशासन व राजनैतिक सम्बन्धो तथा प्रतिरक्षा पर अतिरिक्त व्यय करना पडा और दूसरी ओर पाकिस्तान से आने वाले विस्थापितो की सहायता तथा पुनर्वास पर भी भारी व्यय करना पडा। (ii) २६ जनवरी सन् १९५० को नवीन सविधान लागू किया गया जिसके अन्तर्गत *निर्देशक सिद्धान्तो के अनुरूप कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना* का लक्ष्य रखा गया। फलत प्रतिरक्षा और और प्रशासनिक व्यय के अनुपात म कमी आई तथा समाज सेवा व विकास कार्यों पर व्यय का प्रतिशत बढ गया। (iii) कराधान जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) की सन् १९५३-५४ की

रिपोर्ट के अनुसार इस समय भी कुल सार्वजनिक व्यय का ६० प्रतिशत भाग प्रतिरक्षा, सामान्य प्रशासन व ऋण सेवा आदि विकास-इतर मदों (Non-development Items) पर व्यय होता है और केवल २० प्रतिशत सामाजिक सेवाओं (Social Services) पर तथा २० प्रतिशत आर्थिक विकास (Economic Development) पर व्यय किया जाता है। (iv) विगत वर्षों में सार्वजनिक आय में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, परन्तु कुल सार्वजनिक आय का अनुपात राष्ट्रीय आय की तुलना में लगभग पूर्ववत है। इस समय युद्ध-पूर्वकाल की तुलना में कुल राजकीय आय, राष्ट्रीय आय और साधारण मूल्यों में लगभग चौगुनी वृद्धि हुई है। अत यह स्पष्ट है कि विगत दो-तीन दशकों (Decades) में राष्ट्रीय-कर प्रयत्नों में औसतन कोई वृद्धि नहीं हुई और राजकीय आय में वृद्धि अधिकांशत मौद्रिक आय (Money Income) में स्फीतिकारक वृद्धि के फलस्वरूप हुई है। (v) राजकीय आय का अधिकांश भाग अब भी पहले की तरह कर-स्रोतों (Tax Resources) से प्राप्त होता है। इस समय वस्तु करों (Commodities Taxes) और उपभोग पर पड़ने वाले करों का भारतीय कर प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थान है। (vi) युद्धोत्तरकाल में प्रत्यक्ष और परोक्ष करों (Direct and Indirect Taxes) की दृष्टि से भारतीय कर संरचना (Indian Tax Structure) में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। युद्धोत्तर-काल में अतिरिक्त लाभ कर (Excess Pr fit Tax) के हटाने, आय करों में कमी तथा बिक्री करों (Sales Taxes), सीमा करों (Custom Duties) और केन्द्रीय उत्पादन करों (Central Excise Duties) की दर और क्षेत्र-वृद्धि के फलस्वरूप कर-संरचना में परोक्ष करों का भाग अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

राजस्व का प्रबन्ध

(Financial Administration)

जिस प्रकार किसी एक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी आय-व्यय का हिसाब ठीक-ठीक रखे तथा उसकी समय-समय पर जाँच-पड़ताल करता रहे ताकि उसको अपनी आर्थिक स्थिति का ज्ञान हो सके, ठीक इसी प्रकार सरकार के लिये भी हिसाब को ठीक-ठीक रखना तथा उसकी जाँच-पड़ताल करना सदा आवश्यक है। हमारे देश में सार्वजनिक वित्त पर निम्नलिखित चार संस्थाओं का नियन्त्रण पाया जाता है (i) व्यवस्थापक सभा (Legislature) —यह सभा शासन विभाग (Executive Government) को नए कर लगाने, वर्तमान करों की दर बढ़ाने, किसी मद पर खर्च करने, किसी कार्य के लिये ऋण लेने आदि की आज्ञा देती है। जाँच विभाग द्वारा हिसाब की जाँच-पड़ताल की जाती है और वह अपनी रिपोर्ट इस सभा के सामने प्रस्तुत करता है। यह स्मरण रहे कि नये कर लगाने, पुराने करों की दर में वृद्धि करने आदि का प्रस्ताव शासन विभाग द्वारा रक्खा जाता है, सभा तो केवल इन प्रस्तावों को या तो मन्जूर करती है या रद्द कर देती है परन्तु स्वयं सभा अपनी निजी ओर से इस प्रकार से करों को घटाने-बढ़ाने का कार्य नहीं कर सकती। सभा अपना यह नियन्त्रण का कार्य दो समितियों

द्वारा करती है–(क) अनुमान समिति, और सार्वजनिक हिसाब समिति । अनुमान समिति (Estimates Committee) यह देखती है कि सभा द्वारा स्वीकृत खर्च मितव्ययिता से किया गया है या नही और सावजनिक हिसाब समिति इस बात को देखती है कि सार्वजनिक व्यय उचित ढग से किया गया है या नही। वास्तव मे दोनो समितियो के कार्य एक दूसरे से मिलते हैं। (ii) शासन विभाग (Executive Government) :—यह विभाग कर्मचारियो का वेतन, पेंशन तथा छुट्टी आदि निर्धारित करता है, राजकीय अधिकारियो के हिसाब की जाच करने की शक्ति निश्चित करता है। यही नही, यह विभाग अर्थ सम्बन्धी तमाम नीति तय करता है। आजकल *मन्त्री मण्डल की एक अर्थ-समिति (Economic Committee of the Cabinet)*, भी बनाई गई हैं जिसमे वित्त मन्त्री (Finance Minister) के अतिरिक्त अन्य पाच ऐसे मन्त्री भी होते हैं जो वित्त से सम्बन्धित होते हैं। यह समिति खर्च के प्रस्तावो की जाच-पडताल करके इनको स्वीकृत करती है। (iii) **वित्त मन्त्री-मण्डल** (Finance Ministry) —यह मण्डल इस बात को देखता है कि शासन के विभिन्न विभाग मितव्ययिता से व्यय कर रहे है या नही, कि ये विभाग उतना ही खर्च कर रहे हैं या नही, जितना कि उनके लिये मन्जूर हुआ । यह मण्डल विभिन्न विभागो से प्राप्त खर्च की रिपोर्ट की जाच पडताल करता है और आवश्यकता पडने पर विभागो को सलाह भी देता है। यह मण्डल विभिन्न विभागो के खर्चों मे सामजस्य स्थापित करता है और यदि कोई विभाग दूसरे विभाग की अपेक्षा उसी प्रकार के कार्य को अधिक मूल्य पर कर रहा है, तब यह मण्डल उस विभाग को कम व्यय करने के लिये सलाह देता है। जो कार्य केन्द्र म वित्त मन्त्री मण्डल करता है, प्रान्तो म इसी प्रकार का कार्य वित्त विभाग (Finance Department) द्वारा किया जाता है। यह अवश्य है कि प्रान्तो मे इस विभाग का राज्य की आय पर कुछ सीमित नियन्त्रण है क्योंकि मालगुजारी (Land Revenue) के लागू करने, वसूल करने, कम अधिक करने व छूट आदि देने का अधिकार आय विभाग (Revenue Department) का होता है। इस तरह इस विभाग का रजिस्ट्री, जगलात, पानी की दर तथा आबकारी आदि पर भी बहुत कम नियन्त्रण होता है। (iv) **जाच विभाग** (Audit Department) —यह विभाग शासन विभाग के खर्च की जाच-पडताल करता है और इसकी त्रुटियो को व्यवस्थापक सभा (Legislature) के सम्मुख रखता है। किसी गलती के पाये जाने पर नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) इसे सार्वजनिक हिसाब समिति (Public Accounts Committee) के सामने रखता है। इस तरह नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक व्यवस्थापक सभा के लिये कार्य करता है। इसके अतिरिक्त यह शासन विभाग की ओर से भी कार्य करता है, क्योंकि यह इस बात की जाच-पडताल करता है कि सावजनिक व्यय के सब अधिकारी सरकार की खर्च सम्बन्धी सब आज्ञाओ का ठीक ठीक पालन कर रहे है या नही। इन अधिकारियो के कार्यों

की गलती यह निरीक्षक सरकार की नजरों में ला देता है।

'बजट' शब्द का अर्थ (Meaning of the Term Budget) :—यह शब्द एक फांसीसी शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है, 'चमड़े का एक छोटा सा थैला।' आजकल इस थैले के ऊपर ध्यान न देकर, इसमें बन्द वस्तु पर ही ध्यान दिया जाता है—वह वस्तु वे आर्थिक प्रस्ताव होते हैं जो वित्त मन्त्री प्रतिवर्ष लोक सभा मे प्रस्तुत करता है। अत बजट किसी वर्ष में होने वाली आय तथा व्यय का विवरण होता है। भारतीय संविधान (Constitution) मे ससद के दोनो सदनो (Houses) के सम्बन्ध में एक 'वार्षिक आर्थिक विवरण' (Annual Financial Statement) का उल्लेख है। यह विवरण ही बजट कहलाता है।

बजट का महत्व (Importance of the Budget) —आधुनिक समाज की आर्थिक व सामाजिक उन्नति बजट द्वारा ही की जा सकती है। उत्पादन मे वृद्धि और धन के असमान वितरण को समान करना बजट द्वारा ही सम्भव है। कर के प्रस्तावो से रुपया प्राप्त किया जाता है और इसे उद्योग व कृषि को आर्थिक सहायता देकर व्यय किया जाता है। जबकि धनी वर्ग से 'कर' के रूप में रुपया लेकर निर्धनो की शिक्षा, चिकित्सा आदि पर व्यय किया जाता है, तब इससे समाज मे धन के वितरण की असमानता बहुत कुछ दूर हो जाती है। सार्वजनिक ऋण तथा कर प्रस्तावो से देश म फैली हुई मुद्रा-स्फीति (Inflation) की बुराई को बहुत कुछ कम किया जा सकता है। इस तरह सरकार द्वारा देश की आवश्यकता से अधिक क्रय शक्ति को वापिस लिया जा सकता है। बजटो द्वारा एक लोकहितकारी राज्य (Welfare State) स्थापित करने का उद्देश्य पूरा किया जा सकता है क्योंकि सरकार बजटों द्वारा जनता से रुपया लेकर उन्ही की भलाई के लिये व्यय करती है। यह अपनी बजट नीति इस प्रकार की निर्धारित करती है कि जहा तक हो सके समाज मे सब व्यक्तियों को रोजगार मिल जाए तथा जनता उचित मात्रा म वस्तुओ का उपभोग कर ले। यह स्पष्ट है कि यदि किसी देश मे बिना बजट बनाये रुपया प्राप्त तथा व्यय किया जाए तब इससे देश की आर्थिक दशा ग्रस्त व्यस्त हो सकती है तथा इसका शासन पर भी बुरा प्रभाव पड सकता है। बजट के अभाव मे प्रत्येक विभाग दूसरे विभाग से अधिक खर्चा करने का प्रयत्न करेगा और इसी दृष्टि से सदनो (Houses) के सामने खर्च के बड़े ऊचे अनुमान (Estimates) रखेगा। सन् १६२१ से पहले अमरिका मे ऐसा ही होता था क्योंकि उस समय उस देश म कोई बजट नही बनाया जाता था वरन् प्रत्येक विभाग अपना-अपना अनुमान (Estimate) कांग्रेस के सामने स्वीकृति के लिये प्रस्तुत करता था। इसलिए बजटो का बनाना आवश्यक है क्योंकि तब ही व्यवस्थापक सभा (Lagislature) शासन विभाग (Executive Government) के कार्यों पर नियन्त्रण रख सकती है।

बजटों की कुछ बातें (1) आय और व्यय के मद दो प्रकार के होते हैं :—(क) पूंजीगत (Capital Heads) और (ख) आगम (Revenue Heads)। बजट

मे केवल आगम आय और व्यय तथा ऐसा पूंजीकृत व्यय, जो अनुत्पादक होता है सम्मिलित किया जाता है। इस तरह बजट की बचत व घाटा केवल आगम आय और व्यय के सम्बन्ध मे देखा जाता है परन्तु जहाँ तक हो बजट पूंजीकृत तथा आगम आय और व्यय के सम्बन्ध मे भी सतुलित होना चाहिए। जिस वर्ष के लिये बजट बनाया जाता है उस बजट मे उसी वर्ष की आय और व्यय की मद दिखलाई जाती हैं अर्थात् बजट म वही आय और व्यय सम्मिलित किये जाते है जिनको कि रुपये-पैसे के रूप म उस वर्ष म लिये व दिये जाने की आशा है। अत बजट बहीखाते के आधार (Book keeping Basis) पर नही बनाये जाते हैं वरन् ये द्रव्य आधार (Cash Basis) पर बनाए जाते हैं। (ii) बजट म सब प्रकार की आय और व्यय सम्मिलित होनी चाहिये। ऐसा नही करने पर देश की आर्थिक स्थिति का ठीक ठीक अनुमान नही लगाया जा सकेगा। परन्तु कभी-कभी विशेष मदो के लिये पृथक से बजट बनाया जा सकता है, जैसे—रेलवे, दामोदर घाटी योजना आदि। (iii) बजट मे सम्मिलित आय और व्यय की रकम कुल (Gross) होती है। एक ओर, वह रकम दिखलाई जाती है जो किसी वर्ष प्राप्त होने की आशा है और दूसरी ओर, वह सब खर्च होता है जो कि इस आय को एकत्र करने म व्यय होता है। भारत मे मालगुजारी और पूंजीकृत आय (Capital Income) को वास्तविक (Net) दिखाया जाता है परन्तु इंगलैंड मे ऐसा नही होता। (iv) बजट म लिखे गये अनुमान जहाँ तक हो सके, ठीक-ठीक होने चाहियें। परन्तु वास्तव म विभिन्न विभाग के अधिकारी विभाग की आमदनी कम और व्यय अधिक दिखाते है। भारत मे तो ये अनुमान ठीक नही बन पाते, क्योकि देश म ठीक-ठीक आकडो का बहुत अभाव है जिससे वास्तविक बजट (Actual Budget) और अनुमानित बजट (Estimated Budget) मे बहुत अन्तर होता है। ठीक-ठीक अनुमान बनाने के दो कारण हैं (क) ताकि करदाता से आवश्यकता से अधिक 'कर' न लिया जाए और (ख) शासन विभाग अपनी आवश्यकता से अधिक धन नही ले, क्योकि यदि ऐसा हो गया तब अन्य विभागो को अपनी आवश्यकताओ से कम धन मिलेगा। (v) बजट साधारणता एक वर्ष के लिये ही बनाया जाता है। (vi) बजट मे जो व्यय स्वीकृत किया जाता है वह केवल एक वर्ष के लिये ही होता है और वर्ष समाप्त होने पर किसी विभाग को उस रुपये को खर्च करने का अधिकार भी समाप्त हो जाता है। (vii) किसी राष्ट्र के प्रत्येक प्रदेश को अनुमान उसी आधार पर लगाना चाहिये जिस आधार पर कि राष्ट्र का अनुमान लगाया गया है ताकि अनुमान का आधार एकसा हो जान पर उनकी आपस म तुलना सरलता से की जा सके तथा इन पर आर्थिक नियन्त्रण सुगमता से किया जा सके।

बजट का तैयार करना (Preparation of Budget)—इस सम्बन्ध मे तीन प्रश्न मुख्य हैं —(i) बजट तैयार कौन करता है ? (ii) बजट कब तैयार किये जाते हैं ? (iii) बजट कैसे तैयार किया जाता है ?

(i) **बजट कौन तैयार करता है ?** —शासन विभाग (Executive Gover-

ment) द्वारा ही ये बजट तैयार किये जाते हैं क्योंकि यही विभाग धन को प्राप्त करता है तथा इसको व्यय करता है। यह विभाग इस बात को भली प्रकार समझता है कि विभिन्न मदों से कितनी और अधिक आय प्राप्त की जा सकती है और किस मद पर और कितना अधिक व्यय किया जाना उचित होगा। इन कारणों से प्राय सब ही देशों में शासन-विभाग द्वारा बजट बनाया जाता है। (ii) **बजट कब तैयार किया जाता है?**—हमारे देश में आय बजट तैयार करने का कार्य सितम्बर मास से प्रारम्भ होता है। चूंकि बजट का अनुमान काफी समय पूर्व से ही लगाया जाता है, इसलिए हर बात का ठीक ठीक अनुमान लगाना एक कठिन कार्य होता है। (iii) **बजट कैसे तैयार किया जाता है?** —(अ) स्थानीय अधिकारी अपने विभाग का अनुमान लगाते हैं तथा इसे उच्च कार्यालय को भेज देते हैं। इस प्रकार के अनुमानों के प्रथम भाग में ये अवसर वर्तमान साधनों से प्राप्त आय और वर्तमान सधानों पर आशातीत (Expected) व्यय दिखाते है और दूसरे भाग में नई-नई योजनाओं पर होने वाले व्यय को दिखाते हैं। इसी भाग में वे मद दिखाए जाते हैं जिनको वर्तमान आय में छोड दिया गया है। आय-व्यय का ब्योरा (Statement) एक फार्म में भरा जाता है। इस फार्म में प्राय पांच खाने होते हैं। (क) पिछले वर्ष के वार्षिक आय व व्यय, (ख) चालू वर्ष में स्वीकृत आय-व्यय के अनुमान, (ग) चालू वर्ष में दोहराये हुये आय व व्यय के अनुमान, (घ) आने वाले वर्ष बजट के अनुमान, (ड) चालू तथा पिछले वर्ष की वास्तविक आय व व्यय जो बजट के समय तक मालूम हो जाती है। दूसरे भाग में यह बताया जाता है कि नई-नई योजनाओं पर कितना खर्च होने की सम्भावना है। जब ये सूचनायें विभाग के प्रधान कार्यालय को पहुंच जाती हैं, तब प्रधान कार्यालय तमाम जिलों से प्राप्त आय-व्यय के अनुमानों को जोडकर अपने विभाग की कुल आय व व्यय का अनुमान लगा लेते हैं। आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके, ये प्रधान कार्यालय अपने अनुमानों को नवम्बर मास तक अर्थ-विभाग (Finance Department) को भेज देते हैं। (आ) अनुमानों के प्राप्त होने पर अर्थ-विभाग बजट तैयार करता है। नए कर को लगाना, किसी वर्तमान कर को कम करना, बचे हुए धन को खर्च करना आदि अनेक बातों का निर्णय सरकार द्वारा किया जाता है। इन निर्णयों को करने के पश्चात् ही सभाओं (Legislatures) में बजट प्रस्तुत करने के लिए बजट तैयार किया जाता है।

बजट का पास होना—बजट तैयार होने पर यह फरवरी के अन्त या मार्च *के प्रारम्भ में लोकसभा अथवा संसद के दोनों सदनों में पेश किया जाता है।* वित्त मन्त्री बजट को पेश करता हुआ भाषण देता है जिसमें वह पहले पिछले १०—११ महीनों का हिसाब बताता है और तत्पश्चात् बचे हुए एक-दो महीनों की आय व व्यय का विवरण देता है और अन्त में आने वाले वर्ष के अनुमानों को प्रस्तुत करता है। वह नये नए करों तथा पूंजी-व्ययों का प्रस्ताव भी रखता है। बजट तथा वित्त-मन्त्री के बजट-भाषण (Budget Speech) की एक कापी सदन के प्रत्येक

सदस्य को दे दी जाती है। जिस दिन बजट पेश किया जाता है, उस दिन इस पर बहस नहीं की जाती है वरन् बहस के लिये दिन निश्चित कर दिया जाता है। यह स्मरण रहे कि व्यय के कुछ ऐसे मद होते हैं जिस पर सदनो के सदस्यो को अपनी राय प्रकट करने का अधिकार नही होता है। इस प्रकार के खर्च वे होते हैं जो भारत की सचित निधि (Consolidated Fund of India) मे से किये जाते हैं, जैसे—राष्ट्रपति का वेतन, भत्ते तथा दफ्तर से सम्बन्धित खर्चे, राज्य सभा के अध्यक्ष, उप-अध्यक्ष तथा लोकसभा के स्पीकर व उप-स्पीकर का वेतन आदि। दो-तीन दिन बजट पर बहस होती है। इस समय न तो कोई प्रस्ताव रक्खा जा सकता है और न बजट पर ही कोई राय ली जाती है। बहस के बाद अनुदान (Grant) की माँग पर राय ली जाती है। [यह माग वही मन्त्री प्रस्तुत करता है जिसका उससे सम्बन्ध होता है। यहाँ पर भी प्रत्येक अनुदान की माग पर बहस करने के लिये कुछ समय निश्चित कर दिया जाता है और यदि निर्धारित समय मे बहस पूरी नही होने पाती, तब अध्यक्ष उस बहस को बन्द करने का आदेश दे देता है जिससे बहुत से मद ऐसे होते हैं कि उनको बिना बहस के ही पास करने पडते हैं। सदनो के सदस्यो को यह अधिकार होता है कि वह कटौती के प्रस्ताव (Cut Motions) पेश कर सकते हैं। ये प्रस्ताव या तो खर्च मे मितव्ययिता लाने केलिये या यह जानने के लिए कि किसी मद पर जो खर्च प्रस्ताव रक्खा गया है, वह ठीक है या नही, रक्खे जाते हैं। प्राय: कटौती के प्रस्तावो का उद्देश्य दूसरा होता है और यह प्राय राजनैतिक होता है। इस प्रकार के प्रस्तावो द्वारा सरकार की नीति की कडी आलोचना की जाती है। वर्ष के समाप्त होने से पहले ही यदि सरकार को किसी मद पर खर्च करने के लिये और रुपयो की जरूरत पडती है, तब इसके लिये सरकार सदनो मे अनुपूरक माँग (Supplementary Damands) पेश करती है। इन माँगो का अनुमान बजट की तरह ही लगाया जाता है, तथा इन्हें भी बजट की तरह ही पास कराना पडता है। जबकि सरकार किसी ऐसे मद पर खर्च करना चाहती है, जिसे किसी माँग मे सम्मिलित नहीं किया जा सकता, परन्तु व्यय का मद इतना आवश्यक है कि सरकार ससद की बिना स्वीकृति से उस पर व्यय नही करना चाहती, तब ऐसे समय मे सरकार एक रुपये की एक सांस्कृतिक माँग (Token Demands) पेश करती है। इस माँग को पेश करते समय, सरकार पृथक से एक विवरण मे यह भी बताती है कि उक्त माँग को पूरा करने के लिये क्या क्या साधन होगे ? जब कभी किसी मद पर स्वीकृत रकम से अधिक व्यय हो जाता है, तब इसे उचित बताने के लिए सरकार अनुदान (Excess Grant) पद्धति का सहारा लेती है। इस तरह की माँगो को सदनो में पेश करने से पहले इन्हें सावजनिक हिसाब समिति (Public Accounts Committee) के सामने रक्खा जाता है। इसी समिति की स्वकृति हो जाने पर इन खर्चों को अगले वर्ष के खर्चों मे पास कर [ि]या जाता है।

विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) —इस विधेयक का उद्देश्य

पास की हुई माँगों को कानूनी रूप देना तथा संचित निधि (Consolidated Fund) में से धन निकालने का अधिकार देना है। जब बजट की माँगों पर राय ले ली जाती है, तब ही इस प्रकार का विधेयक पेश किया जाता है। परन्तु यह विधेयक प्रारम्भिक माँगों, अनुपूरक मांगों आदि के लिये पेश किया जाता है और इसी विधेयक द्वारा पिछले वर्ष में स्वीकृति से अधिक खर्च किये गये रुपये को कानूनी रूप दिया जाता है। चूँकि इस प्रकार विधेयक में संशोधन का प्रस्ताव नहीं रक्खा जा सकता, इसलिए सदनों द्वारा पास की गई माँगों में कोई तबदीली नहीं की जा सकती है। इस विधेयक के पेश होने का यह लाभ है कि सदस्यों को सुझाव देने का एक और अवसर मिल जाता है।

आपाती व्यय (Emergent Expenditure)—नये विधान के अनुसार हमारे देश में एक आपाती कोष (Contingency Fund) है जिसमें से आवश्यकता पड़ने पर धन खर्च किया जा सकता है। तत्पश्चात् सभा (Legislature) से इस व्यय की स्वीकृति ले ली जाती है और सभा इस मन्जूरी को देने के अतिरिक्त सरकार को संचित निधि (Consolidated Fund) में से धन निकालने की आज्ञा भी दे देती है।

द्रव्य बिल और अर्थ बिल में भेद (Distinction between Money Bill and Finance Bill) —सरकार 'कर' के प्रस्तावों को एक अर्थ-बिल के रूप में पेश करती है। ये बिल केवल केन्द्र में ही पेश किए जाते हैं, परन्तु प्रान्तों में नहीं पेश किये जाते। ऐसे बिलों के प्रस्तावित करों को व्यवस्थापिका सभा (Legislature) घटा तो सकती है, परन्तु इनमें वृद्धि नहीं कर सकती और न वह नये करों का प्रस्ताव ही रख सकती है। अर्थ-बिल तथा द्रव्य बिल में हमारे देश में कुछ भेद हैं। यदि अर्थ बिल में कर और व्यय के अतिरिक्त बातें सम्मिलित होती हैं, तब द्रव्य बिल में केवल कर और व्यय के सम्बन्धी प्रस्ताव ही होते हैं। द्रव्य बिल के लिए अध्यक्ष के सर्टीफीकेट (Certificate) की आवश्यकता होती है और कोई बिल द्रव्य-बिल है या अर्थ-बिल है इसका निर्णय अध्यक्ष ही करता है और उसके निर्णय को कोई चुनौती नहीं दे सकता है। अर्थ-बिल पेश करने के लिये राष्ट्रपति की सिफारिश की बहुत आवश्यकता होती है। दोनों प्रकार के बिल लोक सभा में पेश किये जाते हैं। द्रव्य बिल जब लोक-सभा द्वारा पास कर दिया जाता है, तब वह राज्य सभा (Council of State) के पास भेज दिया जाता है, यदि राज्य सभा उसे उसी रूप में पास कर दे जिस रूप में लोक सभा ने पास किया है, तब तो कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती, परन्तु यदि राज्य सभा इसमें कोई संशोधन करना चाहती है, तब इसे इस बिल को, संशोधन पर विचार करने के लिए, लोक सभा को वापिस भेजना पड़ता है। यदि लोक सभा इन संशोधनों को मान लेती है, तब तो कोई बात नहीं होती। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि लोक सभा इन संशोधनों को मान ही ले। यदि ये संशोधन नहीं माने जाते हैं, तब भी बिल पास हो जाता है। परन्तु अर्थ बिल के सम्बन्ध में ऐसा

रहती है और चू कि राजस्व उत्पत्ति पर निर्भर रहता है, इसलिए जब कभी वर्षा की कमी के कारण या अन्य कारणों से कृषि में उत्पत्ति कम होती है, तब राज्य की विशेष तौर से प्रान्तों की आमदनी बहुत कम हो जाती है। इसलिये अनिश्चित मानसून बजट का हिसाब लगाने में भारी बाधा डालता है जिससे भारतीय बजट को मानसून में जुआ खेलना' कहा जाता है (Indian Budgets are a gamble in the Monsoons)। वर्षा के उचित न होने पर सरकार को न केवल लगान माफ करना पड़ता है, बल्कि तकावी ऋण तथा लगान-वापसी के रूप में आर्थिक सहायता देनी पड़ती है। जब कभी अधिकांश देशवासियों की क्रय शक्ति घट जाती है, तब इस का रेलों से आमदनी, आयातों तथा साधारण व्यापार पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। (ii) ग्रामों की अधिकता—भारत में लगभग ८० प्रतिशत व्यक्ति गांवों में रहते हैं। प्राय गाँव वाले आस-पास उत्पन्न हुई वस्तुओं का उपयोग करते हैं। नमक, दियासलाई, मिट्टी का तेल व शराबें आदि कुछ ही ऐसी वस्तुएं हैं जिन्हें उन्हें मगाना पड़ता है। अत सरकार को इससे आबकारी कर (Excise Duty) के रूप में बहुत कम आमदनी प्राप्त होती है। इसके विपरीत यातायात व सार्वजनिक स्वास्थ्य के रूप में सरकार का बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। इस प्रकार गाँव वाले सरकारी कोष को बहुत कम अंशदान देते हैं परन्तु अपेक्षाकृत इन पर व्यय बहुत ज्यादा होता है। (iii) निर्धनता—हमारे देशवासी बहुत निर्धन हैं। संसार के कुछ देशों को छोड़कर भारत की सबसे कम प्रति व्यक्ति आय है। इस निर्धनता का प्रभाव सरकार की आमदनी पर पड़ना स्वाभाविक ही है। निर्धनता के कारण देशवासियों की कर देय शक्ति (Taxable Capacity) भी बहुत कम है। यही कारण है कि भारत सरकार बहुत से राष्ट्र निर्माणकारी कार्यों पर पर्याप्त मात्रा में व्यय नहीं करने पाती है। (vi) धन का असमान वितरण—भारत में धन के वितरण में बहुत असमानता के कारण ही आय-कर अधिकतर केवल बड़ी-बड़ी आय वाले व्यक्तियों से ही प्राप्त होता है। (v) केन्द्रीय शासन प्रणाली—बहुत समय से भारत में केन्द्रीय शासन प्रणाली रही है जिससे देशवासी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा किए जाने के इच्छुक रहते हैं। इसी कारण सार्वजनिक व्यय के विस्तार की बहुत आवश्यकता है।

अत. भारतीय सार्वजनिक राजस्व व्यवस्था पर ग्राम, कृषि-व्यवसाय तथा इस की अनिश्चितता, देश की निर्धनता, धन का असमान वितरण तथा केन्द्रीय शासन-प्रणाली आदि का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

४०

संघीय वित्त-व्यवस्था

(Federal Finance System)

सघीयवाद का अर्थ (Meaning of Federalism)—सघात्मक राज्य का सर्वप्रमुख लक्षण यह है कि इसमे सार्वजनिक कार्य सत्ताओ के दो वर्गों के बीच मे विभक्त होता है अर्थात् एक ओर केन्द्रीय अथवा सघीय सरकार तथा दूसरी ओर इकाइयों, राज्यो अथवा प्रान्तो के बीच। जहा तक उनके अपने कार्यों और अधिकार क्षेत्रो का सम्बन्ध है, सत्ताओ के ये दोनों ही वर्ग स्वतन्त्र अथवा न्यूनाधिक रूप मे स्वतन्त्र होते हैं। सत्ताओ के इन दोनों वर्गों के बीच कार्य विभाजन का मुख्य आधार सामान्यत यह होता है कि जो कार्य सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये महत्वपूर्ण होते हैं अथवा सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए प्रभावशाली ढग से सम्पन्न किये जा सकते हैं, वे कार्य केन्द्रीय सरकार को सौंप दिये जाते हैं तथा जो कार्य स्थानीय आधार पर अधिक महत्वपूर्ण रीती से सम्पन्न किये जा सकते हैं अथवा जिन कार्यों का स्थानीय (Local) अथवा क्षेत्रीय (Regional) महत्व अधिक होता है, वे कार्य इकाइयो अथवा राज्यो को सौंप दिये जाते हैं। सघात्मक राज्य मे जिस प्रकार कार्य विभाजन होता है, उसी प्रकार कर लगाने, व्यय करने तथा ऋण लेने के अधिकारो का भी सघ और राज्यो के बीच विभाजन किया जाता है। इस प्रकार सघीय वित्त-व्यवस्था मे सघ और राज्यो के वित्तीय सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है तथा तत्सम्बधी सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं। सघीय वित्त की दो समस्यायें प्रमुख होती हैं। सर्वप्रथम इस बात का निर्णय करना होता है कि दोनों प्रकार की सत्ताओ म से प्रत्येक को सरकारी आय के कौन-कौन से साधन सौंपे जायें जिससे कि वे अपने कार्यों को सुचारू रूप से पूरा कर सकें। सघीय वित्त की दूसरी समस्या यह है कि कुछ ऐसा सामजस्य (Co-ordination) स्थापित किया जाये जिससे कि दोनो सत्ताओ के बीच धन की कमियो (Shortages) तथा बेशियो (Surpluses) को कम किया जा सके।

सघीय वित्त व्यवस्था के निर्देशक सिद्धान्त (Guiding Principles of Federal Finance System) —सघीय वित्त-व्यवस्था मे साधनो के विभाजन तथा सामन्जस्य (Adjustment) स्थापना के लिये कुछ मुख्य निर्देशक सिद्धान्त इस प्रकार है—(1) स्वतन्त्रता (Independance) —सघीय वित्त-व्यवस्था म

प्रत्येक सरकार को स्वतन्त्र वित्तीय अधिकार प्राप्त होने चाहियें अर्थात् प्रत्येक सरकार को आय के पृथक् पृथक साधन प्राप्त होने चाहियें और प्रत्येक को कर लगाने, व्यय करने तथा उधार लेने के सम्बन्ध मे पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहियें जिससे कि वे अपने कार्यों को सुचारू रूप से सम्पन्न कर सकें। (ii) एकरूपता—(Uniformity)—संघ की प्रत्येक इकाई को संघीय व्यय के लिये समान रूप से अंशदान देना चाहिये। अन्य शब्दों मे, संघीय करो की अदायगी के सम्बन्ध में किसी एक इकाई अथवा राज्य के व्यक्तियों को अन्य राज्यों के व्यक्तियों की अपेक्षा कोई विशेष सुभीता (Preferance) नहीं मिलना चाहिये। (iii) पर्याप्तता (Adequacy)-प्रत्येक को सौंप जाने वाले वित्तीय साधन उन कार्यों के लिये पर्याप्त होने चाहियें जिन्हें कि उसे पूरा करना है। यह पर्याप्तता केवल चालू आवश्यकताओं के लिये ही नहीं वरन् भावी आवश्यकताओं के लिये भी होनी चाहिये। अत केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच सरकारी आय का विभाजन इस प्रकार होना चाहिये कि जिससे (क) केन्द्र को उसकी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यथेष्ट मात्रा में धन उपलब्ध हो जाये तथा साथ ही साथ आकस्मिक संकट काल के लिये पर्याप्त मात्रा में साधन मिल जायें, (ख) राज्य सरकारों को सामान्य व्यय के लिये तथा राष्ट्र निर्माण सेवाओं, जैसे—शिक्षा, स्वास्थ, उद्योग व कृषि आदि के सामान्य विकास के लिये अतिरिक्त तथा अधिकाधिक साधन मिल जायें और (ग) पिछले अनुभव के आधार पर तथा परिवर्तित परिस्थितियों मे आय के बटवारे मे आवश्यक परिवर्तन किया जा सके अर्थात् देश का वित्तीय ढाचा पर्याप्त लोचदार (Elastic) होना चाहिये जिससे कि बदलती हुई औद्योगिक एवं आर्थिक दशाओं के अनुरूप ही उसमें भी हेर फेर किया जा सके। (iv) प्रशासनिक उपयुक्तता (Administrative Efficiency) —संघीय वित्त व्यवस्था का यह सिद्धान्त होना चाहिये कि वित्तीय प्रशासन में कुशलता बनी रहे तथा करदाताओं का हित सुरक्षित रह सके। कर इस प्रकार लगाये जाने चाहियें कि उद्योग तथा व्यापार पर उनका बुरा प्रभाव न पड़े, करों की चोरी (Evasion) कम से कम हो तथा उनके अत्यधिक केन्द्रीयकरण के कारण स्थानीय प्रेरणा तथा उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी न आए। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि जो राज्य जिस कर को लगाए और वसूल करे वही उसकी आय का भी उपयोग करे। ऐसा न होने पर एक ओर कर के प्रबन्ध में कुशलता नहीं आती तथा दूसरी ओर करो की वसूली में लापरवाही तथा इनके व्यय में अपव्ययता का भय बना रहता है।

केन्द्र तथा राज्य सरकारों का आय के जो साधन सौंपे जाते हैं, उनका मुख्य आधार सामान्यत वैसा ही होता है जैसा कि उन कार्यों का होता है जिन पर कि उन्हें व्यय करने पड़ते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार केवल उन करों को ही उगाहती है जिनका सम्पूर्ण देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है। दूसरी ओर वे कर जिनका कि उन राज्यों को छोड़कर जिनमें से वे

एकत्रित किए जाते हैं, अन्य राज्यों पर कोई प्रभाव नहीं पडता, साधारणतया राज्यों को ही सौंप दिये जाते हैं। साधनों की पृथक्ता की इस व्यवस्था से अनेक स्वाभाविक लाभ प्राप्त होते हैं— (i) इस व्यवस्था में प्रत्येक सरकार आत्मनिर्भर बन सकती है। इस प्रकार प्रत्येक सत्ता इस योग्य बन सकी है कि वह अपनी आय सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार ही राजकोषीय व्यवस्था (Fiscal System) मे हेर-फेर कर सके। (ii) प्रत्येक सरकार को प्राप्त होने वाली वित्तीय स्वतन्त्रता उसे इस योग्य बना देती है कि वह अपने कार्यों को कुशलता व पूर्णतया के साथ तथा बिना किसी बाधा के सम्पन्न कर सके। (iii) इसमें प्रत्येक सत्ता में उत्तरदायित्व की एक भावना उत्पन्न हो जाती है क्योंकि प्रत्येक सरकार अपने व्यय की पूर्ति के लिए स्वयं ही वित्तीय साधन जुटाती है। परन्तु व्यवहार में साधनों की इस पृथक्ता का पूर्णतया लागू नहीं किया जा सकता। इसके दो मुख्य कारण हैं —(अ) करारोपण के वे साधन जो कि केन्द्र के लिये उपयुक्त हैं उनके तथा उन साधनों के बीच, जो कि राज्यों के लिये उपयुक्त हैं, सदैव ही कोई दृढ व स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। (आ) अधिकाधिक सावधानता तथा दूरदर्शिता के पश्चात् भी साधनों की पूर्ण पृथक्ता से अनेक मूलभूत वित्तीय कठिनाइयां उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। उदाहरणार्थ किसी सरकार को सौंपे गए आय के कुछ विशिष्ट साधन उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपर्याप्त भी हो सकते हैं अथवा वे उसकी आवश्यकताओं से अधिक भी हो सकते हैं। अतः संघीय वित्त व्यवस्था में संघ और राज्यों को आय के स्वतन्त्र साधन प्रदान करने के साथ ही साथ पर्याप्तता, लोच एवं प्रशासनिक कुशलता के लिय कुछ सन्तुलन कारकों (Balancing Factors) की व्यवस्था करनी पड़ती है, जैसे —(क) केन्द्रीय सरकार राज्यों को सहायतार्थ अनुदान (Grants-in Aid) देती है अथवा राज्य सरकारें संघ सरकार को अंशदान (Contributions) देती हैं। (ख) कुछ करों को लगाने और वसूल करने का अधिकार संघ सरकार को होता है और उनकी प्राप्तियां पूर्णतः राज्य सरकारों को उपलब्ध होती हैं। (ग) इसी प्रकार कुछ करों को लगाने और उगाहने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को होता है, परन्तु जिनकी प्राप्तियों को संघ और राज्य में बांट लिया जाता है। (घ) कुछ कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाए जाते हैं, परन्तु राज्य सरकारें अपने उपयोग के लिये उन पर कुछ अतिरिक्त-कर (Surcharges) लगा देती हैं अथवा ये कर राज्य सरकारों द्वारा लगाए जाते हैं, परन्तु केन्द्रीय सरकार अपने उपयोग के लिये उन पर अतिरिक्त-कर लगा देती है।

भारत के गणतन्त्रीय संविधान के अन्तर्गत संघीय वित्त व्यवस्था

(Federal Finance System in Republican Constitution of India)

प्राक्कथन —२६ जनवरी सन् १९५० को स्वतन्त्र भारत का नवीन संवि-

धान लागू हुआ। भारतीय संविधान शरीररूप में संघात्मक (Federal in Form) होते हुए भी आत्मारूप में एकात्मक (Unitary in Spirit) है। संविधान की प्रथम अनुसूचि में राज्यों को, 'क' 'ख' और 'ग' तीन वर्गों में विभक्त किया गया। भारत के नवीन संविधान में अन्तर्गत भी संघ और इकाइयों के बीच कार्यों का विभाजन मुख्य रूप से वैसा ही रहा, जैसा कि सन् १६३५ के भारत सरकार के शासन अधिनियम में था। शेष अधिकार (Residuary Powers) संघ सरकार को ही दिए गए हैं।

साधनों का वितरण (Allocation of Resources) —नए संविधान के अन्तर्गत आय के साधनों के वितरण सम्बन्धी की गई व्यवस्था के ३ मुख्य लक्षण हैं —(i) संघ और राज्यों के बीच आय के साधनों में यथासम्भव अधिक से अधिक स्पष्ट भेद किया गया है। (ii) कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाए और उगाहे जाते हैं, परन्तु उनकी प्राप्तियां राज्यों के लिए उपलब्ध होती हैं तथा (iii) कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाए जाते हैं, परन्तु उनकी प्राप्तियां संघ और राज्यों के बीच बांटी जाती हैं। संविधान में आय के स्रोतों का वितरण इस प्रकार किया गया है —(अ) **आय के संघीय स्रोत** —रेलें, डाक व तार, टेलीफोन, बेतार के तार (Wireless) प्रसारण (Broadcasting) व संचार के अन्य रूप, सीमा-कर, निगम कर, कम्पनियों की पूंजी पर लगाए जाने वाले कर आदि संघीय आय के मुख्य स्रोत हैं। इन स्रोतों से उपलब्ध प्राप्तियों के उपयोग करने का संघ सरकार को पूर्ण अधिकार है। (आ) **आय के राज्यीय साधन** —मालगुजारी, कृषि आय कर, नशीली वस्तुओं पर उत्पादन कर, विक्रय कर, मनोरंजन कर आदि राज्यों की आय के मुख्य स्रोत हैं। इन करों को लगाने और वसूल करने तथा इनसे उपलब्ध प्राप्तियों के उपयोग करने के सम्बन्ध में राज्य सरकारों को पूर्ण स्वाधीनता है। (इ) **वे कर जो संघ द्वारा लगाए और उगाहे जाते हैं, परन्तु उनकी प्राप्तियां संघ और राज्यों के बीच बांटी जाती हैं** —इनमें ये कर सम्मिलित हैं—कृषि की आय को छोड़कर अन्य आमदनियों पर लगाए जाने वाले कर तथा नशीली वस्तुओं और शृंगार सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन करों को छोड़कर अन्य उत्पादन कर। (ई) **वे कर जो संघ सरकार द्वारा लगाए और उगाहे जाते हैं, परन्तु उनकी सम्पूर्ण प्राप्तियां राज्यों को सौंप दी जाती हैं** —इनमें ये कर सम्मिलित हैं—कृषि-भूमि को छोड़कर सम्पत्ति के सम्बन्ध में उत्तराधिकारी कर (Succession Duties) तथा आस्ति कर (Estate Duties), रेल मार्ग, समुद्री मार्ग अथवा वायु मार्ग द्वारा आने जाने वाली वस्तुओं तथा यात्रियों पर सीमान्त कर (Terminal Taxes) आदि। (उ) **वे कर जो संघ सरकार द्वारा लगाए हैं, लेकिन उनका संग्रह राज्यों द्वारा होता है तथा उनकी प्राप्तियां राज्यों को ही मिलती हैं** —इन करों में कुछ स्टाम्प शुल्क (Stamp Duties) तथा औषधि व शृंगार सम्बन्धी सामग्रियों पर उत्पादन कर (Excise Duties) सम्मिलित हैं।

सन्तुलन के तत्व (*Balancing Factors*) —सन् १९५० के संविधान मे वित्तीय स्थिति मे सन्तुलन करने वाले तीन तत्वो का उल्लेख किया गया है—(i) कृषि के अतिरिक्त दूसरी आमदनियो पर लगने वाले करो (Income Taxes) तथा संघीय उत्पादन करो (Union Excise Duties) से उपलब्ध प्राप्तियो को *संघ और राज्यो के बीच बाटने की व्यवस्था की गई है। (ii) संघ सरकार की ओर* से राज्य सरकारो के लिए सहायक अनुदान (Grants in aid) की व्यवस्था की गई है। ये अनुदान भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) से उन राज्यो को दिये जाते है जिन्हे कि सहायता की आवश्यकता होती है। भिन्न भिन्न राज्यो के लिये सहायक अनुदानो की राशि भिन्न भिन्न होती हैं। राज्यो को सहायक अनुदान परिगणित जातियो के कल्याण की योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिये लिये भी दिये जाते हैं। (iii) संघ सरकार अधिभार (Surcharge) लगाकर ऐसे किसी भी कर मे वृद्धि कर सकती है जो राज्यो मे बाटे जाते हैं अथवा पूर्णतया राज्यो *को सौपे जाते हैं। इन अधिभारो से होने वाली प्राप्तिया पूर्णतया संघ सरकार* को ही उपलब्ध होती हैं।

प्रथम वित्त आयोग (First Finance Commission) —संविधान के अनुच्छेद २८० के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा संविधान के लागू होने के दो वर्ष के *भीतर तथा तदपश्चात् प्रति पाचवे वर्ष एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने की व्यव*स्था की गई है। वित्त आयोग का कार्य इन विषयो के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करना स्वीकार किया गया है —(क) संघ और राज्यो के बीच उन करो की शुद्ध प्राप्तियो (Net Proceeds) का वितरण जो कि उनके बीच बाटे जाते हैं। (ख) प्रत्येक राज्य के हिस्सो का वितरण। (ग) उन सिद्धान्तो का निर्धारण जिनके आधार पर भारत की संचित निधि मे से राज्यो को सहायक अनुदान दिए जा सकें तथा (घ) अन्य कोई भी ऐसा विषय जो सुदृढ एव समुचित वित्त व्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो। २२ नवम्बर सन् १९५१ को राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी (K C Neogy) की अध्यक्षता मे प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट ३१ दिसम्बर सन् १९५२ को प्रस्तुत की। राज्य सरकारो को सहायता देने के सम्बन्ध मे वित्त आयोग ने अपनी सिफारिशे तीन सिद्धान्तो पर आधारित की —(अ) संघ सरकार के पास से साधनो का अतिरिक्त स्थानान्तरण इस प्रकार का होना चाहिए कि अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता तथा देश की सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषयो के सम्बन्ध मे संघ के उत्तरदायित्व को देखते हुए स्थानान्तरण का उसके साधनो पर कोई अनुचित भार न पडे। (आ) साधनो के वितरण और अनुदानो के निर्धारण के सम्बन्ध मे सभी राज्यो के प्रति समान नीति अपनाई जानी चाहिए तथा (इ) वितरण की योजना का उद्देश्य विभिन्न राज्यो के बीच की वर्तमान असमानतायें दूर करनी होना चाहिए।

प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशें —प्रथम वित्त आयोग की मुख्य सिफा-

रों इस प्रकार थी — (१) आय कर की प्राप्तियों का विभाजन — इस समय तक आय कर की शुद्ध प्राप्तियों का ५०% भाग राज्यों को मिलता था। परन्तु वित्त आयोग ने यह प्रतिशत बढ़ाकर ५५ करने की सिफारिश की। आयोग ने आय कर की विभाज्य धन राशि में से राज्यों के ८० प्रतिशत भाग का सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार उनकी सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर (On the Basis of Relative Population) वितरित करने की सिफारिश की तथा शेष २० प्रतिशत भाग का विभिन्न राज्यों में किये जाने वाले आय-कर के सापेक्षिक संग्रहों (Collectoins) के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की। इस सूत्र के अनुसार विभाज्य आय-कर में से विभिन्न राज्यों का भाग निम्न प्रकार निश्चित किया गया —

राज्य	आय कर में राज्यों के भाग का प्रतिशत	राज्य	आय कर में राज्यों के भाग का प्रतिशत
(१) बम्बई	१७ ५०	(९) राजस्थान	३ ५०
(२) उत्तरप्रदेश	१५ ७५	(१०) पूर्वी पंजाब	३ २५
(३) मद्रास	१५ २५	(११) ट्रावनकोर-कोचीन	२ ५०
(४) पश्चिमी बंगाल	११ २५	(१२) असम	२ २५
(५) बिहार	९ ७५	(१३) मैसूर	२ २५
(६) मध्य प्रदेश	५ २५	(१४) मध्यभारत	१ ७५
(७) हैदराबाद	४ २५	(१५) सौराष्ट्र	१ ०
(८) उड़ीसा	३ ५०	(१६) पेप्सू	० ७५

(२) संघीय उत्पादन करों का वितरण — यद्यपि संघीय उत्पादन करों (Central Excise Duties) के वितरण का प्रश्न वित्त आयोग को दिए गए कार्यों की सूची में सम्मिलित नहीं था, तथापि आयोग ने दियासलाई, वनस्पती तेल तथा तम्बाकू पर लगने वाले तीन संघीय उत्पादन करों को राज्यों में वितरित करने की उपयुक्ता पर विचार किया। अतः वित्त आयोग ने इन तीन संघीय उत्पादन करों की विशुद्ध आय (Net Income) के ४० प्रतिशत भाग को राज्यों में उनकी सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर वितरित करने का सुझाव दिया। इन करों के सम्बन्ध में राज्यों के भाग निम्न प्रकार निर्धारित किये गए —

राज्य	उत्पादन करों में राज्यों के भाग का प्रतिशत	राज्य	उत्पादन करों में राज्यों के भाग का प्रतिशत
(१) उत्तर प्रदेश	१८ २३	(९) उड़ीसा	४ २२
(२) मद्रास	१६ ४४	(१०) पूर्वी पंजाब	३ ६६
(३) बिहार	११ ६०	(११) ट्रावनकोर कोचीन	२ ६८
(४) बम्बई	१० ३७	(१२) मैसूर	२ ६२
(५) पश्चिमी बंगाल	७ १६	(१३) असम	२ ६१
(६) मध्यप्रदेश	६ १३	(१४) मध्यभारत	२ २६
(७) हैदराबाद	५ २९	(१५) सौराष्ट्र	१ १९
(८) राजस्थान	४ ४१	(१६) पेप्सू	१ ००

(३) जूट निर्यात-कर के बदले मे सहायक अनुदान —भारतीय सविधान मे जूट का उत्पादन करने वाले राज्यो को जूट निर्यात कर मे से कोई भाग देने की व्यवस्था नही की गई। परन्तु अन्तरिक काल के लिये इन राज्यो को जूट निर्यात कर (Jute Export Duty) के बदले मे सहायक अनुदान देने की व्यवस्था की गई। अत वित्त आयोग ने जूट निर्यात कर के बदले मे पश्चिमी बगाल, असम, बिहार और उडीसा राज्यो को क्रमश १५० लाख रुपये, ७५ लाख रुपये, ७५ लाख रुपये और १५ लाख रुपये वार्षिक सहायक अनुदान के रूप मे देने की सिफारिश की।

(४) सहायक अनुदान —वित्त आयोग ने केन्द्रीय राजस्व से राज्यो को दिये जाने वाले शर्तयुक्त (Conditional) तथा शर्त रहित (Unconditional) दोनो ही प्रकार के सहायक अनुदानों (Grants-in aid) की सिफारिश की तथा विभिन्न राज्यो को दिये जाने वाले सहायक अनुदानो की मात्रा का निश्चय करने के कुछ सिद्धात भी निर्धारित किये। इनमे से मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार थे —(i) राज्यो को दी जाने वाली वित्तीय सहायता का विस्तार इस प्रकार किया जाना चाहिये कि राज्य सरकारो मे यह विचारधारा उत्पन्न न हो सके कि केन्द्रीय सरकार ने प्रतिवर्ष राज्यो के बजटो के सन्तुलन मे उनकी सहायता करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है। (ii) मूलभूत सामाजिक सेवाओ (जैसे प्राइमरी शिक्षा) के स्तरो के समानीकरण (Eualization) के लिये आयोग ने कुछ राज्यो को विशेष सहायक अनुदान देने की सिफारिश की। (iii) राज्यो के क्षेत्रों के अन्दर उत्पन्न होने वाले राष्ट्रीय मामलो के सम्बन्ध मे राज्यो पर विशेष दायित्व अथवा भार के लिये भी आयोग ने सहायक अनुदान देने का सुझाव रक्खा। (iv) आयोग ने राष्ट्रहित की दृष्टि से कम विकसित राज्यो को प्राथमिक महत्व की लाभप्रद सेवाओ की व्यवस्था के लिए सहायता देने की सिफारिश की।

वित्त आयोग की रिपोर्ट का मूल्याकन —भारत सरकार ने आयोग की समस्त सिफारिशो को बिना किसी सशोधन के स्वीकार कर लिया। आयोग ने राज्यो के साधनो मे वृद्धि करने की आवश्यकता को ऐसे समय म स्वीकार किया, जबकि शीघ्रता से बदलती हुई आर्थिक स्थिति के कारण नवीन सरकारी सेवाओ की भारी माँग उत्पन्न हो गई थी। वित्त आयोग ने साधनो के विभाजन का क्षेत्र विस्तृत करके, कुछ सघीय उत्पादन करों को विभाज्य साधनो मे सम्मिलित करके, आय कर की प्राप्तियो मे राज्यो का भाग बढाकर तथा सहायक अनुदानो के देने की व्यवस्था द्वारा राज्यो की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये प्रशसनीय प्रयत्न किया। परन्तु इन गुणो के साथ ही साथ वित्त आयोग की सिफारिशो म एक महत्वपूर्ण दोष भी था। यद्यपि आयोग ने प्रत्येक राज्य मे ठोस वित्तीय प्रवन्ध तथा आत्म सहायता पर बल दिया था, तथापि इससे एक यह भी भय था कि राज्यो को अधिक से अधिक सहायता दने से उनम अपने व्यय मे मितव्ययिता करने तथा करो के ढाचे म परिवर्तन करके निजी साधनो म वृद्धि करने की आवश्यकता के

सम्बन्ध में, एक असन्तोष की भावना उत्पन्न न हो जाये। वस्तुतः व्यावहारिक रूप में इस सम्भावना का यही रूप देखने को भी मिला जिसके फलस्वरूप प्रत्येक राज्य अपने साधनों में वृद्धि करने की अपेक्षा केन्द्रीय सहायता पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगे हैं।

दूसरा वित्त आयोग (Second Finance Commission) :—मई सन् १९५६ में राष्ट्रपति ने श्री के० सन्थानम (K Santhanum) की अध्यक्षता में दूसरा वित्त आयोग नियुक्त किया। इस आयोग को सौंपे जाने वाले कार्यों में, पहले आयोग के कार्यों की भांति विभाज्य करों का संघ और राज्यों के बीच वितरण, प्रत्येक राज्य के हिस्से का बटवारा तथा राज्यों को दिये जाने वाले केन्द्रीय सहायक अनुदानों का निर्धारण करने वाले सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सिफारिश करने के अतिरिक्त, ये कार्य और सम्मिलित थे। — (i) जूट तथा जूट के पदार्थों पर लगने वाले निर्यात-कर की प्राप्तियों के हिस्सों के बदले में असम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल को दिए जाने वाले सहायक अनुदान। (ii) दूसरी पंचवर्षीय योजना के लिये राज्यों की आवश्यकताओं का दृष्टिगत रखते हुए तथा राज्यों द्वारा अपने निजी साधनों में अतिरिक्त आय प्राप्त करने के प्रयत्नों पर विचार करते हुए राज्यों को दिए जाने वाले सहायक अनुदानों की मात्रा का निर्णय। (iii) कृषि, सम्बन्धी सम्पत्ति को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर लगने वाले सम्पत्ति-कर (Estate Duty) की शुद्ध प्राप्तियों को राज्यों के बीच वितरित करने के सिद्धान्त का निर्धारण। (iv) सन् १९४७ से १९५६ के बीच केन्द्रीय सरकार द्वारा विभिन्न राज्यों को दिए गए ऋणों की वापिसी की शर्तों तथा ब्याज की दरों के सम्बन्ध में आवश्यक संशोधन तथा (v) रेल भाड़े (Fares) पर लगाए जाने वाले करों की शुद्ध प्राप्तियों के वितरण का निर्देशन करने वाले सिद्धान्त का निर्धारण। वित्त आयोग की अन्तिम रिपोर्ट सितम्बर सन् १९५७ में प्रस्तुत हुई। आयोग की सिफारिशों का मुख्य उद्देश्य यह था कि "सभी राज्यों को पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त होनी चाहिए जिससे कि वे अपने सामान्य व्ययों की पूर्ति कर सकें तथा योजना के व्ययों के सम्बन्ध में आय खाते (Revenue Account) की निर्धारित देनदारियों को पूरा कर सकें।" वित्त आयोग ने अपनी सिफारिशों में राज्यों की मूलभूत (Basic) तथा विकासोन्मुख (Developmental) दोनों ही प्रकार की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रक्खा। आयोग की मुख्य सिफारिशें निम्नांकित थीं :—

(१) आय कर का वितरण :—वित्त आयोग ने आय कर की प्राप्तियों में राज्यों का हिस्सा ५५ प्रतिशत के स्थान पर ६० प्रतिशत करने की सिफारिश की। राज्यों के कुल भाग को विभिन्न राज्यों के बीच बाँटे जाने के सम्बन्ध में आयोग ने जनसंख्या को ही मुख्य आधार स्वीकार किया। आयोग ने राज्यों के हिस्से का १० प्रतिशत वितरण सापेक्षिक संग्रह (Relative Collection) के आधार पर तथा

९० प्रतिशत का वितरण सापेक्षिक जनसंख्या (Relative Population) के आधार पर करने का सुझाव दिया। इस सूत्र के अनुसार विभाज्य आय कर में से राज्यों का भाग निम्न प्रकार निश्चित किया गया :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
(१) *आन्ध्र प्रदेश*	८·१२	(८) *मैसूर*	५ १४
(२) असम	२·४४	(९) उड़ीसा	३·७३
(३) बिहार	९ ९४	(१० पूर्वी पंजाब	४ २४
(४) बम्बई	१५·९७	(११) राजस्थान	४·०९
(५) केरल	३·६४	(१२) उत्तर प्रदेश	१६·३६
(६) *मध्य प्रदेश*	६·७२	(१३) *पश्चिमी बंगाल*	१०·०८
(७) मद्रास	८·४०	(१४) जम्मू और काश्मीर	१·१३

(२) संघीय उत्पादन करों का विभाजन :—वित्त आयोग ने दियासलाई, तम्बाकू और वनस्पति तेल के अतिरिक्त चीनी, काफी, कागज तथा वनस्पति के *अनावश्यक तेलों के संघीय उत्पादन करों की प्राप्तियों को भी राज्यों में बाटने का सुझाव* दिया, परन्तु राज्यों का हिस्सा ४०% के स्थान पर २५% निर्धारित किया। वित्त आयोग ने जनसंख्या के आधार पर विभाज्य संघीय उत्पादन करों की राशि में विभिन्न राज्यों का भाग निम्न प्रकार निश्चित किया :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
(१) आंध्र प्रदेश	९·३८	(८) मैसूर	६·५२
(२) असम	३·४६	(९) उड़ीसा	४·४६
(३) बिहार	१०·५७	(१०) पूर्वी पंजाब	४·५९
(४) *बम्बई*	*१२·१७*	(११) *राजस्थान*	*४·७१*
(५) केरल	३·८४	(१२) उत्तरप्रदेश	१५ ९४
(६) मध्य प्रदेश	७ ८६	(३) पश्चिमी बंगाल	७.५९
(७) मद्रास	७ ५६	(१४) जम्मू और काश्मीर	१·७५

(३) जूट निर्यात कर के बदले में सहायक अनुदान :—द्वितीय वित्त आयोग ने सन् १९५९–६० तक जूट के उत्पादक राज्यों—असम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल को जूट निर्यात कर के बदले में सहायक अनुदान के रूप में क्रमशः ७५ लाख रु०, ७२ ३१ लाख रु०, १५ लाख रु० और १५२ ६९ लाख रु० प्रतिवर्ष देने की सिफारिश की।

(४) राज्यों को सहायक अनुदान :—वित्त आयोग ने राज्यों की विकासशील आवश्यकताओं पर विचार करके राज्यों को पूर्वापेक्षाकृत अधिक सहायक अनुदान देने की सिफारिश की। प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओं पर पूर्वविचार करने के बाद आयोग ने ११ राज्यों को निम्नलिखित सहायक अनुदान देने की सिफारिश

की थी —

(करोड़ रुपयों में)

राज्य	१९५७ ५८	१९ ८ ५९	१९५९ ६०	१९६०-६१	१९६१ ६२	योग
१ आन्ध्र प्रदेश	४ ००	४ ००	४ ००	४ ००	४ ००	२० ००
२ असम	३ ७	३ ७५	३ ७५	४ ५०	४ ५०	२० २५
३ बिहार	३ ५०	३ ५०	३ ५०	४ २५	४ २५	१९ ००
४ केरल	१ ७५	१ ७५	१ ७५	१ ७५	१ ७५	७५
५ मध्यप्रदेश	३ ००	३ ००	३ ००	३ ००	३ ००	१५ ००
६ मैसूर	६ ००	६ ००	६ ००	६ ००	६ ००	३० ००
७ उड़ीसा	३ २५	३ २५	३ २५	३ ५०	३ ५०	१६ ७५
८ पूर्वी पजाब	२ २५	२ २५	२ २५	२ २५	२ २५	११ २५
९ राजस्थान	२ ५०	२ ५०	२ ५०	२ ५०	२ ५०	१२ ५०
१० पश्चिमी बगाल	३ २५	३ २५	३ २५	४ ७५	४ ७५	१९ २५
११ जम्मू व काश्मीर	३ ००	३ ००	३ ००	३ ००	३ ००	१५ ००
कुल योग —	३६ २५	३६ २५	३६ २५	३९ ५०	३९ ५०	१८७ ७५

५ आस्ति कर का वितरण —आस्ति-कर (Estate Duty) सघ सरकार द्वारा स्थावर (Immovable) तथा अस्थावर (Movable) दोनों ही प्रकार की सम्पत्तियों (Properties) पर लगाया जाता है। यह कर सघ सरकार द्वारा ही उगाहा जाता है परन्तु इसकी समस्त प्राप्तियाँ राज्यों का बाट दी जाती हैं। द्वितीय वित्त आयोग ने स्थावर सम्पत्ति से होने वाली प्राप्तियों के कुछ भाग को राज्यों म स्थिति (Location) के आधार पर अर्थात् प्रत्येक राज्य म स्थित सम्पत्ति के मूल्य के अनुपात म वितरित करने तथा स्थावर सम्पत्ति से उपलब्ध आय के शेष भाग का और अस्थावर सम्पत्ति म होने वाली समस्त आय को राज्यो म उनकी सापेक्षिक जनसंख्या (Relative Population) के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की। इस प्रकार आस्ति कर की प्राप्तियों म से प्रत्येक राज्य का भाग निम्न प्रकार निश्चित किया गया —

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
(१) आन्ध्र प्रदेश	८ ७६	(८) मैसूर	५ ४३
(२) असम	२ ५३	(९) उड़ीसा	४ १०
(३) बिहार	१० ८६	(१०) पूर्वी पजाब	४ १२
(४) बम्बई	१९ ५२	(११) राजस्थान	४ ४७
(५) केरल	३ ७९	(१२) उत्तरप्रदेश	१७ ७१
(६) मध्यप्रदेश	७ ३०	(१३) पश्चिमी बगाल	७ ३७
(७) मद्रास	८ ४०	(१४) जम्मू और काश्मीर	१ २४

(६) केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिए हुए ऋण —१५ अगस्त सन्

१६४७ को केन्द्र का प्रदेशों पर कुल ऋण ४३६७ करोड़ रु० था जो ३१ मार्च १६५६ को लगभग ६०० करोड़ रु० हो गया। इनमे से अधिकांश ऋण योजना के कार्यक्रमों की पूर्ति के लिये दिए गए थे। इन ऋणों की धनराशियों में, ब्याज की दरों में, अदायगी की शर्तों में तथा इनकी अवधियों में पर्याप्त अन्तर था। फलत ऋणों की इन सारी विभिन्नताओं के फलस्वरूप संघ और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों में एक उलझन उत्पन्न हो गई थी। अत: वित्त आयोग ने इस उलझन को सुलझाने के लिये समस्त ऋणों के एकीकरण तथा ब्याज व भुगतान की शर्तों के समानीकरण की एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं — (क) केन्द्र द्वारा राज्यों को शैक्षणिक भवनों के निर्माण तथा कुटीर उद्योगों की सहायतार्थ जो ब्याज-मुक्त ऋण दिये गए थे, आयोग ने उनमें कोई भी संशोधन न करने का सुझाव दिया। (ख) १ अप्रैल सन् १६५७ से केन्द्र द्वारा राज्यों को विस्थापित व्यक्तियों (Displaced Persons) के पुनर्वास के लिये दिये जाने वाले ऋणों के सम्बन्ध में आयोग ने यह सिफारिश की, कि उनके मूलधन और ब्याज की उतनी ही रकम अदा की जाए, जितनी राज्यों को विस्थापितों से मिल सके। (ग) शेष ऋणों को आयोग ने दो वर्गों में विभाजित किया—(i) दीर्घकालीन ऋण, जिनकी परिपाक तिथि (Date of Maturity) १ अप्रैल सन् १६७७ को अथवा इसके पश्चात् पड़ती थी और (ii) मध्यमकालीन ऋण, जिनकी परिपाक तिथि ३१ मार्च सन १६७७ अथवा उससे पूर्व पड़ती थी। वित्त आयोग ने उन सभी ऋणों को, जिनकी ब्याज की दर ३ प्रतिशत अथवा अधिक थी एक ऐसे ऋण के रूप में परिवर्तित करने की सिफारिश की, जिनकी ब्याज की दर ३ प्रतिशत हो तथा जिनकी परिपाक तिथि ३१ मार्च १६८७ हो। इसके अतिरिक्त आयोग ने उन सभी दीर्घकालीन ऋणों को, जिनकी ब्याज की दर ३ प्रतिशत से कम थी, एक ऐसे ऋण के रूप में बदलने की सिफारिश की, जिनकी ब्याज की दर २½ प्रतिशत हो और जिनकी परिपाक तिथि ३१ मार्च सन् १६८७ हो। इसी प्रकार वित्त आयोग ने ३ प्रतिशत अथवा उससे अधिक ब्याज की दर वाले सभी मध्यमकालीन ऋणों का एक ऐसे ऋण के रूप में बदलने का सुझाव दिया जिनकी ब्याज की दर ३ प्रतिशत हो तथा परिपाक तिथि ३१ मार्च सन् १६७२ हो, और ३ प्रतिशत से कम ब्याज की दर वाले समस्त मध्यमकालीन ऋणों को एक ऐसे ऋण के रूप में बदलने का सुझाव दिया जिनकी परिपाक तिथि ३१ मार्च सन् १६७२ हो तथा जिनकी ब्याज की दर २½ प्रतिशत हो।

(७) अतिरिक्त उत्पादन करों का वितरण—राज्य सरकारों की परामर्श से केन्द्रीय सरकार ने यह निश्चय किया कि मिलों में बने वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर राज्य सरकारों द्वारा लगाए जाने वाले बिक्री-करों (Sale Taxes) के स्थान पर एक अतिरिक्त उत्पादन-कर (Additional Excise Duty) लगा दिया जाए तथा इसकी शुद्ध प्राप्तियों का सभी राज्यों में वितरण किया जाए। वित्त आयोग से इस

अधिक धन राशि मिलनी चाहिये थी, तथापि आयोग ने जो वितरण किया वह मुख्यत उचित और न्यायपूर्ण ही था।"

तीसरा वित्त आयोग (Third Finance Commission)—तृतीय वित्त आयोग की नियुक्ति सविधान की धारा २८० (Article 280 of the Costitution) तथा वित्त आयोग एक्ट १९५१ (Finance Commission [Miscellaneous Provision] Act 1951) के अन्तर्गत, २ दिसम्बर सन् १९६० को की गई। भारत के भूतपूर्व कोम्पट्रोलर और ऑडीटर जनरल (Former Comptroller and Auditor General) श्री अशोक कुमार चादा (Shri Ashok Kumar Chanda) इस आयोग के अध्यक्ष तथा श्री पी. गोविन्द मेनन (P Govinda Menon), श्री डी० एन० राय (D N Roy), प्रो० एम० वी माथुर (M V Mathur) और श्री जी० आर० कामत (G R Kamat) सदस्य नियुक्त किए गए। इस वित्त आयोग की रिपोर्ट तथा इस पर भारत सरकार का निर्णय सघीय वित्त मत्री श्री मोरारजी देसाई (Morarji Desai) द्वारा १२ मार्च सन् १९६२ को ससद मे पेश किया गया। वित्त आयोग ने द्वितीय वित्त आयोग के सदृश्य इन विषयो के सम्बन्ध मे अपना निर्णय दिया—(अ) आय कर (Income Tax) का वितरण, (आ) मूल सघीय उत्पादन करो (Basic Union Excise Duties) का विभाजन, (इ) अतिरिक्त उत्पादन करों (Additional Excise Duties) का वितरण तथा (ई) सविधान की २७५ वी धारा के अन्तर्गत राज्यो को सहायक अनुदानो (Grants-in-aid) की अदायगी। इसके अतिरिक्त वित्त आयोग ने दो अन्य महत्वपूर्ण पहलुओ (Aspects) पर अपना निर्णय दिया —(i) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर लगे आस्ति कर (Estate Duty) का राज्यो मे वितरण तथा (ii) १२ ५ करोड रु० की सहायता का राज्यो मे बटवारा, जाकि राज्यों को उस हानि की क्षतिपूर्ति (Compensation) के रूप मे दी जाएगी, जो उन्हे रेलयात्री भाडा कर (Tax on Railway Passenger Fares) को हटाने के कारण हुई है। तृतीय वित्त आयोग ने अपना काय राष्ट्रपति के आदेशानुसार १ वर्ष की अवधि मे पूरा कर दिया। आयोग की प्रथम बैठक १५ दिसम्बर सन् १९६० हुई थी तथा १४ दिसम्बर सन् १९६१ को आयोग ने अपनी रिपोर्ट को अन्तिम रूप दिया।

चादा आयोग की रिपोट सर्वसम्मति से स्वीकार कर ली गई। श्री कामत (Kamat) ने, जो कि आयोग के सदस्य सेक्रेटरी (Member-Secretary) थे, अपना एक विषय के सम्बन्ध मे भिन्न मत प्रकट किया। उन्होने कहा कि आयोग द्वारा राज्यो को यातायात के साधनो के विकास सम्बन्धी विशिष्ट उद्देश्य के निमित्त दिए जाने वाले अनुदान को, जिसे राज्यो की आयोजन सम्बन्धी आय मे सम्मिलित किया गया है, वह उचित नही है। भारत सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया है। आयोग न राज्यो को सडक परिवहन के विकासार्थ जो विशेष सहायता देने का सुझाव दिया, उसे भी सरकार ने स्वीकार कर लिया है। रेल यात्री

भाड़ा कर की क्षतिपूर्ति के रूप में दी जाने वाली राज्यों को सहायता को छोड़कर वित्त आयोग की सभी सिफारिशों को केवल ४ वर्ष की अवधि के लिए अर्थात् १ अप्रैल सन् १९६२ से ३१ मार्च सन् १९६६ तक (तीसरी योजना के अन्त तक) कार्यान्वित रूप दिया जाएगा। रेल यात्री भाड़ा कर की क्षतिपूर्ति के रूप में राज्यों को दी जाने वाली सहायता सम्बन्धी निर्णय १ अप्रैल सन् १९६१ से (जब से यह कर हटाया गया था) ३१ मार्च सन् १९६६ तक प्रभाव में लाया जाएगा। आयोग की सिफारिशों को लागू करने की अवधि घटाने अर्थात् ५ वर्ष से ४ वर्ष कर देने का उद्देश्य यह रक्खा गया है कि चतुर्थ पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही आगामी वित्त आयोग के सुझावों को कार्यान्वित किया जा सकेगा।

तृतीय वित्त आयोग की सिफारिशें (Recommendations of Third Finance Commission) —इस वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं :-

(१) आय कर का वितरण—आयोग ने निगम कर (Corporation Tax) को छोड़कर आय कर (Income Tax) की प्राप्तियों में राज्यों का हिस्सा ६० प्रतिशत से बढ़ाकर ६६$\frac{2}{3}$% कर देने की सिफारिश की। आयोग ने आय कर की प्राप्तियों में प्रत्येक राज्य के हिस्से के निर्धारण में राज्यों में कर के सापेक्षिक एकत्रीकरण (Relative Collection) को पूर्वापेक्षाकृत अधिक महत्व दिया। अतः आयोग ने आय कर की विभाज्य धनराशि में से राज्यों के ८० प्रतिशत भाग को सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार उनकी सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की तथा शेष २० प्रतिशत भाग को विभिन्न राज्यों में किए जाने वाले आय कर के सापेक्षिक संग्रहों के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की, जबकि अब तक आय कर की विभाज्य राशि में से ९० प्रतिशत भाग का वितरण, द्वितीय वित्त आयोग के सुझावानुसार, राज्यों की सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर तथा शेष १० प्रतिशत भाग का वितरण राज्यों में आय कर के सापेक्षिक संग्रहों के आधार पर किया जाता था। इन नवीन सूत्र के अनुसार विभाज्य आय कर में से विभिन्न राज्यों का भाग इस प्रकार निश्चित किया गया है —

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
१. आन्ध्रप्रदेश	७·७१	९ महाराष्ट्र	१८·४१
२. आसाम	२·४४	१० मैसूर	५· ३
३. बिहार	९ ३३	११ उड़ीसा	३ ४४
४. गुजरात	४ ७८	१२ पूर्वी पंजाब	४ ४६
५ जम्मू व काश्मीर	० ७०	१३ राजस्थान	३ ९७
६ केरल	३·५५	१४ उत्तर प्रदेश	१४ ४२
७. मध्य प्रदेश	६ ४१	१५. पश्चिमी बंगाल	१२ ०९
८ मद्रास	८ १३		

(२) संघीय उत्पादन करों का विभाजन—वित्त आयोग ने संघीय उत्पादन करो (Central Excise Duties) की प्राप्तियों म राज्यो का हिस्सा २५ प्रतिशत से घटाकर २० प्रतिशत करने का सुझाव दिया। आयोग ने दियासलाई, तम्बाकू वनस्पति तेल, चीनी, काफी, कागज तथा वनस्पति के अनावश्यक तेलो, ८ वस्तुओं के अतिरिक्त २७ अन्य वस्तुओं के संघीय उत्पादन करों की प्राप्तियो को भी राज्यों में बाटने का सुझाव दिया। ये नए मद इस प्रकार हैं —(i) साफ किया हुआ मिट्टी का तेल (Kerosene), (ii) साफ किए हुए डीजल आॅयल्स (Refined Diesel Oils) तथा वाष्प मे बदलने वाले तेल (Vaporising Oils), (iii) डीजल आयॅल (Diesel Oil), (iv) फरनेस आयॅल (Furnace Oil), (v) अलकतरा (Coal Tar) और बालू (Sand) मिला हुआ मसाला (Asphalt) तथा शिलाजीत (Bitumen), (vi) रगने के पदार्थ (Pigments), (vii) साबुन (Soap), (viii) टायर और ट्यूब (Tyres and Tubes), (ix) रेयन और मिलावटी रेशा और सूत (Rayon and Synthetic Fibers and Yarn), (x) सूती वस्त्र (Cotton Fabrics), (xi) रेशमी वस्त्र (Silk Fabrics), (xii) ऊनी वस्त्र (Woolen Fabrics), (xiii) रेयन अथवा कृत्रिम रेशमी वस्त्र (Rayon or Artificial Silk Fabrics), (xiv) सीमेन्ट (Cement), (xv) कच्चा लोहा (Pig Iron), (xvi) इस्पात पिण्ड (Steel Ignots), (xvii) अल्यूमिनियम (Aluminium), (xviii) टीन प्लेट और टीन शीट्स (Tin Plate and Tin Sheets), (xix) इन्टरनल कम्बस्टन इ जिन्स (Internal Cambustion Engines) (xx) विद्युत् मोटरें और उनके हिस्से (Electric Motors and Parts thereof), (xxi) विद्युत् प्रकाशनीय बल्बस और ट्यूब्स (Electric lighting bulbs and Fluorescent lighting bulbs), (xxii) विद्युत् बैटरिया तथा उनके हिस्से (Electric Batteries and Parts thereof), (xxiii) विद्युत् पखे (Electirc Fans), (xxiv) मोटर गाडिया (Motor Vehicles), (xxv) मोटर साईकिल के अतिरिक्त साइकिलें और उनके हिस्से (Cycles and Parts of Cycles Other than Moter Cycles), (xxvi) जूते (Footwear) तथा (xxvii) सिनेमा की फिल्में (Cinematograph Films Exposed)। संघीय उत्पादन करो की प्राप्तियो मे विभिन्न राज्यो के हिस्सों के निर्धारण के सम्बन्ध मे आयोग ने विभिन्न राज्यो की सापेक्षिक जनसख्या, उनकी आर्थिक कमजोरिया तथा उनमे निवासित अविकसित, पिछडी एव अछूत जातियों की विकास आवश्यकताओं आदि को विशेष महत्व देने की सिफारिश की। संघीय उत्पादन करो की विभाज्य राशि मे विभिन्न प्रदेशों का भाग इस प्रकार निश्चित किया गया है —

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
१. आन्ध्र प्रदेश	८·२१	९. महाराष्ट्र	५·६३
२. आसाम	४·७३	१०. मैसूर	५·८२
३. बिहार	११·५६	११ उड़ीसा	७.०७
४ गुजरात	६·४५	१२. पूर्वी पंजाब	६·७१
५ जम्मू व काश्मीर	२.०२	१३. राजस्थान	५·६३
६ केरल	५·४६	१४ उत्तर प्रदेश	१०·६८
७. मध्य प्रदेश	८·६६	१५. पश्चिमी बंगाल	५·०७
८. मद्रास	६·०८		

३ अतिरिक्त उत्पादन-करों का वितरण .—अन्तर्राज्यीय व्यापार के गत्यावरोध को दूर करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने सन् १९५७ से मिलों के बने वस्त्र, चीनी और तम्बाकू पर राज्यीय बिक्री-कर (Sales Tax) के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर (Additional Excise Duties) लगा दिया है। द्वितीय वित्त आयोग ने यह सुझाव दिया था कि इन अतिरिक्त उत्पादन-करों का १% केन्द्रशासित क्षेत्रों को तथा १½% जम्मू और काश्मीर को दिया जाए तथा अन्य राज्यों को पहले इन वस्तुओं के बिक्री-करों से जितनी आय होती थी, उतनी दी जाए तथा शेष राशि का वितरण राज्यों में सापेक्षिक उपभोग व जनसंख्या (Relative Consumption and Population) के आधार पर किया जाए। तृतीय वित्त आयोग ने छोटे-छोटे समायोजनों (Minor Adjustments) के लिये चीनी, तम्बाकू और मिल में बने वस्त्र के अतिरिक्त उत्पादन करों के सम्बन्ध में कोई व्यावहारिक परिवर्तन नहीं किया। चूंकि १ अप्रैल सन् १९६१ से अतिरिक्त-उत्पादन-कर लगाये जाने वाली वस्तुओं में रेशमी वस्त्र को और सम्मिलित कर लिया गया है (अर्थात् रेशमी वस्त्र पर राज्यीय बिक्री-कर को हटाकर अतिरिक्त उत्पादन-कर लगा दिया गया है), इसलिये राज्यों को इन वस्तुओं के बिक्री-कर के बदले में संघ सरकार द्वारा गारन्टी की गई आय ३२.५० करोड़ रु० से बढ़कर ३२.५४ करोड़ रु० हो गई है। तृतीय वित्त आयोग ने अतिरिक्त उत्पादन करों से प्राप्त आय में से १ प्रतिशत केन्द्रशासित क्षेत्रों तथा १½ जम्मू व काश्मीर को देने का सुझाव दिया और अन्य राज्य सरकारों को गारन्टी की गई रकम को देने के पश्चात् शेष रकम को अंशतः राज्यों में उनकी सापेक्षिक जनसंख्या तथा अंशतः सन् १९५७–५८ से उनके बिक्री-करों में होने वाली आय में वृद्धि की प्रतिशत के आधार पर वितरित करने का सुझाव दिया। विभिन्न राज्यों में अतिरिक्त उत्पादन करों की प्राप्तियों में संघ सरकार द्वारा गारन्टी की गई रकम का वितरण इस प्रकार किया जायगा :—

राज्य	लाख रुपये	राज्य	लाख रुपये
(१) आन्ध्र प्रदेश	२३५·१४	(८) महाराष्ट्र	६३७ ७७
(२) असम	८५·०८	(९) मैसूर	१००·१०
(३) बिहार	१३०·१६	(१०) उडीसा	८५·१०
(४) गुजरात	३२३·४५	(११) पूर्वी पंजाब	१७५·१९
(५) केरल	६५·०८	(१२) राजस्थान	९०·१०
(६) मध्य प्रदेश	१५५·१७	(१३) उत्तर प्रदेश	५७५·८१
(७) मद्रास	२८५·३४	(१४) पश्चिमी बगाल	२८० ४१

इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यो मे अतिरिक्त उत्पादन करो की शेप रकम का वितरण, अ शतः राज्यो की सापेक्षिक जनसंख्या तथा अ शत सन् १९५७–५८ से उनके बिक्री करो मे होने वाली आय मे वृद्धि की प्रतिशत के आधार पर, इस प्रकार किया जाएगा :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
१. आन्ध्र प्रदेश	७ ७५	८. महाराष्ट्र	१०·६०
२. असम	२ ५०	९. मैसूर	५·२५
३. बिहार	१०·००	१०. उडीसा	४ ५०
४· गुजरात	५·४०	११. पूर्वी पजाब	५ २५
५. केरल	४·२५	१२. राजस्थान	४ ००
६ मध्य प्रदेश	७·००	१३. उत्तर प्रदेश	१५·५०
७. मद्रास	९·००	१४. पश्चिमी बगाल	९·००

(४) आस्ति कर का बटवारा :—*आयोग ने आस्ति-कर (Estate Duty)* के बटवारे के मुख्य सिद्धान्तो मे कोई परिवर्तन नही किया वरन् सन् १९६१ की जनसख्या के आकडो के आधार पर प्रत्येक राज्य के हिस्से मे सशोधन कर दिया। सारांशतः तृतीय वित्त आयोग ने राज्यो मे आस्ति कर के वितरण से सम्बन्धित द्वितीय वित्त आयोग का यह सुझाव स्वीकार कर लिया कि स्थावर-सम्पत्ति (Immovable Property) से होने वाली प्राप्तियो के कुछ भाग को राज्यो मे स्थिति (Location) के आधार पर (अर्थात् प्रत्येक राज्य मे स्थित सम्पत्ति के मूल्य के अनुपात मे) वितरित किया जाए तथा स्थावर सम्पति से उपलब्ध शेप प्राप्तियो तथा अस्थावर-सम्पत्ति (Movable Property) से होने वाली समस्त प्राप्तियो को राज्यो मे उनकी सापेक्षिक जनसख्या (Relative Population) के आधार पर वितरित किया जाए। इस सूत्र के अनुसार आस्ति कर की प्राप्तियो मे विभिन्न प्रदेशो का भाग इस प्रकार निश्चित किया गया है :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
(१) आन्ध्र प्रदेश	८·३४	(९) महाराष्ट्र	९·१६
(२) असम	२ ७५	(१०) मैसूर	५ ४६
(३) बिहार	१०·७८	(११) उडीसा	४.०८
(४) गुजरात	४·७८	(१२) पूर्वी पजाब	४·७१
(५) जम्मू व काश्मीर	० ८३	(१३) राजस्थान	४·६७
(६) केरल	३ ९२	(१४) उत्तर प्रदेश	१७ १०
(७) मध्य प्रदेश	७ ५१	(१५) पश्चिमी बगाल	८·११
(८) मद्रास	७ ८०		

(५) रेल-यात्री भाडा-कर की क्षतिपूर्तिस्वरूप राज्यों को सहायता :— सन् १९५७ म सघ सरकार ने रेल-यात्री भाडा-कर (A Tax on Railway Passenger Fars) लगाया। १ अप्रैल सन् १९६१ तक इस कर से होने वाली कुल आय को द्वितीय वित्त आयोग की योजना के अनुसार राज्यो मे बाटा गया। परन्तु १ अप्रैल सन् १९६१ से यह कर हटा लिया गया जिससे राज्य सरकारो को पर्याप्त हानि की सम्भावना हुई। अत तृतीय वित्त आयोग के इस कर से उपलब्ध आय मे से प्रत्येक राज्य के हिस्से (Share) की क्षतिपूर्ति करने के लिये प्रतिवर्ष १२ ५ करोड रु० की सहायता सभी राज्यो को देने की सिफारिश की। इस रकम मे से प्रत्येक राज्य का भाग इस प्रकार निश्चित किया गया है :—

राज्य	लाख रुपये	राज्य	लाख रुपये
(१) आन्ध्र प्रदेश	१११	(८) महाराष्ट्र	१३५
(२) असम	३४	(९) मैसूर	५६
(३) बिहार	११७	(१०) उडीसा	२२
(४) गुजरात	६८	(११) पूर्वी पजाब	१०१
(५) मद्रास	८१	(१२) राजस्थान	८५
(६) केरल	२३	(१३) उत्तर प्रदेश	२३४
(७) मध्य प्रदेश	१०४	(१४) पश्चिमी बंगाल	७९

(६) राज्य सरकारों को सहायक अनुदान :— सविधान की २७५ वी धारा के अन्तर्गत चांदा आयोग (Chanda Commission) ने सघीय सरकार की ओर से दिए जाने वाले राज्यो को विस्तृत सहायक अनुदान (Grants-in-aid) देने का सुझाव दिया। अब तक असम, बिहार, जम्मू और काश्मीर, केरल, मध्य-प्रदेश, मैसूर, उडीसा, पूर्वी पजाब, राजस्थान, पश्चिमी बगाल और महाराष्ट्र, इन ११ राज्यो को ३९·५ करोड रु० का वार्षिक अनुदान दिया जाता था। आयोग ने महाराष्ट्र को छोडकर अन्य १० राज्यो को वार्षिक अनुदान देने का सुझाव दिया। आयोग ने अनुदान के रूप मे सुझाई गई कुल ११०·२५ करोड रु०

की राशि में से ५२ करोड रु० राज्यों के बजटों मे वित्तीय कमी को पूरा करने के लिये तथा शेष ५८ २५ करोड रु० की राशि राज्यों की याजनाओं का पूरा करने के लिये देने का प्रस्ताव रक्खा। भारत सरकार ने आयोग की राज्यो को उनके बजटो की वित्तीय कमी को पूरा करने के लिये सहायक अनुदान देने की प्रथम सिफारिश को स्वीकार कर लिया है, जिसके अनुसार विभिन्न राज्यो का हिस्सा इस प्रकार रक्खा गया है :—(i) आन्ध्र प्रदेश ६ करोड रु०, (ii) असम ५ ५ करोड रु०, (iii) गुजरात ४ २५ करोड रु०, (iv) जम्मू और काश्मीर १ ५० करोड रु०, (v) केरल ५ ५० करोड रु , (vi) मध्य प्रदेश १ २५ करोड रु०, (vii) मद्रास ३ करोड रु०, (viii) मैसूर ६ २५ करोड रु०, (ix) उडीसा ११ ५० करोड रु०, और (x) राजस्थान ४ ५० करोड रु०। राज्य सरकारो को उनकी योजनाओं को पूरा करने के लिये अनुदान देने से सम्बन्धित वित्त-आयोग की दूसरी सिफारिश के विषय मे भारत सरकार ने योजना आयोग (Planning Commissian) से मिल कर यह निष्कर्ष निकाला है कि इस प्रकार के अनुदान देने से राज्यो को कोई क्रियात्मक लाभ नहीं होगा। इस निष्कर्ष का अनुमोदन भारत सरकार ने इन शब्दों मे किया, "केन्द्रीय सहायता का निर्धारण प्रतिवर्ष समस्त वित्तीय एव आर्थिक स्थिति के पश्चात् तथा ऐसे समायोजनों (Adjustments) का निर्माण करने के पश्चात् जोकि परिवर्तित परिस्थितिया माग करती हैं, किया जाता है। इसलिये न केवल यह आवश्यक है कि प्रतिवर्ष केन्द्र और राज्यों की वित्तीय स्थिति पर पुनर्विचार किया जाए वरन् यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य के पूर्ण वित्तीय चित्र पर अर्थात आय-खाते (Revenue Account) और पूजीगत-खाते (Capital Account) पर, राज्य की योजना के सम्पूर्णरूप के सम्बन्ध मे, विचार किया जाए। आयोग की इस सिफारिश की अस्वीकृति सघ सरकार द्वारा राज्यों को दी जाने वाली कुल सहायता के योग को प्रभावित नहीं करेगी। योजना मे राज्यों को प्रस्ताविक्त केन्द्रीय अनुदान, प्रतिवर्ष समस्त वित्तीय स्थिति तथा अन्य सम्बन्धित उचित बातों (Relevant Factors) पर पुनर्विचार के पश्चात् निरन्तर मिलता रहेगा। सरकार यह भी समझती है कि समस्त क्षेत्रीय कार्यों में सवृद्धि करने, साधनों मे निश्चित रूप से पूर्ण वृद्धि करने, विभिन्न प्रकार की प्रयोजनाओं (Projects) के बीच सतोषप्रद सन्तुलन बनाने तथा उनमे प्राथमिकताओं (Priorities) का सर्वेक्षण करने के लिये वार्षिक नियोजन एव पुनर्विचार (Annual Planning and Review) एक अत्यन्त आवश्यक साधन (Means) हैं। ये उद्देश्य केन्द्रीय सहायता के किसी भाग को वैधानिक सहायता (Statuary Grants) के रूप में परिवर्तित करने की अपेक्षा वर्तमान रीतियों (Existing Procedures) मे परिवर्तन के द्वारा अधिक उत्तम प्रकार से पूरे होंगे। राज्य सरकारें केन्द्र से प्राप्त सहायता को उपयोग करने मे पर्याप्त सीमा तक स्वतन्त्र होती है। अब से आगे केन्द्रीय सहायता प्रदान करने की रीतियों को सरलीकृत

(Simplify) करने एवं उनको अधिक लोचदार (Flexible) बनाने के लिये और कदम उठाए जायेंगे।"

(६) राज्य सरकारों को सडक-यातायात के विकास के लिये सहायता:— वित्त आयोग ने राज्यो को सडक परिवहन के विकासार्थ विशेष अनुदान देने की सिफारिश की। यद्यपि तीसरी योजना मे सडक विकास कार्यक्रम के लिये ३२४ करोड रु० निर्धारित किये गए हैं, फिर भी भारत सरकार ने इस विषय मे आयोग के सुझाव को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि यह मान लिया गया था कि बिना इस प्रकार के विशेष अनुदान दिये हुए तीसरी योजनावधि मे सडक यातायात के क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति नहीं हो सकेगी। फलस्वरूप आन्ध्रप्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, जम्मू और काश्मीर, करल, मध्यप्रदेश, मैसूर, उडीसा और राजस्थान इन १० राज्यो को वार्षिक अनुदान के रूप म कुल ९ करोड रु० दिए जायेंगे।

Net Effect — भारत द्वारा वित्त-आयोग की सिफारिशो की स्वीकृति का परिणाम यह होगा कि सन् १९६२–६३ के वित्तीय वर्ष म राज्यो को पूर्वापेक्षाकृत ३५ करोड रु० अधिक प्राप्त होंगे तथा आगामी वर्षों मे राज्यो का हिस्सा निश्चित रूप से बहुत अधिक हो जाएगा। राज्यो के हिस्सो म इस वृद्धि का अधिकांश श्रेय विभाज्य संघीय उत्पादन करो की मदो म वृद्धि को है।

Comments on Financial Award For States —(i) तृतीय वित्त आयोग के सामने सर्वप्रमुख समस्या यह थी कि एक और राज्य सरकारो के उत्तरोत्तर बढते हुए दायित्व के साथ ही साथ उनकी आय म भी वृद्धि की जाए तथा दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के लिए भी पर्याप्त आय सुलभ हो सके। वित्त आयोग द्वारा स्वीकृत की गई सिफारिशों के आधार पर यह स्पष्ट है कि सन् १९६२–६३ के वित्तीय-वर्ष में राज्य सरकारो को पूर्वापेक्षाकृत लगभग ३५ करोड रु० अधिक मिलेगा तथा आगामी वर्षों मे राज्यों का हिस्सा निश्चित रूप से बहुत अधिक हो जाएगा। (ii) राज्यो की बढती हुई वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए आयोग ने रेल यात्री भाडा कर (A Tax on Railway Passenger Fares) की क्षतिपूर्ति (Compensation) के रूप मे राज्यो को विशेष सहायता देने का सुझाव दिया तथा अस्थावर सम्पत्ति (Movable Property) से उपलब्ध आस्ति-कर की प्राप्तियों को सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार, विभिन्न राज्यो मे उनकी सापेक्षिक जनसख्या (Relative Population) के आधार पर वितरित करने की सिफारिश करके, लोकतन्त्रीय सिद्धान्त को व्यावहारिक महत्ता प्रदान की। (iii) आयोग ने राज्यों मे आय कर की विभाज्य राशि के वितरण के सम्बन्ध प्रथम वित्त आयोग द्वारा द्वारा सुझाए नए सिद्धान्तो का अनुकरण किया। इस प्रकार आय कर की विभाज्य राशि के वितरण में विभिन्न राज्यो के सापेक्षिक सग्रहो (Relative Collections) को पूर्वापेक्षाकृत कुछ अधिक महत्व प्रदान करके आयोग ने औद्योगिक राज्यो, जैसे— महाराष्ट्र और पश्चिमी बगाल आदि की इस शिकायत को पूरा किया, कि उन्हें व्या-

पार और औद्योगिक कार्यक्रम सम्बन्धी पर्यावरण की दशाओ को बनाए रखने के लिए कुछ अधिक क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए। (iv) आयोग ने आय कर की प्राप्तियो मे राज्यो का हिस्सा ६० प्रतिशत से बढाकर ६६⅔ करने का सुझाव दिया जिसके फलस्वरूप सन् १९६२–६३ के वित्तीय वर्ष मे राज्यो को लगभग ८ करोड रुपये से अधिक मिलेगा। इस प्रकार आयोग ने राज्यो की वित्तीय स्थिति को सुदृढ बनाने मे महत्वपूर्ण कार्य किया। (v) यद्यपि आयोग ने सघीय उत्पादन करो की प्राप्तियो मे राज्यो का हिस्सा २५ प्रतिशत से घटाकर २० प्रतिशत कर दिया, परन्तु ८ वस्तुओ के स्थान पर ३५ वस्तुओ के सघीय उत्पादन करो की प्राप्तियो को राज्यो मे बाटने की सिफारिश करके, आयोग ने सघीय उत्पादन करो की विभाज्य राशि को पर्याप्त मात्रा मे बढा दिया है। सन् १९६२–६३ के बजट अनुमानो के अनुसार इस वष विभाज्य राशि (Divisible Pool) १४५ करोड रुपये से बढकर ३२५ करोड रुपये हो गई है। इसमे राज्यो का हिस्सा ३६ २४ करोड रुपये से बढकर ६५ करोड रु० हो गया है। (vi) राज्य सरकारो को केन्द्रीय सहायक अनुदानो के वितरण से सम्बन्धित सिद्धान्तो के निर्णय, मे वित्त आयोग ने विभिन्न राज्यो की सापेक्षिक जनसख्या के अतिरिक्त राज्यो की वित्तीय स्थिति उनके विकास की असमानताओ (Disparities) तथा उनकी जनसख्या मे पिछडे हुए व्यक्तियो के प्रतिशत को भी विशेष महत्व दिया। फलत आयोग ने महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल और मद्रास आदि राज्यो को अपेक्षाकृत कम अनुदान देने का सुझाव दिया तथा उडीसा राज्य को अपेक्षाकृत अत्यधिक सहायक अनुदान (Grants in aid) तथा रेल यात्री भाडा कर की क्षति पूर्ति के रूप मे अपेक्षाकृत अत्यधिक सहायता देने का प्रस्ताव रक्खा।

निष्कर्ष रूप मे, वित्त आयोग ने यह अनुभव किया कि राज्यो की आय मे जो कमी थी, वह केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए जाने वाले धन से पूरी हो जाने पर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी कि राज्य सरकारें ग्रामीण क्षेत्रो से भूमि-कर (Land Revenue) सिचाई कर (Irrigation Tax) तथा समुन्नति कर (Betterment Tax) आदि स अधिक आय प्राप्त करने की इच्छुक नही रहेगी। आयोग के मतानुमार विगत वर्षों मे राज्य सरकारो के अनुत्पादक व्यय (Unproductive Expenditure) मे वृद्धि हुई है। अत राज्य सरकारो के व्यय के नियन्त्रण मे अधिक दायित्व की आवश्यकता है। इस प्रकार राज्यो के अनुत्पादक व्यय को समाप्त करके उनकी आय म स्वाभाविक रूप से पूर्वापेक्षाकृत अधिक वृद्धि हो जाएगी।

Summary of Finance Commission's Recommendations Accepted by the Government.

	Share of Income Tax*	Share of Union Excise Duties†	Grants in aid Under Article 275 (1) (Substantive Portion)	Special Purpose Grant for improvement of Communications.	Share of Estate Duty	Grant in Lieu of Tax on Railway Fares	Additional Duties of Excise: Income to be Assured	Additional Duties of Excise: Distribution of Balance
States' Share	66⅔%	20%			99%			97 50%
Distribution	Percent	Percent.	Lakhs of Rs.	Lakhs of Rs	Percent.††	Lakhs of Rs	Lakhs of Rs.	Percent.
Andhra Pradesh	7 71	8 23	9,00	50	8 34	1,11	2 35 24	7 75
Assam	2·44	4 73	5 25	75	2 75	34	85 08	2 50
Bihar	9 33	11·56	——	75	10 78	1,17	1,30 16	10 00
Gujrat	4 78	6 45	4,25	1,00	4 78	68	3,23 45	6 40
Jammu and Kashmir	0 70	2·02	1,50	50	0 83	——	——	**
Kerala	3 55	5·46	5 50	75	3 92	23	95 08	4 25
Madhya Pradesh	6 41	8 46	1,25	1,75	7 51	1,04	1,55 17	7 00
Madras	8 13	6 08	3,00	——	7 80	81	2,65 34	0 00
Maharashtra	13 41	5 73	——	——	9 16	1,35	6,37 77	10 60
Mysore	5 13	5 82	6 25	50	5 46	56	1,00 10	5 25
Orissa	3 44	7 07	11,50	1,75	4 08	22	85 10	4 50
East Punjab	4 49	8 71	——	——	4 71	1,01	1,75 10	5 25
Rajasthan	3 97	5 93	4 [illegible]0	75	4 67	65	90 10	4 00
Uttar Pradesh	14 42	10 68	——	——	17 10	2,34	5,75 81	15 [illegible]0
West Bengal	12 09	5 07	——	——	8 11	79	2 80 41	0 00
Total —	——	——	[illegible]2 00	9 00	——	12 50	[illegible]74 00	——

N B * The net proceeds of Income Tax, except those attributable to Central emoluments and union territories are divisible between the Centre and the states The Commission has increased the share attributable to Union territories from one per cent to 2 1/2 per cent of the net proceeds

† Representing net proceeds of union Excise Duties on 35 articles recommended by the Finance Commission.

†† Applies only to tax allocated to other than immovable property

** Jammu and Kashmir will receive no compensation but 1 1/2 percent of net proceeds

आय की मुख्य मदें इस प्रकार हैं —

	आय का ब्योरा (Statement of Revenues)	सशोधित-आय सन् १९६१-६२ (लाख रु० में)	अनुमानित आय सन् १९६२ ६३ (लाख रु० में)
१	सीमा शुल्क (Customs)	१,९९,६०	१,९९,६० +७८०*
२	संघीय उत्पादन कर (Union Excise Duties)	४,७०,९५	४,९२,२८ +३०,८०*
३	निगम कर (Corporation Tax)	१,६०,०००	१,६८,०० +१०,५०*
४.	आय कर (Income Tax)	४८,७३	५८,३० +१०,४०*
५	आस्ति कर (Estate Duty)	१२	१२
६	सम्पत्ति कर (Wealth Tax)	७,५०	७,५०
७	व्यय कर (Expenditure Tax)	८०	८० —७०*
८	उपहार कर (Gift Tax)	८५	८५
९	अन्य मद (Other Heads)	१५,४६	१५,८३
१०	ऋण सेवायें (Debt Services)	११,५८	१,६७,५१
११	प्रशासनिक सेवायें (Administrative Services)	१,११	६,११
१२	सामाजिक और विकासार्थ सेवायें (Social and Developmental Se vices)	४५,५५	३५,२९
१३	बहु ध्येयी नदी परियोजनाएं (Multi-purpose River Schemes etc)	१	३६
१४	सार्वजनिक कार्य (Public Works)	३,७४	४,०२
१५	परिवहन एव सचार (Transport and Comunications)	२,३८	६,३०
१६	करेंसी और टकसाल (Currency and Mint)	५३,१५	६९,५३
१७	पचमेल (Miscellaneous)	२२,९२	२४,५६
१८	अनुदान आदि (Contributions etc)	२१,६८	२४,४१
१९	असाधारण मद (Extra ordinary Items)	१३,००	४०,००
	कुल योग	११,७९,११	१३,२०,८७ +६०,८०*

* Effects of Budget Proposals

की पूंजी पर कर, (v) कृषि सम्बन्धी भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्ति (Property) के सम्बन्ध मे आस्ति कर (Estate Duty), (vi) सीमान्त कर (Terminal Taxes), (vii) स्टाम्प शुल्क को छोडकर शेयर बाजारो (Stock Exchanges) म वायदे के सौदो पर कर, (viii) विनिमय पत्रो (Bills of Exchange), चैको, प्रतिज्ञा पत्रो (Promissory Notes), वहन पत्रो (Bills of Lading), प्रत्यय पत्रो (Letters of Credit), बीमे की पालिसियो, शयरो के हस्तान्तरण, डिबेन्चरो (Debentures), प्रतिहस्तक पत्रो (Proxies) तथा प्राप्ति पत्रो (Receipts) के सम्बन्ध मे स्टाम्प शुल्क की दरें, (ix) समाचार पत्रो की बिक्री तथा समाचार-पत्रो म प्रकाशित विज्ञापनो (Advertisements) पर कर।

यद्यपि उपरोक्त सभी कर सघ सरकार द्वारा लगाए जाते है, परन्तु इसके साथ ही साथ यह व्यवस्था भी की गई है कि इन करो म से (अ) आस्ति कर, रेलमार्गं, समुद्रमाग अथवा वायुमाग द्वारा आने जाने वाले माल अथवा यात्रियो पर सीमान्त कर, शेयर बाजारो के सोदो तथा वायदे के सौदो पर स्टाम्प शुल्क को छोडकर अन्य पर स्टाम्प शुल्क तथा समाचार पत्रो की बिक्री और उनमे प्रकाशित विज्ञापनो पर कर सघ सरकार द्वारा लगाये जायेंगे परन्तु वे राज्यो को सौंप दिए जायेंगे। (आ) औषधि सम्बन्धी सामग्रियो तथा शृ गार सामग्रियो पर स्टाम्प शुल्क व उत्पादन कर (जिनका सघ सूची मे उल्लेख किया गया है) सघ सरकार द्वारा लगाये जायेंगे, परन्तु उनका सग्रह राज्यो द्वारा होगा तथा राज्यो का ही उनकी प्राप्तियो पर अधिकार होगा। (इ) कृषि सम्बन्धी आय को छोडकर अन्य आमदनियों पर कर तथा औषधि सम्बन्धी सामग्रियो तथा शृ गार सामग्रियो के उत्पादन करो को छोडकर अन्य सघीय उत्पादन कर सघ सरकार द्वारा लगाये और उगाहे जायेंगे, परन्तु उनकी प्राप्तियाँ सघ और राज्यो के बीच बाँटी जायेंगी।

(अ) सघीय सरकार के आय के कर-साधन—भारत सरकार की आय के कर सम्बन्धी स्रोत मे निम्न कर मुख्य हैं —

(१) **आय कर (Income Tax)**—आय कर एक प्रत्यक्ष एव आरोही (Direct and Progressive) कर है। आय कर किसी व्यक्ति की कुल आय (Gross Income) पर न ी लगाया जाता वरन् उसकी शुद्ध व निवल आय (Net Income) पर लगाया जाता है। आय कर के मुख्य गुण इस प्रकार हैं —(i) यह कर क्रमवर्धन (Graduation), मुक्तियो (Examptions), घटौतियो (Abatements) तथा अधिभारो (Surcharges) आदि के द्वारा कर अदा करने की योग्यता (Taxable Capacity) के अधिक अनुरूप बनाया जा सकता है। (ii) देश मे धन के वितरण की असमानतायें कम करने के लिये भी आय कर एक शक्तिकाली अस्त्र सिद्ध होगा। ऊ ची आय पर कर की दरो मे ऊ ची वृद्धि करके धन के वितरण की असमानता को यथासम्भव कम किया जा सकता है। (iii) चू कि आय कर के भार का अन्तरण (Shifting) नही होता, इसलिये यह एक न्यायपूर्ण कर पद्धति के निर्माण म सहायक

होता है। सरकार जहाँ भी चाहे अपनी इच्छानुसार इस कर का भार डाल सकती है। (iv) तेजी और मन्दी दोनों ही समयों मे देश म आर्थिक स्थिरता बनाए रखने के लिये आय कर एक शक्तिशाली अस्त्र के रूप मे कार्य करता है। (v) इस कर का प्रभाव करदाता (Tax Payer) की आय के सीमान्त उपयोग (Marginal Use of Income) पर पडता है। यद्यपि अन्य करों के समान आय कर भी करदाता की आर्थिक शक्ति को कम कर देता है, परन्तु अन्य करो के समान आय कर करदाता को इस बात के लिये बाध्य नही करता कि वह किसी विशेष दिशा म किये जाने वाले अपने व्यय म कमी करे। (vi) आय कर एक अत्यन्त उत्पादक (Highly Productive) कर है। सरकारी आय का एक बडा भाग इसी कर द्वारा प्राप्त होता है। (vii) आय कर एक अत्यन्त लोचदार (Highly Elastic) कर है। कर की दरो म वृद्धि करके, अधिभार Surcharges) लागू करके अथवा आय पर विभिन्न प्रकार के अतिरिक्त कर, जैसे अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profit Tax) लगाकर लगातार प्राप्त होने वाली धनराशियो म तीव्रता के साथ ही वृद्धि की जा सकती है। (viii) अन्त म आय कर प्रत्यक्ष होने के कारण देश के नागरिको मे नागरिकता तथा राज्य के प्रति अपने कर्तव्य के प्रति जागरूकता उत्पन्न करता है। आय कर के मुख्य दोष इस प्रकार हैं— (i) आय कर का बचत तथा निवेश की प्रेरणा (Incentive of Saving and Investment) पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पडता है तथा जोखिम वाले व्यवसायों मे निवेश करने की प्रेरणा विशेष रूप से कम हो जाती है। (ii) प्रो० कैल्डोर (Kaldor) ने आय कर की आलोचना इस आधार पर भी की है कि व्यक्ति को प्राप्त होने वाला धन ही कर अदा करने की योग्यता को जाचने का ठोस पैमाना नही है। प्रो० फिशर (Fisher) के मतानुसार किसी व्यक्ति को आय केवल तभी प्राप्त होती है, जबकि वह विभिन्न पदार्थों के उपयोग से सन्तुष्टियाँ प्राप्त करता है। अत व्यक्ति की कर अदा करने की योग्यता को धन की उस मात्रा से नही मापा जा सकता जोकि वह प्राप्त करता है वरन् धन की उस मात्रा से मापा जा सकता है जोकि वह खर्च करता है। (iii) अन्त म करदाता आय कर से बचने के लिये अनेक प्रकार से बेइमानी करता है। एक अनुमान के अनुसार भारतीय करदाता आय कर से प्राप्त होने वाली वास्तविक उपलब्धि का ४०% भाग बचा (Evasion) लेते हैं।

भारत मे आय कर का संक्षिप्त इतिहास—हमारे देश मे आय कर का निर्धारण सर जेम्स विल्सन द्वारा सर्वप्रथम सन् १८६० म भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के कारण उत्पन्न वित्तीय कठिनाइयो को सुलझाने के लिये किया गया। प्रारम्भ म यह कर केन्द्रीय आय का ही साधन था, परन्तु बाद मे इसको विभाजित शीर्षक (Divided Head) बना दिया गया। प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार आय कर की शुद्ध प्राप्तियों का ५५% भाग राज्यो म बाँटा जाता था। सन् १९५७ म वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार यह प्रतिशत ५५ से बढाकर ६० कर दिया गया। तीसरे वित्त आयोग ने आय कर से प्राप्त विशुद्ध आमदनी के ६६$\frac{2}{3}$% भाग

·रा

को राज्यों मे वितरित करने की सिफारिश की है। सन् १८६० मे आय कर २०० रु० से लेकर ५०० रु० तक की सभी मासिक आमदनियो पर २% की दर से तथा ५०० रु० से ऊपर की सभी आमदनियो पर ४% की दर से लगाया गया था। सन् १९३६ की आय कर जाच समिति (The Income Tax Inquiry Committee) की सिफारिश के आधार पर सन् १९३९ मे कराधान की सोपान पद्धति (Stap System) के स्थान पर शिला पद्धति (Slab System) लागू कर दी गई। सन् १९५५-५६ और सन् १९५७-५८ के अधिनियम मे आय कर के सम्बन्ध मे पारिवारिक छूट, जीवन बीमा के लिये छूट तथा मशीनों और यन्त्रो की घिसावट के लिये छूट की सीमा बढा दी गई है तथा निम्न मध्यम आय की शिलाओ (Lower-middle Income Slabs) मे करो की दरें कम कर दी गई हैं।

आय कर का वर्तमान ढांचा:—अविवाहित व्यक्तियो, अविभाजित हिन्दू परिवारो तथा अपजीकृत (Unregistered) फर्मों के सम्बन्ध मे आय कर की दरे इस प्रकार हैं :—

आय की श्रेणी	दर
१. कुल आय के प्रथम १,००० रु० पर	कुछ नही
२. " " " अगले ४,००० रु० "	३ प्रतिशत
३. " " " " २,५०० रु० "	६ "
४. " " " " २,५०० रु० "	९ "
५. " " " " २,५०० रु० "	११ "
६. " " " " २,५०० रु० "	१४ "
७. " " " " ५,००० रु० "	१८ "
८. कुल आय की शेष राशि पर——	२५ "

आय कर की अन्य विशेषतायें इस प्रकार है —(i) विवाहित व्यक्तियो पर कुल आय के प्रथम ३,००० रु० पर कोई कर नही लगाया जाता है तथा कुल आय के अगले २,००० रु० पर आय कर की दर ३ प्रतिशत रक्खी गई हैं। आय की शेष शिलाओ के लिये आय कर की दरें वही हैं, जो ऊपर की सारिणी मे दी गई हैं। (ii) इसके अतिरिक्त दो बच्चो तक प्रति बच्चे ३०० रु० की छूट (Children Allowance) भी दी जाती है। (iii) अविभाजित हिन्दू परिवारो के सम्बन्ध मे ६,००० रु० से कम की आमदनियो को कराधान से मुक्त कर दिया गया है। (v) पजीकृत फर्मों की कुल आय के प्रथम ४०,००० रु० पर कोई कर नही लगाया जाता है। इससे आगे २५,००० रु० पर ५% की दर से, इससे अगले ६५,००० रु० पर ६% की दर से तथा कुल आय की शेष धनराशि पर ८ की दर से आय कर लगाया जाता है। (v) कम्पनियो की सम्पूर्ण आय कर की दर ३०% है। (vi) १ लाख रु० से कम आमदनियो पर आय कर का ५% तथा १ लाख रु० से अधिक आमदनियो पर आय कर का १०% सामान्य अधिभार (General Surcharge) लगाया जाता है।

अनर्जित आमदनियों (Unearned Incomes) पर उपरोक्त दरों के साथ ही साथ १५% की दर से विशिष्ट अधिभार (Special Surcharge) भी लगाया जाता है। (vii) कम्पनियो पर आय कर का ५% अधिभार लगाया जाता है। (viii) २० हजार रु० से अधिक आमदनियो पर आय कर के अतिरिक्त अतिकर (Super Tax) भी लगाया जाता है। अति-कर की वर्तमान दरें ५% से लेकर ४५% तक है। इस प्रकार कुल १ ५ लाख रु० से अधिक आमदनी पर २५% आय कर तथा ४५% अति कर लगाया जाता है। कम्पनियों पर अतिकर बिना किसी अधिभार के ३०% की दर से लगाया जाता है। (ix) आय कर का बचत करने की भावना पर प्रतिकूल प्रभाव न पडे इस उद्देश्य को लेते हुये बीमा कम्पनियों तथा पूर्वोपायीनिधियो (Provident Funds) मे दी गई रकम यदि वह कुल आय का पाँचवा भाग अथवा ८ हजार रु० से अधिक न हो) की गणना कराधान की दृष्टि से व्यक्ति की आय के अश क रूप मे नही की जाती। सयुक्त परिवारो की स्थिति मे छूट की यह सीमा १६ हजार रु० रक्खी गई है।

उपसहार —हमारे देश मे आय कर की चोरी (Evasion) एक महत्वपूर्ण समस्या है। कराधान जाच आयाग (Taxation Enquiry Commission) ने भारत मे आय कर के वचन की धनराशि की मात्रा ३० से ४० करोड प्रतिवर्ष बताई थी। परन्तु प्रो० कैल्डोर (Kaldor) ने अनुमान लगाया कि यह राशि २०० से ३०० करोड रु० के बीच म है। कराधान जाँच आयोग ने कर-वचन को रोकने के लिये निरीक्षण की कठोर व्यवस्था करने का सुझाव दिया तथा आय कर के उपयोग को आर्थिक विषमताओ को कम करने के लिये ये सुझाव दिए —(क) न्यूनमत छूट की सीमा ३००० रु० कर देनी चाहिये। (ख) शिलाओ की सख्या बढानी चाहिये। (ग) आय की सबस ऊची शिलाओ पर आय कर की दर अर्थात् आय कर और अतिकर की दर ८५ प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिये। (घ) २५ हजार रु० के ऊपर की आय वाले व्यक्तियो के लिये आय कर की अनिवाय जमा करने की व्यवस्था करनी चाहिये। प्रो० कैल्डोर ने भारतीय कर सुधार की अपनी योजना म यह सुझाव दिया कि वतमान आय कर तथा अतिकर (Super Tax) के स्थान पर केवल एक एकाकी आय कर (Single Income Tax) लगाया जाना चाहिये जोकि व्यक्तियो तथा साभेदारियो आदि के लिये २५,००० रु० की वार्षिक आय तक आरोही (Progressive) हो और इस स्तर से ऊपर की सभी आमदनियों पर रुपये म ७ आने की एकसी दर से लगाया जाए। यद्यपि प्रो० कैल्डोर द्वारा प्रस्तावित अनेक कर, जैसे—वार्षिक सम्पत्ति कर, उपहार कर आदि लागू कर दिये हैं, परन्तु उनके सुझाव के अनुसार आय कर की दरें कम नही की गई। इसका कारण यह है कि जो अतिरिक्त कर लागू किये गये हैं उनसे आय की उस हानि के पूरा होने की सम्भावना नही है जो कि दरो को कम करने की स्थिति म होती। इसके साथ ही साथ एक भय यह भी है कि आय कर की दरो

में कमी करने से कर का आरोहीपन (Progressiveness) भी समाप्त हो जाएगा। सन् १९६१–६२ के संशोधित अनुमानों और सन् १९६२–६२ के बजट अनुमानों में भारत सरकार को आय कर से प्राप्त होने वाली रकम क्रमशः ४,८७२ लाख रु० और ६,९७० लाख रु० आकी गई है।

(२) आस्ति-कर (Estate Duty) :–संविधान में सघ सरकार को कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर आस्ति कर लगाने तथा इसके सग्रह करने का अधिकार दिया गया है। परन्तु इस कर की प्राप्तिया वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार राज्यों में बाट दी जाती हैं। कृषि-भूमि पर आस्ति कर लगाने तथा उसके सग्रह करने का अधिकार राज्य सरकारों को प्राप्त है। परन्तु राज्य का विधान मण्डल प्रस्ताव के द्वारा कृषि-भूमि पर आस्ति कर लगाने का कार्य भी सघ सरकार को सौंप सकता है। पश्चिमी बगाल को छोड़कर अन्य सभी राज्यों ने प्रस्तावो द्वारा कृषि भूमि पर आस्ति कर लगाने का अधिकार सघ सरकार को दे दिया है।

भारत में आस्ति-कर का निर्धारण :—हमारे देश में सघ सरकार द्वारा १५ अक्टूबर सन् १९५३ से आस्ति-कर का निर्धारण किया गया। सन् १९५३ का आस्ति-कर अधिनियम (Estate Duty Act) बहुत कुछ ब्रिटेन के आस्ति-कर से सम्बन्धित नियमों के ही आधार पर बनाया गया था। सन् १९५८ के सशोधन के अनुसार कानून की कमियों को दूर करने के लिये तथा कर की प्राप्तियों में वृद्धि करने के लिये, इस अधिनियम में कुछ परिवर्तन कर दिये गये। भारत में आस्ति कर की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार है :—(i) आस्ति कर उस समय लगाया जाता है, जबकि मृत्यु के समय कोई भी अस्थावर या स्थावर सम्पत्ति (Movable or Immvable Property) हस्तान्तरित होती है अथवा हस्तान्तरित हुई मानी जाता है। (ii) अस्थावर तथा स्थावर सम्पत्तियों में भूमि, भवन, बिक्री-माल (*Stock in Trade*), सुनाम (*Good Will*) तथा अन्य व्यावसायिक परिसम्पत्तिया (Business Assets), नगदी, बैंक में नगदी, रहनिया शेयर (Stock Shares), प्रतिभूतिया (Securites) तथा अन्य निवेश (Investments), फर्नीचर, गहने, जवाहरात और अन्य व्यक्तिगत सम्पत्तिया सम्मिलित की जाती हैं। (iii) मृत्यु शैया पर जो उपहार (Gifts) दिए जाते हैं, उन्हें भी मृत्यु के समय हस्तान्तरित की हुई सम्पत्ति माना जाता है। इसी प्रकार, मृत्यु से २ वर्ष पूर्व तक जो उपहार दिये जाते हैं, उनको भी मृत्यु के समय हस्तान्तरित की हुई सम्पत्ति माना जाता है और उस पर भी आस्ति कर लगाया जाता है। (iv) आस्ति कर के निर्धारण के लिये मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति का मूल्याकन बाजारी मूल्य के आधार पर द्रव्य में किया जाता है। (v) आस्ति कर के भुगतान करने का दायित्व मृतक के समस्त उत्तराधिकारियों पर रक्खा गया है। सम्मिलित हिन्दू परिवार (Hindu Undivided Family) में किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर आस्ति कर केवल मृतक व्यक्ति के हिस्से की

सम्पत्ति पर ही लगाया जाता है।

आस्ति-कर की वर्तमान दरें, मुक्तियां तथा घटौतियां —आस्ति कर की दरें क्रमवर्धी शिला पद्धति (Graduated Slab System) के अनुसार लगाई जाती हैं। इस सम्बन्ध मे न्यूनतम छूट की सीमा ५० हजार रु० रक्खी गई है। आस्ति कर की वर्तमान दरें इस प्रकार हैं —

	सम्पत्ति की मूल्य श्रेणी	दर
१	सम्पत्ति के प्रथम ५०,००० रु० के मूल्य पर	कुछ नही
२,	„ „ अगले ५०,००० रु० „ „ „	४ प्रतिशत
३.	„ „ „ ५०,००० रु० „ „ „	६ „
४,	„ „ „ ५०,००० रु० „ „ „	१० „
५	„ „ „ १,००,००० रु० „ „ „	१२ „
६	„ „ „ २,००,००० रु० „ „ „	१५ „
७	„ „ „ ५,००,००० रु० „ „ „	२० „
८	„ „ „ १०,००,००० रु० „ „ „	२५ „
९	„ „ „ २०,००,००० रु० „ „ „	३० „
१०	„ „ „ २०,००,००० रु० „ „ „	३५ „
११	सम्पत्ति की शेष कीमत पर — —	४० „

आस्ति कर के सम्बन्ध म कुछ मुक्तियां भी प्रदान की जाती हैं जिनमे से कुछ महत्वपूर्ण इस प्रकार है—(i) मृतक व्यक्ति की भारत से बाहर स्थित स्थावर तथा अस्थावर (Immovable and Movable) सम्पत्ति, (ii) २,५०० रु० तक के मूल्य का घरेलू सामान (iii) २, ०० रु० तक के मूल्य के ऐसे उपकरण और औजार जोकि मृतक के जीविकोपार्जन के लिये आवश्यक थे। (iv) चित्रकला, पेंटिंग तथा अन्य प्रकार की कलात्मक कृतियाँ अथवा वैज्ञानिक सग्रह, यदि वे बिक्री के उद्देश्य से नही रक्खे गए थे। आस्ति कर के निर्धारण से पूर्व सम्पत्ति के मूल्य म से ये घटौतियां (Deductions) भी निकाली जाती हैं—(अ) व्यक्ति के दाह-सस्कार के लिये १ हजार रु० तक की घटौती की जा सकती है। (आ) मृत-व्यक्ति का यथार्थ ऋण भी सम्पत्ति के मूल्य मे से घटाया जा सकता है। अधिनियम मे ऐसी व्यवस्था भी है कि यदि किसी परिवार म प्रथम मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष के अन्दर ही दूसरी मृत्यु हो जाती है, तब आस्ति कर की दर घटा कर ५० प्रतिशत कर दी जाएगी और यदि दूसरी मृत्यु प्रथम मृत्यु के पश्चात् क्रमश २, ३, ४ अथवा ५ वर्षों के अन्दर होती है, तब आस्ति कर की दर म क्रमश ४०, ३०, २० और १० प्रतिशत की घटौती कर दी जाएगी। यदि दूसरी मृत्यु, प्रथम मृत्यु के पश्चात् ३ माह के अन्दर ही हो जाती है तब उस सम्पत्ति पर पुन आस्ति कर नही लगाया जायगा। कर वचन (Tax Evasion) को रोकने के लिये अधिनियम म ऐसी व्यवस्था की गई है कि यदि मृत्यु को समीप देखकर उसकी आशा से कोई उपहार दिया जाता है, तब उसको मृत्यु के समय सम्पत्ति का हस्तान्तरण ही माना

जाएगा और उसपर कर लगाया जायगा। जीवनकाल मे दिये हुए उपहार भी कराधान के योग्य माने जायेंगे, यदि वे मृत्यु से पूर्व दो वर्ष की अवधि के अन्तर्गत दिये गये हो। इसी प्रकार दान व पुण्य कार्यों के लिये दिये गये उपहारो पर भी करारोपण होगा, यदि वे मृत्यु से पूर्व छ माह की अवधि के अन्तर्गत दिये गये हों।

आस्ति कर के पक्ष विपक्ष में तर्क—किसी व्यक्ति विशेष की मृत्यु के पश्चात उसकी छोडी हुई सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाये जाने वाले कर को मृत्यु कर (Death Duty) कहते हैं। मृत्यु कर के दो प्रमुख रूप होते हैं *प्रथम* **आस्ति कर (Estate Duty) तथा द्वितीय उत्तराधिकार कर (Inheritance Tax or Succession Duty)।** आस्ति कर वह कर है जोकि व्यक्ति की मृत्यु के बाद हस्तान्तरण की *जाने वाली सम्पूर्ण सम्पत्ति पर लगाया जाता है। दूसरी ओर उत्तराधिकार कर वह* कर है जोकि व्यक्ति की मृत्यु के बाद प्रत्येक उत्तराधिकारी द्वारा प्राप्त की हुई सम्पत्ति पर लगाया जाता है। उत्तराधिकार कर की तुलना मे आस्ति कर सामान्यत. अधिक उत्पादक और प्रशासनिक दृष्टिकोण से सरल होता है। **आस्ति कर के पक्ष मे दिए जाने वाले मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—(i) आस्ति कर की बाह्यता (Incedence) सम्पत्ति के अधिकारियो पर ही पडती है तथा इसका अन्तरण (Shifting) नहीं** *किया जा सकता। (ii) आस्ति कर, कर अदायगी की योग्यता के सिद्धान्त (Taxable* Capacity Principle) के अनुरूप है। यह कर उन व्यक्तियो पर लगाया जाता है जिनके पास आर्थिक शक्ति होती है त । ऐसे समय पर लगाया जाता है, जबकि कर *दाता की कर अदायगी की योग्यता निश्चित रूप से बढी हुई होती है।* (iv) यह कर देश मे धन के वितरण की असमानता को दूर करने मे महत्व पूर्ण अस्त्र है। (v) आस्ति कर सरकार की आय का एक मुख्य स्रोत है। सन् १९६१—६२ के *संशोधित अनुमानो तथा सन् १९६२—६३ के बजट अनुमानो मे आस्ति कर से* प्राप्त होने वाली आय क्रमश १२ लाख रु० और १२ लाख रु० आकी गई है।

भारतीय आस्ति कर के विपक्ष मे मुख्य तर्क इस प्रकार दिए ज ते हैं—(i) *सन् १९५३ के अधिनियम मे आस्ति कर की जो पद्धति अपनाई गई है उसकी रूपरेखा* के निर्धारण करने म ब्रिटिश पद्धति का अधिक आश्रय लिया गया है। फलत यह पद्धति भारतीय परिस्थितियो के सवथा विपरीत है। (ii) अन्य उन्नत देशों की *अपेक्षा हमारे देश मे आस्ति कर से काम करने तथा बचत करने की क्रिया को* अधिक हानि पहुचने की सम्भावना है। आस्ति कर दो प्रकार से पूजी के सचय को रोकते हैं एक तो पर्याप्त मात्रा म बचतें सरकार को हस्तान्तरित करके और दूसरे बचतो *को हतोत्साहित करके। (iii) यदि व्यवसाय या उत्पादन कार्य किसी एक उद्यमकर्ता* द्वारा सचालित किया जा रहा है, तब उसकी मृत्यु हो जान पर उस व्यवसाय को पूर्णत अथवा आशिक रूप से इसलिये बेचना पडता है कि जिससे कर अदा करने के लिये धन प्राप्त किया जा सके। *इस प्रकार आस्ति कर म बडी-बडी उत्पादन इकाइयो* को तोडने की प्रवृत्ति विद्यमान है जिसका देश के उत्पादन पर .यद्दर प्रभाव पडता

है। (iv) देश में उत्तराधिकार की इतनी अधिक प्रथायें प्रचलित हैं कि उनसे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों पर आस्ति कर की वाह्यता असमान रूप से पड़ती है। (v) आस्ति कर अधिनियम के अन्तर्गत निर्धारित की गई छूट की सीमा (५० हजार रु०) बहुत कम है। कराधान जाच आयोग ने यह सुझाव दिया है कि वर्तमान समय में छूट की सीमा में कोई परिवर्तन अपेक्षित नहीं है, परन्तु सरकार को इसमें कमी करने की सम्भावना को दृष्टिगत रखना चाहिये। (vi) यह कर मितव्ययिता (Thrift), कठिन श्रम तथा बुद्धिमत्ता को दंडित करता है। (vii) हमारे देश में कर निर्धारण के लिए सम्पत्ति के मूल्याकन का ढग बहुत दोषपूर्ण है। आस्ति कर के अधिकारियों को अत्यधिक अधिकार दे दिए गए हैं। अतः उनके द्वारा मनमानी करने की पूर्ण सम्भावना बनी रहती है।

(३) उपहार कर (Gift Tax)—"उपहार कर उस कर को कहते हैं जो किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने जीवनकाल में दिए गए एक निश्चित मूल्य से अधिक के उपहारों पर अदा किया जाता है।" इस कर को लगाने के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं—(अ) मृत्यु करों के वचन (Evasion) को रोकना तथा (आ) धन के वितरण की असमान ताओ को दूर करना। प्रो० कॅल्डोर (Kaldor) ने भारतीय कर सुधार सम्बन्धी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया था कि १० हजार रु० से अधिक मूल्य के उपहार प्राप्त करने वाले व्यक्तियों पर आरोही दरों से उपहार कर लगाया जाना चाहिए। ये आरोही दरें उपहार प्राप्तकर्ता के कुल वास्तविक धन के मूल्य के अनुसार लगाई जानी चाहियें। उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि आस्ति कर एक पुरानी विचारधारा पर आधारित है। अतः वर्तमान आस्ति कर का स्थान अन्ततोगत्वा एक सामान्य उपहार कर द्वारा ले लिया जाना चाहिये।

भारतीय उपहार कर की मुख्य विशेषतायें—(i) भारत में सन् १९५८ में उपहार कर लागू किया गया। (ii) प्रो० जे० के० मेहता (J. K. Mehta) के शब्दों में, 'यह एक प्रत्यक्ष कर है और इसे व्यक्तियों, हिन्दू अविभाजित परिवारों, कम्पनियों, फर्मों तथा व्यक्तियों के संगठनों द्वारा दिए गए उपहारों पर लगाया जाएगा।'* (iii) यह कर दातार (Donor) पर लगाया जाता है। (iv) यह उन सभी उपहारों के मूल्य पर लगाया जाता है जोकि दातार द्वारा पिछले कर-निर्धारण वर्ष (Preceding Assessment Year) में दिए गए हों। परन्तु कर की दर का निर्धारण करने के लिये विगत पांच वर्षों के उपहारों को एक साथ जोड़कर इस कुल धनराशि पर लागू होने वाली दर कर-निर्धारण वर्ष के लिए कर की दर मानी जाती है। (v) उपहार कर की दरें इस प्रकार हैं—

*"This is a direct Tax and is to be charged on gifts made by individuals, Hindu undivided families, Companies, Firms and Associations of persons." —Prof J K Mehta.

पिछले वर्ष में दिए गए उपहारों का मूल्य	दर
१. प्रथम ५०,००० रु० पर	४ प्रतिशत
२. अगले ५०,००० ,, ,,	६ ,,
३. ,, ५०,००० ,, ,,	८ ,,
४. ,, ५०,००० ,, ,,	१० ,,
५. ,, १,००,००० ,, ,,	१२ ,,
६. ,, २,००,००० ,, ,,	१५ ,,
७. ,, ५,००,०००० ,, ,,	२० ,,
८. ,, १०,००,००० ,, ,,	२५ ,,
९. ,, १०,००'००० ,, ,,	३० ,,
१०. ,, २०,००,००० ,, ,,	३५ ,,
११. पचास लाख रु० से अधिक पर	४० ,,

(vi) किसी भी एक वर्ष मे १०,००० रुपये के मूल्य तक के उपहारो को कराधान से मुक्त कर दिया गया है। यदि किसी भी एक वर्ष मे उपहारो का मूल्य इस धनराशि से अधिक हो जाता है, तब केवल उस अतिरिक्त धनराशि पर ही कर लगाया जाता है। परन्तु यदि किसी भी एक उपहार प्राप्तकर्त्ता को दिया जाने वाला उपहार ३,००० रुपये से अधिक मूल्य का है, तब, छूट की सीमा १० हजार रुपये के स्थान पर ५ हजार रुपये रक्खी गई है। (vi) इनके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण मुक्तिया (Exemptions) इस प्रकार है—(अ) केन्द्र व राज्य सरकारो, स्थानीय सत्ताओ तथा संस्थाओ को दिये गये उपहार, (आ) विवाह के अवसर पर स्त्री आश्रितों को १० हजार रु० तक के उपहार, (इ) किसी भी व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नि को १० हजार रु० तक उपहार, (ई) भारत से बाहर स्थित स्थावर (Immavable) तथा अस्थावर (Movble) सम्पत्ति के उपहार, (उ) इच्छा-पत्र के अन्तर्गत दिये गये सभी उपहार तथा मृत्यु की आशा से दिये गये उपहार तथा (ऊ) अपने आश्रितो मे से प्रत्येक को १० हजार रु० तक की बीमा पालिसियो के उपहार।

उपहार कर का मूल्यांकन—उपहार कर के पक्ष मे तीन तर्क दिये जाते हैं—(i) इससे आस्ति कर के वचन (Evasion of Estate Duty) पर पर्याप्त सीमा तक रोक लग गई है। (ii) अन्य सम्पत्ति करो के साथ ही साथ उपहार कर से भी देश मे धन के वितरण की असमानताओ को दूर करने मे सहायता मिलेगी। (iii) इससे सरकार के साधनों में भी वृद्धि हुई है। सन् १९६१–६२ के संशोधित अनुमानों तथा सन् १९६२–६३ के बजट अनुमानो मे उपहार कर से प्राप्त होने वाली आय क्रमशः ८५ लाख रु० और ८५ लाख रु० आंकी गई है।

(४) धन कर (Wealth Tax)—"वार्षिक सम्पत्ति अथवा धन कर (Annual Property or Wealth Tax) उस कर को कहते है जो कि किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति (Property), धन (Wealth) अथवा पूंजी के कुल मूल्य पर वार्षिक रूप

से लगाया जाता है।" यह एक आवर्ती कर (Recurtent Tax) होता है, जबकि अनावर्ती पूंजी कर (Capital Levy) केवल एक बार ही लगाया जाता है और मृत्यु कर (Death Dnty) भी केवल तभी लगाया जाता है जबकि व्यक्ति की मृत्यु होती है। इसीलिय धन कर की दरें साधारणतया नीची होती हैं। प्रो० कैल्डोर (Prof Kaldor) ने भारतीय कर सुधार (Indian Tax Reform) सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट म वार्षिक धन कर लगाने का सुझाव दिया था। उन्होंने यह सुझाव तीन तर्कों के आधार पर दिया—(1) आय कर तथा सम्पत्ति कर को सम्मिलित रूप से लागू करने से ही कराधान को व्यक्ति की कर देने की क्षमता (Taxable Capacity) के अनुरूप बनाया जा सकता है। (11) सम्पत्ति कर की अपेक्षा जोखिम पूर्ण निवेश (Risky Investments) को कम हतोत्साहित करते हैं। (111) यदि सम्पत्ति कर और आय कर को एक साथ लगाया जाये तब, उनका प्रबन्ध अधिक कुशलता के साथ किया जा सकता है और दोनो ही करो मे वचन (Evasion) को रोका जा सकता है।

भारत मे सम्पति कर की मुख्य विशेषतायें—(1) भारत मे धन कर सन् १९५७ म लगाया गया। (11) यह व्यक्तियो हिन्दू अविभक्त परिवारो तथा कम्पनियो के विशुद्ध धन (Net Wealth) पर लगाया जाने वाला एक वार्षिक कर है। (111) यह एक आरोही कर (Progressive Tax) है। इसमे प्रदान की जाने वाली छूट की सीमा व्यक्तियो की स्थिति म २ लाख रु० तथा अविभक्त हिन्दू परिवारो मे ४ लाख रु० है। (1V) व्यक्तियो पर छूट की सीमा से ऊपर प्रथम १० लाख रु० पर ½ प्रतिशत, अगले १० लाख रु० पर १ प्रतिशत तथा शेष धन राशि पर १॥ प्रतिशत की दर से सम्पत्ति कर लगाया जाता है। (V) अविभक्त हिन्दू परिवारो की स्थिति मे छूट की सीमा से ऊपर ६ लाख रु० पर कर की दर ½ प्रतिशत है तथा धनराशि की शेष शिलाओ (Slabs) के लिये कर की दरें ठीक वैसी ही हैं, जैसी कि व्यक्तियो के लिये हैं। (V1) कम्पनियों की स्थिति मे ५ लाख रु० की परिसम्पत्ति (Asset) पर कोई कर नही है तथा शेष धनराशि पर ½ प्रतिशत की एक सी दर से कर लगाया जाता है। (V11) व्यक्तियो तथा सयुक्त हिन्दू परिवारो के लिये सम्पत्ति (Property) तथा परिसम्पत्तियो (Assets) का मूल्य निर्धारण बाजारी दरो के अनुसार ही किया जाता है। (V111) सम्पत्ति कर के निर्धारण मे इन सम्पत्तियो को मुक्त रक्खा गया है—(अ) अधिक से अधिक २५ हजार रु० के मूल्य तक की कृषि सम्पत्तियाँ, ग्रामीण आवास-गृह, धर्मार्थ तथा धार्मिक न्यासो (Charitable and Religious Trusts) से सम्बन्धित सम्पत्तियाँ, कलात्मक कृतिया, फर्नीचर तथा अन्य व्यक्तिगत सम्पत्तिया, (आ) मान्यता प्राप्त पूर्वोपायी निधियो (Provident Funds) तथा बीमे की पालिसियों की बाकिया आदि।

सम्पति कर की समालोचना—भारत में सम्पति कर के पक्ष में मुख्य तर्क इस प्रकार दिये जाते हैं—(1) वस्तुत वर्तमान आय कर अधिनियम में आय की ज

व्याख्या की गई है, वह व्यक्ति की कर अदायगी की योग्यता का पर्याप्त माप नहीं है। इसलिये *आदमियों की कराधान पद्धति की न्यूनता पूर्ति धन पर आधारित कराधान के द्वारा की गई है।* (ii) यह कर अपेक्षाकृत अधिक न्यायपूर्ण है। देश मे आय कर के वचन (Tax Evasion) को रोकने मे तथा धन के वितरण की असमानताओं को कम करने मे धन कर एक प्रभावशाली अस्त्र है। (iii) इस कर का काम करने तथा बचाने की प्रेरणा पर अपेक्षाकृत कम बुरा प्रभाव पड़ता है। (iv) अन्त मे, इस कर से भी सरकार की आय मे वृद्धि होती है। सन् १९६१–६२ के सशोधित अनुमानो तथा सन् १९६२–६३ के बजट अनुमानो मे सम्पत्ति कर से प्राप्त होने वाली *आय क्रमशः ७५० लाख रु० और ६०० लाख रु० आँकी गई है।* **धन कर की आलोचनायें इन तर्कों पर की जाती हैं** :—(i) इस कर का बचतो को प्रोत्साहित करने की अपेक्षा अप्रेरणात्मक प्रभाव पडने की अधिक सम्भावना है। (ii) आलोचको का मत है कि जिन देशो मे धन कर लगाया गया है, यह वैयक्तिक धन (Personal Property) पर ही लगाया गया है। परन्तु भारत मे कम्पनियों को भी इस कर के क्षेत्र मे सम्मिलित कर लिया है, जो सर्वथा अनुचित है। (iii) आस्ति कर की अपेक्षा इस कर मे मूल्य निर्धारण की समस्या जटिल है।

५. *संघीय उत्पादन-कर (Central Excise Duties)*—"*एक देश मे जिस* वस्तु का उत्पादन होता है, उसके उत्पादन के पश्चात् और उस वस्तु के उपभोक्ता तक पहुचने से पूर्व उत्पादन की मात्रा पर जो कर लगाया जाता है, उसे उत्पादन कर कहते हैं।" * सविधान के अनुसार सघ सरकार शराब, अफीम, भाग तथा अन्य नशीले पदार्थों तथा नशीली औषधियो को छोडकर, भारत मे उत्पन्न किये गए अन्य सभी पदार्थों पर उत्पादन कर लगा सकती है। सघीय उत्पादन करो की प्राप्तियाँ सघ और प्रादेशिक सरकारो के बीच विभाज्य होती हैं। प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशो के परिणामस्वरूप तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति तेलो पर लगाये गए सघी उत्पादन करो की प्राप्तियो का ४०% भाग राज्यो को बाँटा जाता था। द्वितीय वित्त आयोग ने चीनी, चाय, कहवा, कागज और वनस्पति के अनावश्यक तेल, पाँच वस्तुओं पर लगने वाले सघीय उत्पादन करो को भी उन करो की सूची मे जोड दिया जिनकी प्राप्तियाँ सघ और राज्यो के बीच बाटी जाती थी। आयोग ने इन आठ वस्तुओं के उत्पादन करो की प्राप्तियो मे राज्यो का हिस्सा ४०% से घटाकर २५% कर दिया। तृतीय वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार सघीय उत्पादन करो मे राज्यो का हिस्सा २५ ~ घटाकर २०% कर दिया गया है तथा डीजल आइल, मिट्टी का तेल आदि २७ अतिरिक्त वस्तुओ पर लगाने वाले उत्पादन करो को उन करो की सूची

* "By Excise is generally meant a Tax or duty on home produced goods, either in the process of their manufacture or before their sale to Consumers with a view to restricting their Consumption" J. K. Mehta

म जोड दिया गया है जिनकी प्राप्तियाँ आगामी वर्षों में संघ तथा प्रादेशिक सरकारों के बीच बाँटी जायेंगी।

उत्पादन करों का स्वभाव (Nature of Excise Duties)—उत्पादन कर दो मुख्य उद्देश्यों से लगाया जाता है—(अ) आय प्राप्त करना और (आ) उपभोग की मात्रा को नियन्त्रित रखना। संघीय उत्पादन कर केन्द्रीय सरकार की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। उत्पादन कर की सहायता से सरकार उपभोग की मात्रा को नियन्त्रित करती है। जब सरकार यह अनुभव करती है कि किसी वस्तु के उपभोग की मात्रा कम की जानी चाहिए, तब वह उस वस्तु पर भारी उत्पादन कर (Heavy Excise Duty) लगा देती है। चूँकि यह एक परोक्ष कर (Indirect Tax) होता है, इसलिये वस्तु के उत्पादक कर की मात्रा को वस्तु के मूल्य में जोड़कर उपभोक्ता वर्ग से वसूल कर लेता है। अत विवश होकर उपभोक्ता वर्ग को उस वस्तु का उपभोग बन्द कर देना पडता है या उपभोग की मात्रा को कम देना पडता है। इसके विपरीत जब सरकार किसी वस्तु के उपभोग की मात्रा को बढाना चाहती है, तब वह उस वस्तु को उत्पादन कर से मुक्त कर देती है। फलत उस वस्तु का मूल्य कम हो जाता है और उपभोक्ता सस्ती वस्तु पाकर उस वस्तु के उपभोग की मात्रा बढा देते हैं। उत्पादन करों के पक्ष मे अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—(i) ये कर उपभोक्ताओं द्वारा वस्तु क्रय करते समय उनकी कीमतों के साथ ही छोटी छोटी किस्तों के रूप मे अदा किये जाते हैं। अत. ये सुविधाजनक होते हैं तथा उपभोक्ता वर्ग ऐसे करों का अधिक भार अनुभव नही करते। (ii) यदि उत्पादन कर विलासिता के पदार्थों पर लगाये जाय, तब ये समाज के धनी वर्ग पर अधिक भार डाल सकते हैं। (iii) हानिकारक वस्तुओं एवं औषधियों पर उत्पादन करों के लगाने से इनके उपभोग पर रोक लगाने म सहायता मिलती है। (iv) अन्त मे ये कर पर्याप्त उत्पादक (Productive) होते हैं। सन् १९६१-६२ के संशोधित अनुमानों तथा सन् १९६२-६३ के बजट अनुमानों म संघीय उत्पादन करों से होने वाली आय क्रमश. ४७,०९५ लाख रु० और ५२,३०८ लाख रु० आँकी गई है। उत्पादन करों के विरोध मे अनेक तर्क दिये जाते हैं—(i) बहुधा ये कर सामान्य उपभोग के पदार्थों पर लगाए जाते हैं जिससे इनका भार समाज के निर्धन वर्ग के व्यक्तियों पर अधिक पडता है। यही नही, जब ये कर प्रतिष्ठारक्षक अथवा रूढ आवश्यकताओं के पदार्थों, जैसे—तम्बाकू आदि पर लगाये जाते हैं, तब भी इनका अवरोही (Regresive) प्रभाव ही अधिक पडता है। (ii) चूँकि इन करों से उत्पादन मे बाधा पडती है, इसलिए देश के आर्थिक जीवन पर इनका प्रतिकूल प्रभाव पडता है। (iii) उत्पादन कर अन्तत वस्तु के मूल्य को ऊँचा करके उसकी माग को कम कर देते हैं जिसके कारण उत्पादक वर्ग को भी विवश होकर उत्पादन की मात्रा कम करनी पडती है। इस प्रकार उत्पादन कर देश मे उत्पादन की मात्रा को कम करके आर्थिक विकास की गति को अवरुद्ध करते हैं। (iv) अन्त म, उत्पादन करो मे न्याय (Justice) तथा लोच (Elasticity)

के सिद्धान्त सरलता से घटित नहीं होते। ये कर लोचपूर्ण तभी बन सकते हैं जबकि सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर लगाये जायें। परन्तु इस स्थिति में न्याय के सिद्धांत की बात एकदम दूर हो जाती है। फिर यदि न्याय के सिद्धान्त को पूरा करने के लिये उत्पादन कर विलासतादायक एवं प्रतिष्ठारक्षक वस्तुओं पर लगाए जाते हैं, तब इसमें लोचकता का अन्त हो जाता है, क्योंकि मूल्य-वृद्धि के कारण मध्यम वर्ग इन वस्तुओं का उपभोग कम कर देता है जिससे अन्तत सरकारी आय में कमी हो जाती है। इस प्रकार उत्पादन कर देश में धन के वितरण की असमानताओं को और अधिक विषम करने में योगदान करते हैं।

(६) सीमा-कर (Customs Duties) :—सीमा-कर देश की सीमाओं को पार करने वाली वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। ये कर देश के अन्दर आने वाली वस्तुओं पर आयात-करों के रूप में लगाये जा सकते हैं अथवा देश से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर निर्यात-करों के रूप में लगाये जा सकते हैं। चूंकि अति प्राचीन काल से ही इन करों को लगाने की रीति प्रचलित है, इसलिये इन्हें सीमा कर कहा जाता है। प्रो० जे० के० महता (J K. Mehta) के अनुसार, "सीमा-कर इतिहास में अति प्राचीनकालीन करों में से एक है जो उस समय व्यापारियों के लाभ पर एक कर के रूप में लगाये जाते थे। परन्तु आजकल ये कर लाभ पर न लगाकर उत्पादन करों की भांति वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। सीमा कर दो प्रकार के होते हैं (i) निर्यात कर —(Export Duties) —जब यह किसी देश से निर्यात की गई वस्तु पर लगाया जाता है तथा (ii) आयात कर (Import Duties)—जब यह किसी वस्तु की देश के क्षेत्र में आयात पर लगाया जाता है।"* सीमा-करों के मुख्य उद्देश्य दो होते हैं —(अ) सरकारी आय में वृद्धि करना तथा (आ) देश के उद्योगों को सरक्षण प्रदान करना। इसी प्रकार सीमा-कर दो आधारों पर लगाये जाते हैं —(क) मूल्य के अनुसार तथा (ख) परिमाण के अनुसार। मूल्यानुसार लगाया गया सीमा कर प्रगतिशील (Progressive) तथा परिमाणानुसार लगाया गया सीमा कर प्रतिगामी (Regressive) होता है। इन करों का भार आयात अथवा निर्यात की जाने वाली वस्तु की माग-पूर्ति के अनुसार उत्पादक अथवा उपभोक्ता वर्ग पर पड़ता है। जब किसी वस्तु की मांग बेलोचदार (Inelastic) होती है, तब उस पर लगे हुये सीमा कर का भार उपभोक्ता वर्ग पर पड़ता

* Custom duties are One of the earliest known in history and were originally considered as a Tax on profits of merchants But in the modern times, they are like excise duties a Tax on consumption Custom duties are of two types —(i) Expert duties, when the duty is imposed on the export of a commodity from a country and (ii) Import duties, when the duty is levied on the import of a commodity within the territory of a country"

Prof J K Mehta Public Finance, P. 332

है। परन्तु यदि वस्तु की माँग लोचदार (Elastic) होती है, तब उस पर लगे हुए सीमा करो का भार उत्पादक वर्ग पर पडता है। इसी प्रकार लोचदार पूर्ति वाली वस्तुओ पर लगे हुए सीमा कर का भार उपभोक्ता वर्ग पर तथा बेलोचदार पूर्ति वाली वस्तुओं पर लगे हुये सीमा कर का भार उत्पादक वर्ग पर पडता है।

भारत मे सीमा कर (Custam Duties in India) —हमारे देश मे सीमा कर मुस्लिम शासनकाल से अनवरत लगा हुआ है। उस काल मे इस कर की दर बहुत नीची-मूल्यानुसार ५ प्रतिशत थी। सन् १८५७ मे ब्रिटिश सरकार ने अपनी वित्तीय आपूर्ति के उद्देश्य से आयात-निर्यात करो की दरो मे ५ प्रतिशत से १० प्रतिशत की वृद्धि कर दी तथा विलासता की वस्तुओ पर कर की दरो को और भी ऊचा (२० प्रतिशत) रक्खा। प्रथम महायुद्धकाल मे सीमा करो की दरो मे और भी वृद्धि की गई। सन् १६२२ मे इन करो को लगाने का उद्देश्य सर्वप्रथम भेदमूलक संरक्षण (Discriminating Protection) रक्खा गया था। इससे पूर्व इन करो को केवल आय प्राप्त करने के उद्देश्य से लगाया जाता था। सन् १६४७ मे भारत सरकार ने मिट्टी के तेल आदि कुछ वस्तुओ पर सीमा कर की दरो मे कमी कर दी तथा सुपारी, शराब, सोना व चादी आदि वस्तुओं पर इस कर की दरो को बढा दिया। आजकल हमारे देश मे जिन वस्तुओ पर आयात कर लगे हुये हैं, उनमे से मुख्य वस्तुयें ये हैं —चीनी, मदिरा, मिट्टी का तेल, मशीनो मे लगाने व जलाने का तेल, मशीनरी, उपकरण, यत्र, औजार, रासायनिक पदार्थ, दवायें तथा औषधिया, मोटर-गाडिया, लकडी, लुगदी (Pulp), कागज, लेखन सामग्री (Stationery), सूती वस्त्र (Cotton Piece Goods), रेशम तथा कलात्मक रेशम (Artificial Silk) आदि। मुख्य निर्यात करो की वस्तुयें ये हैं —चाय, काली मिर्च, कच्चा मैंगनीज, सिगरेट, सिगार, चुरुट, जूट और जूट का बना माल, कच्चा ऊन व सूती वस्त्र आदि। सन् १६६१–६२ के सशोधित अनुमानो तथा सन् १६६२-६३ के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को सीमा करो मे होने वाली आय क्रमश १६,६६० लाख रु० और २०,७४० लाख रु० आँकी गई है।

(७) निगम कर (Corportion Tax) :—कम्पनियों की आय पर लगाये जाने वाले अति कर (Super Tax) को ही निगम कर कहा जाता है। यह कर कम्पनियो द्वारा अदा किया जाता है तथा उन करो से पूर्णत भिन्न होता है जोकि कम्पनी के हिस्सेदारो द्वारा लाभाशो के रूप म प्राप्त की गई आमदनियो पर लगाये जाते हैं। निगम कर के सामान्य सिद्धान्त तथा कार्य एव सचालन प्रणाली आदि वैसे ही है जैसे कि वैयक्तिक आय कर (Persnal Income Tax) के हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि निगम कर कम्पनी के हिस्सेदारो की एक ही आय पर दोबारा लगाया जाने वाला कर है, क्योकि इन विद्वानो की राय मे कम्पनी हिस्सेदारो का एक सगठन मात्र होती है तथा इसकी आय भी वास्तव मे हिस्सेदारो

की आय होती है। परन्तु यह तर्क अधिक मान्य नहीं है। वस्तुतः कम्पनी हिस्सेदारों की केवल एजेन्ट मात्र ही नहीं होती वरन् यह एक पृथक् सत्ता होती है जिसकी अपनी निजी आय होती है, जो अपने नाम से सम्पत्ति पर अधिकार रखती है और जिसकी पृथक् वैधानिक स्थिति होती है। यही नहीं, कम्पनी के हिस्सेदार की देयता (Liability) भी सीमित होती है। इन सब कारणों के परिणामस्वरूप कम्पनी साझेदारी (Partnership) अथवा स्वामित्व वाली व्यावसायिक संस्थाओं (Proprietory Concerns) से पृथक् होती है। अत निगम कर कम्पनी के हिस्सेदारो के लिये किसी भी प्रकार से दोहरे कराधान (Double Taxtion) का निर्माण नहीं करता। इस समय भारत में कम्पनियों पर लगाये जाने वाले अति कर अथवा निगम कर की दर बिना किसी अधिभार (Surcharge) के सम्पूर्ण आय कर ३० प्रतिशत है। निगम कर भारत सरकार की आय का एक मुख्य उत्पादक स्रोत है। सन् १९६१-६२ के संशोधित अनुमानों तथा सन् १९६२-६३ के बजट अनुमानों के अनुसार निगम कर से प्राप्त होने वाली आय क्रमश: १,६०,००० लाख रु० और १७,८५० लाख रु० आकी गई है।

(आ) *संघीय सरकार की आय के अ कर साधन—मुख्य मद इस प्रकार हैं—(i) ऋण सेवायें—संघ सरकार ने प्रादेशिक सरकारों तथा अन्य संस्थाओं को कुछ ऋण दे रक्खे हैं जिनसे प्रतिवर्ष केन्द्र को ब्याज प्राप्त होता है। सन् १९६१-६२ म ब्याजस्वरूप ११,५८ लाख रु० प्राप्त हुये। सन् १९६२-६३ मे इस मद से १,६७,५१ लाख रु० की आय प्राप्त होने की सम्भावना है। (ii) करेंसी और टकसाल—संघ* सरकार को १ रु० का नोट छापने तथा अन्य सांकेतिक सिक्के (Token Coins) अपनी टकसाल में ढालने का अधिकार प्राप्त है। १ रु० के अतिरिक्त दूसरे नोटों को छापने का अधिकार रिजर्व बैंक (Reserve Bank) को प्राप्त है। इससे भी संघ सरकार को कुछ आय प्राप्त होती है। सन् १९६१-६२ म इस मद स ५३,१५ लाख रु० की आय हुई थी। सन् १९६२-६३ म इस मद से ६६, ५३ लाख रु० की आय होने की आशा है। (iii) **परिवहन एवं संचार**—भारत सरकार को रेलों मे लगी हुई पूंजी पर ४ प्रतिशत की दर से लाभांश मिलता है। इसके अतिरिक्त डाक व तार की सेवा भी केन्द्रीय सरकार की ओर से प्रदान की जाती है। सन् १९६१-६२ के संशोधित अनुमानो तथा सन् १९६२-६३ के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को परिवहन एवं संचार सेवाओं से प्राप्त होने वाली आय क्रमशः २३८ लाख रु० और ६३० लाख रु० आकी गई है। (v) **सामाजिक और विकासार्थ सेवायें**—भारत सरकार स्वास्थ्य, चिकित्सा और शिक्षा के रूप मे अनेक सामाजिक सेवायें प्रदान करती है। इन सेवाओं से सरकार को कुछ आय प्राप्त होती है। सन् १९६१-६२ म सरकार को इस मद से ४५,५५ लाख रुपये की आय प्राप्त हुई थी। सन् १९६२-६३ के बजट म इस मद से केवल ३५,२६ लाख रुपये की आय उपलब्ध होने की सम्भावना है। (v) *बहुउद्देशीय नदी योजनायें—नियोजन की विगत दशाब्दी*

से भारत सरकार तथा अनेक राज्य सरकारो ने, सिंचाई, बाढ नियन्त्रण, नौकावरण, विद्युद् उत्पादन आदि अनेक उद्देश्यों को दृष्टिगत रखते हुये नदी घाटी योजनायें, कार्यान्वित की हैं। यद्यपि इन योजनाओं से सन् १९६२-६२ मे संघ सरकार को केवल ३६ लाख रुपये की आय प्राप्त होने की सम्भावना है परन्तु निकट भविष्य में निश्चितत यह सरकार की आय का एक प्रमुख स्रोत होगा। (vi) प्रशासनिक सेवायें-संघ सरकार न्याय, प्रशासन, शान्ति व्यवस्था के रूप में अनेक सेवायें प्रदान करती है जिनसे थोडी-बहुत आय भी प्राप्त होती है। सन् १९६१-६२ मे इस मद से १११ लाख रुपये की आय प्राप्त हुई थी। सन् १९६२-६३ में इस मद से ६११ लाख रुपये की आय प्राप्त होने की प्रत्याशा है।

संघीय व्यय (Union Expenditure)—भारतीय संविधान के अनुसार संघ सरकार के व्यय की महत्वपूर्ण मदें प्रतिरक्षा, विदेशी सम्बन्ध, रेलें, डाक व तार आदि हैं। इनके अतिरिक्त कुछ मदें, जैसे—आर्थिक व सामाजिक नियोजन, श्रम-कल्याण आदि संघ और प्रादेशिक दोनो सरकारो के कार्यक्षेत्र मे आती हैं। संघ सरकार के व्यय को दो भागों मे बाटा जाता है—(i) राजस्व खाते का व्यय तथा (ii) पूंजी खाते का व्यय। राजस्व खाते (Revenue Account) के व्यय की पूर्ति करो की प्राप्तियो से, रेलों, डाक व तार विभाग तथा नागरिक निर्माण कार्यों आदि के अशदानो (Contributions) से की जाती है। पूंजी खाते (Capital Account) के व्यय की पूर्ति ऋणो से तथा ऐसे ही अन्य स्रोतो से की जाती है। राजस्व खाते के अन्तर्गत व्यय की मुख्य मदें इस प्रकार हैं—(क) प्रतिरक्षा व्यय तथा (ख) नागरिक अथवा असैनिक व्यय जिसमें राजस्व की प्रत्यक्ष मागें, ऋण सेवायें, नागरिक प्रशासन विकास तथा सामाजिक सेवायें और राज्यों को दिये जाने वाले सहायक अनुदान (Grants-in-aid) सम्मिलित हैं। पूंजी खाते के अन्तर्गत व्यय की मुख्य मदें इस प्रकार हैं—स्थाई ऋणो का भुगतान, राज्य सरकारों को दिये जाने वाले अग्रिम धन (Advances) तथा इन मदो में लगने वाली पूंजीगत लागत (Capital Expenditure), जैसे—प्रतिरक्षा, विमान चालन, बन्दरगाह विकास कार्यक्रम, रेलें डाक व तार, औद्योगिक विकास, नागरिक निर्माण कार्य, सिंचाई, विद्युत् तथा बहु-धंधेयी नदी परियोजनायें आदि। सक्षेप में संघ सरकार की व्यय की मदें इस प्रकार हैं—

व्यय का ब्यौरा (Statement of Expenditure)	संशोधित व्यय सन् १९६१-६२ (लाख रु० में)	अनुमानित व्यय सन् १९६२-६३ (लाख रु० में)
१. कर ड्यूटीज तथा अन्य मुख्य मायों को एकत्रित करना (Collection of Taxes, Duties and other Principal Revenues)	२१,१५	७२,५८
२. ऋण सेवायें (Debt Services)	८६,१०	२,४७,६०

३ प्रशासनिक सेवायें (Administrative Services)	६०,००	७०,३१
४ सामाजिक एव विकासार्थ सेवायें (Social and Developmental Services)	१,५५,७२	१,६३,२४
५ बहु उद्देशीय नदी परियोजनायें (Mul i purpose River Sehemes etc)	१,२३	१,५७
६ सावजनिक कार्य (Public Works etc)	२१,६२	२१,८८
७ परिवहन एव सचार सेवायें (Transport and Communication Services)	६,२२	८,७५
८. करेंसी और टकसाल (Currency and Mint)	११,६२	२०,२३
९ पचमेल (Miscellaneous)—		
अ–पेन्शन्स (Pensions)	१०,४९	१०,४७
आ–विस्थापितो पर व्यय (Expenditure on Displaced Persons)	११,२९	९,६०
इ–अन्य व्यय (Other Expenditure)	५९,९९	८९,३८
१० अनुदान आदि (Contribritions etc)—		
अ–राज्यो को अनुदान (Grants to States)	१,९९,७५	२,१३,५४
आ–केन्द्रीय उत्पादन करा मे राज्यो का हिस्सा (States' Shares of Union Excise Duties)	९०,९३	१,१४,३६
इ–अन्य व्यय (Other Expenditure)	३,०२	३,०७
११ असाधारण मद (Extraordinary Items)	१२,७९	४१,४०
१२ प्रतिरक्षा सेवायें (Defence Services)	३,०१,९३	३,४३ ३७
कुल व्यय	१०,४५,१५	१३ ८१,६५
Deficit (—)	+३३,९६	—६०,७८
Surplus (+)		+६० ८०*

(१) प्रतिरक्षा सेवायें (Defence Servies)—भारत सरकार के व्यय की सबसे बडी मद प्रतिरक्षा सेवायें हैं। इस मद मे स्थल सेना नौ सेना और वायु सेना पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित है। ब्रिटिश शासनकाल म भारतीय जनमत द्वारा प्रतिरक्षा पर किये जाने वाले भारी व्यय (Heavy Expenditure) की कटु आलोचना की जाती थी क्योकि विशाल सख्या म सशस्त्र सेना रखना भारतीय दृष्टि कोण से अनावश्यक था। उस समय यह आशा की जाती थी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रतिरक्षा व्यय मे कमी हो जायेगी। परन्तु यह सम्भव नही हो सका क्योकि एक ओर स्थल सेना का आधुनिकीकरण (Moderanisation) और नौ सेना एव वायु सेना का विस्तार किया जा रहा है और दूसरी ओर पाकिस्तान स काश्मीर पर

* Effects of Budget Proposals

तथा चीन से सीमा सम्बन्धी विवाद चल रहा है। फलतः सेना का प्रसार किया जाना देश की सुरक्षा की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व सैनिक व्यय केन्द्रीय सरकार की कुल आय का लगभग ५०% था जो युद्धकाल मे बढ़कर ७५ प्रतिशत हो गया था। परन्तु इस समय यह घटकर लगभग २५ प्रतिशत हो गया है। विद्वानों का मत है विकास कार्यों पर अधिक मात्रा में व्यय करने की दृष्टि से प्रतिरक्षा व्यय में कमी करनी चाहिये। उनके मतानुसार शान्ति काल में प्रादेशिक सेना (Territorial Force) का विस्तार करके बड़ी सेना की आवश्यकता को कम किया जा सकता है तथा सैनिक सामग्री का देश में ही उत्पादन करके सैनिक व्यय मे कमी और विदेशो पर आश्रितता घटाई जा सकती है। वस्तुत विद्वानो का उपरोक्त मत पूर्णतया स्वीकार नही किया जा सकता। आधुनिक काल की सघर्षमयी परिस्थितिया में प्रतिरक्षा व्यय में कमी करने का विचार एक थोथी कल्पना (Mere Myth) के सदृश्य है। परन्तु यह तक मान्य है कि सैनिक सामग्री के उत्पादन में देश को आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेनी चाहिये। सन १९६२-६३ के बजट में प्रतिरक्षा सेवाओ पर ३४३ ३७ करोड रु० का व्यय प्रस्तावित है।

(२) प्रशासनिक सेवायें (Administrative Services)—इस मद मे ससद सचिवालय, गृह विभाग, विदेश विभाग, राष्ट्रपति तथा मत्री मडल आदि पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित है। देश में जनतान्त्रिक प्रशासन की स्थापना एव विदेशो से राजनैतिक सम्बन्ध सुदृढ करने के लिये भी विशेष व्यय करना पड रहा है जिसमे इस मद का व्यय निरन्तर बढता ही जा रहा है। विद्वानो का मत है कि भारत प्रशासन के इस उत्तरोत्तर बढते हुए व्यय को वहन करने की स्थिति मे नही है वस्तुत देश को अपनी आय का विस्तृत भाग सामाजिक सेवाओ एव विकास कार्यों पर व्यय करने की आवश्यकता । अत प्रशासन व्यय मे कमी की जानी चाहिय। यद्यपि सरकार के उत्तरोत्तर बढते हुए दायित्व एव मूल्य-स्तर में वृद्धि के कारण इस मद पर व्यय में वृद्धि हुई है तथापि प्रशासनिक कुशलता को कम किये बिना भी इस मद पर व्यय में कमी की जा सकती है। भारत सरकार ने सन् १९६२—६३ के बजट में इस मद पर ७० ३१ करोड रु० का व्यय प्रस्तावित किया है।

(३) सामाजिक और विकासार्थ सेवायें (Social and Developmental Services)—इस मद में वैज्ञानिक विभाग शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य एव चिकित्सा, कृषि, समाज कल्याण, पिछड़े हुए वर्गो (Backward Classes) का कल्याण तथा परिगणित जातियो (Scheduled Casts) का कल्याण आदि सेवायें सम्मिलित हैं। देश में कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना और पचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने में तथा समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की व्यवस्था करने के उद्देश्य से सामाजिक और विकास सेवाओ का कार्यक्षेत्र निरन्तर बढता जा रहा है, जिसके फलस्वरूप इस मद पर होने वाला व्यय निरन्तर बढता ही जा रहा है तथा भविष्य में और भी बढने की आशा है। आलोचको

४२

प्रादेशिक सरकारों की आय-व्यय

(States' Revenue and Expenditure)

राज्यों की आय के स्रोत (Sources of Stats' Revenue)—प्रादेशिक सरकारो की आय के मुख्य स्रोतो को ५ भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(अ) प्रादेशिक सरकारों द्वारा लगाए गए कर (Taxes) और शुल्क (Duties), (आ) नागरिक प्रशासन एव विविध कार्य, (इ) सरकारी उद्यम, (ई) सघीय उत्पादन कर, आय कर एव आस्ति कर मे राज्य सरकारो को मिलने वाला हिस्सा तथा (उ) सघ सरकार की ओर से राज्यो को मिलने वाला सहायक अनुदान। राज्यीय आय के *मुख्य कर-स्रोत ये हैं—मालगुजारी, कृषि की आय पर लगाए जाने वाले कर, मानवीय* उपभोग के लिए काम मे लाई जाने वाली मदिरा तथा अफीम, भारतीय सनई व नशीली दवाइयों पर उत्पादन कर (परन्तु इनमे इन तत्वों से मुक्त औषधि व शृंगार सम्बन्धी सामग्रिया सम्मिलित नही है) तथा वस्तुओ के क्रय-विक्रय पर लगाए जाने वाले कर आदि। इसके अतिरिक्त कुछ कर ऐसे हैं जो लगाए और उगाहे सघ सरकार द्वारा जाते है, परन्तु उनकी सम्पूर्ण प्राप्तिया राज्यो मे बाट दी जाती हैं। इनमे ये कर सम्मिलित हैं—कृषि भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्ति के सम्बन्ध मे आस्ति कर, रेल मार्ग, समुद्री मार्ग अथवा वायु मार्ग द्वारा यातायात की जाने वाली वस्तुओ और यात्रियों पर सीमान्त कर (Terminal Taxes आदि। यही नही, कुछ कर ऐसे है जो सघ सरकार द्वारा लगाये जाते हैं, परन्तु उनका सग्रह राज्यो द्वारा होता है तथा राज्यों द्वारा ही वे ले लिए जाते हैं। इन करो मे कुछ स्टाम्प शुल्क Stamp Duty) तथा औषधि व शृंगार सम्बन्धी सामग्रियो पर उत्पादन कर सम्मिलित हैं।

(अ) राज्यीय आय के कर-स्रोत—प्रादेशिक सरकारो के आय के साधन के के रूप मे मुख्य कर इस प्रकार हैं—(१) मालगुजारी (Land Revenue)—सक्षिप्त इतिहास—अति प्राचीन काल से विश्व के सभी देशो मे किसी न किसी रूप मे भूमि पर अथवा भूमि की उपज पर कर लगता चला आया है। हमारे देश मे हिन्दू शासन-काल मे मालगुजारी सरकारी आय का प्रमुख स्रोत था। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सन् १७६५ मे बगाल, बिहार व उडीसा की दीवानी का अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् भी मालगुजारी प्रथा को जारी रक्खा। सन् १७६ मे लार्ड कार्नवालिस ने

बगाल, विहार, असम और उत्तर प्रदेश के कुछ भागोमें स्थाई बन्दोवस्त (Permanent Settlement) लागू किया। इसके अन्तर्गत भूस्वामियो को कानूनी मान्यता प्रदान की गई तथा इनसे ली जाने वाली मालगुजारी की रकम सर्वदा के लिये निश्चित और अपरिवर्तनीय कर दी गई। स्थाई बन्दोबस्त से सरकार की आय निश्चित हो जाने के कारण भूमि सुधार एव कीमतो मे वृद्धि का सरकार को कोई लाभ नही मिल सका। फलत जमीदारी प्रथा का दूसरा स्वरूप अस्थाई बन्दोवस्त चलाया गया। इसमे जमीदारो द्वारा सरकार को दी जाने वाली रकम ३० या ४० वर्षों के लिये निश्चित कर दी गई। इस प्रकार जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तब देश मे दो प्रकार का भूस्वत्व-अधिकार था–प्रथम स्थाई बन्दोवस्त और द्वितीय अस्थाई बन्दोवस्त। अस्थाई बन्दोवस्त मे तीन प्रथायें प्रचलित थी :—प्रथम जमीदारी, द्वितीय महालवारी और तृतीय रैयतवारी। स्वाधीनता मिलने के पश्चात् लगभग सभी राज्यो मे मध्यस्थो का उन्मूलन करके भूधारण सुधार अधिनियम लागू किये गए हैं।

मालगुजारी की मुख्य विशेषतायें :—(i) हमारे देश के विभिन्न राज्यो मे विभिन्न रीतियो से मालगुजारी का निर्धारण किया जाता है। पूर्वी पजाव, उत्तर प्रदेश मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, देहली, बिहार, उडीसा तथा पश्चिमी बगाल आदि राज्यो मे मालगुजारी का निर्धारण शुद्ध आदेयो के आधार पर (Basis of Net Assets) किया जाता है (ii) मद्रास मे शुद्ध उत्पादन या वार्षिक मूल्य के आधार पर (Basis of Net Produce or Annual Price) मालगुजारी का निर्धारण किया जाता है। (iii) महाराष्ट्र, मैसूर, आन्ध्रप्रदेश आदि राज्यो मे मालगुजारी का निर्धारण व्यावहारिक आधार (Empirical Basis) पर किया जाता है। (iv) विगत कुछ वर्षों मे सभी राज्यों मे मालगुजारी नियन्त्रित करने के कानून बन चुके हैं। अनेक राज्यो मे प्रथम और दूसरी योजना मे दिए गए सुझावों के अनुसार अधिकतम लगान कुल पैदावार का एक चौथाई या पाँचवा भाग अथवा उससे कम नियत किया गया है। (v) दुर्भिक्ष या वाढ आदि के कारण फसलो के नष्ट हो जाने पर मालगुजारी मे छूट दी जाती है। छूट देने के लिये प्रथक्-प्रथक् राज्यो मे भिन्न भिन्न दशाएं हैं। सामान्यतया जिन क्षेत्रो मे आधी से अधिक फसल नष्ट हो जाती है, उनमे छूट दी जाती है। (vi) मालगुजारी राज्यों की आय का एक प्रमुख साधन है। बिक्री कर लगने से पूर्व राज्यो की अधिकतम आय इसी साधन से होती थी। अब भी कई राज्यो मे मालगुजारी से प्राप्त आय बिक्री कर की आय से अधिक है। सन् १६५८–५६ मे राज्यों की कर साधनो प्राप्त ५१४ १३ करोड रु० की आय मे से ६२ ८१ करोड रु० की आय मालगुजारी से प्राप्त हुई थी। उत्तर प्रदेश मे सन् १६६१–६२ मे इस स्रोत से २१ ५३ करोड रु० की आय हुई थी। सन् १६६२–६३ मे इस मद से २२ १४ करोड रु० की आय प्राप्त होने की आशा है।

मालगुजारी के गुण दोष (Merits and Demerits of Land Revenue) — एक कर के रूप मे मालगुजारी मे गुण कम और दोष अधिक हैं। इसके

मुख्य गुण तीन हैं :—(i) मालगुजारी का सबसे बडा गुण निश्चितता (Certainty) है। मालगुजारी की दर पूर्व निश्चित होती है। फलत इससे एक ओर सरकार को अपनी निश्चित आय का ज्ञान रहता है तथा दूसरी ओर कृपको को भी यह ज्ञान रहता है कि उन्हे मालगुजारी के रूप मे कितनी रकम सरकार को देनी है। (ii) इसमे उत्पादकता (Productivity) का भी गुण विद्यमान है। सन् १९१९ के शासन सुधारो तक मालगुजारी सरकार की आय का सबसे बडा साधन था। प्रादेशिक स्वशासन के दिनो मे बिक्री कर लगाने से मालगुजारी का आय के साधन के रूप मे सापेक्षिक महत्व कम हो गया। करारोपण जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) द्वारा प्रस्तुत किए गए आँकडो से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि प्रथम योजनावधि मे मालगुजारी से प्राप्त होने वाली आय राज्यो की कुल आय का १५% तक थी। आज भी अनेक राज्यों मे मालगुजारी से प्राप्त आय बिक्री कर की आय से अधिक है। (iii) मालगुजारी का तीसरा गुण सुविधाजनकता (Convenience) है। मालगुजारी फसल पकने के समय वसूल की जाती है तथा बाढ व अकाल आदि के समय छूट व मुक्ति भी प्रदान की जाती है। अत कृपक को मालगुजारी अदा करने मे अधिक असुविधा अनुभव नही होती। मालगुजारी क मुख्य दोष इस प्रकार हैं —(i) एक कर के रूप में मालगुजारी समानता (Equity) के सिद्धान्त का अनुशीलन नही करती है। मालगुजारी का निर्धारण करने मे आदेयो या वार्षिक मूल्य को आधार बनाया जाता है जिसमे कृपक की कर देने की योग्यता (Taxable Capacity) को महत्व नही दिया जाता वरन् सभी से एक सी भूमि पर समान दर से मालगुजारी वसूल की जाती है। फलत मालगुजारी का भार भी धनी कृषकों की अपेक्षा निर्धन कृषको पर अधिक पडता है। भारतीय कर जाँच समिति (Indian Tax Enquiry Committee) की सन् १९२४ की रिपोर्ट के अनुसार "यदि मालगुजारी को करारोपण की योजना के रूप मे देखा जाए, तब यह केवल प्रगतिशील ही नहीं वरन् वास्तव मे इसके विपरीत हैं।" (ii) मालगुजारी मितव्ययिता (Economy) के सिद्धान्त के विरुद्ध है। बन्दोबस्त के भारी व्यय के अतिरिक्त मालगुजारी को वसूल करने पर बडी मात्रा म व्यय करना पडता है। मालगुजारी की छोटी छोटी अदायगियो की वसूली के लिए बडी सख्या म कर्मचारी रखने पडते हैं। (iii) मालगुजारी मे लोचता (Elasticity) का गुण नहीं होता। स्थाई बन्दोबस्त के अन्तर्गत मालगुजारी को बिल्कुल भी नही बढाया जा सकता तथा अस्थाई बन्दोबस्त मे भी अगले बन्दोबस्त तक इसम वृद्धि नहीं की जा सकती। इस प्रकार देश की आर्थिक प्रगति के साथ-साथ मालगुजारी मे स्वत वृद्धि नही होती। (iv) मालगुजारी सरलता (Simplicity) के सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। इसका प्रशासन भी बहुत परम्परावादी ढग का होता है। मालगुजारी से छूट केवल विशेष अवस्थाओं मे ही दी जाती है। यही नही, लालफीताशाही (Red tapism) तथा मालगुजारी के प्रशासन के परम्परावादी ढगो के कारण इन छूटों के मिलने म भी बहुत देर हो जाती है।

सुधार के लिए सुझाव —कराधान जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने अपनी सन् १९५३-५४ की रिपोर्ट मे देश की परिवर्तित वित्त-व्यवस्था मे पूर्ण समायोजन के लिये मालगुजारी व्यवस्था के पुर्नसगठन से सम्बंधित कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार दिये :—सभी राज्यो मे मालगुजारी की दरों का समानीकरण कर देना चाहिए।(ii) प्रत्येक १० वर्ष के बाद मालगुजारी की दरो का पुर्ननिरीक्षण करके राज्य या क्षेत्र की प्रमुख फसल की कीमतो के आधार पर इनका निर्धारण करना चाहिये। (iii) मालगुजारी की दरो मे परिवर्तन कीमतो के परिवर्तन से कम होना चाहिए। (iv) स्थानीय सस्थाओ को अपने वित्तीय साधन के रूप मे मालगुजारी पर अधिभार (Surcharge) लगाने का अधिकार होना चाहिए। (v) राज्य सरकार द्वारा मालगुजारी की प्राप्तियो का १५ प्रतिशत भाग स्थानीय सस्थाओ को दिया जाना चाहिए। (vi) मालगुजारी के भार की असमानताओं को दूर करने के लिये कृषि आय का प्रयोग करना चाहिए।

(२) कृषि-आय कर (*Agricultural Income Tax*) —*इस कर की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार है* — *कृषि-आय कर कृषि से अथवा कृषि-उत्पादन की कार्य पणाली से सम्बन्धित क्रियाओं से होने वाली आय पर लगाया जाता है।* (ii) कर निर्धारण से पूर्व उसमे से अनेक घटौतियाँ (Deductions) निकाल दी जाती हैं, जैसे—राज्यो को अदा की गई मालगुजारी, स्थानीय कर, सिचाई व्यय, सिचाई के कुओं आदि के पोषण पर किया जाने वाला व्यय, कृषि कार्यों के लिये लिए गए ऋण पर अदा किया गया ब्याज, बीज, कृषि-यन्त्र एव उर्वरको के क्रय पर किया जाने वाला व्यय, पशुओं की देख-भाल पर किया जाने वाला व्यय तथा बीमे के लिये दिये गये अंशदान। (iii) *सन् १८६० मे जब सर्वप्रथम आय कर लागू किया गया था, तब इसके क्षेत्र मे कृषि तथा अकृषि दोनो ही प्रकार की आयों* को सम्मिलित किया जाता था। सन् १९३७ में प्रादेशिक स्वशासन की आरम्भना के साथ ही साथ कृषि-आय कर को सामान्य आय कर से पृथक् कर दिया गया। (iv) सन् १९३८ म विहार प्रदेश मे सर्वप्रथम कृषि आय कर पर कर लगाया गया। आजकल यह कर बिहार, असम, पश्चिमी बगाल, उडीसा, उत्तर प्रदेश, मद्रास, राजस्थान और केरल राज्यो मे लगाया जाता है। (v) कृषि-आय कर की दरें तथा छूट की सीमायें पृथक् पृथक् राज्यो मे भिन्न भिन्न हैं। बिहार, पश्चिमी बगाल, मद्रास और केरल मे छूट की सीमा (Exemption Limit) २ हजार रु० है। उत्तर प्रदेश मे यह सीमा ३,००० रु० अथवा ५० एकड या उससे कम खेतीहर क्षेत्र है। उडीसा और राजस्थान मे छूट की सीमा क्रमश ५ हजार रु० और ६ हजार रु० है। कृषि आय कर की न्यूनतम दर सामान्यत रुपये मे ६ पाई या ९ पाई है परन्तु उत्तर प्रदेश मे यह १२ पाई है। आय की सबसे ऊची शिला (Slab) पर कर की दर सामान्यत रुपये म ४ आने है, परन्तु राजस्थान मे यह केवल २८ पाई ही है, जबकि उडीसा मे १२½ आने है। (vi) विहार, उत्तर प्रदेश, केरल,

मद्रास और राजस्थान में कृषि-आय कर पर अति कर (Super Tax) भी लगाया जाता है। यह अति कर राजस्थान में ३० हजार रु० से ऊपर की आय पर तथा शेष ४ राज्यों में २५ हजार रु० से ऊपर की आय पर लगाया जाता है। अति-कर की अधिकतम दर मद्रास और केरल में ६ आने तथा बिहार, उत्तर प्रदेश व राजस्थान में ५½ आने है।

कृषि आय कर का पक्ष विपक्ष :—इस कर के पक्ष में ये तर्क दिए जाते हैं —(i) मालगुजारी का भार निर्धन कृषकों पर अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। अतः कृषकों के बीच कराभार की असमानता को दूर करने के लिये कृषि-आय कर एक महत्वपूर्ण अस्त्र है। (ii) गैर-कृषक एवं कृषक वर्गों में आय कर अन्यायपूर्ण भेद-भाव को दूर करने के लिये कृषि पर आय कर का लगाना आवश्यक है क्योंकि सामान्य आय कर के क्षेत्र में कृषक वर्ग नहीं आता है। (iii) कृषि-आय कर से *राज्य सरकारों को उनकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आय प्राप्त होती है।* सन् १९५८–५९ में राज्य सरकारों को इस कर से ७.९७ करोड़ रु० की आय उपलब्ध हुई। उत्तर प्रदेश सरकार को सन् १९६१–६२ से इस मद से ६५ लाख रु० की आय उपलब्ध हुई थी तथा सन् १९६२–६३ में इस मद से केवल ५० लाख रु० की आय प्राप्त होने की आशा है। इन्हीं कारणों से प्रभावित होकर सन् १९५२ में भारतीय करारोपण जाँच समिति (*Indian Taxation Enquiry Committee*)ने अपनी रिपोर्ट में कृषि आय कर की औचित्यता पर इन शब्दों में प्रकाश डाला था, "आय कर में से कृषि से प्राप्त आयों को कर-मुक्त रखने का कोई ऐतिहासिक या सैद्धान्तिक औचित्य नहीं है। इस सुझाव में पर्याप्त औचित्य है कि यदि प्रबन्ध व व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से उचित हो, तब एक व्यक्ति *के अन्य लाभों पर कर की दर निर्धारित करते समय कृषि आयों को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए।*"* कृषि आय कर के विरोध में मुख्य तर्क ये दी जाती हैं।— (i) आलोचकों का मत है कि कृषि-आय कर लगाने से कृषकों पर दोहरा करापान (Double Taxation) हो जाता है। कृषकों को एक बार मालगुजारी देनी होती है और दूसरी बार आय कर देना पड़ता है। इस प्रकार उनकी आय पर दोहरा *कर लग जाता है। परन्तु यह तर्क अधिक मान्य नहीं है, क्योंकि मालगुजारी कृषि-*उत्पादन के अनुसार दी जाती है और कृषि-आय कर कृषि से प्राप्त आय के अनुसार दिया जाता है। (ii) आलोचना का दूसरा तर्क यह है कि कृषि-आय कर से

---

* "There is no historical or Theoritical justification for the continued exemption from the incomes tax of income derived from agriculture . .... *There is ample justification for the proposals that incomes from agriculture*, should be taken into account for the propose of determining the rate at which the tax on the other income of the same person should be assessed, if it should prove administratively feasible and practically worth while"

Report of the Indian Taxation Enquiry Committee, 1925

कृषको पर कर का भार अत्यधिक (Excessive Burden of Taxation) हो जाता है क्योंकि कृषकों की आय इतनी अधिक नही होती कि वे अधिक कर दे सकें। परन्तु यह तर्क भी अधिक न्यायसगत नही है क्योंकि यह कर केवल उन कृषकों पर ही लगाया जाता है जिनकी आय एक निश्चित सीमा से अधिक होती है। फिर, कृषक वर्ग में आय की असमानता को दूर करने के लिये इस कर का विशेष महत्व है। (iii) इस कर के सम्बन्ध मे अतिम आलोचना यह दी जाती है कि इसका प्रबन्ध व प्रशासन अत्यन्त कठिन है। हमारे देश के अधिकाँश कृषक अशिक्षित हैं जो अपनी आय-व्यय का पूरा विवरण नही रखते। फलत कृषि आय कर की दर के निर्धारण मे बहुत कठिनाई होती है। परन्तु आलोचना का यह तर्क भी अधिक महत्वपूर्ण नही है क्योंकि सामान्य आय कर देने वाले बहुत से व्यक्ति भी अशिक्षित होते हैं। फिर शनै शनै, अनुभव से कृषक भी आय व्यय का विवरण रखना सीख जायेंगे।

(३) राज्य उत्पादन कर (State Excise Duties) —राज्य उत्पादन करों की मुख्य विशेषतायें ये हैं–(i) भारतीय सविधान के अनुसार प्रादेशिक सरकारों को (क) मानवीय उपभोग के लिये बनाई गई शराब तथा (ख) अफीम भाग, गाँजा व अन्य नशीली औषधियो एव पदार्थों पर उत्पादन कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। (ii) ये उत्पादन कर राज्यो की आय का एक प्रमुख साधन है। सन् १९६१–६ मे इस स्रोत से राज्य सरकारो को ४५ ६६ करोड रु० की आय प्राप्त हुई। उत्तर प्रदेश सरकार को सन् १९६१–६२ मे इस मद से ७ ७८ करोड रु० की आय प्राप्त हुई थी तथा सन् १९६२–६३ मे इस मद से केवल ७·६६ करोड रु० की आय प्राप्त होने की आशा है। (iii) इन करो के लगाने के मुख्यत दो उद्देश्य हैं— (अ) राज्य के लिये आय प्राप्त करना तथा (आ) नशीले पदार्थों के उपभोग पर नियन्त्रण करना। (iv) स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व अ ग्रजी सरकार की आबकारी नीति 'अधिकतम आय और न्यूनतम उपभोग की नीति' थी। फलत सरकार ने मद्यसार पर भारी कर लगा रखा था। सन १९४७ मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक प्रदेशो मे मद्य निषेध की नीति अपनाई गई है। भारतीय सविधान की ४७ वीं धारा मे भी राज्यो को मद्य-निषेध की नीति अपनाने का निर्देश दिया गया है। (v) इस समय विभिन्न राज्यो की नीति पृथक पृथक् स्तर की है— (अ) महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास और आन्ध्र प्रदेश मे पूर्ण मद्य निषेध है। (आ) उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उडीसा, मैसूर, असम, केरल और पूर्वी पजाब मे आंशिक मद्य निषेध (Partial Prohibition) है तथा (इ) बगाल और बिहार राज्यो मे परिमित प्रयोग की नीति अपनाई गई है। इन राज्यो मे मद्य सेवन पर कोई प्रतिबन्ध नही है, परन्तु मद्यसार की दुकानो की सख्या कम कर दी गई है तथा मद्यसार के बिकने के दिन व घन्टे भी कम कर दिये गए हैं। (ई) राजस्थान व काश्मीर मे अभी तक मद्य निषेध नहीं अपनाया गया है (vi) सन् १९५७-५८ के अन्त तक देश के समस्त क्षेत्र के लगभग ३२% भाग पर तथा जनसख्या के लग-

भग ४२% भाग पर मद्य निषेध लागू हो चुका है।

मद्य निषेध नीति के पक्ष विपक्ष मे तर्क—भारत मे मद्य निषेध की नीति को अपनाने के पक्ष मे ये तर्क दिये जाते हैं —(i) मद्यपान एव जन स्वास्थ्य -मद्य निषेध जाँच समिति (Prohibition Enquiry Committee) के अनुसार "एक कल्याण-कारी राज्य का निश्चित आधार उसकी चरित्रवान एव स्वस्थ जनता है ।" अत. भारतीय नागरिको के चरित्र को ऊचा उठाने तथा स्वास्थ्य को समुन्नत बनाने के लिए मद्यनिषध आवश्यक है। (ii) **बचतों मे वृद्धि**—मद्य-निषेध की नीति अपनाने से देश मे मद्यपान करने वाले व्यक्तियों के व्यय म कमी होगी जिससे उनम बचत करने की आदत पड सकेगी। जॉर्ज बी० कटन (Jeorge B Cutten) ने बताया कि अमेरिका म मद्य-निषध की नीति से बचतों की जमा सन् १६२० मे प्रति व्यक्ति ११४ डालर से बढकर सन् १६२४ मे २११ डालर हो गई थी। (iii) **कल्याण मे वृद्धि:**—मद्य-निषध की नीति से नागरिको के व्यय मे बचत होती है जिससे वे अपनी अन्य आवश्यक उपभोग की वस्तुयें क्रय कर सकते हैं तथा अपने जीवन-स्तर को ऊचा उठा सकते हैं। (iv) **सामाजिक बुराइयों का अन्त**—महात्मा गाधी जी ने मद्यसार को नैतिक बुराई के सम्बन्ध मे लिखा है, "लाल पानी की ओर दौडना सुलगती हुई भट्टी या भरी हुई नदी की ओर दौडने से भी अधिक भयानक है। अन्तिम तो केवल शरीर को ही विनिष्ट करती है, जबकि प्रथम शरीर व आत्मा दोनों को विनिष्ट करती है।' वस्तुत समाज म नैतिक बुराइया का रोकने के लिये मद्य-निषेध की नीति अपे-क्षित है। रोबर्ट पियर्सन (Robert Pierson) के अनुसार मद्य निषेध से ५०% ऐसे अप-राधों का अन्त हो जाता है जिनका दण्ड फासी अथवा कारावास है तथा ८५% दुरा-चार या इससे निम्न श्रेणी के अपराध समाप्त हो जाते हैं। (v) **उत्पादन कर का भार निर्धन वर्ग पर अधिक पडता है**—विद्वानों का मत है कि मद्यसार अथवा अन्य किसी भी वस्तु पर लगे हुए उत्पादन कर का भार निर्धन वर्ग पर अधिक पडता है। इसलिए निधन वर्ग को कराभार से मुक्त करने के लिए मद्य निषेध की नीति का अप-नाना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि इससे मद्यपान करने वाले व्यक्तियों की मद्य सेवन करने की आदत ही छूट जाती है। (vi) **साधनो का कल्याणकारी उत्पादनों की ओर स्थानान्तरण**—मद्य निषध की नीति के फलस्वरूप मद्यसार के उत्पादन और विज्ञा-पन पर होन वाले भारी व्यय की बचत होती है। इस धन का उपयोग देश मे दूसरे प्रकार के उद्योगो की स्थापना मे किया जा सकता है। इस प्रकार देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है तथा देश की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि की जा सकती हैं।

मद्य निषेध नीति अपनाने के विपक्ष में दी जाने वाली मुख्य तर्क इस प्रकार —है — ( ) **सरकारी वित्त**—कुछ राज्य सरकारो की ओर से पूर्णत मद्य निषध की नीति लागू करने के विपक्ष म प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि इससे उनकी आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत सर्वदा के लिए बन्द हो जाएगा। अत इन राज्यों ने यह निष्कर्ष दिया है कि जब तक केन्द्र इस हानि को पूरा न करे, वे पूर्णत मद्य-निषेध नहीं करेंगे।

वास्तव में राज्य सरकारों को पूर्ण मद्य निषेध की नीति अपनाने से न केवल उनकी आय की हानि होगी वरन् इस नीति को तीव्रता और शक्ति से लागू करने पर पृथक् से व्यय भी बढ जाएगा। भारतीय करारोपण जाँच समिति (Indian Taxation Enquiry Committee) ने सन् १९२५ मे अनुमान लगाया था कि देश मे मद्य-निषेध की नीति को सफल बनाने के लिए देश की समस्त कर-आय (Tax Revenue) का १८% व्यय करना पड़ेगा। (ii) **प्रशासनिक कठिनाइयां** —हमारे देश में मद्य-निषेध नीति की सफलता के सम्बन्ध मे अनेक प्रशासनिक कठिनाइयां उत्पन्न होने की सम्भावना है। चू कि देश में गुप्तरूप से मदिरा बनाई जाती है, इसलिए इसको सरलता से नही रोका जा सकता। आन्ध्र-मद्य निषेध जाँच-समिति (Prohibition Enquiry Committee of Andhra Pradesh) की सन् १९५४ की रिपोर्ट के अनुसार आन्ध्र-प्रदेश मे मद्य निषेध असफल रहा है। समिति के मतानुसार "मद्य निषेध से शराबखोरी का दुर्गुण कम नहीं हो सका है। इसके विपरीत व्यापक रूप से गुप्त रूप से मदिरा बनाने को प्रोत्साहन मिला है, अराजकता और अपराध की प्रवृत्ति मे वृद्धि हुई है, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों मे भ्रष्टाचार बढा है और सक्षेप मे, अच्छे परिणामों के विपरीति इसका प्रभाव व्यक्ति, समाज राज्य सभी के लिये अत्यन्त घातक और भयकर सिद्ध हुआ है।" (iii) **कानून व नैतिक स्तर** —विद्वानों का मत है कि मद्य-निषेध की कानूनी नीति अपनाकर देश के नागरिकों का नैतिक-स्तर ऊचा नही किया जा सकता। इसका एकमात्र उपाय जनता को नैतिकता की शिक्षा देना है जिसके पश्चात् मद्य-निषेध स्वत ही सम्भव हो जाएगा। श्री गिब्बन (Gibbon) के शब्दों मे "सुधार की माग व्यक्ति की ओर से ही होनी चाहिये, बाहर से नहीं। कानून के द्वारा व्यक्ति का सुधार नहीं किया जा सकता।"

उपसहार —वस्तुत मद्यपान एक सामाजिक बुराई है। यद्यपि देश की वर्तमान स्थिति मे पूर्णत मद्य निषेध की नीति अपनाना अधिक व्यावहारिक नही है, परन्तु मद्य-निषेध की परिमित नीति सभी राज्यों मे अवश्य अपनाई जानी चाहिए। मदिरा-व्यापार पर ऊची दर से कर लगाना चाहिए तथा जनमत को मद्यपान के विरुद्ध शिक्षित करना चाहिए। वास्तव मे इस सामाजिक बुराई का निवारण जनता की मनोवृत्ति को बदलकर ही किया जा सकता है।

(४) **बिक्री-कर (Sales Tax)**—Haig और Shoup के शब्दानुसार, "बिक्री कर उस कर को कहते हैं जोकि कर के कानून मे उल्लिखित अपवादों को छोड़कर, दृश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति की सभी व्यावसायिक बिक्रियों पर लगाया जाता है, चाहे वह बिक्री फुटकर दशा में हुई हो अथवा थोक या निर्माण की दशाओं मे।*"

* Sales Tax is any tax which includs within its scope all business sales of tangible personal property at either the retailing, wholesaling or manu facturing stage, wi h exceptions noted in the taxing law "

Haig and Shoup The Sales Tax in American States.

बिक्री कर (Sales Tax) और क्रय कर (Purchase Tax) में स्पष्ट अन्तर है। यद्यपि बिक्री के प्रत्येक सौदे में क्रय भी होता है, तथापि बिक्री कर विक्रेताओं पर ही लगाया जाता है और सरकार द्वारा उन्हीं से वसूल किया जाता है, जबकि क्रय कर क्रेताओं पर लगाया जाता है और उन्हीं से वसूल किया जाता है। बिक्री कर के अनेक स्वरूप होते हैं—(i) चुनीदा बिक्री कर (Selective Sales Tax)—जब बिक्री कर केवल कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर लगाया जाता है, तब इसे चुनीदा बिक्री कर कहते हैं। (ii) सामान्य बिक्री कर—जब बिक्री कर सभी वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है (केवल उन वस्तुओं को छोड़कर जोकि सरकार या विधान मण्डल द्वारा कर मुक्त कर दी जाती हैं), तब इसे सामान्य बिक्री कर कहा जाता है। (iii) एक-स्तर बिक्री कर (Single-point Sales Tax)—जब बिक्री कर, बिक्री के केवल एक स्तर पर लगाया जाता है अर्थात् यह उत्पादकों द्वारा की जाने वाली बिक्री पर लगाया जाता है अथवा उस स्तर पर लगाया जाता है जबकि खुदरा व्यापारी द्वारा वस्तु के अन्तिम उपभोक्ता के हाथ वस्तु बेची जाती है, तब इसे एक स्तर बिक्री कर कहते हैं। (iv) बहु स्तर बिक्री कर (Multi-point Sales Tax)—यदि एक वस्तु जितनी बार बेची जाये और उस पर उतनी ही बार कर लगाया जाए, तब इसे बहु-स्तर बिक्री कर कहते हैं। इस प्रकार सर्वप्रथम यह कर उस समय लगाया जाता है जबकि उत्पादक थोक व्यापारी को अपना माल बेचता है, फिर उस समय लगाया जाता है जब थोक व्यापारी खुदरा व्यापारी को माल बेचता है और अन्त में उस समय पुनः लगाया जाता है, जब खुदरा व्यापारी उपभोक्ताओं के हाथ अपनी वस्तुयें बेचता है। (v) कुल प्राप्ति कर (Gross Receipts Tax)—जब कोई कर केवल वस्तुओं की ही बिक्री पर नहीं वरन् सेवाओं की बिक्री पर भी लगाया जाता है, तब इस कर को कुल प्राप्ति कर कहते हैं। (vi) पण्यावर्त कर (Turnover Tax)—जब कभी बिक्री कर के निर्धारण के आधारस्वरूप वस्तुओं तथा सेवाओं की बिक्री से मिलने वाली प्राप्तियां अथवा आमदनियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्राप्तियां भी सम्मिलित कर ली जाती हैं, जैसे-मकान के किराये तथा शेयरों के स्वामित्व से प्राप्त होने वाली आय आदि, तब ऐसे कर को कुल आय कर (Gross Income Tax) अथवा सौदा कर (Transaction Tax) या पण्यावर्त कर (Turnover Tax) कहा जाता है।

वैधानिक स्थिति—सन् १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम के अन्तर्गत वस्तुओं अथवा पदार्थों की बिक्री पर लगने वाले कर प्रान्तों को सौंप दिए गए थे। सन् १९५० के संविधान में भी समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय अथवा विक्रय पर करों के लगाने व उनके संग्रह करने का अधिकार राज्यों का ही दिया गया है। परन्तु साथ ही इन स्थितियों में राज्यों को बिक्री कर लगाने से रोक दिया गया है—(i) देश की सीमाओं से बाहर के व्यापार के सम्बन्ध में किए जाने वाले क्रय अथवा विक्रय, (ii) दूसरे राज्य में उपभोग के लिए दी गई वस्तुओं की

बिक्री तथा (iii) अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य से सम्बन्धित बिक्रिया। सन १९५६ मे एक अधिनियम पास करके भारत सरकार ने अन्तर्राज्यीय व्यापार अथवा वाणिज्य की दृष्टि से कुछ वस्तुओ को "विशेष महत्व" की घोषित कर दिया है तथा इन वस्तुओ पर बिक्री कर लगाने का अधिकार संघ सरकार को दिया गया है।

विभिन्न राज्यों मे बिक्री कर की दरें—सर्वप्रथम सन् १९ ८ मे मध्य प्रदेश सरकार द्वारा पैट्रोल पर चुनीदा बिक्री कर (Selective Sales Tax) लगाया गया। सामान्य बिक्री कर सर्वप्रथम सन् १९३९ मे मद्रास द्वारा बहु-स्तर आधार पर लगाया गया था। सन् १९४१ मे बगाल सरकार ने एक-स्तर सामान्य बिक्री कर (Single-point General Sales Tax) लगाया था। उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १९४८ मे बहु-स्तर कर लगाया। आजकल सभी राज्यो मे किसी न किसी रूप मे बिक्री कर लगा हुआ है। विभिन्न राज्यो मे प्रचलित बिक्री कर प्रणाली की दरें पृथक् पृथक् हैं। (i) मद्रास मे तीन पाई प्रति रुपये की दर से सामान्य बिक्री कर (General Sales Tax) लगाया जाता है तथा साथ ही कुछ विलासता की वस्तुओ पर तीन पाई अथवा छ पाई प्रति रुपये की दर से एक अतिरिक्त कर (Additional Tax) भी लगाया जाता है। (ii) महाराष्ट्र मे सन् १९५४ से द्विस्तर कर (Two-point Tax) लगाया जाता है। इसमे एक ऐसा कर, जोकि सामान्य पदार्थों पर , पाई प्रति रुपये की दर से और कुछ विशिष्ट वस्तुओ पर ६ पाई से लेकर १५ पाई प्रति रुपये की दर से बिक्री की प्रथम अवस्था पर लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त ६ पाई प्रति रुपये की दर से बिक्री के अन्तिम स्तर पर कर लगाया जाता है। (iii) पूर्वी बगाल म ९ पाई प्रति रुपये की एक-स्तर बिक्री कर (Single-point Sales Tax) लगाया जाता है। (iv) उत्तर प्रदेश मे कुछ चुनी हुई वस्तुओ पर तीन, छ अथवा नौ पाई प्रति रुपये की दर से एक-स्तर बिक्री कर (Single-point Sales Tax) लगाया जाता है तथा अन्य वस्तुओ पर तीन पाई प्रति रुपये की दर से बहु-स्तर बिक्री कर (Multi points Sales Tax) लगाया जाता है।

बिक्री कर का महत्व—बिक्री कर के तीन मुख्य लाभ हैं—(i) उत्पादकता (Productivity) —बिक्री कर को अधिकार राज्यो के राजस्व व्यवसायो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अनेक राज्यो मे यह सरकारी आय के सबसे बडे उत्पादक स्रोतो मे से एक है और कुछ राज्यो मे यही आय का एक मात्र सबसे बडा स्रोत है। मद्रास मे इस कर से कुल राजस्व की लगभग ⅓ आय प्राप्त होती है और महाराष्ट्र मे कुल राजस्व के ¼ वें भाग से कुछ अधिक आय प्राप्त होती हैं। सन् १९६० – ६१ मे सभी राज्यो को इस कर से १३२.१२ करोड रु० की आय उपलब्ध हुई थी। उत्तर प्रदेश सरकार का सन् १९६१ – ६२ मे इस मद से १३.५० करोड रु० की आय प्राप्त हुई थी और सन् १९६२—६३ मे इस मद से १३.७० करोड रु० की आय प्राप्त होने की आशा है। (ii) लोचता (Elasticity)—बिक्री कर का दूसरा महत्वपूर्ण लाभ उसकी लोचता है। करो की दरो मे थोडी सी वृद्धि करके, कराधान

की वस्तुओ की सख्या मे वृद्धि करके तथा कर-मुक्ति (Tax Exemption) की सीमाओं को कम करके कर से प्राप्त होने वाली राशि मे बहुत अधिक वृद्धि की जा सकती है। (iii) विस्तृत व्याप्तता (Wide Spread Incidence) – बिक्री कर और विशेष कर सामान्य बिक्री कर (General Sales Tax) की एक अन्य विशेषता यह है कि इसका भार जनता के सभी वर्गों पर पडता है। कराधान जाच आयोग (Taxation Enquiry Commissoni) के मतानुसार, "सरकारी आय के बडे साधन के रूप मे बिक्री कर का गुण यही है कि यह वस्तुओं तथा व्यक्तियों की एक बडी सख्या तक फैला होता है और इसी कारण ही कर की दर अपेक्षाकृत नीची करके पर्याप्त मात्रा मे सरकारी आय प्राप्त करना सम्भव हो जाता है।'

बिक्री कर के दोष —भारत मे बिक्री कर के लगने स मुख्य समस्यायें इस प्रकार हैं —(i) अवरोहीपन (Regressiveness) —बिक्री कर और विशेषतया सामान्य बिक्री कर अवरोही प्रकृति का होता है। चूकि धनी व्यक्तियो की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों मे उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume) अधिक, पाई जाती है, इसलिये इस कर का भार निर्धन वर्ग के लिये और भी अधिक कष्टप्रद हो जाता है। मध्यम वर्ग तथा श्रमिक वर्ग के व्यक्तियो पर बिक्री कर का भार आय कर के भार की अपेक्षा अधिक पडता है। भारत के सबसे बडे नगरो म अभी हाल मे ही किये गये एक अध्ययन के अनुसार ३०० रुपये और ४०० रुपये मासिक के बीच की आय वाले व्यक्तियो को बिक्री कर के रूप मे उससे दुगुनी रकम अदा करनी पडती है जितनी कि उनको आय कर के रूप मे अदा करनी पडती। ८०० रुपये मासिक से कम की सभी आमदनियो पर आय कर की अपेक्षा बिक्री कर का भार अधिक पडता है। इस समस्या के निवारणार्थ कराधान जाच आयोग ने एक व्यावहारिक सुझाव दिया है कि बहु-स्तर कर (Multi-point Tax) तथा एक-स्तर कर 'Single point Tax) को सम्मिलित रूप से लागू करना चाहिये। बहु स्तर कर सभी वस्तुओ पर अत्यन्त नीची दर से लगाना चाहिये तथा एक ऊचा एक-स्तर कर कुछ चुने हुये पदार्थों पर लगाना चाहिये। अपेक्षाकृत निर्धन वर्गों के उपभोग मे काम आने वाली वस्तुओ को एक-स्तर कर से मुक्त कर देना चाहिए तथा बहु स्तर कर मे पर्याप्त छूटें (Exemptions) प्रदान करनी चाहियें। (ii) **अन्तर्राज्यीय व्यापार (Inter-State Trade)** —अन्तर्राज्यीय व्यापार पर बिक्री कर के प्रभाव की समस्या एक गम्भीर समस्या होती है। इस समस्या के निवारण के लिये भारत के नवीन सविधान मे यह व्यवस्था की गई है कि कोई भी राज्य अपनी सीमा से बाहर माल के क्रय या विक्रय पर कर नही लगा सकता। सन् १९५६ के एक अधिनियम मे *कोयला, सूत, कपडा, लोहा व इस्पात, जूट और तिलहन अन्तर्राज्यीय व्यापार के* महत्व की वस्तुयें स्वीकार कर ली गई तथा इन पर सघ सरकार को बिक्री कर लगाने का अधिकार दे दिया गया। अन्तर्राज्यीय व्यापार की रुकावट कम करने के लिये सघ सरकार ने सन् १९५७ मे मिलो के बने वस्त्र, चीनी और तम्बाकू पर राज्यीय बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर (Additional Excise

Duties) लगा दिया है। १ अप्रैल सन् १९६१ से अतिरिक्त उत्पादन कर लगाये जाने वाली वस्तुओ मे रेशमी वस्त्र को भी सम्मिलित कर लिया है। इन करो की प्राप्तिया वित्त आयोग (Finance Commission) की सिफारिशो के आधार पर राज्यो म बाटी जाती हैं। (iii) प्रशासन (Administration) :—अधिकाश राज्यो मे बिक्री कर का प्रशासन बहुत पेचीदा बन गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि विभिन्न राज्यो मे कर-मुक्ति तथा करो की दरो मे और विभिन्न पदार्थों के लिये कराधान के स्तरो (Stages) मे बहुत अन्तर पाये जाते हैं। बिक्री कर लगने से व्यापारियो को लम्बे-चौडे खाते व हिसाब-किताब रखने पडते हैं। सरकारी कर्मचारियो द्वारा व्यापारियो के खातो की जाच व निरीक्षण का कार्य भी बहुत असुविधाजनक होता है और इससे करदाताओ को वचन (Evasion) का प्रोत्साहन मिलता है। इस समस्या को सुलझाने के लिए कराधान जाच आयोग (Taxation Enquiry Commision) ने सुझाव दिया है कि जिन व्यापारियो की वार्षिक बिक्री ५ हजार रुपये से कम हो, उन्हे कराधान से मुक्त कर देना चाहिये तथा इसमे अधिक वार्षिक बिक्री वाले व्यापारियो पर बहु-स्तर बिक्री कर लगाना चाहिए। वास्तव मे कर वचन कराधान की उलझनपूर्ण पद्धति के कारण ही सम्भव होता है। इसलिये जाँच आयोग ने यह सुझाव दिया है विभिन्न राज्यो मे कर मुक्तियों तथा कर की दरो म कम से कम भिन्नता होनी चाहिये। (iv) एकत्रीकरण की लागत —अन्य करो की अपेक्षा बिक्री कर के एकत्रीकरण की लागत बहुत अधिक होती है। श्री टायलर (Taylor) के अनुमानानुसार बिक्री कर के एकत्रीकरण मे उससे प्राप्त होने वाली आय का ⅓ भाग लग जाता है। इसके अतिरिक्त छोट-छोटे व्यापारियो के खाता के निरीक्षण म बहुत अधिक व्यय करना पडता है। (v) मुद्रा स्फीतिजनक प्रभाव — चूकि बिक्री कर लगने से वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि होती है जिससे सामान्य मूल्य-स्तर मे वृद्धि हो जाती है, इसलिये इसका प्रभाव मुद्रा-स्फीतिजनक होता है। (vi) एकीकरण —बहु-स्तर बिक्री कर लगाने पर बडी बडी उत्पादक फर्में वितरण और खुदरा बिक्री के कार्य भी स्वय करने लगती हैं। इस प्रकार बीच के कई स्तरो पर बिक्री कर की अदायगी से बचने का प्रयत्न किया जाता है। अत इस एकीकरण की व्यवस्था से फर्मों को बहुधा एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त हो जाता है।

उपसहार —वस्तुत हमारे देश म बिक्री कर से सम्बन्धित मुख्य समस्यायें प्रशासनिक अकुशलता और कर के अवरोही प्रभाव की हैं। परन्तु राज्य सरकारों की आय प्राप्त करने की आवश्यकतायें इतनी अधिक बढ गई हैं कि भारी मात्रा मे सरकारी आय प्रदान करने की क्षमता के कारण, बिक्री कर राज्यो की कर सरचना (Tax Structure) का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया है। जहा तक इसकी कठोरता का प्रश्न है उसे उदारतापूर्ण कर मुक्तिया प्रदान करके तथा अन्य सुविधाय देकर पर्याप्त सीमा तक कम किया जा सकता है।

(५) अन्य कर व शुल्क (Other Texes and Duties, — (i) स्टाम्प शुल्क (Stamp Duties) —स्टाम्प दो प्रकार के होते हैं —(अ) अदालती और

(आ) गैर अदालती । प्रथम श्रेणी मे स्टाम्पो के रूप मे वसूल की गई कोर्ट फीस तथा अदालती स्टाम्पो की बिक्री की आय सम्मिलित है। प्रथम श्रेणी मे बिल ऑफ एक्सचेंज (Bill of Exchanges) हुण्डियो (Hundies) तथा अन्य दस्तावेजो (Promissory Notes) पर लगाये जाने वाले स्टाम्पो की बिक्री तथा दस्तावेजों के मुद्रांकित करने का शुल्क आदि से होने वाली आय सम्मिलित है। विगत वर्षों मे राज्य सरकारों की इस मद मे प्राप्त आय मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। उत्तर प्रदेश सरकार का सन् १९६१–६२ म इस मद से ४ २५ करोड रुपये की आय उपलब्ध हुई थी तथा सन् १९६२–६३ मे इस मद से ४ ३५ करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा है। (ii) रजिस्ट्रेशन (Registration) – इस मद की आय दस्तावेजो की रजिस्ट्री कराने की फीस, रजिस्ट्रीशुदा दस्तावेजो की नकल की फीस मकानो की बिक्री पर अधिभार (Surcharge) तथा विविध फीसो से होती है। चूंकि सम्पत्ति का हस्तान्तरण बिना लिखित समझौते पर सरकारी टिकिट (Stamps) लगाए नही हो सकता, इसलिए इस मद से राज्य सरकारो को निश्चित रूप स आय प्राप्त होती है। उत्तर प्रदेश सरकार का सन् १९६१-६२ म इस मद से २ ६१ लाख रुपये की आय प्राप्त हुई थी और सन् १९६२ ६३ म २ ६२ लाख रुपये की आय प्राप्त होने की आशा है। (iii) मनोरंजन कर Entertainment Tax)—हमारे देश के लगभग सभी प्रदेशो मे मनोरंजन कर लगाया गया है। प्रत्येक प्रदेश म इस कर की दर भिन्न-भिन्न है। यह कर सिनेमा, ड्रामा, कुश्ती, नाच-गाने के विषय कार्यक्रम आदि पर लगाया जाता है। यद्यपि मनोरंजन कर म पर्याप्त उत्पादकता (Productivity) होती है, तथापि इसम निश्चितता (Certainty) और लोचता (Elasticity) के गुण नही होते। (iv) वाहनों पर कर (Tax on Vehicles)—राज्य सरकारों को मोटर गाड़ियों के विक्रय, पैट्रोल के विक्रय और विद्युत कर आदि अनेक कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। इन करो से राज्यों को बहुत बड़ी मात्रा म आय प्राप्त होती है। उत्तर प्रदेश सरकार को सन् १९६१–६२ मे इस मद से ३ २५ करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी तथा सन् १९६२–६३ मे ३ ४३ करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा है।

(आ) नागरिक प्रशासन एव विविध कार्यों से प्राप्त राज्यीय आय (States' Revenues from Civil Administration and Miscellaneous Works .— नागरिक प्रशासन की मद के अन्तर्गत जेल (Jail), न्याय (Justice) एव पुलीस (Police) विभाग से होने वाली आय सम्मिलित की जाती है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों को शिक्षा (Education), चिकित्सा सार्वजनिक स्वास्थ्य (Public Health), कृषि, पशुपालन, सहकारिता, उद्योग व पूर्ति (Industry and Supplies), सामुदायिक एव राष्ट्रीय प्रसार सदाओ आदि सामाजिक एव विकासार्थ सेवाओ के अन्तर्गत भी थोडी-बहुत आय प्राप्त होती है। राज्य सरकारें स्थानीय संस्थाओ, कृषको, उद्योगपतियो, विस्थापितों, राज्य विद्युत मण्डलो तथा सहकारी संस्थाओं को ऋण भी

सेवाएं, अकाल सहायता व विविध मद आदि सम्मिलित हैं। प्रान्तीय व्यय की मुख्य मदें इस प्रकार हैं:—

(१) सुरक्षा सेवायें (Securty Services)—इस मद मे मुख्य रूप से सामान्य प्रशासन (General Admistration), न्याय, जेल एव पुलिस विभाग पर होने वाला व्यय सम्मिलित किया जाता है। *स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व इस मद पर राज्यों की* आय का एक बडा भाग व्यय होता था। राज्य सरकारो के बढते हुए उत्तरदायित्व के कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी सुरक्षा सेवाओ पर व्यय की मात्रा बढती ही जा रही है। फलत. इस मद पर सभी राज्यो मे मिलाकर कुल व्यय जो सन् १९५१–५२ मे १०९·६५ करोड रु० था, सन् १९६०–६१ मे बढकर १५६·७४ करोड रु० हो गया। विद्वानो का मत है कि एक कल्याणकारी एव निर्धन राज्य मे सुरक्षा सेवाओ पर इतना अधिक व्यय सर्वथा अनुचित है। वस्तुत आवश्यकता यह है कि सुरक्षा सेवाओ पर किये जाने वाले व्यय का प्रतिशत कम करके सामाजिक एव विकासार्थ सेवाओ पर व्यय का प्रतिशत बढाना चाहिये। परन्तु व्यवहाररूप मे राज्य शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने के अपने प्राथमिक उत्तरदायित्व की किसी भी प्रकार अवहेलना नही कर सकता। यही नही, मंहगाई के कारण राज्यीय कर्मचारियो के वेतन और भत्ते भी बढाना आवश्यक हो गया है। अतः सुरक्षा सेवाओ पर व्यय होने वाली राशि का बढना स्वाभाविक ही है। उत्तर प्रदेश मे सन् १९६१–६२ मे इस मद पर १५·१५ करोड़ रु० व्यय किये गये तथा सन् १९६२–६३ मे लगभग १५·५२ करोड रु० के व्यय होने का अनुमान है।

(२) सामाजिक एव विकासार्थ सेवायें (Social and Developmental Services)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कल्याणकारी राज्य (Welfare S ate) *की स्थापना का ध्येय अपनाने, आर्थिक नियोजन (Economic Planning) को* कार्यान्वित करने तथा देश मे समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करने के उद्देश्य को अपनाने के कारण राज्य सरकारो द्वारा सामाजिक एव विकासार्थ सेवाओ पर अधिकाधिक व्यय किया जा रहा है। इन सेवाओ के अन्तर्गत शिक्षा, पशुपालन, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सहकारिता, सिचाई, सामुदायिक एव राष्ट्रीय-प्रसार सेवायें, बहु-उद्देशीय नदी घाटी परियोजनायें, सडक निर्माण, श्रम-कल्याण, औद्योगिक विकास, ग्राम्य विकास एव कृषि सुधार सम्बन्धी कार्य गिने जाते हैं। विद्वानो का मत है कि राज्यों मे सामाजिक विकास एव निर्माण कार्यों की गति मन्द किये विना भी इस मद पर किये जाने वाले व्यय मे पर्याप्त मितव्ययिता लाई जा सकती है। वास्तव मे हमारे देश म प्रचलित सरकारी भ्रष्टाचार एव अकुशलता के कारण इन योजनाओ पर व्यय की मात्रा बहुत अधिक दिखाई जाती है, जबकि वास्तविक कार्य बहुत कम होता है। अतः इस क्षेत्र मे सरकारी कर्मचारियों पर कठोर नियन्त्रण करने एव उनमे कार्यकुशलता लाने की व्यवस्था करने की नितान्त आवश्यकता है।

(३) राजस्व की सीधी मार्गें—राज्य सरकारों द्वारा अपने क्षेत्र में बिक्री कर, उत्पादन कर, मनोरंजन कर, मालगुजारी, कृषि आय कर, सिंचाई कर, स्टाम्प शुल्क, रजिस्ट्रेशन, मोटरवाहन कर आदि अनेक कर लगाये जाते हैं। अतः करों की वसूली एवं तत्सम्बन्धी आवश्यक जाँच-पड़ताल के लिये बड़ी संख्या में सरकारी कर्मचारी रखने पड़ते हैं। इन कर्मचारियों को वेतन तथा भत्ते के रूप में पर्याप्त बड़ी राशि देनी पड़ती है। वस्तुतः सैद्धान्तिक रूप से उचित कर प्रणाली (Sound Tax System) में मितव्ययिता (Economy) का गुण होना अत्यावश्यक है अर्थात् करदाताओं द्वारा कर के रूप में जो कुछ राशि दी जाये, उसका अधिकाधिक भाग सरकारी कोष में जाना चाहिये। परन्तु हमारे देश में संघीय एवं राज्यीय दोनों ही कर पद्धतियों में यह गुण नहीं पाया जाता है वरन् इसके विपरीत करों एवं शुल्कों की वसूली पर राजस्व की आय का एक बहुत बड़ा भाग व्यय किया जाता है, जो सब प्रकार से अनुचित है।

(४) ऋण सेवायें (Dabt Services)—पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विकास कार्यों की आपूर्ति के लिये राज्य सरकारें भी केन्द्रीय सरकार से ऋण प्राप्त करती हैं। राज्यों को प्रतिवर्ष इस ऋण पर ब्याज का भुगतान करना पड़ता है।

उपसंहार—वस्तुतः भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य सरकारों के अधिकार क्षेत्र में ऐसे कार्य सौंपे गये हैं जिनपर विशाल मात्रा में व्यय की आवश्यकता है, परन्तु इनको आय की जो मदें सौंपी गई हैं वे अधिकांशतः बेलोचदार (Inelastic) हैं। फलतः राज्य सरकारों को अपने दायित्वों की पूर्ति के लिये केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता की माँग करनी पड़ती है अथवा केन्द्रीय सरकार से ऋण लेने को बाध्य होना पड़ता है अथवा जब ये दोनों ही प्रकार की सुविधायें उपलब्ध नहीं हो पाती, तब राज्य सरकारों को अपने व्यय में कटौती करनी पड़ती है, जोकि सब प्रकार से अनुचित है। अतः राज्य सरकारों के बढ़ते हुये दायित्वों एवं उनको सौंपे गये कार्यों के विस्तार एवं गहनता पर विचार करते हुये उनको अधिकाधिक लोचदार साधन प्रदान किये जाने चाहियें।

उत्तर प्रदेश का राजस्व

(Finances of the Uttar Pradesh)

उत्तर प्रदेश राज्य की आय के मुख्य स्रोत :—ये स्रोत इस प्रकार हैं :—

आय का ब्योरा (लाख रुपयों में) (Statement of Revenue)	पुनरीक्षित अनुमान सन् १९६१–६२	आय व्ययक अनुमान १९६२-६३
१. संघीय उत्पादन शुल्क (Union Excise Duties)	—	—
२. निगम-कर को छोड़कर आय पर अन्य कर (Taxes on-Income other than Corporation Tax)	१४,८४९०	१३,३९·७०

इसमे दो मद सम्मिलित हैं :—
(अ) कृपि-आय पर कर और (आ) राज्य को अभिहस्तांतिक शुद्ध आय का भाग। सन् १९६१–६२ में प्रथम व द्वितीय मदों से क्रमश: ६५ लाख रुपये और १५,२५·९० लाख रुपये की आय प्राप्त हुई थी और सन् १९६२–६३ मे इन मदो से क्रमश: ५० लाख रुपये और १२,६२ लाख रुपये की, आय प्राप्त होने की आशा है,।

३. सम्पत्ति-शुल्क (Estate Duty)	४८·९३	६३·००
४. मालगुजारी (Land Revenue)	२१,५३·१६	२२,१८·६५
५. राज्य उत्पादन-कर (State Excise Duties)	७,७८·१०	७,६६·१२
६. मोटर गाड़ियों पर कर (Taxes on Vehicles)	३,२५·६०	३,४३·३०
७. बिक्री-कर (Sales Tax)	१३,८०·४५	१३,७०·००
८. अन्य कर व शुल्क (Other Taxes and Duties)	६,६२·१५	७,६६·८८
९. स्टाम्प-शुल्क (Stamp Duty)	४,२५·००	४,३५·००
१०. ऋण सेवायें (Debt Services)	५,३७·१५	१२,६३·३५
११. निबन्धन-शुल्क (Registration Fees)	२·६१	२·६२
१२. न्याय प्रशासन (Administration of Justice)	४६·७१	४६·३६
१३. कारागार (Jails)	१६·६७	१६·५४
१४. पुलिस (Police)	१,२०·६६	८६·६०
१५. प्रकीर्ष विभाग (Miscellaneous Department)	—	३ ३६
१६. शिक्षा (Education)	१,५४·६२	१,४३·८६
१७. चिकित्सा (Medical)	६०·७०	६२·६८
१८. जन-स्वास्थ्य (Public Health)	१५·४५	२१·४६
१९. कृषि (Agriculture)	१,०८·५४	८५ ६६
२०. पशु-पालन (Animal Husbandry)	५७ ६३	६६·६०
२१. सहकारिता (Co-operation)	११·७७	११·७७
२२. उद्योग (Industries)	४,२५·२२	६,४५·४७
२३. सामुदायिक विकास प्रयोजनायें आदि (Community Development Projects etc.)	१·००	१·११
२४. प्रकीर्ण-सामाजिक तथा विकास सम्बन्धी संगठन श्रम और सेवा योजना (Miscellaneons Social and Development Organisation Labour and Employment)	१३,३०·१६	५६·५८

२५ सिंचाई, नौ परिवहन, बांध और जलोत्सारण नालियो के निर्माण कार्य (Irrigation Navigation, Embankment and Drainage Works)	२,०५ ६६	११,३६ ४९
२६ सार्वजनिक निर्माण कार्य (Pvblic Works)	६२ ३६	७१ ८०
२७ सडक एव जल परिवहन योजनायें (Road and Water Transport Schemes)	७६ ६३	५० ७६
२८ वन (Forests)	६,५७ ५२	६ ६२ ७८
२९ अन्य मद (Other Items)	—	—
कुल योग —	१५ २१८ ००	१७ ८०६ ००

उत्तर प्रदेश राज्य की व्यय की मदें —ये मदें निम्न प्रकार हैं—

व्यय का व्यौरा (लाख रुपया मे) (Statement of Expenditure)	पुनरीक्षित अनुमान सन् १९६१-६२	आय व्ययक अनुमान १९६२-६३
१ मालगुजारी (Land Revenue)	७०० २१	७ ५१ ६८
२ राज्य उत्पादन कर (State Excise Duties)	९० ५५	९४ ३९
३ बिक्री-कर (Sales Tax)	४४ ३३	५० ९२
४ अन्य कर व शुल्क (Other Taxes and Duties)	६ ९२	८ ८८
५ स्टाम्प (Stamps)	८ ८९	८ ५३
६ निबन्धन (Registration)	१९ ६८	२० ००
७ राज्य विधान मण्डल (State Legislature)	—	८८ ९४
८ सामान्य प्रशासन (General Administration)	२,०९ ५५	२,३६ ६४
९ आयुक्त और जिला प्रशासन (Commissioner and District Administration)	७,२५ ८५	८,५८ ४९
१० ग्राम सभायें और पंचायतें (Village Sabhas and Panchayats)	१,१६ ५१	१,३० ६२
११ न्याय (Justice)	१,८८ ५१	२,०२ ७४
१२ कारागार (Jails)	१,९० ६६	१ ८२ ८७
१३ पुलिस (Police)	११,६३ ०६	११,६७ ०३
१४ खाद व रसद तथा अन्य सगठन (Food and Civil Supplies and other Organisations)	६६ ०९	६४ ९२
१५ वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा सास्कृतिक कार्यकलाप (Scientific Research and Cultural Affairs)	२२ ९५	२७ ४५
१६ शिक्षा (Education)	२३,२५ ६०	२५,९५ ३१
१७ चिकित्सा (Medical)	५,४६ ६१	५,९५ ८४

१८. जन-स्वास्थ्य (Public Health)	४६८·४०	५,६८·४२
१९. कृषि विकास (Agricultural Development)	४,६८·९७	५,६८·२३
२०. पशु-पालन (Animal Husbandry)	२,३७·५६	२,८२·१३
२१. सहकारिता (Co-operation)	२,२०·२०	२,६३·८५
२२ उद्योग (Industries)	६,५३·२७	६,३४·८६
२३ नियोजन एवं एकीकरण (Planning and Co-ordination)	१०,४२·२२	१२,८०·२०
२४. श्रम और सेवायोजन (Labour and Employment)	१,४२·९८	२,२१·३५
२५. राजस्व से सिंचाई के निर्माण-कार्य (Irrigation Works)	२२,८८·१५	१३,०६·५२
२६. अन्य मद (Other Items)	—	—
कुल योग	१५,६६७·००	१६,१४१·००
घाटा (Deficit)	(—) ४,४९६·००	(—) १,३५५·००

४३

स्थानीय वित्त

(Local Finance)

स्थानीय स्वशासन का महत्व (Importance of Local Self Government)—आज के जनतान्त्रिक युग में स्थानीय स्वशासन को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। वस्तुतः स्थानीय स्वशासन जनतन्त्रीय प्रशासन की कला के प्रशिक्षण का एक ठोस आधार है और यह नागरिकों में स्वस्थ चेतना तथा जागरण उत्पन्न करता है। प्रधान मंत्री श्री नेहरू के शब्दों में, "स्थानीय स्वशासन किसी भी अच्छी लोकतन्त्रीय व्यवस्था का सुदृढ़ आधार होना है और होना भी चाहिए। हमें कुछ ऐसी आदत पड़ गई है कि हम लोकतन्त्र की अत्यन्त ऊपर की अवस्था के बारे में सोचते हैं, उसकी निचली अवस्था के बारे में नहीं। लोकतन्त्र की ऊपर की अवस्था में तब तक सफलता नहीं मिल सकेगी, जब तक कि निचली अवस्था से ही उसका आधार सुदृढ़ न किया जाएगा।" स्थानीय स्वशासन स्थानीय क्षेत्रों से सम्बन्धित कुछ कार्यों के प्रशासन के विकेन्द्रीयकरण (Decentralization) के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुछ कार्यों की प्रकृति असाधारण रूप से स्थानीय (Local) होती है, जैसे-स्थानीय सड़कों का निर्माण तथा उनकी देख रेख, जल और विद्युत् की पूर्ति, सफाई, चिकित्सा तथा प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था आदि। उन कार्यों को स्थानीय संस्थाओं को सौंप देने से राज्य सरकारें ऐसे प्रशासनिक कार्यों से मुक्त हो जाती हैं जिनको दूर रहते हुए यथेष्ट मात्रा में सम्पन्न नहीं किया जा सकता। यही नहीं, स्थानीय आवश्यकताओं से सम्बन्धित कार्य स्थानीय संस्थाओं (Local Bodies) द्वारा अधिक कुशलता एवं दूर दर्शितापूर्वक सम्पन्न किये जा सकते हैं। अन्त में, आर्थिक नियोजन (Economic Planning) को सफल बनाने में भी स्थानीय स्वशासन महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवायें (Community Development and National Extension Services) तथा सहकारी आन्दोलन (Co-operative Movement) के सफलतापूर्वक संचालन में स्थानीय संस्थायें बहुमूल्य योगदान कर सकती हैं।

भारत में स्थानीय संस्थाओं के कार्य (Functions of Local Bodies in

पचायतो को सौपे गये कार्य लिखित रूप मे बहुत अधिक हैं, परन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि पचायतो द्वारा अब तक जो कार्य सम्पन्न किए गए हैं, वह कार्यो की इस आकर्षक सूची की तुलना म अत्यन्त अल्प हैं। व्यवहार मे अधिकाश राज्यो मे ग्राम पंचायतो की क्रियाओ का क्षेत्र पचायत घरो का निर्माण करने, पीने के लिये पानी के कुओ का निर्माण तथा उनकी मरम्मत करने, गावो मे सडको तथा नालियो का निर्माण तथा उनकी मरम्मत करने, गावो मे प्रकाश की व्यवस्था करने, प्राइमरी स्कूल और ग्रामीण औषधालयो के भवनो का निर्माण करने तथा जन्म और मृत्यु दर के आकडो को एकत्रित करने तक सीमित रहा है। अत कराधान जाच आयाग (Taxation Enquiry commission) ने यह सुभाव दिया है कि पचायतो को वर्तमान समय म सौपे गये बहुसख्यक कार्यो की अपेक्षा कुछ चुनीदा (Selective) एव स्पष्ट कार्य ही दिये जाने चाहियें तथा इन कार्यों म और जिला परिषदो को सौपे गये कार्यों म समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। इसके साथ ही साथ ऐसे आर्थिक कार्य जो सहकारी समितिया (Co operative Societies) के द्वारा भली प्रकार से सम्पन्न किए जा सक, पचायतो के अधिकार-क्षेत्र से पृथक् कर देने चाहियें। तृतीय योजना मे पचायतो के विकास से सम्बन्धित ये कार्य निर्धारित किये गये हैं–(1) तीसरी योजना म सर्वोच्च राष्ट्रीय प्राथमिकता के रूप म कृषि-उत्पादन म वृद्धि से सम्बन्धित कार्य, (ii) ग्रामीण उद्योगो का विकास, (iii) सहकारी सस्थाओ का विकास, (iv) स्थानीय जनशक्ति एव अन्य साधनो का पूरा उपयोग, (v) शिक्षा तथा व्यस्क साक्षरता की सुविधाओ का विकास, (vi) पचायती राज की सस्थाओ के लिये उपलब्ध साधनो का, जहा तक सम्भव हो सके लाभप्रद उपयोग, जैसे वित्त, कर्मचारी, प्राविधिक सहायता और उच्च स्तरो से अन्य सुविधायें तथा उनके द्वारा अपने साधन बढाने के प्रयत्न, (vii) ग्राम समुदाय के आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए वर्गो की सहायता, (viii) स्वदेशी सगठनो के दायित्व पर अधिक जोर देते हुये अधिकार और साहस का अधिक प्रगतिशील वितरण, (ix) व्यापक शिक्षा के द्वारा चुने हुये प्रतिनिधियों एव सरकारी कर्मचारियो के बीच एक दूसरे का समझने की भावना और तालमेल उत्पन्न करना, कार्यो तथा उत्तरदायित्वो का स्पष्ट निर्धारण करना और सरकारी तथा गैर-सरकारी कर्मचारियो की योग्यता मे निरन्तर वृद्धि करना, और (x) समुदाय म मेलजोल और स्वय अपनी तथा परस्पर एक दूसरे की सहायता की भावना का विकास करना।

अब तक प्राप्त सीमित अनुभव के आधार पर पचायती राज्य सस्थाओ के *प्रभावशाली और सफल कार्य सम्पादन के लिये योजना आयोग ने ६ सुझाव दिये हैं*– (i) उच्च स्तरो पर सस्थाओ का विकास करते हुये ग्राम-स्तर पर ग्राम सभा (Gram Sabha) और पचायत के कार्य पर सर्वाधिक बल देना चाहिये। (ii) जिला स्तर के प्राविधिक अफसरो को खण्ड विकास अफसरो तथा पचायत समितियों का अपनी सहायता उपलब्ध करानी चाहिये। (iii) खण्ड मे विस्तार अफसरो का खण्ड विकास

अफसर के नेतृत्व मे मिलकर काम करते रहना चाहिये और उन योजनाओ के तैयार करने मे सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिये जिनपर पचायत समिति विचार करती है। (iv) अच्छी तरह से सोच-समझकर बनाई गई खण्ड योजनाओ को तैयार करने और कार्यान्वित करने पर बल देना चाहिये। (v) राज्य-स्तर पर प्राविधिक विभागो द्वारा पचायती राज की संस्थाओ का पथ-प्रदर्शन किया जाना चाहिये तथा (v) जिलाधीश को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिला-स्तर पर जिला परिषद (District Board) तथा विभिन्न क्षेत्रो के प्राविधिक अफसरो के बीच समन्वय हो सके तथा प्राविधिक अफसरो एव खण्ड स्तर पर पचायत समितियो एव विस्तार अफसरो के बीच घनिष्ठ सम्पर्क हो सके तथा राज्य-स्तर के विभागो का प्राविधिक परामर्श एव पथप्रदर्शन निरन्तर प्राप्त होता रहे। जिलाधीश को लोकतान्त्रिक सस्थाओ की ओर सार्वजनिक सेवाओ की सहायता करनी चाहिये, ताकि वे दैनिक कार्यो मे और प्रशासनिक सम्बन्धो मे ठीक प्रकार की परम्पराओ (Traditions) का विकास कर सकें।

(२) **जिला परिषद** (District Boards)—जिला परिषदो को सौपे गये मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—(अ) जिले की सडको का निर्माण, उनकी मरम्मत तथा देख-भाल, (आ) वृक्षारोपण एवं उनकी सुरक्षा, (इ) मनुष्यो, पशुओ तथा सिंचाई के लिये जल-पूर्ति की व्यवस्था, (ई) अस्पतालो, चिकित्सालयो, पशु चिकित्सालयो, बाजारो एव पार्को की स्थापना तथा उनकी देख-रेख व सरक्षण, (उ) प्राइमरी स्कूलो तथा पुस्तकालयो की स्थापना और उनका प्रबन्ध, (ऊ) सफाई की व्यवस्था तथा बीमारियो की रोक-थाम आदि। वास्तव मे एक ओर राज्य सरकारो के तथा दूसरी ओर ग्राम पचायतो के बढते हुये कार्यो के कारण जिला परिषदें अनावश्यक एव व्यर्थ-सी होती जा रही है। उत्तर प्रदेश मे जिला परिषदो को समाप्त भी कर दिया गया है। हमारे देश मे मुख्य दुष्प्रवृत्ति यह है कि ग्राम पचायतो एव जिला परिषदो के कार्यो मे अधिक समन्वय (Co-ordination) नही पाया जाता है।

(३) **नगरपालिकायें** (Municipalties)—नगरपालिका का कार्य-क्षेत्र एक नगर होता है। इसके कार्य भी जिला परिषद् के कार्यो से मिलते-जुलते होते है। नगरपालिकाओ के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—(अ) नगरो मे सडको का निर्माण तथा उनकी मरम्मत करना, (आ) सडको पर रोशनी तथा सफाई का प्रबन्ध करना, (इ) नगर मे जल-पूर्ति की व्यवस्था करना, (ई) चिकित्सालयो, अस्पतालो एव पशु-चिकित्सालयों का निर्माण एव उनकी देख-रेख करना, (उ) प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था करना, (ऊ) सडको के दोनो ओर नालियों का निर्माण तथा उनकी सफाई की व्यवस्था करना, (ए) पार्को व उद्योगो का आरोपण एव उनकी सुरक्षा, (ऐ) मृणोत्पादक व्यवसायों का नियन्त्रण तथा मेलो व प्रदर्शनियो आदि का आयोजन करना। नगर-पालिकाये अपने कार्य राज्य सरकारो के नियन्त्रण मे सम्पन्न करती हैं।

(४) **नगर निगम** (Municipal Corporations)—नगर निगमो का कार्य

क्षेत्र एव अधिकार क्षेत्र नगरपालिकाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। इस समय हमारे देश म १२ नगर निगम हैं। अपने कार्यों की स्वीकृति तथा बजटो के निमाण के सम्बन्ध म नगर निगम राज्य सरकारी के नियन्त्रण से अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र होते हैं। नगरपालिकाओं की अपेक्षा इनको कर लगाने के अधिकार भी अधिक प्राप्त होते हैं। नगरवासियो की सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा एव अन्य सुविधाओं के अतिरिक्त नगर निगमो का कार्य क्षेत्र सडको, पुलों, सार्वजनिक उद्यानों, मनोरजन के स्थानों तथा मण्डियों के निर्माण करने तक विस्तृत है।

स्थानीय सस्थाओं की वित्त-व्यवस्था (Financial Position of Local Bodies)—स्थानीय सस्थाओं की आय के साधनों को मुख्यत दो भागो म विभक्त किया जा सकता है—(अ) आय के कर स्रोत (Tax Resources of Revenue) तथा (आ) आय के अ-कर स्रोत (Non-tax Resources of Revenue)। नगरपालिकाओं को अपनी कुल आय का लगभग ६८ प्रतिशत भाग करो द्वारा प्राप्त होता है तथा शेष ३२ प्रतिशत भाग अ कर साधनों से प्राप्त होता है। इसके विपरीत जिला परिषदों को अपनी कुल आय का लगभग २/३ भाग अ-कर स्रोतों से प्राप्त होता है और केवल १/३ भाग कर-स्रोतों से प्राप्त होता है। स्थानीय सस्थाओं के कर-स्रोतों म २ साधन सम्मिलित हैं—(i) स्थानीय सस्थाओं द्वारा लगाये गये कर, तथा (ii) राज्य सरकारों द्वारा लगाये गये तथा उगाहे गये करों में से प्राप्त हिस्सा। अ-कर स्रोतों म तीन साधन सम्मिलित हैं—(i) राज्य सरकारों से मिलने वाले सहायक अनुदान (Grants-in-aid) (ii) ऋण तथा उपदान तथा (iii) अन्य साधन। स्थानीय सस्थाओं के वित्तीय साधनो का सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

(१) कराधान (Taxation) '—यद्यपि स्थानीय सस्थाओं द्वारा लगाये जाने वाले करों की कोई पृथक् सूची नहीं है, तथापि व्यावहारिक रूप से प्रत्येक राज्य म कुछ कर स्थानीय सस्थाओं के लिये छोड दिए गये हैं '— (अ) पचायतो द्वारा लगाये जाने वाले कर पृथक् पृथक् प्रदेशो मे भिन्न-भिन्न हैं। प्राय सभी राज्यों की ग्राम पचायतो द्वारा सामान्य सम्पत्ति कर (General Proparty Tax) लगाया जाता है। अधिकाश राज्यो म पचायतों को सेवा कर (Service Tax), मालगुजारी पर कर, व्यापारो-वृत्तियो अथवा आजीविकाओं पर कर तथा जानवरों व गाडियों पर कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यो में पचायतें चु गी, माल की बिक्री पर कर, यात्री कर, थियेटर कर, मेलों और त्याहारों पर कर तथा विवाहों पर कर लगाती हैं। पचायतों को करों के लगाने, उनकी दरो *मे परिवर्तन करने तथा उनको समाप्त करने के लिये प्रादेशिक सरकारों की पूर्व* स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है। कराधान जाच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने यह सिफारिश की है कि ग्राम पचायत की स्थापना के पश्चात् कुछ वर्षों तक उसका वित्तीय पोषण सरकारी सहायक अनुदानों के द्वारा ही किया जाना चाहिये तथा कुछ समय पश्चात् पचायत का सुदृढ आधार हो जाने पर, उसे

करारोपण का अधिकार दिया जाना चाहिए। (आ) जिला परिषदो के कर लगाने के अधिकार अपेक्षाकृत सीमित हैं। इनका सबसे महत्वपूर्ण कर भूमि उप-कर (Land Cess) है। इसके अतिरिक्त जिला परिषदो द्वारा लगाए जाने वाले कर ये हैं—सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, वृत्ति कर, सम्पत्तियो और परिस्थितियो पर कर तथा औजारो पर कर आदि। इन करो मे अधिकाश करो की प्रवृत्ति बेलोचदार (Inelastic) है। (इ) नगरपालिकाओ द्वारा लगाए जाने वाले मुख्य कर ये हैं :—भवनो तथा भूमियो पर कर, सामान्य कर, सेवा कर, सम्पत्तियो के स्थानान्तरण पर कर, वस्तुओ पर कर, चुंगी व सीमान्त कर, वैयक्तिक कर, व्यापारो-वृत्तियो-आजीविकाओ व नौकरियो पर कर, परिस्थितियों व सम्पत्ति पर कर, यात्रियो पर सीमान्त कर, गाडियो व पशुओ पर कर तथा थियेटर या तमाशा कर आदि। महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे नगरपालिकाओ द्वारा लगाए जाने वाले करो मे चुगी तथा सीमान्त कर प्रमुख हैं। परन्तु पश्चिमी बगाल, बिहार, मद्रास, असम और केरल की नगरपालिकाओ के आय के स्रोतो मे सम्पत्ति कर सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। (ई) नगर-निगमो द्वारा भी लगभग वे ही कर लगाए जाते हैं जो नगरपालिकाओ द्वारा लगाए जाते हैं। अधिकांश नगर निगमो मे सम्पत्ति-कर को ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विभिन्न निगम अधिनियमो (Corpro-tion Acts) द्वारा निर्धारित अधिकतम व न्यूनतम सीमाओ के अन्तर्गत नगर निगमो को अपनी इच्छानुसार कर लगाने तथा उनमे सशोधन करने की अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता होती है।

(२) **करों के हिस्सों का वितरण** :–राज्य सरकारो द्वारा लगाए और उगाहे जाने वाले करो के हिस्सो की प्राप्ति स्थानीय सस्थाओ के लिये आय का अधिक महत्वपूर्ण साधन नही है। प्राय सभी राज्यो मे स्थानीय सस्थाओ को मोटर-गाडी कर (Vehicle Tax) के सम्बन्ध मे कुछ क्षतिपूर्ति मिलती है। महाराष्ट्र मे मालगुजारी का १५ प्रतिशत भाग जिला परिषदो व ग्राम पचायतो को दिया जाता है। हाल ही मे उडीसा सरकार ने भी मालगुजारी की सम्पूर्ण प्राप्तियां स्थानीय सस्थाओ को देने का प्रस्ताव किया है। कुछ राज्यो म मनोरन्जन कर का कुछ भाग स्थानीय सस्थाओ को वितरित किया जाता है। कराधान जाच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने यह सिफारिश की है कि मालगुजारी (Land Revenue) का कम से कम १५ प्रतिशत भाग ग्राम पचायतो मे अवश्य वितरित किया जाना चाहिए।

(३) **सहायक अनुदान** :—यद्यपि सभी प्रदेशो मे प्रादेशिक सरकारों द्वारा स्थानीय सस्थाओ को सहायक अनुदान (Grants-in-aid) दिए जाते हैं, तथापि ये अनुदान अभी तक स्थानीय सस्थाओ की आय का महत्वपूर्ण स्रोत नही हैं। स्थानीय वित्त-व्यवस्था मे सहायक अनुदानो का तीन दृष्टिकोण से विशेष महत्व है—(i) सहायक अनुदानो द्वारा राज्य सरकार अपने सम्पूर्ण अधिकार-क्षेत्र मे स्थानीय सस्थाओ द्वारा किए जाने वाले विभिन्न कार्यों मे एकरूपता (Uniformity) ला

सकती है तथा विभिन्न क्षेत्रों में सेवाओं और कर-भारों की असमानताओं पर रोक लगा सकती है। (ii) इन अनुदानों के द्वारा राज्य सरकारें स्थानीय संस्थाओं को कुछ आवश्यक तथा वाछनीय उपाय अपनाने को बाध्य अथवा प्रेरित कर सकती हैं। (iii) सहायक अनुदान स्थानीय संस्थाओं को अपना आधार सुदृढ़ बनाने तथा अपने कार्यों को अबाध गति से जारी रखने के योग्य बना देते हैं। सहायक अनुदान सामान्यतया स्थानीय संस्थाओं के विशिष्ट व्ययों के एक निश्चित अनुपात के रूप में दिये जाते हैं। इसलिये ये बहुधा स्थानीय संस्थाओं की सामान्य आवश्यकताओं अथवा उनके साधनों पर आधारित नहीं होते।

(४) ऋण तथा उपदान :—नगरपालिकाओं तथा नगर निगमों को जलपूर्ति व नालियों की व्यवस्था तथा गन्दी बस्तियों की सफाई आदि अनेक योजनाओं के लिये पूंजीगत निधियां लेनी पड़ती हैं। परन्तु उन्हें ऐसी निधियां अथवा ऋण सरलता से प्राप्त नहीं हो पाते। अतः कराधान जांच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने यह सिफारिश की है कि राज्य सरकारों को नगरपालिकाओं तथा नगर निगमों द्वारा लिये जाने वाले ऋणों की गारन्टी प्रदान करनी चाहिए तथा यदि ये ऋण अपर्याप्त सिद्ध हों, तब स्वयं उनको रुपया उधार देना चाहिए अथवा उपदान (Subsidies) देने चाहियें।

(५) अन्य कर इतर स्रोत :—हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था में आय के अ-कर स्रोतों (Non-tax Resources) को अभी तक अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। कुछ नगरपालिकायें और नगर निगम विद्युत् की आपूर्ति, जल की आपूर्ति तथा सड़क यातायात जैसे उद्यमों का संचालन करते हैं जिनसे उन्हें पर्याप्त आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त नगरपालिकायें अपनी भूमि की उपज की बिक्री से, मकानों, जंगलों तथा भूमियों के किराये से भी थोड़ी-बहुत आय प्राप्त करती हैं। ग्राम पंचायतें मेलों आदि में दुकानों व स्टालों को किराये पर देकर भी कुछ आय प्राप्त करती हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं को थोड़ी-बहुत आय अस्पतालों व शिक्षा-संस्थाओं से भी होती है।

कुछ महत्वपूर्ण स्थानीय कर (Some Important Local Taxes) — (१) **सम्पत्ति कर (Property Tax)**—अनेक प्रदेशों में स्थानीय संस्थाओं के करों में सम्पत्ति करों का महत्वपूर्ण स्थान है। सम्पत्ति कर ४ प्रकार के होते हैं—(अ) भवनों (Buildings) पर कर, (आ) समुन्नति कर (Betterment Tax), (इ) सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर तथा (ई) भूमियों पर उप कर (Land Cess)। भवनों पर (भवनों की भूमि सहित) लगने वाले करों के मुख्यतः दो रूप होते हैं—(i) सामान्य कर (General Tax) तथा (ii) सेवा कर (Service Tax)। जो कर सम्पत्ति के पूंजीगत अथवा वार्षिक मूल्य पर लगाए जाते हैं, उन्हें सामान्य सम्पत्ति कर (General Property Tax) कहते हैं। ये कर अधिकांश राज्यों में लगाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी सेवाओं जैसे—जलपूर्ति, शिक्षा व सड़कों की सफाई की पूर्ति के

लिए लगाए जाने वाले करो को सेवा कर (Service Taxes) कहा जाता है। सेवा कर भी सम्पत्ति के पूँजीगत (Capital) या जमाबन्दी मूल्य (Rental Value) पर लगाए जाते हैं। समुन्नति कर (Betterment Tax) नगर नियोजन तथा नगर सुधार योजनाओ के कारण शहरी भूमि के मूल्यों मे होने वाली वृद्धि पर लगाया जाता है। चूं कि ये कर केवल बडी योजनाओं के लिए ही उगाहे जा सकते हैं, इसलिए हमारे देश मे इन करो का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। कराधान जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने यह सिफारिश की है कि स्थानीय सस्थाओ द्वारा समुन्नति करो को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए तथा ये कर सम्पत्ति के मूल्य मे होने वाली वृद्धि के कम से कम आधे भाग के बराबर तक लगाए जाने चाहियें। सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर (Taxes on Transfer of Property) मद्रास और आन्ध्र प्रदेश की नगरपालिकाओ द्वारा लगाये जाते हैं। मद्रास मे नगरपालिकाओ के अतिरिक्त कुछ जिला परिषदो और ग्राम पचायतो द्वारा भी ऐसे कर लगाए जाते हैं। भूमि उपकर (Land Cesses) *जिला परिषदो की आय का प्रमुख स्रोत है। उपकर (Cess) मालगुजारी* (Land Revenue) पर लगाया जाने वाला एक अधिभार (Surcharge) होता है और राज्य सरकारों द्वारा स्थानीय सस्थाओ के लिए मालगुजारी के साथ ही इसका सग्रह कर लिया जाता है।

(२) **चुंगी और सीमान्त कर** (Octroi and Terminal Tax)—महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश आदि राज्यों मे चुंगी तथा सीमान्त कर नगरपालिकाओ की आय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन हैं। चुंगी उस कर को कहते हैं जोकि किसी स्थानीय क्षेत्र मे उपभोग करने, प्रयोग करने अथवा वहाँ पर बिक्री के लिए आने वाले पदार्थों पर लगाया जाता है। इसके विपरीत सीमान्त कर उस कर को कहते हैं जोकि किसी विशेष स्थानीय क्षेत्र मे आने वाले अथवा वहाँ से जाने वाले पदार्थों अथवा यात्रियों पर लगाया जाता है। चुंगी और सीमान्त कर दोनों से ही आन्तरिक व्यापार मे बाधा पडती है। इनका प्रभाव भी सामान्यतया अवरोही (Regressive) होता है क्योकि ये कर सामान्य उपभोग के पदार्थों पर लगाये जाते हैं। यात्रियो पर सीमान्त कर को सामान्यतया तीर्थयात्री कर (Pilgrim Tax) भी कहा जाता है क्योंकि यह कर कुछ तीर्थ स्थानो पर ही उगाहा जाता है। यह कर रेलवे अधिकारियो द्वारा रेल भाड़े मे वृद्धि करके उगाहा जाता है।

(३) **वृत्तियों एव व्यापारों आदि पर कर**—मद्रास, आन्ध्र प्रदेश और पश्चिमी बगाल के स्थानीय कराधान (Local Taxation) मे वृत्तियो (Professions), व्यापारो (Trades) तथा नौकरियो (Services) पर लगने वाले करो का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न वृत्तियों तथा व्यापारो के लिए तथा प्रत्येक वृत्ति या व्यापार मे आय के विभिन्न स्तरों के लिए साधारणतया कर की दरें पृथक् पृथक् होती है।

टोल टैक्स—भारत के अधिकाश राज्यो मे एक बडी सख्या मे नगरपालिकायें

तथा जिला परिषदें टोल टैक्स (Toll Tax) उगाहती हैं। टोल टैक्स उन करों को कहते हैं जो किसी विशेष क्षेत्र में प्रवेश करने वाले अथवा वहां से जाने वाले या किन्हीं विशिष्ट स्थानों, जैसे कि, पुलों से गुजरने वाले मनुष्यों, गाडियों और पशुओं पर लगाये जाते हैं। ये कर उन पुलों पर उगाहे जा सकते हैं जिनकी लागत ५ लाख रुपये से अधिक हो। इस कर मे दो मुख्य दोष होते हैं, सर्वप्रथम यह कर तीव्र गति के यातायात में बाधक होता है और द्वितीय इनका प्रभाव अवरोही (Regressive) होता है क्योंकि यह कर निर्धन और धनी सभी पर एक समान दर से वसूल किया जाता है।

(५) **गाडियों, नावों तथा पशुओं पर कर**—ये कर देश की अधिकांश शहरी और ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं द्वारा लगाए जाते हैं। मोटर गाडियों पर कर राज्य सरकारों द्वारा लगाया जाता है, परन्तु राज्य सरकारें इस कर की क्षतिपूर्ति के रूप में स्थानीय संस्थाओं को कुछ रकम देती हैं। महाराष्ट्र में आजकल भी मोटर गाडियों पर कर स्थानीय संस्थाओं द्वारा लगाया जाता है। चूं कि मोटर गाडियों पर लगने वाला कर आय का एक बढ़ता हुआ स्रोत है, इसीलिए कराधान जाँच आयोग (Taxation Enguiry Commission) ने यह सिफारिश की है कि स्थिर क्षतिपूर्ति (Compensation) की अपेक्षा स्थानीय संस्थाओं को इस कर की प्राप्तियों का एक निश्चित भाग देना चाहिए।

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय समस्यायें (Financial Problems of Local Bodies)—**एक विद्वान के शब्दों में, "भारत में स्थानीय सत्ताओं के साधनों की निर्धनता भली प्रकार ज्ञात है और स्थानीय वित्त की समस्या का विवेचन करते समय उस पर बल डालने की सम्भवतया ही कोई आवश्यकता हो।"*** स्थानीय संस्थाओं की मुख्य वित्तीय समस्यायें इस प्रकार हैं—(i) हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं को सौंपे गये कार्य अत्यधिक हैं, परन्तु इनको पूरा करने के लिये इन संस्थाओं के पास पर्याप्त वित्तीय साधन नहीं हैं। फलतः स्थानीय संस्थायें अपने अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यों को भी पूरा नहीं कर पाती हैं और लोकमत को अपने अनुकूल बनाने के लिये अन्य कार्यों का कर सकना इनके लिये सर्वथा असम्भव बन गया है। (ii) यद्यपि स्थानीय संस्थाओं के आय-व्यय के आंकड़े प्रतिशत के रूप में देखने पर संतोषप्रद प्रतीत होते हैं, परन्तु इनकी प्रति व्यक्ति औसत आय-व्यय की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। हमारे देश में नगरपालिकाओं का प्रति व्यक्ति औसत व्यय ६ रु० १२ आने १ पाई वार्षिक है तथा जिला परिषदों का प्रति व्यक्ति व्यय केवल १३ आने २ पाई वार्षिक है। अतः स्पष्ट है कि स्थानीय संस्थाओं के आय के स्रोत अति न्यून है जिसके फलस्वरूप इन संस्थाओं के लिये अधिकाधिक सेवा सम्पन्न करने का कोई व्यावहारिक

---

*"The Poverty of resources of local authorities in India is well known and need hardly any emphasis in the discussion of the problems of local finance."

क्षेत्र शेष नही रह जाता है। (i) अन्य देशो की तुलना मे हमारे देश की स्थानीय स ाओ की वित्तीय स्थिति बहुत दयनीय है। दूसरे देशो मे केन्द्र तथा राज्यो के व्यय की अपेक्षा स्थानीय सस्थाओ को आय की महत्वपूर्ण तथा लोचदार मदे प्रदान की गई हैं। यही कारण है कि विदेशो मे स्थानीय सस्थाओ का व्यावहारिक कार्य क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। हमारे देश मे आय के लोचदार साधन राज्यो के पास है, परन्तु व्यय की लोचदार मदें स्थानीय सस्थाओ को सौंपी गई हैं। जबकि अमेरिका, जर्मनी और जापान मे उन देशो के कुल वार्षिक व्यय का क्रमश: ५५ प्रतिशत, ४० प्रतिशत और ३७ प्रतिशत भाग स्थानीय संस्थाओ द्वारा व्यय किया जाता है, तब हमारे देश की स्थानीय सस्थाये देश के समस्त वार्षिक व्यय का केवल १९ प्रतिशत भाग ही व्यय कर पाती हैं। इसका स्वाभाविक कारण यह है कि हमारे देश मे *स्थानीय सस्थाओ को सौंपे गये वित्तीय स्रोत अपर्याप्त एवं बेलोचदार (Inelastic) हैं।* (iv) स्थानीय सस्थाओ को अपनी वित्तीय आपूर्ति के लिये राज्य सरकारो के अनुदान पर निर्भर रहना पडता है। परन्तु व्यवहार रूप मे राज्यो द्वारा दिये जाने वाला सहायक अनुदान भी अभी तक स्थानीय वित्त का महत्वपूर्ण स्रोत नही बन पाया है। प्राय: राज्य सरकारो द्वारा दिये जाने वाले सहायक अनुदान भी अनिश्चित, अनियोजित एवं अपर्याप्त ही होते हैं। (v) भारतीय संविधान मे स्थानीय सस्थाओ को स्वतन्त्र स्थान प्रदान न करके प्रादेशिक सरकारो के अधीनस्थ कर दिया गया है। फलत राज्य सरकारें इन सस्थाओ को अपनी कार्यवाहियो को मानने के लिये बाध्य करती हैं तथा उनका शोषण करती हैं। राज्य सरकारें अपनी इच्छानुसार कोई भी वित्तीय साधन इन सस्थाओ को सौंप देती है, जो प्राय: बेलोचदार होते है।

स्थानीय सस्थाओं की दयनीय वित्त-व्यवस्था के कारण—हमारे देश मे स्थानीय सत्ताओ की दयनीय आर्थिक स्थिति के मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(i) इनकी आय के साधन (Resources of Revenue) अपर्याप्त एव बेलोचदार Inelastic) हैं। (ii) भारत के नागरिको की करदान क्षमता (Taxable Capacity) बहुत कम है। फलत. स्थानीय सस्थायें करो की सख्या और मात्रा मे वृद्धि करके उचित परिमाण मे आय प्राप्त करने मे असमर्थ रहती है। (iii) स्थानीय सत्तायें अपने कर-निर्धारण के *अधिकारो का पूर्ण उपयोग नही कर पाती है।* इनके सदस्य आगामी निर्वाचन मे चुने जाने के लिये लोकमत को अपने पक्ष मे करने के उद्देश्य से करो की दरो और सख्या मे वृद्धि नही करते। (iv) इन सस्थाओ द्वारा करो को अवैज्ञानिक एव अकुशल ढग से लगाया और उगाहा जाता है। (v) भारत मे स्थानीय सस्थाओ के कार्यों पर उचित नियन्त्रण, निरीक्षण एव निर्देशन की समुचित व्यवस्था नही है। अत इन सस्थाओ के सदस्य लापरवाही से कार्य करते हैं तथा सस्थाओ के धन का अपव्यय करते है। (vi) स्थानीय संस्थाओ के करो का क्षेत्र अत्यधिक सीमित है। प्राय. आय के महत्वपूर्ण व लोचदार साधन राज्य सरकारो के पास है। (vii) राज्य सरकारो द्वारा स्थानीय सस्थाओ को दिये जाने वाले सहायक अनुदान भी अभी तक

इन सस्थाओ की आय मे कोई महत्वपूर्ण भाग अदा नही कर पाये है। व्यवहार रूप मे अनुदान देने का कोई ठोस एव सैद्धान्तिक आधार नही है।

स्थानीय सस्थाओं की वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिये उपाय—आधुनिक युग मे प्रजातन्त्रीय देशो के राजनैतिक एव आर्थिक जीवन मे स्थानीय स्वायत्त शासन (Local Self-Government) को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अत लोकतन्त्रीय प्रशासन की सफलता के लिये स्थानीय वित्त की एक ठोस व्यवस्था का होना भी परमावश्यक है। वास्तव मे स्थानीय सस्थाओं को पर्याप्त वित्तीय साधन दिये बिना उनके अधिकारो मे वृद्धि कर देना, सरदार वल्लभ भाई पटेल के शब्दो मे, 'ठीक वैसा ही है जैसा कि किसी मृत स्त्री के मरहमपट्टी करना है।" स्थानीय सस्थाओ की समस्याओ के विभिन्न पहलुओ पर स्थानीय वित्त जाच समिति (Local Finance Inquiry Committee) तथा कराधान जाच आयोग (Taxation Enquiry Commission ने पर्याप्त गहराई से विचार करके अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं वस्तुत स्थानीय सस्थाओ का सफल कार्य सचालन केवल वित्त पर ही आश्रित नही है वरन् इसके लिये कुशल प्रशासन की भी इतनी ही आवश्यकता है। फिर हमारे देश मे अभी तक पर्याप्त विस्तृत रूप मे राजनैतिक एव नागरिक चेतना भी उत्पन्न नही हो सकी है जो स्थानीय सस्थाओ के सफल कार्य सचालन मे सर्वप्रमुख बाधा है। श्री ज्ञान चन्द (Gyan Chand) के शब्दों मे, **"स्थानीय वित्त की समस्याओं शब्द के संकुचित अर्थ मे वित्त की ही समस्याये नहीं है वरन वस्तुत वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की समस्यायें हैं। अत. इन समस्याओं को हल करते समय हमे अधिक विस्तृत दृष्टिकोण से उनके उच्च महत्व को भी ध्यान मे रखना है। स्थानीय स्वायत्त शासन का अधिकतम विकास करने के लिये स्थानीय सेवाओ का पूर्ण विकास करना होगा और उसके लिये स्थानीय साधनों का पूर्णतम विकास करने एव वित्तीय कुशलता के एक ऊंचे स्तर को स्थिर रखने की आवश्यकता होगी।"** स्थानीय सस्थाओं की वित्तीय स्थिति में सुधार लाने के सम्बन्ध मे सन् १९५१ की स्थानीय वित्त जाच समिति ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार दिये हैं—(i) सघीय सरकार को रेल-मार्ग, समुद्री मार्ग तथा हवाई मार्ग के यात्रियो परसीमान्त कर (Terminal Tax) लगाकर इससे प्राप्त होने वाली आय को स्थानीय सस्थाओ मे वितरित कर देना चाहिये। (ii) प्रादेशिक सरकारो को भूमि उपकर (Land Cess), मनोरजन कर, विद्युत् विक्रय कर, मोटरगाडियो को छोडकर अन्य गाडियो पर कर लगाकर इनसे प्राप्त होने वाली आय का वितरण स्थानीय सस्थाओ मे कर देना चाहिये। (iii) राज्य सरकारो द्वारा स्थानीय संस्थाओ को इस बात के लिये बाध्य एव प्रोत्साहित किया जाना चाहिये वे अपने क्षेत्रो मे करदान क्षमता (Taxable Capacity) के अनुसार करारोपण करें। (iv) स्थानीय सस्थाओ के चुगी कर के लिये मदो की एक आदर्श सूची बनाई जानी चाहिये। (v) इन सस्थाओ को १ हजार रुपया वार्षिक आय पाने वाले व्यक्तियो पर व्यवसाय कर (Professional Tax)

लगाना चाहिये। (vi) मोटरगाडी कर (Motor vehicle Tax) से प्रादेशिक सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसका कुछ भाग स्थानीय संस्थाओं को दिया जाना चाहिये। (viii) यदि केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति (Property) पर स्थानीय संस्थायें कर नहीं लगा सकती हैं, तब इसके बदले में केन्द्र को स्थानीय संस्थाओं को क्षतिपूर्ति के रूप में कुछ राशि देनी चाहिये।

सन् १९५४ के करारोपण जांच आयोग (Taxation Inquiry Commission) ने स्थानीय सत्ताओं की वित्तीय स्थिति सुधारने के उपायस्वरूप कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार दिए हैं —(i) राज्य सरकारों को स्थानीय संस्थाओं की करारोपण की शक्ति को हस्तगत नहीं करना चाहिए। (ii) प्रादेशिक सरकारों को अपने लगाए गये करों से उपलब्ध होने वाली आय का कुछ भाग स्थानीय संस्थाओं को देना चाहिए। (iii) स्थानीय संस्थाओं को अपने करों को लगाकर स्वयं ही उनका संग्रह (Collection) करना चाहिए। (iv) राज्य सरकारों द्वारा स्थानीय संस्थाओं को उत्पादक कार्यों, जैसे—जलापूर्ति, सार्वजनिक उद्यम की स्थापना करने, गन्दी बस्तियों की सफाई तथा सड़कों व नालियों का निर्माण करने के लिए ऋण प्रदान करना चाहिए। (v) शहरी क्षेत्रों में प्रादेशिक सरकारों के मैदानों से किराये के रूप में प्राप्त होने वाली आय का कुछ भाग नगरपालिकाओं को मिलना चाहिए। (vi) नगरपालिकाओं को अनुज्ञापन कर (Advertisement Tax) लगाने का अधिकार मिलना चाहिए। (vii) प्रादेशिक सरकारों द्वारा लगाए व उगाहे जाने वाले मनोरंजन कर (Entertainment Tax) की प्राप्तियों का कुछ भाग स्थानीय संस्थाओं को मिलना चाहिए। (viii) संघ सरकार द्वारा मोटरकार पर आयात कर (Import Duty) की दर कम होनी चाहिए ताकि उस मोटरकार पर राज्य सरकारें भी कर लगा सकें। इस कर से प्राप्त समस्त आय को राज्य सरकारें द्वारा स्थानीय संस्थाओं में बांट देना चाहिए। (ix) स्थानीय संस्थाओं को सरकारी सहायक अनुदान (Grants-in-aid) उनकी आवश्यकता एवं सेवा के आधार पर दिए जाने चाहिए। (x) विवाह के रजिस्ट्रेशन पर भी स्थानीय संस्थाओं को करारोपण का अधिकार मिलना चाहिए। (xi) ग्राम पंचायतों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें वर्तमान समय में सौंपे गए बहुसंख्यक कार्यों की अपेक्षा कुछ चुने हुए और सुस्पष्ट कार्य ही दिए जाएं तथा इन कार्यों में और जिला परिषदों को सौंप गऐ कार्यों में समन्वय (Co-ordination) स्थापित किए जावें। (xii) पंचायतों की स्थापना के बाद कुछ वर्षों तक उनका वित्तीय पोषण मुख्यतः सरकारी सहायक अनुदानों द्वारा ही किया जाना चाहिए। फिर जब इनका आधार कुछ सुदृढ़ हो जाए तथा वे कुछ करने योग्य हो जायें तब उन्हें अपने कर सम्बन्धी अधिकार सौंप देने चाहियें। (xiii) राज्यों को मोटरगाडी कर से जितनी आय उपलब्ध हो उसका २५% भाग नगरपालिकाओं और जिला परिषदों में बाँटा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्यों की मालगुजारी (Land Revenue) से उपलब्ध आय का १५% भाग ग्राम पंचायतों में बाँटा जाना चाहिए।

(xiv) स्थानीय स्वायत्त शासन प्रबन्ध स्थानीय करों पर ही निर्भर होना चाहिए। (xv) प्रादेशिक सरकारों को स्थानीय संस्थाओं को अनुदान देते समय उनके सापेक्षिक (Relative) क्षेत्र (Area), जनसंख्या (Population) तथा आय के साधनों (Revenue Resources) को ध्यान में रखना चाहिये। सहायक अनुदान की न्यूनतम मात्रा इतनी अवश्य होनी चाहिये जिससे कि स्थानीय संस्थायें अपने अनिवार्य एवं शासन सम्बन्धी कार्यों को पूरा कर सकें। वार्षिक अनुदानों (Annual Grants) के अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं को उनके विशिष्ट उद्देशीय कार्यों के लिये भी अनुदान देने की व्यवस्था करनी चाहिये। (xvi) स्थानीय संस्थाओं के कर्मचारी कुशल, अनुभवी एवं प्रशिक्षण प्राप्त होने चाहिये तथा उन्हें पर्याप्त वेतन देना चाहिये।

४४

सार्वजनिक ऋण

(Public Debt)

सार्वजनिक ऋण का विकास (Development of Public Debt) — *सार्वजनिक ऋण का* जो स्वरूप आजकल दिखाई देता है वह आधुनिक युग की ही देन है। सरकारी ऋण के वर्तमान रूपों की उत्पत्ति वस्तुतः वैधानिक सरकार की उत्पत्ति के साथ ही साथ प्रारम्भ हुई जबकि सरकार की वित्तीय क्षमता और स्थिरता के बारे में नागरिकों का विश्वास बढ़ा। यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन शासक भी *ऋण लिया करते थे परन्तु उनके द्वारा लिये गये ऋण को सार्वजनिक ऋण* (Public Debt) नहीं कहा जा सकता। इसके दो प्रमुख कारण हैं —(अ) ये शासक समस्त जनता से ऋण न लेकर किसी एक धनी व्यक्ति अथवा जागीरदार से ही ऋण लेते थे और इस ऋण को वापिस करना या न करना भी उन्हीं की इच्छा पर *निर्भर होता था। (आ) इस ऋण का उपयोग सार्वजनिक हितार्थ न होकर शासक* के व्यक्तिगत हितार्थ होता था। **प्रो० जे० के० महता** (J K Mehta) **के शब्दों में 'सार्वजनिक ऋण एक वर्तमान घटना** (Phenomenon) **है और इसका उदय विश्व में जनतांत्रिक सरकारों के विकास के साथ हुआ है।'*** सार्वजनिक ऋणों *की उत्पत्ति और वृद्धि के मुख्य कारण इस प्रकार रहे हैं— (i) सरकारी ऋणों की* उत्पत्ति व वृद्धि का सर्वप्रमुख कारण सरकार के व्यय का भारी विस्तार (Heavy Extension of Public Expenditure) और विशेषकर युद्धकालीन व्यय का भारी *विस्तार होना है। विगत दो विश्व युद्धों में संसार के अधिकांश* महत्वपूर्ण देशों के सरकारी ऋण पर्याप्त सीमा तक अनुत्पादक ऋण (Unproductive Debts) ही बन गये हैं। (ii) आजकल विश्व के समस्त देशों की सरकारों के सामने कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना के मुख्य उद्देश्य के फलस्वरूप भी सार्वजनिक ऋण में वृद्धि हुई है। अनेक सार्वजनिक कार्यों, जैसे—रेलों व नहरों आदि के निर्माण कार्य के व्यय की वित्तीय व्यवस्था मुख्यतः ऋणों (Loans) द्वारा ही की जाती है। (iii) विभिन्न देशीय सरकारों के सम्मुख समाजवादी नमूने के समाज (Socialistic *Pattern of Society*) *की स्थापना के उद्देश्य के परिणामस्वरूप*

* *Public debt is a comparatively modern phenomenon and has come* into existence with the development of democratic form of Governments in the world —Prof J K Mehta

भी सरकारी ऋणों मे वृद्धि हुई है। फलत शिक्षा चिकित्सा, जनस्वास्थ्य (Public Health) और जनकल्याण (Public Welfare) आजकल की सरकारों के आवश्यक कार्य बन गये हैं। समाज में धन के वितरण की असमानता के प्रभाव को यथासम्भव कम करने के लिये भी सरकारी ऋण का सहारा लिया जाता है। (iv) सरकार के वार्षिक बजटों मे घाटे (Deficit) की वित्तीय व्यवस्था भी सरकारी ऋणों का एक महत्वपूर्ण कारण बन गया है। कभी-कभी सरकार नागरिकों को अधिक कष्ट न पहुचाने की दृष्टि से उन पर करारोपण का अतिरिक्त भार न डाल कर, बजटों के घाटे की पूर्ति उनसे उधार लेकर करती है। (v) वर्तमान समय में, मुद्रा-स्फीति (Inflation) अथवा मुद्रा संकुचन (Deflation) की प्रत्येक स्थिति में आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) बनाये रखने के एक साधन के रूप में सरकारी ऋण को पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। (vi) अन्त मे आर्थिक नियोजन (Economic Planning) की बड़े पैमाने की प्रयोजनाओं (Large Scale Projects) को कार्यान्वित करने के लिये भी उनकी वित्तीय व्यवस्था पर्याप्त अश तक सार्वजनिक उधार द्वारा की जाती है। इस प्रकार सार्वजनिक ऋण अनेक प्रकार से आधुनिक राज-वित्त (Modern Public Finance) में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान करता है।

सार्वजनिक ऋण के प्रभाव (Effects of Public Debt) – करारोपण (Taxation) और सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) के सदृश ही सार्वजनिक ऋण की कार्यवाहियों से भी व्यक्तियों के एक वर्ग की ओर से दूसरे वर्ग की ओर को क्रय-शक्ति (Purchasing Power) का हस्तान्तरण (Transfer) होता है। जब सरकार कोई ऋण लेती है, तब सर्वप्रथम सरकारी ऋण पत्रों (Bonds) के क्रेताओं की ओर से सरकार की ओर को धन का अन्तरण होता है और फिर यह अन्तरण उन व्यक्तियों की ओर होता है जिनके लिये सरकार इस धन को व्यय करती है। तद्पश्चात् जब सरकारी ऋण का ब्याज अदा किया जाता है, तब क्रय-शक्ति का अन्तरण उन व्यक्तियों की ओर से, जिन पर कि इस उद्देश्य के लिये कर लगाये जाते हैं, ऋण पत्रों के धारकों (Bearers) की ओर को हो जाता है। अन्त में, क्रय शक्ति का एक अन्तरण ऋण चुकाने के अवसर पर भी होता है। सक्षेप में सरकारी ऋण के मुख्य आर्थिक प्रभाव (Economic Effects) निम्नलिखित हैं :—

(१) सार्वजनिक ऋण का उत्पादन पर प्रभाव (Effects on Production of Public Debt) :–सार्वजनिक ऋण का उत्पत्ति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सरकार द्वारा ऋण की माग होने पर प्राय जनता अपनी बचतों (Savins) में से उसे ऋण देती है जिससे पूजी के निर्माण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। चूकि उत्पादक अपनी बचतों को ही उत्पादन कार्य में लगाते है, इसलिये जब यही बचतें सरकार के पास ऋण के रूप में पहुँच जाती हैं, तब नई पूजी का निर्माण अवरुद्ध

हो जाता है। इस स्थिति में देश की कार्यशील पूंजी (Working Cap'tal) में भी कोई वृद्धि नहीं होती जिससे वर्तमान काल में उत्पादन की वृद्धि कुंठित होकर भावी उत्पादन और बचत पर प्रभाव डालती है अर्थात् नागरिकों की काम करने और बचाने की शक्ति कम हो जाती है। परन्तु सरकारी ऋण का दूसरा पहलू (Aspect) भी है। यदि ऋण द्वारा प्राप्त किया गया धन सरकार ऐसी योजनाओं पर व्यय करती है जिनसे उत्पादिता (Productivity) बढ़ती है, तब इससे नागरिकों की बचत करने, काम करने एवं निवेश करने की योग्यता (Ability to Save, Work and Investment) में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार यदि उधार से प्राप्त धन का उपयोग निर्धन वर्ग के व्यक्तियों की आय में वृद्धि करने की योजनाओं में किया जाता है, तब इससे भी निर्धन वर्ग के व्यक्तियों की काम करने की योग्यता और कार्य कुशलता (Efficiency में वृद्धि होती है। इसके साथ ही साथ सरकारी ऋण तथा उस पर ब्याज आदि की अदायगी के लिये जो कर लगाए जाते हैं, उनका प्रभाव काम करने, बचत करने और निवेश करने की इच्छा एवं शक्ति पर सर्वथा प्रतिकूल ही पड़ता है। परन्तु यदि उधार द्वारा प्राप्त धन का उत्पादक योजनाओं पर व्यय किया जाता है, तब इस ऋण व उसपर ब्याज की अदायगी के लिये कर लगाने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती और इसका नागरिकों की काम करने, बचत करने व निवेश करने की इच्छा व शक्ति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) सार्वजनिक ऋण का उपभोग पर प्रभाव (Effects on Consumption of Public Debt) —प्रो० मेहता के मतानुसार सरकारी ऋण नागरिकों के वर्तमान उपभोग-स्तर (Standard of Consumption) पर कोई प्रभाव नहीं डालता। चूंकि जनता अपनी बचतों में से ही ऋण देती है, इसलिये उसकी पिछली बचतें ही कम हो जाती हैं और उसे उपभोग के तात्कालिक स्तर में कोई कमी नहीं करनी पड़ती। परन्तु जब सरकार अपने ऋण और उन पर ब्याज की अदायगी के लिये अतिरिक्त कर लगाती है, तब इससे जनता के उपभोग स्तर में कमी आती है क्योंकि जनता अपनी आय में से ही इन करों को अदा करती है। चूंकि ऋणों की अदायगी के लिये लगाये गए करों का भार प्राय धनी और निर्धन दोनों वर्गों पर पड़ता है, इसलिये इससे सामान्य उपभोग के स्तर में और भी कमी आ जाती है। इसका कारण यह है कि निर्धन वर्ग में अपेक्षाकृत उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume) अधिक होती है। अतः निर्धन वर्ग पर ऋण की अदायगी के लिए लगाए गए करों से इस वर्ग की आय व क्रय शक्ति कम हो जाती है और इससे उपभोग की प्रवृत्ति भी कम हो जाती है। इस प्रकार उपभोग की प्रवृत्ति कम होने से अन्तत देश में उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है तथा बेकारी का साम्राज्य फैल जाता है।

(३) सार्वजनिक ऋण का धन के वितरण पर प्रभाव (Effects on Distribution of Wealth of Public Debt) —निष्कर्ष रूप में सरकारी ऋण से क्रय-शक्ति (Purchasing Power) नागरिकों के एक वर्ग से दूसरे वर्ग की ओर को

हस्तान्तरित हो जाती है। अतः यदि क्रय-शक्ति के ये अन्तरण (Transference) धनी वर्ग की ओर से अपेक्षाकृत निर्धन वर्ग की ओर को होते है, तब इनसे देश मे धन के वितरण की असमानतायें यथासम्भव कम हो जाती है। परन्तु यदि य अन्तरण निर्धन वर्ग की ओर से धनी वर्ग की ओर को होते हैं, तब उस दशा मे धन के वितरण की स्थिति और अधिक असमान हो जाती है। वास्तव मे व्यावहारिक स्थिति यह होती है कि आय एव धन की प्रचलित असमानताओ के कारण, सरकारी ऋण-पत्रो के क्रेता अधिकाशतः धनी वग के व्यक्ति ही होते है। परन्तु ऋणो के ब्याज की अदायगियो के लिये धन प्राप्त करने को जो कर लगाये जाते हैं उनका भार निर्धन वर्ग के व्यक्तियो पर भी पडता है। इसलिए सरकारी ऋण मे सामान्यतया आय की असमानता मे वृद्धि करने की ही प्रवृत्ति पाई जाती है। **प्रो० जे० के० महता ने धन के वितरण पर कराधान और सार्वजनिक ऋण के तुलनात्मक प्रभाव की व्याख्या इन शब्दों मे की है —"कराधान की तुलना मे सार्वजनिक ऋण का धनी और निर्धन के बीच धन के वितरण पर विपरीत (Adverse) प्रभाव पडता है। इसका निष्कर्ष यह नहीं है कि जिसका प्रभाव धन के वितरण की दृष्टि से विरुद्ध होता है, उसका समस्त दूसरे दृष्टिकोणो से भी अनिच्छुक (Undesirable) प्रभाव पड़ता हो। परन्तु यदि धन के वितरण को भारी समानता की इच्छा की जाए तब इसमे ऋण पद्धति की अपेक्षा कराधान-पद्धति अधिक प्रभावशाली होती है।" ***

(४) व्यावसायिक क्रियाओ तथा रोजगार पर सार्वजनिक ऋण का प्रभाव (Effects on Occupational Activities and Employment of Public Debt) —जब सरकार बैंको के अतिरिक्त अन्य साधनो से ऋण प्राप्त करती है, तब इससे व्यक्तियो के हाथो म क्रय शक्ति पूर्वापेक्षाकृत कम हो जाती है और यह स्थिति स्वय ही एक मन्दी विरोधी कार्यवाही बन जाती है। इसके विपरीत जब सरकार बैंको से उधार लेती है, तब इससे उधार के विस्तार म सहायता मिलती है और इसका प्रभाव मुद्रा स्फीतिजनक होता है। इस प्रकार देश के बैंको अथवा केन्द्रीय बैंक (Central Bank) से लिया हुआ ऋण घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) अथवा घाटे की व्यय व्यवस्था (Deficit Spending) की योजनाओ का आधार बन जाता है। इस प्रकार उधार से जो धन प्राप्त होता है उसका उपयोग देश म कुल व्यय की मात्रा मे वृद्धि करके रोजगार की मात्रा बढाई जा सकती है।

भारतीय सरकारी ऋण (Indian Public Debt)

संवैधानिक स्थिति (Constitutional Position) :—भारतीय संविधान के

---

* "Thus, Public Debt, as compared Taxation, has adverse effect on distribution of wealth as between the rich and the poor. It is not to be concluded, however, that what is adverse from the distribution point of view is undesirable from all other view points. But if a greater equality of wealth is desired, the tax method happens to be more effective than the loan method." Prof J. K. Mehta

अनुसार संघ सरकार को भारत की एकीकृत निधि (Consolidated Fund of India) की जमानत (Security) पर, समय-समय पर संसद द्वारा निर्धारित की जाने वाली सीमाओं के अन्तर्गत (यदि ऐसी कोई सीमा निर्धारित की गई हो तब) उधार लेने का अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार कोई राज्य (State) अपने विधान मण्डल द्वारा निर्धारित सीमाओं मे ऋण ले सकता है। परन्तु भारत सरकार द्वारा राज्य को दिया हुआ अथवा भारत सरकार द्वारा गारन्टी (Guarantee) किया गया कोई भी ऋण यदि बाकी हो, तब राज्य बिना भारत सरकार की सहमति के और कोई नया ऋण नही ले सकता।

भारतीय सार्वजनिक ऋण का आकार व स्थिति – भारत मे सार्वजनिक ऋण का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल मे हुआ था। कम्पनी को समय-समय पर अपनी प्रतियोगी फ्रांसीसी और डच कम्पनियो से तथा देशी नरेशो से युद्ध करने के लिये ऋण लेने पडे थे। सन् १८७० मे कम्पनी के शासनकाल के अन्त के समय भारतीय सरकारी ऋण की रकम १० करोड पौंड थी। इस समय तक सार्वजनिक ऋण मुख्यत युद्ध लडने के उद्देश्य से ही लिए गए थे। परन्तु बाद मे ब्रिटिश सरकार ने नहरो और रेलो के निर्माण आदि उत्पादक कार्यों के लिए भी ऋण लेने आरम्भ कर दिए। १९वी शताब्दी के अन्त मे भारत सरकार के कुल ऋणो की रकम २७१ करोड रु० थी जिसमे से १७० करोड रु० के ऋण उत्पादक कार्यों के उद्देश्य से लिए गए थे। २०वी शताब्दी के प्रारम्भ मे सरकार द्वारा अपनाई गई साधारण ऋणो को उत्पादक ऋणो मे बदलने की नीति के कारण तथा बाद मे सन १९१४ मे विश्व युद्ध छिड जाने से देश के सरकारी ऋण म अत्यधिक वृद्धि हुई। सन १९२९–३२ की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के समय सरकार को घाटे के बजट बनाने पडे और सन् १९३४ तक सरकारी ऋण की मात्रा बढकर १,२२४ करोड रु० हो गई। सन १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध छिड जाने से भारत के सरकारी ऋण की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि हुई। सन् १९४४—४५ मे भारत का सरकारी ऋण १,८९० ४४ करोड रु० हो गया जिसमे से पौण्ड ऋण ३४ १६ करोड रु०, रुपया ऋण १,३१२ १४ करोड रु०, अल्प बचतें १६५ १८ करोड रु० और राजकोष पत्र आदि ८६ ७० करोड रु० के थे। युद्धकाल मे भारत के सरकारा ऋण की बनावट म भी महान परिवतन हो गए। सबसे उल्लेखनीय बात यह हुई कि भारत का पौण्ड ऋण जो सन् १९३९ मे ४६४ ९ करोड रु० था, सन् १९४४ ४५ मे घटकर केवल ३४ १६ करोड रु० रह गया। स्वाधीनता मिलने पर भारत सरकार की परिसम्पत्तियो (Assets) और देनदारियो (Liabilities) का विभाजन करने के लिए १२ दिसम्बर सन् १९४७ को भारत और पाकिस्तान के बीच एक वित्तीय समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार भारत सरकार ने देश के विभाजन से पूर्व के समस्त ऋणो को चुकाने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया और पाकिस्तान सरकार ने अपने हिस्से के ऋणो के ३०० करोड रु० भारत सरकार को ३ प्रतिशत ब्याज की दर से ५० वार्षिक किश्तों

मे देने का वायदा किया जिनका भुगतान सन् १९५२ से प्रारम्भ होना तय हुआ।

पचवर्षीय योजनाओं मे उधार कार्यक्रम—प्रथम योजनावधि मे देश के अन्दर ही उधार द्वारा ५२० करोड रु० प्राप्त करने का लक्ष्य रक्खा गया था जिनमे से ११५ करोड रु० बाजारू ऋण योजनाओ से, २७० करोड रु० अल्प बचतो से और १३५ करोड रु० अन्य विविध स्रोतो से प्राप्त करने थे। परन्तु योजनाकाल मे केवल ३६० करोड रु० के आन्तरिक ऋण प्राप्त हुये जिनमे से ६० करोड रु० बाजारू ऋणों से, २४२ करोड रु० अल्प बचतो मे तथा ४७ करोड रु० अन्य स्रोतो से प्राप्त हुये। इस अवधि मे भारत के विदेशी ऋण मे ९८ करोड रु० की वृद्धि हुई। दूसरी योजना मे ७०० करोड रु० बाजारू ऋणो से, ५०० करोड रु० अल्प बचतो से तथा ८०० करोड रु० विदेशी ऋणों व अनुदानो से प्राप्त करने का लक्ष्य रक्खा गया था। परन्तु वास्तव म योजनावधि मे ७८० करोड रु० बाजारू ऋणो से, ४०० करोड रु० अल्प बचतों से और १, ६० करोड रु० विदेशी सहायता के रूप म प्राप्त हुए। सन् १९६०–६१ के सशोधित अनुमानो तथा सन १९६१–६२ के बजट अनुमानों के अनुसार भारत सरकार के ब्याज मूलक दायित्व (Interest Bearing Obligations) की कुल राशि क्रमश ६,२८१ करोड रु० और ७,११० करोड रु० की आंकी गई। इन देनदारियों की तुलना मे भारत सरकार की ब्याजोत्पादक परिसम्पत्ति, जो रेल-डाक-तार, सार्वजनिक उद्योगो मे लगी हुई है अथवा राज्य सरकारो को उधार दी हुई है, मार्च सन् १९६१ के अन्त म ५,०६० करोड रु० से बढकर सन् १९६१—६२ के अन्त तक ५,७२६ करोड रु० हो जाने का अनुमान है। तीसरी योजना मे ८०० करोड रु० बाजारू ऋणो से, ६०० करोड रु० अल्प बचतों से और २,२०० करोड रु० विदेशी सहायता के रूप मे प्राप्त करने का लक्ष्य रक्खा गया है। सघीय वित्त मन्त्री श्री मोरार जी देसाई के बजट-भाषण के अनुसार भारत सरकार ने सन् १९६२–६३ के वित्तीय वर्ष मे ·६० करोड रु० बाजारू ऋणो से, १५० करोड रु० अल्प बचतो से, ४५५ करोड रु० विदेशी ऋणों से तथा ९० करोड रु० पी० एल० ४८० की जमाओ (P L. 480 Deposits) से प्राप्त करने का अनुमान लगाया है।

भारतीय सरकारी ऋण की मुख्य विशेषतायें (Main Features of Indian Public Debt)—भारत के सार्वजनिक ऋण की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं—(i) हमारे देश मे सार्वजनिक ऋण का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल मे हुआ। (ii) भारतीय सरकारी ऋण उत्पादक (Productive) है। विगत नियोजनकाल मे भारत सरकार ने विभिन्न प्रकार की विकास योजनाओ (Development Projects) को पूरा करने के लिये आभ्यान्तरिक (Internal) एव वाह्य (External) ऋण लिये हैं। (iii) भारतीय सरकारी ऋण की मात्रा प्रतिवर्ष बढती ही जा रही है—सन् १९५१ मे कुल सार्वजनिक ऋण की रकम २,५५२ करोड रु० थी। सन् १९६०—६१ के सशोधित अनुमान तथा सन् १९६१—६२ के बजट अनुमानों के अनुसार यह रकम क्रमश ६,२८१ करोड रु० और ७,११० करोड रु०

आकी गई। (iv) भारत सरकार के ऋणों मे आन्तरिक एवं वाह्य दोनों ही प्रकार के ऋण सम्मिलित हैं—प्रथम योजनावधि मे सरकार ने ३६० करोड रु० के आन्तरिक एव ९८ करोड रु० के विदेशी ऋण प्राप्त किये थे। द्वितीय योजनावधि मे सरकार ने १,१८० करोड रु० के आन्तरिक और १०६० करोड रु० के विदेशी ऋण प्राप्त किये। (v) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से हमारे देश का सम्बन्ध स्टर्लिंग क्षेत्रों से कम होता जा रहा है और डालर क्षेत्रों से बढता जा रहा है—३१ मार्च सन् १९५९ को भारत का स्टर्लिंग ऋण ३०.७८ करोड रु० था। भारत के डालर ऋण की मात्रा जोकि सन् १९५० मे १६.७७ करोड रु० थी, सन् १९५८—५९ मे बढकर २६२.३१ करोड रु० हो गई। डालर क्षेत्र मे ऋण वृद्धि का कारण यह है कि देश के विभाजन के पश्चात् देश की अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने तथा पचवर्षीय योजनाओ के विकास कार्यक्रमों को पूरा करने के लिये सरकार को डालर क्षेत्रो से अधिकाधिक मात्रा मे माल तथा सेवायें प्राप्त करने की आवश्यकता हुई और उसकी अदायगी के लिए डालर ऋण लेना पडा। (vi) भारत सरकार के आन्तरिक ऋणों मे अल्प बचतों (Small Savings) का विशेष महत्व है—प्रथम और द्वितीय योजनावधियो मे सरकार ने क्रमश ५४२ करोड रु० और ४०० करोड रु० अल्प *बचतो से ऋण स्वरूप प्राप्त किये। योजना आयोग (Planning Commission)* ने देश मे अल्प बचत योजना (Small Saving Plan) को विस्तृत रूप मे कार्यान्वित करने का सुझाव दिया है। योजना आयोग के शब्दों मे, "अल्प बचतों से आशातीत धनराशि प्राप्त करने के कार्य के लिए प्रत्येक परिवार तक पहुँचकर देशव्यापी बचत आन्दोलन चलाने की आवश्यकता है। उद्देश्य यह होना चाहिए कि देश के प्रत्येक नागरिक को इस बात के लिए प्रेरित किया जाये कि वह देश की परिवर्तित अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिये अपना श्रमदान अवश्य दे, चाहे वह श्रमदान कितना ही थोडा क्यों न हो।"

भारत के सार्वजनिक ऋण पर एक दृष्टि—अन्य देशो की तुलना म भारत का सार्वजनिक ऋण अपेक्षाकृत बहुत कम है। भारत सरकार का लिया हुआ ऋण देश की राष्ट्रीय आय (National Income) का केवल ६० प्रतिशत है, जबकि अमेरिका और इगलैंड की सरकारो द्वारा लिये हुये ऋण उन देशो की राष्ट्रीय आयो के क्रमश १२९ प्रतिशत और २४६ प्रतिशत हैं। प्रो० जे० के० महता (Prof- J K Mehta) के शब्दों मे, 'यह कहना पर्याप्त होगा कि हमे अपने राष्ट्रीय ऋण (National Debt) के भार (Magnitude) को देखकर घबराने की आवश्यकता नहीं है। *वास्तव मे इसमे आगे भी वृद्धि का और क्षेत्र है। हमारे राष्ट्रीय ऋण का* ७५ प्रतिशत भाग उत्पादक होने से हम सब भाग्यशाली हैं। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की सहायता के माध्यम से भारत सरकार ऋणों को उचित उद्देश्यों के लिए जारी कर रही है। इसलिये ऋण की कुल मात्रा (Total Quantum) से चिन्तित होने की

आवश्यकता नहीं है।"* यद्यपि हमारी सरकार विदेशी ऋणों की अपेक्षा आन्तरिक ऋण अधिक मात्रा में लेने का प्रयत्न कर रही है, तथापि देश के द्रव्य बाजार (Money Market) में आई तंगी (Tightness) के कारण आन्तरिक ऋण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं हो पा रहे हैं। प्रतिवर्ष सरकार जितनी मात्रा में बाजारू ऋण योजना तथा अल्प बचत योजना से प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, उससे कम ही मात्रा में ऋण प्राप्त हो पाता है। अतः भारत सरकार को अपने नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रम को पूरा करने के लिए विदेशी सहायता पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। सरकार को आन्तरिक ऋण की कम प्राप्ति के चार प्रमुख कारण हैं —(i) देश के नागरिकों की करदेय क्षमता (Taxable Capacity) की तुलना में उन पर कराभार (Burden of Taxes) अधिक हैं। फलतः भारत के नागरिकों की आय का अधिकांश भाग करों के भुगतान में चला जाता है और उन्हें बचत करने के लिए कोई राशि शेष नहीं रह पाती। (ii) विगत वर्षों में भारत सरकार द्वारा निरन्तर घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) की नीति अपनाने से देश में मुद्रा-प्रसार (Inflation) की स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे वस्तुओं का मूल्य-स्तर ऊंचा हो गया है। अतः अब उपभोक्ता को वस्तुओं के क्रय करने में पूर्वापेक्षाकृत अधिक द्रव्य का त्याग करना पड़ता है और वह बचत नहीं कर पाता। (iii) सरकार द्वारा अपनाई गई सस्ती द्रव्य नीति के कारण भी नागरिकों को बचत करने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। (iv) विगत वर्षों में कृषि-उपजों के मूल्यों में वृद्धि हो जाने से शहर से द्रव्य के गावों में जाने की प्रवृत्ति चालू हो गई है। अतः ग्रामीण जनता पहले से अधिक समृद्ध होती जा रही है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में परिवहन, संचार एवं बैंक आदि की कोई सुविधायें न होने के कारण ग्रामीण बचतों (Village Savings) का कोई उपयोग नहीं किया जा सका है। अतः इस समय आन्तरिक ऋणों को प्राप्त करने के लिए शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्र अधिक उपयुक्त हैं। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में डाकखाने खोलकर व्यक्तियों की बचतों को जमा किया जाए, तब पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त हो सकता है।

---

* "This should be enough to tell us that we need not be afraid of the magnitude of owr natinal debt In fact there is scope for a further increase in it We are all fortunate as roughly 75 percent of our national debt is productive Through the help of the Reserve Bank of India the Government is floating loans on sound lines and there is nothing to worry about quantum of loan" Prof J. K. Mehta : Public Finance, Page 534.

४५
भारत की राष्ट्रीय आय

(National Income of India)

राष्ट्रीय आय का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of National Income):—मानव की समस्त क्रियाओ का मूल उद्देश्य अपनी निजी आवश्यकताओ की सतुष्टि करना है। जिस प्रकार मानव का भौतिक सुख जीवन मे उपलब्ध वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा पर निर्भर होता है, उसी प्रकार किसी देश की राष्ट्रीय आय उस देश मे उपलब्ध उन समस्त सम्पत्तियो पर निर्भर होती है जिनका पारस्परिक आदान-प्रदान सम्भव है। अत राष्ट्रीय आय किसी राष्ट्र को वह सम्पत्ति है जो उसे प्रतिवर्ष उपलब्ध होती है और जिसका आदान-प्रदान व उपयोग सम्भव होता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा निम्न प्रकार दी हैं।

प्रो० मार्शल (Marshall) के शब्दों मे, "देश के प्राकृतिक साधनों पर श्रम और पूंजी द्वारा कार्य करने पर, प्रतिवर्ष पार्थिव एवं अपार्थिव वस्तुओं एव सेवाओं का उत्पादन होता है। इन सबकी असल (शेष) उत्पत्ति के योग को वास्तविक वार्षिक आय अथवा राष्ट्रीय आय कहते हैं।" आलोचको का मत है कि मार्शल (Marshall) के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी विचार व्यावहारिक दृष्टि से तर्कसगत नही है। किसी देश की किसी वर्ष की वस्तुओ एव सेवाओ के रूप मे कुल उत्पत्ति की गणना करना कठिन है। यही नही, राष्ट्रीय आय को वस्तुओ एव सेवाओ के रूप मे व्यक्त करने पर इसकी उपयोगिता सीमित हो जाती है क्योकि इस आधार पर वितरण की समस्याओं का अध्ययन भली प्रकार हो सकना सम्भव नही है।

प्रो० पीगू (Prof. Pigou) के मतानुसार, "राष्ट्रीय आय किसी देश की भौतिक आय का वह भाग है जिसमे विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित है तथा जिसका द्रव्य मे माप किया जा सकता है।"† वस्तुत द्रव्य के माप दण्ड के

* "The labour and Capital of a country, acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial, including services of all kinds This is the true Net Annual Income or Revenue of the Country or the National Dividend."—
Marshall, Principles of Economics, P 532.

† "National Dividend is that part of the objective income of the community, including, of course, income derived abroad, which can be measured in money." Prof, Pigou, Econmies of welfare, P. 41

उपयोग मे पीगू ने राष्ट्रीय आय के विचार को अधिक निश्चित, व्यावहारिक एव तर्कसगत बना दिया है। इसलिये आज भी अनेक ऐसे अर्थशास्त्री ऐस हैं जो प्रा० पीगू के विचारो के समर्थक हैं। परन्तु उनकी परिभाषा म मुख्य दोष यह है कि इसमें ऐसी वस्तुए व सेवाए जिनका द्रव्य मे विनिमय होता है तथा ऐसी वस्तुयें व सेवाय जिनका द्रव्य म विनिमय नही होता है, एक विरोधाभास है।

प्रो० इरविंग फिशर (Prof Irving Fisher) के मतानुसार, "राष्ट्रीय लाभांश अथवा आय में केवल वे सेवायें, जैसी कि वे उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, सम्मिलित हैं—चाहे ये सेवायें भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई हों या मानवीय कारणों से।"* वस्तुत इरविंग फिशर का मत भी अधिक तर्कसगत एव व्यावहारिक नहीं है। किसी देश म वर्ष-भर मे उपभोग की गई वस्तुओ एव सेवाओ की सूची बनाना सरल नही है। सन् १६४६ की भारत की राष्ट्रीय आय-समिति (Indian National Income Committee, 1949) के अनुसार, "राष्ट्रीय-आय एक निश्चित समय में वस्तुओं और सेवाओं की माप है। इसमे देश की समस्त आर्थिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है, चाहे उनका सम्बन्ध जूते या जहाजों के निर्माण करने मे हो अथवा चिकित्सालय या न्याय-सम्बन्धी सेवायें प्रदान करने से।"

प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr V K R V Rao) के मतानुसार "राष्ट्रीय आय वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक-मूल्य (Money Price) द्वारा सूचित होती है।" इसमे गणना-वर्ष की उन आयातों का मूल्य सम्मिलित नहीं किया जाता जो बिक्री के लिये उपलब्ध हैं अथवा जिन्हें बेचा जा सकता है। राष्ट्रीय आय की गणना करते समय वस्तुओं और सेवाओं की समस्त कीमतें वर्तमान मूल्यों (Current Prices) के आधार पर आंकी जाती हैं। वस्तुओ एव सेवाओ के मौद्रिक-मूल्य में से इन मदों को घटा दिया जाता है— (i) उस वर्ष मे पूजीगत माल की घिसावट-व्यय का मौद्रिक मूल्य, (ii) ऐसी वस्तुओं एव सेवाओ का मौद्रिक मूल्य जो वर्तमान पूजीगत माल को बनाए रखने (Maintaining intact existing Capital Equipment) के लिये उपयोग की गई हैं, (iii) राज्य का परोक्ष कर (Indirect Taxes) से प्राप्त होने वाली आय, (iv) व्यापारारोप की अनुकूलता (Favourable Balance of Trade) का मौद्रिक-मूल्य, (v) ऐसी वस्तुओ और सेवाओं का मूल्य जो उस वर्ष मे उत्पादन-कार्य म लगाई गई हैं, (vi) देश के विदेशी ऋण मे वास्तविक वृद्धि अथवा देश के नागरिकों व सरकार की विदेश स्थित प्रतिभूतियों या कोष (Holding of Securities and

* "National Dividend or Income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environments." Irving Fisher, The Nature of Capital and Income, P 101.

Balances Abroad) मे वास्तविक कमी । अत जब हम इस प्रकार सब लित वस्तुओ एव सेवाओ के मौद्रिक-मूल्य मे से उपरोक्त मदो के मौद्रिक-मूल्य को घटा देते हैं, तब जो कुछ शेष बचता है देश की राष्ट्रीय-आय अथवा राष्ट्रीय-लाभांश है।

राष्ट्रीय-आय का महत्व (Importance of National Income) — राष्ट्रीय आय के आकडो के सही सकलन से किसी देश को जो लाभ प्राप्त हो सकते हैं, उनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं —(i) **देश के आर्थिक कल्याण का माप** — राष्ट्रीय आय के आकडो द्वारा किसी देश के भौतिक, प्राकृतिक एव मानवीय साधनो के उपयोग का सही चित्र प्रस्तुत किया जाता है। प्रो० मार्शल (*Marshall*) के मतानुसार "अन्य बातें समान रहने पर, किसी देश की राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होती है, उस देश का आर्थिक कल्याण उतना ही अधिक समझा जाता है।" (ii) **देशवासियों के जीवन स्तर का तथ्यज्ञान** —किसी देश की राष्ट्रीय-आय एव प्रति व्यक्ति औसत आय मे घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अत राष्ट्रीय आय की वृद्धि से देश मे प्रति व्यक्ति औसत आय म वृद्धि तथा प्रति व्यक्ति आय म वृद्धि होने से देश के नागरिको के जीवन-स्तर मे वृद्धि होती है। परन्तु यदि देश मे धन के वितरण की असमानता है, तब राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होने पर भी देश के जीवन-स्तर मे कोई विशेष वृद्धि नही होती। अत इस स्थिति मे राष्ट्रीय आय के आकडो द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों की उत्पादक एव आय प्राप्तकर्ता के रूप मे जो आय प्राप्त होती है, उसे प्रदर्शित करना अत्यावश्यक है। इस प्रकार यह बताना सम्भव हो सकेगा कि देश की अर्थ-व्यवस्था मे कालान्तर मे किस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं तथा भविष्य मे जीवन-स्तर की क्या स्थिति रहेगी। (iii) **सरकार के आर्थिक-नीति के निर्धारण मे सहयोग** —राष्ट्रीय आय की जानकारी से देश की अर्थ-व्यवस्था की वस्तु-स्थिति का स्पष्ट चित्रण हो जाता है। फलत देश की अनेक आर्थिक क्रियाओ म, जैसे—सरकार द्वारा सपत्ति-कर व बिक्री-कर आदि लगाना, उद्योगो को आर्थिक सहायता देना, मजदूरी की दर निश्चित करना तथा आर्थिक नीति के दूसरे पहलुओ पर विचार करने मे, राष्ट्रीय आय के आकडे बहुत लाभदायक सिद्ध होते हैं। प्रत्येक देश की सरकार अपनी साख, मुद्रा, विनियोग, पूजी निर्माण, रोजगार एव बजट सम्बन्धी नीति का निर्धारण राष्ट्रीय-आय के आकडो के आधार पर करती है। अत इन आकडो द्वारा देश मे अधिकतम सुख-समृद्धि को लाना सरल और सम्भव हो सकता है। (iv) **आर्थिक नियोजन मे विशेष महत्व** —राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आकडो की सरचना (Structure) आर्थिक नियोजन की सफलता के लिये सुदृढ नीव का कार्य करती है। आर्थिक नियोजन मे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अगो, विभिन्न क्षेत्रो एव विभिन्न वर्गों मे से किस को प्राथमिकता दी जाए इसका निश्चय राष्ट्रीय आय आकडो के आधार पर ही किया जाता है। आर्थिक नियोजन का मूलभूत उद्देश्य भी देश की राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करना होता है। (v) **आर्थिक प्रगति की बाधाओं**

का ज्ञान एवं उन्हें दूर करने के उपाय :—राष्ट्रीय आय के आकड़े किसी देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिये बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। इनसे देश की आर्थिक प्रगति में अवरुद्धता लाने वाले मुख्य कारणों का स्पष्ट ज्ञान होता है और इस ज्ञान के आधार पर इन बाधाओं को दूर करने के उपायों को सुझाया जाता है। देश में बचत व विनियोग की दर अन्ततः देश की राष्ट्रीय आय पर ही निर्भर रहती है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ ही साथ इन दरों में वृद्धि हो जाती है। (vi) विभिन्न उत्पादन-कार्यों का देश की अर्थ-व्यवस्था में सापेक्षिक महत्व का स्पष्ट ज्ञान:—राष्ट्रीय-आय-समिति (National Income Committee) के शब्दों में, "राष्ट्रीय आय के आकड़े समस्त अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण रूप से विचारने में तथा इसके विभिन्न स्रोतों (Resources) को इनके सापेक्षिक स्थानों एवं अन्तर-सम्बन्धों को विचारने में सहयोग देते हैं।"

राष्ट्रीय आय की माप विधियां (Methods of the Measurement of National Income) :—राष्ट्रीय आय को मापने की मुख्यतः ५ पद्धतियां प्रचलित हैं —

(१) उत्पादन गणना प्रणाली (Census of Production on Method or Inventory Method) —राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की उत्पत्ति-गणना पद्धति में किसी देश के उत्पादन के साधनों द्वारा उत्पादित समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य का योग निकाला जाता है। यह योग एक निश्चित अवधि का निकाला जाता है। इस सकलित कुल उपज के मूल्य में से चल पूंजी की स्थान-पूर्ति और अचल पूंजी का मूल्य ह्रास, घिसावट व प्रतिस्थापना का मूल्य घटाया जाता है। इस प्रकार कुल उत्पत्ति (Gross Production) में से उपरोक्त व्यय घटाकर जो शेष वास्तविक-उत्पत्ति (Net Product) बचती है, उसे ही राष्ट्रीय आय कहा जाता है। राष्ट्रीय आय मापने की इस प्रणाली में तीन बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है :—(i) वस्तुओं एवं सेवाओं की उत्पत्ति-गणना करते समय किसी वस्तु अथवा सेवा का मूल्य एक से अधिक बार न जोड़ लिया जाये। इसके लिये सर्वोत्तम ढंग यह है कि गणना करते समय वस्तुओं एवं सेवाओं के केवल उन्हीं अन्तिम मूल्य को जोड़ा जाये जो उपभोक्ताओं द्वारा क्रय करते समय वास्तव में दिया जाता है। (ii) वस्तुओं एवं सेवाओं का विशुद्ध उत्पादन-मूल्य ज्ञात करने के लिए समस्त उत्पादन में से पूंजी का मूल्य-ह्रास घटा दिया जाये तथा (iii) राष्ट्रीय आय का सही अनुमान लगाने के लिये गणना करते समय विदेशी लेन-देन को इसमें से घटा दिया जाये। *राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की यह प्रणाली वहीं सफल होती है जहां वस्तुओं* एवं सेवाओं से सम्बन्धित सही आकड़े उपलब्ध होते हैं। चूंकि हमारे देश में वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य-सम्बन्धी सही आकड़े उपलब्ध नहीं होते, इसलिये यह पद्धति भारत की राष्ट्रीय आय का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध नहीं हो सकती।

वहा "वचत-पूजी" को ज्ञात करना दुसाध्य कार्य हो जाता है।

(५) उत्पादन-प्रणाली एव आय प्रणाली का मिश्रित उपयोग (A Combination of Production Method and Income Method) —भारत के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr V K R V Rao) ने उत्पादन-पद्धति एव आय-पद्धति दोनो को मिला कर, एक नई मिश्रित पद्धति (Combination Method) को जन्म दिया है। इस प्रणाली का प्रयोग उसे देशो मे किया जाता है जिनमे आय सम्बन्धी अथवा उत्पत्ति सम्बन्धी समस्त आकडे उपलब्ध नही होते। डा० राव ने इस नई प्रणाली के आधार पर भारत की राष्ट्रीय आय का सफलतापूवक अनुमान लगाया है।

सर्वोत्तम प्रणाली कौन सी है? (Which is the best Method) —अधिकाश अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि उत्पत्ति गणना एव व्यवसायिक गणना य दो प्रणालियां, आय प्रणाली एव व्यय प्रणाली इन दोनो से अधिक श्रेष्ठ एव व्यावहारिक हैं। आजकल अधिकाश देशो म उत्पत्ति गणना प्रणाली का ही अधिक उपयोग किया जाता है। वस्तुत राष्ट्रीय आय मापने की किसी प्रणाली की उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता किसी देश विशेष की आर्थिक, सामाजिक एव प्रशासनिक प्रगति एव क्षमता पर निभर करती है।

भारत मे राष्ट्रीय आय की गणना सम्बन्धी कठिनाइयाँ (Difficulties of Estimating National Income in India) —हमारे देश म राष्ट्रीय आय की गणना-सम्बन्धी मुख्य कठिनाइया इस प्रकार हैं—(i) **वस्तुओं व सेवाओं का मुद्रा-मूल्य जानने मे कठिनाई** —किसी देश की राष्ट्रीय आय के स्पष्ट चित्रण के लिय, उस देश की अर्थ व्यवस्था का सगठित एव सतुलित होना अति आवश्यक है। राष्ट्रीय आय की गणना करते समय कुल उत्पादन का मुद्रा मूल्य ज्ञात करन के लिए यह आवश्यक है कि देश का समस्त उत्पादित सामान बाजारो म लाया जाय। परन्तु भारत का कृषक वर्ग अपने कुल उत्पादन का एक बहुत बडा भाग अपने निजी उपभोग के लिए अपने घर म ही रख लेता है तथा कुछ भाग को अन्य वस्तुओं व सेवाओं से अदल बदल कर लेता है। अत भारत के कृषि क्षेत्र म उत्पादित वस्तुओं का ठीक ठीक मुद्रा मूल्य ज्ञात करना अत्यधिक कठिन होता है। (ii) **विश्वसनीय आंकड़ों का अभाव** —राष्ट्रीय आय की गणना के लिय बचत, उपभोग, उत्पादन एव कार्यशील व्यक्तियो की सख्या क सही आकडे उपलब्ध होना अनिवार्य है। हमारे देश मे जनसख्या का एक वृहत् भाग निरक्षर है, जो अपना आय-व्यय सम्बन्धी हिसाब बिलकुल भी नही रखता है। अत इस स्थिति म देश के उत्पादन, उपभोग एव बचत आदि के विश्वसनीय एव सही आकडे प्राप्त कर सकना सवथा असम्भव है। (iii) **विभिन्न क्षेत्रों की भिन्न भिन्न परिस्थितियां** —हमारे देश म विभिन्न क्षेत्रों की परिस्थितिया एक समान नही हैं। यही कारण है कि किसी एक क्षेत्र-सम्बन्धी जानकारी को दूसरे क्षेत्रों म प्रयोग म नहीं लाया जा सकता। फलत देश की

राष्ट्रीय आय की गणना मे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। (iv) **व्यवसायिक विशिष्टीकरण का अभाव** —भारत मे कृषि भूमि पर जनसख्या का अत्यधिक दबाव होने के कारण कृषक-वर्ग को अपनी आजीविका के लिये लघुस्तरीय एव कुटीरउद्योगो मे जुटना पडता है अथवा अन्य कोई दूसरा कार्य करने के लिये बाध्य होना पडता है। इस प्रकार देश की कार्यशील जनसख्या का एक बहुत बडा भाग किसी विशिष्ट व्यवसाय में नही लगा हुआ है। अत व्यवसायिक विशिष्टीकरण के अभाव म, विभिन्न व्यवसायो के आधार पर देश की राष्ट्रीय-आय का अनुमान लगाना कठिन होता है।

भारत की राष्ट्रीय आय विगत लगभग सौ वर्षों मे भारत मे राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय के अनुमान लगाने के अनेक बार प्रयत्न किये गये हैं। दादाभाई नौरोजी ने सन् १८६७ ७० मे देश की राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय ज्ञात करने का प्रथम प्रयास किया। उनके पश्चात् सन् १९४८ तक अनेक विद्वानो द्वारा भारत की राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के समय-समय पर प्रयास किये गये। परन्तु देश मे आकडो के अभाव अथवा अविश्वसनीय आकडों की उपलब्धता के कारण, इन अनुमानो को ठीक एव वैज्ञानिक नही माना जा सकता। अगस्त सन् १९४९ म भारत सरकार ने देश की राष्ट्रीय आय के सही अनुमान के लिये प्रो० पी० सी० महलनवीस (P C Mahalnobis) की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की। डा० वी० के० आर० वी० राव, प्रो० डी० आर० गॉडगिल और श्री आर० सी० देसाई इस समिति के सदस्य नियुक्त किये गये। राष्ट्रीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने मे मिश्रित पद्धति को अपनाया। इस समिति ने कृषि, खनिज एव उद्योग के क्षेत्रो मे उत्पत्ति गणना प्रणाली तथा व्यापार, परिवहन, प्रशासन, सेवाओ आदि के क्षेत्रो मे आय गणना प्रणाली को अपनाया। राष्ट्रीय आय समिति की प्रथम रिपोर्ट सन् १९५१ मे प्रकाशित हुई। इसके अनुसार सन् १९४८-४९ मे भारत की अनु मानित राष्ट्रीय आय ८,६५० करोड रु० थी।

पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भारत की राष्ट्रीय आय—नियोजन की विगत दशाब्दी (Decade) मे भारत की राष्ट्रीय आय मे ४१ ४६ प्रतिशत की वृद्धि हुई है तथा प्रति व्यक्ति आय मे १६ २ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। सन् १९५०-५१ मे भारत की राष्ट्रीय (सन् १९६०-६१ के मूल्यो के आधार पर) तथा प्रति व्यक्ति औसत आय क्रमश १०,२४० करोड रु० व २८४ रु० थी, जो सन् १९५५-५६ मे बढकर क्रमश १२,१३० करोड रु० व ३० रु०६ हो गई तथा सन १९६०-६१ मे बढकर क्रमश १४,५०० करोड रु० व ३३० रु० हो गई। प्रथम योजना मे सन् १९५१ से १९८१ तक के तीस वर्षो मे आर्थिक विकास का भावी चित्र आकडो मे प्रस्तुत किया गया था। प्रथम योजनावधि से जो धारणाएँ और स्थितिया एक प्रकार से उत्तराधिकार के रूप मे चली आ रही थी, उनकी दूसरी योजना मे, अर्थ-व्यवस्था की वास्तविक उपलब्धियो

के प्रकाश में, समीक्षा की गई। इस योजना में यह सुझाया गया था कि सन् १९५०-५१ की तुलना में सन् १९६७–६८ तक राष्ट्रीय आय और सन् १९७३–७४ तक प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हो जायेगी। तीसरी योजना में यह अनुमान लगाया गया है कि सन् १९६०–६१ के मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय दूसरी योजना के अन्त में लगभग १४,५०० करोड़ रु० से बढ़कर, तीसरी योजना के अन्त तक लगभग १९,०० करोड़ रु०, चौथी योजना के अन्त तक लगभग २५,००० करोड़ रु० और पाचवीं योजना के अन्त तक लगभग ३४,००० करोड़ रु० हो जायेगी। इसी प्रकार जनसंख्या की लगभग २% की अनुमानित वार्षिक वृद्धि को दृष्टिगत रखते हुये, प्रति व्यक्ति आय सन १९६०–६१ के अन्त में ३३० रु० से बढ़कर सन् १९६६, १९७१ और १९७६ के अन्त में क्रमशः ३८५ रु०, ४० रु० और ५३६ हो जायेगी। अतः भावी योजनाओं में राष्ट्रीय आय की इस सम्भावित वृद्धि को साकार रूप देने के लिय यह आवश्यक है कि देश में पूंजी के विनियोग की दर वर्तमान ११% से बढ़कर तीसरी योजना में १४ प्रतिशत, चौथी योजना में १७ प्रतिशत तथा पाचवी योजना में २० प्रतिशत तक हो जानी चाहिये। दूसरे शब्दों में, तीसरी योजना में लगाई जाने वाली लगभग १०,५०० करोड़ रु० की पूंजी की तुलना में चौथी योजना में १७,००० करोड़ रु० और पाचवी योजना में २५,००० करोड़ रु० की पूंजी लगनी चाहिये। घरेलू बचत की दर भी इसी अनुपात से वर्तमान ८.५ प्रतिशत से बढ़कर तीसरी योजना में ११.५ प्रतिशत, चौथी योजना में १५ से १६ प्रतिशत तथा पाचवी योजना में १८ से १९ प्रतिशत तक हो जानी चाहिये। इस प्रकार अनुमान है कि तीसरी योजना के समस्त कार्यक्रम समय पर पूरे हो जाने पर सन् १९६०–६१ के मूल्यों के आधार पर, भारत की राष्ट्रीय आय में लगभग ३४ प्रतिशत वृद्धि हो जायेगी। इस अवधि में कृषि एव उससे सम्बन्धित धन्धों के शुद्ध उत्पादन में २५ प्रतिशत वृद्धि होगी, खानों और कारखानों के उत्पादन में ८२ प्रतिशत वृद्धि होगी तथा अन्य क्षेत्रों के उत्पादन में लगभग ३२ प्रतिशत वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय में ३४ प्रतिशत की वृद्धि के लिये बहुत सी कठिन समस्याओं को हल करना आवश्यक है जिनमें एक सबसे बड़ी समस्या विकास कार्यों के लिये यथेष्ट मात्रा में रकम जुटाने की है। फिर भी यह अनुमान लगाया गया है कि तीसरी योजनावधि में राष्ट्रीय आय में कम से कम ३० प्रतिशत वृद्धि अवश्य हो जायगी। राष्ट्रीय आय में वृद्धि लाने के उद्देश्य से तीसरी योजना में देश के विभिन्न भागों का सतुलित विकास किया जायगा। वस्तुतः राष्ट्रीय आय में वृद्धि और देश के विभिन्न भागों का सन्तुलित विकास, ये दोनों बातें एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतः शनैः शनैः प्रत्येक भाग का विकास इस ढंग से किया जा सकता है कि वहां के प्राकृतिक साधनों एवं निवासियों की प्रतिभा और धन का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके।

यद्यपि विगत दशाब्दी में भारत की राष्ट्रीय आय में ४२ प्रतिशत वृद्धि हुई है तथा प्रति व्यक्ति औसत आय में १६ प्रतिशत वृद्धि हुई है, फिर भी अन्य प्रगतिशील

देशो की तुलना मे भारत मे राष्ट्रीय श्राय व प्रति व्यक्ति श्रौसत श्राय बहुत कम है। निम्न तालिका मे भारत की राष्ट्रीय श्राय एव प्रति व्यक्ति श्रौसतन श्राय की तुलना कुछ अन्य देशो से की गई है —

देश	वर्ष	कुल राष्ट्रीय श्राय (करोड रु० मे)	प्रति व्यक्ति श्रौसत श्राय (रुपयो मे)
१. श्रमेरिका	१९५८	१,६८,४४७	६६०
२. कनाडा	१९५७	११,६८०	७,०३५
३. श्रास्ट्रेलिया	१९५७	४,९७०	५,१७७
४. इगलैण्ड	१९५७	२३,२२०	४,५२०
५. भारत	१९६०–६१	१४,५००	३३०

भारत की राष्ट्रीय श्राय सम्बन्धी प्रमुख विशेषतायें:—हमारे देश की राष्ट्रीय श्राय सम्बन्धी मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं —(i) **कृषि पर निर्भरता**—भारत की राष्ट्रीय श्राय मुख्यत कृषि व्यवसाय पर श्राश्रित है। चूंकि कृषि एक अनिश्चित व्यवसाय है, इसलिए इससे राष्ट्रीय श्राय मे भी अनिश्चितता श्राती है। सन् १९५९-६० मे भारत की राष्ट्रीय श्राय का लगभग ४८ १ प्रतिशत भाग कृषि व्यवसाय से प्राप्त हुश्रा था, जबकि खनिज श्रौर उद्योगो मे कुल मिलाकर राष्ट्रीय श्राय का केवल १७·६ प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुश्रा था। श्रत देश के श्रार्थिक विकास एव राष्ट्रीय श्राय मे वृद्धि लाने के लिए देश की अर्थ-व्यवस्था का सन्तुलित विकास करना अपेक्षित है। (ii) **राष्ट्रीय श्राय की वृद्धि जनसख्या की वृद्धि से पीछे रहती है**—प्रथम श्रौर द्वितीय योजनावधियो मे राष्ट्रीय श्राय मे निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार वृद्धि न होने का एक प्रमुख कारण यह था कि इस दशाब्दी म भारतीय जनसख्या मे तीव्र गति से (२ २ प्रतिशत से) वृद्धि हुई है। यही कारण है कि हमारे देश म प्रति व्यक्ति श्रौसत श्राय अपेक्षाकृत बहुत कम है। एक श्रौसत श्रमेरिकन की श्राय एक श्रौसत भारतीय से लगभग ३१ गुनी अधिक है तथा एक श्रौसत श्रंग्रेज की श्राय श्रौसत भारतवासी की श्राय से १४ गुनी अधिक है। (iii) **राष्ट्रीय श्राय का असमान वितरण**—हमारे देश मे राष्ट्रीय श्राय का वितरण समान नही है। प्रो० शाह श्रौर खम्बाता के मतानुसार भारत की राष्ट्रीय श्राय का ३० प्रतिशत भाग केवल ५% जनसख्या (धनी वर्ग) को मिलता है, राष्ट्रीय श्राय ३४% भाग लगभग ३५% जनसख्या (मध्यम वर्ग) को मिलता है श्रौर राष्ट्रीय श्राय का शेष ३३ प्रतिशत भाग ६० प्रतिशत जनसख्या (निम्न वर्ग) के पास जाता है। श्री लिडाल (Lidal) के मतानुसार हमारे देश की राष्ट्रीय श्राय का लगभग ६० प्रतिशत भाग ८६ प्रतिशत जनसख्या को मिल पाता है तथा राष्ट्रीय श्राय का शेष ४० प्रतिशत भाग केवल १४% जनसख्या को मिलता है। वस्तुत राष्ट्रीय श्राय के वितरण की इस भारी असमानता के कारण नियोजनकाल मे प्रति व्यक्ति श्रौसत श्राय म वृद्धि के श्राकडे देश की अर्थ-

व्यवस्था का सही चित्र प्रस्तुत नहीं करते। (iv) कृषि क्षेत्र में राष्ट्रीय आय बढ़ने की प्रवृत्ति—अन्य स्रोतों की अपेक्षा विगत वर्षों में कृषि क्षेत्र में राष्ट्रीय आय में अधिक वृद्धि हुई है। इसका मुख्य कारण यह रहा है कि विकास कार्यों एवं मूल्यों की वृद्धि से नगर निवासियों की तुलना में कृषकों का अधिक लाभ हुआ है। (v) राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग खाद्य-पदार्थों पर व्यय किया जाता है—राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) के अनुमानानुसार भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग ५३ प्रतिशत भाग खाद्य पदार्थों पर व्यय होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में नागरीय क्षेत्रों की तुलना में, खाद्य पदार्थों पर व्यय का प्रतिशत बहुत अधिक हुआ करता है। चूंकि राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग उपभोग पदार्थों पर व्यय होता है, इसलिए देश में बचत और विनियोग बहुत कम होने पाता है। (vi) अन्य विशेषतायें—राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार भारत सरकार को प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा परोक्ष करों से अधिक आय प्राप्त होती है। अनुमानतः सरकार को करों से प्राप्त समस्त आय का ८० प्रतिशत भाग परोक्ष करों (Indirect Taxes) से तथा केवल २०% भाग प्रत्यक्ष करों (Direct Taxes) से प्राप्त होता है। इसके विपरीत अमेरिका में सरकार को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों से मिलने वाली आय का प्रतिशत लगभग समान रहता है। अतः भारत में परोक्ष करों की बहुतायत इस तथ्य का प्रमाण है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था अविकसित अवस्था में है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आय समिति ने यह भी बताया है कि राष्ट्रीय आय में लघुस्तरीय एवं कुटीर उद्योगों का प्रदान विशालस्तरीय उद्योगों के प्रदान की तुलना में ६ गुणा अधिक रहता है। राष्ट्रीय आय की यह विशेषता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि देश में अभी तक विशालस्तरीय उद्योगों का समुचित विकास नहीं हो सका है।

भारत में राष्ट्रीय आय कम होने के कारण — अन्य देशों की तुलना में भारत की राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। इसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं — (i) **जनसंख्या का अनुचित व्यावसायिक वितरण** —हमारे देश की ७२ प्रतिशत जनसंख्या अकेले कृषि व्यवसाय में लगी हुई है। चूंकि देश में खनिज एवं उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य तथा परिवहन एवं संचार आदि व्यवसायों का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है, इसलिये इन क्षेत्रों में जनसंख्या का बहुत कम प्रतिशत काम में लगा हुआ है। चूंकि कृषि एक अनिश्चित व्यवसाय है, इसलिये भारतीय राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर भी अनिश्चित रहती है। (ii) **बचत एवं विनियोग की न्यून दर** —हमारे देश के नागरिक, बचत करने की शक्ति एवं इच्छा के अभाव के कारण, पर्याप्त मात्रा में बचत नहीं कर पाते। फलतः देश में स्वदेशी पूंजी के विनियोग की दर भी बहुत कम है। सन् १९६०–६१ में देशी बचत और विनियोग की दरें, कुल राष्ट्रीय आय की केवल क्रमशः ८.५ प्रतिशत और ११ प्रतिशत थी। (iii) **देश के विभिन्न क्षेत्रों का असन्तुलित विकास :—** राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के उद्देश्य से देश के प्रत्येक भाग का विकास इस ढंग

से किया जाना चाहिए कि प्रत्येक भाग के प्राकृतिक साधनों एवं निवासियों की प्रतिभा व धन का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। परन्तु हमारे देश के विभिन्न *क्षेत्रों का अभी तक सन्तुलित विकास नहीं हो पाया है।* यदि एक ओर महाराष्ट्र व बंगाल आदि प्रदेशों का अच्छा विकास हो सका है, तब दूसरी ओर राजस्थान, बिहार, मध्य-प्रदेश आदि प्रदेश अभी तक बहुत पिछड़ी दशा में हैं। अत: देश के विभिन्न क्षेत्रों के असन्तुलित विकास के फलस्वरूप राष्ट्रीय-आय अपेक्षाकृत बहुत कम है। (iv) ***जनसंख्या की तीव्रगति से वृद्धि*** —*विगत वर्षों में हमारे देश की* जनसंख्या में तीव्र गति से (२.२ प्रतिशत से) वृद्धि हुई है। फलत: दो पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने पर भी हमारे देश में प्रति व्यक्ति औसत आय में विशेष वृद्धि नहीं हुई है। यही नहीं, प्रति व्यक्ति औसत आय में विगत दशाब्दी में जो कुछ वृद्धि हुई भी है, वह केवल *मौद्रिक आय* (Money Income) में *हुई है, वास्तविक-आय* (Real Income) में नहीं। यही कारण हैं कि भारत में औसत व्यक्ति के जीवन-स्तर में कोई वृद्धि नहीं हो पाई है। (v) **देश में राष्ट्रीय आय का असमान वितरण** :–*हमारे देश में राष्ट्रीय-आय का वितरण बहुत असमान है।* भारत सरकार की करारोपण-नीति (Taxation Policy) से देश में धन के वितरण में और भी भी अधिक असमानता हुई है। फलतः विगत दशाब्दी में भारत की राष्ट्रीय आय में ४२ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति औसतन आय में १६ प्रतिशत वृद्धि होने पर भी, देश के जीवन-स्तर में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाई है।

भारत में राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिये सुझाव–भारत में राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने के लिये कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं—(i) **उत्पादन में वृद्धि**—*देश की राष्ट्रीय आय में आशातीत वृद्धि के लिये कृषि, छोटे व बड़े पैमाने* के उद्योग, वन, खान, व्यापार, परिवहन, संचार आदि विभिन्न व्यवसायों के उत्पादन में वृद्धि करना आवश्यक है। वस्तुत: राष्ट्रीय-आय में वृद्धि केवल कृषि व्यवसाय की उन्नति द्वारा ही नहीं हो सकती। इस समय हमारे देश *की लगभग ७२ प्रतिशत* जनसंख्या कृषि जैसे अनिश्चित एवं अपेक्षाकृत कम लाभदायक *व्यवसाय में लगी हुई* है। अत: प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि लाने के लिये जनसंख्या का व्यवसायिक वितरण सन्तुलित होना चाहिये। (ii) **बचत और विनियोग की दर में वृद्धि** – *इस समय हमारे* देश में घरेलू बचत एवं विनियोग की दरें समस्त राष्ट्रीय आय की क्रमश: ८.५ प्रतिशत और ११ प्रतिशत हैं। अत: देश की राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में आवश्यक वृद्धि लाने के लिये घरेलू बचत एवं विनियोग की दरों में वृद्धि की जानी चाहिये। *तीसरी योजना के अन्त तक भारत की* घरेलू बचत एवं विनियोग की दरें बढ़कर क्रमश: ११ प्रतिशत व १४ प्रतिशत हो जाने की आशा है। (iii) **धन के वितरण की विषमता को दूर करना** देश के नागरिकों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए, धन के *वितरण* की विषमता को यथासम्भव दूर करना आवश्यक है। अत: सरकार द्वारा करारोपण और धन के वितरण की ऐसी नीति अपनानी चाहिये कि

एक ओर सरकार को आर्थिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये पर्याप्त धन प्राप्त हो जाए तथा दूसरी ओर धन के वितरण की विषमता भी कम से कम हो जाये। (iv) **जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण**—योजनाओं मे निर्धारित राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय के लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिये जनसख्या मे तीव्र गति से होने वाली वृद्धि पर नियन्त्रण करना अत्यावश्यक है। अत परिवार नियोजन कार्यक्रम का अधिक से अधिक विस्तार करके जनसख्या की तीव्रगति से होने वाली वृद्धि पर रोक लगाई जानी चाहिये। (v) **देश के समस्त क्षेत्रों का सन्तुलित विकास**—पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत देश के समस्त क्षेत्रो का सम एव सतुलित विकास किया जाना चाहिये, ताकि प्रत्येक क्षेत्र मे उपलब्ध प्राकृतिक साधनो, जनशक्ति एव जनता के धन का पूरा-पूरा उपयोग हो सके। अत देश का क्षेत्रीय सम विकास करने मे राष्ट्रीय आय म अधिकतम वृद्धि हो सकेगी। (vi) **स्वास्थ्य, कार्यक्षमता एव रोजगार की सुविधाओं मे वृद्धि**—देश मे नागरिको के जीवन-स्तर को ऊंचा करने के लिये नागरिको के स्वास्थ्य, कार्यक्षमता एव रोजगार के साधनो म वृद्धि करना परमावश्यक है। अत. देश मे शिक्षा, चिकित्सा, समाज-सेवा एव रोजगार की सुविधाओ मे प्रसार करके नागरिको के जीवन-स्तर को ऊंचा करना चाहिये क्योंकि तब ही नागरिको की प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि हो सकेगी।